डा. भगवत स्वरूप मिश्र

कबीर ग्रन्थावली

संजीवनी
व्याख्या सहित

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वे दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

कबीर-ग्रन्थावली

[संजीवनी व्याख्या सहित]

षष्ठ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

सम्पादक एवं भाष्यकार
डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र
अवकाश प्राप्त हिन्दी विभागाध्यक्ष,
आगरा कॉलेज, आगरा

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२
बिक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

षष्ठ संस्करण : १९९२
मूल्य : ६०.००

मुद्रक : रवि मुद्रणालय, आगरा-२

परम पूज्य पितामह

स्वर्गीय श्री श्रीनिवासजी एवं श्री वासुदेवजी मिश्र

की

पुण्य स्मृति

को

समर्पित

मंगल कामना

लेखक का यह प्रयास अत्युत्तम है। इसके पूर्व भी मैंने 'कबीर-ग्रन्थावली' के सम्बन्ध में टीकाएँ पढ़ी हैं, परन्तु इस जैसी वे नहीं हैं। पुस्तक के आलोचना-भाग में प्रथम के पृष्ठ १ से ३८ तक जीवन-दर्शन आदि में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, वे एक सीमा तक मौलिक हैं तथा वे 'कबीर-ग्रन्थावली' की विषय-सामग्री के संदर्भ में हैं। इन शीर्षकों में कबीर ने बाह्य, आन्तरिक एवं भाव-जगत् को बहुत गम्भीरता के साथ व्यक्त किया गया है। कबीर ने विद्यार्थी के लिए ये पन्ने बहुमूल्य हैं, ज्ञानवर्द्धक हैं तथा बहुत ही उपयोगी हैं।

साखी, पदावली, रमैणी आदि की व्याख्यात्मक टिप्पणी के द्वारा लेखक ने कठिन अध्यवसाय और परिश्रम किया है। विषय को जहाँ विस्तार के साथ प्रस्तुत करके स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है, वहाँ टिप्पणी दे करके उस व्याख्या में चार चाँद लगा दिये हैं। इस प्रयास से एक ओर विषय का विषद् और सम्यक् ज्ञान तो मिलता है, उसका विशिष्ट रहस्य भी उपलब्ध हो जाता है।

कबीर जैसे मनीषी की उलटबाँसियाँ और रहस्यमयी उक्तियों का सहज अर्थ पाना कोई सहज काम नहीं है; फिर भी लेखक ने गहन से गहन अर्थ-गाम्भीर्य को सहज, सुलभ एवं सरल बनाने की प्रशंसनीय चेष्टा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्याख्याकार इस बात को प्रत्येक क्षण ध्यान में रखता है कि कबीर का काव्य-सौष्ठव, उसकी रमणीयता और ताल एवं लय का वर्णन करना भी एक पुनीत कर्तव्य है। इसीलिए स्थान-स्थान पर टिप्पणियों के माध्यम से अलंकारों की ओर निरन्तर इंगित किया जाता रहा है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि यह पुस्तक काव्य की कसौटी पर खरी उतरने वाली है। मेरी शुभकामना है कि यह साहित्य-जगत् में ख्याति प्राप्त करे। इसका सर्वाधिक रूप में प्रचार हो। यह साहित्य-भण्डार की अभिवृद्धि में योगदान दे। यह पाठकों में अपना अच्छा स्थान बना ले और विद्वानों में उपयुक्त सम्मान प्राप्त करे।

लखनऊ
जुलाई, १९७९

—रामबोलाल सहायक
शिक्षा-मंत्री, उत्तर-प्रदेश

पंचम संस्करण

कबीर ग्रन्थावली के संशोधित एवं परिवर्द्धित पंचम संस्करण को कबीर साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों और पाठकों के हाथों में देते हुए मुझे एक आत्मसन्तोष का अनुभव हो रहा है। मुझे विशेष प्रसन्नता है कि इस ग्रन्थ के चतुर्थ संस्करण ने कुछ कबीर पंथी सन्तों और कबीर मार्गी सहृदय भक्तों को आकृष्ट किया है। उन्होंने कबीर की साखियों एवं पदों की, विशेषत: उनकी उलटबाँसियों की ज्ञान-परक व्याख्या का स्वागत किया है। इससे उन्होंने मेरे इस दिशा में सोचने के उत्साह में वृद्धि भी की है, यह स्वागत मेरे लिए प्रेरणादायक है। कबीर के अद्वैतवादी मान्यताओं के मेरे मूल्यांकन से कुछ सन्त विद्वानों का थोड़ा मतभेद भी है। इस मतभेद ने मुझे कबीर के सैद्धान्तिक पक्ष पर अधिक गहराई से विचार करने का अवसर दिया है। इस चिन्तन की एक परिणति है, कबीर का जीवन-दर्शन: प्रेम 'शीर्षक निबन्ध' जो इस ग्रन्थ की वर्तमान भूमिका में आकलित है। इस भूमिका को अगर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित करने का सुयोग हुआ तो कबीर की दार्शनिक मान्यताओं और उनके जीवन-दर्शन पर कुछ और अधिक विस्तृत विचार कर पाऊँगा। इसके साथ ही कबीर के कवित्व और उनके काव्य की आधुनिक अर्थमत्ता के साथ माया, अभिव्यंजना आदि कुछ पक्षों पर भी विचार करने का सुअवसर भी मिल जायेगा। मैं उन विद्वानों और पाठकों के प्रति कृतज्ञ हूँ, जो मुझे कबीर-साहित्य के विभिन्न पक्षों पर विचार करने की सहृदयतापूर्ण प्रेरणा देते रहते हैं।

प्रकाशक भी मेरे साधुवाद के पात्र हैं, जो सुधी पाठकों के पास इस ग्रन्थ को पहुँचाने के अपने प्रयासों कुछ कसर नहीं छोड़ते।

बुद्ध पूर्णिमा
दिनांक १३ मई, १९८७

— भगवत्स्वरूप मिश्र

प्रस्तावना

महात्मा कबीर उन सन्तों एवं भक्तों में से हैं, जिन्होंने मध्यकालीन भारतीय जीवन को अत्यन्त गहराई से प्रभावित किया है। इन महात्माओं ने भक्ति और ज्ञान पर आश्रित भारत के मूल जीवन-दर्शन का पुनरुत्थान करके उस काल के जीवन को तो नवीन चेतना दी ही, इसके साथ ही मानव-मात्र के जीवन के ऐहिक एवं पारलौकिक कल्याण की जो शाश्वत जीवन-दृष्टि भारत के पास वैदिक काल से रही है, पर जो मध्यकाल में कुछ धूमिल हो गई थी, उन्होंने उसको भी जनभाषा में उतार कर युग-युग के जन-जीवन तक पहुँचाया है। यही कारण है कि कबीर के साहित्य का अध्ययन-अध्यापन केवल कबीर-पंथियों में नहीं अपितु जन-सामान्य में भी पर्याप्त मात्रा में रहा है, और है। इससे कबीर के नाम पर साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपचित भी होता गया है। इसने कबीर के प्रामाणिक ग्रन्थों की समस्या को भी उलझा दिया है।

साहित्य तथा समीक्षा के क्षेत्र में कबीर-साहित्य के संकलन एवं सम्पादन का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। 'गुरु ग्रन्थ साहब' में कबीर वाणी का संकलन भी एक प्रकार से कबीर-साहित्य का सम्पादन ही है। १५२१ में कबीर के शिष्य धर्मदास ने कबीर-वाणी का संकलन किया था। आधुनिक युग में भी कबीर-साहित्य के अनेक प्रयास हुए हैं। पर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के तत्त्वावधान में किया गया श्यामसुन्दरदासजी का सम्पादन आधुनिक युग का संकलन वैज्ञानिक पद्धति का सम्पादन माना जा सकता है। यही आज सर्वाधिक प्रामाणिक भी है। इसके सर्वाधिक प्रामाणिक होने का एक प्रौढ़ आधार यह है कि जिन दो प्रतियों के आधार पर यह ग्रन्थ सम्पादित हुआ है, उनमें से एक प्रति संवत् १५६१ की है जो सबसे अधिक प्रामाणिक है। यह प्रति सम्भवतः कबीर के शिष्य मलूकदासजी के लिए तैयार की गई थी। इस प्रकार इस प्रति में प्रक्षेपों की सम्भावना प्रायः रही ही नहीं। सभा के संस्करण की दूसरी आधारभूत प्रति संवत् १८८१ की है। दोनों प्रतियों में इतना लम्बा अन्तर होते हुए भी पाठ-भेद बहुत कम होना भी प्रति की प्रामाणिकता को ही पुष्ट करता है। यह ग्रन्थ कबीर की विचारधारा एवं उसकी वाणी की विचित्र विधाओं का सम्यक् प्रतिनिधित्व करता है। इसी से मैंने कबीर के समग्र रूप को समझने के लिए इसी संस्करण को मूल आधार के रूप में अपनाना ही समुचित समझा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल आधार तो सभा का संस्करण ही है पर उसका मैंने आवश्यक पाठ-शोध किया है। सभा के संस्करण में 'एक साखी' की दो अंगों में पुनरुक्ति हुई है। उनको मैंने एक ही अंग में रखा है। सभा के संस्करण के एक पद में फ़ारसी और अरबी की शब्दावली एवं व्याकरण का अत्यधिक प्रयोग है। वह पद कई प्रतियों में है भी नहीं। कबीर का फ़ारसी तथा अरबी पर ऐसा अधिकार था, इसका कोई प्रमाण भी नहीं है। इन कारणों से यह पद प्रक्षेप प्रतीत होता है। इसी से प्रस्तुत संस्करण में इसको नहीं रखा गया है। श्री विश्वनाथ सिंह एवं पूरनसाहेब के 'बीजक', डा० रामकुमार वर्मा का 'संत-कबीर', डा० पारसनाथ तिवारी की 'कबीर-ग्रन्थावली', आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर', परशुराम चतुर्वेदी के 'संत-साहित्य' तथा अन्य अनेक स्थानों से पाठ मिलाकर इस ग्रन्थ के पाठ को शुद्ध किया गया है। अनेक स्थानों पर पाठान्तर भी दिये गये हैं। जहाँ पर दोनों ही पाठ अर्थ की दृष्टि से संगत प्रतीत होते हैं, वहाँ पर तो मैंने दोनों ही पाठों को अपना लिया है। मैंने पाठ-शोध में अर्थ की संगति को आधारभूत एवं सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त माना है। अनेक स्थानों पर मुद्रण की असावधानी के कारण सभा के संस्करण का पाठ 'दसरा मसरा' की तरह भ्रष्ट है। उसको मैंने 'दशरामसरा' की तरह शुद्ध कर दिया है। जैसे 'द्यौ-हाड़ी' को 'धौहाड़ी' तथा 'सबहि नल-दल भलफ लकीर' को अर्थ संगति की दृष्टि से 'सेवहि नल दुलमुल फल कीर' के रूप में शुद्ध कर दिया गया है।

कबीर की भाषा सधुक्कड़ी है। शुक्लजी उसका स्वरूप राजस्थानी-पंजाबी की मिश्रित खड़ी बोली मानते हैं। उसमें पंजाबी के कहीं-कहीं शब्द मिलते हैं, पर उस भाषा का मूल संरचनात्मक ढाँचा शेखावाटी की भाषा का है, जो खड़ीबोली के अत्यधिक नजदीक है। पाठ-शोध करते समय अर्थ-संगति के साथ ही मैंने कबीर की भाषा की इस प्रकृति का ध्यान भी अवश्य रखा है। पाठ-शोध की इस प्रक्रिया का मैंने मुक्त प्रयोग किया है। कबीर न तो स्वयं लिखते थे और न लिखाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी शिष्य-मण्डली स्मरण से ही उनकी साखियों और पदों का संकलन करती थी। इससे विभिन्न संस्करणों की भाषा भी कुछ-कुछ भिन्न है। कुछ प्रतियाँ अवधी के ठेठ रूप के अत्यन्त नजदीक हैं और कुछ राजस्थानी से प्रभावित ब्रज के। शब्दों के रूपों में ही यह स्थानीय एवं विभाषागत भेद नहीं है, अपितु मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोगों पर भी स्थानगत प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। कहीं-कहीं तो कबीर-साहित्य को स्मरण रखने वाले शिष्यों ने मूल भाव-धारा को अक्षुण्ण रखते हुए कहने का ढंग स्वयं का अपना लिया है। इससे विभिन्न प्रतियों में पंक्तियों, वाक्य-खण्डों एवं पद-पदांशों का पर्याप्त अन्तर हो गया है। वैसे कबीर-साहित्य में यह अन्तर स्वीकार करके चलना पड़ता है। सभा के संस्करण के पदों की तुलना 'गुरु ग्रन्थ साहब' अथवा पारसनाथ तिवारी के संस्करण से करने पर उक्त कथन पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है। यह तत्त्व कबीर-साहित्य को अनेक स्थानों पर लोक-साहित्य की-सी

प्रकृति प्रदान कर देता है। कबीर के मुख से कोई साखी या पद कैसे निकले थे, इसके मूल रूप तक पहुँचना इन कारणों से सधुक्कड़ी रूप के सहारे के बिना दुस्साध्य-सा है। मैंने कबीर की भाषा के साथ ही कथ्य के मूल रूप की प्रामाणिकता का भी ध्यान रखा है। भाषा की बाह्य संरचना की अपेक्षा मैंने कथ्य को अधिक महत्त्व दिया है। इसी से मैंने एक कथ्य की दो-दो अभिव्यक्तियों को भी स्वीकार कर लिया है।

प्रस्तुत संस्करण की साखियों की सधुक्कड़ी भाषा तो राजस्थानी के अत्यन्त सन्निकट है ही, पदों और रमैणी की भाषा पर भी राजस्थानी एवं खड़ीबोली का बहुत गहरा प्रभाव है। पाठ-शोध के समय मैंने इस बात का भी विशेष ध्यान रखा है। यही कारण है कि प्रस्तुत संस्करण की साखियों में प्रयुक्त शब्दों के रूप राजस्थानी के अधिक नजदीक प्रतीत होते हैं। यह बात अनेक स्थानों पर पद और रमैणी भाग में भी स्पष्ट है। डा० राम कुमार वर्मा का अत्यधिक पूर्वीपन का तथा डा० पारसनाथ का खड़ीबोली का आग्रह कबीर की भाषा की मूल प्रकृति के विरुद्ध लगता है।

कबीर-वाणी की व्याख्या का कार्य उसके प्रामाणिक रूप को निश्चित करने से भी अधिक कठिन है। 'काव्य-प्रकाश' के सम्बन्ध में यह प्रचलित है कि उसकी टीकाएँ घर-घर हैं, पर तब भी उसका विषय वैसा ही दुर्गम है। यह कबीर-वाणी के सम्बन्ध में भी उतना ही सत्य है। यह दुर्गमता कबीर-वाणी के गाम्भीर्य की परिचायक है। यह गम्भीरता ही विद्वानों के लिए प्रेरणा का कार्य करती रही है और करती रहेगी। कबीर-वाणी के शब्दों के रूप तो द्विविधा में डालते ही हैं, अनेकार्थवाची शब्दों के प्रयोगों का भाष्य करना भी उतना सरल कार्य नहीं रह जाता है। एक ही शब्द की अनेक अर्थ-ध्वनियों को एक साथ ही ग्रहण करने की कबीर की अपनी विशेषता है। इसके साथ ही कबीर के दर्शन एवं उनकी साधना के स्वरूप को बिना अच्छी तरह समझे भाष्य करना असम्भव है। सामान्य अनुवाद भी मूल लेखक की विचारधारा एवं उसके दर्शन की भिज्ञता की अपेक्षा रखता है; फिर भाष्यों का तो मूल आधार ही लेखक की बिचारधारा और दर्शन होते हैं। कबीर ने अन्योक्ति, प्रतीक-पद्धति एवं उलटबाँसियों का प्रचुर प्रयोग किया है। अतः केवल शब्दार्थ या 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' वाला भाषान्तरण अथवा गद्यीकरण का उपयोग तो सामान्य पाठकों के लिए भी प्रायः नगण्य ही है। उन साखियों और पदों की व्यंजनाओं, उनमें अन्तर्हित दर्शन एवं साधना-पक्ष का उद्घाटन का ही वास्तविक महत्त्व है। यही कारण है कि मुझे टीका-शैली छोड़कर भाष्य-शैली अपनानी पड़ी है और भाष्य करते समय उपर्युक्त सभी बातों का ध्यान रखा गया है।

कबीर-वाणी की अनेक टीकाएँ और भाष्य हुए हैं; प्राचीनकाल में भी और आधुनिक समय में भी। पर उनमें से मूल प्रतिपाद्य तक कितने पहुँच पाये हैं, यह चिन्तनीय है। कबीर पंथी श्री विश्वनाथसिंह ने भागूदास और भागूदास के शिष्यों

के अर्थों को वितण्डावाद का अर्थ कहा है। "बीजक को कोई निराकार ब्रह्म में लगावै है कोई जीवात्मा में लगावै। कोई नये-नये खामिद बनाइ कै अर्थ लगाते हैं, वे अनर्थ हैं अर्थ।"[१] श्री पूरनसाहेब भी कबीर की अनेक टीकाओं को भ्रामक मानते हैं।

वस्तुतः कबीर-वाणी के अर्थ करने की अनेक दृष्टियाँ रही हैं। कुछ कबीर को मूलतः कायायोग के साधक मानकर चलते हैं तो कुछ उन्हें रहस्यवादी मानते हैं। अनेक उन्हें नीरस ज्ञानमार्गी मानकर उनकी वाणी में अर्थ-व्यवस्था बैठाना चाहते हैं। श्री विश्वनाथसिंह कबीर-वाणी का रामपरक अर्थ मानते हैं—"अरु हम जो बीजक को यह अर्थ करैहैं अनिर्वचनीय श्री रामचन्द्र को प्रतिपादन, सोई ठीक है। रामनाम के जपन को विधि जैसी-जैसी कबीर जी आपने शब्द में कह्यो है तेही रीति से जो जप करै तो रामनाम मन वचन परे, जो आपनो स्वरूप सो ताके अन्तःकरण में स्फूर्ति कर देय हैं।" यह राम निर्गुण एवं परमतत्त्व रूप है। पूरनसाहेब ने कबीर-वाणी में जीव और पाँच तत्त्वों को ही सब कुछ तथा 'जीव' को ही सर्वोपरि तत्त्व मानने के सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या की है। इस तत्त्व में प्रतिष्ठित होना ही 'पारख रूप' में स्थिति है। सद्गुरु एवं पारख गुरु की कृपा से ही सम्भव है। इस प्रकार व्याख्या की कई दृष्टियाँ रही हैं। इन सबका अपना-अपना महत्त्व है। मैंने भाष्य करते समय यथास्थान इन विचारधाराओं का उपयोग किया है।

कबीर में कायायोग, रहस्यवाद, जीववाद, निर्गुण एवं परमतत्त्व रूप राम आदि अनेक सिद्धान्तों की झलक मिलती है। पर मूलतः वे अद्वैत-वेदान्ती हैं, उनका सिद्धान्त उपनिषदों की मान्यता के पर्याप्त सन्निकट प्रतीत होता है। वे नीरस ज्ञानी नहीं हैं। कबीर का ब्रह्म मात्र निर्गुण एवं निर्विशेष नहीं है, निर्गुण होते हुए भी वह दया, करुणा, प्रेम आदि का पुञ्ज है, अतः वह सगुण एवं निर्गुण दोनों ही है। वह ज्ञान के साथ ही भक्ति का भी आलम्बन है। उसका साक्षात्कार भी अनुभूति से, प्रेम-करुणा आदि के अनुभव से ही सम्भव है। इसी से कबीर की साधना में ज्ञान और भक्ति का अपूर्व मिलन है। इस मिलन एवं समन्वय से प्राप्त महारस का आनन्द ही कबीर का प्राप्तव्य है। ऐसी भक्ति ही उनकी मुख्य साधना है। पाश्चात्य शैली की रहस्यात्मकता (Mysticism) तो कहीं-कहीं प्रेम की उत्कटता को दाम्पत्य आदि के रूपकों का आवरण अपनाने के कारण झलक भर जाती है। कायायोग की साधना अथवा बौद्धिक ज्ञान भी केवल उस महारस को प्राप्त करने के साधन मात्र हैं। सिद्धों एवं नीरस ज्ञानियों की तरह कबीर के लिए वे अन्तिम प्राप्तव्य नहीं हैं, अतः उनमें ही उलझे रहने वालों पर भी कबीर व्यंग्य करते हैं। कबीर मूलतः ज्ञान एवं भक्ति के समन्वय का महारस लेने वाले अद्वैत वेदान्ती एवं ज्ञानी भक्त हैं। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर मैंने कबीर-वाणी की व्याख्या करने का प्रयास किया है। इस कार्य में, मैं कितना सफल हुआ हूँ, यह तो विज्ञ पाठक ही निर्णय करेंगे।

---

१. श्री विश्वनाथसिंह, कबीरदास बीजक, पृ० २४।

इस कार्य में मुझे अनेक ग्रन्थों, विद्वानों एवं सन्तों से अमूल्य सहायता मिली है। मेरे दृष्टिबिन्दु के स्पष्ट एवं मूर्त्त रूप लेने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः मैं उन सभी के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। यह भाष्य उन्हीं की कृति है।

कबीर-ग्रन्थावली का भाष्य करने की इच्छा तो मेरी बहुत दिनों से थी। दो-तीन वर्ष पूर्व केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के निदेशक श्रीयुत चन्द्रहासनजी के दर्शन करने गया था। वहाँ पर बातचीत के सिलसिले में अनायास ही मुझे इसकी उनसे विशेष प्रेरणा प्राप्त हो गई। तब से मेरी अमूर्त्त इच्छा मूर्त्त रूप धारण करने के लिए कुछ विकल रहने लगी। उसके बाद भी यदि मेरे शिष्य, मित्र एवं सहयोगी अध्यापक श्री विश्वम्भर अरुण से सक्रिय प्रेरणा एवं सहयोग नहीं मिलता तो शायद मेरी यह इच्छा अभी मूर्त होने के लिए विकल ही बनी रहती। चन्द्रहासनजी को प्रेरक कृपा के स्नेह के लिए कृतज्ञता प्रकट करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। मेरे शिष्य एवं सहयोगी प्राध्यापक होने के कारण अरुण की प्रेरणा एवं सहयोग के लिए आभार का अनुभव करते हुए भी प्रकट करने में संकोच होता है। इसी संकोच के साथ अपने दूसरे शिष्य श्री रामदयाल कटारा का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरी पाण्डुलिपि की प्रेस कापी इतनी शीघ्र तैयार कर दी अन्यथा पुस्तक के छपने में और भी समय लगता। सर्वश्री विनोद पुस्तक मन्दिर ने इस पुस्तक के मुद्रण एवं प्रकाशन में अत्यधिक तत्परता से कार्य किया है, इसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ। इस कार्य का समस्त श्रेय वास्तव में इन्हीं उपर्युक्त महानुभावों एवं अन्य गुरुजनों को ही है।

अगर यह भाष्य पाठकों में कबीर-वाणी के गूढ़ार्थों को समझने की प्रेरणा दे सका, तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा।

आगरा कॉलेज, आगरा
गंगा दशहरा
२६ मई, १९६९

भगवत्स्वरूप मिश्र

विषय-सूची

जन-जी
अहंका
कवियों
किसी
अपनी
अपने
अपने
लिए
मूलक
चरित
तथा अ
चरित
कम स्थ
वर्णन
चरित
मिलता
आदि
आदि
साहित्य
देने की
कुछ अ
में जो
ही प्रच
पुरुषों

कबीर का जीवन परिचय

भारतीय काव्य-चिन्तन और परम्परा के अनुसार कवि अपने व्यक्तित्व को जन-जीवन में तदाकार कर देता है; उसको अपने पृथक् अस्तित्व या व्यक्तित्व का अहंकार नहीं रहता। लोक-मानस ही उसका मानस बन जाता है। भक्तिकाल के कवियों ने तो अपने आप को जन-जीवन में पूर्णतया विलीन ही कर दिया था। उनमें किसी प्रकार की कोई यश-लिप्सा नहीं थी। भारतीय जीवन-पद्धति के अनुरूप वे अपनी व्यष्टि को समष्टि में विलीन किए रहे। यही कारण है कि भक्त कवियों ने अपने जीवन के व्यक्तिगत पक्ष के सम्बन्ध में बहुत कम संकेत किए हैं। कबीर ने तो अपने सम्बन्ध में ऐसे संकेत बहुत कम दिये हैं, जो उनके जीवन चरित्र के लिखने के लिए निसंदिग्ध एवं प्रामाणिक सामग्री दे सकें। उनके अधिकांश कथनों के चरित-मूलक के अतिरिक्त अन्य अर्थ हैं और वे मुख्य भी प्रतीत होते हैं। भारत में आत्म-चरित अथवा जीवन-चरित लिखने की प्रवृत्ति का विकास प्रायः नहीं हुआ। अपने को तथा अपने जीवन की घटनाओं को महत्त्वपूर्ण मानने की प्रवृत्ति ही मानव को आत्म चरित लिखने की ओर प्रवृत्त करती है। यह प्रवृत्ति भारतीय जीवन पद्धति में बहुत कम स्थान पा सकी है। इसी प्रकार यहाँ जीवन की छोटी-बड़ी सभी घटनाओं के वर्णन का महत्त्व भी नहीं माना गया। यही कारण है कि प्राचीन भारत में जीवन-चरित या आत्म-चरित लिखने की पद्धति का कोई विकसित या वैज्ञानिक रूप नहीं मिलता है। भारतीयों का ध्यान तथ्यात्मक इतिहास की ओर बहुत कम गया। पुराण आदि में जो इतिहास मिलता है, वह इतिवृत्ति की अपेक्षा जीवन-पद्धति, चिन्तन, संस्कृति आदि का इतिहास अधिक है। मध्य काल में जो भक्त कवियों के चरित तथा वार्त्ता का साहित्य-सृजन हुआ, उनमें भी कवियों की सम्पूर्ण जीवनगाथा को व्यवस्थित रूप से देने की प्रवृत्ति नहीं रही। उनमें कवियोंकी भक्ति-पद्धति, उनके दार्शनिक विचार तथा कुछ अलौकिक चमत्कारों की बातें ही अधिक हैं। महान् आत्माओं के प्रति जन-जीवन में जो व्यापक श्रद्धा रही और उनकी अलौकिक शक्ति के सम्बन्ध में जो किंवदन्तियाँ ही प्रचलित होती रहीं उनके परिणामस्वरूप वे महान् आत्माएँ धीरे-धीरे ऐतिहासिक पुरुषों से पौराणिक (Mythical) पुरुष होते गए। इन्हीं सब कारणों से इन पुरुषों

के जीवन में तथ्यों का अविकल तथा प्रामाणिक ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सका है। कबीर के जीवन-चरित को संघटित करने में ये ही सब असुविधाएँ हैं।

साहित्य-समीक्षा के लिए कवि के जीवन-चरित की हर छोटी-बड़ी घटनाओं को जानने की आवश्यकता न होने पर भी उसके सम्पूर्ण जीवन की गतिविधि के उस स्वरूप तथा उन घटनाओं से परिचित रहना अनिवार्य है जो उसके साहित्यकार व्यक्तित्व को रूपायित करती हैं तथा उसके काव्य के लिए ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्रेरणा सामग्री प्रदान करती हैं। यही कारण है कि कबीर के जीवन-चरित के ज्ञान में इतनी असुविधा तथा अधूरापन होते हुए भी समीक्षकों ने प्राप्त सामग्री से उनके जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत की है। कबीर के जीवन-चरित के लिए अन्तःसाक्ष्य की सामग्री है तो बहुत थोड़ी, पर बाह्य साक्ष्य के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित करके कबीर के जीवन-चरित की मोटी रूपरेखा तैयार की गई है।

जन्म

कबीर की जन्म-तिथि तथा मृत्यु-तिथि दोनों ही पर्याप्त विवाद के विषय हैं। इनमें से भी विद्वानों ने कबीर की मृत्यु-तिथि पर तो बहुत ही विस्तृत विवेचन किया है।

कबीर के सम्बन्ध में लिखी गई अधिकांश बातों का मुख्य आधार जनश्रुतियां तथा अनुमान हैं। डा० हण्टर ने कबीर का जन्म सं० १४३७ तथा रेवरेंड वेस्टकाट ने १९९७ माना है। कबीर के प्रधान शिष्य धर्मदास के द्वारा रचे गये एक पद्य के आधार पर भी कबीर की जन्म-तिथि का अनुमान किया गया है। इस आधार पर निश्चित की गई जन्मतिथि कुछ अधिक प्रामाणिक मानी जा सकती है। पद्य की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

चौदह सो पचपन साल गए।
चन्द्रवार एक ठाठ ठए॥
जेठ सुदी बर सामन को।
पूरनमासी तिथि प्रगट भये॥

इसके अनुसार कबीर का जन्म सं० १४५५ ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा चन्द्रवार को पड़ता है। पर पंचांग की गणना से सं० १४५५ के ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को चन्द्रवार नहीं है। यह सं १४५६ की ज्येष्ठ शुक्ला - की पूर्णिमा को पड़ता है। ऊपर की पंक्तियों का अर्थ सं० १४५६ भी निकाला जा सकता है। 'चौदह सो पचपन साल गये' का अर्थ इस वर्ष के व्यतीत हो जाने के बाद अर्थात् सं १४५६ के ज्येष्ठ में भी हो सकता है। डा० श्यामसुन्दरदास को यही अर्थ रुचिकर तथा तर्कसम्मत प्रतीत होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी सं० १४५६ ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा ही कबीर की जन्मतिथि मानी है। डा० पीतम्बरदत्त ने सं० १४२४ के आस-पास कबीर के

जन्म होने का अनुमान किया है। नामदेव की मृत्यु सं० १४०७ में हो चुकी थी। रामानन्द की निधन-तिथि सं० १४६७ के आस-पास मानी गई। इसी के बीच में कबीर के जन्म का अनुमान करके डा० बड़थ्वाल ने उपर्युक्त तिथि का संकेत किया पर इनमें से कोई भी तिथि पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है।

निधन

कबीर की मृत्यु की तिथि के सम्बन्ध में भी विद्वानों के कई मत हैं। इनमें से प्रसिद्ध मत इस प्रकार है—(क) सं० १५०५, (ख) सं० १५७५, (ग) सं १५६६ (घ) सं० १५४९, (ङ) १५५२ (च) सोलहवीं शताब्दी का प्रथम चरण। इनमें से प्रथम चार के आधार चार प्रचलित दोहे हैं।[1] इनमें एक धर्मदास का माना जाता है, एक का भक्तमाल की टीका में उल्लेख है तथा शेष दो जनश्रुति में प्रचलित हैं। इन छहों मतों में से अन्तिम दो का उल्लेख श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी ने किया है। अनन्तदास की 'परिचई' के अनुसार कबीरदास की आयु १२० वर्ष की हुई थी। अगर हम इस तथ्य को सत्य मान लें और कबीर की जन्मतिथि भी १४५५ या ५६ प्रामाणिक हो तो इस हिसाब से कबीर की निधन तिथि सं० १५७५ हो जाती है। इसमें कबीर के सिकन्दर लोदी, गुरुनानक और रामानन्द के समकालीन होने में कोई आपत्ति नहीं रहती है। उनके जीवन का अन्य बहुत-सी घटनाओं में भी कुछ सामञ्जस्य बैठाया जा सकता है।

सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण के किसी समय को कबीर की निधन-तिथि मानने वाले विद्वानों का अभिप्राय कोई निश्चित तिथि ढूँढ़ना नहीं है। निश्चित एवं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में न यह संभव है और न समीचीन ही। इसीलिए कबीर के अपने तथा समसामयिक जीवन की घटनाओं में सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से इन विद्वानों ने कबीर का सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक अवश्य जीवित रहना

---

१ संवत पन्द्र सौ औ पांच सौ मगहर कियो गौन।
अगहन सुदी एकादसी, मिलो पौन में पौन॥

× × ×

संवत पन्द्र सौ पछतरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादसी, रसो पौन में पौन॥
संवत पन्द्रह सौ उनहत्तर हाई।
सतगुरु चले उठ हसा ज्याई॥

—धर्मदास : द्वादश पथ.

पन्द्रह सौ उनचास में मगहर कीनो गौन।
अगहन सुदी एकादसी मिलो पवन में पौन॥

—भक्तमाल की टीका

माना है। इस मत की यही वैज्ञानिकता है कि निधन निश्चित करने के झगड़े में न पड़कर इसने कबीर के जीवन-काल को मोटे तौर से सुनिश्चित कर दिया है। कबीर विद्यापति के समसामयिक माने जा सकते हैं। उस दृष्टि से कबीर के जीवन काल की सीमाएँ बँध जाती हैं।

जाति

कबीर की जाति के सम्बन्ध में भी कई मत हैं। इनके जन्म तथा लालन-पालन के सम्बन्ध में एक जनश्रुति प्रचलित है। काशी के एक ब्राह्मण की विधवा कन्या के ये बालक थे। लोक-लाज के भय से उस विधवा ब्राह्मणी ने इस बालक को लहरतारा तलाब के किनारे छोड़ दिया था। वहाँ से इस बालक को एक जुलाहा-दम्पत्ति उठाकर ले गया। निस्सन्तान होने के कारण इस दम्पत्ति ने प्रेमपूर्वक इस अनाथ बालक को अपना बच्चा समझकर पाला। यही आगे जाकर महान् कवि कबीर हुए। इस प्रकार कबीर पैतृक संस्कारों से हिन्दू थे पर उनका पालन-पोषण मुसलमान परिवार में हुआ था। इससे उनमें दोनों संस्कारों का मिश्रण है। श्यामसुन्दरदासजी ने इसी मत को स्वीकार किया है।[1] पर दूसरे लोग इस जनश्रुति के आवरण को हटाकर कबीर को जुलाहा मानते हैं। रैदास ने उनके कुल में गोवध होने की बात कही है। बड़थ्वाल[2] कबीर को जुलाहा मानते हैं। उनकी धारणा है कि कबीर का परिवार पहले हिन्दू-धर्मावलम्बी था। इसमें गोरखनाथ की मान्यता थी। कुछ दिनों से ही वह इस्लाम को मानने लगा था। इसी से बाहर से मुसलमान होते हुए भी उनके अन्तर में हिन्दू-धर्म के दृढ़ संस्कार थे। यही कारण है कि कबीर में उच्च हिन्दू-विचार तथा योग के संस्कार मिलते हैं। कबीर ने स्वयं अपनी जाति के सम्बन्ध में कई प्रकार की उक्तियाँ, कह दी हैं। 'जुलाहा' तो कबीर ने अपने आपको कई बार कहा ही है।[3] इसके साथ ही 'कोरी'[4] शब्द का प्रयोग भी कबीरवादी अनेक स्थानों पर हुआ है। 'कोरी' हिन्दू होते हैं। कबीर ने अपने वंश के लिए 'बहुगोसाईं' भी कहा है। पर

---

१. श्यामसुन्दरदास : कबीर ग्रन्थावली, भूमिका पृ० २२-२३।

२. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्री, पृ० २५०-२५१।

३. जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि हरखि रमै कबीर।

× × ×

तू बाह्मन मैं कासी का जुलाहा।

४. कहत कबीर कारगह तोरी।
सूतति सूत मिलाए कोरी॥
× × ×
हरि को नाम अभै पद दाता।
कहै कबीरा कोरी॥

कबीर यह भी स्वीकार करते हैं कि उनके वंश का समाज में निम्न स्थान है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर का सम्बन्ध जुलाहा वंश से ही माना है। वे कबीर को जुलाहा वंश में पालित तो मानते ही हैं। इसके साथ ही वे इस जुलाहा वंश को नाथ-मतावलम्बी गृहस्थ योगी भी मानते हैं। उनके अनुसार ये योगी ब्राह्मणों से असन्तुष्ट तथा वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे। पर फिर भी उनमें हिन्दू-संस्कार थे विशेषतः ज्ञान और योग के। मुसलमान होने पर भी यह जुलाहा जाति अपने पूर्ववर्ती संस्कारों से मुक्त नहीं हो सकी थी। इससे कबीर में इन दोनों प्रकार के संस्कारों का मिश्रण है। यह गृहस्थ योगियों की जाति न हिन्दू थी, न मुसलमान। इससे कबीर में हिन्दू और मुसलमान दोनों में से किसी का भी अहंकार न होने का कारण भी स्पष्ट हो जाता है। कबीर के सम्पूर्ण साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित जीवन-दर्शन, विचार और भावना एवं उनके प्रति व्यक्त निष्ठा कबीर के हिन्दू होने का अकाट्य प्रमाण है।

पारिवारिक जीवन

कबीर के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी कई मत हैं। काशी, मगहर और बलहरा गांव (जिला आजमगढ़) कबीर के जन्मस्थान माने गये हैं। कबीर ने स्वयं अपने जन्मस्थान के सम्बन्ध में कोई निश्चित संकेत नहीं किया है। 'सकल जनम सिव पुरी गँवाया' से काशी के तथा 'पहले दर्शन मगहर पायो' से मगहर के जन्म स्थान होने की कल्पना की गई है। कुछ लोग लहरतारा तालाब को बेलहारा का बिगड़ा हुआ रूप मानकर आजमगढ़ के बेलहारा गाँव को उनका जन्मस्थान मानते हैं। परम्परानुसार कबीर का जन्म स्थान काशी ही माना जाता रहा है। कबीर को काशी से अत्यधिक प्रेम भी है। अन्य स्थानों के लिए पुष्ट प्रमाणों के अभाव में काशी को ही जन्मस्थान मानना समीचीन है।

कबीर का एक छोटा-सा परिवार था। उसमें कबीर के अतिरिक्त पाँच सदस्यों के होने की जनश्रुति है। माता-पिता, स्त्री, पुत्र और पुत्री। कुछ लोगों का अनुमान है कि कबीर के दो स्त्रियाँ थीं, लोई और धनिया। 'धनिया' का नाम 'रमजनिया भी बताया जाता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने एक पद के आधार पर कबीर के दो पत्नियों के होने की कल्पना की है। पहली पत्नी से घर वाले सब प्रसन्न हैं, पर दूसरी पत्नी पति का अधिक ध्यान रखा है। उससे पति को अधिक प्रेम है। पहली पत्नी के प्रति असन्तोष के कारण ही कबीर ने दूसरी पत्नी की थी। इसी आशय के पद के आधार पर डॉ० वर्मा ने कबीर के दो पत्नी होने का अनुमान किया है।[१] वैसे इस पद में प्रतीकार्थ है और माया के दो रूपों के लिए प्रगति है। कबीर ने अपनी वानी में अनेक बार 'लोई' को सम्बोधित किया है। इसी के आधार पर कुछ विद्वान 'लोई' को कबीर की पत्नी कहते हैं। पर दो पत्नियों के होने अथवा एक लोई के ही पत्नी होने के

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २२९।

आधारभूत सम्पूर्ण साहित्य का आध्यात्मिक अर्थ माँ लगाया जा सकता है। कबीर के जीवन के अनुरूप यही अर्थ है अतः अधिक समीचीन है। वाणी के आधार पर पत्नियों के सम्बन्ध में किसी सुनिश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता है।

कबीर की कुछ पंक्तियों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि कबीर को अपने मार्ग में अपने पिता से तो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था, पर उनकी माता साधु-संगति से सन्तुष्ट नहीं थी। कबीर ने कहा है 'बाप दिलासा मेरी कीन्हा'— 'कबीरो संस नदी गयो बहि रे, ठाड़ी माइ करारै देरे, है कोई ल्यावै गहिरे।''[1] एक पद में कबीर ने अपने 'राम भजन' से माँ के दुःखी होने का संकेत किया है। दूसरे में माँ के मर जाने से संतोष प्रकट किया है। इन सभी अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर कबीर की माँ के असन्तोष का अनुमान हुआ है। कबीर की पहली पत्नी भी कबीर के वैरागीपन से असन्तुष्ट थी, ऐसा अनुमान लगाया गया है। पर वास्तव में इन सबका आध्यात्मिक अर्थ भी है। 'माई' माया-ममता आदि का प्रतीक है। दूसरी पत्नी वैराग्य आदि से प्राप्त विद्या रूप मनःस्थिति तथा पहली पत्नी वैराग्य से पूर्व की अविद्या मानी जा सकती है। 'लोई' 'लोग' के अर्थ में प्रयुक्त माना जा सकता है। वास्तव में कबीर के व्यक्तित्व एवं उनके सम्पूर्ण साहित्य की मूल प्रेरणा और अन्तरात्मा के अनुरूप तो आध्यात्मिक अर्थ ही अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत है। पर अवचेतन रूप से जीवन की घटनाओं का काव्य में प्रतिबिम्बित हो जाना भी असम्भव नहीं है। बाह्य साक्ष्य से अगर पुष्ट हो सकें तो ये अर्थ भी लिए जा सकते हैं। पर केवल अन्तः साक्ष्य के आधार पर जीवन-चरित के इतने स्थूल संकेतों को निकाल लेना अधिक समीचीन नहीं कहा जा सकता है, जबकि इन सबके अन्य अर्थ अधिक समीचीन हैं।

कबीर सम्प्रदाय में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार तो कबीर अविवाहित थे। पर 'ग्रन्थ साहब' के एक दोहे के आधार पर 'कमाल' उनका पुत्र सिद्ध होता है। कमाल के अतिरिक्त कबीर के 'कमाली' नाम की एक लड़की के होने का भी अनुमान है। 'कमाल' ने गुजरात में अपना सम्प्रदाय भी चलाया था। कुछ लोगों का अनुमान है कि कबीर के इन दो के अतिरिक्त भी सन्तान थी। उनका नाम जमाल और जमाली था। पर इस सम्बन्ध में भी पूर्ण निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता है।

कबीर का व्यवसाय कपड़ा बुनना था। यह उसके जुलाहे या कोरी होने से नहीं अपितु अन्य पदों के अन्तःसाक्ष्य से भी सिद्ध है। पर कबीर की सीमित आय ही रही होगी। वे अपने परिवार का कठिनाई से ही भरण-पोषण कर पाते होंगे। उनके यहाँ ऐशो-आराम के कोई साधन नहीं रहे होंगे। भगवद्भजन में लीन कबीर में संतोष की वृत्ति अवश्य ही थी। कबीर की आकांक्षा केवल अपने शरीर-निर्वाह भर की ही रही। धन संचय से कबीर जैसे भक्त और वैरागी को अरुचि ही रही। कबीर स्वाभिमानी व्यक्ति थे। वे भगवान के सिवाय किसी के समक्ष हाथ नहीं पसार सकते थे।

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पद १५१।

भगवान् से भी कबीर केवल जीवन-निर्वाह भर के लिए माँगते हैं। 'दुइ सेर माँगी चूना। पाव घी संग लूना। आध सेर माँगी दाले। मो को दोनों बखत जिवाले।' इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कबीर की भौतिक समृद्धि की आकांक्षायें कितनी स्वल्प हैं। धन-सम्पत्ति के एकत्र करने के तो वे नितान्त विरोधी थे ही। योगी और भक्त में जो अपरिग्रह की भावना होनी चाहिए वह तो कबीर में पूर्णतया मिलती है।

गुरु

कबीर के गुरु के सम्बन्ध में भी कई धारणायें हैं। लोक-प्रसिद्ध धारणा तो यह है कि कबीर के गुरु रामानन्द थे। इस सम्बन्ध में एक कहानी भी प्रचलित है। कबीर बड़े होकर उपदेश देने लगे थे। पर लोग उनके उपदेशों की 'निगुरा' होने के कारण उपेक्षा करते थे तथा उनको 'निगुरा' कहकर चिढ़ाते थे। इसी से कबीर ने काशी के प्रसिद्ध महात्मा रामानन्द को अपना गुरु बनाने का निश्चय किया। मुसलमान होने के कारण रामानन्द कबीर को अपना शिष्य नहीं बनाना चाहते थे। इससे कबीर एक दिन पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर लेट गये। अनजान में जब रामानन्द का पैर कबीर पर पड़ गया तो वे 'राम राम' कह उठे। इसी को कबीर ने 'गुरु मंत्र' मान लिया और अपने आपको रामानन्द जी का शिष्य मानने लगे। स्वयं कबीर ने "काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताए" कहा है। इसे कुछ लोग रामानन्द का कबीर के गुरु होने का प्रमाण बतलाते हैं। 'चेताए' से रामानन्द के सिद्धान्तों से प्रभावित होना और प्रेरणा ग्रहण करना भी अर्थ लिया जा सकता है। रामानन्द के समय के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिकों में मतैक्य नहीं है। एक धारणा के अनुसार तो रामानन्द जी कबीर के जन्म से पूर्व मर ही चुके थे। दूसरी धारणा के अनुसार रामानन्द जी की मृत्यु के समय कबीर केवल १४-१५ वर्ष के रहे होंगे। उस समय उनके घूम-घूम कर उपदेश देने की बात कुछ बेतुकी सी प्रतीत होती है। कबीर गुरु के ज्ञान के लिए अपरिहार्यता मानते हुए भी गुरु का शारीरिक साक्षात्कार आवश्यक नहीं मानते हैं। उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि रामानन्द कबीर के मानस गुरु थे। कबीर रामानन्द के सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे।

कबीर-पन्थी मुसलमान शेख तकी को कबीर का गुरु मानते हैं। कबीर के समय में मीर तकी नाम के दो संतों के होने का अनुमान हैं। एक 'झूँसी' का और एक बड़ा मानिकपुर का। दूसरे तकी का तो कबीर खण्डन करते हैं। झूँसी में कबीर का कुछ दिन रहना माना जाता है। इससे कबीर मीर तकी से प्रभावित अवश्य हुए होंगे, पर इतने से ही उनको गुरु मान लेना समीचीन नहीं। कबीर ने गोमती तीर निवासी 'पीताम्बर पीर' का भी उल्लेख किया है। इस 'पीर' के प्रति कबीर के हृदय में श्रद्धा है। वे उसकी कुटिया तक जाने को हज्ज करना कहते हैं। पर अन्य प्रमाणों के अभाव में पीताम्बर पीर को कबीर का गुरु मान लें तो ठीक नहीं है। डॉ० मोहनसिंह ने 'कबीर एण्ड हिज बायोग्राफी' में कबीर के किसी लौकिक गुरु होने का खण्डन किया है। डॉ० भण्डारकर भी रामानन्द के गुरु होने का समर्थन

नहीं करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षागुरु या विद्यागुरु जिन पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, उनकी दृष्टि में कबीर का कोई गुरु नहीं रहा होगा। हाँ, कबीर ने रामानन्द को अपना मानस गुरु मान लिया होगा। पढ़े-लिखे न होने के कारण विद्यागुरु की तो कल्पना भी अनावश्यक है। कबीर ने स्थान-स्थान पर जो 'सतगुरु' की बात कही है, वह तो साक्षात् भगवान् के सम्बन्ध में है। 'तत्त्वज्ञ' ही गुरु होने के योग्य होता है। और 'तत्त्वज्ञ' और 'भगवान्' में अभेद ही माना जाता है। कबीर के प्रसंग में तो किसी लौकिक तत्त्वज्ञ पुरुष की गुरु के रूप में कल्पना की गुंजाइश नहीं है, अत: सतगुरु के रूप में कबीर ने साक्षात् भगवान् का स्मरण किया है, यही मानना समीचीन है। 'सद्गुरु' और 'पारखगुरु' से जो कुछ कबीर ने कहा है वह किन्हीं विशेष व्यक्तियों का संकेत नहीं, अपितु गुरु सम्बन्धी विचारधारा से सम्बद्ध है। ये कबीर के गुरु सम्बन्धी प्रत्ययों (Concepts) के द्योतक हैं।

देशाटन

कबीर को तीर्थ-यात्रा से तो प्रेम नहीं था पर उनकी संत-महात्माओं से मिलने तथा ज्ञानार्जन की आकांक्षा अवश्य तीव्र थी। यही कारण है कि जीवन के अधिकांश भाग को काशी में बिताते हुए भी कबीर समय-समय पर इधर-उधर देशाटन भी करते रहे। यहीं कबीर ने अपनी रचनाओं में कई स्थानों पर स्पष्ट किया है। उनके मगहर जाने तथा वहीं पर शरीर त्याग की बात तो प्रसिद्ध ही है। सिकन्दर लोदी के द्वारा निष्कासित होकर कबीर इधर-उधर घूमते रहे और अन्त में मगहर चले गये। इसके अतिरिक्त मानिकपुर बड़े तथा झूँसी जाने का अनुमान भी है। गोमती तीर निवासी पीताम्बर पीर से कबीर मिलने जाते थे, कबीर की उक्तियों से ही अनुमान इस सब का होता है। कबीर की मडौंल, पंडरपुर, जगन्नाथपुरी आदि स्थानों की यात्रा का अनुमान भी होता है। कबीर की एकाध पंक्ति के आधार पर उनका मक्का-मदीना जाने का अनुमान तो अतिरंजित दृष्टिकोण है। कबीर को ऐसी पंक्तियों के कुछ दूसरे ही संकेत हैं।

वैराग्य, ज्ञान और साक्षात्कार

कबीर अपनी परिस्थितियों से ऊब कर एक बार वैरागी हो गये थे और वन-वन भटकते रहे। पर जब उन्हें वे कष्ट बन में भी प्रतीत हुए तो घर छोड़ना बेकार समझकर घर में ही वे वास्तविक विरक्त का जीवन व्यतीत करने लगे।[1] उन्होंने शरीर

---

१. घर तजि बन बाहर कियो वास।
घरबुन देखौ दोऊ निरास।
जहाँ जाऊँ तहीं सोग सन्ताप।
जरा भरम को अधिक विद्वाप।
कहै कबीर चरम ताहि वदा।
घर में घर के परमात्मा। — कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११३

को नहीं मन को विरक्त कर लिया। यह उनके सम्पूर्ण साहित्य से स्पष्ट है। कबीर की व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने में अभिरुचि नहीं थीं, पर वे पराविद्या की प्राप्ति के लिए आतुर थे। इसमें सब प्रकार के साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों से ऊपर थे। उनको इस विद्या की जो कुछ प्राप्ति हुई थी, वह केवल बहुश्रुत होने तथा आत्मानुभव एवं विवेक के कारण ही। वेद, पुराण, कुरान आदि सभी धर्मग्रन्थ कुछ पूर्वाग्रह पैदा करते हैं और अपरा विद्या में मन को उलझा देते हैं। इस दृढ़ धारणा के साथ कबीर ने तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करने में सब स्थानों से लेने की उदारता के साथ ही किसी भी धर्म से अपने आपको न बाँधने का स्वभाव भी अपना लिया था। कबीर साधक और योगी थे। ज्ञानयोग के साथ तो वे नादयोग, सुरतयोग, लययोग आदि के साधक भी रहे होंगे। ये सभी उनके लिए तत्त्वज्ञान के साधन थे। कबीर मूलतः ज्ञानी भक्त थे। यह उनके सम्पूर्ण साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है। पर वे तत्त्वज्ञान और आत्मसाक्षात्कार की किस भूमिका पर थे, यह कहना कठिन है। उनकी अनेक उक्तियाँ तत्त्वज्ञान की चरमावस्था पर पहुँचे हुए व्यक्ति की उक्ति होने का संकेत करती हैं पर कहीं तो वे उनके अपने जीवन की अनुभूति न होकर अनुभूति का शास्त्रीय विवेचन है और कहीं-कहीं वे गर्वोक्ति भी प्रतीत होती हैं। कबीर साधना की किस भूमिका पर पहुँच चुके थे, यह निर्णय साहित्य-समीक्षक नहीं, कोई साधक ही कर पाता है।

कबीर की समन्वय-साधना तथा उनका समन्वयवादी जीवन-दर्शन

कबीर की समन्वय-साधना के स्वरूप का निरूपण तथा मूल्यांकन करने से पूर्व यह आवश्यक है कि उनके युग की उन प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा लिया जाय, जिनमें इस समन्वय-साधना की प्रेरक एवं रूप-विधायक शक्तियाँ अन्तर्हित हैं। युग की परिस्थितियों के विश्लेषण के साथ ही कबीर के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण भी अपेक्षित है, क्योंकि कवि का व्यक्तित्व ही युग-प्रभाव को ग्रहण करने तथा उसके प्रति क्रिया-प्रतिक्रिया करने वाला होता है। कबीर का समन्वय युग के प्रति उनके व्यक्तित्व की क्रिया-प्रतिक्रिया का ही परिणाम है।

तत्युगीन परिस्थितियाँ : इस्लाम धर्म का प्रभाव

कबीर का जीवन-काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। कबीर की कोई भी जन्मतिथि तथा निधनतिथि मानी जाय, ये सीमाएँ तो ठीक ही हैं। भारत के इतिहास का यह काल हर प्रकार से अत्यधिक उथल-पुथल का काल था। उस समय तक मुसलमान यहाँ बस गये थे। मुसलमानों का आगमन तथा उनका यहाँ बस जाना भारतीय इतिहास की एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है। उनके आक्रमण तथा राज्य-स्थापन की घटना से अधिक महत्त्वपूर्ण है उनका पृथक् सांस्कृतिक एवं सामाजिक इकाई के रूप में हिन्दुओं के कट्टर विरोधी होकर बने रहना तथा हिन्दू जाति को अपने आप में पूर्णतया आत्मसात कर लेने की भावना एवं हर प्रकार के प्रयास हैं। मुसलमान आक्रामक केवल राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं, अपितु इस्लाम का प्रचार करने भी आये थे। तैमूर ने अपने संस्मरण में यह बात स्पष्ट की है। वह अपने आक्रमण का उद्देश्य इस्लाम का प्रचार करके भारत-भूमि को काफिरों से मुक्त करना मानता है। मूर्तियों के खण्डन तथा मन्दिरों के उखाड़ने से उसे खुदा के यहाँ 'गाजी' और 'मुजाहिद' का सम्मान प्राप्त करने का विश्वास है।[1] मुसलमानों में वर्ण-व्यवस्था का अभाव तो

---

1. Medieval India Under Mohamdean Rule, p. 155 (Stanly Lane, Pole.)

था पर उनकी जातीय भावना और मजहबी कट्टरता, असहिष्णुता की सीमा तक पहुँची हुई थी। उनका धर्म प्रधानतः सामूहिक मजहबी भावना पर टिका हुआ था। उसमें हिन्दू धर्म की तरह मजहबी भावनाओं से ऊपर उठकर व्यक्तिगत चरित्र को महत्ता देने की उदारता नहीं थी। मुसलमान होने के बाद व्यक्ति की जातिगत विशिष्टताओं के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। उसे सामूहिक धर्म को मानना पड़ता है। व्यक्तिगत चरित्र की शुद्धि अथवा व्यक्तिगत साधना का भी इसमें ऐसा कोई महत्त्व नहीं है। इस्लाम को स्वीकार करने वाला स्वर्ग में और काफिर नरक में जाता है, यह उस समय मुसलमानों का मूल विश्वास था। ऐसे किसी विश्वास के लिए हिन्दू धर्म में कोई स्थान नहीं है कोई भी इसलिए स्वर्ग का अधिकारी नहीं है कि वह हिन्दू है, ब्राह्मण है अथवा वैष्णव या शैव है। उसके व्यक्तिगत चरित्र की शुद्धि ही प्रधान वस्तु है। इस प्रकार की संस्कृति की जाति के आगमन ने हिन्दू-संस्कृति, धर्म और जाति को झकझोर दिया था। हिन्दुओं के समक्ष अपनी सांस्कृतिक आत्मरक्षा का प्रश्न था। पर यह कार्य साम्प्रदायिक एवं जातीय भावनाओं को अधिक दृढ़ करने से सम्भव नहीं था, अपितु धर्म और संस्कृति के व्यापक स्वरूप के पुनरुत्थान पर ही निर्भर था। यह भक्ति-साधना द्वारा ही सम्भव हुआ। भक्ति-साधना के पुनरुत्थान में सहयोग ही कबीर की समन्वय-साधना है। ऐसे समय में कुछ हिन्दुओं का इस्लाम की ओर झुकना भी स्वाभाविक था। हिन्दू जाति का एक भाग जो कई शताब्दियों से वैदिक मर्यादा का विरोधी था और बौद्ध-धर्म की साधना को मानता चला आ रहा था, इस्लाम की ओर झुका भी। बहुत-से मुसलमान भी हुए। उनको इस्लाम में शान्ति, सामाजिक न्याय एवं धार्मिक समानता की भावनाएँ प्रतीत भी हुईं। 'योगी' या 'जोगी' ऐसी ही एक जाति थी जो हाल ही में मुसलमान हुई थी। पर ये लोग भी शताब्दियों तक न अपने हिन्दू संस्कारों से मुक्त हो सके और न अपने आपको पूर्णतया इस्लाम के रंग में रँग सके। शेष हिन्दुओं में तो इस्लाम की संस्कृति और धर्म के विरुद्ध एक प्रबल बौद्धिक एवं भावनात्मक प्रतिक्रिया ही जागी। दूसरी ओर इस बौद्धिक दृष्टि से सजग वर्ग में आत्मालोचन की जागी हुई प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला। कबीर का व्यक्तित्व भी इन्हीं प्रेरणाओं का परिणाम है। कबीर के युग में हिन्दू-संस्कृति और इस्लाम संस्कृति का यह अन्तर्विरोध पर्याप्त उग्र था। कबीर जाति से जुलाहे थे, इसलिए उनके जातिगत संस्कार भी उनको साम्प्रदायिक संकुचित परिधियों और कट्टरताओं से ऊपर उठाए रख सके। उनकी समन्वय-साधना का यह भी एक बहुत ठोस आधार है।

आन्तरिक विरोध

इस युग में इन दोनों जातियों का अन्तर्विरोध पारस्परिक ही नहीं था, पर इन जातियों में अपने आन्तरिक विरोध भी थे। हिन्दू धर्म अनेक मत-मतान्तरों में विभक्त हो गया था। उसमें शैव-वैष्णव, शाक्त आदि अनेक सम्प्रदाय थे जिनकी अपनी अपनी पृथक दार्शनिक तथा धर्माचरण की पद्धतियाँ थीं। योगी, संन्यासी आदि अनेक

प्रकार के साधु लोग अपने-अपने ढंग से जीवन की साधना, आचरण और नीति का उपदेश देते फिरते थे। इन सब मान्यताओं के मूल में एक रस समन्वय की धारा तो थी, पर उनके बाह्य विरोध इतने उग्र थे कि उस एक रस समन्वय-धारा का साक्षात्कार अत्यन्त कठिन था। इसलिए सामान्य जन तो इनके विरोधमूलक पक्ष का ही साक्षात्कार कर पाता था। इस प्रकार जन-जीवन में एक विभ्रम की अवस्था भी थी। सामान्य स्तर के चिन्तनशील व्यक्ति को अपने मंगल का मार्ग बना लेना कठिन सा प्रतीत होता था। हिन्दू-धर्म की वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गई थी। उसमें सद्भाव और सहयोग के स्थान पर जातीय कटुता तथा ऊँच-नीच की भावना से जनित पारस्परिक वैमनस्य और घृणा के भाव जाग उठे थे। बौद्ध-धर्म के उत्थान के समय से ही ब्राह्मण अथवा सवर्ण विरोधी प्रवृत्ति अवर्ण हिन्दुओं में प्रबल होने लगी थी और वह धीरे-धीरे समाज के निम्नस्तर में दृढ़तर होती गई। जातियों और उपजातियों के रूप में बढ़ती हुई हिन्दू जाति विश्रृंखल होती जा रही थी। उसकी पारस्परिक सहयोग की भावना मृतप्राय होती गई। इस प्रकार उसका एक भाग हमेशा के लिए हर परिस्थिति में ही अस्पृश्य भी हो गया। हिन्दुओं के सामूहिक जीवन को यह घुन लग गया था।

मुसलमानों में भी पारस्परिक मतभेद बढ़ते गए। पहले-पहल तो बाहर से आये हुए मुसलमान भारत के परिवर्तित मुसलमानों को अपने समकक्ष नहीं मानते थे। महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों के लिए परिवर्तित मुसलमानों पर विश्वास नहीं किया जाता था। बलवन ने तो इन परिवर्तित नव मुसलमानों को 'नीच' शब्द से सम्बोधित किया है। इससे हिन्दुओं के निम्नस्तर का इस्लाम की ओर आकर्षण कुछ कम भी हुआ। मुसलमानों में भी शेख, सैयद, पठान, आदि कई उपविभाग हो गए थे। उनमें भी ऊँच-नीच का भाव जाग गया था। 'पीर' और 'ओलियों' के आचरण से मुसलमानों में भी कई फिरके बन गये। उनमें भी थोड़ा मन-मुटाव और भेद-भाव आ गया था; यद्यपि वह कटुता में अवश्य परिणत नहीं हो पाया।

सम्प्रदायगत विरोध : नाथ-सम्प्रदाय

कबीर के समय में अनेक धार्मिक, दार्शनिक एवं साधना सम्बन्धी सम्प्रदाय चल रहे थे। इनमें पारस्परिक अन्तर्विरोध ही अधिक था। इन सभी मत-मतान्तरों की धाराओं के तीन प्रमुख रूप माने जा सकते हैं। एक वह धारा थी जो बौद्ध धर्म के महायान तथा सिद्ध-सम्प्रदायों से बढ़ती हुई नाथ-सम्प्रदाय में परिणत हो गई।

नाथ-सम्प्रदाय—'नाथ-सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक गोरखनाथ थे, जिनकी गणना सिद्ध-सम्प्रदाय में ही की जाती है। पर इनका मत सिद्धों के तामसिक एवं वीभत्स साधना की प्रतिक्रिया का परिणाम है। इसमें सदाचार पर जोर दिया गया है और व्यक्तिगत अनुभवों की विचित्रता एवं साधना की रहस्यात्मकता के स्थान पर इन्होंने साधना को शास्त्रीय प्रामाणिकता का ठोस आधार देने का प्रयास किया है। इनकी साधना में रागतत्त्व का भी मिश्रण है। इससे यह भक्ति-आन्दोलन का प्रेरक-तत्त्व भी

बन सका है। विभिन्न विद्वानों ने नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और साधनाओं का विभिन्न मतों से सम्बन्ध स्थापित किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा इसके दार्शनिक पक्ष का शैव मत से तथा उनकी हठयोग की साधना का योगमत (पतंजलि) से सम्बन्ध मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी बौद्ध और शाक्त मत से नाथ-सम्प्रदाय का सम्बन्ध मानते हैं। डॉ० मोहनसिंह ने इसमें औपनिषदिक छाया ढूँढ़ने की चेष्टा की है। कबीर के समय में इस मत का व्यापक प्रभाव था। पर वर्ण-व्यवस्था को न मानने के कारण अवर्ण हिन्दुओं में तो इसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ी हुई थी। मुसलमान भी नाथ-पंथ से प्रभावित थे। इनकी साधना का मूल आधार ध्यान और समाधि थे। उसमें वामाचार, रहस्य और गुह्य प्रवृत्तियों का प्राधान्य था। हठयोग के मार्ग से राजयोग की ओर उन्मुख होना ही नाथपंथियों की मुख्य उपलब्धि है। कुण्डलिनी जाग्रत करना, चक्रभेद, नाद-श्रवण आदि क्रियाएँ इसी साधना के तत्त्व हैं। नाथपंथी साधनाएँ तीर्थ-व्रत आदि बाह्याचारों की कायल तो नहीं थीं पर इन हठयोग की क्रियाओं में अवश्य बहुत उलझ गई थीं। इस पंथ में उच्चवर्ण तथा वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध कटुता भी कुछ तीव्र हो गई थी। कबीर ने इस पंथ से बहुत-कुछ ग्रहण तो किया, पर कबीर हठयोग के इन क्रिया-कलापों में उलझना भी समीचीन नहीं समझते थे। कबीर की साधना, ज्ञान, भक्ति और प्रेम के समन्वित रूप प्राप्त महारस की साधना है।

भक्ति-साधना

कबीर के पूर्ववर्त्ती तथा सम-सामयिक युग की साधनाओं में सबसे प्रमुख है भक्ति-साधना। भारतीय जीवन में इसका कोई नवीन प्रादुर्भाव नहीं था। इसके मूल तत्त्व तो वैदिक साहित्य में ही हैं। महाभारत तथा इससे पूर्व के शाण्डिल्य सूत्र में तो भक्ति का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट दृष्टिगत होता है। श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, नारद भक्ति-सूत्र आदि के उत्कृष्ट ग्रन्थ तथा स्तोत्र एवं स्तुति एक लम्बी परम्परा की कड़ियाँ हैं। भारतीय जीवन की तीन प्रमुख साधनाओं में से यह भी एक प्रमुख एवं अति प्राचीन साधना थी। पर मध्ययुग में भक्ति का उत्थान कुछ नवीन परिस्थितियों में नवीन चेतना लेकर हुआ था। इस युग में इसका उत्थान समाज के निम्नस्तर से हुआ। दक्षिण के आलवार भक्तों में सभी जातियों के व्यक्ति थे, पर उनमें से अधिकांश समाज के निम्नस्तर के ही थे। इस आन्दोलन की मूल प्रेरणा का दार्शनिक आधार तो शङ्कर के मायावाद के विरुद्ध खड़े होने वाले एवं जगत् और जीव को सत्य तथा ईश्वर का शरीर मानने वाले वैष्णव सम्प्रदाय थे। जगत्, ईश्वर और जीव सम्बन्धी विचार इन आलवार भक्तों को सहज अनुभूति के द्वारा प्राप्त हुए, चिन्तन और अध्ययन से नहीं। इस जीवन-दर्शन की मूल आधार भित्ति, जातीय आधार पर हिन्दू-समाज में फैली हुई ऊँच-नीच की भावना, वैषम्य, पारस्परिक घृणा एवं विरोध की प्रतिक्रिया थी। भक्ति-आन्दोलन ने भगवान् की दृष्टि में सबके समान होने के सिद्धान्त को फिर से दुहराया।

भक्ति-आन्दोलन ने जाति को मूलतः व्यक्ति की उच्चता का आधार न मान कर भक्तिभाव तथा नैतिकता को इस उच्चता के मानदण्ड की गरिमा प्रदान की। यह आन्दोलन जन-जीवन की एक महान् क्रांति का द्योतक था। भक्ति-आन्दोलन ने ही वास्तव में विश्रृंखल होती हुई हिन्दू जाति को फिर से संगठित करके नवीन प्राण-स्पंदन दिया है। भक्ति के द्वारा प्राण-स्पंदन देने वालों में कबीर भी प्रमुख हैं।

बाह्याचार प्रधान साधना

भारत के पश्चिमी भाग की मध्यकालीन जीवन-साधना का प्रधान आधार आचार-प्रवण धर्म भावना थी। उसमें कर्मकाण्ड, तीर्थ-व्रत आदि का अत्यधिक महत्त्व था। पंडित लोग स्मृति, पुराण तथा अन्य शास्त्रों का मन्थन करके एक व्यापक आचार-संहिता प्रस्तुत करने तथा हिन्दू-जीवन को समन्वयवादी ठोस आधार देने के लिए प्रयत्नशोध थे, इसके लिए इन पंडितों ने प्राचीन धर्म-ग्रन्थों का पुनर्मूल्यांकन करते हुए उनके सिद्धान्तों की तत्कालीन जीवन के लिए उपयोगी एवं नवीन व्याख्या देने के लिए निबन्ध-ग्रन्थ लिखे थे। वास्तव में यह कार्य केवल भक्ति-साधना में अपने आपको मिलाकर ही सम्भव था। इसलिए उत्तर मध्यकाल में यह चिन्तन-धारा भक्ति-साधना के साथ तदाकार हो गई थी। भक्ति को इस चिन्तन से शास्त्रीय तथा दार्शनिक आधार प्राप्त हुआ तथा इस शुष्क कर्मकाण्ड की आचार-संहिता को भक्ति से सरसता मिली। आलवार भक्तों की भक्ति में उपासना, कर्म आदि का विरोध नहीं अपितु सामंजस्य था। ये सब भक्ति के साधन थे। इसलिए शास्त्रीय चिन्तन वाली धारा का सहज उद्भुत भक्ति-धारा से समन्वय होना स्वाभाविक भी था। आलवार भक्तों में निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की साधनाओं का समन्वय था। इसलिए किसी में भी शास्त्र से विरोध की तीव्र कल्पना नहीं थी। पर यह कार्य हिन्दी की सगुण भक्ति की समन्वयवादी धारा में ही पूर्ण हो पाया। निर्गुण भक्ति-साधना तो इस आचार-संहिता वाली धारा से केवल अप्रभावित ही नहीं रही, अपितु, उसका विरोध भी करती रही।

सूफी-साधना

उस युग में एक और महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय था, सूफी साधना का। यह मूलतः विदेशी वस्तु थी। पर सूफियों के अनेक दल भारत में अनेक शताब्दी पूर्व ही आ गये थे और उनकी सिद्धियों का प्रभाव भारत की हिन्दू-मुस्लिम जनता पर समान सा ही था। उनकी साधना-पद्धति ने जन-जीवन को प्रभावित भी किया था। ये लोग मुस्लिम होने के कारण एकेश्वरवादी थे। पर इसका एकेश्वरवाद शेष मुसलमानों से भिन्न प्रकार का था। ये वस्तुतः हृदय से अद्वैतवाद को स्वीकार करते हैं। इनकी अद्वैतवादी धारणा विशिष्टाद्वैतवाद से मिलती-जुलती है। ये जगत् को माया-मोह और मिथ्या नहीं मानते हैं। जगत् भी उसी परम-तत्त्व के सौन्दर्य से सुन्दर है; उसी की छाया हैं। इस प्रकार इनकी दृष्टि से जगत् सत्य है। ये जीव और ब्रह्म की एकता के सिद्धान्त को मानते हैं। पर यह एकता शंकर वेदान्त का-सा ज्ञानाश्रित अद्वैत एवं

अभेद नहीं है। इनका एकता-सम्बन्धी दृष्टिकोण विशिष्टाद्वैतवाद के अनुरूप है। इस एकता की प्राप्ति का प्रमुख साधन इनकी दृष्टि में प्रेम ही है। योग-साधना और ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी इनकी दृष्टि से भगवान् के साथ जो जो एकता होती है, वह मुख्यतः प्रेम-जनित है। प्रेमी और प्रिय जैसे एक हो जाते हैं, एक होने का अनुभव करते हैं पर वस्तुतः भिन्न भी रहते हैं। जीव और ब्रह्म में भी वैसी ही एकता की कल्पना उन सूफी सन्तों ने की है। प्रेम के लिए द्वैत की भूमिका अनिवार्य है, चाहे वह कल्पित ही है। सूफी साधना में अद्वैत की अनुभूति प्रेम के नशे के कारण है, वैसे द्वैत ही सत्य है। इस साधना के कवि रहस्यवादी हैं। इन्होंने दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से भगवत-प्राप्ति के मार्ग का प्रतिपादन किया है। ईश्वर को स्त्री मानने के कारण इश्क की विकलता का चित्रण पुरुष रूप जीव में हुआ है।

कबीर का व्यक्तित्व और समन्वय

इन बहुमुखी साधनाओं के अन्तर्विरोध के युग में कबीर का जन्म हुआ था। ऐसे युग में अन्तर्विरोधों को मिटाकर एक समन्वयवादी मार्ग की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। पर अपने-अपने मार्गों में ही पूर्ण सत्य देखने के भ्रम तथा उसी के पूर्णतः संरक्षण के मोह में फँसे हुए लोगों के द्वारा यह कार्य सम्भव नहीं था। इसके लिए पूर्णतः जागरूक एवं सब सम्प्रदायों के अहंकारों से ऊपर उठे हुए व्यक्तित्व की अपेक्षा थी। कबीर के व्यक्तित्व को इन सभी के संस्कारों ने प्रभावित किया था। पर कबीर का लालन-पालन ऐसे परिवार और परिस्थितियों में हुआ था कि वे इन विरोधी विचारधाराओं में सम्बन्ध रखते हुए भी उनमें से किसी से भी पूर्णतया आबद्ध नहीं हो सकते थे। द्विवेदीजी के अनुसार कबीर का व्यक्तित्व अन्तर्विरोधों का मिलन-बिन्दु था। वे हिन्दू होते हुए भी हिन्दू नहीं थे। मुसलमान होते हुए भी मुसलमान नहीं थे। कबीर का व्यक्तित्व उस चौराहे पर खड़ा था जिस पर चारों तरफ से भिन्न-भिन्न मतवादों के रास्ते आकर मिलते हैं। जैसे चौराहे पर खड़ा व्यक्ति चारों तरफ की वस्तुओं को देखता हुआ भी किसी रास्ते की सीमाओं से आबद्ध नहीं होता है और सभी रास्तों की सुख-सुविधा एवं असुविधा का तटस्थ निर्णय कर सकने की स्थिति में होने के कारण समीचीन मार्ग अपनाने में समर्थ होता है, वैसे ही कबीर भी इन मत-मतान्तरों से सार रूप ग्रहण करके अपने मार्ग का निर्माण कर पाये। कबीर में परिस्थितियों के निर्णय की अपूर्व क्षमता थी। इनसे प्राप्त निष्कर्षों की समीचीनता तथा उपयोगिता को अपने आत्म-चिन्तन से प्राप्त तत्त्वों की कसौटी पर कसने में कुशल थे। कबीर के परिवार तथा तत्युगीन परिस्थितियों ने ही कबीर को समन्वयवादी साधना के लिए प्रेरणा दी थी और उनके व्यक्तित्व ने ही इस साधना का स्वरूप संगठित किया था। कबीर के तत्त्वग्राही व्यक्तित्व ने सभी मतवादों और साधनाओं से जीवन के मानवतावादी दृष्टिकोण के उपयुक्त मूलभूत तत्त्वों को अपना लिया था तथा मजहबी या वर्गगत अहंकार को पुष्ट करने एवं आचार-संहिता की जड़-कारा में उलझा देने वाले तत्त्वों का परित्याग कर दिया था। समन्वय के लिए ग्रहण तथा त्याग—दोनों ही आवश्यक होते हैं। पर विवेकपूर्ण ग्रहण

तथा त्याग के लिए एक आधार-भूमि या मानदण्ड निश्चित करना भी अपेक्षित होता है। यह समन्वय की मूल आधार-भूमि होती है; यही वह कसौटी होती है जिस पर कसकर ग्रहण और त्याग किया जाता है। कबीर की यह कसौटी औपनिषदिक ज्ञान, भक्ति और प्रेम की है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि अपने-अपने मतों की श्रेष्ठता के प्रतिपादन की समस्या तो केवल सम्प्रदाय के आचार्यों के समक्ष ही थी। जनसाधारण का ईमानदार और सच्चा मानव तो किसी मार्ग के ढूंढ़ने का इच्छुक था। वह जीवन के उस परम लक्ष्य को जानने तथा अपनाने के लिए आतुर था जो गृहस्थ और संन्यासी, हिन्दू और मुसलमान, शैव और वैष्णव, शाक्त और योगी एवं सिद्ध आदि सभी के लिए ग्राह्य हो सके और जिसमें सबका कल्याण निहित हो। ऐसे परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मार्ग भी तदनुरूप सब अन्तर्विरोधों से ऊपर उठा हुआ हो, यह जन-सामान्य में निहित मानवता की आकांक्षा थी। कबीर में जन-सामान्य की यही आकांक्षा मूर्तिमान हुई थी और उनकी साधना इसी आकांक्षा की पूर्ति का प्रयास है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि भक्ति-धारा की मूल-प्रेरणा तथा देन यही है। भक्ति हिन्दू जीवन, धर्म और संस्कृति के समन्वयवादी आधार का पुनर्निर्माण इस्लाम के आने से पहले करने लगी थी। उसने विभिन्न चिन्तनधाराओं को अत्यधिक प्रभावित किया और यथा सम्भव उनमें से बहुतों को आत्मसात् भी कर लिया। पूर्व युगों से चली आती हुई भक्ति-धारा ने इस युग में अपनी उपर्युक्त आकांक्षा की पूर्ति कबीर के माध्यम से की है। इस प्रकार कबीर की साधना और युग को देन का मूल आधार ज्ञान और भक्ति है। उनकी समन्वय-साधना की मूल आधार-शिला भी ये ही है।

समन्वयवादी जीवन-दर्शन

कबीर जीवन का चरम लक्ष्य परम तत्त्व की प्राप्ति मानते हैं। कबीर की दृष्टि में ही यही तत्त्व मूल सत्य वस्तु एवं सर्वव्यापी है। इसके अतिरिक्त और कोई तत्त्व है नहीं। इसलिए उसके लिए किसी भी नाम की आवश्यकता नहीं है और सभी नाम इसी का संकेत करते हैं। राम, रहीम, करीम, खुदा आदि में से किसी भी विशेष शब्द के गुणों से उपहित एवं सीमित न होते हुए भी ये सभी शब्द उसी परम तत्त्व का संकेत करते हैं। इस प्रकार कबीर द्वारा मान्य परम तत्त्व की मूल आधारभित्ति तो अद्वैतवाद है, जिसका न भक्ति मार्ग से विरोध हो सकता है और न ज्ञान-मार्ग से। उस तत्त्व का मुसलमान और सूफी सन्त भी विरोध नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार यह अविरोधों की समन्वयवादी भावना का परिचायक तत्त्व है।

इस तत्त्व को प्राप्त करने का प्रमुख साधन भी ज्ञान और प्रेम है। कबीर का ज्ञान शास्त्र-चिन्तन या तर्क से प्राप्त वस्तु नहीं, वह तो केवल सहज अनुभूति एवं आत्मसाक्षात्कार रूप है। शास्त्र-ज्ञान के अहंकारों से मुक्त व्यक्ति को जो सहज रूप में ज्ञान होता है, उसी से कबीर का अभिप्राय है। ऐसे ही प्रेम का सहज रूप

कबीर को मान्य है। यह सम्प्रदाय की मान्यताओं के आचरण से मुक्त निरुपाधिक प्रेम है। प्रेम तत्त्व को सभी साधनाओं में किसी-न-किसी रूप में स्थान प्राप्त हुआ है। कबीर ने इसके सामान्य स्वरूप को स्वीकार करके उसके सम्बन्ध में प्रचलित विरोधों का भी परिहार कर दिया है। इस प्रकार कबीर की भक्ति अन्तर्विरोधों से मुक्त ज्ञान और प्रेम की समन्वय शिला पर आधारित है। कबीर ने हठयोग आदि अन्य साधनाओं की उपयोगिता भी चित्त-शुद्धि द्वारा ज्ञान, भक्ति और प्रेम के लिए ही मानी है।

जैसे जीवन के आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं साधना के स्तर पर कबीर ने तत्युगीन जीवन को समन्वय का सन्देश दिया है, वैसे ही कबीर ने जीवन के व्यावहारिक स्तर पर भी अन्तर्विरोधों को मिटाने वाला समन्वयवादी दृष्टिकोण ही दिया है। कबीर को मानव-मानव की मूलतः समानता और एकता में दृढ़ विश्वास है। उन्हें वर्गगत या जन्मजात ऊँच-नीच की भावना से तीव्र घृणा है। मानव की उच्चता का आधार जन्म अथवा सम्प्रदाय नहीं, नैतिकता और सदाचार है। "जात-पाँत पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" में कबीर को पूर्ण निष्ठा है। अन्य मतों की तरह कबीर का भी युग को यही सन्देश है। तप, व्रत, संध्या, नमाज आदि को कबीर नैतिकता का नहीं, अपितु वर्गगत अहंकार की पुष्टि करने का साधन समझते हैं। इसलिए उन्हें त्याग कर जिस नैतिकता और भगवत्प्रेम का विकास होता है, उसी में कबीर मानव का कल्याण समझते हैं। कबीर की दृष्टि में यह मानवता का मूल आधार है। कबीर ने सगुण भक्तों की तरह इस आचार-संहिता, नियमव्रत तथा ऊँच-नीच की भावना की शास्त्रीय व्याख्या न करके उनमें उपयोगिता ढूँढ़ने की चेष्टा की और न इस प्रकार अन्तर्विरोधों के मूल में विद्यमान समन्वय को ढूँढ़कर उसके साथ उन अन्तर्विरोधों (कम से कम आपाततः प्रतीयमान विरोधों) में सामंजस्य स्थापित किया है। कबीर ने मानव के इन संस्कारों को मूल से उखाड़ कर फेंकने का ही प्रयास किया है। पर सगुण भक्तों ने तीर्थ, व्रत आदि को साधन रूप में स्वीकार करते हुए भी आचार-संहिता की जड़-कारा से मानव को मुक्ति दी है। उनका सन्देश भी अन्त में भगवत्प्रेम और नैतिकता में ही पर्यवसित हो जाता है। अधिकारी भेद की कल्पना करते हुए आचार-संहिता की जो भक्तिपरक व्याख्या सगुण भक्तों ने की है, वही भारत के जन-जीवन को वास्तविक कल्याण का मार्ग दिखा सकी। वही उनकी निष्ठा का विषय बन सकी। वर्गगत संस्कारों को झुठलाकर हटाया नहीं जा सकता है। उनका व्यापक मानवता के विकास में उन्नयन अवश्य हो सकता है। कबीर ने तीर्थ, व्रत आदि की उपयोगिता को झुठलाने का प्रयत्न किया, जो परमार्थतः सत्य होते हुए भी वर्ग और सम्प्रदायों में बँटी हुई मानवता को पूर्णतया हृदयग्राह्य नहीं हो सका। शास्त्र के प्रति पूर्ण अविश्वास जाग्रत कर देना कबीर क्या, किसी के लिए भी उस युग में सम्भव नहीं था। निर्गुण-निराकार के प्रति जिस निरुपाधिक प्रेम, संध्या

पूजाविहीन भक्ति, तीर्थ, व्रत आदि से शून्य धर्म-भावना, शास्त्रोक्त कर्मों से ऊपर उठी हुई जिस नैतिकता का संदेश कबीर ने दिया है, वह परमार्थतः सत्य होते हुए भी केवल कतिपय ज्ञानी व्यक्तियों के लिए ही सुबोध था। जन-जीवन तो 'निरालम्ब मन चकृ धावै" वाली स्थिति में था। यही कारण है कि समन्वयवाद के जिस कार्य का सूत्रपात हिन्दी-क्षेत्र में कबीर तथा अन्य निर्गुणियों ने किया था, उसके मूल में निहित परमार्थ सत्य को स्वीकार करते हुए सगुण भक्तों ने उस कार्य को आगे बढ़ाया और जन-जीवन को एक ठोस एवं सर्वग्राह्य समन्वयवादी जीवन-पद्धति दी। यह कार्य तुलसी और सूर का था। मध्ययुगीन जीवन-साधना के समन्वयवादी आन्दोलन के प्रवर्त्तक हिन्दी साहित्य की दृष्टि से कबीर माने जा सकते हैं, पर इस साधना को पूर्णतः देने का कार्य तुलसी और सूर ही कर पाए। कबीर ने समन्वयवादी साधना के लिए एक भूमि तैयार कर दी थी, पर उस पर समन्वय का महल तुलसी-सूर ही खड़ा कर पाए। कबीर की समन्वयवादी साधना का वास्तविक रूप सूर और तुलसी की साधना के सामंजस्य में ही देखा जा सकता है, उसके साथ विरोध में नहीं।

जो लोग कबीर की जीवन-साधना को तत्युगीन सामंतशाही के संदर्भ में हिन्दुओं (विशेषतः बाह्मण वर्ग) द्वारा आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक स्तर पर शोषित निम्न जातियों की व्यथा तथा तद्जनित विद्रोह भर को स्वर देने वाली मानते हैं वे आज के युग की विचारधारा तथा अपने मन की संकुचित घृणा जगा देने वाली धारणाओं का कबीर पर आरोप करते हैं। वे कबीर के व्यापक आध्यात्मिक संदेश को समाज के शोषण के संकुचित घेरे में बाँधकर उसी रंग में उसे रंगकर संदेश की महानता के प्रति अन्याय करते हैं। कबीर की व्यथा किसी वर्ग-विशेष की व्यथा नहीं थी, वह व्यापक मानवता की व्यथा थी। उस व्यथा का स्तर मूलतः सामाजिक नहीं, आध्यात्मिक एवं नैतिक था। कबीर वस्तुतः सन्त थे। किसी भी प्रकार की आर्थिक सम्पन्नता, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि लौकिक वस्तुओं को कबीर केवल अपने लिए ही नहीं, मानवमात्र के लिए तुच्छ समझते थे। उन्होंने निम्नवर्ग को उच्चवर्ग के समकक्ष प्रतिष्ठा दिलाने के लिए साधना नहीं की है। उनकी साधना का मूल मानव मात्र का आध्यात्मिक कल्याण है। इस कल्याण में सामाजिक कल्याण अन्तर्भूत है पर सामाजिक कल्याण प्रधान वस्तु नहीं। कबीर सन्त भक्त हैं। भक्ति, प्रेम और सदाचरण द्वारा वे भगवान को प्राप्त करने तथा भगवद्स्वरूप होने का संदेश मानव को दे रहे हैं। इस संदेश के लिए हिन्दू-मुसलमान, बाह्मण और शूद्र सब समान हैं। मानव की भगवद्रूप होने की क्षमता में कबीर के जीवन-दर्शन में एकांगी संकुचित धारणाओं और मन्तव्यों की गन्ध लेने वाले कबीर के सन्त होने में ही सन्देह करते हैं। कबीर को अपने सिद्धान्तों के स्वार्थ के लिए निम्न स्तर पर गिरा देना चाहते हैं।

कबीर का जीवन दर्शन । प्रेम

व्यक्ति की सार्थकता और महत्ता का प्रमुख आधार उसका जीवन दर्शन है। कवि के लिए तो यह बात और भी सत्य है। उसके द्वारा दी गई जीवन-दृष्टि की महत्ता ही उसकी महत्ता के मूलभूत आधारों में से एक है। कविता कला है, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है और व्यक्तित्व का मूल अंश उसका जीवन ही दर्शन है। दर्शन का जो रूप कवि की निष्ठा बनता है वही उसके व्यक्तित्व का मूल रूप है। कवि मूलतः रसन और रमणीयतावादी दृष्टि का व्यक्ति होता है। अतः उसे दर्शन के तत्त्व, तर्क और बुद्धि से नहीं अनुभूति से प्राप्त होते हैं। जो तत्त्व उसके रसन के विषय बनते हैं, वे ही उसके जीवन दर्शन के निर्मायक तत्त्व हैं। इस प्रकार कवि का असली दर्शन उसके द्वारा साक्षात्कृत अनुभूत और निष्ठा में परिणत दर्शन ही है। बौद्धिक चिन्तन, मात्र श्रवण और अध्ययन से प्राप्त दर्शन तो उसका सतही दर्शन होता है। वह केवल उसके अप्रस्तुत-विधान अथवा विचार-जगत् की वस्तु है। कवि की सृजनात्मकता का आधार और प्रेरक तो उसके द्वारा उनुभूत निष्ठा का दर्शन ही है। वही कवि का जीवन-दर्शन है—उसकी सृजनशीलता उसी से अद्भूत होती है। उस अंश को छोड़कर शेष अन्य सारी कविता मात्र अनुवाद है। कवि के दर्शन को समझना ही उसकी सृजनात्मकता के आधार का साक्षात्कार है। अतः कवि के जीवन-दर्शन का केवल अपने आप में ही महत्त्व नहीं है, अपितु कवि के सृजन और रसन के लिए भी उसका महत्त्व है।

कबीर कवि होने के साथ ही साधक हैं, दार्शनिक हैं, तत्त्वान्वेषी हैं, भक्त और ज्ञानी हैं; अतः उनका जीवन-दर्शन इन सब व्यक्तित्वों की अभिव्यक्ति है और उनका आधार पटल भी है। कबीर का जीवन-दर्शन मूलतः भी और सृजन और रसन की दृष्टि से भी निश्चित रूप से आध्यात्मिक प्रेम-दर्शन है। जैसे तुलसी ज्ञान की अपेक्षा भक्ति के स्तर पर अधिक हैं वैसे ही कबीर भी निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान की अपेक्षा सविशेष ब्रह्म के प्रेम में अधिक रमे हैं। इसी का कुछ विशद स्पष्टीकरण आगे किया गया है। कबीर का आध्यात्मिक प्रेम-दर्शन ही उनकी वह कविता बन गया है जिसमें उनकी सृजनात्मक प्रतिभा तथा रसात्मकता के दर्शन होते हैं। शेष नादयोग आदि के प्रतिपादक स्थल तो कविता की दृष्टि से प्रायः अनुवाद मात्र ही हैं। उनमें जो

कवित्व-रसत्व आ पाया है, वह आध्यात्मिक प्रेम के संस्पर्श से ही। परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए कायायोग आदि न प्रेम और ज्ञान के समकक्ष समर्थ साधन भर हैं और न अपरिहार्य ही हो सकते हैं। वस्तुत: वे परम प्रेम जाग्रत करने के साधन मात्र हैं। अत: हम कह सकते हैं कि कबीर का वास्तविक जीवन-दर्शन ज्ञानमूलक प्रेम है। इसी का निरूपण आगे है।

कवि द्वारा जीवन का मान्य लक्ष्य या मान्य अर्थ ही उसके जीवन-दर्शन की आधारशिला होती है। कबीर पारमार्थिक कल्याण अर्थात् सत्य के साक्षात्कार को ही परम लक्ष्य मानते हैं। तत्, त्वं और असि से पूरे पारस रूप से तदाकार हो जाना अपने सहज रू। में स्थित हो जाना या अविहड के साक्षात्कारों को ही कबीर जीवन का लक्ष्य मानते हैं। वे इस तत्त्व को अनेक नामों से अभिहित करते हैं। अलख, निरंजन, निरमं, शबद, निजपद, अभैपद, सहज, उनमन आदि।

"अलख निरंजन लखौ न कोई, निरभै निराकार है सोई।
सुनि असथूल रूप नहीं देखा, दिष्ट अदिष्ट छिप्यौ नहि पेखा॥"
—कबीर ग्रन्थावली, रमैनी—

पर वह इन सबसे परे का तत्त्व है। उसका अनुभव होने पर भी वह वाणी के लिए अवर्णनीय है। वह अलख है, उसे कहा नहीं जा सकता है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड से परे का जो तत्त्व है वही "हरि" है, उसके कोई रूप नहीं है। वह घट-घट में समाया हुआ है।

"सन्तो धोखा कासों कहिए,
गुन में निरगुन निरगुन में गुन है बाट छाड़ि क्यों बहिए।
अजर अमर कथैं सब कोई अलख न कथणां जाई।
नाति सरूप वरणनहि जाकै घटि-घटि रह्यौ समाई।
प्यंड ब्रहमण्ड कथैं सब कोई वाके आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रहमंड छाँडि जे कथिये, कहै कबीरहरि सोई।

जो पिंड और ब्रह्मांड से परे है, वही निर्विशेष तत्त्व है —

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी॥

तथा—

"पानी ही ते हिम भया हिम ह्वै गया बिलाई।
जो कुछ था सोई भया अब कछु कहा न जाई॥"

ऐसे सब स्थलों पर कबीर निर्विशेष परमतत्त्व का निरूपण कर रहे हैं। परमतत्त्व में कबीर ऐसे समा जाना चाहते हैं जैसे कि 'बूँद समानी समुद्र' में अ 'समुद्र समानी बूँद में' कहते हैं। यह निर्विशेष ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार की ज्ञान-दा

है; स्वरूप स्थिति है। कबीर जीवन का मुख्य प्राप्तव्य इसी को समझते हैं। कबीर में अनेक विशेष स्थानों पर इसका स्पष्ट निरूपण भी है और शेष में भी इसी की झलक है। यह स्थिति और वह परमतत्त्व अवाङ्मनस गोचर है। इसका वर्णन संभव नहीं। इसको किसी भी शब्द से नहीं कहा जा सकता है। भगवान शंकराचार्य सब रूपों और नामों का निषेध करते हुए कहते हैं :—

"वह अद्वैत तत्त्व न एक है, उससे दूसरा तो हो ही कैसे सकता है। न वह केवल है और न अकेवल। न वह शून्य है और न अशून्य। सब उपनिषदों के प्रतिपाद्य इस तत्त्व को कैसे कहूँ।"[1]

सब विधि अगम विचारहि,
तातें सुर सगुन लीला पर गावै।

× × ×

अव्यक्ता हि गति दुःख देहवद्भि : व्याप्यते।

भगवान शंकर दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में कहते हैं :—

"यः साक्षात्कार कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेकाद्वयमं।"

यही अपनी अद्वय स्थिति का आहाल्द है। यह स्वरूप-स्थिति है। ज्ञानदशा है। इसमें रमने आदि का व्यवहार नहीं होता पर तत्त्वज्ञ भी रमने का आनन्द लेना चाहता है। इससे ही वह सविशेष ब्रह्म के साक्षात्कार के स्तर पर उतर आता है और उसके वर्णन का आनन्द लेने लगता है। भगवान शंकर अपने स्तोत्रों में इसी सविशेष ब्रह्म के स्वरूप-साक्षात्कार का आनन्द लेते हैं। यह उनकी इस तत्त्व में रमने की प्रेम की ही स्थिति है। कबीर इस रमने की स्थिति को भी जीवन का प्राप्तव्य मानते हैं; उन्हें यही सहज गम्य लगता है।

निर्विशेष स्थिति में जाकर तो जीवनातीत अवस्था है। जीवन तो सविशेष की उपासना ही है। कबीर का मन इस अवस्था में ही अधिक रमा है। उस निर्विशेष को सब प्रकार अगम्य समझकर ही कबीर ने कहा है "मैंने दोनों नेत्रों में जगत् को देखा है मुझे वहाँ हरि के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं दिया। मेरा मन तत्त्व में अनुरक्त हो गया है। भगवान् ने अपनी लीला के रूप में ब्रह्माण्ड का विस्तार कर रखा है और वह उसे समेटकर अपने रंगे में रँगने लगता है।"

---

१. न चैकं तदन्यः द्वितीयं कुतः स्यात्
न वा केवलत्वं न या केवलाव
न शून्य न चाशून्य अद्वैतवत्त्वांगर
कथं सर्व वेदान्त सिध्दं ब्रवीमि।
—सिद्धान्त बिन्दु

"दुई दुई लोचन देखा, सर हरि बिन अवर न देखा।
नैन रहे रंगुलाई अब बेणल कहलु न जाई।

× × ×

बाजीगर डंक बजाई, सब कलक तमासे आई।
बाजीगर स्वांग अकेला, अपने रंग रंग अकेला।

कबीर प्रेमयोग आदि से प्राप्त सविशेष ब्रह्म के साक्षात्कार की आनन्दवस्था में हिलोरें लेना चाहते हैं। वे कहते हैं 'पहुँचेंगे तब कहेंगे अमुड़ेंगे उस ठांव, पर यह सविशेष ब्रह्म के प्रेमगम्य रूप का ही आनन्द है। ज्ञान गम्य निर्विशेष तत्त्व में स्थित नहीं है इससे स्पष्ट है कि कबीर इस स्थिति के साक्षात्कार की वासना वाले जीव थे। कबीर ने उस अमडने के आनन्द का वर्णन उनके स्थानों पर और अनेक रूपों में किया है। उसमें उनका मम रमा है, उस रस से वे तदाकार हुए हैं। "कबीर तेज अनत का मानी उगिसूरज सेषि अगमि अगोचर गमि नहीं तहां जगमगं जोति"। इसी कबीर उस परम तत्त्व का तेज-रूप में साक्षात्कार करते हैं; कभी वे कहते हैं—मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि करमहि मुक्ताहल मुकुता चुगें, इव उड़ि अनत न जाति कभी उन्हें लगता है....

१—"गगन गरजि अमृत चवै, अनहद बाजै नीझर झरै।"
२—आकासे मुखि औंधा कुआ पाताले पनिहारि।
ताका पानी काउ हंसा पीवै विरला आदि बिचारि।

इन सबमें कबीर ज्ञानयोगी की तरह परम तत्त्व के सविशेष रूप का साक्षात्कार कर रहे हैं। पर कबीर के आत्मानन्द की सबसे तीव्र, गम्भीर और भाव-विभोर कर देने वाली मर्मस्पर्शी अनुभूति प्रेम के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। "पति संग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि" यह आध्यात्मिक प्रेम और तद्जनित आह्लाद की कितनी रमणीय अनुभूति है! नींद से जागने पर किसी स्त्री को यदि यह ज्ञात होता है कि वह अपने पति के साथ ही सो रही थी और अब भी वह पति के साथ ही है तो उसमें आह्लाद की कोई सीमा नहीं रह जाती है। वैसे ही प्रबोध होने पर जब जीव को यह भान होता है कि वह तो निरंतर परम-प्रेमास्पद एवं परम आनन्द-स्वरूप भगवान के साथ ही था और अब भी उसी के पास है; तब ऐसे जीवन के आनन्द की क्या सीमा रह जाती है; उसका आनन्द असीम हो जाता है। पर यह आनन्द परम प्रेमास्पद रूप सविशेष ब्रह्म के प्रति प्रेम का ही आनन्द है। "पति संग" शब्द से स्पष्ट कि कबीर इस आनन्द को प्रेमानन्द के रूप में भी अनुभव कर रहे हैं। निर्विशेष तत्त्व तथा स्वरूप स्थिति के आनन्द का संकेत करते हुए भी पति रूप से अनुभूत होने वाला यह परम तत्त्व सविशेष ब्रह्म ही है और यह प्रेमानुभूति का ही आह्लाद है। यह प्रेम जनित अद्वैतानुभूति अवश्य है, पर इसमें प्रेम का आनन्द लेने के लिए द्वैत का हलका सा आवरण भी है। प्रेमानुभूति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होता है। प्रेम में जीव

मन रमता है। कबीर का मन इसी प्रेमाद्वैत में खूब रमा है। 'अब मोहि लैंचलि ननद के बीर अपने देसा ?' 'दुलहिन गावहु मंगलचार', 'रामदेव मोरे पाहुने आये, मैं जोबन मदमाती—रामदेव संग भांवरि लैहों धनि-धनि भाग हमार।' 'हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया' 'हरि बिनु रहि न सके मेरा जीव'। इतना ही नहीं, प्रेमजनित आत्मसमर्पण की तीव्र आकांक्षा से व्याकुल जीवात्मा कह उठती है—

"धनि मैली पीव उजला लागि न सकिहौं पांव।"

प्रेमावेश से अभिभूत प्रियतमा प्रिय के गले लग जाने के लिए आतुर है पर अपनी मलिनता की चेतना के कारण उसे प्रिय के चरण छूने में भी संकोच हो रहा है। इस संकोच में प्रियतम की अलौकिक गरिमा व पवित्रता का आनन्द है। यह प्रेम का ही आनन्द है जो भक्ति की गरिमा को छू रहा है। यहाँ प्रियतमा अपने आप को प्रिय में विलीन करने के लिए ही आकुल है। आत्मसमर्पण की तीव्र आकांक्षा के साथ ही प्रियतम के प्रति महत्त्व बुद्धि से जनित यह आनन्द अपनी मलिनता की चेतना से कितनी दिव्य प्रेमानुभूति बन गया है। लौकिक स्तर का प्रियतम तो भी इस भाव गंगा में नहाकर पवित्र हो जाता है। पर यह तो अलौकिक स्तर है। परम चैतन्य तो परम पवित्र ही होते हैं। वे तो पवित्रता-रूप ही हैं। यहाँ जीवात्मा में अपनी तुच्छता की चेतना के साथ ही परम प्रियतम भगवान के प्रेम में तदाकार हो जाने की विकलता का भाव व्यंजित है। इस सबसे स्पष्ट है कि कबीर प्रेमानुभूति के आनन्द को परम प्राप्तव्य ही मानते हैं। परमार्थिक रूप से भी जीव और ब्रह्म में अन्तर कबीर को मान्य नहीं है। यहाँ जो संकोच है यह भगवान के दिव्य गुणों की स्थिति तथा अपने में इसका अभाव के कारण ही है। जीवात्मा अपने में निहित उन गुणों के आविर्भाव की अभिलाषिणी है जिससे प्रेम के सम-धरातल पर प्रियतम के गले लग कर अद्वैत स्थापित कर सके। इस प्रकार यह सविशेष ब्रह्म की ही प्राप्ति है, निर्विशेष की नहीं। सविशेष ही प्रेम का आलम्बन हो सकता है और वही प्रेमगम्य भी है। निर्विशेष की मात्र अनुभूति गम्य है। वह स्वरूप स्थिति है। वहाँ प्रिय और प्रियतमा का अन्तर नहीं है। अतः सामान्य अर्थ में प्रेम ही नहीं है। अधिक से अधिक इसको आत्मतृप्ति का प्रेम रूप कह सकते हैं क्योंकि वह आनन्द रूप है। 'बूँद समानी समुद्र में और समुद्र समाना बूँद में' ऐसे स्थलों पर द्वैत निषेध पूर्वक अद्वैत स्थिति का संकेत है। पर गहराई से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि कबीर इससे भी प्रेमाद्वैत की अभिव्यंजना ही कर रहे हैं। प्रेम विह्वल बूँद अपने प्रेमास्पद समुद्र में विलीन हो जाती है और प्रेमी समुद्र अपनी प्रिया बूँद में अपने ही स्व का अनुभव करता है। उसका जल ही बून्द रूप में न है अतः वह स्वयं ही बूँद है। पुनः अपृथक हुए ये दोनों जहाँ अद्वैत के आनन्द में निमग्न हैं। वहाँ प्रेमविह्वल भी है यही व्यंजित है।

प्रेमानुभूति की चरमावस्था में प्रिय प्रेमी में और प्रेमी प्रिय में समा जा
उन दोनों का अहं एक हो जाता है। भक्त भगवान से और भगवान भक्त से ताद
का अनुभव करता है। समुद्र और 'बूंद' के रूपक से कबीर ने इसी प्रेमाद्वैतता
निरूपण किया है। बुन्द अपने सीमित अहं को समुद्र में मिलाकर अपने को समुद्र
में असीम अहं वाली अनुभव करने लगती है। जीव का अपने को भगवान के
और अंशी से अभिन्न रूप में अनुभव 'आत्मानुसंधान' रूप भक्ति है। इसमें समुद्र
असीमता से ब्रह्म के सविशेष रूप तथा बूंद और समुद्र के परस्पर एककार
जानें से जीव की स्वरूपाद्वैत की अनुभूति भी लक्षित है। इससे स्पष्ट है कि क
की अनुभूति भूमि सविशेष ब्रह्म के प्रति प्रेम है और इससे वे निर्विशेष स्थिति
ज्ञानदशा का संकेत कर देते हैं। यही कबीर का जीवन-दर्शन है, यही उनकी उपल
है और इस जीवन-दर्शन का केन्द्र बिन्दु है प्रेम।

निर्विशेष तत्त्व की सविशेष रूप में प्रतीति ज्ञानियों के लिए अविद्या
भक्तों और संतों के लिये विद्या लीला है। यह लीला प्रेम रूप है और प्रेमगम्य है। ल
लीला के लिए ही होती है अर्थात् प्रेमानुभूति के लिए। रसानुभूति के लिए
निर्विशेष सविशेष होते हैं। सौन्दर्यानुभूति, प्रेम और रस के बिना लीला नहीं
सकती है, लीला के ये ही तीन घटक तत्त्व हैं। इन तीन से निर्विशेष तत्व सवि
हो जाता है और वह जीवों में इन तत्त्वों को जगाकर उन्हें अद्वैत का बोध करात
प्रेम से जीव में जब लीला का भाव जाग जाने पर तो अन्ततः यह अद्वैतानु
में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी के लिए सविशेष परमतत्त्व जीवों को अपना
(अनुग्रह) देते हैं और उनका प्रेम लेने लगते हैं। प्रेम का यह आदान-प्रदान ही लीला
इस आदान प्रदान में सविशेष तत्त्व आनन्द का अनुभव करता है। वह 'रसो वै स'
आनन्द रूप है। पर 'रसं लब्ध्वा आनन्दभवति' भी है। यहाँ लब्ध्वा किसी अप्राप्त
प्राप्ति नहीं अपितु अपने ही आनन्द की अभिव्यक्ति के आनन्द का बोधक है। यहां प्राप्ति
कहना तो मात्र औपचारिक प्रयोग है। अतः यह प्रेम, यह लीला, यह रसोपलब्धि कि
अपूर्णता को पूरा करना नहीं है। वह तो पूर्ण ही है पर पूर्ण होते हुए भी भगवान
के भिखारी हैं और अपने प्रेमोल्लास में अपने जीवों पर प्रेम का रंग पहले डालते
उनसे फाग खेलते हैं। भगवान् प्रेम है और प्रेम का ही स्वरूप है कि प्रेमोल्लास
प्रिय पर प्रेम का रंग पहले डालता है और फिर प्रिय से प्रेम की अपेक्षा करता
यही प्रेम का भिखारी होना है। प्रेमी स्वयं पूर्ण होने पर भी प्रेम का भिखारी
है। मुझ में क्या कमी है। मैं प्रेम भाव की भीख क्यों मांगू, ऐसा व्यक्ति प्रेम को स
ही नहीं, उसमें प्रेम-रस जागा ही नहीं, जो प्रेम का भिखारी नहीं है, वह अहं
है, हतभाग्य है। वह भाव-दरिद्र है। उसे अपनी पूर्णता का, अपनी समृद्धि का,
ज्ञान का, अपनी मर्यादा का, बुद्धि का, अपने स्वाभिमान का मिथ्या अहंकार है।
वस्तुतः ज्ञानी ही नहीं, ज्ञानाभिमानी है, मन्दबुद्धि है वह स्वाभिमानी नहीं, अभिम
है। वह समृद्ध नहीं, दरिद्र है, पूर्ण नहीं, अपूर्ण है। गोपियों की छछिया भर

पर कृष्ण के नाचने, विदुर के घर पर शाक और केले के छिलके खाने, भीलनी के झूठे बेर खाने के रस का वह असहृदय क्या साक्षात्कार कर सकेगा ? यह छाछ पर नाचने वाला और भीलनी के बेर खाने वाला साक्षात् परमब्रह्म ही है। यह सब तो उसकी सविशेष रूप में लीला है। प्रेमानुभूति और प्रेमाभिव्यक्ति दोनों प्रेम ही हैं, रस ही हैं। जो छाछ की तुच्छता और जूठन न खाने की मर्यादा में खो गया, वह प्रेम से, रस से वंचित रह गया जो प्रेम बेर की मिठास इसलिए चख रहा है कि प्रिय को तो सर्वोत्तम ही देना है, वह बेर झूठे कर रहा है या उन्हें मीठे बना रहा है। वह झूठे करने वाले के माधुर्य से सिक्त बेरों को खाकर साक्षात् 'रस' 'आनन्दी' हो जाता है। यह उसकी लीला है, प्रेम है, इसमें दोनों पक्षों को लेना और देना है। दोनों में ही लेने और देने का उल्लास रहता है। प्रेम स्वयं में पूर्ण होता है। प्रेम अपूर्णता को पूर्ण करने की आकांक्षा न व्यापार है, न वाणिज्य है, वाणिज्य प्रेम नहीं, प्रेम का भ्रम है। पारस्परिक व्यवहार जितना भी वाणिज्य पर आधारित होता है, उतने ही अंश में वह प्रेम नहीं होता कबीर प्रेम को 'सिर काटे व्यवहार' कहते हैं। प्रेम अपने सिर के अर्थात् पूर्ण अहं के बदले में प्राप्य वस्तु है। प्रेम को यहाँ 'वारटर' पद्धति का वाणिज्य कहना मात्र कथन है, वस्तुतः ता इस कथन में उनके वाणिज्य होने का, उसमें हिसाबीपन होने का निषेध ही है। प्रेम चाहे लौकिक हो या अलौकिक हर स्थिति में पूर्ण है। फाग खेलना कुछ आदान-प्रदान प्रेमानुभूति और प्रेमाभिव्यक्ति के मान्य माध्यम है। यह क्रियाएँ प्रेम से उत्पन्न होती हैं और उसी में परिवर्तित होती है इनसे प्रियजन के किसी अभाव की पूर्ति नहीं होती है। इनसे केवल आनन्द ही होता और यह मिलने का प्रयोग भी मात्र औपचारिक है। अपने ही आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। प्रिय की क्रियाएँ तो मात्र उसके साधन या माध्यम है। इन्द्रिय भोग अथवा किसी वस्तु की प्राप्ति का आनन्द अगर प्रेम-प्रेरित है तब तो वह वस्तुतः प्रेमानन्द ही है या उसके मात्र साधन है अगर यह इन्द्रिय-भोग या वस्तु प्राप्ति आदि अपने आप में साध्य लगते हैं, तो इनका प्रेम से सम्बन्ध नहीं इनमें प्रेमाभास की मिथ्या प्रतीति भर है। तात्पर्य है कि प्रेम किसी अभाव की पूर्ति का काम्य-साधन नहीं है। वह स्वयं में पूर्ण है, उसे प्राप्त करने वाला भी पूर्ण है। वह पूर्ण देकर भी पूर्ण ही रह जाता है—

> पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
> पूर्णस्य पूर्णमा दाय पूर्णमवा विशिष्यते ।।

उपनिषद् का पूर्णमिदं—प्रेम रूप भगवान के लिए ही कहा गया है यह जीभ पर भी लागू है। प्रेमानुभूति व्यक्ति में विराजमान अन्तः विरोधों में सामंजस्य स्थापित करके उसको पूर्णता को अभिव्यक्त कर देता है। सम्पूर्ण विश्व के प्रति उसका रुख ही बदल जाता है। प्रेमपूर्ण है और पूर्णता को प्राप्त करने का साधन भी। प्रत्येक व्यक्ति न प्रेम का न आलम्बन हो सकता है और न आश्रय ही। व्यक्ति के अन्दर का ईश्वरत्व

ही `म का आलम्बन और आश्रय दोनों है इस अंश के जाग्रत हुए बिना प्रेम की बा व्यर्थ है। कबीर का यही मत है। कबीर इसे सूली पर की सेज कहते हैं। यह खाल का घर नहीं, 'रहु रहु मुगध गहेलडी प्रेम न साजू भारि आदि से कबीर की प्रेम सम्बन्धी दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट है। इसका थोड़ा विशद निरूपण आगे और किया गया है—

यह प्रेमानुभूति ही, यह लीला ही, यह रस ही, ब्रह्म की सविशेषता का हेतु है। इन्हीं में उसकी पूर्णता की अभिव्यक्ति होती है। ब्रह्म के इसी सविशेष रूप प्रेम-रू लीला-रूप और रस-रूप ने मध्यकाल के संतों और भक्तों को आकर्षित किया है। वही उनका 'आराध्य है, उनका उनका प्रेमालम्बन बना है। उसके माध्यम से ही वे निर्विशेष में भी प्रतिष्ठित होते हैं और अभिव्यक्त आनन्द के लिए पुन: सविशेष के लीला क्षेत्र उसके साक्षात्कार और प्रेम के स्तर पर उतर आते हैं। यही कबीर की भी स्थिति है कबीर भी सविशेष की लीला में सराबोर हैं। उसी आनन्द में मग्न हैं। इसको जीवन का चरम प्राप्तव्य मानते हैं। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों ही स्तरों कबीर प्रेम को जीवन का चरम लक्ष्य और उसकी प्राप्ति का परम साधन मानते है प्रेम मूलता दिव्य है। यह आध्यात्मिक और लौकिक का अन्तर तो केवल उपाधि जनि और कृत्रिम है। लौकिक स्तर पर भी सौन्दर्य भाव-औदार्य, तेज, जैसे गुण ही प्रेम आलम्बन बनते हैं अथवा हम कह सकते हैं कि तेजोमय या सौन्दर्यमय मधुर व्यक्ति ही प्रेम का आलंबन होता है। ये सविशेष ब्रह्म के ही गुण हैं। अत: यह सविशेष प्रति ही प्रेम है। इस प्रेम से व्यक्ति अद्वैत की स्थापना करता है, सौन्दर्यानुभूति औ रस में अवगाहन करता है। ये सब आध्यात्मिक स्तर की ही अनुभूतियाँ हैं। व्यक्ति जब अधिकार कामना और भोग-भावना से धन, पद, शक्ति से प्रेरित होकर राग अनुभव करता है, तब वह माया के गुणों पर ही मुग्ध होता है और उसका यह राग-लो या वासना है, प्रेम नहीं। यह प्रेम का अध्यास है। कबीर इस अध्यास के विरोधी है एवं प्रेम के समर्थक। लौकिक स्तर पर भी वे प्रेम के ही समर्थक हैं। प्रेम कबीर का जीवन-दर्शन है।

कबीर में यह प्रेम-भाव साँई ने जगाया है। सबमें साँई ही जगाता है। जो स्वयं प्रेम स्वरूप है वही प्रेम जगा सकता है। साँई ही वस्तुतः प्रेम स्वरूप और पात्र में ही यह जाग भी सकता है। पर साँई ने मुझमें प्रेम जगाया है, य अनुभूति भी कुछ दिव्य आत्माओं में ही होती है। कबीर कहते हैं—'सतगुरु हो मह राज मोपै साँई रंग डारा..........साहब कबीर सबै रंग रंगिया', 'साँई का यह र दिव्य है, अलौकिक है। सबसे विलक्षण है।' सब रंग से रंग न्यारा। नारद कहते हैं यह प्रेम का अमृत स्वरूप है इसे प्राप्त करके व्यक्ति अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। इसके प्राप्त होने पर व्यक्ति अन्य कुछ भी नहीं चाहता। 'अमृत प्रीति स्वरूपा च। यं लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति..........यं प्राप्य न किंचित् वाञ्छति।' कबीर के शब्दों में भी इस प्रेम को प्राप्त करने के बाद मुक्ति की कामना नहीं रह जाती है।

राता माता नाम का पीया प्रेम अगाध ।
मतवाला दीदार का, आगे मुक्ति बलाय ।।

यह प्रेम स्वयं ही मुक्ति रूप है । यह भगवान की लीला का रस है । यह 'हरिरस' है । इसमें अद्वैत का भाव है । यह दिव्य प्रेमानुभूति भागवत छोल में, भागवत आनन्द में ही जीती है । इससे जीव 'कांच को त्याग करि सच्च को लगा' की स्थिति में पहुँच जाता है । ऐसा प्रेमी आठों प्रहर भागवत आनन्द से ही ढका रहता है । इस प्रेम की अनुभूति हुई ही तब मानी जाती है जब संसार की सब थकान मिट जाती है । 'हरि रस पीया तब जाणिये जब बाकी रहे न थाकि ।' भक्ति और ज्ञान की सार्थकता ही इस प्रेम की अनुभूति जगाने में है । इसके अभाव में ज्ञान थोथा है और भक्ति दम्भ है । 'प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दम्भ विचार ।' इन शब्दों से स्पष्ट है कि कबीर जीवन का प्राप्तव्य प्रेम ही समझते हैं । उनकी दृष्टि में प्रेम ही जीवन की परम सार्थकता है । पर यह प्रेम भाग्य के बिना नहीं मिलता वह उसी प्रिय को मिलता है, जिसे प्रेमी भगवान दे देता है । 'यं एष: वृणुते तेनैष लभ्य: ।'

कबीर ने इस प्रेमानुभूति को फाग खेलने की उपाधि से व्यक्त किया है । प्रेम से उल्लसित जीवात्मा को लगता है कि फाग खेलने की ऋतु आ गई है । उसे कोई प्रियतम से मिला दे । जीव भगवान के साथ फाग खेलने केलिए विकल है । वही जीवात्मा सुन्दर है जो प्रिय के मनभावनी है और जिसने अपने प्रियतम के साथ इस फाग खेलने का आनन्द लिया है । जो प्रियतमा फाग के अवसर पर भी ऐंचातानी में रह गयी वह अभागी है । भाग्यशाली तो फाग के द्वारा अपने प्रियतम में समा ही जाती है । उसे तन-मन की सुधि भी नहीं रह जाती । इस फाग के रंग में रँगने वाली सम्पूर्ण सौन्दर्य से परितृप्त हो जाती है । कबीर कहते हैं—यह कोई साधारण फाग नहीं है । यह एक अकथ कहानी है जिसका रहस्य बिरला ही समझता है ।

रितु फागुन नियरानी हो,
कोई पिया से मिलावे ।
सोई सुन्दर जा में पिया का ध्यान है ।
सोई पिया की मन-भावनी ।
खेलस फाग अंग नहि मोड़े
सतगुरु से लपटानी !
इक इक सखियाँ खेल घर पहुँची ।
इक इक कुल अरुझानी ।।
× × ×
इक इक नाथ बिना बहकानी
हो रही ऐंचातानी ।

पिया को रूप कहाँ लगि बरनौ,
रूपहि माँहि समानी ॥
जो रंग रँगे सकल छवि छावै,
तन मन सबहिं भुलानी ॥
मो मत जाने यहि रे फाग है,
यह कछु अकथ कहानी ।
कहै कबीर सुनौ भाई साधौ
यह गति बिरलै जानी ॥

—शब्दावली २२ पृष्ठ १५

सम्पूर्ण विधि-निषेधों और सम्बन्धों को अपने में समाहित किए हुए भी इनसे अतिक्रान्त प्रेम की अनुभूति तथा उल्लास ही फाग है। यह माधुर्य-भाव की उपाधि से व्यक्त प्रेमोल्लास और परमानन्द के रस में अवगाहन की स्थिति है। यह दिव्यलीला-रूप है।

प्रेम और भक्ति एक है अथवा इसमें कुछ सूक्ष्म अन्तर है। अगर अन्तर है तो उसका स्वरूप क्या है? ऐसी दशा में कबीर का भगवान के प्रति प्रेमभाव है या भक्तिभाव इस सन्दर्भ में उपयुक्त सभी प्रश्न उठते हैं। अत: भक्ति के स्वरूप तथा प्रेम से उसके सम्बन्ध पर थोड़ा विचार अपेक्षित है।

नारद ने भक्ति को परमप्रेम-रूप कहा है। शाण्डिल्य उसे 'परानुक्तिरीश्वरे' कहते हैं। मधुसुदन सरस्वती ने 'द्रवी-भावपूर्विका हि मनसो भगवदा काता सविकल्पकावृत्ति-रूपा भक्ति' कहा है। इन सब लक्षणों से भक्ति प्रेमरूपा ही होती है; यह स्पष्ट है, अत: भक्ति और प्रेम में अभेद है—किसी सीमा तक यह कहना ठीक है। नारद ने भगवान में 'दैन्य प्रियत्व' माना है अर्थात् जो अपने आपको पूर्णतया समर्पित कर देता है उसके प्रति भगवान के हृदय में भी प्रेम होता है। यह प्रेम भगवान का स्वभाव है। गीता में कृष्ण कहते हैं कि जो उनको अनन्य भाव से भजता है, उसके योगक्षेम वही वहन करते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते
तेषां नित्याभियुक्तानाम् योग क्षेमं वहाम्यहम्

यह अनन्य भाव प्रेमभाव का प्रतीक है।

नारद भक्ति की नौ दशाओं में अन्तिम दशा आत्मनिवेदन ही मानते हैं।

'श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनं ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'

—नारद भक्ति सूत्र

ये नौ दशायें भक्त की क्रमशः आत्मनिवेदन की ओर विकास करती हुई दशायें हैं। आत्मनिवेदन तो मूलत: प्रेम ही है। इसी से प्रिय में पूर्ण तन्मयता का

भाव जागता है। 'प्रपत्ति' भक्ति की चरम अवस्था है और इस प्रपत्ति के आनुकुल्यस्य संकल्प: आदि छ: तत्त्व माने गए हैं इनमें से अन्तिम आत्म-निक्षेप है।

(१) आनुकूल्यस्य संकल्प—सबके प्रति सद्भाव।
(२) प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्—दुर्भाव का त्याग।
(३) कार्पण्यं—नितान्त असहायता की भावना।
(४) 'रक्षमिष्यतिति' विश्वास:—भगवान रक्षा करेंगे यह विश्वास।
(५) गोप्तृत्व वरणं—भगवान् के रक्षक रूप का वरणं।
(६) आत्म निक्षेप—पूर्ण आत्म समर्पण का भाव।

यही प्रपत्ति का मूल स्वरूप है। शेष पांच तत्त्व तो इस आत्म समर्पण के घटक तत्त्व हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रपत्ति मूलत: प्रेम रूप है और यह मार्जार-किशोर न्याय का प्रेम है। इसमें बिल्ली के बच्चे का प्रयास अपेक्षित नहीं उसे तो पूर्ण विश्वास के साथ आत्म-समर्पण भर करना है। बच्चे को बिल्ली स्वयं ही देखगी। प्रेम में, प्रिय के प्रति पूर्ण विश्वास और आत्म समर्पण का ही महत्त्व है, अपने प्रयास का नहीं। प्रेम में अडिग विश्वास और आत्म-समर्पण है। जबकि भक्ति में एक स्थिति में भक्त की ओर से कुछ प्रयास भी अपेक्षित है। यही कारण है कि भक्ति और प्रेम में इतना अभेद होते हुए भी कुछ लोग इनमें सूक्ष्म भेद भी समझते हैं और यह समीचीन है। राधाकृष्णन ने भक्ति में श्रद्धा और प्रेम का योग माना है। उसमें भक्त की ओर से प्रयास का महत्त्व है। वह यह मानते हैं कि भक्ति मर्कट किशोर न्याय की अवस्था है जिसमें बन्दर के बच्चे का अपनी माँ से लिपटे रहने का प्रयास मुख्य है। मधुसूदन सरस्वती भी भक्ति में भक्त के संकल्प का महत्त्व स्वीकार करते हैं। भक्ति शब्द भज् "सेवायाम्" से व्युत्पन्न है अत: इस अर्थ की भक्ति में भक्त के अपनी ओर से प्रयास भगवान के महत्त्व की बुद्धि तथा उनके प्रति श्रद्धा आदि का होना आवश्यक है। भज् धातु का अर्थ समर्पण भी है। अंश या भाग बनना या अनुरक्त होना भी भक्ति के अर्थ हैं। ऐसे अर्थों से भक्ति और प्रेम में अभेद हो जाता है। भक्ति के सभी अर्थों तथा दास्य आदि सभी रूपों के मूल में प्रेम प्रवाहित है। प्रपत्ति तो प्रेम रूप ही है।

अत: प्रेम और प्रपत्ति महत्त्व—बुद्धि, श्रद्धा, प्रयास आदि से ऊपर उठी हुई अवस्था है। प्रेम द्रवीभूत अवस्था का पूर्ण आत्मसमर्पण तथा तदाकारता का भाव है। यह प्रिय के सौन्दर्य बोध के साथ उसमें रमने और इस सम्पूर्ण कार्य-व्यापार में रस लेने की अनुभूति है। वह प्रिय में सुखानुशयिता की अनुभूति है। प्रेम मूलत: रसानुभूति है, आनन्दानुभूति है। प्रेमी अपने में प्रिय को तथा प्रिय में अपने को तदाकार अनुभव करता है। प्रेम "बूंद समानी समुद्र में" तथा "समुद्र समाना बूंद में" की अनुभूति है। प्रेम का प्रतिरूप प्रेम ही होता है, अन्य कोई भाव नहीं। प्रेम के बदले में प्रेम की ही आकांक्षा होती है; अनुग्रह करुणा आदि की नहीं। पर भक्त

भगवान् से अनुग्रह भी चाहता है, प्रेम प्रिय के द्वारा जगाया जाता है। भगवान् प
प्रेम स्वरूप है और वे ही जीव में अपने प्रति प्रेम जगाते हैं। भक्ति जीव की ओर
"ईश्वर प्रणिधान" का तथा प्रेम भगवान के अनुग्रह का परिणाम है। यह अनु
वस्तुतः स्वयं प्रेम रूप ही है। भगवान् स्वयं पहले जीव से प्रेम करते हैं, तभी वो
लीला में प्रवृत्त होते हैं। कृष्ण गोपियों के प्रेमी हैं "पहल करने वाले प्रेमी हैं म
अनुग्रह करने वाले नहीं। कबीर की भी यही अनुभूति है। "साँई मोपै रंग डारा"
यही नहीं 'साँई सबै रंग रंगिया' की अनुभूति है। कबीर को भगवान्—कबीर को भ
सबको प्रेम करता है और वह सब में प्रेम जगाता है। नारद का भगवान में "दै
प्रियत्व" मानने का यही अर्थ है। दीन वही है जिसे भगवान या प्रिय के अतिरि
अन्य किसी भी आश्रय की भावना नहीं तथा प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई आकां
नहीं है; जो सब कुछ मिलने पर भी प्रेम के लिए दीन है। प्रेम ही उसका वास्तवि
योगक्षेम है।

अभिप्राय यह है कि "भक्ति" और "प्रेम" में सूक्ष्म अन्तर मानना समीचे
और जरूरी है और इस दृष्टि से कबीर का दर्शन—प्रेम-दर्शन है। कबीर ने अप
साधना को स्वयं प्रेम भगति कहा है और इस प्रेम का स्वयं मनन करने से अ
उसमें अवगाहन करने से अमित आनन्द की उपलब्धि मानी है। पर वह एक विशि
प्रकार का प्रेम है जिसका निरूपण मैं आगे करूँगा। कबीर ऐहिक जीवन का
प्राप्तव्य भी प्रेम ही मानते हैं। कबीर की दृष्टि में जीवन के सम्पूर्ण सदाचार और नै
कता का आधार मानव प्रेम है। यह प्रेम ही मानव का सहज रूप है। सहज रूप
जीना ही जीना है। प्रेम शून्य अथवा प्रेम विरोधी सदाचार, नैतिकता, विधि-नि
आदि तो केवल रूढ़ियों का जड़ निर्वाह मात्र है; जीवन नहीं। कबीर की जीवन सम्ब
कल्पना है।

भगवान का प्रेमानुग्रह किस पर है उनके प्रति प्रेम भाव किस में जागे, इ
कबीर की दृष्टि में भी मूलतः भगवान ही निर्णायक है। "यं एष वृणुते तेनैव लभ्य
का औपनिषदिक सिद्धान्त कबीर को भी मान्य है। "मो पै साँई रंग डारा" 'एक जुबा
प्रीति सूं' "दीपक दीया तेल भरि" "हरिजी यहै बिचारिया" आदि कथनों से यह
पूर्णतः स्पष्ट है। पर कबीर जीव के प्रयास और योग्यता की नितान्त उपेक्षा
नहीं करते। इसमें वे "मर्कट किशोर न्याय" वाले भी कहे जा सकते हैं। हरि
की तो निरन्तर बर्षा हो रही है पर प्रेम रस से अभिषिक्त योग्य व्यक्ति ही हो स
है, प्रत्येक नहीं।

> झिरिमिर झिरिमिरि बरसिया पाहण ऊपर मेह।
> माटी गलि सैंजल भई पाहण बोही नेह॥"
> "पारब्रह्म बूठा मोतियाँ झाड़ बाधी सिषरांह।
> सगुराँ सगुराँ चुणि लिया चूक पड़ी निगुरांह॥"

निगुरां वह है, जिसने गुरु पर विश्वास नहीं किया; जिसने गुरु को अपना आत्म समर्पण नहीं किया, जो मूलतः विचारहीन और कृतघ्न है। पाहन वह है जिसका हृदय जड़ है, द्रवणशीलता से शून्य है, जिसमें प्रेम से द्रवित होने या करने का क्षमता हो न हो। "सगुरां" और मृद्‌वत सजल बनने के लिए अहंकार रूढ़िग्रस्तता, धार्मिक पाखण्डों से मुक्त तथा सहज एवं विनम्र होना आवश्यक है। सहज शील के लिए सती, संतोषी, सावधान, सबद-भेदी तथा सुविचारवान होना अपेक्षित है।

"सती सन्तोषी, सावधान, सबद-भेद सुविचार।
सतगुरु के प्रसाद थे, सहज शील मत सार॥"

—कबीर ग्रन्थावली ६३

सहजशील भी सतगुरु की कृपा पर निर्भर होने से ही प्राप्त होता है। भगवान का प्रेम उपयुक्त गुणों को अपने में विकसित करके सहज जीवन बिताने से ही मिलता है। जीवन की सहजता के लिए ही ज्ञान और कायायोग ही बस उपादेय है। इस प्रकार प्रेम—प्राप्ति के लिए जीव को प्रयास भी करना पड़ता है; यह कबीर को मान्य है। "प्रेम ढूंढ़त मैं फिरो", "सुमिरन सेल संबहि", "हम घर जाल्या आयणां", "पाँचों राखी परसती", "ररं ममें चितलाई", "मेंमंता मन मारि है", "ता मन को खोज रे भाई", "मन रे जागत रहिए भाई", "निरगुण राम जपहु रे भाई", "अवधू, गगन मंडल घर कीजै" ये सब वचन जीव के प्रयास के समर्थक है। इन्हीं से जीव में प्रेम रस प्राप्त करने की योग्यता आती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर के द्वारा प्राप्त प्रेम-भक्ति और प्रपत्ति का सामंजस्य है। यह बात उनके आध्यात्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के प्रेमों पर लागू है। लौकिक प्रेम और सहजशील एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित है और इनसे ही व्यक्ति आध्यात्मिक प्रेम का अधिकारी बनता है। कबीर के प्रेम की यही विशिष्टता है जिसका मैंने ऊपर संकेत किया है। यह एक विशेष प्रकार का प्रेम है।

प्रेम अपने आप में साध्य भी है और साधन भी है। वह जीवन का चरम प्रातव्य है। पर उसे प्राप्त करने का साधन भी प्रेम ही है; प्रेम से प्रेम प्राप्त होता है अतः नियम, मर्यादा, विधि, निषेध आदि व्यक्ति के हृदय को निर्मल करके प्रेम के उपयुक्त बना देने के साधन तो हैं, पर मुख्यतः प्रेम मुक्तस्वभाव है। वह मर्यादाओं, रूढ़ियों, परम्पराओं और विधिनिषेधों में आबद्ध होकर कभी अनुभूत नहीं हो सकता जब विधि-निषेध मर्यादा आदि प्रधान हो जाते हैं और वह गौण तब प्रेम की अनुभूति कुंठित हो जाती है। प्रेम को यह सहन नहीं है। अतः वह सम्पूर्ण विधिनिषेधों से ऊपर होकर भी अनुभूत हो सकता है। प्रेम स्वयं ही प्रेम का वरण करता है। वह ऊपर से लादा नहीं जा सकता भगवान के अनुग्रह से प्रेम प्राप्त होना है इसका अर्थ है केवल प्रेम के अनुग्रह से प्रेम प्राप्त होना है। प्रेम का यह स्वरूप लौकिक और अलौकिक दोनों स्तरों पर यथावत रहता है। रूढ़ियों, परम्पराओं आदि के विधि निषेध दोनों ही स्तरों

पर प्रेमानुभूति में, उसके प्रेमानन्द में बाधक है। प्रेम आत्मरतिरूप है। अत: वह अहेतुक ही होता है, आत्म बोध की सहज परिणति आत्मरति है। इस प्रकार कबीर ने आत्म-बोध और आत्म-वृत्ति एक ही है। कबीर की प्रेम सम्बन्धी धारणा उपर्युक्त ही है। इसी को उन्होंने अपने अनेक पदों और साखियों में व्यक्त किया है।

कबीर यहु घर प्रेम का खाला का घर नाँहि।
सीस उतारे हाथि करि, सो पैसे घर माँहि॥

× × ×

सीस उतारि पग तक्ति धरै, तब निकट प्रेम का स्वाद

× × ×

सीसकाटि पासंग दिया, जीव सरभरि लीन्ह।
जाहि भावै सों आइल्यौ, प्रेम आट-हाट हंम कीन्ह॥

उन्होंने आध्यात्मिक प्रेम को लौकिक दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से व्यक्त किया है। उस गहरे आनन्द के अनुभूति को माधुर्यभाव के रूपक द्वारा व्यक्त करना ही ही समीचीन और संगत भी है। लौकिक प्रेम अप्रस्तुत विधान की वस्तुत होते हुए भी ये पंक्तियाँ कबीर की लोकिक प्रेम सम्बन्धी यह धारणा व्यक्त कर देती है कि आध्यात्मिक जगत् की तरह लोक में भी प्रेम की गहरी अनुभूति ही जीवन का लक्ष्य है और वह रूढ़ियों परम्पराओं तथा कथित मर्यादाओं से मुक्त होने से ही संभव है। निम्न लिखित पंक्तियाँ कबीर की लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के प्रेम की धारणाओं को पूर्णतया स्पष्ट कर देती है।

मैं सासरे पीव गौहनि आई।
साँई संगि साध नहीं पूगी, गयौ जोबन सुपिनां की नाँई।
पंच जनां मिलि मंडप छायौ, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई॥

× × ×

नांनां रगें भांवरि फेरी, गांठि जोरि बावै पति ताँई।
पूरि सुहाग भयो बिन दूलह, चौक कै रंगि धरयौ संगों भाई॥

× × ×

अब की घरी मेरो घर करसी,
साध संगति लै मोकों तिरसी,
पहली को घाल्यो भरमत डोल्यौ, सच सच कबहूँ नहीं पायौ।
अब की धरनि धरी जा दिन थे, सगली भरम गमायौ॥
पहली नारि सदा कुलवंती, सासु सुसरा मानै।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय को मरम न जानै॥

× × ×

अबकी धरनी धरी जा दिन तैं, पीव से बात बनी रे।
जा कारनि हम देह धरी है मिलि वो अंगी लगाई
हों जानूं जे हिलि मिलि खेलूं तन मन प्राण समाहि

× × ×

सेज हमारी स्यंघ भई है जब सोऊं तब खाई।
यह अरिदास दास की सुनिये, तन की तनप बुझाई।
कहैं कबीर मिलेंगे सांई मिलि कर मंगल गाई॥

× × ×

कबीर ज्ञानमार्गी भक्त कवि माने जाते हैं। इस कथन का मूल अभिप्राय यह है कि आत्मचिंतन से प्राप्त ज्ञान कबीर में भगवान के प्रति भक्ति या प्रेम जगाने का हेतु है। कबीर का ज्ञान किसी शास्त्र के अध्ययन या पोथी पत्री से प्राप्त ज्ञान नहीं है। पोथी पत्री के ज्ञान को तो कबीर व्यर्थ ही मानते हैं, क्योंकि उससे व्यक्ति में वह वास्तविक पाण्डित्य नहीं आता। प्रेम का पात्र नहीं बनता, पात्र वही है जो अहंकार को विलग कर सकता है जो अपना सिर काटने को तैयार है— "पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोइ।" पोथी-पत्रा का ज्ञान केवल ज्ञाता होने का अहंकार जगाता है और कुछ शास्त्रीय रूढ़ियां और सम्प्रदायगत मान्यताओं से चिंतन की सहजता छीन लेता है। ज्ञान प्राप्ति के साधन के सम्बन्ध में स्वयं कबीर कहते हैं—"करत विचार मनहिं मन उपजी" यह "उपजी" परमतत्त्व का प्रातिभ साक्षात्कार है तथा उसके प्रति प्रीति। "करत विचार" मनन रूप है। वे कहते हैं कि जीव ने जब समझकर और विचार करके देखा तो उसको संसार स्वप्नवत् लगा। अपने आप ही विचार करने से उसे ज्ञान हो गया। उसने परमतत्त्व को पहचान लिया। उसका परमतत्त्व से परिचय हो गया और उसमें उसका मन लग गया अर्थात् उससे प्रेम हो गया। कबीर को आत्म-चिन्तन से सर्वव्यापी पिण्ड और ब्रह्माण्ड से भी परे परमतत्त्व का भान हो गया।

"प्यंड ब्रह्मण्ड कथैं सब कोई, वाकै आदि अंत नहि होई॥
प्यंड ब्रह्मण्ड छांडि जे कथिए, कहै कबीर हरि सोई॥

कबीर को यह अनुभूति जाग गई है कि इस खलक में खालिक है और खालिक में खलक। एक ही मिट्टी है और उसी से सजाने वाले ने अनेक रूपों में सजा दिया है। अगर यह विशुद्ध मन की प्रक्रिया ही आगे बढ़ती रहती और कबीर को मात्र आत्मचिन्तन से उस परमतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता तो यह विशुद्ध ज्ञान की ही अवस्था होती। इसमें अगर रागात्मकता की अनुभूति नहीं जागती तो यह निर्विशेष ब्रह्म में स्वरूप स्थिति की ही अवस्था कहलाती। इसे विशुद्ध ज्ञानदशा ही कहते और कबीर ज्ञानी भक्त नहीं, ज्ञानी कहलाते। हां इस अवस्था की झलक भक्त कबीर में अनेक स्थानों पर मिलती है जिसका स्पष्ट संकेत कई स्थानों पर ऊपर कर चुका

है। लेकिन कबीर में आत्मचिंतन से प्रधानतः परमतत्त्व के सौंदर्य की अनुभूति जागी है स्वप्न की सी भावदशा में जागी हुई इस सौन्दर्यानुभूति की रसदशा अभिव्यक्त होनी ही थी और वह प्रेम रूप या भक्ति रूप ही हो सकती थी।

सौन्दर्यब्रह्म सविशेष ब्रह्म है और सविशेष ब्रह्म का साक्षात्कार प्रेम ही जगाता है। आत्म-चिंतन के द्वारा जाग्रत बोध से ही कबीर को यह अनुभव हुआ है। "चेतन चेतन निकसिओ नीर"। यह नीर हरिरस की अनुभूति है और यह प्रेमरूप है। इस रस से कबीर की प्यास बुझती है, यह तत्त्व उन्हें "मान सरोबर सुभर जल" अर्थात आनन्द सरोवर लगता है और लगता है कि हंस—जीवात्मा इसमें केलि करती रहती है। यह भी कबीर की परम काम्य अवस्था है। पर है यह अवस्था प्रेम रूप ही; ज्ञान रूप नहीं। आत्मचिंतन ने कबीर के मन से जगत् सम्बन्धी सारे भ्रम मिटा दिए हैं। इससे उनके अन्तःकरण में भगवान का प्रेम जाग गया है। इसको कबीर ने आंधी और वर्षा के रूपक से कहा है।

"संतों भाई आई ज्ञान की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहे न बांधी रे॥"

इस रूपक में स्पष्ट है कि आत्म-चिन्तन से उद्बुद्ध ज्ञान की आँधी ने जगत के मायामोह के सारे कूड़े करकट को साफ कर दिया इससे निर्मल हुए हृदयाकाश में भगवान के अनुग्रह के बादल छा गये एवं प्रेम की वर्षा होने लगी। परोक्ष ज्ञान परमतत्त्व के प्रति प्रेम जगाता है, आत्मानुसन्धान रूप भक्ति का उद्रेक करता है, वही प्रेम, वही भक्ति अन्त में अपरोक्षानुभक्ति रूप स्वरूपस्थिति और ज्ञानदशा में परिणत हो जाती है। परमतत्त्व के अंश होने का ज्ञान पहले अंशी के प्रति प्रेम ही जगाता है फिर अंशों के रूप में स्वयं का बोध अनुभूति रूप बन जाता है यह सब प्रेमरूप ही है! कबीर की यही स्थिति है। अतः उनका ज्ञान प्रेम जागृति का साधन नहीं है। उसमें स्वरूपस्थिति-रूप ज्ञानदशा की कहीं-कहीं झलक भर है। अतः यह मानना ही समीचीन है कि कबीर का ज्ञान मूलतः सविशेष ब्रह्म के साक्षात्कार और उनके प्रति प्रेम का साधन है। कबीर के अनुसार प्रेम ही व्यक्ति को पंडित अर्थात् स्वरूप-स्थित ज्ञानी बनाता है। 'ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय' ये पंक्तियाँ हृदय में प्रेम की जाग्रति और लौकिक और आध्यात्मिक दोनों स्तरों पर व्यापक प्रेम का साक्षात्कार है। कबीर के अनुसार शास्त्रीय ज्ञान वास्तव में ज्ञान नहीं है। मानव को ज्ञान तभी हुआ समझा जाता है जब उससे परमतत्त्व का अनुभूत्यात्मक साक्षात्कार हो। वह सहज रूप में प्रेम-स्वरूप ही होगा। लौकिक स्तर पर भी प्रेम-भाव से अभिभूत मानव ही ज्ञानी है।

योग साधना भी कबीर के जीवन-दर्शन का प्रमुख अंग है। मध्य-युग के अन्य सभी सन्तों की तरह कबीर में भी हठयोग, राजयोग आदि अनेक योगों का उल्लेख

मिलता है । पर कबीर की मुख्य साधना है शब्द-सुरति-योग और सहज योग की । ये दोनों ही वस्तुतः भावमूलक योग हैं और रागात्मक वृत्ति के समुन्नयन से ही परमानन्द अर्थात् 'हरिरस' प्राप्ति के साधन हैं । इनसे प्राप्त आनन्द वास्तव में वही आनन्द है जिसका उपर हरिरस के नाम से कई बार उल्लेख हो चुका है । शब्द-सुरति-योग में शब्द अनहदनाद है, परमतत्त्व-रूप है उस शब्द की सुरति साफ है अर्थात् सोऽहं ज्ञान का परिणाम । सुरति अपने स्वरूप की स्मृति तथा उसके प्रति सु-रति है । सुरति अपने परमप्रिय सच्चिदानन्द स्वरूप के प्रति उत्थित रति है, प्रेम है । यह लौकिक वासनाओं वाली जड़ रति नहीं है अपितु चिन्मुख रति है । शब्द-सुरति-योग और सुरति शब्द योग दोनों एक के ही नाम हैं दोनों का अर्थ है परमतत्त्व और प्रेम का योग यह वास्तव में आत्मानुसंधान-रूप-भक्ति या आत्मरति-रूप प्रेम का ही शब्दान्तर से कथन है । परमतत्त्व से जीव को अपने प्रति प्राप्त होने वाली सुरति का आनन्द एवं जीव को परमतत्त्व के प्रति अपनी सुरति से प्राप्त होने वाला आनन्द ये दोनों ही आनन्द के अर्थ इनसे अभिप्रेत हैं । सुरति मूलतः आत्मरति रूप होते हुए भी आत्म मिथुन की कल्पना पर आधारित रहती है अतः सु + रति, सुरति की पूर्णता उभयनिष्ठता में है ।

सुरति का आनन्द स्पष्टतः प्रेम-रूप है । सिद्धों और सन्तों के अनुसार इस सुरति मिलन में जीव को एक महासुख मिलता है । वही इस योग की देन है । यह वस्तुतः सविशेष ब्रह्म के प्रति जाग्रत प्रेम ही है । 'अनहद' आदि शब्दों के द्वारा अभिहित तत्त्व निर्विशेष की ओर संकेत करते हुए भी व्यापक अर्थ में सविशेष है ।

कबीर ने 'सुरति समानी निरति में' की बात कही है । निरति का अर्थ सांसारिक विषयों से विराग भी है । इसी विराग के संस्कार से गर्भित निरति यहाँ निर्विशेष रति है अर्थात् विशुद्ध रति-रूप या आत्मरति रूप है । अतः स्मृति और वृत्यात्मक एवं प्रकर्ष सुरति के त्रिपुटी से रहित विशुद्ध रति में समा जाने के आनन्द की ओर ऊपर संकेत किया गया है । यह निरति परम प्रेमस्वरूप है । इसी के लिए कहा गया है 'अयं आत्मा परमानन्दः परम-प्रेमास्पदं यतः ।' यह अवस्था भी प्रेमानुभूति रूप ही है । जहाँ कबीर 'सुरति' और 'निरति' के परिचय से शम्भु के द्वार खुलने की बात कहते हैं उसमें ज्ञान स्थिति की झलक है क्योंकि वहाँ 'आपा माँहि आय सामने', 'अलेख में लेख सामने' तथा 'अजपा' में 'जाप' के समा जाने का संकेत है । कबीर की दृष्टि में सुरति निरति का मिलन, शिव शक्ति का मिलन है, उनका सामरस्य है । यह सहज स्थिति की प्राप्ति है :—पर यह स्थिति या रागात्मक या भावात्मक स्थिति ही है । ये सब हरिरस के ही दूसरे नाम हैं । इस रस से भी अमर होने की कल्पना कबीर ने की है । 'सुरति निरति पीवे जो कोई, कहै कबीर अमर होवे सोई' । प्रिय की सुरति में तन्मय होकर उसके सौन्दर्यानन्द से आप्लावित होना अथवा प्रिय की सुरति से हृदय को आप्लावित

कर लेना ही सुरति को पाना है। जब व्यक्ति सुरति के आनन्द में पूर्णतया: तन्म होकर तथा सब कुछ भूलकर विशुद्ध-रति-रूप या प्रेम रूप हो जाता है तो वह होन ही उसके निरति पाने की अवस्था है यह ज्ञान का विशुद्ध प्रेमावस्था में परिणत होन अथवा स्वरूप स्थिति है। यहाँ जीव की अमरता है। कबीर कहते हैं—'सकति सि सहज प्रगास्यो एके एक समाना' इससे कबीर शब्द-सुरति-योग और सहज योग पारस्परिक पोष्यपोषक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

'सहजयोग' सम्पूर्ण बाह्य आडम्बरों से रहित होकर सहज एवं सरल जीव जीते हुए अपनी रागात्मक वृत्ति को सहज आनन्द में 'प्रतिष्ठित करना है। य चिन्मुखी प्रे की ओर बढ़ने एवं उस प्रेम में स्थित होने की ही साधना है। सहज हरिरस मिल को ही कबीर सहज स्थिति कहते हैं। प्रेम-अनुग्रह और प्रपत्ति से प्रे मिलना ही सहज हरिरस की प्राप्ति है। इस हरिरस के लिए विषयों का सहज त्याग तो अपेक्षित है पर इसमें पाँचों इन्द्रियों से सहज रागात्मक आनन्द भी प्राप्त होता है "जिन्ह सहजे विषया तजि, सहज कर हीजै सोई।" कबीर का मूल प्राप्तव्य हरिर है। जो साधनाएँ यह नहीं दे सकतीं वे सब व्यर्थ हैं। 'हिरदै कपट हरि सूँ नहीं सां कहा भयो जे अनहद नाच्यौ' अतः कबीर योग की सब क्रियाओं को छोड़कर 'हरि भजन' की सलाह देते हैं :—

> दण्ड मुद्रा सिंधा आधारी भ्रम के भाई भये भेषधारी।
> आसन पवन दूरि करि बवरे, छांड़ि कपट हरि भज बवरे।

वे योगी ही उसे मानते हैं जो रामरस पीता है :—

> बोइ पीवें रस राम नाम का, जो पीवै सो जोगी।

बौद्ध दर्शन के प्रभाव से रागतत्त्व को गहत, दूषित एवं बन्धन का हेतु मानक उसे कुचल देने वाली एक जीवन-पद्धति का विकास हो गया था। भक्ति-धारा इसक विरोध करने वाले जीवन-दर्शन पर आधारित है। नाथ-पंथ ने ही रागतत्त्व का महत्त्व स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया था। संतों और भक्तों में तो रागात्मकता का महत्त्व पूर्णतया प्रतिष्ठित हो ही गया था भक्तों में तो इसी का सर्वाधिक महत्त्व है। भक्तों सम्पूर्ण जीवन की धुरी ही प्रेम वात्सल्य, करुणा आदि है। भगवान के प्रति भावों की जागृति ही जीवन का परम लक्ष्य है। कबीर के जीवन-दर्शन का भी मूल तत्त्व है। वैसे कबीर ने मन का निरोध करने वाले राजयोग का भी आश्रय लि है पर उसका प्राप्तव्य मन की चंचलता, मन के विकारों और उसमें उठने वा माया, मोह, द्वेष आदि वृत्तियों पर नियन्त्रण है। यह तो तुलसी जैसे भक्तों में भी है प्रेम, करुणा, दया, शील, सन्तोष आदि को तो कबीर ने भी लौकिक और आध्या त्मिक दोनों स्तरों पर ग्राह्य समझा है। कबीर के अनुसार व्यक्ति में सहजशील विकास ही इन रागात्मक तत्त्वों से होता है। लौकिक स्तर पर भी कबीर मान की सम्पूर्ण भौतिकता का आधार इस सहजशील को मानते हैं। इसके बिना

मानव आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं कर सकता है। प्रेम, ममता, विश्वास श्रद्धा, सन्तोष आदि की विशुद्ध रागात्मक अनुभूति पर ही कबीर की "भाव भगति" टिकी हुई है। यह "भाव भगति", "हरि सूँ गठजोरा" है और जगत से भी केवल प्रेम सम्बन्ध है। इसमें ममता, विश्वास, अहंकार-नाश और प्रेम-जनित आत्म-समर्पण एवं पूर्ण तादात्म्य की गहरी रागात्मक अनुभूति है। यह सखाभाव और दाम्पत्य भाव की ही अनुभूति है जो चिन्तन आदि से ऊपर उठी हुई विशुद्ध राग रूप है।

प्रत्येक साहित्यकार की एक मानव-सम्बन्धी धारणा होती है। उसकी अनुभूतियों में एक आदर्श मानव प्रतिष्ठित रहता है। इसी मानव का आत्मचिन्तन और उसकी निष्ठा उस साहित्यकार के जीवन-दर्शन तथा इसकी अनुभूति एवं उसके सृजन में रूपायित होता है। कबीर का आदर्श मानव सहजशील और भावभगति वाला है। वह रूढ़ियों, परम्पराओं तथा उनसे निर्मित मर्यादा के बन्धनों एवं अहंकारों से मुक्त एवं सहजभाव में प्रतिष्ठित रहकर ही जगत के व्यवहार को चलाता है। पर वह मानव संसार के मोह से विरक्त रहता हुआ अध्यात्म मार्ग का पथिक होता है। कबीर का मानव जबरन परिवार आदि को छोड़ देने का आग्रही नहीं है। इस दृष्टि से वह प्रवृत्ति-मार्गी लगता है; पर वस्तुतः वह निवृत्ति मार्गी है। भागवत प्रेम के लिए जीना तथा भागवत प्रेम में ही जीना उसे जीना लगता है। वह मानव सम्पूर्ण प्राणी मात्र के प्रति समता और प्रेम के अनुभव को ही मूल नैतिकता और वास्तविक धर्म मानता है। बाह्याडम्बर की पूजा-पद्धति व्रत आदि से उसे घृणा है क्योंकि ये मानव, मानव के सहजशील, सहजभाव और सहज प्रेम के पोषक न रहकर उसमें महानता का मिथ्या अहंकार जगाते हैं। कबीर की धारणा है कि जीवन की सहजता ही मानव, को षड्सम्पत्तिवान् बनाती है। उसी से मानव पर भगवान का अनुग्रह (प्रेम) बरसता है। इसी से उसमें आत्मचिन्तन जागता है, भगवान के प्रति प्रेम पल्लवित होता है। वही हरिरस में निमग्न हो पाता है और वही पति मोनर परमेश्वर के फाग में रँग पाता है। यही जीवन का चरम लक्ष्य है। इसको प्राप्त करने वाला मानव ही कबीर की दृष्टि में आदर्श मानव है। इस मानव की जीवन-यात्रा का एक क्रम भी कबीर को मान्य है, जिसका विस्तृत विवेचन मैंने अन्यत्र साखियों के प्रसंग में किया है। संक्षेप में वह है—सहजशील और आत्मचिन्तन से सांसारिकता से वैराग्य, भगवान से परिचय, उनके प्रति प्रेम की जागृति, उनसे मिलन की आकांक्षा, उनके विरह की तीव्र अनुभूति और अन्त में उनसे तादात्म्य। सूर का आदर्श मानव कृष्ण लीला का रसिक, तुलसी का मर्यादा और धर्म का रसात्मक अनुभविता और कबीर का विधि-निषेध से परेसहज तत्त्व तथा जीवन की सहजता का प्रेमी कबीर पंथी कबीर को ही मानव का आदर्श-रूप मानते हैं और उसके अनुसार वह अवैध बालक ही हो सकता है। अर्थात् जिसने संसार की सभी अवैधताओं का अतिक्रमण कर लिया है; जो सभी विधि-निषेधों से ऊपर उठ गया है। कबीर तुलसी की तरह शास्त्रीय वैधताओं के मूल में विराजमान साक्षात् धर्म के दर्शन नहीं कर पाये, अतः वह मर्यादा उन्हें प्रेम के मार्ग में

बाधक ही लगी। यह स्वाभाविक ही है कि प्रेम का मार्ग विधि-निषेध की मर्यादा
ऊपर का मार्ग है। वह स्वयं भागवत का मार्ग है अतः धर्म रूप है। यही कारण है
स्वरूप-स्थिति में पूर्व तक प्रेम पाकर और प्रेम उसे देकर जितना आनन्दानुभव होता
उतना अन्य किसी भी स्थिति में नहीं। यही नहीं भागवतकार तथा उनके व्याख्या
श्रीधरस्वामी भी मुक्तावस्था (अर्थात् जीवनमुक्तावस्था में) भी भगवान के गुणों
कीर्तन एवं उससे उत्पन्न प्रेमानन्द की स्थिति मानते हैं। यही प्रेम की दिव्यता
यही अनुभूति कबीर और सूर में अपने-अपने से ढंग से जागी है। सूर में इसक
अत्यधिक विशद रूप है क्योंकि इसके लिए सूर कबीर की तरह आत्मचिन्तन, काया
योग, आदि का साधन रूप में आश्रय नहीं लेते; वे तुलसी की तरह मर्यादा के भी काय
नहीं हैं। प्रेमानुभूति के स्वरूप-भेद के अनुरूप ही ये तीनों महाकवियों के आद
मानव के रूप साधन रूप में भी हैं।

निष्कर्ष यह है कि कबीर के जीवन-दर्शन का मूलभूत आधार ही भागवत प्रे
है। उनके अनुसार यही जीवन का लक्ष्य है और यह लक्ष्य मूलतः प्रेम से ही प्रा
होता है। अतः कबीर की दृष्टि में सम्पूर्ण जीवन का साध्य और साधन दोनों प्रेम
है, लौकिक और आध्यात्मिक का भेद प्रेम की दिव्यता में बाधक या साधक नहीं है
प्रेम तो मूलतः दिया ही है यही उनका सिद्धान्त है।

कबीर का रहस्यवाद एवं प्रेमानुभूति

रहस्यवाद और अद्वैत

वेद उपनिषद् आदि में रहस्यवादी प्रवृत्ति के दर्शन हो जाते हैं । पर भारतीय ाधना के क्षेत्र में ज्ञान और भक्ति के अनेकमुखी और सर्वाङ्गीण रूप के विकास था अवतारवाद की व्यापक कल्पना के कारण रहस्यवादी प्रवृत्ति के पृथक् साधना रूप में विकसित होने की गुंजाइश बहुत कम थी । मध्यकालीन साहित्य में इस वृत्ति के पुष्ट एवं बहुमुखी रूप के दर्शन के कारण प्रायः अभारतीय अधिक हैं । स्लाम तथा ईसाई धर्म के मानने वालों में बौद्धिक आधार पर ईश्वर और जीव ी तथा जगत् और ईश्वर की एकता की निष्ठा नहीं जाग सकती थी । एकेश्वरवाद विश्वास होते हुए भी वे सिद्धान्ततः खुदा और बन्दे को पारमार्थिक रूप में एक हीं मान सकते थे । इस एकता का प्रचार ही उनकी दृष्टि में कुफ्र था । पर वहाँ के छ मनीषियों और साधकों को इस अद्वैत का भान होता था । द्वैत के पुष्ट संस्कारों कारण उनकी बुद्धि और हृदय में अद्वैत की दृढ़ धारणा उसी रूप में नहीं जम कती थी, जिस रूप में भारतीय मनीषियों के हृदय में । इसलिए उन संस्कृतियों ौर धर्मों के संस्कारों में पले हुए साधकों की अद्वैत की अनुभूति द्वैत के अन्तर्हित छपे हुए संस्कारों के ही साथ होती थी । उन्हें जीव और ब्रह्म की एकता की अनुभूति ावना के माध्यम से ही करनी पड़ी । वे भारतीय अद्वैतवादियों की भाँति बुद्धि और दय की पूर्ण शक्ति के साथ अद्वैत की निष्ठा नहीं जगा सके । रहस्यवादी की नुभूति अद्वैती के समान तर्क का सामना करने में समर्थ नहीं है । वह परमतत्त्व तक न्तर्दृष्टि (Intution) से जाता है । अद्वैती को 'वह स्वयं ब्रह्म है' यही अनुभूति ोती है । उसकी दृढ़ निष्ठा बन जाती है । पर रहस्यवादी अपने आपको परमतत्त्व विलीन (Merge) करता है अथवा वह विलय की भावना में तन्मय रहता है । सका परमतत्त्व से तादात्म्य तप्त लोह में अग्नि-कणों के समान है । इस प्रकार क्लजी का यह कथन बिलकुल ठीक है कि ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते , भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है । इन रहस्यवादियों के अन्तःकरण

में विराजमान द्वैत के संस्कारों का पूर्णतया विलय न होने पर भी उनमें जो अद्वैत की भावनामूलक अनुभूति जागती है, वह एक प्रकार से रहस्यात्मक है। उसे बुद्धि से समझाया नहीं जा सकता है। रहस्यपूर्ण ढङ्ग से प्राप्त इसी अनुभूति की अभिव्यक्ति भी कुछ रहस्यात्मक ही रही। उसको सीधे-सीधे ढंग से शब्दों में बाँधकर रख देना सम्भव नहीं था, इसीलिए इन लोगों को प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ा। पति-पत्नी या पिता-पुत्र के प्रेमजनित, भावना से प्राप्त तादात्म्य या एकता की अनुभूति में जैसे तादात्म्य या एकता का गौण प्रयोग हुआ है, वैसे ही रहस्यवादी की अद्वैतपरक अनुभूति में 'अद्वैत' शब्द का गौण प्रयोग ही माना जा सकता है। यह शांकर वेदान्त का अद्वैत नहीं, हाँ, कुछ विशिष्टाद्वैतवाद का अद्वैत कहा जा सकता है। यह रूपक के आवरण में कल्पना या भावना से प्राप्त अद्वैत है। यह वास्तविक अद्वैत से नीचे की भूमिका है। कभी-कभी भावना के तीव्र आवेश में रहस्यवादी में बूँद के समुद्र में तथा समुद्र के बूँद में विलीन हो जाने वाली समरसता की भी अनुभूति जागती है।[1] ओत-प्रोत भाव की यह अनुभूति अद्वैत की भूमि है। पर उसके साथ रहस्यवादी में अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्वाद लेने की आकांक्षा भी विद्यमान है। जब यह समरसता की अनुभूति शब्दार्थमय अभिव्यक्ति का रूप धारण करना चाहती है, उस समय उसे रूपकों और प्रतीकों का आश्रय भी लेना पड़ता है और साथ ही द्वैत भूमिका पर खड़ा भी होना पड़ता है। पर इस प्रकार की द्वैत की भूमिका भी अद्वैत का ही आनन्द देती है—

"जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥"

विभिन्न रूप

जैसे भावना के द्वारा रहस्यात्मक ढंग की अद्वैतानुभूति जागती है, वैसे साधना के द्वारा भी। इस प्रकार रहस्यवाद के मूलतः दो भेद हैं—

(१) भावनामूलक रहस्यवाद।
(२) साधनात्मक रहस्यवाद।

भावना के माध्यम से जागी हुई रहस्यवादी की अद्वैत भावना में केवल आत्मा और परमात्मा की एकता की ही नहीं, अपितु ब्रह्म और जगत् की एकता की भी अनुभूति है। इन दोनों प्रकारों की एकता की अनुभूति ही सर्ववाद है। पश्चिम में ब्रह्म और जगत की एकता पर अधिष्ठित सर्ववाद (Pantheism) के शैली

---

१. बूँद समानी समद में, सो तक हेरी जाय।
× × ×
समद समाना बूँद में, सो कत हेरा जाय।

कीट्स जैसे रोमाण्टिक कवियों में दर्शन होते हैं। साधक सूफियों तथा ईसाई भक्तों की दृष्टि तो ब्रह्म और जीव की एकता पर ही जमी रही, पर भावक्षेत्र के सूफियों ने प्रकृति में भी परमसत्ता (Mysticism in Nature) के सौन्दर्य के दर्शन किये हैं।[1] इसी से प्रकृति के रहस्यवाद की पद्धति का भी विकास हुआ।

अनुभूति की भूमियाँ

डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार, "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता है।" जीवात्मा की परमात्मा से इस भावात्मक ऐक्यानुभूति की क्रमशः तीन अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्था में किसी तत्त्वज्ञ या सिद्ध गुरु की कृपा से साधक जीवात्मा में उस परमात्मा की प्राप्ति की तीव्र पिपासा जागती है। ज्ञान के मार्ग में यह अवस्था जिज्ञासा की है। इस स्थिति में ज्ञानी उस परम तत्त्व के स्वरूप को जानने के लिए विकल रहता है। पर रहस्यवादी मूलतः भावनात्मक एकता का साधक है। उसमें दार्शनिक के समान ज्ञान के संस्कार भी होते हैं, पर उसकी परमात्मा से एकता की इच्छा तथा अनुभूति बुद्धि की अपेक्षा हृदय की वस्तु अधिक है। इसलिए रहस्यवादी की दृष्टि से यह अवस्था उस परम तत्त्व के दर्शन तथा उससे प्रेम प्राप्त करने की विकलता की अवस्था है। रहस्यवादी प्रधानतः प्रेम के माध्यम से ही इस एकता को प्राप्त करना चाहता है। इसके लिए उसे दाम्पत्य, वात्सल्य आदि में से किसी एक अथवा अनेक भावों का अपनी भावना पर आरोप करना पड़ता है। इस प्रकार यह प्रेम जागृति की प्रथम अवस्था है। पर इस आध्यात्मिक प्रेम का सूत्रपात विरह की अवस्था में होता है। दूसरी को रहस्यवादी 'फना' की अवस्था कहता है। इस अवस्था में उसे उस परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। यह दर्शन और परिचय की अवस्था है। इस अवस्था में साधक को आत्म-विभोर कर देने वाला अलौकिक आह्लाद होता है। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से यह आत्म-ज्ञान की अवस्था है। पर रहस्यवाद की दृष्टि से तो यह अपने प्रियतम के अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन से अभिभूत आत्म-विस्मृति तथा प्रियतम में तन्मय होने की अवस्था है। सौन्दर्य एवं तन्मयता की यह प्रत्यक्ष तथा गम्भीर अनुभूति अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यधिक दुष्कर होती है। साधक इस सौन्दर्य में तन्मय होकर अवाक् रह जाना चाहता है। पर अभिव्यक्ति की आकांक्षा के संस्कारों की तीव्र प्रेरणा उसे विवश कर देती है और इसे अभिव्यक्ति को प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है। तीसरी तथा अन्तिम मिलन और पूर्ण तादात्म्य की अवस्था है। यह सिद्धावस्था है जो ज्ञानी की जीवन्मुक्त अवस्था के समकक्ष है। इस अवस्था की अनुभूति है 'बूँद विलानी समुद्र में सो कत हेरी जाय'। उसी में 'समुद्र विलाना बूँद में' भी है। यह पूर्णतया काया-

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—त्रिवेणी, पृ० ५-६।

पलट की अवस्था है । इस अवस्था पर पहुँचकर साधक को कण-कण में उसी प[रम] तत्त्व का साक्षात्कार होने लगता है । इस समय 'हरि रह्या सकल भरपूरि' की अ[नु]भूति जाग उठती है । ज्ञानी के लिए यही व्यापक चैतन्य की अनुभूति की अवस्था [है।] रहस्यवादी इसी को सर्ववादी (Pantheism) की अनुभूति कहता है । यहां [पर] अभिव्यक्ति विरत हो जाती है, इस अवस्था की अभिव्यक्ति शब्दार्थ के द्वारा सम[्भव] नहीं है । इसीलिए साधक केवल इस अवस्था का संकेत भर कर पाता है । परि[णति] वाली अवस्था के आह्लाद की असीमता से ही इस अवस्था की अनुभूति की व्यंज[ना] भर हो पाती है । रहस्यवादी की अनुभूति में एक बार के मिलन के बाद विरह [की] सम्भावना नहीं है ।

कबीर की अद्वैतानुभूति

कबीर की साधना और दार्शनिक मान्यता में अनेक स्रोतों से आये हुए तत्त्[वों] का अन्तर्भाव और समन्वय है । पर उनके विश्लेषण के फलस्वरूप यह कहना असमी[-] चीन नहीं है कि मूलतः कबीर ज्ञानी भक्त हैं और उनकी साधना तथा दार्शनिक[ता] की मूल आधार-भित्ति अद्वैत वेदान्त एवं वैष्णव भक्ति है । कबीर का द्वैत मिथ्या[त्व]-पूर्वक अद्वैत में पूर्ण निष्ठा है । इस तत्त्व का उन्हें बुद्धि और हृदय से पूर्णतया साक्षा[-]त्कार होता है । कण-कण में व्यापक ब्रह्म की अनुभूति भी उनमें सहज रूप से जा[ग्रत] है । कबीर का यह ज्ञान शास्त्र-अध्ययन का परिणाम नहीं, अपितु सहजानुभूति [से] प्राप्त तत्त्व है । पर कबीर के द्वैत के संस्कारों सहित अन्तःकरण ने भावना [और] साधना के माध्यम से ही अद्वैत के दर्शन नहीं किये हैं । वह तो मूलतः अद्वैत [की] भूमिका में है । कहीं-कहीं द्वैत की कल्पना भी है, वह प्रेम का आस्वाद लेने के लि[ए] आरोपित ही है । इस प्रकार कबीर की साधना और दार्शनिकता मूलतः रहस्यवा[दी] की नहीं है । वह तो अद्वैतवादी ज्ञानी की ही है । रहस्यवादी की तरह कबीर द्वैत [से] अद्वैत का भावात्मक आरोप नहीं करते हैं । वे तो हर प्रकार से अद्वैतवादी ही [हैं।] प्रेम का स्वाद लेने के लिए दाम्पत्य आदि की आसक्तियों की कल्पना से तृप्ति [के] लिए अद्वैत पर द्वैत का आरोप चाहे कर लें । पर कबीर को दार्शनिक एवं आध्यात्मि[क] अनुभूति रहस्यवाद की प्रक्रिया से प्राप्त नहीं हुई है । वह तो अद्वैतवेदान्ती की अनुभ[ूति] है । उस अनुभूति को कबीर ने प्रेम के स्वाद के लिए रहस्यवादी आचरण दे दि[या] है । प्रेमाभक्ति के जिस स्वरूप को कबीर ने अपनाया है, उसी के कारण उन्हें रह[स्य]वादी बनना पड़ा है । कबीर निर्गुण और निराकार के भक्त हैं । उन्हें अवतार[वाद] में विश्वास नहीं है । पर इस निर्गुण और निराकार को प्रेम के माध्यम [से] प्राप्त करने की उनकी अभिलाषा ने उनके निर्गुण और निराकार को कुछ [हद] तक साकार-सगुण कर दिया है । अर्थात् उस पर कुछ ऐसे गुणों का आरोप [कि]या गया है, उसके साथ अपने कुछ ऐसे सम्बन्धों की कल्पना कबीर ने की है जो उ[से] निर्गुण और निराकार बने रहने पर भी उसे सगुण और साकारवत् बना देते [हैं।] कम-से-कम भक्त को निर्गुण और निराकार की भक्ति के साथ ही सगुण और सा[कार]

के प्रेम का आनन्द दे देते हैं। कभी कबीर अपने को 'राम की बहुरिया' मानकर इस प्रेमाभक्ति का आनन्द लेते हैं, कभी पुत्र मानकर और कभी उसकी कुतिया मानकर। कभी कबीर इन सभी सम्बन्धों से ऊपर उठकर उस परमतत्त्व का साक्षात् तेज-पुञ्ज की तरह साक्षात्कार करते हैं। कभी उसके दर्शन के अमृत से आप्लावित हो जाते हैं। प्रेम के दाम्पत्य, वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि सभी रूपों का आनन्द कबीर लेते हैं। पर जीवात्मा और परमात्मा के ये सभी सम्बन्ध केवल प्रेम के रसास्वाद के लिए कल्पित और आरोपित किये गये हैं। सच्चा सम्बन्ध तो केवल तादात्म्य और अद्वैत ही है। अर्थात् सम्बन्ध क्या, केवल वही है। अद्वैतवेदान्ती की तरह कबीर को भी इसमें पूर्ण निष्ठा है। अगर कबीर निर्गुण में विश्वास करने वाले केवल ज्ञानी होते तो इन सम्बन्धों की कल्पना करने की आवश्यकता उन्हें नहीं होती और अगर अवतारवाद में निष्ठा रखने वाले सगुण भक्त होते तो इन सम्बन्धों की सत्यता एवं यथार्थता में उनका पूर्ण विश्वास रहता। पर कबीर में तो इन दोनों का अपूर्व एवं विलक्षण समन्वय है। यही कारण है कि इन सम्बन्धों के माध्यम से अनुभूत कबीर की प्रेम तथा अद्वैत की सहज अनुभूति के चित्रण से उत्पन्न स्थिति रहस्यवादी की-सी हो गई है। निर्गुण भक्ति तथा अद्वैत की अनुभूति को सजीव, मर्मस्पर्शी तथा प्रत्यक्ष कराने का एवं सगुण के-से सम्बन्धों को उपाधि के रूप में ग्रहण करके निरुपाधिक की अनुभूति जगाने का साधन ही कबीर का रहस्यवाद है। कबीर का रहस्यवाद अपने आप में कोई साध्य वस्तु नहीं है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि में से जीवात्मा-परमात्मा के किसी भी सम्बन्ध की सगुण भक्त की तरह वासना की सत्यता और यथार्थता में कबीर का विश्वास होता तो अनेक सम्बन्धों तथा वे भी लौकिक दृष्टि से परस्पर विरोधी सम्बन्धों की कल्पना कबीर नहीं करते। इससे सिद्ध है कि कबीर को रहस्यवादी की तरह ये सम्बन्ध आरोपित तथा अद्वैत वेदान्ती की तरह मिथ्या ही लगते हैं। अगर वे प्रधानतः रहस्यवादी होते तो सम्बन्धातीत अवस्था का केवल ज्ञान भर करा पाते, उस अवस्था में कबीर उस प्रकार रम नहीं पाते जैसे अद्वैतवादी रमता है। अतः कबीर में इन दोनों कोटियों का सामंजस्य है और वह भी इन दोनों से अतीत अवस्था की अभिव्यक्ति के साधन रूप में ही। इससे पूर्णतया स्पष्ट है कि कबीर का रहस्यवाद उनकी मूल साधना नहीं, अपितु प्रधान साधना की एक सहायक वस्तुमात्र है। कबीर स्वेच्छा से सजग होकर (Consciously) इस भूमिका में उतर कर प्रेम का स्वाद ले रहे हैं। यही कारण है कि कबीर की सभी रहस्यवादी उक्तियों का आनन्द अद्वैतवादी भूमिका में भी पूर्णतया लिया जा सकता है। वास्तव में अद्वैत वेदान्त की दृढ़ आधार-भूमि के कारण कबीर की रहस्यवादी उक्तियों में वह आध्यात्मिक गरिमा, सौन्दर्य और हृदयस्पर्शिता आ पायी है जो सूफी कवियों (जायसी आदि) में दुर्लभ है।

कबीर की रहस्यानुभूति

कबीर को हम रहस्यवाद की सभी भूमियों में पाते हैं। जैसे शंकर आदि

आनन्द के लिए भक्ति की द्वैतवादी भूमिका में उतर आते हैं, वैसे ही कबीर भी रहस्यवादी भूमि पर अद्वैत से आये हैं। उनका रहस्यवाद उपनिषद् के ऋषियों का रहस्यवाद है जो मूलतः अद्वैत के अन्तर्विरोधों में समन्वय करने वाली रहस्यात्मक (Mysticious) अनुभूति है। यह सूफियों की-सी रहस्यवादी अनुभूति नहीं जो मूलतः द्वैत पर टिकी होने पर भी रहस्यात्मक ढंग से अद्वैत का भान करा देती है, पर बुद्धि और हृदय के पूर्ण सहयोग में अद्वैत वेदान्ती की-सी पूर्ण निष्ठा नहीं जगा पाती हैं। निष्कर्ष यह है कि कबीर में अद्वैतज्ञान, प्रेमभक्ति और रहस्यवाद का अपूर्व समन्वय है। वे ज्ञान के माध्यम से अद्वैत की भूमिका पर पहुँचे हुए सन्त हैं, पर उसकी अभिव्यक्ति प्रेम के माध्यम से करते हैं। सगुण ब्रह्म को स्वीकार न करने के कारण उनका यह भगवत्प्रेम रहस्यवाद की उपाधि में साकार हुआ है। इस प्रकार कबीर ने अद्वैतज्ञान, प्रेममूलक भक्ति तथा रहस्यवाद के मिश्रण से निर्गुण भक्ति का एक मौलिक रूप प्रतिष्ठित किया है। रहस्यवादी प्रेम को अपनाने में उनकी अद्वैतपरक निर्गुण-भक्ति में वही सरसता आ गई है, जो शंकर आदि में अवतारवाद पर टिकी हुई सगुण भक्ति के तत्वों से आई थी। यह भक्ति किसी सम्प्रदाय के बाह्याचारों से सम्बद्ध न होने के कारण सब सम्प्रदायों के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर भी मानव मात्र के लिए ग्राह्य हो सकी। यह दूसरी बात है कि यह जन-सामान्य की क्षमता से कुछ ऊपर भी है।

कबीर ने सूफी कवियों की तरह अपनी रहस्यवादी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए कथा-रूपकों का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम-सम्बन्ध का सीधा चित्रण किया है। यह भी अद्वैत निष्ठा के कारण ही सम्भव हुआ है। प्रेम-सम्बन्ध को साकार तथा अनुभूति-जन्य रूप देने के लिए कबीर को प्रतीकों, रूपकों और अन्योक्तियों का सहारा अवश्य लेना पड़ा है। उनके अभाव में तो निर्गुण और निराकार की प्रेमानुभूति अथवा अद्वैतानुभूति को काव्य के रूप में साकार नहीं किया जा सकता था। पर ये प्रतीकों के आवरण इतने क्षीण हैं कि जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम एवं मिलन की अनुभूति को जरा भी आवृत्त करके कुण्ठित नहीं कर पाते हैं। इन आवरणों से इस आध्यात्मिक प्रेम को साकार होकर प्रतिबिम्बित और विकीर्ण होने का अवसर भर मिला है। यह जायसी से कहीं उच्च कोटि की आध्यात्मिक अनुभूति है। इसमें लौकिकता की गन्ध मात्र भी नहीं है। जायसी की तरह अगर कबीर भी कथा-रूपकों का सहारा लेते तो चाहे उसे अन्योक्ति का रूप देते, चाहे समासोक्ति का; उनकी आध्यात्मिक अनुभूति भी लौकिक कथा के आवरण में धूमिल हो जाती। अब प्रतीकों एवं रूपकों के दाम्पत्य आदि के रतिभाव तथा उनसे अभिव्यक्त आध्यात्मिक प्रेम—दोनों एक दूसरे की मर्मस्पर्शिता और रमणीयता को बढ़ा रहे हैं। यही नहीं, कबीर में रहस्यवादी एवं अद्वैतवादी अनुभूतियों का भी मणिकाञ्चन संयोग हुआ है। 'ब्रह्म रह्या भरपूरि', 'हरि रह्या सकल भरपूरि

जैसी उक्तियाँ एक ही साथ रहस्यवादी और अद्वैत वेदान्ती दोनों की अनुभूति का प्रतीक बनी हुई हैं। रहस्यवादी विशिष्टाद्वैतवादी की तरह जगत को सत्य मानकर उसमें उस परम तत्त्व की छाया; उसके सौंदर्य के दर्शन करके आह्लादित होता है और अद्वैत वेदान्ती 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' की भावना से। वेदान्ती के लिए सर्व है नहीं। 'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर-भीतर पानी; फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कह्यौ गियानी' की अवस्था है। जब हम कबीर की इस प्रकार की उक्तियों में उसे पूर्ण अद्वैत की भूमि पर खड़ा अनुभव करते हैं तो उनकी इस रहस्यवादी के अनुकूल सर्ववादी (Pantheism) की उक्तियों की आध्यात्मिक रमणीयता बढ़ जाती है और दूसरी तरफ सर्ववाद के सहारे से उसकी उपाधि से उस निरुपाधिक एवं व्यापक ब्रह्म के साक्षात्कार-भक्ति के भगवत्प्रेम का आह्लाद जाग उठता है। कबीर में अद्वैत, वेदान्त, रहस्यवाद तथा भक्ति के इसी मणिकांचन संयोग के दर्शन होते हैं। यही उनका वास्तविक दर्शन है।

तीन अवस्थाएँ

कबीर में भावात्मक तथा साधनात्मक दोनों प्रकारों के रहस्यवादों के दर्शन होते हैं। भावात्मक रहस्यवाद की जिन तीन अवस्थाओं का विवेचन ऊपर हुआ है, उन तीन की गहरी अनुभूति के वाक्य कबीर में मिलते हैं। प्रथम अवस्था अनुराग के उदय की है जो विकसित होकर विरह में परिणत होती है। यह अनुराग गुरु-कृपा से ही जागता है। कबीर ने इसीलिए गुरु का इतना महत्त्व प्रतिपादित किया है। कबीर ने अनुराग की अवस्था से ही वर्णन किया है। यह कबीर में अचानक उद्बुद्ध हुआ है। इसकी पूर्व पीठिका, जिसमें अनन्त के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा, उसके सौन्दर्य से आकृष्ट होकर चमत्कृत होने आदि का वर्णन, कबीर में नहीं है। वैसे यह जिज्ञासा, चमत्कार आदि अनुराग में परिणत होते हैं, अतः इनका अन्तर्भाव पहली अवस्था में ही है। गुरु की कृपा से कबीर के 'अनन्त लोचन' खुल गए हैं और उन्हें अनन्त के दर्शन होने लगे हैं।[1] इस अनन्त के दर्शन से कबीर में उस अनन्त के प्रति गहरा अनुराग जाग गया है। उस परम तत्त्व की एक झलक मात्र से कबीर का हृदय आनन्द-विभोर हो उठा है। गुरु का शब्द-बाण कबीर के भीतर समा गया है। कबीर कहते हैं कि सतगुरु ने हम पर प्रसन्न होकर एक प्रसंग कहा है। उससे प्रेम का बादल बरस पड़ा और मेरे सम्पूर्ण अंग उस प्रेम रस में भीग गये।[2] इस प्रेमानुभूति से कबीर को अपने

---

१. कबीर ग्रन्थावली साखी, ३

२. सतगुरु हम पर रीझि कर, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग॥

—कबीर ग्रन्थावली साखी ३३

सब दुःख दूर होते प्रतीत हो रहे हैं। पर अभी वह अवस्था कहाँ आ पाई है ? उसका आभास भर हुआ है। उसकी पूर्ण प्राप्ति तो मिलन में होगी। उसे संसार से पूर्ण बैराग्य हो गया है। भक्त और भगवान् का प्रेम ही जगत् का सार तत्त्व प्रतीत होने लगा है। सारा संसार कबीर की विषय-वासनाओं से जलता हुआ प्रतीत होता है। इस आग को बुझाने का कबीर को 'हरि सुमिरण' के अतिरिक्त कोई साधन नहीं प्रतीत होता है। पर कबीर का यह अनुराग तो प्रेम-रस के चखाने का कार्य भर करता है। इससे तो कबीर में विरह की गहरी व्यथा जागती है। वह मिलन की तीव्र पिपासा से विकल हो उठा है। पर न आत्मा भगवान् को बुला पाती है और न खुद वहाँ पहुँच पाती है। इससे उसको कितनी तीव्र वेदना है।[1] कबीर की साखियों का 'विरह को अंग' उसी तीव्र व्यथा को चित्रित कर रहा है। यह तीव्र व्यथा चरम सीमा तक पहुँच जाती है और जीवात्मा अपने आपको पूर्णतया नष्ट करके भी अपने प्रियतम के दर्शन करना चाहती है।[2] यह विरह की व्यथा बढ़ती जा रही है और उस आग को बुझाने का कोई साधन कबीर को नहीं दिखाई देता है।[3] कबीर को गुरु चेला और सारा संसार जलता हुआ प्रतीत होता है। उसको सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और उसके विषय भस्मीभूत-से लगते हैं। कबीर को इनसे पूर्ण वैराग्य हो गया है। वह इन्हीं इन्द्रियों को आगे मिलन की अवस्था से प्रेम रस में डूबी हुई अनुभव करता है।

कबीर में अनुराग, जागृति एवं विरह की अवस्था से ही अनुभूति की गहराई तथा तीव्रता के दर्शन होने लगते हैं। जीवात्मा और परमात्मा के इस प्रेम की अभिव्यक्ति यद्यपि अधिक तो पति-पत्नी के सम्बन्ध से ही हुई है, क्योंकि इस सम्बन्ध में ही

---

१. कबीर चित्त चमंकिया, चहुँ दिसि लागी लाई।
हरि सुमिरण हाथूँ घड़ा वेगे लेहूँ बुझाई॥
× × ×
आइन सकौं तुझ पै सकूँ न तुझ बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुँगे विरह तपाइ तपाइ॥
—कबीर ग्रन्थावली, विरह को अंग, साखी १०

२. इस तन का दीवा करौं, बाति मेल्हूँ जीव।
लोही सीचूँ तेल ज्यूँ, कब मुख देखूँ पीव॥
—वही, साखी २१

३. विरह जलाई मैं जलूँ, जलती जलहरि जाऊँ॥
मैं देल्या जलहरि जलै, संतो कहाँ बुझाऊँ॥
परबत परबत मैं फिर्‌या, नैन गँवाये रोइ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जाते जावन होइ॥
—वही, साखी ३४-४०

प्रेम की सबसे अधिक मर्मस्पर्शिता तथा तन्मयता का चित्रण सम्भव है। पर कबीर की प्रेमानुभूति में इस रूपक का आवरण इस अवस्था में ही अत्यन्त क्षीण प्रतीत होता है। ऊपर हमने विरह के जो उद्धरण दिए हैं, उनसे स्पष्ट है कि पाठक और कबीर दोनों ही जीवात्मा के पत्नीत्व के प्रति पूर्णतः सजग नहीं हैं। वे भावावेश की अवस्था में इस उपाधि की चेतना को भुला देते हैं। इन प्रसंगों में जीवात्मा और परमात्मा के सीधे प्रेम की मर्मस्पर्शिता का साक्षात्कार होता है। इस प्रेम पर की 'रति' आदि भावों की सभी उपाधियाँ विदीर्ण-सी होती प्रतीत होती हैं। कबीर तो जीवात्मा के स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व के प्रति भी सजग नहीं है। पत्नी का रूपक ही अधिकांश साखियों में है। लेकिन "परबति-परबति मैं फिर्या" में पुल्लिंग की क्रिया का प्रयोग करके कबीर ने उस अवस्था की व्यंजना कर दी है जहाँ पर प्रेम किसी भी प्रकार के भेद के लिए सजग नहीं रहता है। जीवात्मा न स्त्री है न पुरुष। यही बात परमात्मा के लिए भी है। इसी चेतना से जीवात्मा और परमात्मा के निरुपाधिक प्रेम का साक्षात्कार होता है। वह रति वात्सल्य आदि में से कुछ भी नहीं है। ऐसे ही निरुपाधिक प्रेम का साक्षात्कार कबीर को हुआ है। इतना ही नहीं, कबीर ने इसी प्रसंग में (प्रथमावस्था में ही) पिता-पुत्र के सम्बन्ध के माध्यम से भी इस प्रेम का चित्रण किया है। पुत्र के विरह का चित्रण भी हुआ है।[1] इससे स्पष्ट है कि कबीर वात्सल्य रति आदि किसी भी भाव के आवरण को सत्य मान कर नहीं चलते हैं। ये सब उपाधियाँ हैं और इनकी उपादेयता केवल उपहित को व्यक्त कर देने भर में है। उपहित प्रेम वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा का सीधा निरुपाधिक प्रेम ही है। कबीर में इस प्रेम की निरुपाधिता आगे की अवस्थाओं में क्रमशः बढ़ती गई है; यह स्वाभाविक भी है। 'परिचय' और 'मिलन' की अनुभूति में धीरे-धीरे द्वैत का परिहार होता है और जीवात्मा अद्वैत की ओर बढ़ती जाती है। रहस्यवादी की दृष्टि से इन अवस्थाओं में ससीम का, जीवात्मा का, असीम में, परमतत्त्व में क्रमशः विलय होता जाता है। उस समय तो इन भावों की उपाधि की सजगता विस्मृत होती चली जाती है। फिर जैसे कि हमने ऊपर कहा है कि कबीर निरे रहस्यवादी की तरह भावात्मक अद्वैतता के मानने वाले नहीं हैं, उनमें तो अद्वैत की पूर्ण निष्ठा है। यह बात इसी अवस्था की साखियों से पूर्णतया स्पष्ट है।

कबीर में भावात्मक रहस्यवाद की प्रथम अवस्था से ही साधनात्मक रहस्यवाद के भी दर्शन होने लगते हैं। कबीर में इन दोनों का मिला-जुला रूप है। उनमें

---

१. पूत पियारो पिताकौं, गौहरि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ॥
डारी खाँड़ पटकि करि, अन्तरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ॥
—कबीर ग्रन्था०, बिरह को अंग, साखी ३१-३२

साधनात्मक रहस्यवाद का भी क्रमशः विकासशील रूप है। कुंडलिनी के जाग्रत होकर सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ने का वर्णन इसी प्रसंग में कबीर ने किया है।[1] यह साधना की प्रथम अवस्था ही है। आगे 'परिचय' और 'मिलन' की अनुभूति में इस साधना की भी उच्चतर अवस्थाओं तथा अधिक गंभीर उल्लास का वर्णन है। कबीर में साधनात्मक रहस्यवाद तथा भावनात्मक रहस्यवाद दोनों का पोष्य-पोषक सम्बन्ध प्रतीत होता है। कबीर में भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम, ज्ञान तथा रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि से साधनात्मक अनुभूतियाँ जागी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार जैसे ज्ञानी को योगज अनुभूतियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही भावात्मक रहस्यवादी में रहस्यात्मक अनुभूति के कारण ही शरीर की क्रियाओं में परिवर्तन होकर साधनात्मक अनुभूतियों का भी आनन्द आने लगता है। यही अवस्था कबीर की है। कबीर में साधना से निर्मल अन्तःकरण होने के बाद प्रेम जागा हो, ऐसा नहीं प्रतीत होता है। प्रेम ने अतःकरण निर्मल किया है और साधनात्मक अनुभूतियाँ जगा दी हैं। कबीर में यही हुआ है। फिर यह साधना भी प्रेम की पोषक बन गई है। कबीर की रहस्यवादी अनुभूति की क्रमशः बढ़ती हुई विकासशील स्थिति में इन दोनों प्रकारों के रहस्यवादों का पोष्य-पोषक सम्बन्ध भी क्रमशः विकासशील है।

परिचय की अवस्था

रहस्यवाद की दूसरी अवस्था है 'परिचय' की। ज्ञानी की दृष्टि से यही आत्म-ज्ञान की अवस्था है। सूफी इसको 'फना' कहते हैं। रहस्यवाद में अपनाए हुए वर-वधू वाले रूपक में यह विवाह के समकक्ष अवस्था है। कबीर ने इसका रूप में भी वर्णन किया है। 'हम घरि आये हो राजाराम भरतार' में आत्मा के वधू-रूप में पति को प्राप्त करने के उल्लास का वर्णन है। कबीर ने इस अपरोक्षानुभूति का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। किसी एक रूपक में बाँध कर इस उल्लास का वर्णन कबीर को रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ है। निश्चित रूपक की सीमाओं में बँध जाने के बाद इसकी असीमता तथा निरुपाधिकता का निर्वाह नहीं हो सकता था। पति संग जागी हुई सुन्दरी को जैसे आश्चर्यचकित कर देने वाले कौतुक और आह्लाद का अनुभव होता है, वैसे ही अनुभव 'परिचय' या 'फना' की अवस्था में जीवात्मा को भी होते हैं। कबीर ने इस आह्लाद को, अनेक सूर्यों की श्रेणी के अनन्त तेज के दर्शन के तुल्य बताकर प्रकट किया है।[2] दूसरी ही साखी में इस प्रकाश-दर्शन को 'रवि

---

१. समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोयला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रुषाँ चढ़ि गई॥
—कबीर ग्रन्था०, ज्ञान विरह को अंग, साखी १०

२. कबीर तेज अनन्त का, मानौ ऊगी सूरज सेणि।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतिक दीठा तेणि॥
—वही, परचा को अंग, साखी १

ससि बिन' बताकर उसकी अलौकिकता का संकेत कर दिया गया है। यहाँ पर कबीर ने सेवक-स्वामी का रूपक अपना लिया है।[1] इससे स्पष्ट है कि कबीर ने रूपकों को आरोपमात्र मानकर अनुभूति के निरुपाधिक रूप की व्यंजना की है। 'प्रकाश-दर्शन' और 'पति संग जागी सुन्दरी' के लौकिक रूपकों से जीवात्मा की आध्यात्मिक अनुभूति की मर्मस्पर्शिता एवं आह्लादमयता की व्यंजना हो जाती है। वह अनुभूति अलौकिक है, यह भी व्यंजित हो जाता है। अलौकिक होने के कारण इस अनुभूति को शब्दार्थ की उपाधि में साकार नहीं किया जा सकता, इसलिए कबीर ने लौकिक अनुभूति के रूपक के द्वारा उसको व्यंजित किया है। यह काव्य की बहुत उत्कृष्ट शैली है। छायावादी काव्य में भी भावों की मर्मस्पर्शिता को व्यक्त करने के लिए इसी शैली का उपयोग हुआ है। परिचय की इस अवस्था में इतना आह्लाद कबीर को अनुभव होता है कि वह उस आह्लाद को एक प्रकार से व्यक्त करके सन्तोष नहीं कर पाता है। पारब्रह्म के तेज का कोई अनुमान नहीं लगा सकता है।[2] वह तो अपरोक्षानुभुति से ही ज्ञात होता है। यह आह्लाद की वह अवस्था है, जहाँ शब्द मौन हो जाते हैं और हृदय उस आह्लाद में तन्मय हो जाता है। कबीर का मन-भँवरा बिना जल के फूला हुआ कमल है जो उसकी सुगन्ध से मस्त हो गया हैं।[3] कबीर के हृदय में प्रेम प्रकाशित हो गया है, मुख में कस्तूरी की सुगन्ध समा गई है और शब्दों में भी वही सुगन्ध फूट रही है। परमतत्त्व के प्रेम की इस अवस्था में कबीर का तन, मन, वाणी, व्यवहार सभी कुछ तो आनन्द में मग्न है। ऐसी साखियों और प्रेम और आह्लाद की उस तन्मयता का वर्णन है, जिसमें न कबीर अपने प्रेम की रति आदि किसी उपाधि के प्रति सजग हैं और न पाठक को चेतना रहती है कि कि यह प्रेम पत्नी का है या पुत्र का। ऐसे ही कबीर इन उपाधियों को छोड़कर निरुपाधिक प्रेम की तन्मयता का चित्र देते हैं। इस परिचय की अवस्था में ऐसा भान होता है कि जीव परमात्मा में एकाकार हो रहा है और परमात्मा जीव में। प्रेमी अपनी प्रेयसी में समा जाता है और प्रेयसी प्रेमी में। यह विलय की प्रक्रिया रहस्यवाद की प्रमुख वस्तु है। इस विलय की आनन्दमयी अवस्था का चित्र कबीर

---

१. कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा माँहि है, बेपरवाही दास।
—कबीर ग्रन्था॰, परचा को अङ्ग, साखी २

२. पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिये कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परमान॥
—वही, साखी ३

३. कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरन्तर बास।
कंवल ज फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास॥
—वही, साखी ६

ने कई साखियों में दिया है।[१] विरह की ज्वाला अब शान्त हो गई है। 'ज्वाला तै फिर जल भया, बुझी बलंती लाई' विरह की अवस्था का जलता हुआ प्रेम ही अब प्रेम की शीतलता में परिणत हो गया है। कितने आनन्द की अवस्था है! व्यथा के स्थान पर नया आनन्द नहीं आया है पर वह व्यथा ही आनन्द बन गई है। ऐसी अवस्था में पहले की व्यथा भी आनन्द रूप हो गई और वर्तमान के आनन्द में चिर-परिचय के कारण प्रगाढ़ आत्मीयता का भाव आ गया है। कबीर की इन अनुभूतियों की तन्मयता निस्सन्देह रस की अवस्था का भी अतिक्रमण कर गई है। काव्य के किसी भी उत्कृष्ट उदाहरण के समकक्ष ये साखियाँ हैं। काव्य के बाह्य अलंकरणों से शून्य यह वाणी रसाक्षिप्त हृदय की अभिव्यक्ति है जो पाठक को काव्य के अनुशीलन करने वाले के रूप में ब्रह्मास्वाद सहोदर तक तो ले ही जाती है, पर उससे आगे भी ब्रह्मानंद की एक झलक दे देती है। वैसे तो 'रति' आदि सभी भाव 'रस' की अवस्था में ब्रह्मानन्द सहोदर में परिणत होकर अपनी लौकिक उपाधि से मुक्त हो जाते हैं और जहाँ पाठक की शृंगार, करुण आदि की चेतना का भी बिलय हो जाता है, वहाँ पर सभी रस ब्रह्मास्वाद सहोदर रहते हुए भी 'ब्रह्मास्वाद' अर्थात् निरुपाधिक आनन्द की झलक दे जाते हैं। पर रहस्यवाद, भक्ति और ज्ञान के माध्यम से प्राप्त काव्यानन्द तो निश्चय ही ब्रह्मानन्द का सजातीय होता है। उसका एक स्तर काव्यानन्द का भी रहता है, पर ज्ञानी, भक्त और रहस्यवादी जब इस अवस्था का भी अतिक्रमण कर जाता है तो ब्रह्मानन्द का ही स्वाद लेता है। इस अवस्था में अश्लील और श्लील तो कुछ होता ही नहीं है। कबीर को भी अमृत वर्षा का-सा आनन्द आ रहा है। 'मिलन' की अवस्था में तो यह आनन्द और भी सघन हो जाता है। उस समय तो स्वयं जीवात्मा ही आनन्दघन हो जाती है।

इस 'परिचय' की अवस्था में स्वयं कबीर ज्ञानी, भक्त और रहस्यवादी के अपूर्व मिश्रण-से प्रतीत होते हैं। ऊपर के विवेचन तथा उद्धरणों से भावात्मक रहस्यवादी कबीर के स्पष्ट दर्शन हुए हैं। पर इसी 'परचा को अंग' में ऐसी साखियाँ भी हैं जो उनके आत्म-ज्ञानी स्वरूप को भी स्पष्ट करती हैं एवं उस अनुभूति का आधार अद्वैत वेदान्त है। पानी और हिम के उदाहरणों से कबीर ने जीवात्मा के परमतत्त्व के रूप में परिणत हो जाने की अनुभूति का साक्षात्कार कराया है। इससे स्पष्ट है कि पानी रूप आनन्द-तत्त्व का मध्य की अवस्था में हिम रूप जीवात्मा में परिणत होना तथा पुनः निरुपाधिक आनन्द-रूप में परिणत हो जाना, इन दोनों का कारण माया ही

---

१. घट माँहें औघट लह्या, औघट माँहे घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट॥
× × ×
मन लागा उन्मन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चन्द बिहूँणा चाँदिणाँ, तहा अलख निरंजन राइ॥
—कबीर ग्रन्थावली, परचा कौ अंग।

है। पर यह माया जीव के आनन्द-रूप को किसी की अवस्था में नहीं ढक पाती। पानी तीनों अवस्थाओं में पानी ही है।[1] जीवात्मा भी सर्वदा तीनों अवस्थाओं में ही विशुद्ध आनन्द-रूप परम तत्त्व ही है। कबीर को यह अनुभूति रहस्यवादी की तरह सहज रूप में प्रतिभात भी है, और उसकी बुद्धि एवं हृदय दोनों का अनुमोदन भी है। तर्क और चिन्तन का बल भी उसे प्राप्त है। इस प्रकार इस अनुभूति को मूलत: अद्वैत ज्ञानी की अनुभूति ही मानना चाहिए। इस परिचय की अवस्था में जीवात्मा के परमात्मा में विलय का चित्र भी अद्वैत वेदान्ती का-सा है।[2] इसी प्रकार अनेक साखियों में कबीर के उपासक और भक्त रूप के स्पष्ट दर्शन होते हैं। सतगुरु की कृपा से भगवान् की अनन्त कथाएँ हृदय में समा गई हैं और इससे जीव आत्मस्थ या स्वस्वरूपस्थ हो गया है। भक्ति के माध्यम से स्वरूप-स्थिति तथा आत्म-साक्षात्कार का कितना अनुभूतिमय चित्र है![3] कबीर यहाँ पर ज्ञानी की तरह पूर्ण विलय का अनुभव नहीं कर रहे, वे भक्त की तरह अपने हृदय में साक्षात् भगवान् के दर्शन कर रहे हैं। कबीर ने एक स्थान पर 'अलख सेवा' भगवान् की उपासना के आनन्द का भी चित्र दिया है। पर यह उपासगा सगुण भक्तों की-सी बाह्य साधनों से सम्पन्न उपासना नहीं है। इसमें सब कुछ भीतर ही है। उपासक, उपास्य, उपासना की सामग्री सभी कुछ निर्गुण और निराकार की उपासना होते हुए भी कबीर ने उसको सगुण और साकार की उपासना की तरह मूर्त्त किया है।[4] कबीर ने इन स्थलों में भक्त रूप में भगवान् से प्राप्त परिचय और सान्निध्य की आनन्दानुभूति का साक्षात्कार किया और कराया है। पर एक ही तत्त्व लीला के आनन्द के लिए उपासक, उपास्य

---

१. पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।
   जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाए॥
   —कबीर ग्रन्था०, परचा को अंग, साखी १७

२. मली कई जु भै पड्या, गई वसा सब भूलि।
   पाला गलि पाणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि॥
   —वही, साखी, १८

३. थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाय।
   अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ॥
   —वही, साखी, २१

४. नींव बिहूंणा देहुरा, देह बिहूंणा देव।
   कबीर तहां बिलंबिया, करे अलख की सेव॥
   देवल माँहैं देहुरी, तिल जेहै बिसतार।
   माँहैं पाती माँहि जल, माँहै पूजणहार॥
   —वही, साखी, ४१-४२

आदि के बहुरूपों में परिणत हो गया है। कबीर का यह भक्त-रूप वैष्णव-भक्ति साधन और अद्वैत वेदान्त के अनुरूप है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कबीर की रहस्यानुभूति में भावात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकारों के रहस्यवादों का मिश्रण है। यह बात इस अवस्था में तो और अधिक स्पष्ट हुई है। प्रियतम से प्रथम साक्षात्कार अथवा मिलन के समय आनन्द-विभोर प्रेयसी के शरीर, मन और इन्द्रियों की एक विशेष अवस्था होती है। वह उनकी सुध-बुध भूल जाती है, उसकी पृथक् चेतना विलुप्त-सी होती जाती और उनके विषय जैसे एक दूसरे में सिमटते चले जाते हैं—इन सबका कारण प्रेम-वैविध्य ही है, वैसे ही भावात्मक रहस्यवाद के 'फना' की आनन्दावस्था में स्थित जीवात्मा में भी कुंडलिनी के शून्य-शिखर तक पहुँचने, सूर नाड़ी के चन्द्र नाड़ी में समा जाने तथा दोनों का सुषुम्ना में प्रवेश कर जाने आदि की अनुभूति होती है।[1] ज्ञानी के प्राण स्वतः ही स्थिर हो जाते हैं और उसे योग की सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त होने लगती है, वह समाधिस्थ हो जाता है। ऐसी ही अवस्था भक्त की भी होने लगती है। इस सबका कारण ज्ञान और भक्ति ही है। वैसे ही कबीर में भी ज्ञान, प्रेम और भक्ति-भावना के माध्यम से प्राप्त जीवात्मा और परमात्मा की एकता में ही उस साधनात्मक रहस्यवाद की भूमियों का आनन्द भी जाग गया प्रतीत होता है। इसीलिए भगवान् से परिचय होते ही कभी तो कबीर को सुरति निरति में, लेख अलेख में, तथा जाप-अजाप में समाते हुए प्रतीत होते हैं।[2] कभी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के एक दूसरे में पूर्णतया समा जाने तथा कुण्डलिनी सुषुम्ना के शिखर पर पहुँच जाने की अनुभूति होती है तो कभी गगन में पहुँच कर अमृत पान की अनुभूति होती है। इन विभिन्न स्तरों की अनुभूतियाँ कबीर को एक साथ ही होती हैं। ये सभी एक तरफ भावना-जनित आनन्दानुभूति की व्यंजना करने के लिए हैं तथा दूसरी तरफ विभिन्न साधनाओं की विभिन्न स्थितियों का-सा आभास देती हैं। इससे यह अनुमान हो जाता है कि कबीर को ये स्थितियाँ भावना, प्रेम और ज्ञान की तीव्रता तथा अपरोक्षता से ही प्राप्त हुई हैं।

---

१. पंषि उड़ानी गगन कूँ, उड़ी चढ़ी असमान।
× × × ×
सूर समांणां चंद मैं, वहूँ किया घर एक॥
—कबीर ग्रन्था०, परचा कौ अं

२. सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वयं दुवार॥
सुरति समांणी निरति मैं, अजपा माहैं जाप।
लेख समांणा अलेख मैं, यूँ आपा माहैं आप॥
—वही, साखी २

कबीर ने 'दुलहिन गावहु मंगलाचार' वाले पद में जीवात्मा और परमात्मा के विवाह का चित्रण किया है। उसमें रहस्यवादी की तरह कबीर की यौवन मदमाती आत्मा रूपी पत्नी पति रूप परमतत्त्व में अपने शरीर और मन को विलीन करने के संकल्प से आनन्दित हो उठती है। यह भावात्मक विलय होगा, इसलिए रहस्यवादी का विलय (Merger) है; अद्वैत वेदान्ती का नहीं। पर कबीर में अद्वैत वेदान्ती तथा योग-साधक के विलय की कल्पना भी है। पंचतत्त्व अपने कारणों में विलीन होते हुए अंत में परम तत्त्व रूप हो जाते हैं, इस अनुभूति का आनन्द भी कबीर ने लिखा है।[1] इस विवाह के रूपक में शरीर-सरोवर नाभि-कमल का तथा 'ब्रह्मवेद उचारै' अनाहत नाद का प्रतीक है। इस प्रकार कबीर ने इस पद में भावात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवादों का सुन्दर मिश्रण कर दिया है। दोनों का आनन्द कबीर को एक ही साथ आ रहा है और यह भी अनुमान होता है कि परम तत्त्व के प्रति जागे हुए अमन्द प्रेम ने ही कबीर में साधनात्मक रहस्यवाद के आनन्द को उद्बुद्ध कर दिया है।

मिलन की अवस्था

रहस्यवाद की तीसरी अवस्था 'मिलन' की है। यही सिद्धावस्था है। ज्ञानी के लिए यही अपरोक्षानुभूति है। मिलन की इस अवस्था में जीवात्मा में 'मैं' और 'तू' का भेद धीरे-धीरे विलीन होने लगता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो 'मैं' 'तू' में विलीन हो रहा है और एक समय ऐसा आता है, जब उसे 'अहम' में 'त्वम्' पूर्णतः समाया हुआ प्रतीत होता है। उस समय जीव में 'मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा' का भाव जाग जाता है। रहस्यवादी को केवल यही अनुभव नहीं होता है कि जीवात्मा परमतत्त्व में समा गई है, अपितु उसे यह भी अनुभव होता है कि परमात्मा जीवात्मा में समा रहा है। 'बूँद समानी समद में, की तरह रहस्यवादी को 'समद समाया बूँद में, का अनुभव भी होता है। प्रिया प्रेमी में तथा प्रेमी प्रिया में समा जाते हैं। भावात्मक विलय का यही रूप है जो रहस्यवाद के उपयुक्त है। उसके साथ ही 'अहम्' और 'इदम्' का अन्तर भी विलीन हो जाता है, उस समय 'ब्रह्म रह्या सकल भरपूरि' की अवस्था का भान होता है। कबीर कहते हैं कि मन का भ्रम दूर हो जाने पर मुझे भगवान् का सहज साक्षात्कार हो गया है, भगवान् सहज रूप में सामने ही खेलने लगे हैं। यह भान होता है कि 'अहम्' 'त्वम्' है और 'त्वम्' 'अहम्' है। इन

---

१. बहुरि हम काहे कूँ आवहिगे।
× × ×
पृथ्वी का गुण पांणी सोख्या, पांनी तेज मिलांवहिगे।
× × ×
ऐसैं हम लोक वेद बिछूरैं, सुंनिहि मांहि समांवहिगे।
—कबीर ग्रन्था०, पद सं० १५०

दोनों में कोई अन्तर नहीं है। वही 'अकल' सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं। कबीर उस भगवान् में समा गए हैं।[1] इस अवस्था में रहस्यवादी की काया-पलट-सी हो जाती है। कबीर में यह अवस्था अद्वैत वेदान्ती की तरह साक्षात् अपरोक्षानुभूति की भी है, स्वयं कबीर इसे ब्रह्म-ज्ञान की संज्ञा देते हैं। इस अवस्था में पहले का दुःखमय संसार भी आनन्द में परिणत हो जाता है। सम्पूर्ण सांसारिक विषयों की ज्वाला तत्त्व-ज्ञानी के लिए शीतलता में परिणत हो जाती है।[2] कबीर को इस अवस्था में मंगल की अनुभूति होने लगती है। जो पहले शत्रुवत् प्रतीत होते थे, वे अब मित्र लग रहे हैं। शरीर और मन की सामान्य अवस्था ही सहज समाधि में परिणत हो गई है।[3] वस्तुतः सच्चे रहस्यवादी में इस अवस्था में ही सर्वात्मवादी (Pantheist) चेतना की अनुभूति जागती है। उसे विश्व के कण-कण में वही परमतत्त्व व्याप्त प्रतीत होता है। कबीर के ऊपर के उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है। उन्हें इस अवस्था में 'हरि रह्या सकल भरपूरि' की साक्षात् अनुभूति हो रही है।

व्यापक विरहाग्नि

कबीर विरहावस्था में इसकी व्यापक व्यथा का अनुभव करते हैं। वह उन्हें 'इदम्' में भी व्याप्त प्रतीत होती है। गुरु और चेले सब जल रहे हैं; वह वन भी जल रहा है जिसमें मृग क्रीड़ा करते थे, समुद्र में आग लगी है आदि संकेतों से यही अनुमान होता है कि कबीर को विरहाग्नि का भान केवल अपने में ही नहीं होता, अपितु यह इदम् व्यापी भी होता है इन साखियों में प्रयुक्त 'समुन्दर' आदि शब्दों का प्रतीकात्मक अर्थ भी हो सकता है। पर इस सर्वात्मवादी अर्थ की व्यंजना में भी कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार कबीर को विरहावस्था में सर्वात्मचेतनवाद का आभास होता है।

---

१. मन का भ्रंम मन ही थैं भागा,
सहज रूप हरि खेलण लागा।
मैं तैं तैं मैं ए द्वैत नाहीं, आपै अकल सकल घट माँही।
× × ×
तन मन मन तन एक समांना,
× × ×
आतमलीन अषंडित रांमां, कहै कबीर हरि मांरि समानां॥
—कबीर ग्रन्था०, पद संख्या २०

२. कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि वैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान॥ —वही

३. अब हम सकल कुसल करि मांनां,
स्वांति भई तब गोव्यंद जांनां॥
तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि।
—वही, पद सं० ११

इसकी पूर्ण निष्ठा तो सिद्धावस्था में ही जाग सकती है। इसलिए उस अवस्था में जगत् में व्यापक विरह की विशद कल्पना कबीर नहीं कर सकते थे। जायसी आदि सूफी कवियों में इसी अवस्था में जो सूर्य-चन्द्र आदि प्रकृति के तत्त्वों में विरह-वेदना की विशद कल्पना मिलती है, वह सर्वात्मवादी चेतना की अपेक्षा संवेदना का मिथ्याभास (Pathetic fallacy) ही अधिक मानी जानी चाहिए। ऐसे ही जायसी में जो पद्मावती के सौन्दर्य की सर्वव्यापी छाया के दर्शन मिलन से पूर्व की विरहावस्था में ही होते हैं, वे भी रहस्यवादी के परम तत्त्व के साक्षात्कार की अपेक्षा काव्य के आलंकारिक सौन्दर्य के ही अधिक प्रतीक हैं। पर कबीर में यह अनुभूति तीसरी अवस्था में जागी है जो समीचीन है तथा निष्ठा का रूप धारण कर गई है। उन्हें 'व्यापक ब्रह्म सवनि में एकै, को पंडित को जोगी' इन आप आप सबहि मैं आप आप सौं खेलैं' की अनुभूति का साक्षात्कार हो रहा है। यह रहस्यवादी की केवल सर्वात्मवादी चेतना की ही प्रतीक नहीं है, अपितु यह अद्वैत वेदान्ती की 'सर्वं खल्वमिदं ब्रह्म' की अनुभूति तथा भक्त की सम्पूर्ण जगत् को भगवान् की लीला मानकर 'आप आप सौं खेलैं' की अनुभूति की आनन्दावस्था भी है। तीसरी अवस्था में तो कबीर में अद्वैती, भक्त और रहस्यवादी का समन्वय बहुत सुन्दर रूप में दृष्टिगत होता है।

माया का प्रभाव व्यापक है। वह साधना की सब अवस्थाओं में अपना विपरीत प्रभाव डालती रहती है। कबीर को माया का यह स्वरूप ज्ञात है। इसीलिए उन्होंने माया को 'महाठगिनी' कहा है। कबीर ने उसकी ठगी की अनेक भावनाओं का संकेत किया है। जीवन्मुक्त और सिद्ध को भी यह माया छोड़ती नहीं है कबीर ने इस माया की तुलना उस काटी-कूटी मछली से की है. जो पुनः पानी में पड़कर जीवित हो जाती है।[१] यह माया सिद्धपुरुष में भी मान-सम्मान की वासना के रूप में विद्यमान रहती है और वह पुन पल्लवित हो उठती है।[२] यह माया उस लकड़ी के समान है जो आगे से जलती प्रतीत होती है, पर पीछे से हरी भी होती जाती है। जलाने के लिए लाई लकड़ी फिर से कोंपल देने लगी है।[३] कबीर ने इस माया से हमेशा के लिए छुटकारा प्राप्त करने के लिए ज्ञान और भक्ति का आश्रय

---

१. काटी कूटी माछली, छीकै धरी चहोड़ि।
कोइ एक अषिर मन वस्या, दह मैं पड़ी, दहोड़ि॥
—कबीर ग्रन्था०, मन को अंग, साखी २४

२. सींध, भइ तब का भया, चहु दिसि फूटी बास।
अजहूँ बीज अंकुर है, भी ऊगण की आस॥
—वही, बेली को अंग, साखी ३

३. जालण आंगी लाकड़ी, उठी कूँपल केलि।
—वही, साखी १

लिया है। कबीर ने इस माया को 'शशशृंग'[1] के समान असत् कह कर उसके प्रति पूर्ण वैराग्य का भाव जाग्रत किया है। कर्म की साधना से नहीं, अपितु ज्ञान पूर्ण भक्ति रस से सींचने पर ही यह माया रूपी बेल कुम्हलाती है।[2] कबीर ने मान सम्मान की भावना के बन्धन को भगवान के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण तथा अत्यधिक विनय-भावना से ही नष्ट किया है। इस प्रकार वे हमारे भारतीय ज्ञानी और भक्त साधकों की श्रेणी में आते हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि कबीर केवल पाश्चात्य या सूफी परम्परा के रहस्यवादी ही नहीं हैं, अपितु उनमें भारतीय अद्वैत वेदान्ती के ज्ञान, वैष्णव भक्त के अनन्य प्रेम एवं प्रपत्ति रहस्यवादी की भावात्मक एकता की अनुभूति तथा योगियों के साधना-जनित परमानन्द का अपूर्व समन्वय है। कबीर ने भगवान के निर्गुण एवं निराकार रूप के प्रति निरुपाधिक प्रेम को रहस्यवादी साधना के माध्यम से साकार तथा हृदयस्पर्शी रूप दिया है। वस्तुत: कबीर की प्रेमानुभूति भक्ति है। उनका राम नितान्त निर्गुण और निर्विशेष नहीं है। उसमें प्रेम, अनुग्रह आदि गुण हैं, उसके गुणों का हृदय से साक्षात्कार होता है। उसके प्रति प्रेम जागता है, वह स्वयं भी जीव से प्रेम करता है। कबीर ने जीव के प्रेम का वर्णन अधिक किया है, पर कहीं-कहीं ईश्वर जीव से प्रेम करता है, इसका चित्रण भी है। इस प्रकार कबीर का राम परम प्रेमास्पद है और कबीर का प्रेम मूलतः भक्ति है।

---

१. ससा सींग की धुनहड़ी, रमैं बांझ का पूत।
—कबीर ग्रन्था०, बेली कौ अंग, साखी

२. जो काटौं तौ डहडही, सींचौं तौ कुमिलाइ।
—वही, साखी

कबीर का काव्य-सौष्ठव

इस शीर्षक से वे लोग चौंकेंगे जिन्हें कबीर के काव्य में सौष्ठव की बात तो दूर रही, कबीर में काव्यत्व ही नहीं प्रतीत होता है। उन लोगों की धारणा के अनुसार कबीर केवल समाज-सुधारक अथवा कुछ दार्शनिक चिन्तन करने वाले थे। जन-सामान्य के सम्पर्क में रहकर वे जनता को उपदेश दिया करते थे। इन उपदेशों में अधिकांशतः नीति-वाक्य अथवा दार्शनिक कथन ही हैं, काव्य की उक्तियाँ प्रायः नहीं हैं। ऐसी कतिपय लोगों की धारणा बनी हुई। मेरा ऐसे लोगों से विनम्र मतभेद है। माना कि कबीर दार्शनिक थे, और समाज-सुधारक भी थे। समाज-सुधार अर्थात् जन-जीवन का उत्थान उनके जीवन की साधना थी। पर यह सुधार की आकांक्षा बौद्धिक स्तर मात्र की नहीं है। कबीर का सन्त-हृदय लोकमंगल की भावना से द्रवीभूत हो गया था। उनका यह द्रवीभूत हृदय ही उपदेशों में बहा है। कबीर मूलतः मानव के आध्यात्मिक कल्याण के उपदेष्टा हैं। इसी में वे व्यक्ति का वास्तविक मंगल देखते भी हैं। कबीर का समाज के स्तर का नीतिवादी दृष्टिकोण वस्तुतः अध्यात्म-प्रेरित है। इसलिए कबीर दार्शनिक सुधारक हैं। पर जैसे कबीर का लोक-मंगल बुद्धि की नहीं, हृदय की वस्तु है वैसे ही उनकी आध्यात्मिकता भी हृदय से ही अनुभूत और साक्षात्कृत है। इस प्रकार कबीर के समाज-सुधारक और दार्शनिक दोनों ही व्यक्तित्व कवि के आवरण में ही अभिव्यक्त हुए हैं और हो भी सकते थे। कबीर की साखियाँ, पद आदि का सम्पूर्ण साहित्य मूलतः उनके कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। यह दूसरी बात है कि उनका यह कवि-व्यक्तित्व दार्शनिक तथा समाज-सुधारक विशेषणों से विशिष्ट है। अनुभूतियों की मर्मस्पर्शिता तथा उसके सहज सौन्दर्य की दृष्टि से कबीर का काव्य हिन्दी के मध्यकालीन महान कवियों के काव्य के समकक्ष निस्संकोच रखा जा सकता है। कबीर की साखियाँ और पद केवल तथ्य-कथन करने वाली सामान्य कोटि की रचनाएँ नहीं हैं, जिन्हें केवल छन्द अथवा यत्र-तत्र के 'हलके' से चमत्कार के कारण काव्य छन्द से अभिहित किया गया हो। उनमें से अधिकांश वास्तव में 'रस-काव्य' की श्रेणी में ही आते हैं। कुछ पंक्तियाँ या

साखियाँ ऐसी भी चुनकर दिखाई जा सकती हैं जिन्हें 'रस-काव्य' की श्रेणी में न रखकर सूक्तियाँ, नीति के उपदेश अथवा दार्शनिक कथन मात्र कहें। पर ऐसी उक्तियाँ तो प्रायः सभी महान कवियों में मिल जाती हैं। इस प्रकार कबीर में निस्संदेह उत्कृष्ट कोटि का अनुभूति-सौष्ठव मिलता है। जहाँ तक कला और शिल्प-सौष्ठव का प्रश्न है; वह विदग्ध तथा चमत्कार प्रिय कवियों की अपेक्षा कम है। पर उसका भी नितान्त अभाव नहीं है। कबीर में अनुभूति का सहज सौन्दर्य तथा प्रसाद गुण की ही प्रधानता है, पर उक्ति-वैचित्र्य, अलंकार एवं कवि-समय से प्राप्त तत्त्वों का भी सहज उपयोग है।

काव्य-सम्बन्धी धारणा

कबीर अथवा अन्य निर्गुण-सम्प्रदाय के कवियों के काव्य-सौन्दर्य का साक्षात्कार करने के लिए उनकी काव्य-सम्बन्धी धारणा से अवगत होना आवश्यक है। उनके काव्य का उसी धारणा के अनुरूप मूल्यांकन करने पर काव्य-सौष्ठव का वास्तविक साक्षात्कार होता है, रीतिकालीन चमत्कार-प्रधान काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से नहीं। कबीर आदि सभी निर्गुण भक्तों ने अपनी आत्मानुभूति की सहज अभिव्यक्ति का रसास्वाद किया है। उनमें उक्ति की सजावट, अलंकरण तथा चमत्कार के द्वारा विदग्ध पाठकों के मनोरंजन की प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते हैं। वे 'कविकर्म' के अहंकार को लेकर चलने वाले कवियों की भर्त्सना करते हैं। इसलिए वे कवि पद के अहंभाव को वहन करने के इच्छुक नहीं हैं। कबीर स्वयं अपनी रचना को गीत न कहकर 'ब्रह्म-विचार' कहते हैं। और उस ब्रह्म-विचार को भी उन्होंने सहज रूप में कहकर समझा दिया है। इससे उनके काव्य की अनुभूति की मार्मिकता और सहजता तथा अभिव्यक्ति की अकृत्रिमता स्पष्ट हो जाती है। कबीर स्वयं अपनी रचना के समझने तथा रसास्वाद की प्रक्रिया बता देते हैं। उनके काव्य का आनन्द कल्पना की उड़ान का आनन्द नहीं, अपितु वह तो अन्दर-अन्दर ही चिंतन, मनन और चर्वणा का आनन्द है। 'आपहि आप विचारिये, तब केता होइ आनन्द रे' इससे कबीर आनन्दानुभूति में तन्मय तथा हृदय के द्रवीभूत हो जाने के आनन्द का संकेत करना चाहते हैं। यही कबीर के काव्य-सौष्ठव की मूल आधार-भित्ति है। अगर हम 'रस-काव्य' की दृष्टि से कबीर-साहित्य का मूल्यांकन करते हैं जो कबीर को अभीप्सित है तथा निर्गुण भक्ति की परम्परा के अनुरूप भी है तो हमें निराशा नहीं उल्लास ही होता है। हाँ, विशुद्ध अलंकार-काव्य या रीतिकाव्य का आनन्द, लेने वाले विदग्ध पाठकों को कबीर-साहित्य फीका ही लगेगा। उसमें रस का अवगाहन है, चमत्कार की उछाल नहीं। पर इतना अवश्य है कि कबीर रसानुभूति, सं...

---

१. तुम्ह जिनि जानों गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया आतम साधन रे॥
—कबीर ग्रन्था०, पद संख्या १

शीलता एवं कलासौष्ठव—किसी भी दृष्टि से तुलसी तथा सूर की उच्च भूमि को स्पर्श नहीं कर पाये हैं। कबीर अपने विषय का सूर और तुलसी की-सी हृदय की तन्मयता के साथ साक्षात्कार नहीं कर सके। आध्यात्मिकता एवं अद्वैत की अनुभूति में भी तुलसी कबीर की अपेक्षा उच्च भूमि में हैं। यही कारण है कि कबीर तुलसी और सूर की तुलना में तो काव्य के सर्जक नहीं, अपितु अनुवादक ही प्रतीत होते हैं, उनका काव्य रस-सृष्टि की अपेक्षा बुद्धि का विलास अधिक लगता है।

यह तो कबीर की काव्यानुभूति अथवा काव्य के स्वरूप का दृष्टिकोण हुआ, जो कबीर-साहित्य के मूल्यांकन का आधारभूत सिद्धान्त बन रहा है। कबीर की काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी एक धारणा है। उसे हम एक शब्द में लोक-मंगल की भावना कह सकते हैं। कबीर अपनी आत्मानुभूति की सहज अभिव्यक्ति का आनन्द तो लेते ही हैं, इसके साथ ही उनमें अपने अनुभवों को देकर लोक के कल्याण की कामना भी कम प्रबल नहीं है। यह भी उनके काव्य का प्रेरक-तत्त्व है। आत्मानुभूति का तो 'आप ही आप विचार' करके भी कबीर आनन्द ले लेते पर लोक-कल्याण के लिए तो उसकी शब्दार्थमय बाह्य अभिव्यक्ति नितान्त आवश्यक है ही। अभिव्यक्ति के लिए यह प्रेरणा अधिक प्रबल है। लोक में ध्यान में रखने के कारण यह अभिव्यक्ति निरहंकार, सहज, प्रसाद-गुण-सम्पन्न एवं मधुर हो गई है। कबीर यहाँ पर कवि-पद के अहं को अपने हृदय में प्रश्रय नहीं देते हैं। इस प्रेरणा को [1]भी कबीर दैवी प्रेरणा ही मानते हैं। इस प्रकार कबीर का सम्पूर्ण काव्य कवि की आत्मानुभूति का सहज उद्रेक है। उसे कवि-प्रतिभा के सहज समुच्छल के 'रस-काव्य' के रूप में आँकना ही समीचीन है; कवि-वैदग्ध के प्रयास से साध्य (Laboured Poetry) अलंकार-काव्य, रीति-काव्य, अथवा चमत्कार काव्य के रूप में नहीं।

काव्य के विषय

कबीर-काव्य का मूल विषय आध्यात्मिक अनुभूति है। उस परमतत्त्व के सौन्दर्य के दर्शन, उसके प्रति प्रेम, विरह और मिलन के क्षणों की अनुभूति ही इस काव्य का भाव-पक्ष है। कबीर की इस अनुभूति में उनके ज्ञानी, भक्त, रहस्यवादी तथा योगी सभी प्रकार के व्यक्तित्वों की अनुभूतियों का सुन्दर समन्वय है। उनके इस आध्यात्मिक प्रेम तथा आध्यात्मिक सौन्दर्यानुभूति में निर्गुण-भक्त की प्रीति, वेदान्ती के आत्मसाक्षात्कार, रहस्यवादी के परम तत्त्व के सौन्दर्य-दर्शन एवं उसमें भावात्मक विलय तथा योगी की साधना—इन सभी के आनन्दोल्लास का मधुर सामरस्य हो गया है।

कबीर के प्रेम का आलम्बन निराकार और निर्गुण है। उसके किसी ऐसे रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता है जो इन्द्रियों द्वारा गृहीत हो। उस प्रेम में ऐसी

---

१. हरि जी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर।
भौसागर मैं जीव हैं, जे कोई पकड़ै तीर॥—कबीर ग्रन्था०, उपदेश को अंग १

क्रीड़ाओं और लीलाओं का वर्णन सम्भव नहीं है, जो सगुण भक्त कवियों के काव्यों का विषय बन सकी है। कबीर ने यद्यपि रहस्यवादी के रूप में पति-पति, पिता-पुत्र आदि के प्रतीकों के माध्यम से परमतत्त्व के प्रति अपने प्रेम का वर्णन किया है, पर इनको प्रतीकों के रूप में ही स्वीकार करने तथा अपनी अनुभूति पर इनके अत्यन्त क्षीण आवरण रखने के कारण उनका प्रेम वस्तुतः निरुपाधिक, सूक्ष्म, अमूर्त एवं आभ्यन्तर ही है। वह सगुण भक्तों के प्रेम की तरह बाह्य क्रीड़ाओं और भावों में साकार होने वाला प्रेम नहीं है। यही बात कबीर की सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कबीर को अपने प्रिय, आराध्य और उस परमतत्त्व के जिसमें उसे तदाकार होना है—उसके सौन्दर्य की अनुभूति किसी चक्षु अथवा अन्य किसी इन्द्रिय से ग्राह्य बाह्य वस्तु के साक्षात्कार के रूप में नहीं होती है, अपितु कबीर का प्रेम और उसकी सौन्दर्य-चेतना केवल आभ्यन्तर अनुभूति रूप है। वह सौन्दर्यानुभूति अथवा प्रेमानुभूति के उल्लास एवं आह्लाद के रूप में ही अभिव्यक्त हुई है। कबीर केवल 'लाधा है कछु लाधा है' 'पड़ि गया नजर अनूप' के अनिर्वचनीय आह्लाद में तन्मय हो गये हैं। यह अरूप सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य केवल अनुभुतिमय आह्लाद रूप है। इसका कोई बाह्य आकार-प्रकार नहीं है, जिसकी इन्द्रियग्राह्य, बुद्धि-ग्राह्य अथवा भावों के रूप में हृदयग्राह्य' कोई बाह्य अथवा मानस-मूर्ति की कल्पना की जा सके। "अबरन एक अकल अविनासी, घटि-घटि आप रहै। तोल न मोल माप कुछ नाहीं, गिणंती न्याय न होई"[1] "जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूपक रूप, पुहुप बास थैं पातला, ऐसा तत्त अनूप"[2] मैं का जांणौं राम कूं, नैनूं कबहूं न दीठ॥[3] इन पंक्तियों से कबीर की अमूर्त अथवा अनुभूतिमात्र रूप सौन्दर्य की कल्पना स्पष्ट है। यहाँ पर सौन्दर्य का आह्लाद नहीं, अपितु आह्लादमय सौन्दर्य अथवा सौन्दर्यमय आह्लाद ही है। कबीर की सौन्दर्य-चेतना अमूर्त और अरूप है, इससे कबीर ने उससे जनित आह्लाद का ही वर्णन किया है। आह्लाद के द्वारा ही वह व्यंजित होकर साकार हुआ कहा जा सकता है। इस प्रकार वह सौन्दर्य आह्लाद रूप है। 'लाधा है कछु लाधा है' में ज्ञान का, परम तत्त्व के साक्षात्कार का जो ज्ञानी आह्लाद है वही 'पड़ि गया नजरि अनूप' आदि में सौन्दर्याह्लाद बन गया है। यही समन्वित प्रेमोल्लास को व्यंजित कर रहा है। इस प्रकार यह मानना समीचीन ही है कि कबीर की सम्पूर्ण काव्यानुभूति उन तीनों (सौन्दर्य, प्रेम और ज्ञान) अनुभूतियों का समन्वित रूप है और कबीर के कवि हृदय का पारावार इन अनुभूतियों में लहरा रहा है।

लौकिक स्तर के प्रेम अथवा रति की अनुभूति का आनन्द भी मानव की सर्व इन्द्रियों, मन और बुद्धि को आप्लावित-सा करता प्रतीत होता है, फिर आध्यात्मिक

---

१. कबीर-ग्रन्था० पद संख्या ११
२. वही, पीव पिछाड़न कौ अंग, ४
३. वही, जाणा कौ अंग, १

स्तर के प्रेम अथवा सौन्दर्यानुभूति का तो कहना ही क्या है ? कबीर को जैसे विरहावस्था में विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा दाह का अनुभव होता है, वैसे ही उस परम तत्त्व के सौन्दर्यदर्शन तथा उसके प्रति जाग्रत प्रेम की अनुभूति के परिचय और मिलन वाले स्थलों में भी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—सभी आप्लावित-से प्रतीत होते हैं । विषय चाहे एक अंग से, अर्थात् एक इन्द्रिय से गृहीत हो पर उनके द्वारा प्राप्त परितृप्ति अथवा दाह का अनुभव मानव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही करता है । फिर कबीर के प्रेम और सौन्दर्यानुभूति का आलंबन तो बाह्य और इन्द्रियग्राह्य है ही नहीं, वह तो उसके अन्तःकरण, उसकी आत्मा, उसके सम्पूर्ण अहं का विषय है । उसकी अनुभूति में तो रहस्यवादी भक्त और ज्ञानी कबीर का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही तन्मय है । इसीलिए कबीर ने परमतत्त्व के सौन्दर्य से जाग्रत अनुभूति के आह्लाद को विभिन्न इन्द्रियों की परितृप्ति के उल्लास के रूप में चित्रित किया है । इस आह्लाद की अनुभूति से कबीर को उस तृप्ति का अनुभव होता है, जो प्रतिक्षण तृषा को बढ़ाती जाती है जितनी तृप्ति कबीर के 'निज' को मिलती है, उतनी ही और तृप्ति का आकांक्षा उनमें बढ़ जाती है । इस प्रकार इस तृप्ति में शाश्वत अतृप्ति का भाव, तृप्त होते हुए भी और तृप्ति की आकांक्षा भी छिपी हुई हैं । सौन्दर्य के अपार पारावार में कभी नेत्र डूबकर 'अनूप' के दर्शन करते हैं तो कभी रसना रस लेती है । उन्हें अनन्त सूर्यों की श्रेणी के असीम परन्तु मधुर एवं स्निग्ध तेज के दर्शन होते हैं ।[1] यह अनुपम तेज रवि ससि बिना उजास, और 'चाँद बिहूणा चाँदिणा' है । 'यह परम-सौन्दर्य देख्या ही परवान' है, अनुभूति का विषय है । इसके स्वरूप का न अनुमान हो सकता है और न यह शब्दार्थ में बाँधा जा सकता है । यह अपार तेज कबीर के नेत्रों में समा गया है । 'तेज पुंज पारस' धनी, 'नैनू रहा समाय' इस प्रकार कबीर ने उस अरूप सौन्दर्य का रूपात्मक साक्षात्कार किया है । रूप के माध्यम से व्यंजना की है । इसी प्रकार कबीर को यह परम-सौन्दर्य-तत्त्व 'राम रसायन' सा भी प्रतीत होता है । इसकी 'हरिरस' या 'प्रेम रस' के रूप में अनुभूति होती है । उन्हें मधुर एवं मीठे पान का आनन्द आता है । रसनेन्द्रिय की तृप्ति के वर्णन द्वारा आत्मतृप्ति की व्यंजना का मधुर रूप ऐसी पंक्तियों में दृष्टिगोचर हो रहा है । यह रसना का आनन्द कबीर के लिए मादक है । इस 'राम अमिल' में कबीर निरन्तर मस्त रहते हैं ।[2] इस नशे की खुमार कभी जाती नहीं है[3], यही इसके पीने का प्रभाव है । यह सोमरस का पान का सा आनन्द है । इसका

१. कबीर तेज अनन्त का, मानो ऊगी सूरज सेणि ।

—कबीर-ग्रन्था०, परचा को अंग, साखी १

२. राम अमलि माता रहै, जीवन मुकति अतीत ।

—साखी, रस को अंग, ६

३. हरि रस पीया, जाणिये जे कबहु न जावे खुमार ।
मैंमंता घूमत रहै, नाँही तन की सार ॥

—वही, साखी, ४

कबीर ने शराब के रूपक में वर्णन किया है। कबीर इस रस को तन-मन से जोबन भर कर पीते हैं, पर उनकी प्यास नहीं बुझती है।[1] शराब से भिन्नता यह है कि यह काम, क्रोध आदि को नष्ट करने वाला तथा अनाहत नाद सुनाने वाला नशा है। कबीर ने इसे कर्णेन्द्रिय द्वारा गृहीत स्वर-माधुर्य के आनन्द के रूप में भी चित्रित किया है। इस विचित्र कस्तूरी तथा कमल की सुगन्धि से घ्राणेन्द्रिय तृप्त हो जाती है। यह सुगन्ध कबीर को व्याप्त-सी प्रतीत होती है। उसे मुख और वाणी में कस्तूरी की सुगन्ध फूटी हुई-सी प्रतीत होती है।[2] गाढ़-आलिंगन की कल्पना में कबीर को स्पर्शेन्द्रिय का परम सुख भी प्राप्त हो जाता है।[3] पर यह ऐसे ही दो प्रेमियों के आलिंगन का आनन्द है जिसकी इस आलिंगन से अतृप्ति बढ़ती ही जाती है। पंचे-न्द्रियों को आप्लावित करता हुआ यह आनन्द सहज-समाधि की अवस्था को पहुँच जाता है और कबीर को अपना प्रियतम सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त दिखाई पड़ने लगता है। उसके अतिरिक्त विश्व में कुछ भी नहीं। कबीर इस परम सौन्दर्य के दर्शन पर पूर्णतया मुग्ध होकर अभिभूत से हो जाते हैं। यह आनन्द इन्द्रियों को पूर्णतया अपने में डुबो कर इन्द्रियतीत-सा प्रतीत होने लगता है। यह गूँगे का गुड़ है। जीवात्मा भीतर ही भीतर इस आह्लाद में तन्मय है और इसी ओर केवल इशारा भर कर पाती है। 'अविकल अकल अनूप' का यह दर्शन मन-वाणी के लिए अगम और अगोचर है। अनुभव-कर्त्ता इस अनुभूति में समा गया है।[6] सारे दुःख आनन्द में परिणत हो गए हैं।[7] सारे जगत् के रूप में तपता हुआ माया का अंगारा अब बुझ गया है। सर्वत्र शीतलता की अनुभूति होती है।[8] केवल इन्द्रियानुभव ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जीवन ही इस आनन्द में तन्मय होकर एक सहज समाधि के रूप में परिणत हो जाता है।

---

१. काया कमंडल भरि लिया, उज्वल निर्मल नीर।
   तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर ॥
   —कबीर-ग्रन्था०, लांबि कौ अंग,

२. मुख कसतूरी महमहीं वांणी फूटी बास। —वही, परचा कौ अंग,

३. अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नाहीं धीर। —वही, साखी,

४. जल थल पूरि रहे प्रभु स्वामी।
   जित देखौं तित अन्तर्यामी ॥ —वही, साखी,

५. सैन करै मन ही मन रहसै, गूँगै जांनि मिठाई।—कबीर-ग्रन्था०, पद संख्या

६. उड़्या बिहंगम खोज न पाया, ज्यूँ जल जलहि समांना।—वही, पद संख्या

७. तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि ॥
   —वही, पद संख्या

८. माया तजति बुझ्या अंगारा।
   × × × स्यांति भई तब गोबिन्द जांनां।
   —कबीर-ग्रन्था०, पद संख्या

अप्रस्तुत विधान

निर्गुण तथा निराकार के प्रति निरुपाधिक प्रेम एवं अरूप सौन्दर्य की अनुभूति को हृदय-ग्राह्य तथा प्रेषणीय बनाने के लिए कवियों को मूर्त्त, रूपवान् तथा इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों का सहारा लेना पड़ता है। वे उन विषयों तथा तज्जनित अनुभूतियों के वर्णन द्वारा सूक्ष्म और अमूर्त्त अनुभूतियों की ओर संकेत भी कर देते हैं। इससे ये अमूर्त्त एवं सूक्ष्म अनुभूतियाँ अभिधा का विषय न बनने तथा केवल लक्षित एवं ध्वनित होने के कारण अधिक मर्मस्पर्शी एवं सजीव हो जाती हैं। कवि की अनुभूति के विद्युतन से सजीव शब्दार्थ पाठक में वैसी ही अनुभूति जगाते हैं। बोध पक्ष का सीधा व्यवधान न होने से पाठक की अनुभूति उद्‌बुद्ध होकर चर्वणा का विषय बन जाती है। ऐसी अनुभूतियों में अधिक आह्लाद एवं तन्मयता का यही कारण है। पंचेन्द्रियों के विषयोल्लास के माध्यम से अभिव्यक्त कबीर की सौन्दर्यानुभूति में एक यह दृष्टि भी है। यहाँ पर पंचेन्द्रियों के विषय तथा सौन्दर्यानुभूति में व्यंग्य-व्यंजक भाव है। पर पंचेन्द्रियों के विषयोल्लास को केवल अप्रस्तुत-विधान अथवा प्रतीक विधान का अंग मात्र मानने से कबीर के काव्य-सौन्दर्य का पूरा साक्षात्कार नहीं होता। चक्षु आदि के मूर्त्त विषयों के अभाव में भी प्रेमातिरेक की अवस्था के कारण उन विषयों का मानस प्रत्यक्ष तथा तज्जनित तृप्ति सम्भव है। काव्य कल्पना-लोक की वस्तु है और भक्ति, ज्ञान और रहस्यवाद की अनुभूति भावना-लोक के विषय हैं। उनमें तो मूर्त्त आलम्बनों के अभाव में भी पंचेन्द्रियों के विषयों के उल्लास को यथार्थ अनुभूति ही मानना चाहिए। इनमें तो मूर्त आलम्बनों और विषयों के अभाव में पाँचों इन्द्रियाँ— मन, बुद्धि आदि अपने-अपने विषयों का मानस-प्रत्यक्ष करके तृप्त होते हैं। इस प्रकार निरुपाधिक प्रेम तथा अरूप सौन्दर्य के वर्णन में इन विषयों के उल्लास का चित्रण एक तरफ अनुभूति की यथार्थता का द्योतक तथा बढ़ाने वाला है, और दूसरी तरफ अप्रस्तुत-विधान के अंश बन कर उन सूक्ष्म अनुभूतियों की चर्वणा तथा 'हृदयस्पर्शिता का व्यंजक एवं वर्द्धक है। कबीर के सौन्दर्य वर्णन में इन दोनों रूपों का अपूर्व सामंजस्य हुआ है।

रस और भाव की कोटि

आपाततः कबीर का काव्य नीति के उपदेशों, ज्ञान-चर्चा, दार्शनिक सिद्धान्तों, योग-साधना के जटिल रहस्यों, उलटवाँसियों की रहस्यात्मक अनुभूतियों की मुक्तक साखियों तथा गेय पदों का बेमेल समूह-सा प्रतीत होता है। पर इन सबको आध्यात्मिक अनुभूति, भक्त हृदय की परानुरक्ति, रहस्यवादी की सौन्दर्य-चेतना तथा परम तत्त्व में विलय की तीव्र आकांक्षा, ज्ञान की अद्वैतानुभूति एवं लोकमंगल की भावना के व्यापक सन्दर्भ में देखने से इनके मूल में कबीर के कवि हृदय का अजस्र-स्रोत बहता प्रतीत होता है। ये सब सूक्तियाँ मात्र न रहकर आध्यात्मिक आह्लाद के अपार पारावार की लहरें-सी लगने लगती हैं। कबीर की साखियों में बिहारी आदि के दोहों की तरह रस के सम्पूर्ण शास्त्र-विधान का निर्वाह नहीं हो पाया है। इसलिए

पृथक्-पृथक् देखने पर तो ये शुष्क ज्ञानोपदेश या सिद्धान्त चर्चा ही प्रतीत होती है। कबीर के आध्यात्मिक कवि-हृदय से तादात्म्य स्थापित करने पर उनकी रचनाएँ रस से आप्लावित, हृदय की सहज एवं प्रसादगुण सम्पन्न अभिव्यक्ति प्रतीत होने लगती हैं। उनके अन्तस्तल में बहते हुए रस-स्रोत तथा इन साखियों में व्याप्त उसकी सरलता का साक्षात्कार होने लगता है। अब प्रश्न यह है कि इनमें रस कौन-सा है। वस्तुत: यह भक्ति रस है। पर सगुण भक्तों की द्वैत-भावना पर आधारित प्रेमानुभूति के आनन्द से यह भिन्न कोटि का है। इसमें ज्ञानी की अद्वैतानुभूति तथा रहस्यवादी के विलय की आध्यात्मिक अनुभूति का मिश्रण है। कबीर का मन आध्यत्मिकता एवं अद्वैतता-भावना में रमा है। यही अनुभूति रस-रूप में परिणत हुई है। इस का लौकिक तथा व्यावहारिक स्तर पर मानवता एवं नैतिकता के रूप में अनुभव हुआ है। यहाँ पर भी कबीर केवल शुष्क उपदेष्टा मात्र नहीं हैं। संसार के माया-मोह से विरक्ति, अपरिग्रह, सत्य, अहिंसा, मानव-प्रेम आदि के आपातत: उपदेश-से प्रतीत होने वाले स्थल भी कबीर के आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति से सरस हैं। ये सब नीति-सिद्धान्त कबीर के साक्षात्कृत जीवन-सत्य एवं मानव-मूल्य (Human Values) हैं, इसलिए इनकी अभिव्यक्ति भी बुद्धि से नहीं, अपितु हृदय से ही ग्राह्य हो रही है। ये रस-कोटि तक पहुँचे हुए स्थल न भी माने जायें, तब भी ये भाव कोटि के काव्य अवश्य हैं। शास्त्र परम्परा में मान्य स्थायी भावों या संचारी भावों में यह नीति सम्बन्धी अनुभूति किसी में भी अन्तर्भूत नहीं की जा सकती, पर इसका अपना एक स्वतन्त्र भावात्मक स्तर है। इसीलिए नीति-काव्य का अपना एक पृथक् प्रकार संस्कृत साहित्य में भी रहा है और हिन्दी में भी इसका पर्याप्त विकास हुआ है। कबीर की नैतिकता की आनन्दानुभूति की भी प्रधान आधार-भूमि मानवमात्र अथवा प्राणिमात्र के प्रति सहज प्रेम तथा उसकी कल्याण-कामना है। इस प्रकार यह भी उनके आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति का एक अंश है और उनकी प्रधान अनुभूति अद्वैतानुभूति का एक पोषक तत्त्व है। कुल मिलाकर कबीर की इन सभी प्रकार की अनुभूतियों के मूल में उनका भगवत्प्रेम ही अनस्यूत एवं रस-रूप में प्रवाहित है। अन्त में जाकर अद्वैतानन्द के रूप में निश्छल, शान्त, गम्भीर, एवं अपार पारावार के रूप में परिणत होता है। इसलिए रस की दृष्टि से कबीर में भक्ति-रस ही मानना चाहिए।

दूसरा प्रश्न हमारे समक्ष यह है कि कबीर की यह अनुभूति केवल काव्य स्तर की रसानुभूति ही है अथवा उसकी अतिक्रान्त अवस्था का ब्रह्मानन्द है। रहस्यवाद वाले प्रसंग में हम इस ओर संकेत कर चुके हैं। भक्ति ज्ञान और रहस्यवाद की अनुभूति निश्चय ही साधक एवं भक्त-हृदय को परमतत्त्व के साक्षात्कार तथा उसमें तन्मय होने के अलौकिक आह्लाद के रूप में होती है, जो काव्यानुभूति के स्तर से अतिक्रान्त ब्रह्मानन्द की झलक भी देती है।

मुक्तक, गीति, और प्रबन्ध

कबीर की साखियाँ मुक्तक एवं उनके पद गीति-काव्य हैं। उनमें इस गीत

के अतिरिक्त एक और काव्य-सौन्दर्य है। रहस्यवादी भक्त की अनुभूति के क्रमशः विकासशील रूप का चित्रण इन साखियों तथा पदों में हुआ है। जीवात्मा के परमात्मा के प्रति प्रेम की जागृति से तन्मयता की, पूर्ण विलय तथा आत्मसाक्षात्कार की अपरोक्षानुभूति की अवस्था तक साधक क्रमशः पहुँचा है। उसकी कृपा से साधक में जो तरम तत्व के प्रति प्रेम जगा है, वह विरह को जगाता हुआ परिचय और मिलन की अवस्था तक पहुँचा है। परमावस्था को पहुँचते साधक और भक्त जिस अलौकिक आह्लाद के पारावार में हिलोरें लेने लगता है, तथा पूर्णतया रसाक्षिप्त हृदय हो जाता है बह अवस्था उपचित हुई है। भक्ति-भाव के रस की अवस्था तक पहुँचने से पहले वह अनेक संचारी भावों से क्रमशः पुष्ट होती चलती है। इस प्रकार कबीर की प्रत्येक साखी और पद का भाव-सौन्दर्य एक तरफ सन्दर्भ से निरपेक्ष अपने आप में पूर्ण है तथा दूसरी तरफ वह पद या साखी उपचित होते हुए तथा अन्तस्तल में प्रवहमान भक्ति रस के उपचायक हैं एवं उस मूल रस को प्रतिबिम्बित भी करते हैं। इससे मुक्तक और गीतिकाव्य के अन्तस्तल में विराजमान एक विशेष प्रकार के प्रबन्ध-सौष्ठव का आनन्द भी कबीर के काव्य में आ जाता है। इस प्रबन्ध-काव्य की कोई स्थूल कहानी नहीं अपितु जीवात्मा की सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूति का विकासशील रूप ही इस प्रबन्ध का आधार बनता है। मुक्तक, गीति तथा प्रबन्ध तीनों प्रकार के काव्यों का यह अपूर्व मिश्रण तथा सूक्ष्म मानसिक स्तर की भावानुभूति के विकासशील रूप को प्रबन्धकाव्य का आधारभूत तत्त्व बनाना भक्ति-काल की काव्य-पद्धति की अपनी एक विशेष मौलिकता है। काव्य-शास्त्र की बँधी-बँधाई रूढ़ियों से ऊपर उठकर स्वच्छन्द काव्य-चिन्तन के विकास में कबीर का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कबीर की काव्य-प्रयोजन तथा हेतु सम्बन्धी धारणा में यह स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरी वह मौलिकता है, जिसका काव्य रूप से सम्बन्ध है। भक्ति को रस की गरिमा तक पहुँचाने तथा उसमें सब रसों का अन्तर्भाव करते हुए उसे रस-दशा के पद पर प्रतिष्ठित करने की मौलिकता तो भक्ति-आन्दोलन की देन है ही, इसके साथ ही रहस्यवादी प्रेम प्राचीन भक्ति-भावना तथा अद्वैत अनुभूति के अपूर्व समन्वय की नवीन भाव-भूमि के आह्लाद को जगा देना भी काव्य-क्षेत्र सम्बन्धी कबीर की एक विशेष मौलिकता है। उपर्युक्त भाव-भूमि पर आधारित प्रबन्ध, मुक्तक और गीतिकाव्य के समन्वित सौन्दर्य के जिस आदर्श की प्रतिष्ठा हिन्दी में कबीर ने की है, वह परम्परा आगे भी रही। तुलसी की विनयपत्रिका उसी परम्परा का श्रुतिपुराण-सम्मत ज्ञानी एवं सगुण भक्त की भाव-भूमि का काव्य है। कबीर-साहित्य को भी इसी विकास-परम्परा की पूर्ववर्त्ती कड़ी के रूप में आंकना चाहिए।

कबीर का साखी-साहित्य एवं मूल्यांकन

शब्दों में संकेतार्थ अथवा कोशार्थ के साथ ही गुणार्थ (Conotation) भी होते हैं। संकेतार्थ व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी होते हैं और व्युत्पत्ति से असम्बद्ध केवल संकेतमात्र से गृहीत भी। कभी-कभी संकेतमात्र से गृहीत अर्थों को भी व्युत्पत्ति कुछ अर्थ—छवि भी प्रदान कर देती है। वैसे भाषा में शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में व्युत्पत्ति की अपेक्षा प्रयोग अधिक प्रमाण है। व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ तथा प्रयोग से प्राप्त अर्थ भिन्न-भिन्न भी होते हैं। 'अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तं, अन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तं'। सभी प्रतिभा-सम्पन्न कवियों की तरह कबीर की शब्दावली में भी अनेक सन्दर्भ से प्राप्त अर्थ-छवियाँ एक साथ मिल जाती हैं। यही बात कबीर की अथवा सभी सन्त कवियों की 'साखी शब्द के बारे में भी कही जा सकती है। मूलतः 'साखी' शब्द 'साक्षी' का अपभ्रंश रूप है। इस रूप में यह शब्द उस ज्ञान, उस अनुभूति का द्योतक है, जिसे कवि ने बुद्धि से नहीं अपितु अपने अन्तःकरण से साक्षात्कार किया है। यह वह ज्ञान या अनुभूति है, जिसका कवि को प्रातिभ प्रत्यक्ष हुआ है। ऐसे ज्ञान को देने वाली रचनाएँ मूलतः साखी हैं।[1] ये साखियाँ उस ज्ञान की 'साक्षी' भी हैं अर्थात् साक्षात्कार करने और कराने वाली भी हैं। सन्त के आध्यात्मिक बोध की साक्षी या गवाह है यह साखी। इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ से तो 'साखी' इतनी व्यापक हो जाती है कि प्रत्येक कवि का बहुत-सा साहित्य इसमें अन्तर्मुक्त हो जाता है। पर, प्रवृत्ति और प्रयोग से प्राप्त अर्थ में यह बात नहीं है। 'साखी' एक सीमित साहित्य है, जिसमें 'पद' और 'रमैनी' नहीं आते, केवल सन्तों के दोहे आते हैं। अतः कुछ चिन्तकों ने 'साखी' को 'दोहे' के पर्यायवाची मान लिया है। पर यह भी समीचीन नहीं है। तुलसी की 'दोहावली' या 'रहीम के दोहे' 'साखी' नहीं कहलाते। इससे 'साखी' का कोई अन्य व्यावर्त्तक तत्त्व ढूँढ़ना पड़ता है। 'साखी' शब्द में 'सीख' की अर्थात् उपदेश की, कल्याण की कामना से उपदेश की अर्थ-छवि भी अन्तर्निहित है। कबीर की 'साखी' लिखने

1. "साखी आँखी ज्ञान की समुझि लेहु मन माँहि।
   बिनु साखी संसार का झगड़ा छूटै नाँहि॥"

प्रेरणा इस अर्थ की पोषक है। स्वयं कबीर ने कहा है 'हरिजी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर, भौसागर में जीव हैं जो कोई पकड़ै तीर।' इससे स्पष्ट है कि 'साखी' की मूल आत्मा वह साक्षात्कृत आध्यात्मिक तत्त्व है, जिसके समझने पर ज़ीव का वास्तविक कल्याण हो जाता है। पर धीरे-धीरे इस आध्यात्मिक कल्याण की भावना में ऐहिक कल्याण की कामना का मिलन भी हुआ और परिणामतः जीवन के नैतिक उपदेशों का समावेश भी 'साखी' में होने लगा। पर, ये नैतिक उपदेश उस आध्यात्मिक सन्देश के साधनभूत ही रहे, तभी 'साखी' नीति के दोहों से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रख सकीं। कबीर की साखियाँ हैं, पर रहीम के नीति के दोहे हैं।

'साखी' शब्द के साथ एक और भी अर्थ छवि जुड़ गई थी। प्रत्येक साक्षात्कृत ज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान, रहस्य और गुह्य होता है। वह प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के लिए न सुबोध होता है और न सामान्य व्यक्ति उसका अधिकारी ही समझा जाता है। ऐसी स्थिति में 'गोपनीयता' या 'कूटता' भी उसका एक तत्त्व बन गया। साखी में चिन्तन और अनुभूति की कुछ ऐसी गुत्थी हो जिसे सुलझाने के लिए एक विशेष प्रकार की बौद्धिक या साधनागत योग्यता अपेक्षित है। यद्यपि कबीर की साखियाँ उपेक्षाकृत अत्यन्त सरल एवं सहज प्रतीत होती हैं, पर उनमें कुछ गम्भीर अनुभूतिजनित तत्त्व गर्भित हैं, जिनका उद्घाटन केवल अधिकारी को ही होता है। इस प्रकार सन्तों की 'साखी' शब्द में साक्षी, सीख, अर्थ-गुह्यता तथा अर्थ-गाम्भीर्य आदि अनेक अर्थ-छवियाँ गुणार्थ (Conotation) के रूप में विद्यमान हैं। ये ही अर्थ 'साखी के व्यावर्त्तक तत्त्व हैं, जो 'साखी' को अन्य साहित्य-रूपों से पृथक् करते हैं। संकेतार्थ में चाहे 'साखी' दोहे का पर्यायवाची समझी जाती रहे। 'हिन्दी-साहित्य-कोश' में दूहे को साखी अर्थ में ग्रहण करने की बात कही गई है। पर वस्तुतः 'साखी' मात्र दोहा नहीं है। अगर 'साखी' शब्द दोहे का पर्यायवाची होता तो तुलसी को 'साखी सबदी दोहरा' के रूप में 'साखी' और 'दोहे' का अलग-अलग कथन न करना पड़ता। लगता है कि सन्तों ने दोहे का मुक्त प्रयोग किया है, वही मुक्त रूप 'साखी' नाम से अभिहित हो गया है। छन्द की दृष्टि से साखी को सामान्यतः दोहा कह सकते हैं। पर 'साखी' नाम तो उसके प्रतिपाद्य विषय के कारण है। कबीर की साखियाँ दोहे ही हैं, हाँ, वे छन्दशास्त्र के नियमों की दृष्टि से अव्यवस्थित और शिथिल अवश्य हैं पर उनमें दोहे की सामान्य विशेषताओं का निर्वाह हो गया है।

कबीर का साखी-साहित्य और उनका जीवन-दर्शन

'साखी' कबीर साहित्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश है। साखियों में कबीर का व्यक्तित्व अपनी समग्रता में अभिव्यक्त हो गया है। कबीर के भक्त, ज्ञानी, रहस्यवादी, प्रेमी एवं कवि रूपों के अतिरिक्त उनका चिन्तक व्यक्तित्व भी उनकी साखियों में पूर्णतया स्पष्ट है। साखियों में कबीर के जीवन-दर्शन की पूर्ण एवं सांगोपांग झलक मिल जाती है। मोटे तौर पर कबीर को समाज-सुधारक कहा जाता है। वास्तव में, कबीर का जीवन-दर्शन व्यक्ति के परम कल्याण को ही अपना चरम लक्ष्य मानकर

चलता है। कबीर के जाति-पाँति, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान आदि के भेदों।
निषेध आदि का समाज की पुनर्व्यवस्था से इतना सम्बन्ध नहीं है। यह सब तो व्यक्ति
में इन अहंकारों को समाप्त कर देने का सन्देश है। व्यक्ति में इन आधारों
भेद-बुद्धि नहीं होनी चाहिए। समाज-व्यवस्था की सीधे रूप में बात आधुनिक युग
विशेषता अधिक है। उस युग का सारा जीवन-दर्शन ही इस दृष्टि से व्यक्तिपरक
यह व्यक्तिपरकता जो समाज निरपेक्ष नहीं कही जा सकती है, भारतीय चिन्तन की
मूल आधार-भूमि है। यही कबीर के सम्बन्ध में भी सत्य है। कबीर के जीवन-द
का यह पक्ष साखियों में ही अधिक मुखरित है। पदों में तो कबीर का ज्ञानी मन भ
प्रेमी, रहस्यवादी और कायायोगी रूप अधिक स्पष्ट हुआ है।

आदर्श मानव—कबीर का आदर्श मानव वह है, जो जगत् में रहता हु
और संसार के दैनिक व्यवहार को चलाता हुआ भी वास्तव में मन से विरक्त
आध्यात्मिक मार्ग का पथिक है। कबीर का मानव वास्तव में निवृत्तिमार्गी ही
प्रवृत्तिमार्गी नहीं पर उसमें जबरन परिवार आदि के सम्बन्धों और जगत् के का
व्यापारों को स्वरूप से छोड़ देने का दुराग्रह और ढोंग नहीं है। वह अनासक्त
सहज भाव से व्यवहार करता हुआ अध्यात्म मार्ग का पथिक है। वास्तव में
सहज भाव का पथिक है। ऐसा ही मानव कबीर-साहित्य का वर्ण्य-विषय है;
मानव, जो एक दृष्टि से संसार से उपरत है और, दूसरे शब्दों में, षड्सम्पत्तिवान्
तथा जिसमें भगवान् के अनुग्रह से प्रेम के अंकुर फूटने लगे हैं। यही कबीरदास
आदर्श मानव है। साखियों में इस मानव के सर्वतोमुखी रूप के दर्शन होते हैं। उन
सहज दृष्टि पर जोर है।

इस ग्रन्थ का आधार कबीर-साहित्य का प्राचीनतम उपलब्ध प्रामाणिक
है। साखियों का यह अंग-विभाजन इसी निर्गुण-सम्प्रदाय के पुराने सन्तों द्वारा कि
हुआ है, अतः इन अंगों के शीर्षकों का कबीर के जीवन-दर्शन से एक वि
सम्बन्ध है। ऊपर हमने कबीर के जिस जीवन-दर्शन तथा जीव की आध्यात्मिक य
की बात कही है, उसी दृष्टि से नीचे के अंगों का विवेचन है। हाँ; इन अंगों के आ
पर कबीर की चिन्ता-धारा का पूर्णतया क्रमबद्ध एवं विकासशील रूप तो नहीं प्र
किया जा सकता है। वैसे, सन्त किसी क्रम में बँधकर अपनी चिन्ता-धारा को
भी नहीं कर रहा है। वह तो उन्मुक्त भाव से अपने मन की बात कहता चलता
इन साखियों में कबीर ने अपनी अनुभूति तथा चिंता-धारा को प्रस्तुत कर
विशृंखल, उन्मुक्त एवं 'डाइग्रेसिव' शैली का आश्रय लिया है। पर, इस उ
भाव की अभिव्यक्ति में भी कबीर का चिन्तक व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्णता के साथ
हो सका है। इन अंगों की क्रम-हीनता तथा विशृंखलता में कबीर की चिन्ता
और अनुभूति का एक क्रमबद्ध, शृंखलित एवं अन्वित रूप देखा जा सकता है।

जीव की आध्यात्मिक यात्रा

'पारस रूप' : यात्रा का चरम लक्ष्य—तत्, त्वं तथा असि पदों से परे

पद है जिसका इनमें से किसी में भी निर्वचन नहीं हो सकता वही 'पारस' रूप है। वह स्वयं अत्यन्त निर्मल एवं विशुद्ध तत्त्व है। दूसरे गुरु रूप में लोहे को कंचन बनाने वाला है। कबीर ने 'पारस' शब्द 'पारस पद' और 'पारस गुरु' दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया है। कबीर ने परमतत्त्व की प्राप्ति अथवा उनके शब्दों में पारख रूप हो जाने को ही जीवन का परम लक्ष्य तथा आध्यात्मिक यात्रा का गन्तव्य माना है। इसके लिए व्यक्ति को अपने लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन में कैसे व्यवहार करना चाहिए अथवा जीव किस प्रकार का व्यवहार करता हुआ क्रमशः उस परमतत्त्व को प्राप्त होता है, यही कबीर के साखी-भाग का प्रधानतः और वैसे सम्पूर्णतः कबीर-साहित्य का ही प्रतिपाद्य है। ऊपर जिस मानव का संकेत है, वही गुरु की कृपा से, उनके शब्द-वाणों से आहत होकर 'विरह' और 'ज्ञान विरह' में व्यथित होता हुआ, एवं प्रेम और ज्ञान की साधना को प्राप्त करता हुआ अन्त में परिचय की अवस्था को पहुँचता है। उसमें आत्म-साक्षात्कार एवं ईश्वर-प्रेम का असीम उल्लास जागता है। उसकी 'सहज' में स्थिति हो जाती है, वह 'पारख' रूप को पहचानने लगता है। वह स्वयं ही 'पारख' और 'अविहड़' रूप हो जाता है। ईश्वर के अंश के रूप में जीव का अनुभव ही भक्ति है। अंश और अंशी में अभेद हो जाना भक्ति का चरम लक्ष्य है। आत्मानुसंधान ही भक्ति है, वही ज्ञान है। संतों की दृष्टि से ज्ञान और भक्ति के इस रूप के लिए ही व्यक्ति की जीवन-यात्रा है, यही जीवन का चरम लक्ष्य है। आध्यात्मिक जीवन का तो यही स्वरूप है। यह तो अत्यन्त स्पष्ट ही है पर सम्पूर्ण जीवन-यात्रा का लक्ष्य भी, चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, सामान्य हो या असामान्य, यही है। सम्पूर्ण जीवमात्र उस परमपद की प्राप्ति की ओर ही बढ़ रहा है, वह चाहे इसे जानता है और चाहे नहीं जानता। इसीलिए कबीर ने कायायोग, लययोग, ज्ञानयोग, और प्रेमयोग—सभी योगों का लक्ष्य पारख रूप हो जाना ही माना है।

यात्रा का क्रम—कबीर इस आध्यात्मिक जीवन-यात्रा का कुछ क्रम मानते प्रतीत होते हैं, जो शायद सत-परम्परा में सर्वमान्य-सा है। साखी-साहित्य के अंगों में इसी क्रम का निरूपण है। पहले जीव को गुरु-कृपा से उस परम सुन्दर की झलक भर मिलती है। यह झलक उसमें प्रेम की अतृप्ति पैदा करती हुई प्रियतम से मिलने की तीव्र आकांक्षा एवं तद्‌जनित विरह-व्यथा जगा देती है। इन सारी अनुभूतियों के कारण जीव में जगत् के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इसी विरह से प्रेरित होकर जीव निरन्तर उस परम रमणीय की ओर बढ़ता रहता है। पर यह यात्रा सहज और सरल नहीं है। इसमें माया-मोह की अनेक उलझनें आती हैं और मन स्वभाववश उनमें फँसता रहता है। कबीर की मात्र धारणा ही नहीं अपितु उनका अटूट विश्वास है कि जीव को इस परम रमणीय तत्त्व की प्राप्ति केवल प्रेमयोग और ज्ञानयोग से ही होती है और कबीर की दृष्टि में इन दोनों का अभेद भी है। बीच-बीच में वह कहीं-कहीं प्राण और मन के नियन्त्रण के लिए हठयोग की साधनाओं में भी प्रवृत्त होता है। कबीर की दृष्टि से ये हठयोग आदि की साधनायें जीव में प्रेम और ज्ञान

को पुष्ट करने के लिए ही हैं, यही इनकी कृतकार्यता है। मोटे तौर से इस यात्रा के कुछ पड़ावों की अथवा प्रेम के पूर्ण परिपाक की कुछ अवस्थाओं की कल्पना भी कबीर साहित्य के सन्दर्भ में सम्भव है। प्रेमांकुर का फूटना, मिलन की आकांक्षा, विरह की अनुभूति, परिचय, प्रिय से पूर्ण तादात्म्य की आकांक्षा, माया आदि से उत्पन्न कुछ व्यवधान, इनकी निवृत्ति के लिए प्रेम और ज्ञान के साथ ही हठयोग, नादयोग आदि का आश्रय, अन्त में 'पारख' रूप हो जाना, परमतत्त्व में लय अर्थात् परमतत्त्व रूप होना—इस महायात्रा के ये ही कुछ पड़ाव माने जा सकते हैं। जीव की इसी परम यात्रा का वर्णन इन साखियों का प्रतिपाद्य है और अंगों के नाम इन्हीं विभिन्न पक्षों तथा यात्रा के विभिन्न पड़ावों के संकेत हैं।

अंग-विभाजन का आधार— यह ऊपर कहा जा चुका है कि सन्तों की शब्दावली में सहज, शून्य, पारख और अविहड़ परमतत्त्व के द्योतक शब्द हैं। इस परमतत्त्व की प्राप्ति सहज, पारख या अविहड़ रूप में स्थिति ही है; उस परमतत्त्व से प्रियतम के रूप में प्रेम है तथा उसका आनन्द है जो वस्तुतः आत्म-रति का आनन्द है—यही जीव का चरम प्राप्तव्य है। इसी का वर्णन साखियों में किया गया है और इसी वर्णन का विस्तार पदों में मिलता है। कबीर का प्रमुख लक्ष्य इस परमतत्त्व का वर्णन है, अतः साखियों और पदों में इसी का सबसे अधिक निरूपण है। कबीर ने इस परमतत्त्व को अनेक दृष्टियों से देखा है, अतः यह अनेक अंगों का प्रतिपाद्य हो गया है। अन्य अंग भी या तो प्रकारान्तर से इसी तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं अथवा इसी की प्राप्ति के सहायक साधनों का। गुरु कृपा से आंशिक रूप में ही अनुगृहीत शिष्य भी अपरिपक्व अवस्था में भटक सकता है, अतः उसे माया, मन आदि के कार्यों का परिचय भी आवश्यक है। उसे साधु, असाधु, सच्चे और नकली गुरु, सच्चे शिष्य के कर्त्तव्य, सदाचार-नीति आदि का ज्ञान भी होना चाहिए। यही कारण है कि माया, मन, असाध, साध बिक्रताई आदि विभिन्न अंगों का वर्णन भी कबीर ने किया है। आध्यात्मिक साधक के लिए अपेक्षित जीवन-दृष्टि की सर्वाङ्गीणता के दर्शन करा देना ही इन संतों का लक्ष्य था। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये इन साखियों की रचना हुई है। इस जीवन-दर्शन के महत्त्वपूर्ण पक्षों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये ही इन अंगों का नामकरण हुआ है। इन अंगों पर केन्द्रित होकर पाठक की दृष्टि सम्पूर्ण जीवन पर फैल जाती है और पाठक कबीर के द्वारा प्रतिपाद्य सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का साक्षात्कार कर लेता है। प्रत्येक साखी किसी एक प्रसंग से सम्बद्ध भी तथा विचार और प्रतिपाद्य की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण भी है। अतः प्रत्येक साखी एक साथ ही मुक्तक और एक सुसम्बद्ध प्रसंग तथा जीवन-दर्शन का एक अंश—दोनों है। कबीर का साखी-साहित्य एक साथ ही मुक्तक एवं व्यापक अर्थ में गृहीत प्रबन्ध दोनों का उदाहरण है। अनेक साखियों की विचारधारा अनेक अंगों से सम्बद्ध रहती है, पर एक साखी का संकलन तो किसी विशेष अंग के साथ ही सम्भव था। यही कारण है कि एक साखी एक पाठ-पद्धति में एक अंग के साथ संकलित है और दूसरी पद्धति में दूसरे अंग के साथ। कोई संत उसे एक अंग के साथ संकलित करते हैं तो

दूसरे किसी दूसरे अंग के साथ । साखी में प्रतिपादित विचारधारा के जिस अंग को सन्त ने महत्त्व दिया है उसी अंश के अनुरूप अंग में संत ने उस साखी को संकलित कर दिया है । कबीर-साहित्य की व्याख्या में दृष्टि-भेद है, वही दृष्टि-भेद अंग-विभाजन की कई पद्धतियों का भी कारण बन गया है । डॉ० पारसनाथ तिवारी ने जो अंगों को नाम और क्रम दिया है, वे इस ग्रन्थ से भिन्न परम्परा के हैं । नीचे अंगों की मूल विचारधारा का अलग-अलग परिचय है । 'अंग' शब्द प्रसंग का ही संक्षिप्त रूप है । इसमें, लक्षण, चिन्ह एवं उपादान के अर्थ भी निहित हैं ।

अंग-परिचय

(१) **'गुरुदेव कौ अंग'**—षड्सम्पत्ति वाले जीव की आध्यात्मिक यात्रा की श्रवण, मनन, निदिध्यासन और स्वरूप-स्थिति—ये चार मंजिलें हैं । कबीर में इन परम्परागत मंजिलों का यथावत निर्वाह तो नहीं है, पर अंगों में चित्रित विकासशील रूप को समझने के लिए इनको आधार माना जा सकता है । 'गुरु का अंग' मूलतः 'श्रवण' की अवस्था का द्योतक है । इस अंग में गुरु के शब्दोपदेश से जीव के तत्त्व साक्षात्कार का वर्णन है । गुरु ने शिष्य को 'मानिष' से 'देवता' कर दिया है । उसको अनन्त के दर्शन करा दिए हैं । लोक, वेद की मर्यादाओं के बंधन से मुक्त करके गुरु ने उसको ज्ञान का दीपक दे दिया है । इससे जीव को तत्त्व का साक्षात्कार हो गया है और वह जीवनमुक्त अवस्था को पहुँच गया है । उसे अपने प्रारब्धों को ज्ञान और वैराग्य-पूर्वक भोग से पूरा करना है । कबीर में शब्द-श्रवण से केवल ज्ञान ही नहीं जागता, भगवान के प्रति प्रेम भी जागता है । कबीर की साधना मूलतः प्रेम-साधना है, अतः गुरु की कृपा से 'प्रेम का बादल' बरस पड़ता है और अन्तरात्मा प्रेम से अभिसिंचित हो जाती है । इससे सम्पूर्ण जगत् ही आनन्दमय प्रतीत होने लगता है; आत्मा निर्मल हो जाती है और 'पूर्ण' से परिचय हो जाता है । यह परिचय मिलन की आकांक्षा के कारण विरह-भाव को उद्दीप्त कर देता है । इस प्रसंग में कबीर ने गुरु की महिमा तथा उसके विविध कार्यों तथा रूपों का निरूपण किया है । प्रसंगवश इस अंग में गुरु के अनेक रूपों की ओर भी तथा सद्गुरु और पारख-गुरु के सर्वोपरि महत्त्व का संकेत भी है । पारख-गुरु तो साक्षात् भगवान रूप ही हो जाता है । साथ ही, कबीर में शिष्य की ग्रहणशीलता तथा उसके पात्र-अपात्र रूपों का भी संकेत है ।

(२) **'सुमिरण कौ अंग'**—इस अंग में 'मनन' की अवस्था का वर्णन है । 'सुमिरण' मनन का ही दूसरा रूप है । इस अंग में नाम-स्मरण और ध्यान-योग से प्राप्त अनुभूतियों का वर्णन है । जिह्वा-मात्र के द्वारा नामजप से लेकर परमतत्त्व के चिन्तन, मनन एवं उसके ध्यान तक सब सुमिरण ही है । इस शब्द में भगवान के स्मरण एवं 'सुरति' वाला अर्थ भी निहित है । इस अंग का स्मरण केवल बौद्धिक क्रिया मात्र नहीं है, अपितु इसमें हृदय का पूर्ण योग है, क्योंकि मूलतः कबीर प्रेमयोगी हैं । यह 'स्मरण' प्रेमानुभूति रूप है, जो ध्यान एवं प्रेम-समाधि में परिणत होती है । इस प्रकार इस अंग का मनन तत्त्व 'निदिध्यासन' की सीमाओं को छू रहा है । प्रेम के

विरहानुभूति इस उत्कट स्मरण की सहज परिणति हैं। यही कारण है कि अगले दो अंग 'बिरह कौ अंग' और 'ग्यान-विरह कौ अंग' हैं।

(३) **'विरह कौ अंग'**—इसमें कवि ने जीवात्मा के ईश्वर-प्रेम, उससे मिलन की तीव्र आकांक्षा तथा विरह से जनित व्यथा का चित्रण किया है। कबीर में प्रेम-सामान्य तथा दाम्पत्य-भाव के विरह का ही चित्रण अधिक है, पर 'पूत पियारो पिता कों' जैसी साखियों में वात्सल्य-भाव का विरह भी वर्णित है। प्रेम-सामान्य तो दाम्पत्य आदि नाम-रूपों से रहित, उनसे ऊपर पर उनमें भी व्याप्त तत्त्व है। यही कबीर के प्रेम का मूल स्वरूप है। शेष तो उपाधि हैं—कहने के प्रकार मात्र हैं। कबीर इस शरीर से पारस रूप के दर्शन के तथा पारस-रूप हो जाने के आकांक्षी हैं।

(४) **'ग्यान-विरह कौ अंग'**—प्रेम स्वरूपज्ञान एवं अभेद-प्रतीति का सबसे बड़ा हेतु है। प्रेम ने कबीर में अद्वैतज्ञान जगा दिया है और उसमें ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी है। इसी से अंग में जीवात्मा की ज्ञान और साधना से उत्पन्न विरह-व्यथा का चित्रण है। यह ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित हो जाने के बाद की अवस्था है। इस अवस्था में जीव एक तरफ परमतत्त्व से तदाकार हो जाने तथा परिचय एवं आत्मरति की अवस्था तक पहुँच जाने की आतुरता तथा दूसरी तरफ जगत् की बाधाओं से उत्पन्न विकलता का अनुभव करता है; उसमें जगत् के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इन सबका चित्रण ही इस अंग का विषय है।

(५) **'परचा कौ अंग'**—विरह और वैराग्य की तीव्रता भगवान से मिलन एवं उनके स्वरूप-साक्षात्कार में परिणत होती है। इसी का वर्णन इसमें है। इस अंग में कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम, ज्ञान-भक्ति तथा नादयोग, सुरतियोग आदि अन्य साधनाओं से प्राप्त परमतत्त्व के साक्षात्कार से जनित आनन्दानुभूति का चित्रण किया है। यह आनन्दानुभूति अनन्त एवं अदभुत प्रकाश के दर्शन, मोहित करने वाली सुगन्धि, असीमता के ज्ञान, कार्य-कारण सम्बन्धों से परे की उपलब्धि आदि के आनन्दों के अनेक प्रतिबिम्बों द्वारा व्यंजित है। इस अंग में आध्यात्मिक आनन्द की असीमता की अनेक प्रकार से अनुभूतिमयी व्यंजना हुई है। यह ज्ञानी, भक्त, प्रेमयोगी और रहस्यवादी के सम्मिलित रूप की आनन्दानुभूति है जो 'पति संग जागी सुन्दरी' जैसी पंक्ति से स्पष्ट है। जब किसी स्त्री को जागने पर यह अनुभव होता है कि प्रिय उसके साथ ही सोया हुआ था, तो उस समय उसे कितने आनन्द का अनुभव होता है। यही 'परचा' की अवस्था है। यह ज्ञान और प्रेम से जनित कितनी अभेद एवं आनन्दमयी स्थिति है!

'परचा' अर्थात् आत्म-साक्षात्कार और तद्जनित आनन्द की अवस्था जीव को अभिभूति करने वाली होती है तथा इसकी मस्ती छाई रहती है। इसमें जीव बहुत समय तक झूमता रहता है। यही कारण है कि आगे के कुछ अंगों में कबीर ने इसी आनन्द की अवस्था का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है अर्थात् उसके अन्य पक्षों के अनुभूतिमय चित्र दिये हैं।

(६) 'रस को अंग'—'परिचय से आनन्द का समुद्र लहराने लगता है। इसी आनन्द-समुद्र में अवगाहन की आनन्दात्मक अनुभूति का वर्णन इस अंग का विषय है। तत्त्व के साक्षात्कार एवं परमतत्त्व के प्रेम से जनित आनन्द ही 'महारस' है। वह सब रसों से ऊपर है। सब रस उसमें समाहित हो जाते हैं। उसी 'महारस' की अनुभूति का वर्णन इस अंग का प्रतिपाद्य है। यह आनन्द शाश्वत एवं अपरिमित है। इस रूप का वर्णन आगे के अंग में है।

(७) 'लाँबी को अंग'—'लाँबी' से कबीर ने असीमता का अर्थ लिया है। ऊपर वर्णित 'रस' अनन्त और अमन्द है। तत्त्व का जब एक बार साक्षात्कार हो जाता है, ईश्वर-प्रेम का रस जब एक बार प्रवाहित होने लगता है, तो वह कभी समाप्त नहीं होता। यही इस अंग में प्रतिपादित है।

(८) 'जर्णा या जरणा को अंग'—जरणा या जर्णा शब्द में कई अर्थ-ध्वनियाँ हैं। इसका एक अर्थ है—प्रशंसा। इस अंग में इस परमतत्त्व को वर्णनातीत बताकर उसकी अनेक रूपों में प्रशंसा की गई है। परमतत्त्व को किसी भी शब्द का अभिधेयार्थ नहीं माना जा सकता है। पर, इसके साथ ही सब कुछ उसी में अनुस्यूत है, सब उसी में समाहित है। 'जरणा' का एक अर्थ 'पाचन' भी है। इस प्रकार सबको आत्मसात् करने वाला, सबको पचा जाने वाला तत्त्व स्वयं भी 'जर्णा' है अर्थात् पाचन रूप है, आत्मसात रूप है। 'जरणा' का एक अर्थ है, जो तत्त्व जीर्ण न हो। परमतत्त्व ऐसा ही है। इस प्रकार इन सभी अर्थध्वनियों के आवरण में परिचय रूप परमतत्त्व का निर्वचन ही इस अंग का प्रतिपाद्य है।

(९) 'हैरान को अंग'—परमतत्त्व शब्दातीत है। पर, पंडित लोग उसे शब्दों में बाँधना चाहते हैं, इसी में कबीर की बुद्धि 'हैरान' है। वह परमतत्त्व के वर्णनातीत स्वरूप के साक्षात्कार से भी आश्चर्यचकित है। इस रूप में भी वह हैरान है। 'केशव कहि न जाय का कहिये' वाली स्थिति ही यहाँ कबीर की है।

(१०) 'लै को अंग'—इस परिचय की अवस्था में सब कुछ लय को प्राप्त हो जाता है। 'परचा' के अंग में 'उनमन' अवस्था की प्राप्ति, अनहद नाद का साक्षात्कार, सहस्रार कमल में स्थिति, मानसरोवर में स्नान, सुरतियोग से जन्य स्थिति, सहज अवस्था की प्राप्ति—इन सभी अवस्थाओं का 'परचा' में अन्तर्भाव बताया गया है। 'परचा' में ये सब अपने आप प्राप्त हो जाती हैं अथवा ये सब परिचय-प्राप्ति के साधन हैं। इसी तथ्य की संक्षेप में इस अंग में पुनः स्थापना है। 'सुरति ढीकुली,' 'सहज सुंनि' आदि से इसी ओर संकेत है।

(११) 'निहिकर्मी पतिव्रता को अंग'—'परचा' से भगवान के प्रति जीव में जो प्रेम जागा है, उसका सघन होकर अनन्य हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी ही जीवात्मा के अनन्य भाव से ईश्वर रूप पति में अनुरक्त होने तथा उसके पतिव्रता रूप का चित्रण ही इस अंग का विषय है। ऐसी अनन्य प्रेमिका संसार के सब सुखों तथा

अन्य साधनाओं के आनन्द का तुच्छ समझने लगती है। उसका प्रेम भी सकाम नहीं रहता, प्रेम स्वयं साध्य हो जाता है। उसके सब कर्म छूट जाते हैं, वह नैष्कार्म्य प्राप्त होकर स्वयं प्रेम-रूप हो जाती है। ऐसी जीवात्मा संसार की दृष्टि से 'निकर्मी' अर्थात् अनुपयोगी एवं व्यर्थ हो जाती है। इस प्रकार 'निहिकर्मी' के निष्काम निष्कर्मी तथा निकर्मी सभी अर्थों का ग्रहण है। परिचय प्राप्त जीवात्मा का स्व इन तीनों अर्थों से व्यक्त होता है।

एक बार की जागी हुई सच्ची ज्ञानाग्नि और सच्ची प्रेमाग्नि कभी बुझ नहीं, पर संसार के माया-मोह से उसके कुछ काल के लिए धूमिल हो जाने का तो है ही। साधक आत्मा के भी भटकने एवं पतन की सम्भावना है। इसी से कवी ने आगे के कुछ अंगों में इस भटकाव के स्वरूप तथा उससे बचने की चेतावनी दी है

(१२) 'चितावणी कौ अंग'—इसमें संसार की नश्वरता एवं क्षणभंगुरता ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए वासना, अहंकार और नश्वर जीवन के प्रति आसक्ति विरुद्ध चेतावनी दी गई है। आध्यात्मिक यात्रा के जीव के लिए यह चेताव आवश्यक है। कबीर कहते हैं कि जीव देश और काल के अहंकार में अपने मूलत अर्थात् ज्ञान और प्रेम को खो देता है। मान या अहंकार रहता है तो 'पीव' अर्था प्रेम से हाथ धोना पड़ता है। मानव शरीर और यह आध्यात्मिक प्रेम केवल प्रिय प्राप्त हुआ है, वह हर मूल्य पर संरक्षणीय है। आध्यात्मिक प्रेम का मार्ग 'डाग पर दौड़ना है, तलवार की धार पर चलना है।

(१३) 'मन कौ अंग'—इस भटकाव का कारण मन है, अतः प्रसंगानु कबीर ने मन के स्वरूप का चित्रण किया है। मन ही सब बन्धनों और मोक्ष कारण है। यही कारण है कि इस अंग में मन के आसक्ति वाले स्वरूप से ले समाधि की अवस्था तक तक के स्वरूप का वर्णन है। परमतत्त्व से साक्षात्कार क वाली मन की अवस्था की ओर भी संकेत है। इस अवस्था को भी मन ही कहा गया इस अवस्था का परमतत्त्व से अभेद हो जाता है, अतः वह संत-साहित्य में परमत की वाचक भी बन गयी है।

(१४) 'सूषिम कौ अंग'—'मन कौ अंग' से सम्बन्ध पहले जोड़े रखकर अंग में मन की संसारोन्मुखी प्रवृत्ति का भी संकेत हुआ है उसके बाद 'सूक्ष्म तत्त्व' प्राप्ति की प्रेरणा एवं उस प्राप्ति के मार्ग की दुर्गमता का चित्रण है। 'कायायोग' कठिन भूमिकाओं की ओर उस दुर्गमता के बोध के लिए ही संकेत किया गया है। तत्त्व की प्राप्ति 'सुरति' में प्रतिष्ठा तथा जीवन्मुक्त अवस्था में स्थिति ही है। 'सू की मारग' वास्तव में परलोक-यात्रा है। असली यात्रा तो उन्हीं की है, जो ईश्वर प्राप्त करने के लिए जा रहे हैं। वह स्थिति मन-वाणी से परे आनन्दमय स्थि है। उसी को कबीर ने शून्य-शिखर पर पहुँचना कहा है। इससे उसकी दुर्ग व्यंजित है। पर सामान्य जन भी परलोक-यात्रा करते ही हैं। वह भी वस्तुतः ईश् प्राप्ति के लिए ही यात्रा है। वह मार्ग भी सूषिम ही है। पर, इसे सामान्य

जानता नहीं। उसे न स्वामी से परिचय है और न वह कर्मों का भार ही फेंकता है। सूक्ष्म मार्ग में इनके लिए कहाँ स्थान है? इस द्विमुखी अज्ञान के कारण उनके मार्ग भी दुर्गम ही हैं। वस्तुतः जिन्हें ज्ञान और प्रेम से ईश्वर प्राप्ति होती है, वे उत्तम अधिकारी हैं। उनको परमतत्त्व की प्राप्ति सहज ही हो जाती है, शेष के लिए वह दुर्गम है। उनको कायायोग आदि का आश्रय लेना पड़ता है, पर उनकी गति कभी नहीं है।

(१५) 'माया कौ अंग'—माया 'सूक्ष्म तत्त्व' की प्राप्ति में बाधक है, अतः चेतावनी के लिए उसके स्वरूप से परिचय आवश्यक है। कबीर ने माया का तात्त्विक विवेचन तो अन्य अंगों में किया है। यहाँ उन्होंने 'माया' की आवरण एवं विक्षेप शक्ति का अधिक विशद् वर्णन किया है। इसमें उसके मोहनी रूप के प्रभाव तथा संतों एवं भक्तों के उसके प्रति रुख का चित्रण है। माया बड़ी प्रभावशालिनी है। वह सारे संसार को भगवान् से विमुख करती रहती है। जीव और परमतत्त्व के बीच भेद-बुद्धि का कारण माया ही है। जो माया के पीछे पड़ता है, उसके हाथ वह नहीं आती, परन्तु जो उसके प्रति अनासक्त हो जाता है, उसके पीछे वह स्वयं पड़ जाती है। संत के लिए वह दासी है। अन्त उसके भोगों को भोगता हुआ भी उसे छोड़ रहता है, उससे अनासक्त रहता है। माया उससे 'लातों छड़ी' होकर भी उसे आशिष ही देती है। अर्थात् माया एक तरफ मोह का हेतु है, तो दूसरी तरफ सन्त के लिए परमतत्त्व के साक्षात्कार का माध्यम भी है।

(१६) 'चाँणक कौ अंग'—चाणक का अर्थ विवेचन करने वाला अर्थात् उचित-अनुचित को अलग करके समझने वाला विवेकी है। वही वास्तव में नीतिज्ञ है। कबीर वास्तविक नीतिज्ञ उसी को मानते हैं, जो सांसारिक बन्धनों, सम्मान और अहंभाव को छोड़कर 'अलख' की ओर बढ़ता है। वास्तविक विवेकी ढोंगी और सन्त में तथा वास्तविक आध्यात्मिक साधना और सिद्धि आदि के प्रेम एवं सांसारिक वैभव के प्रति मोह में अन्तर कर लेता है। जीवन की सहज एवं मानवतावादी दृष्टि को अपनाना ही वास्तविक 'चाणक' का कार्य है।

(१७) 'कथणी करणी कौ अंग'—सहजता कबीर का जीवन-दर्शन है। वह आध्यात्मिक साधना एवं लौकिक साधना दोनों के लिए अपरिहार्य है। कथणी और करणी में एकरूपता उसका प्रथम लक्षण है। कबीर कथणी और करणी की एकरूपता को सम्पूर्ण जीवन का सहज एवं निश्छल रूप मानते हैं। यही वास्तव में सत्य में प्रतिष्ठा है। इसके बिना जीव अपना परम लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता है। सच्चाई का जीवन इसी से मिलता है। कबीर तो सच्ची कथणी की अपेक्षा भी सत्याचरण को अधिक महत्त्व देते हैं। कहने से नहीं, करने से ही जीवन का लक्ष्य प्राप्त होता है। कबीर भी 'निसि ग्रिह मध्य दीप की बातनि तम निवृत्त नहीं होई' के समर्थक हैं।

(१८) 'कामी कौ अंग'—इस अंग में भी चेतावनी और चाणक की विचार-धारा को आगे बढ़ाया गया है। कबीर 'कामुकता' को ईश्वर-प्रेम, ज्ञान-वैराग्य एवं

जीवन को सहज रूप का शत्रु मानते हैं। काम-वासना का आलम्बन मान कर कबीर ने नारी की निन्दा की है। पर नारी के प्रेम की तो उन्होंने भरपेट भर्त्सना की है। प्रकृति, जो नारी रूप है, असंग पुरुष में भी आसक्ति पैदा करके उसे जगत् में लिप्त कर देती है। संतों की दृष्टि से आध्यात्मिक मार्ग का सबसे बड़ा अवरोधक काम है। ज्ञानमार्गी भक्ति में कामासक्ति भक्ति के रूप में परिणत नहीं होती, अतः वहाँ काम पूर्णतः त्याज्य है। यहाँ पर 'काम' शारीरिक स्तर की यौन-भावना के अर्थ तक ही सीमित है।

(१९) 'सहज कौ अंग'—'सहज' कबीर के आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों जीवन-दर्शनों का मूलभूत तत्त्व है। उसका निरूपण आवश्यक है। इस अंग में यह हुआ है। कबीर परमतत्त्व और उस परमतत्त्व के साक्षात्कार की अवस्था को क्रमशः सहज एवं सहज-समाधि कहते हैं। इसके अतिरिक्त कबीर के लिए सहजता एक जीवन-पद्धति भी है। यह व्यक्ति द्वारा कर्त्ता, भोक्ता, वैराग्य, प्रवृत्ति पथ-साधना आदि सभी के अहंभाव को छोड़कर सहज-रूप से चलने की पद्धति है। सहज के इन सभी रूपों का निरूपण इस अंग की साखियों में किया गया है। मध्यकाल में 'सहज' के नाम पर जो ढोंग चल पड़ा था उसके उन्मूलन के लिए 'सहज' का सच्चा परिचय अपेक्षित था। सच्चा सहज भाव ईश्वर-प्रीति को जन्म देने वाला तथा उसका परिणाम दोनों है। यही कबीर का दर्शन है।

(२०) 'साँच कौ अंग'—सहज और 'साँच' (सच्चाई) का चोली-दामन का सम्बन्ध है। जीव की आध्यात्मिक यात्रा की सफलता के लिए ये दोनों ही अपरिहार्य हैं। यही कारण है कि सन्तों के जीवन-दर्शन में हृदय की सच्चाई का बहुत बड़ा महत्त्व है। उनकी साधना का वास्तविक आधार सच्चाई है। वे भक्ति, साधना, जगत्-व्यवहार सभी में विधि-विधान, औपचारिकता, दिखावे आदि की उपेक्षा कर भाव की सच्चाई को अधिक महत्त्व देते हैं। इस अंग में सत्य-प्रेम, सत्य-निष्ठा और सत्याचरण का प्रतिपादन है।

(२१) 'भ्रम विधोषण कौ अंग'—'साँच' के स्वरूप-निरूपण को ही, आगे बढ़ाते हुए कबीर कहते हैं कि भगवान् सर्वव्यापी है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा ही है। इस सच्चाई की उपेक्षा करके जो पत्थर की मूर्त्ति को ही भगवान् समझते हैं, ऐसे बुतपरस्तों के भ्रम का विध्वंस ही इस अंग का प्रतिपाद्य है।

(२२) 'भेष कौ अंग'—'साँच' की प्रतिष्ठा के लिए ही कबीर ने बाहरी भेष की निन्दा की है। वे तो असली वैराग्य के समर्थक हैं। उस वैराग्य का माला आदि बाहरी उपकरणों तथा उनसे प्राप्त भेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह प्रेम और ज्ञान से प्राप्त होता है।

(२३, २४) 'कुसंगति कौ अंग', 'संगति कौ अंग'—सत्याचरण एवं सत्य के साक्षात्कार के लिए सत्संगति अपरिहार्य है। अतः इस अंग में सत्संगति की महिमा

का वर्णन तथा कुसंगति की भर्त्सना की गई है। संगति से ही व्यक्ति महान् अथवा तुच्छ होता है। शुद्ध चैतन्य माया के संसर्ग से जीव-भाव को प्राप्त होता है और संत और गुरु की संगति से वह (जीव) पुनः मुक्त हो जाता है।

(२५) 'असाध कौ अंग', 'साध को अंग', 'साध-साषीभूत कौ अंग', 'साध महिमा कौ अंग'—'संगति' का प्रश्न उठते हुए 'साध', 'असाध' के स्वरूप पर विचार कर लेना भी स्वाभाविक है। अतः आगे दो-तीन अंगों में कबीर ने इन्हीं का विवेचन किया है। 'साध' के स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए पहले 'असाध' के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए, ताकि व्यावर्त्तन से 'साध' को समझ भी सकें तथा उसकी संगति भी कर सकें। 'साध' के स्वरूप का निरूपण 'साध कौ अंग', 'साध साषीभूत कौ अंग' और 'साध महिमा कौ अंग' तीनों में मिलकर ही हुआ है, अतः इनका साथ विवेचन समीचीन है।

हरि-विमुख, कठोर-हृदय, केवल भेषधारी तथा अपराध की करतूत करने वाला 'असाध' होता है। कबीर ने सच्चे वैष्णव को साध तथा शाक्त अर्थात् हरि-विमुख एवं प्रेम और करुणा-शून्य हृदय को असाध कहा है। वस्तुतः साध वही है, जिसने तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है और जिसमें ईश्वर का प्रेम जाग गया है। ऐसा साध ईश्वर-वियोग में 'क्षीणतनु' एवं 'जग से रूठा हुआ' अर्थात् विषय-विमुख हो जाता है। वह भगवान् के विरह में जल-विहीन मछली की तरह तड़फड़ाता रहता है, उसे दिन-रात नींद नहीं आती। ऐसे साध में आकांक्षाएँ समुद्र की लहर की तरह उठकर चारों ओर व्याप्त नहीं होतीं, अपितु उठकर केन्द्र में अर्थात् आत्मा में विलीन होती रहती हैं। कबीर ने 'साध' के लक्षणों का निरूपण करते हुए साध को 'निरबैरी', 'निहकाम', 'साँई से नेह करने वाला' और विषयों से विरक्त कहा है—

"निरबैरी निहकामता साईं सेती नेह।
विषया सूँ न्यारा रहै, संतनि का अंग ऐह॥"

ऐसे साध की संगति की महिमा का ही गुण-गान कबीर ने किया है। ऐसे साध की संगति का प्रभाव चन्दन के वृक्ष के प्रभाव के समान होता है, वही दूसरों को भी साध बना लेता है; उसमें भी ईश्वर-प्रेम, वैराग्य आदि जगा देता है।

आगे 'मधि कौ अंग', 'सारग्राही कौ अंग', 'विचार कौ अंग', 'उपदेश कौ अंग', 'वेसास कौ अंग', 'पीव पिछाणन कौ अंग', 'बिर्कताई कौ अंग' और 'सम्रथाई कौ अंग' में व्यक्ति में जागने और पुष्ट होने वाली विशेषताओं एवं शक्तियों का कारण 'साध संगति' है। इस प्रकार इन अंगों में चिन्तन की विकासशीलता और क्रमबद्धता देखी जा सकती है।

(२६) 'मधि कौ अंग'—साध-संगति से व्यक्ति 'मधि' अवस्था को पहुँच जाता है। कबीर के 'मधि' शब्द में अनेक अर्थ-ध्वनियाँ हैं। यह भोग और वैराग्य तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से परे रहने की अवस्था है। यह अतिवादी दृष्टियों

है अलग समरसता की अवस्था का द्योतक शब्द है। 'मधि' वह अवस्था है, जहाँ रात-दिवस की गति नहीं है। यह शून्य शिखर पर पहुँच जाने की अवस्था है। यह शब्द परमतत्त्व और सहज-समाधि का अर्थ भी देता है। यह भी स्पष्ट है कि इसमें 'मध्यमा प्रतिपदा' की अर्थ-छवि की भी झलक है। पर, यह मात्र 'मध्यमा प्रतिपदा' नहीं है।

(२७) 'सारग्राही कौ अंग'—'सत्संगति' से व्यक्ति में सारग्रहण की क्षमता जाग जाती है। वह हंस की तरह नीर-क्षीर में विवेक करने लगता है। कबीर की दृष्टि से भगवान् का प्रेम क्षीर है तथा जगत् के अन्य सब व्यवहार केवल जलरूप हैं। हँस-जीव जगत् की माया को छोड़कर ईश्वर-प्रेम में रमता है। वह मधु को ग्रहण करने वाले भ्रमर की भाँति सम्पूर्ण अन्तःकरणों में व्याप्त ईश्वर-तत्त्व और भगवत्प्रेम को ग्रहण करता रहता है।

(२८) 'विचार कौ अंग'—'विचार' का अर्थ कबीर ने 'विवेक' लिया है। अद्वैत का साक्षात्कार ही मूल विवेक है। इस विवेक से सम्पन्न होने पर जीव का 'आप' 'पर' का भेद मिट जाता है, उसमें द्वैतबुद्धि नहीं रह जाती, वही विवेक की स्थिति है। अभेद का शब्द-ज्ञान प्राप्त करना मात्र अद्वैत का साक्षात्कार या विवेक नहीं है, अपितु ईश्वर-प्रेम को जगत् के झंझटों से मुक्त करना विवेक है। मोतियों की माला की भाँति जगत् के झंझटों में फँसकर ईश्वर-प्रेम की माला कहीं टूट न जाय; सारे जगत् और उसके विषयों में भगवान् रस रूप में व्याप्त है, यही अनुभूति विवेक है।

(२९) 'उपदेश कौ अंग'—इसी विचार या विवेक का उपदेश 'उपदेश कौ अंग' में दिया गया है। इसका उद्देश्य जीवन में ईश्वर के प्रति अनन्य विश्वास जगाना है जिसका निरूपण अगले अंग में है।

(३०) 'बेसास कौ अंग'—इस सम्पूर्ण अंग की विचारधारा को निम्नलिखित श्लोक के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥"

जिसने जठराग्नि में भ्रूण की रक्षा की है, उस भगवान् पर पूर्ण विश्वास ही जीव का कर्त्तव्य है। वही प्रेम, ज्ञान एवं परिचय का मार्ग है। भगवान् चिन्तामणि रूप है, चिन्तनमात्र से सब कुछ देने वाला है। जीव को अपनी चिन्ता की क्या आवश्यकता है, भगवान् जीव की स्वयं ही चिन्ता करता है। उसी का चिन्ता हुआ होता है। जीव के जो कुछ कर्म में लिखा हुआ है, वही होगा—यह मानकर यथालाभ सन्तोष से भगवान् में अटल विश्वास जागता है। एक प्रकार से इस बेसास में समर्पण भाव, प्रपत्ति एवं अनुग्रह का मिलन है। भगवान् के प्रति अनन्य विश्वास के बिना सारी उपासना, पद-गान आदि व्यर्थ हैं।

(३१) 'पीव पिछांणन कौ अंग'—जिस भगवान पर—पति पर—अनन्य विश्वास करना है, उसके स्वरूप को पहचानना अत्यन्त आवश्यक है। इसी का निरूपण

इस अंग में है। कबीर का भगवान् (पति) सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वह केवल मूर्त्ति में सीमित रहने वाला नहीं है। सीमित तो कबीर का पति हो ही नहीं सकता है।

(३२) 'बिर्कताई कौ अंग'—ऐसे पति के प्रति अनन्य विश्वास जागने, उसे पूर्णतया सर्वव्यापी रूप में पहचानने एवं उसके प्रति परम प्रेम जागने के परिणाम-स्वरूप नश्वर संसार के प्रति वैराग्य जाग जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। चित्त चैतन्य में प्रतिष्ठित होकर संसार से विमुख हो जाता है। इससे पूर्व मन संसार में रचा-पचा था, पर अब उसे वही संसार विष-सा लगने लगता है। जहाँ विरक्तता अनन्य विश्वास से जागती है, वहाँ भगवान् के सर्व समर्थ रूप में जीव के अनन्य विश्वास को और भी पुष्ट कर देती है। अगले अंग में इसी का निरूपण है।

(३३) 'समथाई कौ अंग'—धीरे-धीरे भगवान् की सामर्थ्य में तथा अपनी असमर्थता में जीव का विश्वास बढ़ता जाता है। भगवान् के करने से सब कुछ होता है। वे राई का पर्वत और पर्वत की राई कर देते हैं। पर, जीव के करने से कुछ नहीं होता। वह व्यर्थ ही कर्तृत्व के अहंकार का वहन करता है। संसार की चहुँदिशि की आग से केवल भगवान् ही बचाने वाले हैं। इस अंग में कबीर ने भगवान् की सर्व-शक्तिमत्ता के प्रति अपने विश्वास की अनुभूतिमयी अभिव्यक्ति की है।

(३४) 'कुसबद कौ अंग'—इस अंग की विचारधारा का 'सन्त' के स्वरूप से सीधा सम्बन्ध है। अतः इन साखियों का उस अंग में होना ही अधिक समीचीन होता। अगला अंग 'सबद कौ अंग' है। शायद इसी से पूर्व का अंग 'कुसबद कौ अंग' रखा गया है। इसमें कोई विशेष तर्कसंगतता तो नहीं है। अस्तु, सन्त वही है जिसमें कुशब्दों अर्थात् प्रतिकूल एवं निन्दा के शब्दों को सहन करने की सहिष्णुता हो। जब तक मान-सम्मान की भावना है या किसी सिद्धान्त के प्रति मोह और आग्रह है, तब तक व्यक्ति अनुकूल और प्रतिकूल शब्दों में भेद करता रहता है। पर जो अपने स्वरूप में स्थित है, उसके लिए न कोई सुशब्द रह जाता है और न कुशब्द ही। ऐसा ही सन्त कुशब्दों से क्षुब्ध नहीं होता है।

(३५) 'सबद कौ अंग'—गुरु के शब्दोपदेश से ही समर्थ का साक्षात्कार होता है। तत्त्व-ज्ञान और ईश्वर-प्रेम का यही साधन है। गुरु के शब्दों से शिष्य का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है; क्योंकि ये शब्द ईश्वर-प्रेम की मार्मिक व्यथा जगाने वाले होते हैं। इस अंग की साखियों का 'गुरु कौ अंग' से सीधा सम्बन्ध है। इस अंग में 'शब्द' से नाद का, अनाहत नाद का अर्थ भी लिया गया है। यह नाद-तत्त्व शरीर में ही नहीं, अपितु शरीर के बाहर भी व्याप्त है। यह परमतत्त्व है। गुरु का 'शब्द' इस नाद का साक्षात्कार करा देता है। इस साक्षात्कार से शिष्य जीवनमृतक की अवस्था को पहुँच जाता है।

(३६) 'जीवन-मृतक कौ अंग'—शब्द' के प्रभाव से शिष्य 'जीवन-मुक्त' हो जाता है; उसी का निरूपण इस अंग में किया गया है। 'जीवन-मुक्त' के समान ही

सन्त-सम्प्रदाय में जीवन-मृतक की एक धारणा प्रचलित है। जब व्यक्ति विषय-वासनाओं और निकृष्ट अहं के लिए मर जाता है, पर वैसे जीवित रहता है अर्थात् उसका प्राण-संचार होता रहता है और वह सामान्यतः जगत् का व्यवहार करता हुआ भी प्रतीत होता है, उस अवस्था में वह जीवन-मृतक कहलाता है। इस अवस्था में साधक विषय-भोगों से अनासक्त एवं विरक्त होकर ज्ञान और भक्ति का जीवन व्यतीत करने लगता है। इसी से मिलती-जुलती 'मरजीवा' की एक भावना सन्तों में और रही है। 'मरजीवा' शब्द में भी कई अर्थ निहित हैं, मरकर जीना तथा मर्जी प्राप्त। जीवन-मृतक में—इन दोनों अर्थों की विशेषताएँ मिलती हैं। जीवन-मृतक की कल्पना में इन वासनाओं और निकृष्ट अहं की दृष्टि से मरकर उत्कृष्ट अहं को बनाये हुए जीने तथा 'भगवान् की मर्जी' अर्थात् अनुग्रह प्राप्त करने की भावना निहित है। 'मरजीवा' का एक अर्थ 'गोताखोर' भी है। वह मृत्यु से निर्भीक होकर अर्थात् अपने को मरा समझकर ही समुद्र में गोता लगाता है और मोती प्राप्त कर लेता है। वैसे ही सन्त भी इस नश्वर जीवन से मरकर चैतन्य समुद्र में गोता लगाता है और मुक्ति रूपी मोती प्राप्त कर लेता है। यह सब शब्द का ही प्रभाव है।

'जीवन-मृतक' अवस्था की प्राप्ति का प्रयोजन ईश्वर से सहज प्रेम जगाना है। यह अवस्था सच्चे गुरु की कृपा से सच्चे शिष्य में ही जाग सकती है। अतः कबीर ने 'चितकपटी' का परिचय देकर उससे बचने तथा सच्चे गुरु एवं सच्चे शिष्य की तलाश की सलाह दी है, क्योंकि गुरु और शिष्य में पारस्परिक सच्चे प्रेम के जागने से ही शिष्य में ईश्वर-प्रेम के जागने की सम्भावना है। यही विचारधारा आगे के कुछ अंगों का विषय है।

(३७) **'चितकपटी कौ अंग'**—जहाँ पर कपटपूर्ण व्यवहार है, वहाँ जाने से कबीर रोकते हैं। जिसमें सहज भाव है, या तो उसका हृदय निर्मल है या वह हरिभक्त है। जिस भावना का मूल मात्र वासना है, वह सच्चा प्रेम नहीं।

(३८) **'गुरु-सिष हेरा कौ अंग'**—सच्चा गुरु और सच्चा शिष्य दोनों ही अत्यन्त विरल हैं। सच्चा गुरु सच्चे शिष्य को हेरता रहता है और सच्चा शिष्य सच्चे गुरु को। संसार में सभी त्रिगुणात्मक माया से प्रेम करने वाले हैं। सच्चे गुरु और शिष्य—ये दोनों, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर प्रियतम के प्रेम से घायल होते हैं। ऐसे शिष्य में पूर्ण समर्पण भाव होता है और गुरु में अनुग्रह। गुरु शिष्य से सच्चा प्रेम करता है और शिष्य गुरु से। इसलिए इन दोनों का मिलन प्रेमी से प्रेमी का मिलन है। प्रेम का देना और उसकी प्राप्ति समान रूप से ही आनन्दप्रद है, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते है; अतः अमृत रूप है। गुरु और शिष्य का मिलन भी अमृत ही है।

(३९) **'हेत, प्रीति, सनेह कौ अंग'**—इस अंग में कबीर ने प्रेम की अनन्यता तथा उससे प्रियतम की प्राप्ति के निश्चय का वर्णन किया है। यह कबीर की प्रेम सम्बन्धी विचारधारा है। वैसे 'हेत', 'प्रीति' और सनेह ये तीनों ही पर्यायवाची शब्द हैं;

इनमें भाव की क्रमिक प्रगाढ़ता का संकेत भी है। कबीर यहाँ पर यही व्यंजित करना चाहते हैं।

(४०) 'सूरातन कौ अंग'—इसमें आध्यात्मिक जगत की शूरवीरता का वर्णन है। यह शूरवीरता प्रेम की अनन्यता तथा आत्म-विश्वास से प्राप्त होती है। इस शूर-वीर को काम-क्रोधादिक विषय-वासनाओं से युद्ध करके परम प्रेम, आत्म-साक्षात्कार और कायायोग की सिद्धि प्राप्त करनी है। इसमें उसे अपनी मृत्यु की चिन्ता से मुक्त भी रहना है। विषय-वासनाओं से मुक्ति अर्थात आसक्ति का समूल नाश ही मृत्यु है। इसी मृत्यु की तो कबीर कामना करते हैं। यह जीवन-मृतक की अवस्था को प्राप्त करने की शूरवीरता है। वैसे भी मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, जो आगे के अंग में वर्णित है।

(४१) 'काल कौ अंग'—सारा जगत काल का ग्रास है। जगत की कल्पना ही काल में है। मृत्यु अवश्यम्भावी है। व्यक्ति ज्ञान और भक्ति के बिना निरन्तर आवागमन के चक्कर में रहता है अतः व्यक्ति को काल के प्रति हमेशा सजग रहना चाहिए। भक्ति और ज्ञान से जीव कालातीत हो जाता है, क्योंकि वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। ऐसे ही विचारों का इस अंग में वर्णन है।

(४२) 'संजीवनि कौ अंग'—'कालो जगत् भक्षक' को सत्य मानते हुए भी काल से अतीत हो जाने की चेष्टा आवश्यक है। इसी का वर्णन इस अंग में है। इसमें अमरता-रूप कालातीत अवस्था का वर्णन है। इस अंग में भक्ति, ज्ञान और साधना इन तीनों से प्राप्य अवस्था का कबीर ने बौद्धिक प्रत्यक्ष मात्र नहीं कराया है, अपितु इस अवस्था में रमने की अनुभूति भी जगाई है। यह अवस्था परम तत्त्व की शरण में जाने से मिलती है।

(४३) 'पारिष अपारिष कौ अङ्ग'—'पारख' रूप के साक्षात्कार से ही अमरत्त्व प्राप्त होता है। कबीर ने मूल तत्त्व को पहचानने और न पहचानने वाले के अन्तर को दो अंगों में स्पष्ट किया है। शुद्ध चैतन्य रूपी हीरा सर्वत्र उपलब्ध है; पर उसे केवल 'पारखी' ही पहचानता है; अन्यथा सबका जीवन इस दृष्टि से व्यर्थ हो जाता है। वासना के सुख की कौड़ी के बदले आत्मानन्द रूपी हीरा लोगों के हाथों से निकलता रहता है; यहाँ सामान्य जीवन है। तत, त्वं, असि—इन तीनों पदों से परे का तत्त्व ही 'पारख' है। यह त्रिगुणातीत एवं तुरीय तत्त्व है, इसको केवल 'पारख' गुरु ही पहचानता है। वह गुरु भी पारख रूप हो जाता है।

आगे के दो-तीन अंगों में उन अनुभूतियों तथा विचारधाराओं का वर्णन है, जो 'पारख' रूप के साक्षात्कार के परिणाम हैं। यही उपलब्धि है, इससे व्यक्ति में 'निरबैरता' और 'सहज करुणा' का अजस्र स्रोत बहने लगता है। ऐसी ही आत्मा 'सुन्दरी' है। आनन्द उसका स्वरूप है। कबीर उसकी प्राप्ति अर्थात अज्ञान के नाश के बाद को उपलब्धि का 'उपजणि' कहते हैं। आनन्दस्वरूप होते हुए भी उसे 'कस्तूरीमृग'

की तरह आनन्दरूपी सुगन्ध की बाहर भ्रान्ति होती रहती है। इस भ्रान्ति का हटना ही 'उपजणि' है। इन्हीं सब विचारों का निरूपण अगले अंगों के विषय हैं।

(४४) **'उपजणि कौ अंग'**—इसमें आध्यात्मिक प्रेम और आत्म-साक्षात्कार की ओर की यात्रा एवं उसकी प्राप्ति का वर्णन है। स्वरूप स्थिति कुछ नवीन उपलब्धि न होते हुए भी अज्ञान से मुक्ति के बाद का आनन्द है, अतः वह नूतन उपलब्धि ही प्रतीत होती है। कुछ नया पैदा हुआ है कुछ ऐसा ही लगता है। इसी को कबीर 'उपजणि' कहते हैं। इसके अतिरिक्त उपजणि का अर्थ विचारों का प्रतिभात होना भी है। यह अर्थ भी लिया गया है।

(४५) **'दया निरबैरता कौ अंग'**—सहज निरबैरता तथा करुणा साधु का स्वभाव है। वह किसी का शत्रु नहीं हो सकता। यह अभावात्मक गुण है। इसी पर कबीर ने जोर दिया है, क्योंकि द्वेषरहित होना आवश्यक है। भावात्मक रूप में वह मित्र नहीं है, क्योंकि इससे आसक्ति आ जाती है। अस्तु, द्वेषरहित से जो आसक्ति-रहित सहज मैत्री है, 'निरबैरता' से उसी पक्ष पर जोर है। ऐसे सन्त में करुणा सहज है। विषयाग्नि में जलते हुए व्यक्तियों के प्रति करुणा का भाव और दया, ऐसे सन्त का सहज स्वभाव है। इसी की ओर इस अंग में संकेत है।

(४६) **'सुन्दरि कौ अङ्ग'**—इसमें पतिव्रता नारी का वर्णन है और जीवात्मा की ओर संकेत है। सुन्दरी वही है, जो अपने प्रियतम को प्रिय है—जो प्रियतम को सुन्दर प्रतीत होती है। प्रियतम के प्रति अनन्यता ही सुन्दरी की सुन्दरता है। इसके लिए उसे अपने मन को वासनाओं से रहित करना पड़ता है और इस प्रकार सूक्ष्म हुआ मन प्रियतम के एकमात्र प्रेम में अवगाहन करता रहता है। यही सुन्दरी का लक्षण है।

(४७) **'कस्तूरियाँ मृग कौ अंग'**—कस्तूरी मृग की नाभि में रहती है। वह उसकी सुगन्धि में मस्त होकर उसको घास में इधर-उधर ढूँढ़ता फिरता है। यही अवस्था जीव की है। राम तो प्रत्येक जीव के घट के भीतर रमा हुआ है। आनन्द उसका स्वरूप है। पर, वह व्यर्थ ही उस राम को, उस आनन्द को इधर-उधर विषय-वासनाओं और साधनाओं में ढूँढ़ता फिरता है। परमतत्त्व घट-घट में व्याप्त ह, वही सबका द्रष्टा है। नेत्रों की पुतली सबको देखती है, पर स्वयं को नहीं। फिर भी प्रत्येक को अपने नेत्र होने और न होने का साक्षात्कार रहता है। यही स्थिति जीवात्मा की है।

(४८) **'निंद्या कौ अंग'**—इसमें निन्दा के अनेक पक्षों का विवेचन है। जो ज्ञान-शून्य है, जिन्हें राम से प्रेम नहीं, वे ही निन्दक बनते हैं। वे भक्तों और ज्ञानियों की निन्दा करते ही हैं। जो लोग अपनी ओर नहीं देखते, वे ही पर-निन्दा में रत रहते हैं। पर, सन्त को निन्दा की परवाह नहीं करनी चाहिए। सन्त के लिए निन्दक अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला होता है; वह उसमें अहंकार नहीं जागने देता। वह सन्त को आत्म-चिन्तन के द्वारा अपने स्वरूप में स्थित होने के लिए बाध्य करता

रहता है। पर, सन्त की निन्दा करने वाला स्वयं कभी मुक्त नहीं हो सकता। उसमें तो अहंभाव विषम स्थिति पर पहुँचा हुआ होता है।

(४६) 'निगुणां कौ अंग'—जिसमें गुणों और गुण-ग्राहकता का अभाव है, वही 'निगुणां' व्यक्ति है। ऐसा व्यक्ति गुरु विहीन एवं अकृतज्ञ भी होता है; अतः कबीर ने इस अंग में ऐसे व्यक्ति के लिए 'निगुरा' और 'निगुण', दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसे ही व्यक्ति का इसमें वर्णन है। ऐसा व्यक्ति ज्ञान के लिए अपात्र होता है। उसको दिया गया तत्त्व-ज्ञान उसमें वैसे ही अहंकार का पोषण करता है, जैसे सर्प को पिलाया हुआ दूध विष बन जाता है। भगवान के प्रेम की वर्षा से सगुरा व्यक्ति ही आत्मसिंचित हो सकता है।

'निगुणां कौ अंग' के अन्त में महत्त्व के अहंकार की निन्दा की गई है तथा विनयशीलता की प्रशंसा।

(५०) 'बीनती कौ अंग'—इस अंग में भगवान के समक्ष अपनी लघुता की अनुभूति तथा पति-परमेश्वर को समर्पण के भाव का निरूपण है। इसी को कबीर ने 'बीनती' कहा है। यह विनती साक्षात्कार से पूर्व की ही नहीं है, अपितु पति परमेश्वर से मिलने पर जो विनती जीवात्मा करेगी, उसका वर्णन भी इस अंग में कर दिया गया है।

(५१) 'साषीभूत कौ अंग'—इसमें साक्षात्कृत-धर्मा बनने की आकांक्षा वर्णित है। इस अंग के शीर्षक से यह प्रतीत होता है कि इसमें तत्वज्ञ का लक्षण है, पर ऐसा है नहीं। अंगों के नामकरण एवं विभाजन में कहीं-कहीं ऐसी शिथिलता मिलती है।

(५२) 'बेली कौ अंग'—इस अंग में माया के स्वरूप का दार्शनिक निरूपण है। इसमें आए हुए 'गुणवन्ती बेल' शब्द से द्विवेदी जी भक्ति का अर्थ लेना चाहते हैं। एक अन्य पद के सन्दर्भ में यह ठीक भी है। पर, यहाँ माया अर्थ ही अधिक समीचीन है, क्योंकि उसका सारे अंग के साथ सामंजस्य है। शास्त्रों में माया का असत्, मिथ्या, अनिर्वचनीय आदि कई रूपों में वर्णन हुआ है। इस अंग में माया के इन सभी पक्षों का वर्णन है। 'आंगणि बेलि' से माया के अधिष्ठान-चैतन्य का संकेत है और माया अधिष्ठान रूप ही है। अतः वस्तुतः वह अपने आप में असत् है। 'ससा-सींग की धनुहड़ी' और 'रमै बांझ का पूत' से माया की प्रातिभासिक सत्ता और व्यवहार जगत् में कार्यशीलता का संकेत है। इसके द्वारा दिये गए भोग केवल आनन्दाभास देते हैं, क्योंकि वे 'अणब्यावर का दूध' है। इस अंग में माया की आवरण और विक्षेप—दोनों शक्तियों की ओर संकेत हैं। वह वासना और मोह रूप है। इस अंग में माया के दुर्दमनीय रूप का वर्णन अधिक है। यह माया कामयोग की साधनाओं से नष्ट नहीं होती। यह माया की बेल इन साधनाओं की अग्नि से कुम्हलाई हुई-सी लगती है, पर यह पुनः हरी-भरी हो जाती है। इसकी आसक्ति जबरदस्ती के वैराग्य आदि से नहीं दबती। पर भक्ति और ज्ञान सहित वैराग्य से यह समूल नष्ट हो जाती है। भक्ति और

ज्ञान के बाद इस माया का बन्धन में डालने वाला रूप तो नष्ट हो ही जाता है, पर साथ ही वह स्वयं प्रेम और ज्ञान का साधन भी बन जाती है। कायायोग की सिद्धियों से इसके अंकुर नष्ट नहीं होते, लेकिन ज्ञान और भक्ति से इसके बीजों में पुनः वृक्ष रूप में परिणत होने की क्षमता नहीं रह जाती है।

माया के इस स्वरूप के साक्षात्कार तथा ज्ञान एवं भक्ति के आश्रय से जीव अपने सहज रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। उस 'सहज' रूप का वर्णन ही अगले अंग का विषय है।

(५३) **'अबिहड़ को अंग'**—'अबिहड़ को अंग' के द्वारा कबीर ने परमतत्त्व के सहज रूप का संकेत किया है। यह तत्त्व एक रस, अखण्ड, सरल एवं सहज है। इसी का प्रतिपादन इस अंग में किया है। 'अबिहड़' बिहड़ का उल्टा है। 'बिहड़' में जटिल, दुर्गम आदि का अर्थ है। वह 'सहज' के विरुद्ध है। कबीर 'अबिहड़' के रूप में निषेधात्मक शब्द का प्रयोग करके केवल यह व्यंजित करना चाहते हैं कि परमतत्त्व के सम्बन्ध में शब्दों के द्वारा 'इत्थंभूत' रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। संसार के सम्पूर्ण अभिधेय का इसमें निषेध है, परमतत्त्व किसी शब्द के द्वारा अभिधेय नहीं है। पर, सब अभिधेय उसी में है। इसी में कवि का अभिप्राय है। कबीर की दृष्टि से ज्ञान, भक्ति, प्रेम आदि सभी साधनाओं का अन्तिम लक्ष्य इस 'अबिहड़' की अवस्था को प्राप्त करना है। उसी तत्त्व का निरूपण यहाँ हुआ है।

●

कबीर-ग्रन्थावली

साखी

(१) गुरुदेव कौ अंग

सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सइं न दाति।
हरिजी सवाँ न को हितू, हरिजन सइं न जाति ॥१॥

सद्‌गुरु के समान कोई दूसरा अपना अथवा समधी (सम्बन्धी) नहीं है और तत्त्व-जिज्ञासु अथवा मुमुक्षु या शुद्धि और ज्ञान के समान कोई दानी अथवा देय वस्तु नहीं है। भगवान् के समान कोई दूसरा हितैषी नहीं है और भक्त के समान कोई जाति नहीं है।

व्याख्या—सगा वही है जो अपने समान बना ले। सद्‌गुरु शिष्य को अपने समान बना लेता है। इसलिए सतगुरु के समान कोई सगा नहीं कहा गया है। दानी वही महान् है जो अपना सर्वस्व दे दे तथा उसी में आह्लाद का अनुभव करे। देय वस्तु के रूप में दानी अपने स्वत्व के अर्थात् अपने स्व के एक अंश को ही देता है। पर सर्वोत्तम देय वस्तु तो स्वयं दाता ही है। मुमुक्षु अपने सम्पूर्ण अहं को ही—अपने आप को ही—सद्‌गुरु को सर्मपित कर देता है। इस प्रकार मुमुक्षु के समतुल्य कोई दूसरा दाता और देय नहीं हो सकते हैं। वह सर्वोत्तम दाता है क्योंकि स्व के अंश को नहीं पूर्ण 'स्व' या अहं को दान कर देता है। और वह सर्वोत्तम देय भी है क्योंकि 'स्व' के रूप में व्यक्ति अपने अधिकार की वस्तु नहीं अपितु अपने आपको ही दे देता है अन्तःकरण की शुद्धि अथवा स्वरूप-ज्ञान के समान कोई देय वस्तु नहीं हो सकती है। गुरु यही देता है। सद्‌गुरु वह समधी है, जो जीवात्मा के लिए परमात्मा रूपी दूल्हा देता है—जीवात्मा का परमात्मा से विवाह करता है। जीवात्मा-परमात्मा में अभेद स्थापित करके जीव को ही ब्रह्म बना देता है। गुरुकृपा से शिष्य भी गुरु की तरह ज्ञानी हो जाता है। अतः गुरु रूपी समधी प्रेम-विवाह, भक्ति और ज्ञान हर प्रकार से जीवात्मा रूपी शिष्य को अपने परिवार का अर्थात् तत्त्वज्ञानियों, भक्तों और प्रेमियों के परिवार का अंश अथवा अपने समकक्ष भी बना लेता है। ऐसे समधी के लिए मुमुक्षु का पूर्ण अहंभाव ही उपयुक्त दाति अर्थात् दहेज है।

टिप्पणी—**तत्त्वजिज्ञासु, शुद्धि और ज्ञान**—सोधी शब्द के तीन अर्थ किये जा सकते हैं। तीनों ही दृष्टि से ऊपर व्याख्या की गई है

प्रथम पंक्ति में गुरु, शिष्य एवं भगवान् के पारस्परिक सम्बन्ध से 'रहस्यवादी' भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

असम अलंकार का सुन्दर निर्वाह है। 'रूपक' भी ध्वनित है।

'सवाँ न' शब्द का 'सबका' अर्थ लेकर भी साखी की व्याख्या की जा सकती है।

बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौंहाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार॥ २॥

जिस गुरु ने मुझको एक क्षण में ही मनुष्य से देवता बना दिया है, उस अपने गुरु पर मैं प्रतिदिन कितनी बार न्यौछावर होऊँ?

टिप्पणी—तत्त्वज्ञ गुरु के 'तत्त्वमसि' के उपदेश से मुमुक्षु शिष्य की सद्यः मुक्ति हो जाती है और वह ईश्वररूप हो जाता है। ऊपर इसी भावना की अभि-व्यक्ति है।

सतगुरु की महिमा अनँत, अँनत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥३॥

गुरु की अपार महिमा है। उसके द्वारा किये गये उपकारों की कोई सीमा नहीं है। उसने मेरे अनन्त ज्ञान-चक्षु खोल दिये हैं और इस प्रकार मुझे वे निरन्तर परब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाले हैं।

टिप्पणी—अज्ञानी जीव की ज्ञान-शक्ति सीमित होती है, पर तत्त्वज्ञ की यह शक्ति असीम हो जाती है। उसे सभी इन्द्रियों तथा रोम-रोम से—इस प्रकार अनन्त नेत्रों से—उसी परमतत्त्व का साक्षात्कार होने लगता है। जगत् में प्रत्येक वस्तु पर मन क्षण भर टिकता है और फिर दूसरी ओर चला जाता है। पर परमतत्त्व का ज्ञान अजस्र तैल-धारावत् होता रहता है। इस प्रकार 'अनन्त' शब्द से ज्ञान के कारण, ज्ञेय तथा ज्ञान की अवधि—तीनों की अनन्तता सूचित होती है। औपनिषदिक तत्त्व का सुन्दर एवं सरल प्रतिपादन है।

राम नाम कै पटंतरै, देबे कौं कछु नाँहि।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माँहि॥ ४॥

सद्गुरु ने मुझे राम-नाम रूपी हीरा दिया है। इसके समतुल्य मेरे पास गुरु को देने के लिए कुछ भी नहीं है। मैं किस वस्तु से गुरु को संतुष्ट करूँ? गुरु-दक्षिणा के रूप में गुरु को देने की उत्कट अभिलाषा एवं कुछ दे सकने की आत्म-विश्वासपूर्ण अहंता मन की मन में ही रह गई।

टिप्पणी—निरलंकार एवं सहज भाषा में शिष्य के हृदय की भक्ति में परिणत होती हुई कृतज्ञता तथा कृतकृत्यता की मर्मस्पर्शिता द्रष्टव्य है।

सतगुरु के सदकै करूँ, दिल अपणीं का साछ (साँच)।
कलियुग हम स्यूँ लड़ि पड़्या मुहकम मेरा बाछ (बाँच)॥ ५॥

मैं अपने हृदय की साक्षी से अथवा सच्चाई से अपने सद्गुरु पर न्यौछावर हूँ

मुझसे कलियुग लड़ गया है, पर गुरु रूपी मेरा रक्षा-स्थान एवं रक्षक अत्यन्त सुदृढ़ हैं। इससे मुझे कोई चिन्ता नहीं है।

सतगुरु लई कमांण करि, बांहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या सरीर ॥ ६ ॥

सद्गुरु साखी रूपी धनुष लेकर ज्ञान-तीर चलाने लगे हैं। उन्होंने एक तीर तो प्रेमपूर्वक तथा पूरी शक्ति के साथ ऐसा चलाया है कि वह तीर मुझे लक्ष्य के भीतर ही समा गया है।

टिप्पणी— यहाँ पर 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार से शब्द-बाण का ग्रहण होता है। गुरु शब्दोपदेश देते हैं। पर जैसे तीर पत्थर से टकरा कर दूर चले जाते हैं, वैसे ही ये शब्दोपदेश भी अधिकांश शिष्यों की जड़ता से टकरा कर नष्ट जाते हैं। पर विशेष गुरु-कृपा के अवसर का शब्दोपदेश तो श्रद्धालु शिष्य के अन्तःकरण में समा जाता है और उसे तत्त्वज्ञान दे देता है। इसी अनुभूति को कबीर ने 'सांगरूपक' के आवरण में रखा है। अन्य शिष्यों की अपेक्षा 'विशेष-अनुग्रह' प्राप्त तथा अपनी विशेष पात्रता में 'व्यतिरेक' की व्यंजना भी है।

सतगुरु सांचा सूरिवां, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भुइ (भ्वै) मिलि गया, पड़्या कलेजै छेक ॥ ७ ॥

पूर्ववर्ती साखी के भाव का ही आगे निर्वाह करते हुए कबीर कहते हैं कि सद्गुरु सच्चा शूर-वीर है। उसके एक तीर के लगते ही शिष्य भूमि में मिल गया; अर्थात् उसका अहं विलीन हो गया। उसके हृदय में छेद अर्थात् ज्ञान-विरह का घाव हो गया है।

टिप्पणी—'भ्वै मिलि गया' पाठ भी मिलता है। राजस्थानी में इसका अर्थ अन्तःकरण का एकमेक हो जाना है, अर्थात् अहंभाव का विलय हो जाना है।

'छेक'—इस शब्द का अर्थ 'दूरी' भी है। इस अर्थ से भी ज्ञान और विरह के कारण सांसारिक विषय-वासनाओं से दूर हो जाने या अनासक्त हो जाने की भी व्यंजना है।

सतगुर मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ॥ ८ ॥

सद्गुरु ने सीधा लक्ष्य साध कर पूरी शक्ति से शब्द-बाण मारा है। वह भी शिष्य के नंगे शरीर पर लगा है। इससे शिष्य के शरीर में दावाग्नि सी जल उठी है; अर्थात् ज्ञान और विरह की अग्नि प्रज्वलित हो गई है। इससे विषय-वासनाएँ सब भस्म हो जायेंगी तथा काया का कंचन तप कर निखर उठेगा। यही व्यंजना है।

टिप्पणी—(१) अंगि उघाड़ै—रजोगुण और तमोगुण से रहित तथा सत्त्वगुण सम्पन्न हृदय अथवा आग्रह एवं आसक्ति से रहित अधिकारी अन्तःकरण।

(२) बंधाली फूटि—व्यथा का साक्षात्कार कराने वाला सुन्दर बिम्ब है।

हँसै न बोलै उनमनीं चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियार ॥ ९ ॥

सद्गुरु के हथियार से अन्त:करण इस प्रकार भिद गया है कि मन की चंचलता पूर्णत: समाप्त हो गई है। अब जीव आवरण-विक्षेप वाले मन से ऊपर की सहज स्थिति रूप उन्मन अवस्था को पहुँच गया है। इससे उन्मन अवस्था को पहुँचा हुआ जीव न हँसता है और न बोलता है अर्थात् वह संसार के विषयों से पराङ्मुख हो गया है; इन्द्रियों के विषयों के उल्लास में तन्मय होकर अब वह अपने आप को भूलता नहीं। वह स्वरूप में स्थित है अत: मौन है; उसकी बोलने की स्थिति ही नहीं रही है।

टिप्पणी—(१) 'हँसै' और 'बोलै' में लक्षणा है।

(२) इन्द्रियों के विषयों को उन्मुक्त भाव से ग्रहण करना ही हँसना तथा उन विषयों में रमना एवं उस उल्लास की मुखर अभिव्यक्ति ही बोलना है।

(३) 'उन्मनी' के लिए परिशिष्ट देखिए।

गूँगा हूवा बावला, बहरा हूआ कांनि।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुर मार्‌या बाणि ॥ १० ॥

जीव गूँगा और पागल हो गया है। वह कानों से बहरा तथा पैरों से लँगड़ा हो गया है। सद्गुरु ने उसके शब्द-बाण मार दिया है।

सद्गुरु के प्रहार से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विफल हो गई हैं; अब वे बाह्य विषयों को ग्रहण नहीं करती हैं। अत: जीव संसार की दृष्टि में पागल, गूँगा, बहरा, पंगु—सभी कुछ हो गया है। तात्पर्य यह है कि वह 'उन्मन' अवस्था में पहुँचने के कारण संसार के किसी भी विषय को, किसी भी इन्द्रिय से पहले की तरह ग्रहण नहीं करता है।

टिप्पणी – उपर्युक्त साखी में देहाध्यास से ऊपर उठने की व्यंजना है।

पीछैं लागा जाइ था, लोक बेद कै साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥ ११ ॥

कबीर भी अन्य सामान्य लोगों की तरह लोक और वेद की परम्परा में बंधा हुआ संसार में भटक रहा था। रास्ते में सामने से गुरु मिल गये। उन्होंने जिज्ञासु कबीर को ज्ञान रूपी दीपक दे दिया।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आवौं हट्ट ॥ १२ ॥

गुरु ने ज्ञान रूपी दीपक भक्ति के तेल से भरकर दिया तथा इसमें निदिध्यासन की वृत्ति रूपी अनन्त बत्ती दी। इसी दीपक के प्रकाश में कबीर ने इस संसार रूपी बाजार से जो कुछ भी लेना-देना था, उसे हमेशा के लिए पूरा कर लिया है।

अब तो कबीर को पुनः इस बाजार में आना नहीं है। अर्थात् वह इस योग एवं भक्ति सहित ज्ञान के कारण जन्म-मरण के चक्र से छूट गया है। अब लोक-वेद के कर्त्तव्यों के बन्धन उस पर नहीं रह गए हैं।

टिप्पणी—तुलना कीजिये—

"त्रैगुण्यविषयावेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन:।"—(श्रीमद्भगवद्गीता)

'रूपकातिशयोक्ति' और 'सांगरूपक' का निर्वाह है।

'पूरा किया बिसाहुणां' से ज्ञानपूर्वक भोग द्वारा प्रारब्ध कर्म के क्षय की व्यंजना है।

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरु मिलिया आइ॥ १३॥

रे मानव, जब गुरु मिले तब ज्ञान का प्रकाश हुआ है। अब उस ज्ञान को भूल मत जाना। (अन्यथा तुझे फिर उसी संसार-चक्र में भटकना होगा) राम की कृपा हुई तब तो गुरु आकर मिले हैं।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूंण।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौंण॥ १४॥

कबीर कहते हैं कि मुझे गौरवशाली गुरु व उनके शब्द-मंत्र मिले हैं (उस देश से तत्वज्ञान भी हो गया है) अब मैं व्यापक चैतन्य में तथा 'गुरु' मुझ में उसी प्रकार एकाकार हो गये हैं जैसे आटे में नमक। अभेद करने वाली जाति-पाँति की सब उपाधियाँ मिट गई हैं। नाम-रूप सब विलीन हो गए हैं। अब किस नाम से मुझे अभिहित करोगे? अर्थात् इस अवस्था में व्यक्ति नाम रूप से परे हो जाता है।

टिप्पणी—प्रतिवस्तूपमा अलंकार। 'गुरु' में श्लेष है। 'गुरु' व 'गुरु मंत्र' दोनों अर्थ हैं।

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़ंत॥ १५॥

जिसका गुरु अंधा है अर्थात् अज्ञानी है, और जो शिष्य पूर्णतः अंधा है (उसका अंधों का सा व्यवहार होता है) अंधा अंधे को ठेलता है और दोनों कुएँ में गिर जाते हैं। अर्थात् मार्ग और लक्ष्य को न जानने के कारण वे एक-दूसरे को ठेलते चलते हैं और अन्त में विषय-वासना रूपी कुएँ में गिर कर दोनों नष्ट हो जाते हैं।

टिप्पणी—सहज एवं निरलंकृत भाषा में भाव की कितनी मर्मस्पर्शी एवं सशक्त व्यंजना है।

नां गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।
दुन्यूं बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव॥१६॥

जिसे न तो तत्वज्ञानी गुरु ही मिला और न जो स्वयं ही जिज्ञासु शिष्य बन पाया। ऐसे गुरु और शिष्य—दोनों ही एक-दूसरे को लालच के वश में होकर धोखा देते गये। इसलिए इस संसार रूपी समुद्र को धोखे के पत्थरों से भरी अन्तःकरण रूपी नौका से पार करते हुए अन्त में भवसागर में डूब ही गये।

टिप्पणी—पत्थरों से भरी नौका—मुहावरा है जो पापपुञ्ज के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'न गुरु मिल्या'...का मंत्रोपदेश नहीं मिला व सच्चा शिष्य न बन सका अर्थ भी है। इससे 'श्लेष' है। 'रूपक' ध्वनित है।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि।
तिहिं घरि किसको चानिणौं जिहि घरि गोब्यिन्द नांहि ॥ १७ ॥

चौदह विद्याओं की चौंसठ कलाओं के ज्ञान के रहने पर भी उस अन्तःकरण में किसका प्रकाश है जिसमें भगवान् का स्मरण नहीं है, अर्थात् किसी का नहीं।

'तस्या भासा सर्वमिदं' से सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं में उसी भगवान् का प्रकाश है। इसी भाव को भक्ति के आवरण में कबीर ने रखा है। यहाँ ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय है।

टिप्पणी—(१) 'दीया' और 'चंदा' में रूपकातिशयोक्ति है।

(२) 'चौदह विद्याओं' और 'चौंसठ कलाओं' के ग्रहण से भारतीय परम्परा के अनुसरण की व्यंजना है।

निस अँधियारी कारणैं, चौरासी लख चंद।
अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद ॥ १८ ॥

अज्ञान की अँधेरी रात को प्रकाशित करने के लिए अनन्त आतुरता से जीव ने चौरासी लाख योनि रूप चन्द्रमा उदित कर लिये हैं, पर तब भी इस मंद-बुद्धि को दृष्टि प्राप्त नहीं हुई अर्थात् कुछ दिखाई नहीं दिया, ज्ञान नहीं हुआ।

टिप्पणी—जीव अज्ञान के अंधकार से छूटने के लिए अत्यन्त आतुर होकर योनियों में भटकता है, पर उसको इस भटकने से स्वरूप का प्रकाश नहीं मिलता है। यह प्रकाश तो गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो सकता है।

'चौरासी लख चंद' में परम्परागत उपमान तो है नहीं, अतः इसको रूपकातिशयोक्ति न मानकर 'प्रतीक-विधान' मानना चाहिये।

'तऊ दिष्टि नहिं मंद' को विभिन्न वाक्य स्वरों सहित बोलने पर भर्त्सना, विवशता और आत्मग्लानि की भी व्यंजना है। गुरु की शरण में जाने की विवक्षा है।

पाठान्तर—'गुरु बिनु अति उदै भए',
'तऊ दिष्टि रही मंद'।

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हांणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि ॥ १९ ॥

यह तो बहुत ही अच्छा हुआ कि भटकते हुए मुझे गुरु व गुर की प्राप्ति हो गई अन्यथा तो बहुत ही हानि होती रहती। मैं उसके आकर्षणों में भी अपनी पूरी शक्ति से गिर पड़ता अर्थात् संसार के अन्य जीवों के समान मैं भी इस माया और वासना रूपी दीपक की लौ में पतंगे की तरह जलता रहता। जैसी पतंगों की दीपक के प्रति दृष्टि होती है, माया के प्रति वैसी ही दृष्टि अपनाकर मैं अपनी पूर्ण जानकारी के साथ अर्थात् जान-बूझकर अपनी इच्छा और शक्ति भर उस माया के दीपक में पड़ता।

टिप्पणी—पतंगा दीपक की चमक को प्रियतमा के आह्वान का संकेत समझ बैठता है। इसी प्रकार जीव को भी माया में आनन्द का भ्रम हो जाता है।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं (तैं) एक आध उबरंत ॥ २० ॥

माया रूपी दीपक के लिए नर पतंग रूप है। मानव घूम-घूम कर अर्थात् अनेक योनियों में भटकता हुआ तथा अज्ञान में भूला इसी आग में ऐसे ही जलता है। बस, गुरु के ज्ञान से कोई एकाध ही इस आग से बच पाता है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार है।

'भ्रमि-भ्रमि' दोनों अर्थों में एक साथ ही प्रयुक्त हुआ है। इससे अर्थ की गूढ़ता बढ़ गई है।

उपलक्षणा पद्धति से 'नर शब्द का प्रयोग जीव-मात्र के लिए हुआ है।

पाठान्तर—'इवै' के स्थान पर 'माँहि' पाठ भी मिलता है।

सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहै चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि ले, ज्यूं बंसि बजाई फूक ॥ २१ ॥

अगर शिष्य में ही कमी है तो बेचारा सद्गुरु ही क्या कर सकता है ? उसे चाहे जिस प्रकार समझा दो, उस पर कोई स्थायी असर नहीं होता। जैसे वंशी में फूँक मारने से वह बजने लगती है, पर उसमें स्वर स्थायी नहीं होते; बजाने वाले अपने-अपने अनुकूल उसे बजा लेते हैं, वैसे ही व्यक्तित्व-शून्य शिष्य भी कभी एक के उपदेश पर चलता है, कभी दूसरे के।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार है।

संसै खाया सकल जुग, संसा किनहुं न खद्ध।
ज बेधे गुर अष्षिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध ॥ २२ ॥

संशय अर्थात् विक्षेप रूप माया से सारा संसार ग्रसित है। कोई भी इस संशय को समाप्त नहीं कर पाया है। पर जो गुरु के उपदेश के अक्षरों से बिद्ध हो गए हैं, अर्थात् जिनमें अक्षरतत्व की अपरोक्षानुभूति जाग गई है, उन्होंने इस संशय को चुन-चुन कर सब जगह से समाप्त कर दिया है।

टिप्पणी—व्यष्टि की मुक्ति की कल्पना है।

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्हीं धीर।
निरभै होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर ॥ २३ ॥

अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर गुरु ने शिष्य को धैर्य बँधाया है; उसमें आत्म-विश्वास पैदा किया है। इससे कबीर निर्भय एवं निःशंक होकर भगवान् का भजन करते हुए 'केवल-केवल' कह रहे हैं। एक मात्र 'केवल' ही तत्व है अर्थात् द्वैत निषेधपूर्वक अद्वैत की ही स्थिति है। इसी का कबीर अहर्निश ध्यान कर रहे हैं। अथवा कबीर कहते हैं "हे मानव, निर्भय और निश्शेष होकर केवल तत्व अर्थात् परम तत्त्व का भजन करो।"

टिप्पणी—'निर्भय होई'—'द्वितीयात् भयं भवति'—अतः द्वैत से ऊपर उठना ही निर्भय होना है।

'निसंक भजि' का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि शंकाओं से शून्य अर्थात् आवरण और विक्षेप रहित तत्व का ध्यान करता हुआ उस परमतत्त्व का एक भाग या अंश बनते हुए, उस तत्त्व से तदाकार हो जाओ।

भक्ति ज्ञान और योग का समन्वय द्रष्टव्य है। 'भक्ति' का धात्वर्थ है। भाग होना यही भक्ति का मूल उद्देश्य भी है।

सतगुरु मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पासि-बिनंठा कप्पड़ा क्या करैं बिचारी चोल॥ २४॥

सद्गुरु के मिल जाने से क्या होता है, जब स्वयं शिष्य के अन्तःकरण में ही भूल है, अर्थात् विकार है तथा निष्ठा का अभाव है। यदि पास में जीर्ण-शीर्ण कपड़ा है अथवा कपड़ा मैल से नष्ट हो गया है तो मंजीठ का रंग क्या कर सकता है? जैसे मलीन कपड़े पर रंग नहीं आ सकता है; बस उसी प्रकार निष्ठाहीन शिष्य में ज्ञानोदय नहीं हो सकता है।

टिप्पणी—'दृष्टान्त' अलंकार है।

बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, ऊतरि पड़े फरंकि॥ २५॥

हम इस संसार-रूपी समुद्र में डूब ही रहे थे, पर गुरु की या साखी की चेतावनी की लहर से सावधान होकर या गुरु की कृपा रूपी लहर से उछाले जाकर बच गये हैं। हमें गुरु के उपदेश से इस विषय-वासना और कर्मकांड रूपी बेड़े की जर्जरता ज्ञात हो गई; इसलिए जल्दी से इसे छोड़कर अलग हो गए हैं। संसार से अनासक्ति और ज्ञान में प्रतिष्ठा—यही बचना है।

टिप्पणी—'गुरु' में 'श्लेष' और 'गुरु की लहर' में 'रूपक'।

गुर गोबिन्द तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरौ, तौ पावै करतार॥ २६॥

गुरु और गोविन्द—दोनों एक ही हैं। इनका केवल आकार अर्थात् उपाधि भिन्न-भिन्न हैं। गुरु तूला अविद्या की उपाधि से उपहित चैतन्य है, तथा ईश्वर मूला अविद्या की उपाधि से उपहित। पर दोनों चैतन्य रूप हैं, अतः एक हैं। जो शिष्य अपने अहं को मिटाकर जीवित व्यवस्था में अर्थात् शरीर के रहते ही विषय-वासनाओं की आसक्ति छोड़ने के कारण उनके लिए मरा-सा हो जाता है, वही वास्तव में ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है।

टिप्पणी—कबीर का 'जीवितमृत' वास्तव में 'जीवन्मुक्त' ही है।

कबीर सतगुर नां मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि मांगे भीष॥ २७॥

कबीर कहते हैं कि जिन्हें सद्गुरु नहीं मिले, उनकी शिक्षा अपूर्ण रह गई

उन्हें सच्चा वैराग्य नहीं हुआ। वे केवल यति का वेश बनाकर घर-घर भीख ही माँगते हैं।

सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातैं लोंहि लुहार।
कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार॥ २८॥

सद्गुरु सच्चा वीर है। जैसे गर्म लोहे के लिये लुहार है, वैसे ही वैराग्य की अग्नि में तपे हुए शिष्य के लिए गुरु है। अर्थात् कसाव का पुट लगाकर कसनी लगा कर एवं तप्त लोहे की तरह लुहार कर अर्थात् अग्नि में डाल-डालकर तथा पीट-पीट कर गुरु भी शिष्य को कंचन बना, देता है; अर्थात् उसे ज्ञान की अग्नि में तपाकर उसके सारभूत अंश को, उसके वास्तविक स्वरूप को, माया के विजातीय तत्त्व से पृथक् कर देता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति, सांगरूपक और निदर्शना अलंकारों का चमत्कार है।

थापणि पाइ थिति भई, सतगुरु दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा बणजिया, मानसरोवर तीर॥ २९॥

गुरु से स्वरूप प्रतिष्ठा का उपदेश मिला तथा हमारी स्वरूप में स्थिति हो गई। गुरु ने उस स्वरूप की निष्ठा पक्की कर दी है। अब शिष्य कबीर मानसरोवर के तीर पर हीरे का वाणिज्य करने लगा है; अर्थात् उसे परमानन्द रूपी हीरा प्राप्त हो गया है। शुद्ध चैतन्य के आनन्द सागर में उसका जीव हिलोरें ले रहा है। अपने स्वरूप की भावना में रमकर उसका अन्तःकरण वृत्यात्मक आनन्द ले रहा है। यही मानसरोवर के किनारे 'हीरा वाणिजना' है।

टिप्पणी— 'हीरा वणजिया' मुहावरा है 'हीरा वणजिया मानसरोवर तीर' यह पूरा का पूरा वाक्य उस परम आनन्द की अवस्था की अभिव्यक्ति के लिए संत-समाज में गृहीत प्रतीक है 'बज्र' या 'हीरा' सिद्ध सम्प्रदाय में परमतत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था।

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर।
निपजो मैं साझी घणां, बाँटै नहीं कबीर॥ ३०॥

सद्गुरु के साहस और धैर्य ने जीवात्मा को निश्चल आनन्द-रूपी निधि प्राप्त करा दी है; यह निधि अमोघ शक्ति रूप भी है। इस उत्पन्न निधि में हिस्सा बाँटने वाले बहुत हैं। अर्थात् सिद्धियों की आकांक्षाएँ तथा अन्य मनोविकार एवं अज्ञानी साथी—ये इस शक्ति में हिस्सा बँटाना चाहते हैं। पर कबीर हिस्सा नहीं देंगे, दे भी नहीं सकते हैं। परमतत्त्व की प्राप्ति व्यक्तिगत साधना का विषय है। अतः वह अविभाज्य है।

टिप्पणी—सामूहिक मुक्ति की विचारधारा का प्रतिवाद व्यंजित है।

चौपड़ि माँड़ी चौहटै, अरध उरध बाजार।
कहै कबीरा राम जन, खेलौ संत विचार॥ ३१॥

ज्ञानपरक अर्थ—जगत् रूपी चौराहे पर जीवन रूपी चौपड़ का खेल रचा

गया है ऊपर और नीचे बाजार है। कबीर भक्तों और सन्तों को विचारपूर्वक खे की सलाह दे रहे हैं। बाजार ऊँचा-नीचा होता रहता है, अर्थात् इससे जीव ऊर्ध्वगति और अधोगति दोनों की सम्भावना है।

कायायोग परक अर्थ—उपर्युक्त साखी का दूसरा अर्थ यह भी सम्भव है। त्रिकुटी के चौराहे पर साधना की चौपड़ पड़ी हुई है। साधक शून्यशिखर की भी बढ़ सकता है तथा अधोगति की ओर भी जा सकता है। अतः उसे सोच समझ साधना का खेल खेलना चाहिए।

टिप्पणी—रूपक अलंकार है।

पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दाव बताइया, खेलै दास कबीर॥ ३२॥

उसी चौपड़ के रूपक को आगे बढ़ाते हुए कबीर कहते हैं कि मैंने प्रेम पासे बना लिये हैं और इस शरीर की गोट बना ली है। मैं प्रेम और शक्ति का खेल रहा हूँ। इस खेल में चाल सद्गुरु बता रहे हैं। ऐसे ही जीवन-रूपी खेल कबीर खेल रहे हैं।

टिप्पणी—सांगरूपक है।

सतगुर हम सूँ रीझ करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥ ३३॥

सद्गुरु ने हम पर प्रसन्न होकर एक रसपूर्ण वार्ता कही। इससे प्रेम-र वर्षा हुई और मेरे सब अंग-प्रत्यंग उस प्रेम-रस से अभिषिक्त हो गये।

टिप्पणी—रूपक के आवरण में भक्ति और प्रेम का चित्रण है।

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भीगी आतमा, हरी भई बनराइ॥ ३४॥

प्रभु या गुरु के प्रेम एवं अनुग्रह का बादल हम पर बरस गया। उसके रस से मेरी अन्तरात्मा भीग गई और मैं आनन्द से भर गया। इसी आनन्द से 'वनराजि' भी हरी-भरी हो गयी; अर्थात् सारा विश्व चेतन एवं आनन्दमय होने लगा।

टिप्पणी—भक्ति या ज्ञान की दृष्टि जाग जाने पर विश्व जड़ एवं दुःखमय प्रतीत होता अपितु ईश्वरमय एवं आनन्दरूप लगने लगता है। इसी अनुभूति को ' का आवरण दिया गया है।

पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्ह्या दूर।
निर्मल कीन्हीं आत्मां, तायँ सदा हजूरि॥ ३५॥

सद्गुरु की कृपा से उस पूर्णतत्त्व से मेरा परिचय हो गया है। इससे दुःख दूर हो गये हैं। आत्मा सम्पूर्ण प्रकार के आवरणों और विक्षेपों से रहित निर्मल हो गई है। इससे अन्तःकरण निरन्तर भगवान् की ओर अभिमुख हो है, अब वह उन्हीं की बन्दगी में रहता है और उन्हीं का साक्षात्कार करता रहता

(२) सुमिरण कौ अंग

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होइ ॥ १ ॥

सब लोग सुन रहे हैं, और मैं निरन्तर विश्वास के साथ कहता जा रहा हूँ कि 'राम' नाम का स्मरण करने से ही कल्याण होगा, अन्यथा नहीं।

टिप्पणी—'कायायोग' आदि की अन्य सभी साधनाओं से भक्ति और प्रेम का 'महारस महान्' है। वही वास्तविक कल्याण का हेतु है। कबीर के इस मूल विश्वास की व्यंजना इस साखी में तथा आगामी कई साखियों एवं पदों में हुई है।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेस ॥ २ ॥

कबीर कहते हैं कि मैं कह गया हूँ और यही बात ब्रह्मा और महेश भी कह गये हैं। सभी का यही उपदेश है कि रामनाम ही वास्तव में सार वस्तु है।

तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नांव निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥ ३ ॥

रामनाम मूल सार वस्तु है, यही तीनों लोकों का मूर्धन्य तत्त्वरूप तिलक है। विनीत और भक्त कबीर ने इसी को अपने मस्तक पर धारण किया है। इससे उसकी शोभा असीम हो गयी है।

भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार ॥ ४ ॥

भगवान का नाम-स्मरण ही वास्तव में भक्ति और भजन है। दूसरा सब कुछ अपार दुःख का कारण है। भक्ति के नाम पर की गई विभिन्न प्रकार की पूजाएँ तथा प्रेम-शून्य कायायोग की साधनाएँ केवल आडम्बर एवं दिखावा होने के कारण अपार दुःख की हेतु हैं। अतः कबीर कहते हैं कि मन, वाणी और कर्म से भगवान् का नाम-स्मरण करना ही तत्त्व-वस्तु है।

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥ ५ ॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् का स्मरण ही सार वस्तु है। बाकी सब तो केवल झंझट हैं, बन्धन के हेतु हैं। मैं आदि-अन्त अर्थात् साधन एवं परिणाम पर अच्छी तरह विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इसके अतिरिक्त दूसरे सब नाश के कारण हैं।

च्यंता तौ हरि नांव की, और न चिंता दास।
जे कुछ चितवैं राम बिन, सोइ काल की पास ॥ ६ ॥

भक्त के हृदय में केवल भगवान् का ही चिन्तन रहता है, अन्य किसी का भी नहीं। जहाँ कहीं राम से शून्य दर्शन एवं चिन्तन है, वह सब काल के फंदे में फँसाने वाला है।

टिप्पणी—सम्पूर्ण जगत् को राममय देखना तथा सम्पूर्ण विचारों एवं भावनाओं के द्वारा भगवान् का ही चिन्तन करना, यही भक्ति है।

'अर्थान्तरन्यास' है।

पंच संगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिरे मंन।
आई सूति (सूरति) कबीर कौ, पाया राम रतंन ॥ ७ ॥

कबीर को उस महान् की स्मृति जाग गई है। इससे उसे भगवान् रूपी रत्न की प्राप्ति हो गई है। उस उल्लास में पाँचों इन्द्रियाँ तथा छठा मन मग्न होकर 'पिव' 'पिव' पुकार रहे हैं और रोम-रोम से प्रियतम का नाम निकल रहा है।

टिप्पणी—रहस्यवाद एवं प्रेमाभक्ति की दाम्पत्य के 'रूपक' से व्यंजना है।

मेरा मन सुमिरै राम कूं मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥ ८ ॥

मेरा मन राम का स्मरण कर रहा है राम, का ही है। राम का ध्यान करते-करते मैं राममय क्या, राम ही हो गया हूँ। जीव और ब्रह्म का द्वैत मिट गया है, अब मैं किसे नमस्कार करूँ?

टिप्पणी—ज्ञान और प्रेम—दोनों से प्राप्त अद्वैत की व्यंजना है।

तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥ ९ ॥

'तू ही' 'तू ही' का—अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है का—मनन और ध्यान करते-करते मुझ में अपना अहं-भाव ही नहीं रहा। जीवात्मा कह रही है कि मैं भगवान् पर न्यौछावर होती-होती उसको समर्पित ही हो गई हूँ। अब तो जिधर देखती हूँ, उधर केवल वही दिखाई देता है। जैसे प्रेमी को सारा जगत् प्रियमय दीखता है, वैसे ही जीव को सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्ममय दिखाई देने लगा है।

टिप्पणी—ज्ञान और प्रेम का समन्वय है।

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, तब सोवैगा दिन राति ॥ १० ॥

कबीर जब तक इस दीपक में तेल है अर्थात् शरीर में प्राण हैं, तब तक निर्भय होकर भगवान का स्मरण करते रहो। तेल के समाप्त होते ही अर्थात् इस शरीर के प्रारब्धों का क्षय होते ही यह प्रकाश देने वाली बत्ती बुझ जायेगी। शरीर से प्राण निकल जायेंगे और जीव दिन-रात सोता ही रहेगा।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' की शैली में तेल और बत्ती के प्रतीकों से तत्त्व ज्ञान का उपदेश।

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाको संग तैं बीछुड़्या, ताहि के संग लागि॥ ११॥

कबीर, इस मोह-निद्रा में सोया हुआ क्या कर रहा है? जागकर अपने साथ वालों को क्यों नहीं देखता है? इस लम्बी यात्रा में जिससे तुम्हारा साथ छूट गया है, उसी के संग फिर क्यों नहीं लग जाता है? इस लम्बी अनेक योनियों की जीवन-यात्रा में अज्ञानवश भगवान् से जीव का साथ बिछुड़ा-सा प्रतीत होता है अर्थात् वह अपने को भगवान् से पृथक् समझने लगता है। ज्ञान रूपी जाग्रत अवस्था के आते ही जीव ब्रह्म से अपने सम्बन्ध को पहचान लेता है और उसी में तन्मय हो जाता है। कबीर इसी बोध को जगाने की प्रेरणा दे रहे हैं।

टिप्पणी—लक्षणा से 'सूता' का अर्थ अज्ञान हो गया। भगवान् के साथ लगने—उससे अभेद—की प्रेरणा है।

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
एक दिना भी (फिर) सोवणां, लांबे पाँव पसारि॥ १२॥

रे जीव, इस अज्ञान रूपी निद्रा में क्यों सो रहा है? जागकर भगवान् का स्मरण क्यों नहीं करता है? अन्त में एक दिन लम्बे पाँव पसार कर अर्थात् निश्चित होकर तो तुझे सोना ही है।

टिप्पणी—'पर्यायोक्ति' अलंकार।

कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मैं, सो क्यूँ सोवै सुक्ख॥ १३॥

कबीर, इस मोह-निद्रा में सोया हुआ क्यों पड़ा है। उठकर अपनी व्यथा भगवान् के समक्ष प्रकट क्यों नहीं करता? जिसका निवास ही कब्र में है अर्थात् जो काल के ग्रास में है उसे चैन से सोने का अवसर कहाँ है? उसे तो काल से मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

पाठान्तर—'गोर में' के स्थान पर 'गोरवै' पाठ भी है।

अर्थ—जिसका निवास ही रास्ते में है, वह सुखपूर्वक कैसे सो सकता है? उसे तो अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर ही आराम मिलेगा। इससे 'जीव' की मुक्ति तथा इसके लिए की गई जीवन-यात्रा का संकेत है। विभिन्न योनियों में जन्म व्यतीत करना मुक्ति के मार्ग में ही रहना है।

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास।

कबीर सूता क्या करै, गुण गोबिंद के गाइ।
तेरे सिर परि जम खड़्या या, खरच कदे का खाइ॥ १४॥

कबीर जीव को चेतावनी देते हुए कहते हैं "रे जीव ! तू सोया हुआ क्या कर रहा है ? तेरे सिर पर काल खड़ा हुआ है और पता नहीं कब से वह तेरे ही खर्चे पर जी रहा है। तेरे अज्ञान के कारण ही यह जीवित है। तू भगवान् का स्मरण क्यों नहीं करता, ताकि तुझे इस काल से छुटकारा मिल जाय।

टिप्पणी—उधार देने वाला ऋणी के घर पर आकर जब ठहर जाता है तो ऋणी के खर्चे पर रहता है। उससे ऋण चुकता नहीं, बढ़ता ही जाता है। ऋण तो मूल और ब्याज देने पर चुकता है। काल के द्वारा दिया गया अज्ञान रूपी मूलधन प्रारब्ध कर्मों के भोग तथा क्रियमाण कर्मों के पाप-पुण्य रूपी ब्याज से बढ़ रहा है। 'तेरे ···खाइ' की यही व्यंजना है। यह ऋण रूप कर्म और अज्ञान का बन्धन भगवान् की भक्ति से ही छूट सकता है। कबीर इसी की प्रेरणा दे रहे हैं। इसमें सांगरूपक की व्यंजना है।

कबीर सूता क्या करै, सूतां होइ अकाज।
ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुणत काल की गाज॥ १५॥

जीव, तुम सोये क्यों हो ? अज्ञान में सोने से तो हानि ही होती है। अज्ञान में सोये रहने से तो काल अपनी गर्जना से ब्रह्मा के सिंहासन को भी हिला देता है।

टिप्पणी—ब्रह्मादिक काल के वश में हैं और हर सृष्टि के पूर्व में नया ब्रह्मा होता है। ब्रह्मा के आसन खिसकने का यही अभिप्राय है।

केसौ कहि कहि कूकिये, नां सोइयै असरार (असार)।
राति दिवस कै कूकणैं, कबहूँ लगै पुकार॥ १६॥

रे मानव, बेसुध होकर मत सोओ। निरन्तर आर्त्त वाणी में 'केशव' को पुकारते रहो। आर्त्त होकर रात-दिन भगवान् को पुकारते रहने से कभी तो वे सुनेंगे ही।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम॥ १७॥

जिसके अन्तःकरण में न प्रेम है और न प्रेम का आस्वाद तथा जिसकी जिह्वा पर राम-नाम भी नहीं है, वे लोग इस संसार में व्यर्थ पैदा होकर नष्ट होते हैं।

कबीर प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव।
सूने घर का पाहुणां, ज्यूँ आया त्यूँ जाव॥ १८॥

कबीर कहते हैं कि जिसने प्रेम—अर्थात् ईश्वर प्रेम का अनुभव नहीं किया, उसका स्वाद नहीं लिया, उसका इस संसार में जन्म लेना और मर जाना सूने घर के मेहमान के आने-जाने के समान है। यह मेहमान जैसे आता है, वैसे ही चला जाता है। इस मेहमान का न कोई सम्मान होता है और न उसे कुछ मिलता ही है। उसी प्रकार ईश्वर से प्रेम न करने वाले का इस जगत् में न वास्तविक सम्मान होता है, न उसे कुछ मिलता ही है।

टिप्पणी—जन्म धारण की कृतकार्यता ही ईश्वर स्मरण में है। 'सांगरूपक' से यहाँ व्यंजित है।

पहली बुरा कमाइ करि, बाँधी विष की पोट।
कोटि करम फिल पलक में, जब आया हरि की ओट॥ १९॥

पूर्व जन्मों में अनेक पाप कर्म करके जो विष की गठरी जीव ने बाँधी थी अर्थात् अनेक पाप कर्म संचित किये थे, वे सब एक क्षण में ही, जीव के भगवान की शरण में आते ही नष्ट हो गये। शरणागत भक्त भगवान् को अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है और इस समर्पण से कर्त्तापन और अहंता का भाव चला जाता है। इससे सारे कर्म बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं।

कोटि क्रम पेलैं पलक में, जे रंचक आवैं नाउँ।
अनेक जुग जे पुन्नि करैं, नहीं राम बिन ठाउँ॥ २०॥

अगर भगवान् का तनिक नाम-स्मरण भी हो जाय तो वह करोड़ों कर्मों को क्षण भर में ही नष्ट कर देता है। अनेक युगों के पुण्य (तीर्थ व्रतादिक) भी बिना नाम-स्मरण के जीव को स्वरूप में स्थित नहीं कर पाते हैं।

टिप्पणी—कर्म बन्धन का नाश कर्मों से नहीं, ज्ञान और भक्ति से होता है। नाम-स्मरण नामी के स्वरूप-ज्ञान पूर्वक तथा उसके प्रति अनुराग सहित होता है। इससे वह मुक्ति का हेतु है ज्ञान और भक्ति सहित किये गये कर्म ही मुक्ति में सहायक कारण हैं। इस मान्यता का यहाँ प्रतिपादन है।

जिहि हरि जैसा जांणियां, तिन कूं तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लग धसै न आभ॥ २१॥

जिसने भगवान् को जिस रूप में समझा है, उसको उसी के अनुरूप फल की सिद्धि है। अल्प शक्तिमान इन्द्रादिक को ही भगवान समझना ओस को ही पानी समझना है। ओस से प्यास नहीं बुझती, उसके लिए पानी चाहिए। अतः जब तक पानी अन्दर नहीं जाता अथवा जब तक व्यक्ति पानी में प्रवेश नहीं करता है, तब तक प्यास नहीं जाती। इसी कारण विभिन्न देवताओं के रूप में भगवान् की आराधना से संसार के ताप नष्ट नहीं हो सकते। उसमें तो ब्रह्म-रूप की उपासना ही सक्षम है। वही पूर्ण जल रूप है। देवताओं की उपासना तो केवल ओसरूप है।

टिप्पणी—तुलना कीजिए—'ये यथा माम प्रपद्यन्ते तांनस्तथैव भजाम्यहम्'।

× × ×

'यान्ति देवव्रता देवान् यान्ति मद्याजिनोऽपि याम्॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता)

अलंकार—निदर्शना

राम पियारा छांड़ि करि, करै आन का जाप ।
बेस्यां केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सूं बाप ॥ २२ ॥

जो परम प्रेमास्पद भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं को जपता है, वह अनेक का भक्त होने के कारण वेश्या के पुत्र के समान है। वह किसी को भी अपना पिता नहीं कह सकता है।

टिप्पणी—'बहुदेववाद' को व्यभिचार के समान बताया है। जब वेश्या पुत्र पिता को पहचानता ही नहीं तो उसे प्राप्त भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार बहु-देववादी जीव भी ईश्वर को न पहचानने के कारण प्राप्त नहीं कर सकता है। यही व्यंजना है।

अलंकार—उपमा और रूपक।

कबीर आपण राम कहि, औरां राम कहाइ ।
जिहि मुखि राम न उचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥ २३ ॥

कबीर कहते हैं कि स्वयं रामनाम का उच्चारण करो तथा अन्य लोगों से भी कराओ। जिस मुख से रामनाम नहीं निकलता है उससे कहलाने की फिर चेष्टा करो। उसके मुख से जब तक रामनाम न निकले तब तक चेष्टा करते रहो।

जैसें माया मन रमैं, यूं जे राम रमाइ ।
तौ तारा मंडल छाँड़ि करि, जहाँ केसो तहाँ जाइ ॥ २४ ॥

जैसे जीव संसार में रमा हुआ है उसी दृढ़ आसक्ति के साथ अगर वह राम में तल्लीन हो जाता है, तो सम्पूर्ण तारा-मण्डल अर्थात् विश्व के ऊपर उठकर जहाँ केशव हैं, वहाँ चला जाता है। उस परम ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है तथा इस साधना से जीव मूलतः जहाँ का है, जिसका अंग है, वहीं चला जाता है और उसी से अभिन्न हो जाता है।

टिप्पणी—'केसो' में सभंग पद श्लेष है। परानुरक्ति ही मोक्ष का साधन है। यही विवक्षा है।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम है लूटि ।
पीछैं ही पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि ॥ २५ ॥

सब जगह रामनाम की लूट मची हुई है। अगर सामर्थ्य और सद्बुद्धि है तो ऐसे स्वर्ण-अवसर को छोड़ो मत, अन्यथा इस मानव शरीर के छूटने पर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

टिप्पणी—'राम की प्राप्ति ही इस जीवन की कृतार्थता है। कण-कण में राम ही व्याप्त है तथा सम्पूर्ण कर्म, भगवान की आराधना ही है। इस बुद्धि वाले को सर्वत्र लूट ही लगती है, उसके लिए यह सहज लभ्य है। इसी बुद्धि को विकसित करने की प्रेरणा है।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार।
काल कंठ तैं गहैगा, दसूं दुवार ॥ २६ ॥

रामनाम के स्मरण का अक्षय भण्डार लूट सको तो लूट लो। इस प्रकार इस पर अपना अधिकार कर लो। फिर मृत्यु घेर ही लेगी, गले से दबोच ही लेगी, तब शरीर के दसों द्वार बन्द हो जायेंगे और वह चेतना शून्य हो जायेगा। उस समय राम का स्मरण कौन करेगा ? और कैसे करेगा ?

टिप्पणी—शरीर के दस द्वार हैं—दो आँख, दो नासिका विवर, दो कान, एक मुख, गुदा मार्ग, मूत्र मार्ग एवं ब्रह्मरन्ध्र। प्राण निकलने पर ये सब बन्द हो जाते हैं, अर्थात् विषयों को ग्रहण नहीं कर सकते।

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यूँ पाइये दुरलभ हरि दीदार ॥ २७ ॥

जीव के लिए अपने लक्ष्य ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग बहुत लम्बा है। क्योंकि अनेक जन्मों के बाद मुक्ति प्राप्त होती है। द्वैत-भावना, अज्ञान, विक्षेप, संशय आदि के अनेक व्यवधान बीच में आते हैं; अतः रास्ता भी अत्यन्त दुर्गम है। रास्ते में काम, क्रोध, लोभ आदि अनेक डाकू हैं। हे सन्तो इस प्रकार के अत्यन्त दुर्लभ हरि-दर्शन को जीव सरलता से कैसे प्राप्त कर सकता है।

टिप्पणी—तुलना कीजिये—'अनेकजन्मसंसिद्धि ततो याति परम् गतिम्' 'बहु मार' आदि में 'रूपकातिशयोक्ति अलंकार' है।

गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न राम बियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूँ पावै दुर्लभ जोग ॥ २८ ॥

भगवान् के गुणों को स्मरण करने से त्रिगुणात्मक माया के बन्धन कट जाते हैं। अतः हे जीव भगवान् के वियोग में राम-नाम की रट क्यों नहीं लगाता है ? अब तू रात-दिन भगवान् का ध्यान नहीं करता है तो तुझे भगवान् के दर्शन का दुर्लभ सुयोग कैसे प्राप्त हो सकता है ?

पाठान्तर—'गुण गाये गुण न कटै'।

अगर भगवान् के गुण-गान से (सामान्य गुण कथन मात्रा से तुम्हारा त्रिगुण का बंधन नहीं कटा अथवा त्रिगुण माया के गुणगान से अर्थात् माया में अनुरक्त रहने से त्रिगुण का बन्धन नहीं कटता है) अतः 'रटै न राम वियोग'।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूँत नाहीं ठाम ॥ २९ ॥

भगवान् के नाम-स्मरण में अनेक कठिनाइयाँ हैं। यह खाण्डे की धार पर चलना है। यह भी नट के सूली पर चढ़कर किये जाने वाले खेलों के समान है। इस सूली पर से गिरने पर जैसे नट के बचने की कोई आशा नहीं है, वैसे ही इस भक्ति-साधना से पथ-भ्रष्ट होने पर जीव के उत्थान का कोई मार्ग नहीं है।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार है।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरे, छीलर देखि अनंत॥ ३०॥

हे जीव ! अपनी जिह्वा से सहमति लेकर रामनाम का ध्यान करो; अर्थात् मन और जीभ—दोनों को नाम-स्मरण में लगा दो। मात्र अनेक सांसारिक सिद्धियों को देने वाले अतः उथली तलैया रूप देवताओं की ओर आकृष्ट होकर परमानन्द की अपार जल-राशि से पूर्ण असीम सागर रूप भगवान् का विस्मरण मत करो।

टिप्पणी—अलंकार—'रूपक और रूपकातिशयोक्ति'। इसी अंग की सा० २१ के भाव की छाया भी है।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ॥ ३१॥

मुख से परमब्रह्म के अमृत रूप गुणों का गान करके, जीव, तुम भगवान् को प्रसन्न कर लो और अपने मन को वैसे ही जोड़ लो, जैसे टूटे हुए रत्न को सन्धि से सन्धि मिलाकर एक कर लिया जाता है।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार। 'मन जोड़ने' से अभिप्राय है विषय-वासनाओं की दरारों से युक्त विदीर्ण मन को भक्ति-भावना की अखण्ड वृत्ति देना। इससे जीव भगवान् से वैसे ही तदाकार हो जायेगा जैसे रत्न के दो टुकड़े मिलकर एक हो जाते हैं। जीव अज्ञान से पूर्व भगवान् का अभिन्न अंश था और अब पुनः उसका अभिन्न अंश हो जायेगा। जीव और ब्रह्म के द्वैत को दूर करने का सन्देश है। सिद्ध-सम्प्रदाय में मणि का चित्त के लिए तथा वज्र का परमतत्त्व के लिए प्रयोग होता रहा है। इस प्रकार उनकी पारस्परिक सन्धि मिलाने की बात सिद्ध-परम्परा का अवशेष है। इस प्रतीक का प्रयोग अद्वैत-स्थापना की प्रेरणा के लिए हुआ है।

कबीर चित चमंकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ॥ ३२॥

कबीर कहते हैं—"रे चित्त, तुममें बोध रूपी चमक पैदा हो गई है। अब मुझको सारे संसार में विषय-वासना-रूपी आग लगी हुई दिखाई देती है।" अर्थात् चारों ओर विषय-वासना की आग लगी है, यह देखकर कबीर का चित्त चौंक गया है। वे अपने आपका उद्बोधन करते हैं—"जीव, तुम्हारे हाथ में भगवान् के स्मरण रूपी जल का घड़ा है। तुम उससे इस विषय-वासना रूपी आग को बुझा क्यों नहीं लेते हो ?"

टिप्पणी—भक्ति से विषय-वासना का ताप शीलता से परिणत हो जाता है। 'सांगरूपक' अलंकार है।

(३) बिरह कौ अंग

रात्यूं रूंनी बिरहनी, ज्यूं बंचौ (बच्चौ) कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज॥ १॥

गुरु के उपदेश से जीवात्मा को ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान हो गया है और उसके प्रति प्रेम भी जाग गया है। अतः यह विरहिणी जीवात्मा शेष जीवन रूपी अज्ञान की रात्रि में वैसे ही होती रही जैसे कुञ्ज पक्षी गये हुए साथी के लिए रोता है। कबीर कहते हैं कि क्या करे। विरह की आग से उसका अन्तःकरण प्रज्वलित हो गया है और उसके हृदय में अत्यधिक विरह-वेदना जाग गई है।

टिप्पणी—रूपक और उपमा अलंकार।

अपने प्रिय से वंचित क्रौञ्च पक्षी के रुदन की जीवात्मा के अपने पति परमात्मा से बिछुड़ने की वेदना से तुलना ठीक बैठती है। उसमें रहस्यवादी भावना के लिए गृहीत रूपक का समुचित निर्वाह है।

बच्चों वाले अर्थ में रहस्यवाद के लिए सामान्यतः गृहीत रूपक का निर्वाह नहीं है। वैसे 'वात्सल्य भाव' की भक्ति की तरह 'वात्सल्य भाव' के रहस्यवाद की भी कल्पना सम्भव है। इस अर्थ के केवल प्रेम व्यथा की तीव्रता की व्यंजना अवश्य है।

अंबर कुंजा कुरलिया, गरजि भरे सब ताल।
जिनि थैं गोबिंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल॥ २॥

आकाश में कुंजा पक्षी अत्यधिक वेदना से रो रहा है और उसने अपनी इस व्यथा की ध्वनि से सारे तालाबों को गुंजायमान करते हुए भर दिया है। जब रात-भर के लिए सांसारिक प्रियजन के बिछुड़ने वाले कुंजा पक्षी की यह अवस्था है तो जो जीवात्मा अनन्त जन्मों के लिए भगवान् से बिछुड़ गई है उसकी वेदना की तो सीमा ही क्या है?

टिप्पणी—'व्यतिरेक' की व्यंजना है। अतिशयोक्ति अलङ्कार।

दूसरा अर्थ—कुंजा पक्षी के रोने से द्रवित होकर मेघ ने वर्षा कर दी पर भगवान् से बिछुड़े हुए जिन व्यक्तियों पर कृपा अभी नहीं हुई; उनका क्या हाल है?

जीव की विरह-व्यथा से सारा जगत् भी वेदनामय हो गया है, इसकी भी व्यंजना है।

चकवी बिछुटी रैंणि की, आई मिलि परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न रीति॥ ३॥

चकवी अपने पति से रात में बिछुड़ जाती है तो प्रातःकाल आकर मिल लेती है। पर जो जीव भगवान् से बिछुड़ गये हैं उनका मिलन न रात में होता है और न दिन में; जीवन भर ही नहीं होता है।

टिप्पणी—व्यतिरेक अलङ्कार । वियोग शृंगार । मिलने की आकुलता व्यंजित है ।

बासुरि सुख नाँ रैंणि सुख, नाँ सुख सुपिनैं माँहि ।
कबीर बिछुट्या राम सूँ, ना सुख धूप न छाँह ॥ ४ ॥

भगवान राम से बिछुड़ने पर जीव को कहीं भी सुख नहीं मिलता है । न तो रात में सुख है और न दिन में; न धूप में सुख है और न छाया में, संसार मे उसे कहीं भी सुख नहीं है ।

टिप्पणी—विरह की विकलता की अच्छी छवि है ।

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ ॥ ५ ॥

विरहिणी जीवात्मा जीवन-मार्ग में खड़ी हुई दौड़-दौड़कर आते-जाते पथिकों एवं साधकों से अपने प्रियतम के आगमन के विषय में पूछ रही है । कोई, बस, संदेश का एक शब्द कह दे कि उसके प्रियतम उससे कब मिलेंगे ?

टिप्पणी—विकलता की उत्कटता की सरल भाषा में व्यंजना है । प्रत्येक व्यक्ति से पूछने में विफलता के साथ ही अनेक साधनाओं में भटकने की भी व्यंजना है ।

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम ।
जिव तरसै तुम्र मिलन कूं, मनि नाहीं विश्राम ॥ ६ ॥

जीवात्मा कह रही है—'बहुत दिनों से प्रियतम, मैं तुम्हारी बाट देख रही हूँ । तुमसे मिलन के लिए मेरा हृदय तरस रहा है और तुम्हारे विरह में मेरा अन्तःकरण बेचैन है ।"

टिप्पणी—विप्रलम्भ शृंगार की भक्ति ।

बिरहिन ऊठै भी पड़ै, दरसन कारनि राम ।
मूवां पीछै देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥ ७ ॥

विरहिणी जीवात्मा भगवान् के दर्शन के लिए बेचैन है । कभी उठती है और कभी बैठती है । या कभी उठती है पर फिर गिर पड़ती है । उसका धैर्य छूट रहा है कि अगर मरने के बाद दर्शन देने भगवान् आये तो क्या लाभ है ?

टिप्पणी—विरहिणी का बिम्ब ग्रहण है । उत्कट व्याकुलता की व्यंजना है ।

मूवां पीछे जिनि मिलै, कहै कबीरा राम ।
पाथर घाटा लोहा सब, तब पारस कौणे काम ॥ ८ ॥

कबीर अनुनय करते हैं 'हे भगवान् ! मरने के बाद दर्शन देने मत आना, उससे पूर्व ही मिलो ।' पारस पत्थर की तलाश में पत्थरों से रगड़ते-रगड़ते जब सारा लोहा ही समाप्त हो जाय तो उसके बाद पारस पत्थर के मिलने का भी क्या उपयोग है ?

मृत्यु के बाद भगवान् के मिलने की कल्पना केवल बेचैनी की अतिशयता की व्यंजना के लिए ही हैं। यह कबीर के जीवन-दर्शन का कोई तत्त्व नहीं है। जीवात्मा के मरने की कोई कल्पना कबीर-दर्शन में नहीं है। 'मोहे मरने को चाव' जैसी पंक्तियों में भी लक्षणा ही माननी पड़ती है। यहाँ 'जीवन्मृत' अवस्था प्राप्त करने की आकांक्षा है। अथवा चारों ओर विषय-भावना की आग लगी है, यह देखकर कबीर का चित्त चौंक गया। 'मूवां पीछैं' में ईश्वर प्रेम कहीं धूमिल न हो जाय, इसकी आशंका मात्र व्यंजित है।

अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियां।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां॥ ९॥

संदेशों से विरह जनित आशंकायें तथा हृदय की व्यथा दूर नहीं होगी। या तो भगवान् स्वयं आकर मुझे अपनालें या मैं ही भगवान् के पास पहुँच जाऊँ, तभी अंदेशा दूर होगा। अर्थात् हरि-मिलन से ही यह व्यथा दूर हो सकती है।

टिप्पणी—भक्ति में भगवान् के द्वारा ही भक्त को अपनालेने के अनुग्रह तथा भक्त की सेवा-भक्ति से भगवान् की प्राप्ति—ये दोनों ही बातें रही हैं। इस अलौकिक प्रेम में भी लौकिक प्रेम की तरह कभी प्रेमी प्रेमिका के पास अभिसार के लिए आता है और कभी प्रेमिका अभिसारिणी बनती है। कबीर में दूसरा पक्ष अधिक है। पर यहाँ कबीर ने दोनों का ही संकेत किया है।

यहाँ "यं एष वृणुते तेनैव लभ्यः"—के दोनों ही अर्थों की छाया है।

विरहिणी जीवात्मा कहती है, "हे भगवान्, न तो आप तक मैं पहुँच सकती हूँ और न मैं आपको अपने तक बुला ही पाती हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि आप मुझे यों ही विरह में तपा-तपा कर मेरे प्राण लेलेंगे।"

आइ न सकौं तुझ पैं, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यूँही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥ १०॥

टिप्पणी—विरहिणी की असमर्थता एवं कलमष की चेतना का मर्मस्पर्शी चित्र है। विप्रलम्भ शृंगार की भक्ति।

यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि॥ ११॥

मैं इस शरीर को जलाकर इस प्रकार भस्म कर दूं कि इसके जलने की धूम स्वर्ग तक पहुँच जाय। भगवान् को दया मत करने दो और अपने स्नेह की वर्षा से मेरी विरहाग्नि को मत बुझाने दो। देखें, यह कब तक चलता है?

दूसरा अर्थ—मेरे विरह से द्रवित होकर कहीं भगवान् शीघ्र ही मेरे ताप को बुझा न दें। कहीं मुझे अस्थायी शान्ति न दे दें। मैं अपने शरीर को भस्म करके उसके धूम रूप सूक्ष्म तत्त्व को उन तक पहुँचाना चाहता हूँ।

तीसरा अर्थ—सोचता हूँ कि सम्भवतः राम मुझ पर दया करें और अपने अनुग्रह की वर्षा से मेरी विरहाग्नि बुझा दें।

टिप्पणी—अगाध प्रेम में प्रिय को चुनौती दी गई है।

'अतिशयोक्ति' अलङ्कार।

यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करौं करंक की, लिखि-लिखि राम पठाउँ॥ १२॥

मैं इस शरीर को जलाकर स्याही बना लूँगी और मेरे इस नर-कंकाल की लेखनी तैयार करूँगी। बस, इसी से भगवान् को लिख-लिख कर प्रेम संदेश भेजती रहूँगी।

टिप्पणी—उपर्युक्त दोनों साखियों में प्रेम पर अपने शरीर की आहुति की भावना से विरह की उत्कट वेदना की अभिव्यक्ति हुई है। यह 'फारसी' का प्रभाव है। 'करंक' आदि की 'जुगुप्सा' का भी प्रेम से यहाँ विरोध कम प्रतीत होता है।

कबीर पीड़ पिरावनीं, पंजर पीड़ न जाइ।
एक ज पीड़ परीति की, रही कलेजा छाइ॥ १३॥

कबीर कहते हैं कि विरह की पीड़ा अत्यन्त वेदना देने वाली है। इस शरीर रूपी पिजड़े से यह निकलती नहीं है। यह प्रेम की वेदना जो ठहरी, हृदय पर छा गई है? (यह पीड़ा भी हृदय को प्रिय लगती है।) अथवा पीड़ा मात्र ही कष्टदायिनी होती है। वह शरीर से जाती नहीं। एक जो प्रेम की पीड़ा है, वह तो मेरे कलेजे में घर ही कर गई है।

टिप्पणी—'व्यतिरेक' अलंकार।

चोट सतांणी बिरह की, सब तन जरजर होइ।
मारणहारा जांणिहै, कै जिहिं लागी सोइ॥ १४॥

यह विरह की पीड़ा अत्यन्त कष्टदायिनी है। इससे सम्पूर्ण शरीर जर्जर हो गया है। पर इस चोट की मर्मव्यथा और गहराई को या तो वह समझता है जिसको चोट लगी है या वह जानता है जिसने चोट की है। क्योंकि उसकी चोट सहना ही चोट करना है। अर्थात् इस मर्मव्यथा का अनुभव केवल दोनों प्रेमियों को ही हो सकता है।

टिप्पणी—विप्रलम्भ शृंगार।

कर कमाण सर साँधि करि, खेंचि जु मार्‌या मांहि।
भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नांहि॥ १५॥

हाथ में धनुष लेकर तथा तीर का निशाना साध कर शिकारी ने तो गहरी भीतरी चोट की है, वह सफल चोट मर्म में समा गई है। अब इस चोट से आहत जियेगा या नहीं—इसमें संदेह है।

टिप्पणी—अन्योक्ति अलङ्कार। भगवान् के प्रेम से आहत होकर भक्त जीवन

मृतक हो जाता है । इसी भाव की व्यंजना है । भगवान् या गुरु शिकारी है तथा प्रेम या शब्द बाण हैं ।

जबहूँ मार्या खैंचि करि, तब मैं पाई जांणि ।
लागि चोटि मरम्म की, गई अलेजा छाँड़ि ॥ १६ ॥

जीवात्मा कह रही है कि जब भगवान् ने अपने प्रेम का बाण खैंच कर मार ही दिया तब मुझे बोध हुआ । यह चोट मर्मभेदी है और अन्तःकरण को छेदकर आर-पार हो गई है ।

टिप्पणी—सामान्य प्रेम की पीर भी अचानक ही जागती है, फिर यह तो ईश्वर प्रेम है । इस चोट से कलेजा छलनी हो गया, सांसारिक आसक्ति का जल अब इसमें नहीं ठहर सकता ।

'सांगरूपक' ।

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या ।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सचुपाऊँ (सचपाऊँ) नहीं ॥ १७ ॥

जिस प्रेम-बाण से कल मारी गई थी, वह मेरे मन को भाता है । वही बाण आज फिर मारो । मेरा हृदय इस प्रेम-बाण के बिना शान्ति का अनुभव नहीं करता है ।

टिप्पणी—'ऊधौ विरहौ प्रेम करै' विरह भी प्रेमास्पद बन जाता है । इसकी अत्यन्त सरल अभिव्यक्ति है ।

'रूपकातिशयोक्ति' तथा 'अनुज्ञा' अलंकार ।

बिरह भुवगम तन बसै, मंत्र न लागै कोई ।
राम बियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ ॥ १८ ॥

विरह रूपी सर्प हृदय में ही निवास करता है । वह निरन्तर डसता रहता है । अब इस तन पर मंत्रादिक के उपचार नहीं चल सकते हैं । राम से वियुक्त जीव जी नहीं सकता है । अगर जीता है तो पागल ही रहता है । अर्थात् सांसारिक विषयों के ग्रहण की दृष्टि से पागल-सा हो जाता है ।

टिप्पणी—'सांगरूपक' । भगवान् के प्रेम का विरही संसार की दृष्टि से तो पागल ही हो जाता है । ईश्वर से मिलन ही इसका एक मात्र उपचार है, अन्य साधनायें व्यर्थ हैं ।

तुलना कीजिए—मूढ़वत् तिष्ठासेत् ।

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव ।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूं भावै त्यूं खाव ॥ १६ ॥

विरह रूपी सर्प ने हृदय में घुसकर उसमें घाव कर दिया है । पर साधु अर्थात् प्रेमी भक्त अपने अंग हटाता नहीं । सर्प की जैसी इच्छा हो, वैसे ही खाता रहे ।

टिप्पणी—'सांगरूपक'। 'घाव' शाश्वत रहने वाली वेदना का प्रतीक है।

सब रँग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त॥ २०॥

भगवान् के प्रेम में सम्पूर्ण शरीर की नसें ही तांत तथा शरीर ही सारंगी बाजा बन गये हैं। विरह इसको नित्य बजाता है। इसमें से जो प्रेम की रागिनी निकलती है; उसे या तो प्रेमी का चित्त ही सुनता है या स्वयं प्रियजन भगवान् ही।

टिप्पणी—विरह शरीर और मन की क्रियाओं में ईश्वर-प्रेम की विशेष लय जगा देता है और उससे एक प्रेम संगीत की सृष्टि होती है। भक्त का सारा जीवन ही संगीत हो जाता है। इसी का चित्र है। 'सांगरूपक'।

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिह घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥ २१॥

विरह को बुरी या तुच्छ वस्तु मत कहो यह तो राजा है। जिस अन्तःकरण में विरह का संचार नहीं है, वह तो श्मशान के समान है, शून्य है एवं अपवित्र है।

टिप्पणी—प्रेम में प्रतिक्षण विरह रहता है। प्रेम विरह रूपी ही है। अतः प्रेम-शून्य अन्तःकरण को श्मशान कहा गया है।

अंषड़ियाँ झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला पड़या, राम पुकारि पुकारि॥ २२॥

प्रियतम की बाट देखते-देखते आँखों में अँधेरा सा छाने लगा है। इस जिह्वा पर भी राम को पुकारते-पुकारते छाले पड़ गये हैं अर्थात् ये दोनों अंग पीड़ित हो गये हैं। पर अभी तक भगवान् से मिलन नहीं हुआ।

टिप्पणी—विरह की विकलता का सहज एवं मर्मस्पर्शी चित्र है। यह व्यथा भी काव्य है।

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्हूँ जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव॥ २३॥

विरह की असह्य उत्कटता में आत्मा कह रही है कि इन शरीर का दीपक बना लूँ और प्राण को उसकी बत्ती कर दूँ। इसे अपने शरीर के रक्त-रूपी तेल से सींचता रहूँ। उस प्रकाश में ही प्रियतम का मुख किसी प्रकार शीघ्र दिखाई दे जाय।

टिप्पणी—प्रतीक्षा का एक क्षण भी असह्य है। अपने आपको मिटाकर भी प्रियतम के दर्शन करने की आकांक्षा में विरह की तीव्रता ही व्यंजित है। 'लोहू' आदि की बात फारसी प्रभाव है। इससे भारतीय सहृदय को 'जुगुप्सा' के संस्पर्श से 'रति' के परिपाक में बाधा का अनुभव होता है। पर कबीर ने जुगुप्सा' वाले अंश को उस सीमा तक बढ़ने नहीं दिया है।

साकेत की 'उर्मिला के कथन' से तुलना कीजिए।

नैनां नीझर लाइया, रहट वहै निस जाम।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ॥ २४ ॥

आँखों से आँसुओं की अविरल झड़ी लगी हुई है। रात-दिन 'रहट' की तरह उमड़-उमड़ कर अन्तःकरण आँसुओं में वह रहा है। मैं (जीवात्मा) पपीहे की तरह निरन्तर पुकार रही हूँ—"हे प्रियतम, आप कब मिलेंगे ?"

टिप्पणी—'रहट' से तुलना द्रष्टव्य है। विरह की विकलता का बिम्ब-ग्रहण है। गम्योत्प्रेक्षा एवं उपमा की संतृष्टि है।

अंषड़ियां प्रेम कसाइयां, लोग जंणें दुखड़ियां।
सांईं अपणें कारणें, रोइ रोइ रतड़ियां ॥ २५ ॥

आँखें प्रेम से लाल हो गई हैं; पर जगत् समझता है कि आँखें आ गई हैं। कैसी विडम्बना है! जगत् को इस व्यथा का कहाँ ज्ञान है कि मैं अपने प्रिय के लिए रात-रात भर रोयी हूँ और मैंने रो-रो कर आँखें लाल कर ली हैं।

सोई आंसू सजणां सोई लोक बिड़ांहि।
जे लोइण लोंहीं चुवै तौ जांणौं हेतु हियांहि ॥ २६ ॥

वे ही आँसू अपने प्रियतम के लिए, और वे ही दूसरे लोगों के लिए; इससे प्रेम की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। प्रेम अनन्य होता है, अतः असाधारणता से ही व्यक्त हो सकता है। अतः अपने जीवन के लिए हृदय में प्रेम है, यह तो तब प्रकट होगा जब नेत्रों से खून के आँसू बहेंगे।

पहली पंक्ति का दूसरा अर्थ—नेत्रों से निकले हुए आँसू ही शोभा के हेतु भी हैं तथा उन्हीं की लोग निन्दा भी करते हैं। यह सब अश्रु के मूल की भावना से अन्तर हो जाता है।

टिप्पणी—व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनित है।

कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइए, प्रेम पियारा मित्त ॥ २७ ॥

कबीर कहते हैं कि हँसना छोड़कर रोने में मन लगाओ; व्यथा में तन्मय हो जाओ। बिना रोये कहीं प्रेमी प्यारा और मित्र मिलते हैं ?

टिप्पणी—'हँसना' इन्द्रियोपभोग एवं हास-उल्लास का तथा 'रोना' विरक्ति और व्यथा का प्रतीक है।

जौ रोऊँ तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ।
मन ही माँहि विसूरणा, ज्यूं घुंण काठहि खाइ ॥ २८ ॥

अगर रोता हूँ तो प्रेम की शक्ति कम होती है और अगर हँसता हूँ, अर्थात् विषयों में अनुरक्त होता हूँ अथवा व्यथा पर हँस लेता हूँ तो व्यथा के कम हो जाने भगवान् रुष्ट हो जाते हैं। इसलिये अन्तःकरण में विसूरना ही उचित है, ताकि व्यथा

से अन्दर ही अन्दर इस प्रकार खोखला होता रहूँ जैसे दीमक के खाने से काठ होता रहता है।

टिप्पणी—'बिसूरना' शब्द में प्रियतम से मिलन की तीव्र आकांक्षा तथा तद्जनित गहरे अनुताप की हृदयस्पर्शी व्यंजना है। रोने से 'प्रेम की शक्ति कम होने में' मनोवैज्ञानिकता द्रष्टव्य है। 'खोखला होने में' विषयासक्ति के अभाव की आकांक्षा ध्वनित है।

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हाँसे ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ॥ २९॥

विषय-वासनाओं के उल्लास में रमे रहने से भगवान् रूपी प्रियतम की प्राप्ति नहीं होती। प्रियतम की प्राप्ति हँसने से नहीं रोने से; अर्थात् प्रेम की वेदना से ही होती है। यदि हँसने से, विषय-वासनाओं के उल्लास से ही, प्रियतम मिलते तो संसार में कोई भी जीवात्मा सुहागिन अर्थात् प्रिय के प्रेम से वंचित नहीं होती, क्योंकि विषय वासनाओं में तो सबका मन सहज ही रमता है।

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास।

हाँसौ खेलौं हरि मिलै, कोण सहै षरसान।
काम क्रोध त्रिष्णाँ तजै, ताहि मिलै भगवान॥ ३०॥

हँसते-खेलते और विषय-वासनाओं में रमते हुए ही अगर भगवान् मिल जाते तो व्यथा की सान पर कौन चढ़ता तब ताप सहने की क्या आवश्यकता होती? काम-क्रोध और तृष्णा को छोड़ने पर ही भगवान की प्राप्ति होती है।

पूत पियारो पिता कौं, गौंहनि लागो धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गयो भुलाइ॥ ३१॥

पिता का प्रिय पुत्र दौड़कर उसके साथ हो लिया। पिता ने लोभ-रूपी मिठाई उसके हाथ में दे दी। यह बालक उसी में रमकर अपने आपको अथवा अपने आप में ही भूल गया और इससे पिता का साथ छूट गया।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' से यहाँ पर जीवात्मा और परमात्मा के पारस्परिक पिता-पुत्र के सम्बन्ध, जीवात्मा के संसार में रमकर अपने स्वरूप को भूलने, परमात्मा का साथ छोड़ देने तथा पुनः परमात्मा को प्राप्त कर लेने की आकांक्षा की व्यंजना है। इसमें पिता-पुत्र के सम्बन्ध से रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है।

डारी खाँड पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ॥ ३२॥

पुत्र-जीव को जब पिता से बिछुड़ने का बोध हुआ तो उसमें विरह की व्यथा जाग गई। अन्तस्तल में गहरा रोष उपजाकर उस बच्चे ने विषय-वासनाओं की आसक्ति-रूप मिठाई को पटक दिया और वह व्यथा से रोते-रोते अपने पिता से तदाकार हो गया।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति। इसमें भी पिता-पुत्र-भाव का रहस्यवाद है। प्रेम की व्यथा से ईश्वर प्राप्ति की व्यंजना है।

नैनाँ अंतरि आव तूँ (आचरूँ), निस दिन निरषौं तोहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहि॥ ३३॥

जीवात्मा अपनी तीव्र अभिलाषा को व्यक्त करती है। हे भगवान्, तुम मेरे नेत्रों में आ जाओ अथवा मैं समा लूँ ताकि मैं तुमको रात दिन देखती रहूँ। वह दिन कब होगा जब प्रियतम को अपनी आँखों में रखूँगी और रात-दिन उसे देखती रहूँगी हे भगवान, आप मुझे कब दर्शन देंगे? मुझे शीघ्र ही वह दिन देखने का सौभाग्य हो, जब आपके दर्शन हों। (सामान्य रूप से ब्रह्म हमेशा ही प्रत्यक्ष है। विशेष रूप से प्रत्यक्ष कामना है।)

टिप्पणी—अभिलाषा और औत्सुक्य के भाव हैं। माधुर्य भाव की भक्ति है।

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ॥ ३४॥

कबीर कहते हैं कि प्रियतम की प्रतीक्षा में दिन भी बीत गया और रात भी चली गई। पर विरहिणी को प्रिय के दर्शन नहीं हुए। अतः अन्दर ही अन्दर उसका हृदय तड़प रहा है।

कै विरहनि कूं मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणाँ, मोपै सह्या न जाइ॥ ३५॥

"हे भगवान्, मुझ विरहिणी को मौत दे दे, अन्यथा अपने स्वरूप के दर्शन करा दे। आठों पहर का जलना मुझ से नहीं सहा जा रहा है।"

टिप्पणी—पूर्ववर्ती तथा इस साखी में लौकिक एवं अलौकिक—दोनों स्तरों के प्रेम की व्यंजना है।

'मीच दे'—अलौकिक प्रेम के पक्ष में विरह विकलता की अतिशयता को व्यक्त करने के लिए है।

विरहिण थी तौ क्यूँ रही जली न पीव के नालि।
रहु रहु मुगध गहेलडी, प्रेम न लाजूँ मारि॥ ३६॥

विरहिणी अपने आपकी भर्त्सना कर रही है। रे मूढ़, अगर सच्ची विरहिणी थी तो क्यों रह गई? अपने प्रिय के साथ क्यों नहीं जल गई? बस-बस रहने दे, मुग्ध और पागल तुम प्रेम को लज्जित मत करो? विषय की लालसा के नशे के कारण तुझ में पति के लिए अनन्यत्व एवं समर्पण बुद्धि नहीं है।

टिप्पणी—आत्मग्लानि का भाव है। 'अन्योक्ति' से जीवात्मा के विरह की व्यंजना है। अन्य साधनाओं में उलझे रहने का संकेत है।

हौं बिरह की लाकड़ी, समझि समझि धूँधाऊं।
छुटि पड़ौं या बिरह तें, जे सारीही जलि जाऊं॥ ३७॥

जीवात्मा कहती है कि मैं विरह की अग्नि की या विचित्र लकड़ी हूँ। ज्यों-ज्यों मुझे बोध होता जाता है, त्यों-त्यों मैं उस विरह-वेदना की आग में सुलग-सुलग कर धूम दे रही हूँ। अगर मैं एक साथ ही सारी जल जाऊँ तो इस विरह की व्यथा से ही मुझे छुटकारा मिल जाय।

टिप्पणी—अभी शेष बची हुई संसार की आसक्ति तथा गुँथे हुए अहंकार ही गाँठे हैं। 'बिरह' शब्द में वियोग, विचित्रता एवं विभिन्नता के अर्थ एक साथ ही समाहित हो गये हैं।

लौकिक प्रेम में—सम्पूर्ण जलकर व्यथा से छुटकारा मिलने में विरोधाभास का चमत्कार है, पर ईश्वर-प्रेम के प्रसंग में तो अहंकार एवं पृथकता के नष्ट होने से परमात्मा में विलय संभव है, ये दोनों ही व्यंजनाएँ हैं।

रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार।

कबीर तन मन यौं जल्या, बिरह अगनि सूं लागि।
मृतक पीड़ न जाँणई, जाँणैगी यहु आगि॥ ३८॥

विरहाग्नि से तन-मन इतना जल गया है, पर इस अनुभूति के लिए जो मृतक है उसको इस जलन का अनुभव नहीं हो सकता है। जीव की चेतना—उसकी स्वानुभूति ही—इस प्रेम की जलन को समझती है। यह जलन बाह्य इन्द्रियों और मन के द्वारा ग्राह्य नहीं है। यह आभ्यन्तर व्यथा है, अतः स्वानुभूत है।

टिप्पणी—'आग ही आग को जानती है।' रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है—'इच्छा के द्वारा ही इच्छा-स्वरूप और आनन्द स्वरूप को जानना पड़ता है।'

बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जलहरि जाऊं।
मो देख्याँ जलहरि जलै, संतौ कहाँ बुझाऊँ॥ ३९॥

जीवात्मा कह रही है कि मैं विरह से जलाई हुई जल रही हूँ और इसी अवस्था में जब जल के स्थान पर अपनी आग बुझाने के लिए जाती हूँ तो वह जल का आगार भी मेरी आग से जलने लगता है। हे सन्तो कहो, अब यह आग कहाँ बुझाऊँ?

टिप्पणी—'जलहरि' गुरु अथवा विभिन्न साधनायें हैं। प्रेम और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य साधनायें इस विरहाग्नि को बुझा ही नहीं सकतीं। वे तो साधक को व्यर्थ लगने लगती हैं; अतः जल जाने के समान है। मुमुक्षु और प्रेमी की विरहाग्नि से गुरु का भी ईश्वर-प्रेम अधिक उद्दीप्त हो जाता है, अतः वह भी अधिक जलने लगता है। यहाँ विरह-वेदना की तीव्रता तथा मिलन की आकांक्षा की उत्कृष्टता व्यंजित है।

'रूपक' अलङ्कार ।

परबति परबति मैं फिर्या, नैन गँवाये रोइ ।
सो बूटी पाँऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ ॥ ४० ॥

प्रिय के विरह में मैं पर्वत-पर्वत घूमा और मैंने रो-रो कर अपने नेत्र भी खो दिये । पर वह जड़ी-बूटी कहीं नहीं मिल रही है, जिससे जीवन की प्राप्ति होती ।

टिप्पणी—इसमें 'संजीवनी बूटी की कथा का प्रसंगगर्भत्व है । 'अन्योक्ति' है । 'परबति' और 'बूटी' में 'रूपकातिशयोक्ति' भी हो सकती है । वे क्रमशः साधनायें एवं प्रेम के द्योतक हैं ।

फाड़ि पुटोला धज करौं, कामलड़ी (कम्बलड़ी) पहिराउं ।
जिहि जिहि भेषाँ हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउं ॥ ४१ ॥

अपनी रेशमी ओढ़नी को फाड़कर ध्वज बना लूँगीं और कम्बल धारण कर लूँगी । भगवान जिस वेश में मिलें, वही वेश कर लूँगी । भोग छोड़कर विरक्त होने को तैयार हूँ ।

टिप्पणी—'रेशगी ओढ़नी की फाड़कर धज्जियाँ कर डालूँ ।' यह अर्थ भी संभव है ।

नैंन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ैं तुझ ।
नां तूं मिलै न मैं खुशी, ऐसी बेदन मुझ ॥ ४२ ॥

हे भगवान् हमारे नेत्र तुम्हारे विरह में तप्त हो गये हैं और क्षण-क्षण तुम्हें खोज रहे हैं । पर हे भगवान्, न तुम मिले और न मेरा हृदय उल्लासित हुआ । मुझे कितनी तीव्र वेदना है ?

भेला पाया स्रम (श्रम) सौं भौसागर के मांहि ।
जे छांड़ौ तो डूबिहौं, गहौं त डसिये बाँह ॥ ४३ ॥

इस भवसागर से तिरने के लिए मुझे बहुत मुश्किल से यह मानव-शरीर रूपी बेड़ा मिला है । यह विषय वासना रूपी सर्प सहित है अथवा विषय वासना रूपी सर्प के समान है । अगर इसे मैं बीच में ही छोड़ दूँ तो भवसागर में डूब जाता हूँ । मुझे बारम्बार जन्म लेना पड़ेगा । और अगर इसके साथ गहरी आसक्ति करूँ तो यह मेरी बाँह पकड़ लेगा अर्थात् मुझे संसार की विषयासक्ति में ही डूबना पड़ेगा ।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और सांगरूपक अलंकार । संसार को छोड़ देना तथा अन्य कृच्छ साधनाओं को अपनाना एवं आसक्तिमय जीवन व्यतीत करना—ये दोनों ही मुक्ति के हेतु नहीं हैं । ज्ञान और ईश्वर-प्रेम पर आधारित अनासक्तिमय जीवन का मध्यम मार्ग ही कबीर का दर्शन है । यहाँ पर यही विवक्षित है ।

पाठान्तर - 'भेरा पाया सरप का'—(डा० पारसनाथ तिवारी) इस पाठ से

रूपक का निर्वाह अच्छा होता है। सांसारिक देह के सर्प के समान लिपट कर इसने से विषय का विष जीव को व्याप्त कर लेता है। व्यक्ति उस नशे में डूबता रहता है।

रैंणाइर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ॥ ४४ ॥

रे शंख, तू समुद्र से बिछुड़ गया है। अतः विसूरता रह। सूर्य के उदित होते ही तू मन्दिर-मन्दिर में धाहड़ देगा अर्थात् उच्च स्वर में चिल्लायेगा।

पाठान्तर—'रैंणा अर बिछोहिया' यह रात्रि का समय है और तुम बिछुड़ गये हो।

'रैंणा दूर बिछोहिया'—दूर रहता है, अथवा रात्रि है और तुम बिछुड़ गये हो।

प्रथम पंक्ति के ये दोनों अर्थ भी सम्भव हैं, पर प्रथम अर्थ ही प्रधान है। 'रैंणाइर' पाठ भी सबसे ठीक है। इन दोनों पाठान्तरों के अर्थ मूल अर्थ में कुछ अर्थ छवियाँ और भासित करा देते हैं।

टिप्पणी—यह 'सांगरूपक' से गर्भित 'अन्योक्ति' है, शंख से जीवात्मा की ओर संकेत है। जीवात्मा अपने कारण-ब्रह्म से बिछुड़ गई है। जन्म-जन्मान्तर से चलती हुई माया के मार्ग में बहुत दूर आ गई है। उसे तो इस अज्ञान-रात्रि में निरन्तर विसूरना ही है। इस अज्ञान-रात्रि के समाप्त होने पर जब ज्ञान और प्रेम का सूर्य उदित होगा तब भगवान के विरह में विभिन्न साधनाओं का प्रश्रय लेती हुई को दहाड़ मारकर रोना पड़ेगा। यह जीवात्मा विभिन्न देवों से अपनी व्यथा व्यक्त करेगी। विभिन्न साधनाओं के माध्यम से उसी परमपिता को प्राप्त कराना चाहेगी, उसी के लिए आतुर होगी। इन सभी से भगवान् के मिलन की तीव्र वेदना जागेगी।

'रैंणा दूर' भी सार्थक पाठ है।

रैंणा—रहना और रात्रि—दोनों ही अर्थ लिये जा सकते हैं।

संषम=चक्रवाक अर्थ से पूरे रूपक के निर्वाह में खींचतान करनी पड़ती है अतः यह अर्थ ठीक नहीं।

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥ ४५ ॥

सारा विषयी संसार सुखी है; खाता है और सोता है। केवल विरही कबीर दुःखी है जो जागता है और विरह में रोता है। क्योंकि उसे विषयों से वैराग्य है और प्रेम रस की प्यास है।

(४) ग्यान विरह कौ अंग

दीपक पावक आंणिया, तेल भी आंण्या संग।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, उड़ि पड़े पतंग ॥ १ ॥

गुरुदेव ने तत्त्व-ज्ञान का दीपक जला दिया है। उसी का सांगरूपक बाँधकर कबीर कह रहे हैं कि गुरु जिज्ञासु के लिए परोक्ष ज्ञान से जनित अन्तःकरण की विशेष अवस्था रूपी दीपक लाये हैं। ज्ञान और प्रेम की अग्नि लाये हैं और साथ ही में स्नेह अर्थात् ईश्वर प्रेम या रागात्मकता भी ले आये हैं। तीनों को मिलाकर गुरु ने उस दीप को जला दिया है, अर्थात् उसको ज्ञान-विरह की अग्नि से जला कर उसे ईश्वर की भक्ति रूपी स्नेह से भर दिया है। अब इस दीपक की लौ में विषय-वासना, संशय, भ्रम रूपी पतंगे जल कर भस्म हो रहे हैं। अथवा ज्ञान-विरह और प्रेम (भक्ति) से निर्मित इस दीपक की लौ से आकृष्ट होकर मुमुक्षु, जीवात्माएँ अपने आपको इस लौ में समर्पित करके इस ज्योति से तदाकार हो रही हैं।

टिप्पणी—सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति।

मार्‌या है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि।
पड़्या पुकारै ब्रिछतलि, आजि मरै कि काल्हि॥ २॥

जिसको बाण से रहित केवल फलक की ही चोट लगी है और वह फलक जिसमें समा गया है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी। वह तो इस संसार रूपी वृक्ष के नीचे पड़ा वेदना भर सह रहा है; वह आजकल ही में मरने वाला है।

टिप्पणी—शब्द अथवा प्रेम की साधारण चोट से ही जीव 'जीवन-मृत' एवं 'विदेह मुक्त' हो जाता है फिर यह तो 'बाण रहित' है, अर्थात् निरुपाधिक ज्ञान और प्रेम है।

'रूपक' और 'विभावना' अलंकार।

हिरदा भीतरि दौं बलै, धँवा न परगट होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ॥ ३॥

विरही के हृदय में अग्नि जलती है, पर उसकी धूम तक बाहर प्रकट नहीं होती है। उस अग्नि का भान या तो उसे होता है जिसके हृदय में यह लगी है या उसे जिसने यह आग लगाई है।

टिप्पणी—इस अग्नि का भान या तो ज्ञानी को होता है या गुरु और ईश्वर को। उस अग्नि के बाहर कोई लक्षण प्रकट नहीं होते। बाहर से वह विरही सामान्य मानव ही प्रतीत होता है। इसी से 'धुँआ न परगट होइ' कहा गया है। 'व्यतिरेक अलंकार' ध्वनित है।

झल उठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति॥ ४॥

ज्ञान की ज्वाला उठी और झोली जल गई। जोगी के पास जो माँगने-खाने का खप्पर था, वह भी फूट गया तथा योगी अपने स्वरूप में लीन हो गया। अब उसके आसन पर केवल उसकी भस्म मात्र अवशिष्ट रह गई।

टिप्पणी—यह 'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' का निरूपण है। यहाँ 'झोली' संचित कर्मों का तथा 'खप्पर' प्रारब्ध एवं 'क्रियमाण कर्मों का' प्रतीक है। उनके समाप्त होने पर जीव-रूप योगी ईश्वर-रूप हो जाता है। उसका शेष जीवन केवल प्रतीति भर है, अतः वह भस्मवत् है।

सांगरूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उत्तर दषिण के पंडिता, रहै बिचारि बिचारि ॥ ५ ॥

पानी में आग लग गई है और ज्वाला से उसका कीचड़ पूर्णतया जल गया है। इस रहस्य पर उत्तर-दक्षिण के पंडित विचार कर रहे हैं, उसमें मग्न हैं। पर उसकी थाह उन्हें नहीं मिल रही है।

टिप्पणी—यह उलटवांसी है। यहाँ पर 'नीर' आनन्दरूप आत्मा का प्रतीक है जो स्वरूप से शीतल एवं स्वच्छ है। पर विषय-वासना या आवरण-विक्षेप रूप माया से लिप्त प्रतीत होती है। वही कीचड़ है। आत्मा स्वरूपतः शुद्ध, आनन्दघन एवं शीतल तथा नीर रूप है अतः आग से विरुद्ध धर्म वाली है। पर आपाततः विषय-वासना से लिप्त होने के कारण गंदले जल-रूप इस जीवात्मा में ज्ञान और विरह की अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है। उसी से सम्पूर्ण माया जनित विक्षेपों के कीचड़ को जला दिया जाता है। इसी अग्नि और उस अग्नि से आवरण और विक्षेप रूप कीचड़ के जलने का वर्णन है। आत्म-रूपी जल तो तीनों कालों में ही शीतल एवं शुद्ध है। उसका विषयों के मल एवं ताप से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अग्नि और जल के विरुद्ध धर्मों की एक आश्रय में प्रतीति ही 'उलटवांसी' का रहस्य है। इसी को विचार कर पंडित मग्न हैं।

दौं लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ।
दाधी देह न पालवै (पलहैं), सतगुर गया लगाय ॥ ६ ॥

ज्ञान और विरह की अग्नि से यह जीवात्मा-रूपी सागर जल उठा है अर्थात् तप्त हो गया है। विवेक, अनासक्ति, करुणा-रूपी पक्षी इसमें आ गये हैं। विषय-वासनाओं की जो देह ज्ञान में जल गई है, अब वह पुनर्जीवित नहीं हो सकती। अब उसमें विषय-वासनाओं की आसक्ति नहीं जाग सकती। उसका पुनर्जन्म है सम्भव नहीं है। यह आग सतगुरु ने लगाई है, अतः मामूली नहीं है।

टिप्पणी—तप्त जल के साथ पक्षी की कल्पना से उलटवांसी के मूल वैचित्र्य की व्यंजना है।

गुर दाधा चेला जल्या, विरहा लागी आगि।
तिणका बपुड़ा ऊबर्‌या, गलि पूरे कै लागि ॥ ७ ॥

इस ज्ञानाग्नि में गुरु और चेला—दोनों जल गए हैं; अर्थात् उसके गुरुभाव एवं शिष्य-भाव के अहं समाप्त हो गये हैं। उनमें विराजमान सूक्ष्म आत्मतत्त्व पूर्ण ब्रह्म के साथ तदाकार होकर बच गया है, अर्थात् वही निश्शेष रह गया है।

टिप्पणी—'दाधा' और 'जल्या' में सघनता की दृष्टि से तारतम्य है। दाधा (दाझा) सामान्य जलना है और 'जल्या' में इसी क्रिया की सघनता है। गुरु तत्त्वज्ञ है अतः ज्ञान और विरह की सामान्य जलन रहती है, पर चेले के गहरे अहंकार को सघन रूप से जलाने की आवश्यकता है। दोनों शब्दों में यह भी व्यंजना है।

'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार। 'तिणका' से जीव का अणुत्व एवं न डूबने की क्षमता व्यंजित है।

अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ॥ ८॥

गुरु या साधक रूपी शिकारी ने इस विषय-वासना रूपी वन में आग लगाई है। इसके भोक्ता रूपी मृग (जीव) रो-रो कर पुकार रहे हैं कि हमने जिस वन में इतनी क्रीड़ा की है, वही अब जल रहा है। गुरु-रूपी शिकारी ने वासनामय मानस रूप वन में ज्ञान और विरह-रूप अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी है, अतः वासना-रूपी मृग रो-रो कर पुकार करने लगे हैं। वे कहते हैं कि जिस अन्तःकरण-रूपी वन में हमने क्रीड़ा की है वही वन जल रहा है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार। सिद्ध और संत सम्प्रदाय के गृहीत प्रतीकों का प्रयोग। अहेड़ी=गुरु, वन=वासनामय मानस या संसार, आग=ज्ञान, विरह की आग। मृग=वासनायें या वासना के अहंकारी जीव।

पाणीं मांहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि।
बहती सलिता रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि॥ ९॥

यह विरहाग्नि जल में लगकर अत्यन्त प्रबल रूप धारण कर गई है। अज्ञान और विक्षोभ रूपी कीचड़ के जल जाने के कारण नदी का शुद्ध बहता हुआ जल रह गया है और चैतन्य-रूप जल में रहने वाली वासना रूपी मछलियाँ इस आग की गर्मी से इस सरिता को छोड़कर चली गई हैं।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार। 'जल' जीव के चैतन्य का प्रतीक है और मछलियाँ विषय-वासनाओं की। इससे विहीन सतत प्रवाह रूप सरिता शुद्ध चैतन्य का अन्तःकरण की वृत्तियों में प्रवाहमान रूप है। यहाँ पर Stream of Consciousness के समान ही कल्पना है। जगत् की उपाधि से उपहित चैतन्य सतत प्रवाहमान ही प्रतीत होता है। यह बन्धन और आसक्ति रहित है, पर है सोपाधिक चैतन्य प्रवाह रूप ही।

समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखां चढ़ि गई॥ १०॥

समुद्र में आग लग गई है और इस आग से सब नदियाँ जलकर कोयला हो गई हैं। कबीर उठकर देख तो सही, मछली वृक्ष पर चढ़ गई हैं।

ज्ञानपरक व्याख्या—यह 'उलटवाँसी' है। इसमें समुद्र अन्त.करणावच्छिन्न चैतन्य है। नदियाँ इन्द्रियाँ हैं। मछली साधक जीव तथा 'रूँखा चढ़ जाना' जागतिक बोध से ऊपर उठकर ब्रह्म में लीन हो जाना है। अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन की वृत्यात्मक ज्ञान रूपी जल की वाहक इन्द्रियाँ ही नदियाँ हैं। ज्ञानाग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर शुद्ध इन्द्रियातीत ज्ञान रह जाता है। अतः नदियों के जल जाने की कल्पना है।

योगपरक व्याख्या—मूलाधार चक्रस्थ कुण्ड में चण्डाग्नि प्रज्ज्वलित हो गई है और उसके नदियों में प्रवाहित होने से इड़ा और पिंगला रूप नदियाँ जलकर भस्म हो गई हैं। कुण्डली-रूपी मछली सुषुम्ना-रूप वृक्ष से सहस्रार-कमल पर पहुँच गई है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और सांगरूपक।

(५) परचा कौ अंग

कबीर तेज अनंत का, मानौं उगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि॥ १॥

कबीर कहते हैं कि परब्रह्म का अनन्त प्रकाश ऐसा प्रतीत होता है मानो अनेक सूर्यों की श्रेणियाँ उदित हो गई हों। इस विचित्र दृश्य का साक्षात्कार जीवात्मा रूपी पत्नी ने अज्ञान की सुषुप्ति से परब्रह्म रूप पति के साथ जागने पर किया। अथवा पति के साथ जागती हुई सुन्दरी ने इस आश्चर्य का साक्षात्कार किया।

टिप्पणी—आत्मबोध एवं ज्योति-दर्शन के आनन्द की अनुभूति की लौकिक बिम्ब के द्वारा व्यंजना है। जीवात्मा ही मोह निशा से जागी है, परब्रह्म तो हमेशा जागे ही रहते हैं। जागने पर परब्रह्म का तथा उनके संग का आत्मा को साक्षात्कार हुआ। सुषुप्ति-काल में भी परमात्मा रूप पति जीवात्मा रूप पत्नी के साथ ही था पर पत्नी को इसका बोध नहीं था। जागने पर पत्नी को यह जानकर कि वह अपने पति के साथ ही सोई हुई थी और अब जागने पर पति के साथ है कितने आनंद का अनुभव होता है! इसी बिम्ब के द्वारा कबीर ने दाम्पत्य-भाव के रहस्यवादी प्रतीक का आश्रय लेकर ईश्वर-मिलन एवं आत्मबोध के आनन्द का साक्षात्कार कराया है। 'सांगरूपक' अलंकार।

कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा माँहि है, बेपरवांही दास॥ २॥

जीव को देह से रहित होकर आश्चर्य-रूप परम तत्त्व के दर्शन हुए। सूर्य और चन्द्रमा के बिना ही यह प्रकाश दिखाई दिया है। अब निश्चिन्त

भगवान की सेवा में है; इसी से इस प्रकार सांसारिक कार्य-कारण-परम्परा से ऊपर की निराकार ज्योति के दर्शन उसे सुलभ हुए हैं।

टिप्पणी—तुलना कीजिए 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्'।

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान ॥ ३ ॥

परब्रह्म के प्रकाश का क्या अनुमान लगाया जा सकता है? अनुमान और उपमा के सब साधन लौकिक एवं माया के क्षेत्र के हैं। वह प्रकाश परिच्छिन्न जगत् से कहीं ऊपर का है। 'सूरज सेणी' आदि की लौकिक अनुभूतियों के द्वारा तो इस प्रकाश की ओर केवल संकेत भर हो सकता है। वह सौन्दर्य वाणी का विषय नहीं। वह केवल साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति का ही विषय है। पर परिच्छिन्न जीव इन परिच्छिन्न साधनों का ही सहारा ले सकता है। उसकी वासना भी उसे इसके लिए विवश करती है।

टिप्पणी—विशेषोक्ति अलंकार।

अगम अगोचर गमि नहीं, तहां जगमगें जोति।
जहाँ कबीरा बंदिगी, तहाँ पाप पुन्नि नहीं छोति ॥ ४ ॥

यह स्थान या स्थिति मन और बुद्धि के द्वारा अगम्य है, इन्द्रियों के द्वारा अगोचर है। वहाँ इन्द्रियादि में से किसी को भी पहुँचने की शक्ति नहीं है। वहीं पर ब्रह्म-ज्योति जगमगा रही है। जिस स्थिति की कबीर वंदना कर रहे हैं, वहाँ पर पाप-पुण्य का स्पर्श भी नहीं है। वह स्थान धर्माधर्म से ऊपर है।

हदे छाड़ि बेहदि गया, हुआ निरंतरि बास।
कँवल ज फूल्या फल बिन, को निरषै निज दास ॥ ५ ॥

परिच्छिन्न और ससीम को छोड़कर भक्त अपरिच्छिन्न तथा असीम का साक्षात्कार करने लगता है। उसकी शाश्वत तत्त्व में स्थिति हो गई है। उस समय उसका हृत्कमल बिना फूल के ही खिल गया है। अथवा वह तत्त्व सामान्य कार्य-कारण परम्परा से ऊपर उठे हुए पद्म के विकास की तरह है। उसकी प्रफुल्लता एवं सुगन्ध की अनुभूति अनुपम है। इस स्थिति का साक्षात्कार कौन कर सकता है? उत्तर देते हैं कि केवल भगवान का भक्त ही।

टिप्पणी—प्रश्नोत्तरी शैली है। 'विभावना' अलंकार।

कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरंतर बास।
कँवल ज फूल्या जलहि बिन, को देखै निज दास ॥ ६ ॥

परमतत्त्व के दर्शन-रूप उस विकसित कमल के लिए मन भ्रमर बन गया है और निरन्तर उसी में निवास करता है अर्थात् वह उसी साधनावस्था या तद्जनित

आनन्द की स्थायी वृत्ति में परिणत हो गया है। बिना जल के फूले हुए इस कमल के दर्शन भक्त के सिवाय और कौन कर सकता है ?

> अंतरि कँवल प्रकासिया, ब्रह्म बास तहाँ होइ।
> मन भँवरा तहाँ लुबधिया, जाँणैगा जन कोई ॥ ७ ॥

टिप्पणी—प्रश्नोत्तर की शैली। 'सांगरूपक' और 'विभावना' अलंकार।

हृदय में परम आह्लाद रूप कमल अथवा सहस्रार कमल विकसित हो गया है। उसमें ब्रह्म का अर्थात् परम ज्योति का निवास है। ऐसे ही कमल की गन्ध पर साधक का मन रूपी भ्रमर लुभा गया है। इस रहस्य का कोई भक्त ही साक्षात्कार कर सकता है।

टिप्पणी—'कँवल ज फूल्या', 'कँवल प्रकासिया' जैसे प्रयोगों में एक तरफ ज्ञान एवं स्वरूप-साक्षात्कार से उत्पन्न आह्लाद का बिम्ब ग्रहण कराने के लिए प्रतीक योजना है तथा दूसरी तरफ योगियों की सहस्रदल कमल आदि के विकास की साधनाओं का संकेत है। दोनों का अपूर्व मिश्रण कबीर की विशेषता है, जो यहाँ तथा अन्यत्र भी दर्शनीय है।

'रूपक' और 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

> सायर नाहीं सीप बिन, स्वाँति बूँद भी नाँहि।
> कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिखर गढ़ माँहि ॥ ८ ॥

उस शून्य शिखर पर अर्थात् सुषुम्ना के अन्तिम भाग पर विकसित सहस्रार कमल के शून्य प्रदेश में मुक्ति रूपी मोती पैदा होते हैं। पर यहाँ मोतियों के लिए अपेक्षित उपादान नहीं हैं न वहाँ सागर है न सीप, और न स्वाति बूँद ही। इन उपादानों के बिना ही यह मुक्ति-रूप पैदा होता है।

टिप्पणी—'व्यतिरेक' व्यंजित है। 'विभावना' और 'विरोधाभास' अलंकार। ज्ञानयोग से प्राप्य 'जीवनमुक्तावस्था की कायायोग के द्वारा प्राप्ति का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि कबीर ज्ञानयोग, कायायोग, प्रेमयोग आदि सभी योगों का प्राप्तव्य एक ही मानते हैं, वह है मुक्तावस्था। इस प्रकार सब योगों में एक अभेद-स्थापन की भावना है।

> घट माँहैं औघट लह्या, औघट माँहैं घाट।
> कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ॥ ९ ॥

कबीर कहते हैं कि गुरु ने जो मार्ग दिखाया है उस पर चलने से मुझे परम-तत्त्व का परिचय मिल गया है। मैंने अपने अन्तःकरण में ही उस दुर्गम अथवा अगम्य तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है। हृदय ने उसी तत्त्व में अपना स्थान बना लिया है। अब मन औघट में ही निरन्तर रमता है।

टिप्पणी—'घट' और 'औघट' से विरोधाभास की सृष्टि हुई है।

सूर समांणां चंद मैं दुहूँ किया घर एक।
मनका च्यंता तब भया, कछू परिबला लेख ॥ १० ॥

पिंगला नाड़ी इड़ा में समा गई है और दोनों ने एक होकर सुषुम्ना में अपना स्थान बना लिया है। इस साधना के सिद्ध होने से कबीर के मन की इच्छा अब पूर्ण हो गई है। साधक को परम-तत्त्व का साक्षात्कार हो गया है। यह सब पूर्व जन्म के पुण्यों का ही फल है।

टिप्पणी—इड़ा और पिंगला के समरस होने से परमसिद्धि की प्राप्ति होती है। यही कायायोगियों का विश्वास है।

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥ ११ ॥

कबीर ने परिच्छिन्न एवं सीमित से आगे बढ़कर अपरिच्छिन्न और असीम को प्राप्त कर लिया है। अब वे उसी शून्य-शिखर के आनन्द-सागर में अवगाहन कर रहे हैं। बड़े-बड़े मुनियों को वहाँ पहुँचने का मार्ग भी नहीं मिल पाता है और कबीर वहाँ पर पहुँचकर पूर्ण विश्राम कर रहे हैं।

टिप्पणी—ब्रह्मनाड़ी के रन्ध्र में से कुण्डलिनी ऊपर शून्य-शिखर पर पहुँचती है। ये ही उसके मार्ग और महल कहलाते हैं।

देखौ करम कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जांका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥ १२ ॥

कबीर का भाग्य देखो, वह कितना सराहनीय है। कुछ पूर्व जन्म के पुण्यों का ही प्रभाव है कि जिस परम-तत्त्व का स्थान तक अर्थात् उसका पता तक, मुनियों को नहीं मिलता उस परम-तत्त्व तक कबीर पहुँच ही नहीं गये हैं, अपितु उन्होंने उसको अपना मित्र ही बना लिया है।

पिंजर (पंजरि) प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥ १३ ॥

हृदय में प्रेम का प्रकाश हो गया है। भगवान् से जीवात्मा का जो अनन्त सम्बन्ध है जीव में उसकी चेतना जाग गई है। मिलन का योग आ गया है तथा सम्पूर्ण संशय नष्ट हो गये हैं। जीव को परम आह्लाद की प्राप्ति हुई है एवं अपने प्यारे पति से मिलन भी हो गया है। वास्तव में परिचय का यही स्वरूप है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

प्यंजर (पंजरि) प्रेम प्रकासिया अंतरि भया उजास।
मुखि कस्तूरी महमहीं, बाणी फूटी बास ॥ १४ ॥

हृदय में प्रेम प्रकट हो गया है। अन्तर में उसका प्रकाश सर्वत्र छा गया है। मुख में कस्तूरी सी महकने लगी है और वाणी में उसकी सुगन्ध फूटने लगी है।

टिप्पणी—भगवान् का साक्षात्कार किये हुए जीव का प्रत्येक शब्द उस आह्लाद एवं प्रेम-रस से सुवासित हो जाता है। यही 'कस्तूरी महमहीं' और 'बाणी फूटी बास' है। लौकिक बिम्बों 'उजास', 'महमहीं', 'बास' आदि के प्रतीकों के माध्यम से कबीर उस आध्यात्मिक आनन्द की अतिशयता एवं मस्ती को व्यंजित कर रहे हैं। योगी साधक के शरीर से अनुपम गन्ध निकलती है और उस गन्ध में वह स्वयं भी झूमता रहता है, ऐसी धारणा का भी संकेत है।

मेरा मन उन्मन से लग गया है और गगन अर्थात् शून्य प्रदेश या शिखर तक पहुँच गया है। वहाँ उसने चाँद से रहित दिव्य प्रकाश के दर्शन किये हैं। वहीं मेरे स्वामी अलक्ष्य माया रहित भगवान् हैं।

मन लागा उनमन्न सों, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चांद बिहूँणां, चांदिणां, तहां अलख निरंजन राइ ॥ १५ ॥

अर्थात् मन परम-तत्त्व की ओर उन्मुख है। उसी में लीन होना चाहता है। इसी की साधना में मन को उन्मनि-योग सिद्ध हो गया है। उससे प्राण और मन एकाकार हो गये हैं। साधक का प्राणों पर नियन्त्रण होने से ब्रह्मरन्ध्र में सूर्य और चन्द्रमा के बिना ही प्रकाश जाग उठा है। अन्तःकरण की वृत्ति लोक से ऊपर उठकर शून्य में पहुँच गई। वहाँ पर जीव को अलक्ष्य एवं माया-रहित परमतत्त्व के दर्शन हो गये हैं।

टिप्पणी—'शून्य' और 'गगन' सिद्धों से प्राप्त शब्द हैं। 'उन्मन', 'गगन' और 'शून्य' पारिभाषिक शब्द हैं। परिशिष्ट में इनकी विस्तृत व्याख्या की गई है, वहीं देखें। इसमें लययोग और ध्यानयोग से प्राप्त तत्त्व साक्षात्कार तथा ज्योति-दर्शन का वर्णन है। प्राणों पर नियन्त्रण करने से ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाश दर्शन होता है। दूसरे कायायोग से प्राप्त सिद्धि का भी संकेत है। यह भी लययोग से ही प्राप्त हो रही है। 'गगन' आदि भी कायायोग के ही पारिभाषिक शब्द हैं। इससे कायायोग; लययोग और ज्ञानयोग का अभेद ही नहीं अपितु सब योगों का परम प्राप्तव्य केवल तत्त्व साक्षात्कार है यह भी सिद्ध होता है।

मन लागा उनमन सों, उनमन मनहि बिलग।
लूँण बिलगा पाणियां, पाणी लूण बिलग ॥ १६ ॥

मन 'उनमन' में अर्थात् परम-तत्त्व में लीन हो गया है। उसकी ब्रह्माकार वृत्ति बन गई है। ऐसी वृत्ति के अवसर पर 'उन्मन' अर्थात् परम-तत्त्व के साक्षात्कार ने मन को व्याप्त कर लिया है। नमक पानी में विलीन हो गया है और पानी नमक से संलग्न हो गया है। मन और उन्मन भी परस्पर उसी प्रकार एकाकार हो गये हैं जैसे पानी और नमक परस्पर तदाकार हो जाते हैं। पर दूसरी दृष्टि से इस अवस्था में भी मन और परमतत्त्व की पृथकता का भान अनुभूति द्वारा वैसे ही होता

रहता है, जैसे एकाकार हुए नमकीन पानी में स्वाद से पानी और नमक का पृथक्-पृथक् साक्षात्कार भी होता रहता है।

टिप्पणी—यहाँ पर 'विलग' में 'वि' उपसर्ग के विशेषण और 'विगत'—दोनों अर्थों का—विलग्न एवं पृथक् का—एक साथ ही समाहार है। यह कबीर की अभिव्यंजना की विशेषता है। सोपाधिक ज्ञान में विवेक द्वारा उपाधि तथा निरुपाधिक दोनों की पृथकता का साक्षात्कार हो जाता है। अगर ऐसा न हो तो परमतत्त्व का केवल परिछिन्न रूप में साक्षात्कार होगा, अपरिछिन्न रूप में नहीं। इससे बिलग का पृथक वाला अर्थ भी लेना समीचीन है।

'दृष्टान्त' अलंकार।

पांणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ॥ १७॥

पानी ही सघन होकर बर्फ बन गया है और बर्फ पिघलकर विलीन हो गई अर्थात् पानी बन गई। जो कुछ पहले था, फिर वही हो गया। इस परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि कुछ नवीन वस्तु पैदा ही नहीं हुई। इसी प्रकार विशुद्ध चैतन्य माया का आश्रय लेकर बद्ध जीव हो गया और पुनः परिचय प्राप्त करके अर्थात् आत्म-बोध जाग जाने पर विशुद्ध चैतन्य हो गया; अर्थात् अपनी पूर्वावस्था में फिर से आ गया। जैसे पानी में स्वरूपतः किसी भी अवस्था में भेद नहीं हुआ वह पानी ही रहा। ये सघनता, तरलता आदि से भेद केवल उपाधि के भेद ही रहे। वैसे ही विशुद्ध चैतन्य का स्वरूप ज्यों-का-त्यों रहा। बद्ध और मुक्त—दोनों अवस्थाओं में ही वह विशुद्ध चैतन्य है। केवल उपाधियों के भेद होते रहे हैं। यही कारण है कि यह 'परिणाम' केवल विवर्त है, इसलिए अनिवर्चनीय है। इसमें कोई नई वस्तु पैदा नहीं हुई।

टिप्पणी—सांगरूपक गर्भित अन्योक्ति।

भली भई जु भै पड्या, गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि॥ १८॥

अच्छा हुआ कि मैं द्रवित होकर उस किनारे की कोर बह पड़ा हूँ। मुझे अपनी सुध-बुध नहीं रही। मैं अपनी सांसारिक भावनाओं को भूल गया। सांसारिक विषयों के प्रति मेरी आसक्ति तथा अहंकार विलीन हो गये हैं। बर्फ पिघल कर पानी में परिणत हो गई है और ढलकर उस गन्तव्य समुद्र में विलीन हो गई है; अर्थात् मोह की जड़ता से जीव का जो चैतन्य परम-चैतन्य से अपने आपको पृथक समझता रहा, वही उस अविद्या की जड़ता समाप्त होने पर परम-चैतन्य से एकाकार हो गया है।

टिप्पणी—'दृष्टान्त' अलंकार।

'ढुलि मिलिया' के ज्ञान व प्रेम की व्यंजना है। इस प्रकार इसमें ज्ञान और भक्ति का समन्वय है।

चौहटै च्यंतामणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि।
मीरां मुझसूँ मिहर करी, इब मिलौं न काहू साथि ॥ १९ ॥

आत्म-साक्षात्कार रूपी चिन्तामणि बहुत ऊँचाई पर अर्थात् शून्य शिखर पर चढ़ी हुई है। उसकी प्राप्ति में मेरा अन्वेषक या मुमुक्षु बाजी मार ले गया है। सदगुरु आग्रहपूर्वक उपदेश करते हैं कि मैं पुन: किसी भी सांसारिक विषय वासनाओं से न हिलूँ-मिलूँ, अन्यथा आत्म-बोध की यह वृत्ति नहीं बनी रह सकेगी।

दूसरा अर्थ—हड्डी से निर्मित पासों पर हाथ मारते हुए अर्थात् सांसारिक विषयों का उपभोग करते हुए मुझे चौराहे अर्थात् जीवन-प्रवाह के मध्य में, चौहटे में ही चिन्तामणि रूप परमतत्त्व का साक्षात्कार हो गया है। कृपालु गुरु या स्वामी ने मुझे प्रेमपूर्वक सानुरोध उपदेश किया है कि पुन: इन सांसारिक विषयों के साथ न मिलूँ, अन्यथा स्वरूप की यह वृत्ति बनी नहीं रहेगी।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार। इस साखी में प्रयुक्त 'हाडी' का 'अस्थि' अर्थ लेकर और कई अर्थ किये गये हैं। वे प्रसंगानुकूल नहीं हैं। 'चौहटे च्यंतामणि चढ़ी हाडी मारत हाथि' में कौड़ी ढूँढ़ते में चिन्तामणि पा जाने के न्याय का अर्थ है। वराटकान्वेषणे के प्रवृत्तश्चिन्तामणि लब्धवान्।

पंषि उडाणीं गगन कूं, प्यंड रह्या परदेस।
पांणी पीया चंच बिन, भूलि गया यहु देस ॥ २० ॥

ज्ञानपरक अर्थ—मुमुक्षु आत्मा ऊपर आकाश में उड़ गई है; अर्थात् माया के जंजाल से ऊपर उठ गई है। आसक्तिरहित यह शरीर यहाँ परदेश में (संसार में) रह गया। उस अवस्था में जीवात्मा ने आत्म-बोध रूप अमृत का पान बिना चोंच के (इन्द्रियों के बिना ही) किया और उस पान से इतनी मस्त हो गई कि उसे इस संसार की सुध ही नहीं रही। उसकी संसार के प्रति आसक्ति ही समाप्ति हो गई।

योगपरक अर्थ—कुण्डलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना के मार्ग में आकाश की ओर बढ़ने लगी। इससे साधक शून्य शिखर पर पहुँच गया तथा उसका शरीर आसक्ति एवं चेतना विहीन पड़ा रहा। वहाँ साधक ने शून्यशिखर के सरोवर से संसार बिना इन्द्रियों के ही अमृत पान किया।

टिप्पणी—पक्षी, गगन और पानी—ये सिद्ध एवं सन्त सम्प्रदाय के गृहीत प्रतीक हैं। 'सांगरूपक' तथा 'विभावना' से पुष्ट व्यतिरेक की व्यंजना है।

पंषि उडानी गगन कूँ, उड़ी चढ़ी असमान।
जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान ॥ २१ ॥

साधना में लीन जीवात्म शून्य अथवा गगन स्थान की ओर ऊँचे उड़ी तथा उस परमतत्त्व पर पहुँच गई। वहाँ पर उसके श्रवण में नाद रूपी बाण लगा जिसने अनहद रूप से सम्पूर्ण विश्व ही भिदा हुआ है।

टिप्पणी—'गगन' शरीर का वह स्थान है, जहाँ पर साधक को ज्योति के दर्शन होते हैं और अनहद नाद सुनाई देने लगता है। कबीर ने इस शब्द को 'शून्य' का पर्यायवाची करके भी प्रयुक्त किया है। 'शून्य' शब्द में सम्पूर्ण विशेषों से अतीत ब्रह्मतत्त्व, बौद्धों के 'शून्य' तथा 'नैरात्म्य भाव' एवं ब्रजयानी सिद्धों के 'महासुख'—इन तीनों के अर्थों का मिलन है। इन सन्तों के अनुसार यह अनहद नाद विश्व में व्याप्त रहता है और साधक उसका साक्षात्कार अपने शरीर में करता है। 'सर' में रूपकातिशयोक्ति है।

सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभुवार॥ २२॥

सुरति निरति में समा गई है और निरति निराधार अर्थात् स्वयं ही आधार रूप होकर अवशिष्ट रह गई है। जब सुरति और निरति के स्वरूपों का परिचय हो गया तब भगवान् शम्भु के द्वार खुल गये।

परम-तत्त्व के साक्षात्कार के समय सुरति अर्थात् साधक के चित्त की शब्दोन्मुखी वृत्ति स्मृति, रति या बहिर्मुखी वृत्ति निरति अर्थात् चित्त की निरोध वृत्ति निरवलंब अवस्था, वैराग्य, निष्ठा या अन्तर्मुखी वृत्ति में समा जाती है। यह निरति की अवस्था सिद्धि रूप 'शब्द-तत्त्व' तथा साधक के एक हो जाने की अवस्था है। यह अन्तःकरण के चैतन्य में विलय की अवस्था है। यह किसी पर आधारित नहीं स्वयं सब का अधिष्ठान है। जब साधक अपने अन्तःकरण की सुरति एवं निरति—दोनों अवस्थाओं से पृथक होकर इनका द्रष्टामात्र रहा जाता है, तभी उसको इनका वास्तविक परिचय होता है। उसी समय आत्मतत्त्व पर लगा आवरण हटा जाता है और साधक को उसका साक्षात्कार होने लगता है, उसकी स्वानुभूति होती है। यही शंभु-द्वार खुलने का तात्पर्य है।

टिप्पणी—'सुरति' और 'निरति' पारिभाषिक शब्द हैं; इनके अनेक अर्थ किए गए हैं। परिशिष्ट में इनकी विस्तृत व्याख्या देखें।

सुरति समांणी निरति मैं, अजपा माँहैं जाप।
लेख समांणां अलेख मैं, यूं आप माँहैं आप॥ २३॥

ऊपर की साखी के अर्थ को ही पुष्ट करते हुए कबीर कहते हैं कि परिचय की इस अवस्था में 'सुरति'-'निरति' में 'लेख'-'अलेख' में 'जपा'-'अजपा' और आप-आप समा जाते हैं। जो वाणी का विषय है, वह साकार है, लेख है। उसी का 'जप' या नाम-रूपात्मक ध्यान हो सकता है। इस प्रकार वह 'जप' रूप भी है। यह सब 'लेख' और 'जाप' के रूप में साक्षात्कृत, 'साकार ब्रह्म' की प्राप्ति वास्तव में साधन की अवस्था ही हैं। परम-तत्त्व के साक्षात्कार के अवसर पर तो यह साकार ब्रह्म एवं उसकी प्राप्ति उस 'अलेख' और 'अजपा' में अर्थात् नामरूप, वर्णन एवं स्मरण से परे के तत्त्व में समा जाते हैं। इसी अवस्था में, अपनत्व में आप भी विलीन हो जाता है।

पृथक अहं के रूप में भासित होने वाली जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप, अहंकार रहित आत्म तत्त्व या परमात्म तत्त्व में, विलीन हो जाती है। इस प्रकार आप में आप समा जाता है। यही परिचय का वास्तविक स्वरूप है।

आया था संसार मैं, देषण कौं बहु रूप।
कहै कबीरा संत हौ, पड़ि गया नजरि अनूप ॥ २४ ॥

कबीर कहते हैं कि मैं इस संसार में अपनी अनेक वासनाओं से प्रेरित होकर अनेक रूप देखने के लिए आया था। पर, हे सन्तो, यहाँ पर गुरु की कृपा से अनुपम रूप अर्थात् परमतत्त्व के दर्शन हो गये। इससे अनेक रूपों को देखने की अभिलाषा ही नहीं रह गई।

अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नांहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलैं, जब लग दोइ सरीर ॥ २५ ॥

आत्मा कह रही है कि मैं अपने प्रियतम से अंक भर के, पूर्ण आत्मविभोर होकर गले मिली। हृदय में धैर्य नहीं रहा और मिलन की विकलता जाग गई। पर जब तक दो शरीर हैं, दो उपाधियाँ हैं, तब तक वे पूर्णतया कैसे मिल सकते हैं। जब तक जीव अल्प-शक्ति एवं अल्पज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ के भेद को सत्य मानता रहेगा, तब तक जीव और ईश्वर का पूर्ण मिलन सम्भव नहीं है। यह द्वैत-भावना पूर्ण मिलन में बाधक है।

टिप्पणी—लौकिक प्रेम के बिम्बों द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना है। पूर्ण अभेद के लिए बीच में शरीर की उपाधि असह्य है। तत्त्वज्ञान से ही पूर्ण अभेद संभव है।

सचु (सच) पाया सुख ऊपनां, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये, जब सांई मिल्या हजूरि ॥ २६॥

स्वामी से साक्षात्कार होने पर हृदय को शान्ति एवं आनन्द मिल गये, मिलन का उल्लास जाग गया। हृदय रूपी सागर प्रेम और आनन्द के जल से पूर्ण हो गया और पाप सहज ही में धुल गये।

टिप्पणी—परिचय के सहज आनन्द का बिम्ब है।

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया, नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर बिचारा ॥ २७ ॥

कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि जिस समय यह संसार नहीं होगा, यह धरती, आकाश, हवा—कुछ भी नहीं होगा, उस समय भी भगवान् और भगवान् के भक्त होंगे। यह कबीर की अभिलाषा है। विश्व के न होने पर भी भगवान् की सत्ता है और उसके भक्त की भी।

जा दिन कृत मनां हुता, होता हट न पट।
हुता कबीरा राम जन, जिनि देखै औघट घट ॥ २८ ॥

कबीर कहते हैं कि जिस दिन यह कृत्रिम जगत् नहीं था, न ये बाजार थे और न ये नगर ही; उस दिन भी राम के भक्त थे जिन्होंने अपने अन्तःकरण में उस औघड़ भगवान् का साक्षात्कार कर लिया था। अथवा राम का भक्त कबीर था।

टिप्पणी—'हाट' और पट—जगत् एवं जगत् के विषयों के लिए उपलक्षण हैं।

ऊपर दोनों साखियों से व्यंजित होता है कि भगवान् तो माया से परे हैं ही; भक्त भी माया से परे ही है। मायातीत अवस्था में भक्त, भगवान् और भक्ति रहते हैं। भक्ति स्वरूप का आनन्द देती है, उसका आवरण नहीं करती। अतः कबीर उसे माया से परे मानते हैं।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदं त्रिभुवन राइ ॥ २९ ॥

मेरी तत्त्व में प्रतिष्ठा हो गई है तथा मेरा मन स्थिर हो गया है। मेरे अन्तःकरण में भगवान् की अनन्त कथायें संचरित हो रही हैं। हृदय में भगवान् त्रिभुवन-पति विराजमान हो गए हैं। यह सब सद्गुरु की कृपा से हुआ है। उन्होंने ही इसे प्राप्त करने में सहायता की है।

टिप्पणी—ईश्वर के प्रेम ओर मिलन के उल्लास का बिम्बमय चित्रण है। सभंगपद श्लेष से 'अन्य कथाओं का संचार नहीं हो रहा है' यह अर्थ भी संभव है।

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुखनिधि लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप ॥ ३० ॥

कबीर कहते हैं कि जब स्वयं हरि अन्तःकरण में प्रकट हो गए, तब भगवान् के प्रेम से मेरा हृदय शीतल हो गया, माया-मोह की जलन मिट गई। अन्तःकरण में स्वयं भगवान् के प्रकट होने से रात-दिन की शाश्वत सुख-निधि मिल गई है।

तन भीतरि मन मानियां, बाहरि कहीं न जाइ।
ज्वाला तैं फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ॥ ३१ ॥

मन अन्तर्मुखी हो गया है और अन्तरतत्त्व में रमने लगा है। अब वह बाहर की विषय-वासनाओं की ओर नहीं जाता है। सांसारिक वासनाओं की ज्वाला भगवान् की प्रीति में परिणत होकर जल रूप हो गई है, और उससे अन्तःकरण की विषयाग्नि बुझ गई है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति।

तत पाया तन बीसर्या, जब मनि धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब (सुन्नि) सुन्य किया असनान (अस्नान) ॥ ३२ ॥

जब मन ने तत्त्व-वस्तु का ध्यान किया और उसका साक्षात्कार कर लिया, तब मुझे शरीर की सुधि नहीं रही; मेरा देहाध्यास छूट गया। जब मन उस शून्य

शिखर पर पहुँच कर अमृत के सागर में अवगाहन करने लगा, तब सब ज्वाला मिट गई है और अन्तःकरण शीतल हो गया है।

टिप्पणी—कायायोग और भक्तियोग का समन्वय है। यही कबीर की विचार धारा भी है।

जिनि पाया तिनि सूगहगह्या रसनां लागी स्वादि।
रतन निराला पाइया जगत ढंढोल्या बादि॥ ३३॥

जिनको इस परमतत्त्व की प्राप्ति हुई है, उन्होंने इसको अच्छी प्रकार से ग्रहण कर लिया है; वे इसमें अवगाहन कर रहे हैं। इसके नाम-स्मरण का मधुर स्वाद उनकी जिह्वा को लग गया है। उन्हें अमूल्य रत्न मिल गया है। उसको वे व्यर्थ ही संसार में ढूँढ़ते रहे, तरह-तरह की सांसारिक साधनायें करते रहे। यह तो उनका अपना स्वरूप ही है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति'।

कबीर दिल स्याबति भया, पाया फल संम्रथ्थ।
सायर माँहि ढंढोलतां, हीरैं पड़ि गया हथ्थ॥ ३४॥

उस तत्त्व के परिचय से अन्त;करण का विक्षेप और विकलता समाप्त हो गए हैं अब उसकी अखण्डाकार वृत्ति बन गई है; विषयों से खण्डित हृदय अखण्डता व पूर्णता को प्राप्त हो गया है। इससे जीव को आनन्द रूपी शक्तिशाली फल की प्राप्ति हुई है। वस्तुतः संसार-रूपी सागर में ढूँढ़ते एवं भटकते हुए भगवान् रूपी हीरा उसके हाथ लग गया है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्यां मांहि॥ ३५॥

जीव कहता है कि परमतत्त्व के परिचय से पूर्व जब मेरा अहं था, उस समय मुझे भगवान की पूर्ण सत्ता का सम्यक् ज्ञान नहीं था। तब मुझे हरि का ज्ञान नहीं था अतः मेरे लिए हरि नहीं थे। ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान से मेरा अहं ईश्वर में विलीन हो गया है। अतः अब केवल हरि ही रह गये हैं, मैं नहीं हूँ। अब अन्तःज्योति के दीप-दर्शन से अज्ञान का सम्पूर्ण अन्धकार नष्ट हो गया है।

टिप्पणी—ज्ञान होने पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना दृढ़ हो जाती है। इसी का प्रतिपादन है।

जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ॥ ३६॥

जीवात्मा कहती है कि जिस प्रियतम को मैं ढूंढ़ रही थी, वही मुझे सामने

आकर मिल गया है । प्रियतम के मिलते ही मेरे मन में संकोच का उदय हो गया । पति इतने शुभ्र हैं और वह इतनी मैली है ! इससे उनके पैरों में गिरने का भी संकोचवश साहस नहीं हुआ ।

टिप्पणी—जीवात्मा में तमोगुण है, परामात्मा की उपाधि तो शुद्ध सत्त्व-प्रधान है । उसका भान भी जीवात्मा को साक्षात्कार के अवसर पर ही होता है । इसी से उसे प्रियतम के मिलन के उल्लास, चरणों में पड़ने तथा आत्म-समर्पण की तीव्र आकांक्षा के साथ संकोच का भी अनुभव होता है । यह भी रति रूप भक्ति ही है । इसमें ज्ञान, प्रेम और रहस्यवाद की अनुभूति का अपूर्व समन्वय है ।

'धन मैली············पाइ'—लौकिक प्रेम की सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी बिम्ब-योजना से अलौकिक दाम्पत्य प्रेम के आह्लाद एवं गूढ़ दर्शन की व्यंजना है ।

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाई ठौर ।
सोई फिरि आपण भया, जासू कहता और ।। ३७ ।।

जीवात्मा कहती है कि जिस परिचय की स्थिति को प्राप्त करने के लिए मैं प्रयत्नशील थी, वह मुझे उसी जगह अपने स्वरूप में ही प्राप्त हो गई । अज्ञान में जिस भगवान् को अपने से भिन्न तथा गैर समझती थी, वही ज्ञान व प्रेम के उदय के बाद अपना बन गया है ।

टिप्पणी—'प्रहर्षण' अलंकार । ज्ञान और प्रेम भावना का समन्वय ।

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ ।
तेज पुंज पारस धणीं, नैनों रहा समाइ ।। ३८ ।।

मैंने अनन्य भाव से भगवान् के दर्शन किये हैं । अथवा मुझे उनकी आंशिक झलक ही मिली है । उनका परम सौन्दर्य तथा माहात्म्य अकथनीय है । भगवान् अनन्त तेज एवं पारस रूप के स्वामी हैं । उनका सौन्दर्य मेरे नेत्रों में समा गया है ।

टिप्पणी—रूप पर मुग्ध होने की लौकिक क्रिया से अलौकिक प्रेम के उल्लास की व्यंजना ।

पारस रूप— संत-साहित्य में भगवान् को पारस रूप मानने की परम्परा का कारण भगवान् का भक्त को कंचन रूप बन देता है ।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहि ।
मुकताहल मुकता चुगैं, इब उड़ि अनत न जाहि ।। ३९ ।।

भगवान् के साक्षात्कार के बाद मन रूपी मानसरोवर प्रेम और आनन्द के शुभ्र जल से परिपूर्ण हो गया है । उसमें जीव-रूपी हंस केलि कर रहा है; वह प्रचुर मात्रा में मुक्ति-रूपी मोती चुग रहा है । अब यह हंस यहाँ से उड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जायेगा ।

टिप्पणी—ऐसी अन्य साखियों की तरह इसके भी ज्ञान एवं प्रेमपरक तथा

साधन परक—दो अर्थ हो सकते हैं। 'हंस' जीव का, 'मानसरोवर' आनन्द वृत्ति वाले मन एवं शून्य-शिखर के अमृत कुण्ड का प्रतीक है। ऊपर ज्ञान एवं प्रेम परक अर्थ दिया गया है। वहाँ पर श्लेष पुष्ट सांगरूपक है।

कायायोग के पक्ष में—कुण्डलियों के जाग्रत होकर सुषुम्ना से शून्य शिखर पर पहुँचते ही जीव रूपी हंस अमृत कुण्ड में केलि करने लगता है। वहाँ पर उसे प्रचुर मात्रा में महासुख रूपी मोती की प्राप्ति होती है।

यहाँ पर सिद्ध एवं सन्त साहित्य के मान्य प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

गगन गरजि अंम्रित चवै, कदली कँवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास॥ ४०॥

आकाश में अनहद नाद की गर्जना सुनाई पड़ रही है और अमृत रूपी वर्षा हो रही है। सुषुम्ना के शिखर पर विकसित सहस्रार कमल से प्रकाश निकल रहा है। उस स्थिति में पहुँच कर भगवान् की आराधना कबीर अथवा भगवान् का कोई भक्त ही कर सकता है।

टिप्पणी— योग-साधन से प्राप्त स्थिति को ज्ञान एवं भक्ति का साधन बनाना तथा उन्हीं की सरसता प्रदान करना—कबीर दर्शन की यह प्रमुख विशेषता है।

नींव बिहूंणां देहूरा, देह बिहूंणां देव।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करे अलष की सेव॥ ४१॥

शून्य शिखर पर पहुँच कर निरंजन आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि नींव रहित मन्दिर में अशरीरी देव विराजमान हैं। कबीर वहीं रमे हुए हैं और वहाँ अलक्ष्य भगवान् की सेवा कर रहे हैं।

टिप्पणी—'विरोधाभास' अलंकार। कायायोग एवं भक्तियोग का समन्वय।

देवल मांहैं देहुरी, तिल जेहै बिसतार।
मांहैं पाती मांहि जल, मांहैं पूजणहार॥ ४२॥

वहाँ पर मन्दिर के भीतर ही एक देहरी है जिसका तिल के समान विस्तार है। इस मन्दिर के अन्दर ही पूजने के साधन—पत्र-पुष्प तथा जल है और पूजने वाला भी वहीं है।

टिप्पणी—सूक्ष्म एवं निराकार की पूजा बाहर नहीं होती है और उनके लिए स्थूल बाह्य साधन भी अपेक्षित नहीं हैं। यह पूजा अन्तरंग वस्तु है। यह मानस पूजा है। पूजा के साधन सारे मानसिक हैं और वहीं जुट जाते हैं। 'पाती' आदि केवल प्रतीक या उपलक्षण भर है।

कबीर कँवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अँधियारी मिटि गई, बागे, अनहद नूर (तूर)॥४३॥

कबीर कहते हैं कि सहस्रार कमल प्रकाशित हो गया है। माया-रहित

अवस्था अथवा योग साधना से प्राप्त शून्य रूप आकाश में ज्ञान और आनन्द का सूर्य उदित है। अब अज्ञान की अँधेरी रात समाप्त हो गई है और ज्ञान का प्रभात हो गया है। ज्ञान और साधना का प्रातःकाल होते ही उस शून्य या आकाश में असीम सौन्दर्य झंकृत हो रहा है। अथवा अनहद नाद की तुरही बज रही है।

टिप्पणी—'वागे ''''''नूर' में लाक्षणिक प्रयोग। सांगरूपक।

अनहद बाजै नीझर भरै, उपजै ब्रह्म गियान।
अविगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान॥ ४४॥

परिचय के बाद अनहद नाद सुनाई पड़ रहा है। गगन से अमृत की वर्षा हो रही है। जीव को ब्रह्म ज्ञान हो गया है। अन्दर ही अन्दर आनन्दस्वरूप अविगत प्रकट हो गये हैं तथा भगवान के प्रेम में जीवात्मा ध्यानस्थ हो गई है।

टिप्पणी—परिचय में कायायोग की सिद्धियाँ, ज्ञान और प्रेम—सबका समन्वय है।

आकासे मुखि औंधा कुवां, पाताले पनिहारि।
ताका पांणीं कोइ हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि॥ ४५॥

आकाश में औंधे मुख वाला (नीचे की ओर उल्टे मुख वाला) कूप है और उसमें से जल भरने वाली पनिहारी नीचे पाताल में है। ऐसे पानी को कोई हंस ही (मुक्तात्मा ही) पी सकता है। विरले व्यक्तियों ने ही इस मूल तत्त्व पर विचार किया है। कबीर ने अनेक स्थानों पर 'उपजै ब्रह्म गियान' जैसी अभिव्यक्ति की है। सिद्धान्ततः ज्ञानावस्था को नवीन उपलब्धि मानने की अपेक्षा अज्ञान से उसकी भिन्नता तथा तद्जनित आह्लाद की व्यंजना में ही कबीर का अभिप्राय है।

साधनापरक—साधना से कुण्डलिनी के जाग्रत होने तथा सहस्रार कमल पर पहुँचने के बाद की अनुभूति को कबीर ने उलटवाँसी के माध्यम से व्यक्त किया है। उस समय 'गगन' से अमृत की वर्षा होती है, वही 'आकाश मुखी औंधा कुआँ' है और नीचे स्थित कुण्डलिनी ही पाताल की पनिहारी है। कुण्डलिनी के जाग्रत होकर शून्य शिखर तक पहुँचने पर ही जीव द्वारा इस अमृत वर्षा का स्वाद लिया जा सकता है। इस रस का पान केवल सिद्ध एवं मुक्त जन ही कर सकते हैं, वे ही हंस हैं। इस तत्त्व पर बिरले व्यक्तियों ने ही विचार किया और उसे समझा है।

ज्ञानपरक—ये पंक्तियाँ मुक्त जीव की आनन्दानुभूति को इस 'कुएँ' आदि की प्रतीक योजना से व्यक्त कर रही हैं। संसार से १० अंगुल ऊपर रहने वाले ब्रह्म तत्त्व या आनन्द तत्त्व की गूढ़ता तथा संसार से ऊँचाई को व्यक्त करने के लिए आकाशी कुएँ का प्रतीक उपयुक्त है। पनिहारी उस गूढ़ तत्त्व में लीन होने वाली अन्तःकरण की वृत्ति है। जो अब अन्तर्मुखी एवं ऊर्ध्वमुखी है। ऐसी वृत्ति का अहंकारी जीव जो अब जीवन्मुक्त है, वही हंस है। ब्रह्मानन्द का स्वाद भी उसी को आता है।

मुद्रापरक— यह खेचरी मुद्रा का संकेत भी है। ब्रह्मरन्ध्र से टपकने वाला चन्द्र स्थान का अमृत योगी अपनी जिह्वा को उस रन्ध्र पर लगाकर पीता रहता है। जो सूर्य के कुण्ड में भस्म होने नहीं देता। उस अमृत का स्वाद लेने वाला योगी ही हंस है, जिह्वा पनिहारी है। ब्रह्मरन्ध्र उस कुएँ का मुख है तथा चन्द्र स्थान वह मूल कुआँ है।

टिप्पणी—इन तीनों अर्थों को एक साथ ही इस 'साखी' में व्यक्त कर देने से कबीर की 'समन्वयवादी' वृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है। नाथ-सम्प्रदाय एवं सन्त-सम्प्रदाय में प्रचलित प्रतीकों का उपयोग है। 'विरोधाभास' का चमत्कार भी है।

सिव सकती दिसि कूँण जु जोवे, पछिम दिसा उठै धूरि।
जल में स्यंघ जु घर करै, मछली चढ़ै खिजूरि॥ ४६॥

शिव और शक्ति की ओर कौन देख सकता है? पश्चिम दिशा में अंधड़ उठ रहा है। जल में सिंह ने अपना निवास बना लिया है और मछली खजूर पर चढ़ गई है।

टिप्पणी—इसमें उलटवाँसी का थोड़ा उपयोग करते हुए कबीर ने कायायोग की साधना का निरूपण किया है। कुण्डलिनी के जाग्रत होकर सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ने की क्रिया को कबीर मछली का खजूर पर चढ़ना बता रहे हैं। इस अवस्था में प्राण वायु का सुषुम्ना के मार्ग में अत्यन्त तेजी से संचार होता है, यही 'पच्छिम दिसा उठे धूरि' है। इसी साधना को परिपक्व अवस्था में सिंह रूप अहंकारी जीव विनम्र होकर आनन्द और प्रेम के जल में निवास करने लगता है। इसी की ओर संकेत है। अथवा अनहद नाद रूपी सिंह इड़ा और पिंगला के साधना एवं आनन्द के जल में व्याप्त हो गया है। इसी अवस्था में जीव को त्रिकुटि से ऊपर स्थित शिव-शक्ति के समरस रूप के दर्शन होते हैं। पर ऐसे कितने भाग्यशाली हैं जो 'शिव-शक्ति' की ओर उन्मुख रह सकें, अर्थात् बिरले ही हैं।

'शिव-शक्ति', 'पछिम दिशा' आदि सिद्धों और नाथों के मान्य प्रतीक हैं।

अम्रत बरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जलाहा भया पारषू, अनभै उतर्‌या पार॥ ४७॥

अमृत की वर्षा हो रही है और हीरा पैदा हो रहा है। टकसाल में घंटे पड़ रहे हैं। जुलाहा कबीर उस धन का पारखी हो गया है और निर्भय होकर अपने अनुभूतिक बल पर संसार सागर से पार उतर गया है।

व्याख्या—आत्म-परिचय के कारण सहस्रार कमल से अमृत की वर्षा हो रही है। जो परम आनन्द की प्राप्ति हो रही है, वही वज्र अथवा हीरा पैदा होना है। इस अवस्था में आनहदनाद के विभिन्न प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं, वे ही टकसाल के घंटों की ध्वनि है। 'टकसाल' अतुल धनराशि तथा 'घंटा पड़ना' उस धन के

उत्पत्ति के प्रतीक बन गए हैं। यह धनराशि भगवान के साक्षात्कार से उत्पन्न आनन्द एवं काम-सिद्धि के विभिन्न रूप ही हैं। कबीर इस धन का पारखी बन गया है; वह इस धन का महत्त्व समझता है। अब भगवान की कृपा से निर्भय होकर वह इस धन के बल पर संसार सागर से पार उतर गया है।

टिप्पणी—सहज साधना के चित्त को वज्र बनाने अर्थात् परम-तत्त्व में परिणत करने का सिद्धों ने आदेश दिया है। उसकी यहाँ पर व्यंजना है। यह सहज साधना प्रेम एवं परिचय की ही है, यह ध्वनि भी है। सहज प्रेम और परिचय से कायायोग की सब सिद्धियाँ सहज ही उपलब्ध हो जाती हैं। कायायोग स्वयं साध्य नहीं, साधन है। यह कबीर की मान्य विचारधारा है, ऐसी साखियों से यह भी ध्वनित होता है।

मिमता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ीं पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि॥ ४८॥

कबीर कहते हैं कि मोह-माया मेरा क्या बिगाड़ सकती हैं? मेरे लिए भगवत्प्रेम ने द्वार खोल दिया है। मुझे दया के सागर भगवान् के दर्शन हो गए हैं उनकी कृपा से काँटे अर्थात् संसार की विषय-वासनाओं के काँटे भी अब भक्ति में परिणत होकर आनन्ददायक 'सोड' (लिहाफ) बन गए हैं।

टिप्पणी—'मानवीकरण' और 'रूपक' अलंकार।

(६) रस कौ अंग

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुँभार (कुम्हार) का, बहुरि न चढ़ई चाकि॥ १॥

कबीर ने भगवान के साक्षात्कार एवं प्रेम का रस इस प्रकार और इतना पी लिया है कि अब उसकी सांसारिक यात्रा की थकान बिल्कुल दूर हो गई है। भक्त कबीर भगवान् रूपी कुम्भकार का घड़ा है। उनके अनुग्रह एवं ज्ञान से उसका शरीर रूपी घट पक गया है; इसलिए संसार के आवागमन रूपी चाक पर उसे फिर नहीं चढ़ना है। वह इसी जन्म में मुक्त हो गया है। या पक्के घड़े के लिए भाड़ की क्या आवश्यकता है?

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और सांगरूपक। 'हरि रूप कुम्भकार का घड़ा' कहकर भक्त के शरीर को भगवान् की इच्छा-पूर्ति का साधन बताया है। इसमें समर्पण-भाव भी व्यंजित है। विकल्प वाले अर्थ में प्रेम-परिपाक के बाद साधना की शक्ति व्यर्थ है, की ध्वनि है।

राम रसाइण प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलंभ है, मांगै सीस कलाल॥ २॥

भगवान् का प्रेम रसायन है, वह मानव में आमूल परिवर्तन करके नवजीवन का संचार करता है। यह रस पान में और भी अधिक सरस एवं मधुर होता जाता है। कबीर कहते हैं कि पर इसका पान अत्यन्त दुर्लभ है। कलार जो इस रस का विक्रेता है, वह इसके बदले में शीश मांगता है। अर्थात् गुरु रूपी कलाल के समक्ष जब तक जीव अपने अहंकार एवं अपने सम्पूर्ण जीवन का समर्पण नहीं करता है, तब तक वह इस प्रेम-रस का पान नहीं कर सकता है।

टिप्पणी—'पीवत अधिक रसाल'— इसका पान सामान्य से अधिक विशिष्ट रसिक ही कर पाते हैं—यह अर्थ भी है। 'रूपकातिशयोक्ति' अलङ्कार तथा व्यतिरेक की ध्वनि भी है।

कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पीवै, नहीं तौ पीया न जाइ॥ ३॥

कबीर कहते हैं कि गुरु-रूपी कलार (मदिरा बेचने वाला) की भट्टी पर बहुत से शिष्य-रूपी पियक्कड़ आकर बैठ गए हैं। पर इस मदिरा को पी वही सकेगा जो अपना अहंकार-रूपी सिर कलाल को सौंप देगा अन्यथा तो कोई भी यह मदिरा नहीं पी सकेगा।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति तथा सांगरूपक। प्रेमानुभूति अथवा भक्ति का त[illegible] समर्पण के बिना प्राप्त ही नहीं होता, यही कवि कहना चाहते हैं।

हरि रस पीया जांणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूँमत रहै, नांहीं तन की सार॥ ४॥

भगवान् के प्रेम की मदिरा पाई हुई तब जानो, जब एक बार के पीने भर से ही उसका नशा कभी न उतरे; जीव उसके नशे में मस्त होकर धूमता रहे और उसे शरीर की सुध न रहे।

टिप्पणी— सांगरूपक। अलौकिक प्रेम के नशे की खुमार कभी नहीं जाती। उस रस के स्वाद के बाद अन्य सब स्वादों से विरक्ति हो जाती है। जिसे अलौकिक प्रेम में ऐसी अनुभूति होती है, उसी को वास्तव में अनुभूति होती है; शेष [illegible] भ्रम ही है।

मैमंता तिण नां चरै, सालै चिता सनेह।
बारि जु बांध्या प्रेम कै, डारि रह्या सिरि षेह॥ ५॥

प्रेम-मदिरा से मस्त हाथी तृण भी ग्रहण नहीं करता है। उसी प्रकार प्रेम रस से मस्त जीव सांसारिक विषयों से उपराम हो जाता है। उसके चित में [illegible] चुभता रहता है। जो जीव रूपी हाथी प्रेम के दरवाजे पर बँध गया है; वह अपने सिर पर धूल डालता रहता है। अर्थात् वह प्रेम की मस्ती में प्रेम की 'वप्रक्रीड़ा' करता रहता है या अहंकार पर धूल डालता रहता है।

टिप्पणी— रूपकातिशयोक्ति एवं सांगरूपक अलङ्कार।

मैमंता अविगत रता, अकलप आसा जोति।
राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति ॥ ६ ॥

असंख्य सांसारिक दशाओं और तृष्णाओं को जीत कर जो उस परमब्रह्म में अनुरक्त होने से मस्त हो जाता है, अथवा मस्त होकर अविगत में अनुरक्त हो जाता है, उसे रामभक्ति का नशा छाया ही रहता है। वह उसी में झूमता रहता है। ऐसा भक्त जीवन्मुक्ति की अवस्था से भी ऊपर उठ जाता है अर्थात् विदेहमुक्ति अथवा प्रेमदशा को प्रहुँच जाता है।

टिप्पणी—'जीवन्मुक्ति' ज्ञान और वैराग्य की अवस्था है, पर प्रेमदशा प्रियतम से तादात्म्य की अनुभूति की अवस्था है, अतः वह जीवन्मुक्ति से भी ऊपर की स्थिति है।

जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि मलि न्हाइ।
देवल बूड़ा कलस सूं पंषि तिसाई जाइ ॥ ७ ॥

यह भगवत्प्रेम का तालाब अद्भुत है। पहले इस तालाब में घड़ा भी नहीं डूबता था अर्थात् अन्तःकरण के कुछ अंश को भी सरसता का अनुभव नहीं हो पाता था, पर अब तो सम्पूर्ण अहंकार रूपी हाथी भी इसमें मल-मल कर स्नान कर रहा है। जीव का अहंभाव भी इस प्रेम-रस में विलीन हो गया है। इसमें मल-मल कर स्नान करने से उसके विषय-वासनाओं से जनित सब कल्मष दूर हो गये हैं। जीव में सांसारिक विषयों के अहं के स्थान पर अब भक्त का अहं जाग गया। शिखर के कलशों सहित सारा मंदिर ही इस सर में डूब गया है अर्थात् जीव अपनी सम्पूर्ण उच्चता की अहंभावना के सहित इसमें विलीन हो गया है। अब वह इस रस में आप्लावित है। पर इस प्रेम-रस में इन्द्रियों की विषय-वासनाओं की प्यास नहीं बुझती है। वे यहाँ से प्यासी ही लौट जाती हैं।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलङ्कार।

सबै रसाँइण मैं किया, हरि सा और न कोइ।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ ॥ ८ ॥

जीव कहता है कि मैंने संसार से मुक्त होने के लिए सभी प्रकार की साधनाओं के रसायनों का सेवन किया है; पर भगवान् के प्रेम के समान कोई भी रसायन नहीं है। इस रसायन की एक रत्ती भी अगर शरीर में पहुँच जाती है तो सारा शरीर ही स्वर्णमय हो जाता है, अर्थात् अन्तःकरण सम्पूर्ण प्रकार के मलों से विशुद्ध होकर राममय हो जाता है।

टिप्पणी—'रूपक' अलङ्कार।

(७) सांबि कौ अंग

काया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर ॥ १ ॥

कबीर कहते हैं कि मैंने प्रेम के उज्ज्वल एवं निर्मल नीर से अपने शरीर रूपी कमण्डल को भर लिया है। शरीर, मन और यौवन की अपनी पूरी शक्ति और मस्ती के साथ मैंने इस प्रेम-रस का पान यौवन भर किया है। अथवा शरीर और मन ने यौवन भर इस प्रेम-रस का पान किया है। पर इससे मेरे अन्तःकरण की प्यास बुझी नहीं, बढ़ती ही गई है। इसके पीने की इच्छा और भी तीव्र हुई है।

टिप्पणी—व्यतिरेक की व्यंजना और सांगरूपक। प्रेम की प्यास बढ़ती ही जाती है, इस अनुभूति का चित्रण है।

मन उलट्या दरिया मिल्या, लागा मलि मलि न्हांण।
थाहत थाह न आवई, तूं पूरा रहिमांन ॥ २ ॥

विषयाभिमुख अन्तःकरणः अब अन्तर्मुखी होकर प्रेम-रस के आनन्द-समुद्र में मिल गया है। जीव उसमें मल-मल कर स्नान कर रहा है। मन उस प्रेम एवं आनन्द के सागर की गहराई की थाह लेना चाहता है, पर ले नहीं पाता है। हे कृपालु भगवान् ! तुम पूर्ण हो, अथाह हो।

टिप्पणी—(१) रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार।

(२) प्रेम-रस और परमतत्त्व का अभेद प्रतिपादित है।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समाणी समद मैं, सो कत हेरी जाइ ॥ ३ ॥

हे उदार और महान्, अथवा हे सखि, अपने आत्म-स्वरूप को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कबीर स्वयं ही खो गया है। उसका अहं व्यापक चैतन्य में विलीन हो गया है। जो बूँद समुद्र में मिलकर तदाकार हो गई है, जिसका अब पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया है, वह भला कैसे ढूँढ़ी जा सकती है ? जीव का पृथक् अहं जब परमात्म-चैतन्य में विलीन हो जाता है तब उसकी पृथक्ता का भान कैसे सम्भव है ?

टिप्पणी—दृष्टान्त अलङ्कार।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाणा बूंद मैं, सो कत हेर्‍या जाइ ॥ ४ ॥

हे बुद्धि, रे सखि अथवा हे महान् या हे जीवात्मा, परमात्मा को खोजते हुए कबीर स्वयं ही खो गया है। समुद्र बूँद में समा गया है। अब उसका पृथक बोध कैसे सम्भव है ? जब जीवात्मा और परमात्मा में अभेद हो जाता है, तब परमात्मा का पृथक बोध भी नहीं रहता। ज्ञाता और ज्ञेय का तादात्म्य हो जाने पर ज्ञेय की पृथक प्रतीति नहीं रहती है।

टिप्पणी—(१) उपर्युक्त दोनों साखियों में जीव और ब्रह्म के ऐक्य का दो दृष्टियों से प्रतिपादन है। पहली में जीव के ब्रह्मरूप हो जाने का, तथा दूसरी में जीव-भाव से ही आत्यन्तिक रूप से ब्रह्मत्व की प्रतीति का वर्णन है। पहली में जीव की साधना तथा दूसरी में ईश्वर के अनुग्रह की व्यंजना है।

(२) दृष्टान्त अलंकार।

(८) जर्णा (जरणां) कौ अंग

भारी कहौं तो बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जांणौं राम कूं, नैनं कबहुँ न दीठ ॥ १ ॥

भगवान् को भारी कहने में भयभीत हूँ क्योंकि इससे उसकी नितान्त अगम्यता की ध्वनि निकलती है। अगर उस परमतत्त्व को हल्का कहूँ तो झूठ कहना है। इससे उसकी तुच्छता का प्रतिपादन हो जाता है। ये दोनों इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान के विषय में ही अभिधेय हैं। किसी अन्य वस्तु की तुलना में ही कोई वस्तु भारी या हल्की होती है। परमतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं, वह केवल एवं अद्वैत तत्त्व है। भगवान् को इन चर्म चक्षुओं से मैंने कभी देखा ही नहीं। वह इन चर्म-चक्षुओं का विषय तो है ही नहीं। फिर मैं राम को कैसे जान सकता हूँ?

टिप्पणी—परमतत्त्व केवल स्वानुभूति एवं साक्षात्कार का विषय है। पर वह नाम-रूप से अभिधेय नहीं है। यही व्यंजना है।

दीठा है तो कस कहौं, कह्या न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहो, तूं हरषि हरषि गुण गाइ ॥ २ ॥

अगर मैंने भगवान् को देखा भी है तब भी मैं उसका वर्णन कैसे करूँ? वह तो वर्णनातीत है। अगर वर्णन कर भी दूँ तो उस वर्णन पर किसी का विश्वास नहीं जमेगा। विश्वास भी भगवान् के अनुग्रह से ही जमता है। और शब्दों में उसका वास्तविक स्वरूप व्यक्त भी नहीं होता है। अतः शब्दों में वर्णित स्वरूप पर विश्वास जम भी कैसे सकता है? भगवान् जैसा है, वैसा ही रहे। जीव, तू तो प्रसन्न होकर उसका गुण-गान करता रह। उसके स्वरूप-ज्ञान के तर्क-वितर्क में मत पड़।

टिप्पणी—'विशेषोक्ति' अलंकार। भगवान् 'स्वलक्षणं स्वलक्षणं' अथवा 'तत् तथा' है। इसी की व्यंजना है।

ऐसा अद्बुद जिनि कथै, अद्बुत राखि लुकाइ।
बेद कुरानौं गमि नहीं, कह्यां न कोउ पतियाइ ॥ ३ ॥

रे जीव, ऐसे अद्भुत तत्त्व का वर्णन मत करो। उसे अद्भुत एवं रहस्य ही बना रहने दो तथा उसे अपने हृदय में छिपा कर रखो। उस तक वेद और कुरान की भी पहुँच नहीं है। वाणी से उसका वर्णन करने पर भी किसी को विश्वास नहीं होगा।

टिप्पणी—इस अद्भुत तत्त्व को शब्दों में बाँधने के प्रयास से उसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन नहीं हो पाता है। वह केवल स्वानुभूति का विषय है, यही व्यंजना है।

करता की गति अगम है, तूँ चलि अपणैं उनमान।
धीरैं धीरैं पाव दे, पहुँचोगे परवान (निरवांन)॥ ४॥

भगवान् की माया यद्यपि अगम्य है; पर हे जीव ! तू उस परमतत्त्व तक पहुँचने के लिए अपने ढंग से धीरे-धीरे पैर रखते हुए दृढ़तापूर्वक चलता रहा। हम नियमानुसार एक दिन यथास्थान अर्थात् मोक्ष को पहुँच ही जायेंगे।

टिप्पणी—मोक्ष तक पहुँचने के लिए अधिकारी-भेद से मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, पर प्रत्येक व्यक्ति वहाँ तक पहुँचता ही है, इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

पहुँचैंगे तब कहैंगे, अमड़ैंगे उस ठांइ।
अजहूँ बेरा समंद मैं, बोलि बिगूचैं कांइ॥ ५॥

कबीर कहते हैं कि अपने गन्तव्य पर पहुँच कर आनन्द केलि करेंगे, उस प्रेम-रस में मग्न होंगे। अभी तो यह जीवनरूपी जहाज का बेड़ा संसार-रूपी समुद्र में ही है। अभी से उस परमतत्त्व की प्राप्ति के बारे में कहकर अहंकार की पुष्टि क्यों करें और बढ़-बढ़ कर बोलने के दोषी भी क्यों बनें ?

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति।

(६) हैरान कौ अंग

पंडित सेती कहि रहे, कह्या न मानै कोइ।
ओ अगाध ए का कहैं, भारी अचिरज होइ॥ १॥

तथाकथित पण्डितों के समक्ष जब मैं भगवान् के अद्वैत स्वरूप का प्रतिपादन करता हूँ तो उन्हें भी मुझ पर विश्वास नहीं होता। उन पण्डितों को उस परमतत्त्व का अद्वैत एवं अगाध रूप में वर्णन करने से अथवा उस अगाध तत्त्व में जीव का ऐक्य स्थापित करने से अत्यधिक आश्चर्य होता है।

टिप्पणी—व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि। द्वैत बुद्धि पर व्यंग्य है।

बसे अप्यंडी प्यंड मैं, ता गति लषै न कोइ।
कहै कबीरा संत हौ, बड़ा अचंभा मोहि॥ २॥

वह अशरीरी तत्त्व इस शरीर में निवास करता है, उसकी इस गति को न समझते हुए भी अहंमन्य पण्डित अपने आपको सन्त समझता है। कबीर कहते हैं कि इसी का मुझे महत् आश्चर्य है।

(१०) लै कौ अंग

जिहि बनि सीह न संचरै, पंषि उड़े नहीं जाइ।
रैन दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ ॥ १ ॥

जिस आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार अथवा शून्यावस्था-रूप वन में अहंकार-रूप सिंह तक नहीं जा सकता है, और न इन्द्रियाँ-रूपी पक्षी ही पहुँच पाते हैं, जहाँ न रात होती और न दिन ही, ऐसे ही स्थान या तत्त्व में कबीर ने अपना ध्यान लगा रखा है।

टिप्पणी—(१) रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

(२) 'सिंह' अहंकारी जीव, 'पक्षी' इन्द्रियों तथा 'रात-दिन' देश-काल के प्रतीक हैं।

सुरति ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलन हार।
कँवल कुआँ मैं प्रेम रस, पीवै बारंबार ॥ २ ॥

सहस्रार-कमल-रूपी कुएँ में भगवान् के प्रेम का रस भरा हुआ है। 'सुरति' या स्मृति-रूपी ढीकुली तथा लययोग-रूपी रस्सी से मन निरन्तर इस प्रेम-रस को खींच रहा है। भक्त एवं मुमुक्षु, जीव इसी जल का बारम्बार पान करता है।

टिप्पणी—(१) 'रूपक' अलंकार।

(२) 'सहस्रार कमल' में प्रेम-रस के दर्शन से योग-साधना और भक्ति का अभेद हो गया है।

गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट।
तहां कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट ॥ ३ ॥

गंगा और यमुना अर्थात् इड़ा और पिंगला के मध्य में सुषुम्ना के शून्य शिखर भाग पर सहज शून्य रूपी घाट है। अथवा शून्य (जीवात्मा) के लय का सहज घाट है। वहाँ पर कबीर ने अपना मठ बना लिया है; अर्थात् उसी अवस्था में कबीर ने अपने अन्तःकरण की वृत्ति रमा ली है। उस अवस्था तक पहुँचने के लिए अभी मुनि प्रतीक्षा ही कर रहे हैं।

टिप्पणी—'व्यतिरेक' अलंकार की ध्वनि।

(११) निहिकर्मी पतिब्रता कौ अंग

कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
जे हँसि बोलौं और सौं, नील रँगाऊँ दंत ॥ १ ॥

जीवात्मा कहती है, 'हे अनेक गुणों से युक्त पति परमेश्वर! मुझे तुमसे अनन्य प्रेम है। अगर मैं अन्य किसी से हँस कर भी बोलूँ; अर्थात् उससे रंच मात्रा भी प्रेम करूँ तो अपने दाँतों को नील से रंग लूँ अर्थात् कलंकित हो जाऊँ।''

टिप्पणी — समासोक्ति अलंकार। 'जे हँसि बोलौं और सों' की व्यंजना है, अन्य देवताओं की उपासना, सिद्धि आदि की साधना अथवा सांसारिक सुखों में रमना।

नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
नां हौं देखौं और कूं, नाँ तुझ देखन देउं॥ २॥

हे प्रिय, तुम मेरे नेत्रों में समा जाओ मैं तुम्हें वहाँ विराज कर नेत्रों को बंद कर लूँ, ताकि मैं न तो कि किसी अन्य को देखूँ और न तुम्हें किसी अन्य को देखने दूँ।

टिप्पणी—अनन्य प्रेम की व्यंजना है। लौकिक के प्रेम में प्रेमी पर ऐकान्तिक अधिकार की भावना समुचित है, उसी से अलौकिक प्रेम में भी ऐकान्तिक अधिकार की व्यंजना हुई है। यह रहस्यवादी प्रेम-भावना के अनुकूल है। पर यहाँ जीव की उसके प्रेम की अनन्यता मात्र व्यंजित है, दूसरों पर होने वाले भगवान् के अनुग्रह पुष्टि से अथवा प्रेम पर नियन्त्रण की कामना नहीं।

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै है मेरा॥ ३॥

हे भगवन्, मुझ में (जीव में) मेरा अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है वह सब तेरा ही है। प्रेम में तुझे मैं जो कुछ समर्पण कर रहा हूँ, वह सब तेरा ही है। अतः इसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? मुझे तो उल्टे इसमें प्रसन्नता है।

टिप्पणी — प्रेम के समर्पण में भी निरभिमानता होनी चाहिए। जीव में सब कुछ भगवान् का ही है। ब्रह्म की सत्ता से जीव की सत्ता है। ब्रह्म के सर्वव्यापक होने तथा जीव के पृथक् अस्तित्व के निषेध की भावना स्पष्ट है। इस ज्ञान-सहित प्रेम का वर्णन है।

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनौं रमइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ॥ ४॥

कबीर कहते हैं कि जब आँखों में सिंदूर की रेखा रहती है अर्थात् पीड़ा से लालिमा रहती है, उस समय उसमें काजल नहीं लगाया जा सकता है। उसी प्रकार जब नेत्रों में राम समाया हुआ है, उसके प्रेम की लालिमा है तो दूसरे के लिए विषय-वासनाओं या अन्य साधनाओं के लिए, कहाँ स्थान है ? उसमें काजल रूप माया के आकर्षण कैसे समा सकते हैं ?

टिप्पणी—'दृष्टान्त' अलंकार। प्रेम की अनन्यता का चित्रण है। रूपक की व्यंजना।

कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास।
समदहि तिणका बरि गिणै, स्वाँति बूंद की आस।। ५ ।।

पहला अर्थ (ज्ञान और भक्ति के सन्दर्भ में)—

कबीर कहते हैं कि समुद्र की सीप का स्वाँति बूँद से अनन्य प्रेम है। इससे वह समुद्र में पड़ी हुई भी प्यास से चिल्लाती रहती है। समुद्र के जल को तिनके के समान तुच्छ समझती है और स्वाँति बूँद की आशा लगाये रहती है।

दूसरा अर्थ (अज्ञानी जीव के सन्दर्भ में)—

कबीर कहते हैं कि परम चैतन्य के आनन्द समुद्र में रहने वाली जीवात्मा रूपी सीप प्यास की घूँट लगाये रहती है अर्थात् आनन्द के अभाव का अनुभव करती है। अपने आदिकाल और शाश्वत निवास के स्थान आनन्द समुद्र को तुच्छ समझती हैं तथा साधनाओं या विषयों से प्राप्त होने वाले आनन्द के बिन्दु-रूप स्वाँति बूँद की आशा लगाये रहती है।

टिप्पणी—प्रेम की अनन्यता का 'अन्योक्ति' के द्वारा चित्रण है। प्रतीक के रूप में यहाँ 'समुद्र' सांसारिक सुखों का, स्वाँति बूँद' ज्ञान और भक्ति के आनन्द का और 'सीप' मुमुक्षु आत्मा का प्रतीक है।

कबीरा सुख कौं जाइ था, आगैं आया दुख।
जाहि सुख घरि आपणैं, हम जाणे अरु दुख।। ६ ।।

कबीर कहते हैं कि मैं सांसारिक सुखों की खोज में ही आगे बढ़ रहा था। पर इस यात्रा में गुरु की कृपा से बीच में ही मेरा सामने से आये हुए ज्ञान और वैराग्य की वेदना से साक्षात्कार हो गया। भगवान् के प्रेम के कारण मुझे उन सुखों को कहना पड़ा कि तुम अपने स्थान पर अर्थात् विषयी पुरुषों के पास जाओ। अब तो मैं हूँ और यह वेदना है। मुझे तो जीवन भर इस ईश्वर-प्रेम की वेदना के साथ ही रहना है।

टिप्पणी—मानवीकरण। गुरु-कृपा मिलने पर शीघ्र ही तथा वैसे भी वैषयिक सुखों की अन्तिम परिणति ईश्वर-प्रेम में ही होती है, यही अभिव्यंजना है।

दोजग तौ हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिए, बाझ पियारे तुझ।। ७ ।।

कबीर कहते हैं कि मुझे नरक में रहना स्वीकार है। उसका मुझे तनिक भी भय नहीं है। पर मुझे आपसे रहित या आपको छोड़कर स्वर्ग नहीं चाहिए।

टिप्पणी—'स्वर्ग' यहाँ पर वैषयिक सुखों का उपलक्षण है, जिसमें व्यक्ति भगवान् को भूल जाता है। 'नरक' दुःखों का प्रतीक है, उसमें व्यक्ति ईश्वर को भूल नहीं सकता; इसीलिए कबीर को स्वीकृत है।

जे ओ एकै जांणियाँ, तौ जांण्या सब जांण ।
जे ओ एक न जांणियाँ, तो सबही जांण अजांण ॥ ८ ॥

अगर उस एक परमतत्त्व को जान लिया है तो सब को ज्ञात ही समझो। अगर उस एक तत्त्व को नहीं समझा है तो सभी जानी हुई वस्तुएँ वस्तुतः अज्ञात ही हैं। अद्वैत तत्त्व को एक अथवा अद्वैत रूप में न जानना तो अज्ञान ही है। वस्तुओं को उस तत्त्व के रूप में जानना ही वस्तुतः वस्तुओं का वही तात्त्विक स्वरूप है। उनका ज्ञान है। अन्य रूप में उनका ज्ञान तो अज्ञान ही है।

टिप्पणी—'एकं विज्ञातेन सर्वं विज्ञातम् भवति।' सत् रूप से वही तत्त्व सब में विद्यमान है। सब में उसी का ज्ञान होता है। मूल कारण जान लेने से उसके सब कार्य जान लिये जाते हैं। तद्वति तद्प्रकारकं ज्ञान प्रभा की ओर भी संकेत है।

कबीर एक न जाणियां, तौ बहु जांण्यां क्या होइ ।
एक तैं सब होत है, तब तैं एक न होइ ॥ ९ ॥

कबीर कहते हैं कि अगर उस एक तत्त्व को नहीं जाना है तो बहुतों को जानने से क्या लाभ है? बहु के रूप में ज्ञान तो अज्ञान है। एक से ही सबका विकास हुआ है। एक ही अनेक में परिणत होता है। पर सब मिलकर एक नहीं हो सकते। अगर सबके पृथक् अस्तित्व हैं तो वे मिलकर एक कैसे हो सकते हैं? वे तदाकार होकर मिल ही नहीं सकते हैं।

टिप्पणी—'एकोऽहं बहुस्याम्'। इस रूप में जानना ही ज्ञान है; यही ध्वनि है।

जब लग भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव ।
कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकामी निज देव ॥ १० ॥

जब तक भक्ति-भावना में कामना है, अर्थात् वह किसी सांसारिक वस्तु की प्राप्ति का साधन है, वह तब तक शुद्ध भक्ति नहीं है। अपने आप में साध्य भक्ति ही वस्तुतः भक्ति है। भक्ति का प्रयोजन भक्ति ही है, कोई दूसरी कामना नहीं। अतः यह सकाम सेवा निष्फल ही है। भगवान् तो निष्काम हैं। वे सम्पूर्ण कामनाओं से ऊपर हैं। वे किसी कामना के विषय भी नहीं हो सकते हैं। अतः कबीर कहते हैं कि भगवान् सकाम भक्ति से कैसे मिल सकते हैं? जिस भक्ति से भगवान् नहीं मिलते, वह सेवा तो निष्फल ही है।

आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास ।
पाँणी मांहै घर करैं, ते भी मरैं पियास ॥ ११ ॥

आशा तो केवल राम से करनी चाहिए। बाकी सब आशायें व्यर्थ हैं। अन्य देवताओं का आश्रय तो निरर्थक है। उनमें तो उधार ली हुई अल्प शक्ति मात्र है। आश्चर्य तो यह है कि जिसका निवास ही जल में है, वह भी प्यासा ही है! अर्थात्

आनंदघन पूर्णकाम भगवान के साथ जीव का अभेद है। जीव शाश्वत रूप से पूर्णकाम भगवत्तत्व में ही प्रतिष्ठित है, पर तब भी वह अतृप्त है, प्यासा है ! देवता और संसार से ही आशा कर रहा है।

टिप्पणी—रूपक गर्भित निदर्शना।

जे मन लागे एक सूं, तौ निरबाह्या (निरबाल्या) जाइ।
तूरा दुह मुखि बाजणाँ, न्याइ तमाचे खाइ॥ १२॥

अगर एक भगवान् में ही आसक्ति रहती है तो उसका निर्वाह हो सकता है। जीव अकेला ही अलग एक मार्ग से निर्द्वन्द्व एवं निरापद होकर जीवन-यात्रा कर सकता है। पर द्वैत-भावना की दुविधा में पड़े हुए की तुरी बाजे की गति होती है। तुरी बाजा दो मुखों से बजता है, अतः उसके स्वर को ठीक करने के लिए उसे हाथ से कभी एक मुँह पर और कभी दूसरे मुँह पर ठोका जाता है। दोनों मुखों में सरसता तो हो नहीं पाती है ? अतः उस बाजे का तमाचा खाना उचित ही है। उसी प्रकार द्वैत में विश्वास करने वाले की वही गति हो जाती है। उसमें द्विविधा के कारण एकनिष्ठता और अनन्यता नहीं जागती। अतः उसे दोनों ओर से ही तमाचे लगते हैं—कभी वह लौकिकता की ओर बढ़ता है और कभी आध्यात्मिकता की ओर। वह निर्द्वन्द्व होकर न किसी मार्ग पर बढ़ सकता है और न एक मार्ग का निर्वाह कर सकता है।

टिप्पणी—(१) अर्थान्तरन्यास।

(२) निरबाल्या—एक मार्ग में अलग, निरबाह्या—निर्वाह किया जाय ऊपर इन दोनों अर्थों का सामंजस्य है।

कबीर कलिजुग आइ करि, कीये बहुत ज मीत।
जिन दिलबंधी एक सूं, ते सुख सोवै नचींत॥ १३॥

इस कलियुग के प्रभाव से मनुष्य ने अनेक मित्र बना लिए हैं। पर जिनमें अनन्यता है; जिन्होंने हृदय से एक को ही प्रेम किया है—वे ही निश्चित होकर सुख की नींद सो सकते हैं।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' से बहुदेववाद का खण्डन एवं एक ईश्वर के प्रति अनन्यता का प्रतिपादन है।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाँउँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाऊँ॥ १४॥

कबीर कहते हैं कि मैं राम का कुत्ता हूँ। मेरा नाम मुतिया है। गले में राम की रस्सी पड़ी है; अर्थात् राम से बँधा हुआ हूँ। जिधर मुझे राम ले जाते हैं, उधर ही चला जाता हूँ।

टिप्पणी—कबीर की अनन्य भक्ति एवं उनका समर्पण-भाव व्यंजित है। इसका चरितमूलक महत्त्व भी है।

तो-तो करै तौ बाहुड़ौं, दुरि दुरि करैं तौ जाउँ ।
ज्यूँ हरि राखैं त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ ।। १५ ।।

कबीर अपने पर कुत्ते का अध्यारोप करके कहते हैं कि अगर राम 'तू'-'तू' करके बुलाते हैं तो उनकी ओर आ जाता हूँ और 'दुर'-'दुर' करके हटाते हैं तो हट जाता हूँ। भगवान् जैसे रखते हैं वैसे ही रहता हूँ और जो खाने को देते हैं, वही खा लेता हूँ।

टिप्पणी—पूर्ण समर्पण भाव है। जीव का कर्त्ता और भोक्ता—दोनों ही रूप ईश्वर प्रेरित मात्र हैं; उसी की व्यंजना है।

'रूपक' अलंकार।

मन परतीति न प्रेम रस, नाँ इस तन मैं ढंग ।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसैं रहसो रंग ।। १६ ।।

न तो मन में अपने पर पूर्ण आत्म-विश्वास है और नाहीं प्रेम का पूर्ण रस प्रकट हुआ है। इस शरीर की प्रेम के उपयुक्त चाल-ढाल भी नहीं है। पता नहीं, उस प्रियतम के साथ आनन्द-केलि कैसे निभेगी ?

टिप्पणी—प्रेमी और भक्त हमेशा अपने आप में पात्रता की कमी का ही अनुभव करता रहता है, क्योंकि उनमें प्रेम की प्यास तथा अतृप्ति बढ़ती ही जाती है। इसी से कबीर को भी प्रेम में अतृप्ति एवं उसकी बढ़ती हुई प्यास के कारण अपनी अयोग्यता की प्रतीति हो रही है। लौकिक प्रेम के बिम्बों से अलौकिक प्रेम की व्यंजना है।

'समासोक्ति' अलङ्कार।

उस संम्रथ का दास हौ, कदे न होइ अकाज ।
पतिब्रता नारी रहै, तो उसही पुरिस कौं लाज ।। १७ ।।

मैं उस समर्थ भगवान् का अनन्य दास हूँ। अतः मेरा कभी भी अमंगल नहीं हो सकता है। अगर पतिव्रता स्त्री नंगी भी रहती है तो उसके पति को ही लज्जा का अनुभव होता है। वे उसके लिए स्वयं ही वस्त्र ला देते हैं।

टिप्पणी—'द्रष्टान्त' अलंकार।

तुलना कीजिए—

'अनन्याश्चितयन्तो मां ये जनां पर्युपासते ।
तेषांनित्याभियुंक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।'

—श्रीमद्भगवतगीता।

घरि परमेसुर पाँहूणाँ, सुणौं सनेही दास ।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूँ कदे न छाड़ै पास ।। १८ ।।

अरे प्रेमासक्त भक्त, तुम्हारे घर पर भगवान् रूपी मेहमान (जवांई) विराज-

मान है। उसे प्रेम की विभिन्न क्रीड़ाओं के षट्रस भोजन के सत्कार से तृप्त करता रह, ताकि वह तुम्हारा साथ कभी न छोड़े।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

'पाहुँणा' शब्द राजस्थानी जवांई (दामाद) का भी द्योतक है। यही अर्थ यहाँ उपयुक्त है।

(१२) चितावणी कौ अंग

कबीर नौबति आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर बटण ए गली, बहुरि न देखैं आइ॥ १॥

रे जीव, सांसारिक सुखों की अपनी इस नौबत को दस दिन और बजा लो। उसके बाद तो तुम्हें यह नगर, यह शहर, ये गलियाँ देखने को मिलेंगी नहीं। अर्थात् एक बार यह मानव जीवन मिल गया है; उसमें चाहे कितना अहंकार-पूर्ण एवं भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करके इस सुयोग को नष्ट करो। फिर कभी तो यह सुयोग मिलने वाला नहीं है।

टिप्पणी—जीवन की क्षणभंगुरता व्यंजित है।

जिनके नौबति बाजती, मैंगल बंधते बारि।
एकै हरि के नांव बिन, गए जनम सब हारि॥ २॥

जिनके द्वार पर नौबत बजती थी और मस्त हाथी बँधते थे, केवल एक भगवान् के नाम-स्मरण के अभाव में उनका सम्पूर्ण जीवन ही व्यर्थ हो गया।

टिप्पणी—सांसारिक वैभव व्यर्थ है तथा भक्ति से ही जीवन की कृतार्थता है; ये दो ध्वनियाँ हैं। 'जिनके वारि' तथा···नौबत बजना 'मैंगल बँधना' समृद्धि और हास-विलास के उपलक्षण हैं।

ढोल दमामा दुड़बड़ी, सहनाई संगि भेरि।
औसर चल्या बजाइ करि, है कोइ राखै फेरि॥ ३॥

जीवन में वैभव के सारे साधन क्षणभंगुर हैं। समय पर जीव ढोल, नगाड़ा, डुगडुगी, शहनाई तथा उसके साथ भेरी—ये सब बाजे बजाकर, अर्थात् वैभवों को भोगता हुआ तथा उनका ढिंढोरा पीटकर चला जाता है। पर समय बीतने पर क्या कोई जीवन के इस वैभव की बाद में रक्षा कर पाता है? अथवा क्या उन्हें लौटा पाता है? उनको लौटा पाता है?

टिप्पणी—जीवन की क्षण-भंगुरता तथा काल के समक्ष असमर्थता व्यंजित हैं। इन साखियों में 'नौबत' आदि उपलक्षण हैं।

सातौं सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े, बैसण लागे काग॥ ४॥

जिन महलों में सातों प्रकार के बाजे बजते थे और घड़ी-घड़ी में बारम्बार रागरंग होता था; वे महल अब खाली पड़े हैं और उन पर कौए बैठने लगे हैं।

टिप्पणी—संसार की नश्वरता रूप वस्तु-ध्वनि वस्तु से ही ध्वनित है। राजकीय महलों का यथार्थ चित्रण है।

'समासोक्ति' अलंकार। महल से 'शरीर' का भी संकेत है जिसमें नाद के सातों स्वर सुनाई देते थे, वहीं (शरीर) प्राण निकलने के बाद कौओं का भोजन हो गया है; यह अप्रस्तुत अर्थ भी है।

कबीर थोड़ा जीवणां, माड़े बहुत मँड़ाण।
सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान ॥ ५ ॥

कबीर कहते हैं कि थोड़े से जीवन के लिए व्यक्ति ने बहुत से साज-बाज एकत्र किए हैं। पर काल ने खड़े-खड़े ही राजा, राव, रंक और बादशाह—सभी को ग्रस लिया है।

इक दिन ऐसा होइगा, सब सूँ पड़ै बिछोह।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ ॥ ६ ॥

एक दिन व्यक्ति को सभी से बिछुड़ना पड़ेगा। इस निश्चित नियति को सोचकर, राजा, राणा और छत्रपति सतर्क क्यों नहीं होते हैं? अर्थात् वे विषय-भोगों से विरक्त होकर ईश्वर-भजन में क्यों नहीं लगते?

टिप्पणी—राजा, राणा, छत्रपति प्रायः समानार्थक शब्दों का प्रयोग उनके पद एवं शक्ति के अहंकार को व्यंजित करने के लिए है।

कबीर पटण कारिवा, पंच चोर दस द्वार।
जम राणौं गढ़ भेलिसि, सुमिरि लै करतार ॥ ७ ॥

कबीर कहते हैं कि शरीर-रूपी इस नगर और कारवाँ पर आक्रमण करने के लिए इन्द्रियों के दस द्वार हैं तथा काम, क्रोध, मद, मोह रूपी पाँच भीतरी चोर हैं। इन चोरों के कारण इस शरीर की शक्ति क्षीण ही होती रहती है; ये द्वार भी सुरक्षित नहीं है। यम-रूपी राणा इस शरीर-रूपी दुर्ग को मटियामेट कर देगा। अतः हे जीव, भगवान् के स्मरण में ही कल्याण है। उन्हीं का आश्रय ले।

टिप्पणी—सांगरूपक।

कबीर कहा गरबियौ, इस जोबन की आस।
टेसू (केसू) फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥ ८ ॥

कबीर कहते हैं कि इस यौवन की शक्ति पर क्या अहंकार करते हो? यह क्षणभंगुर है। टेसू या किंशुक फूल की तरह है। टेसू केवल चार दिन के लिए फूलता यह है फिर कुम्हला जाता है; पलास भी अन्त में ठूँठ हो जाते हैं। उसी प्रकार यौवन भी कुछ क्षणों का ही है। अन्त में शक्तिहीन जरा और मृत्यु ही आती है।

टिप्पणी—'निदर्शना' अलङ्कार। 'जीवन' पाठ भी सार्थक है।

कबीर कहा गरबियौ, देही देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यूँ काँचली भुवंग ॥ ९ ॥

रे मानव ! इस सुन्दर शरीर को देखकर क्या अभिमान करता है। एक बार इससे बिछुड़ने पर फिर मिलन नहीं हो सकता है। छूटने के बाद यह शरीर पुनः उसी प्रकार नहीं प्राप्त होता जैसे साँप अपनी केंचुली को जब एक बार छोड़ देता है तो फिर उसे नहीं ग्रहण कर सकता है।

टिप्पणी—'उपमा' अलङ्कार। नश्वरता की व्यंजना के साथ ही इस शरीर की भक्ति से कृतार्थ करो की भी व्यंजना है। 'भुवंग' से विषयों की भी ध्वनि है।

कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास।
कालि्ह परयुं भुइ लोटणा, ऊपरि जामैं घास ॥ १० ॥

कबीर कहते हैं "रे मानव', अपने इन ऊँचे-ऊँचे महलों को देखकर इन पर क्या अभिमान करता है ? कल-परसों तक इन महलों को धराशायी हो जाना है। फिर इन पर भी घास ही लगेगी।"

टिप्पणी—समृद्धि के प्रतीक ये महल आदि तृण से भी तुच्छ हैं; इसकी व्यंजना है।

पाठशोध—'भ्वै लेटना' पाठ ठीक नहीं है।

कबीर कहा गरबियौ, चाम पलेटे हड।
हैंबर ऊपरि छत्र सिरि, ते बी देबा खड ॥ ११ ॥

कबीर कहते हैं कि इस शरीर पर क्या गर्व करता है ? यह चर्म से चिपटा हुआ हड्डियों का ढेर मात्र है। श्रेष्ठ एवं सुन्दर घोड़ों पर धारण करके चलने वाले शरीर भी एक दिन गड्ढे में गाड़ दिये जायेंगे।

टिप्पणी—नश्वरता एवं शरीर के प्रति जुगुप्सा की व्यंजना है। 'भी' पाठ ठीक नहीं।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
नां जांणै कहां मारिसी, कै घरि कै परदेस ॥ १२ ॥

कबीर कहते हैं कि इस क्षणभंगुर एवं अनिश्चित जीव पर क्या अभिमान करता है ? मृत्यु ने जीव को बालों से पकड़ ही रखा है। पता नहीं, काल उसे कहाँ मारेगा ? उसके अपने घर पर ही अथवा परदेश में ? कहीं भी मार सकता है।

टिप्पणी—'मानवीकरण'।

तुलना कीजिए—"गृहीतः इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।"

यहु ऐसा असार (संसार) है, जैसा संबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि ॥ १३ ॥

यह संसार सेमर के फूल की तरह तत्वहीन क्षण-स्थायी एवं भ्रम में डालने

वाला है। यह जगत केवल दस दिन का व्यवहार है। इस संसार के क्षणिक एवं झूठे आकर्षण में जीव को अपना वास्तविक स्वरूप नहीं भूलना चाहिए।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार।

जांमण मरण बिचारि करि, कूड़े कांम निवारि।
जिन पंथू तुझ चालणां, सोई पंथ सँवारि॥ १४॥

जन्म और मृत्यु के स्वरूप को पहचान कर मानव को बुरे एवं व्यर्थ के कार्यों को छोड़ देना चाहिए। जीव, तुझे जिस मार्ग पर चलना है, उसी मार्ग को साफ कर। जीवन की कृतार्थता भक्ति और मुक्ति में है, अतः तुझे उसी मार्ग का अनुसरण करना है। उसी की तैयारी कर।

बिन रखवाले बाहिरा, चिड़ियाँ खाया खेत।
आधा परधा ऊबरै, चेति सकै तो चेति॥ १५॥

बाहर के खुले खेत को रक्षकों के अभाव में चिड़ियाँ खा जाती हैं। उसी प्रकार क्षमा, सन्तोष, विचार और सत्संग रूप रक्षकों के अभाव में ईश्वर भक्ति से दूर एवं कालादिक के लिए उन्मुक्त इस शरीर का विषय वासना रूपी चिड़ियों ने बहुत कुछ खा लिया है अर्थात् वह क्षीण हो गया है, काफी जीवन व्यर्थ चला गया है। कबीर जीव को चेतावनी दे रहे हैं कि अब भी जाग सके तो जाग; अर्थात् ज्ञान और भक्ति में प्रवृत्त हो जा, ताकि बचा-खुचा, आधा-परधा शेष जीवन ही सार्थक हो सके और जीव क्षमा आदि के आश्रय से मुक्ति की ओर बढ़ सके।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति'। क्षमा आदि मुक्ति के 'साधनों' का संकेत है।

हाड़ जलै ज्यूं लाकड़ी, केस जलै ज्यूं घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥ १६॥

यह शरीर नाशवान है। मृत्यु के बाद इसकी हड्डियाँ, लकड़ी तथा बाल घास की तरह जल जाते हैं। शरीर को सम्पूर्ण जलता हुआ देखकर कबीर इस शरीर की क्षण-भंगुरता से चिन्ता ग्रस्त हो गया है। उन्हें इस शरीर एवं जगत् से विरक्ति जाग गई है।

कबीर मंदिर ढहि पड़्या, (ईंट) भई सेवार।
कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी बार॥ १७॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी मन्दिर गिर गया है। जो सुगन्धित ईंट था वह दुर्गन्ध पूर्ण सिवार घास में परिणत हो गया है। इसके अवयव रूपी ईंटें सेवार घास में परिणत हो गई है। ऐसे अद्भुत मन्दिर को किसी विलक्षण चेजारे (ईश्वर अथवा पुण्य प्रारब्ध) ने तैयार किया था। पुण्य क्षीण होने से वह चेजारा दुबारा फिर नहीं मिला कि ऐसा सुन्दर मानव शरीर हमारे लिए फिर रचता।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति । दृष्टान्त अलंकार द्वारा व्यंजना । उपचार-वक्रता ।

कबीर देवल ढहि पड़्या ईंट भई सैंवार।
करि चेजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यूँ ढहै न दूजी बार॥ १८ ॥

यह मानव शरीर रूप मन्दिर ढह गया है। इसकी ईंटें गलकर सैंवार घास में परिणत हो गई हैं। इसके सब उपकरण ही मिट्टी में मिल गये हैं। कबीर कहते हैं कि इस मन्दिर के निर्माण करने वाले ईश्वर-रूपी चेजारे से प्रेम करो, ताकि इस मन्दिर को फिर कभी गिरना ही न पड़े; अर्थात् जीव को जन्म-स्मरण से ही मुक्ति मिल जाय।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

कबीर मंदिर लाष का, जड़िया हीरैं लालि।
दिवस चारि का पेषणाँ, बिनसि जाइगा काल्हि॥ १९॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर-रूपी मन्दिर लाख-करोड़ का है। इस बहु-मूल्य मन्दिर में हीरे-जवाहरात जड़े हुए हैं; अर्थात् अनेक सौन्दर्य-प्रसाधनों से यह सुसज्जित है। पर इस खिलौने की शोभा केवल चार दिन की है। यह क्षणभंगुर है, कल ही नष्ट हो जायेगा। इस पर क्या गर्व करना?

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह।
दिवसि चारि का पेषणां, अंति षेह की षेह॥ २०॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर केवल पंचभूतों का मिश्रण है, पार्थिव पदार्थ है। कुछ मिट्टी इकट्ठी करके एक पुड़िया सी बाँध दी गई है, शरीर पर आकार दे दिया गया है। यह खिलौना केवल चार दिन का दिखावा है, अन्त में केवल मिट्टी रह जायगी।

टिप्पणी—शरीर की क्षण-भंगुरता एक अपारमार्थिकता का वर्णन है। पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता तथा मरने पर उसके मिट्टी हो जाने के कारण शरीर की मिट्टी कहने की परम्परा है; उसी का निर्वाह है।

कबीर जे धंधै तौ धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं।
तै नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै में ध्याया नहीं॥ २१॥

कबीर कहते हैं कि अगर मनुष्य जीवन में कर्म करता है तो वह उसके पाप-पुण्य में लिप्त हो जाता है। पर बिना कर्म के मनुष्य पाप-पुण्य से मुक्त भी नहीं हो सकता है। कर्म का त्याग नहीं, अपितु ईश्वरार्पण बुद्धि से ज्ञानपूर्वक किए गए कर्म तथा कर्मों के भोग ही मानव को पाप पुण्य से मुक्त कर सकते हैं। अतः जो लोग कर्म

में भगवान् की आराधना बुद्धि नहीं रखते, वे समूल नष्ट हो जाते हैं। कर्मों को भगवान् के अर्पित करना, उसी की प्रेरणा से किया हुआ मानना अथवा बाह्य इन्द्रियों से कर्म करता हुआ भी अन्तःकरण में अहर्निश भगवान् का स्मरण करते रहना ही कर्म में ईश्वर की आराधना है। ऐसी अवस्था में कर्म तो यन्त्रवत् चलते हैं, वस्तुतः तो मानव भगवान के प्रेम में ही लीन रहता है।

टिप्पणी—कर्म में ईश्वराधना की व्यंजना है।

कबीर सुपनैं रैंनि के, ऊघड़ि आये नैंन।
जीव पड़्या बहू लूटि मैं, जागैं तौ लैंण न दैंण॥ २२॥

कबीर कहते हैं कि रात्रि के स्वप्न से जब जीव के नेत्र खुल गए, अर्थात् जब वह जाग गया तो उसको ऐसा प्रतीत हुआ मानो जिस लूट का वह शिकार स्वप्न में हो रहा था, जागने पर उस लूट का कहीं नाम-निशान भी नहीं रहा।

टिप्पणी—जीवन अज्ञान-रूपी रात्रि का स्वप्न है। उसमें जीव अनेक दुःखों का अनुभव करता है। पर वे दुःख स्वप्न के हैं, अतः जागने पर अर्थात् ज्ञान होने पर उनके मिथ्यात्व में जीव का विश्वास हो जाता है। 'समासोक्ति' अलंकार।

कबीर सुपनै रैंढ़ि के, पारस जीय मैं छेक।
जे सोऊं तौ दोइ जणाँ, जे जागूँ तौ एक॥ २३॥

कबीर कहते हैं कि अज्ञान-रूपी रात्रि के इस जीवन-रूप स्वप्न में पारस-रूप अखण्ड ब्रह्म-चैतन्य तथा जीव-चैतन्य में भेद प्रतीत होने लगता है। अतः जीव जब अज्ञान की निद्रा में सोता है तब तो उसे ईश्वर और जीव के रूप में दो की प्रतीति रहती है; पर जब ज्ञान की जाग्रतावस्था में आ जाता है तो दोनों एक हो जाते हैं।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

कबीर इस संसार में, घणैं मिनष मतिहींण।
राम नाम जांणें नहो, आये टापा दीन॥ २४॥

कबीर कहते हैं कि इस विश्व में अनेक व्यक्ति मतिहीन एवं अज्ञानी हैं, उन्हें राम नाम का ज्ञान नहीं है। वे केवल अपने जीवन को व्यर्थ खोने और भटकने के लिए ही आये हैं।

टिप्पणी—'टापा दीन' पथ-भ्रष्ट होने एवं व्यर्थ भटकने के अर्थ में राजस्थानी का मुहावरा है।

कहा कियौ हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ।
इत के भए न उत के, चाले मूल गंवाइ॥ २५॥

जीव को पश्चात्ताप हो रहा है कि मैंने यह मानव-शरीर प्राप्त करके भी

किया ? वहाँ जाकर ईश्वर के समक्ष में क्या जबाब दूँगा ? न इस लोक का आनन्द ही ले सका और न परलोक ही सुधार सका; इस प्रकार उभय-भ्रष्ट हो गया हूँ। अपनी ज्ञान, प्रेम और पुण्य की जो मूल निधि थी, मैंने वह भी गँवा दी है।

टिप्पणी—अर्द्धजाग्रत एवं मुमुक्षु के पश्चाताप की व्यंजना है। वह ज्ञान और वैराग्य के कारण इस लोक की विषय-वासनाओं का आनन्द नहीं ले सका और ईश्वर से पूर्ण तन्मयता के साथ प्रेम भी नहीं कर सका। अतः उसे पश्चाताप है। पर उसे यह पश्चाताप विषय वासनाओं के लिए नहीं है।

आया अणआया भया जे बहुरता संसार।
पड़्या भुलांवां, गाफिलां, गये कुबुधी हारि॥ २६॥

जो जीव जन्म लेकर संसार में ही अत्यधिक रत हो गये हैं, उनका यहाँ पर जगत् में आना न आने के समान ही है। जीव के जन्म का प्रयोजन मुक्ति के लिए प्रयास है। अगर उन्होंने इसके लिए प्रयत्न नहीं किया तो उनका जन्म ही व्यर्थ है। वे मदहोश और असावधान लोग वास्तव में अपने को ही अज्ञान में भूल गये। वे शुद्ध आत्म-तत्त्व को अपनी मूल चेतना ही दुर्बुद्धि के कारण खो बैठते हैं।

कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीवण संसार।
धूँवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बार॥ २७॥

कबीर कहते हैं कि भक्ति के बिना संसार में यह जीवन ही धिक्कार है। यह जीवन धूम या बादलों का महल है। इसको नष्ट होते देर नहीं लगती।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार। जीवन के मिथ्यात्व की व्यंजना है।

जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि।
ते बिधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि॥ २८॥

जिन जीवों ने भगवान् से मन चुराया है और उनके गुणों को भुला दिया है, भगवान् ने उनको वास्तव में बागुल ही बनाया है। यही कारण है कि वे उल्टे मुँह लटके रहते हैं। उनकी अधोगति होती है।

टिप्पणी—हेतूत्प्रेक्षा। 'बागल' एक पक्षी-विशेष होता है जो पेड़ों पर उल्टा लटका रहता है और मुख से ही टट्टी करता है।

माटी मलणि कुम्हार की, घणीं सहे सिरि लात।
इहि औसर चेत्या नहीं चूका अब की घात॥ २९॥

रे मानव, यह जीवन कुम्हार की मिट्टी रोंदने की क्रिया के समान है। मिट्टी की तरह यह मानव भी भाग्य की लातों की गहरी चोट अपने सिर पर सहता रहता है। अगर इस बार भी अर्थात् इस जन्म में भी इसे सुबुद्धि नहीं जागी तो उसने यह अवसर भी खो दिया है, इस बार भी उसका निशाना चूक गया है। भगवान् की भक्ति एवं मुक्ति न प्राप्त कर सकने के कारण जीव का यह जीवन भी कृतार्थ नहीं हुआ।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

इहि औसर चेत्या नहीं, पसु ज्यूँ पाली देह।
राम नाम जाण्या नहीं अंति पड़ी मुख षेह ॥ ३० ॥

इस जन्म में भी मानव सावधान नहीं हुआ। अगर वह अब भी पशु की तरह अपने शरीर को ही पालता रहा और उसने भगवान् का नाम स्मरण नहीं किया तो अन्त में उसके मुँह पर धूल ही पड़ेगी। लोग उसे धिक्कारेंगे ही।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार। 'जाण्या' पाठ भी ठीक है।

राम नाम जाण्यौं नहीं, लागि मोटी षोड़ि।
काया हाँडी काठ की, ना ऊँ चढ़े बहोड़ि ॥ ३१ ॥

रे अज्ञानी मानव, तूने इस जन्म में राम-नाम को जाना नहीं, भजा नहीं। तुझे बहुत बड़ा दूषण लग गया है, तू अंगहीन हो गया है। यह शरीर काठ की हँडियों के समान है। उसे आग पर पुनः नहीं चढ़ा सकते हैं। एक बार का नष्ट हुआ शरीर, पुनः नहीं मिल सकता है। आगे तो दूसरा ही मिलेगा। बीता हुआ काल लौटाया नहीं जा सकता। अतः यह अवसर भी तूने खो दिया है।

टिप्पणी—'सांगरूपक'।

राम नाम जाण्यां नहीं, बात बिनंठी मूलि।
हारत इहां ही हारिया, परत पड़ी मुखि धूलि ॥ ३२ ॥

रे जीव, भगवान् की नाम-महिमा को तू समझा नहीं, इसलिए तूने जड़ से ही अपनी बात बिगाड़ ली है। माया में फँसकर ज्ञान, प्रेम और पुण्य की निधि तू यहीं हार गया है। अब तेरे मुँह पर अज्ञान और मोह रूपी धूल की परतें जम गई हैं अथवा अन्त में मुख पर धूल ही पड़ी। तुम अनेक प्रकार से लांछित हो गये हो।

राम नाम जाण्यां नहीं, पाल्यो कटक कुटंब।
धंधा ही में मरि गया, बाहर हुई न बंब ॥ ३३ ॥

रे मानव, भगवान् राम के नाम से तुझे स्नेह नहीं हुआ। उसका तो तुम्हें ज्ञान ही नहीं हुआ। तू अपने कुटुम्ब की सेना को ही पालता रहा। धंधा करता हुआ अर्थात् निजी स्वार्थ के सांसारिक कार्य करता हुआ ही मर गया। इससे बाहर अर्थात् लोगों में तथा परलोक में तेरा यशोगान नहीं हो सका।

पाठान्तर—'भाई रहिआ न बन्धु' अर्थात् भाई बन्धु किसी काम न आये।

मिनषा जनम दुर्लभ है, देह न बारम्बार।
तरवर थैं फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार ॥ ३४ ॥

यह मानव जन्म दुर्लभ है। मानव शरीर बारम्बार नहीं मिलता है। एक बार जब फल पेड़ से गिर जाता है तो पुनः वह फल डाल से नहीं जुड़ सकता है। वैसे ही एक बार गया हुआ मानव-शरीर पुनः नहीं प्राप्त होता है।

टिप्पणी—उदाहरण तथा रूपक अलंकार।

कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोज।
बार बार नहीं पाइए, मिनषा जन्म की मौज॥ ३५॥

कबीर मानव को चेतावनी दे रहे हैं कि भगवान् की भक्ति करो। इन विषय-वासनाओं के आनन्द के आस्वाद से जनित उल्लास एवं चमत्कार पूर्ण आसक्ति से विरक्त हो जाओ। इस मानव शरीर की प्राप्ति का शुभ अवसर और आनन्द बार-बार प्राप्त नहीं होते हैं। अतः इस शरीर से ही ईश्वर को प्राप्त करो।

कबीर यहु तन जात है, सकै तो ठाहर लाइ।
कै सेवा करि साध की, कै गुण गोबिद गाइ॥ ३६॥

कबीर मानव को सावधान कर रहे हैं कि यह शरीर व्यर्थ नष्ट हो रहा है। अगर सम्भव है तो इसे संभाल ले, और इसको ठहरा ले, इसका ठीक उपयोग कर ले इसको अमरता प्रदान कर। इससे या तो साधुओं की सेवा कर अथवा भगवान् का गुणगान कर।

टिप्पणी—शरीर से ईश्वर-प्रेम को प्राप्त करना ही उसे अमरता प्रदान करना है। यही इसका सम्यक् उपयोग है, यही इसे ठहराना है। यही साधना है। अतः 'ठाहर लाइ' में लक्षणा है।

कबीर यह तन जात है, सकै तो लेहु बहोड़ि।
नागे हाथूँ ते गये, जिनकै लाखि करोड़ि॥ ३७॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर जा रहा है। अगर सामर्थ्य हो तो इसको वापस फेर लो अर्थात् इसका भगवद्भक्ति के लिए सदुपयोग करो। जिन लोगों के पास लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति थी, वे भी रीते हाथ रह गये हैं। अतः सांसारिक माया से अनासक्त होकर भगवद्भजन का पुण्य संचय करो; वही साथ जायेगा।

यहु तन काचा कुँभ है, चोट चहूं दिसि खाइ।
एक राम के नाँव बिन, जदि तदि प्रलै जाइ॥ ३८॥

यह शरीर कच्चा घड़ा है। इस पर माया, मोह और कर्म की चारों ओर से चोट लग रही है। भगवान् के नाम के आश्रय के अभाव में यह चाहे जब नष्ट हो जायेगा।

टिप्पणी—ईश्वर-प्रेम से वंचित रहकर विषय-वासनाओं में फँसा रहना ही इस शरीर रूपी घट का नष्ट होना है। जैसे घड़े को अन्दर से हाथ का सहारा देकर तथा ऊपर से चोट मारकर कुम्हार उसे पक्का बना लेता है, उसी प्रकार यदि मानव भक्ति का आश्रय लेता हुआ कर्म और योग की चोट सहता रहता है तो उसका अन्तःकरण मजबूत हो जाता है। उसका शरीर रूपी घट भगवान् का प्रेम-जल भरने योग्य हो जाता है। यही इस शरीर-घट को नष्ट होने से बचाता है।

यहु तन काचा कुंभ है, लिया फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि ॥ ३९ ॥

यह शरीर कच्चा घड़ा था। जीव इसे साथ लिए घूम रहा था। कहीं पर काल की कुछ ठेस लग गई और फूट गया। कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा। जीवन व्यर्थ ही गया।

टिप्पणी—कबीर ने छह शरीरों की कल्पना की है—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य तथा हंस। इनमें से प्रथम पाँच कच्चे और नाशवान हैं। ऊपर इन्हीं शरीरों का वर्णन है।

काँची कारी जिनि करै, दिन-दिन बधै बियाधि।
राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि ॥ ४० ॥

रे जीव, अपने शरीर या अपनी बीमारी का उल्टा-सीधा या कच्चा उपचार मत कर अथवा बदपरहेजी मत कर, अर्थात् रे जीव, भवरोग की निवृत्ति के लिए कायायोग जैसी कच्ची अथवा कृच्छ्र साधनाओं के उल्टे-सीधे उपचार या विषय-वासनाओं की बदपरहेजी मत करो। इससे दिन-प्रतिदिन यह व्याधि बढ़ती ही जायेगी। तुम्हें भगवान् में जो थोड़ी रुचि जागी है, इस औषधि का सेवन करती रह। इसी से सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जायेंगी। अर्थात् भवरोग की निवृत्ति का एकमात्र साधन ईश्वर-प्रेम है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

कबीर अपने जीवतै, ए दोइ बातें धोइ।
लोभ बड़ाई कारणै, अछता मूल न खोइ ॥ ४१ ॥

कबीर कहते हैं कि अपने मन से लोभ और आत्म-प्रशंशा—इन दो बातों को अथवा द्वैत-भाव को निकाल दो। इनके कारण अपने अखण्ड पवित्र एवं शुद्ध मूल-तत्त्व आत्मस्वरूप को मत भूलो अथवा जीवन की परम सार्थकता रूप ईश्वर-प्रेम को मत भुलाओ। लोभ से जीव संसारमुखी तथा आत्म-प्रशंसा की आकांक्षा से अहंकारी हो जाता है। ये दोनों ही उसे उसका आत्मस्वरूप भुलाने वाले एवं ईश्वर-विमुख करने वाले हैं।

खंभा एक गइंद दोइ, क्यूँ करि बांधिसि (बंधसि) बारि।
मानि करै तो पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि ॥ ४२ ॥

हे बाले! हे अबोध! एक ही खम्भा है और पति-प्रेम एवं मान रूपी दो हाथी हैं। उन्हें एक साथ कैसे बाँध सकोगी? मान करोगी तो पति का प्रेम नहीं मिलेगा और अगर पति-प्रेम चाहिए तो मान का त्याग करो।

टिप्पणी—'खम्भा' अस्मिता है पति-रूप भगवान् प्रेम एक 'गयंद' तथा

संसार के प्रति रहने वाला मोह एवं द्वैत-भाव दूसरा 'गयंद' है। दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते हैं। लौकिक प्रेम के बिम्बों से अलौकिक प्रेम की व्यंजना है।

'अर्थान्तरन्यास' से पुष्ट 'समासोक्ति' एवं 'रूपक' अलंकार।

दीन गँवाया दुनीं सौं, दुनी न चाली साथि।
पाइं कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि॥ ४३॥

सांसार के माया-मोह में जीव ने धर्म को छोड़ दिया और यह संसार जीव के साथ जा नहीं सका। यह जगत् व्यष्टि जीव की उपेक्षा करके यहाँ अपने ढंग से चलता रहा। इस मदहोश जीव ने अपने ही हाथ से अपने ही पाँव पर कुल्हाड़ी मार ली है। स्वयं अपने ही बिछाये जाल में फँस गया है।

टिप्पणी—लोकोक्ति।

यह तन तौ सब बन भया, करंम भए कुहाड़ि।
आप आप कूँ काटिहैं, कहै कबीर बिचारि॥ ४४॥

कबीर विचार करके निष्कर्ष की बात कहते हैं कि यह सारा शरीर तो वन हो गया है और इसके कर्म ही इसके लिए कुल्हाड़ी बन गये हैं। यह आप ही आप को काट रहा है; अर्थात् यह अपने ही कर्मों से कष्ट पा रहा है।

टिप्पणी—सांगरूपक।

कुल खोयाँ कुल ऊबरै, कुल राख्याँ कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लैं, सब कुल रह्या समाइ॥ ४५॥

सम्पूर्ण विश्व को छोड़ देने तथा उससे असम्पृक्त होने पर आत्मा को अपने सर्वव्यापी रूप का साक्षात्कार होता है। यही उसके समग्र रूप की रक्षा है। पर अगर आत्मा संसार का संरक्षण करती है, उसे बनाये रखती है, तो उसका सर्वव्यापकत्व एवं उसकी सम्पूर्णता तिरोहित हो जाते हैं। अतः जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है तथा सम्पूर्ण जगत् के तिरोहित होने पर भी जो सम्पूर्ण रूप में अवस्थित है, ऐसे भगवान् (राम) से अपने आपको तदाकार कर देने की प्रेरणा ही कबीर दे रहे हैं।

दूसरा अर्थ—अपने वंश के अहंकार को छोड़ देने से मानव में विशुद्ध एवं व्यापक मानवत्व जागता है। व्यष्टि का यह विकास उसके वंश को भी उज्ज्वल करता है। वही कुलीनता की रक्षा है। पर वंश की संकुचित सीमाओं में बँधकर व्यवहार करने से अपने कुल की प्रतिष्ठा एवं सच्ची कुलीनता की हानि होती है। अतः मानव अपने को उस भगवान् राम से तदाकार कर ले, जिसका क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि सम्पूर्ण कुलों से व्यतिरिक्त कुल है और जो इन सब कुलों में भी व्याप्त है। उसी की कुलीनता से सब कुलों की कुलीनता है।

टिप्पणी—विरोधाभास अलंकार। 'कौल पंथ' वालों से वैष्णव उच्च हैं, यह भी व्यंजना है।

दुनियां के धोखै मुवा, चलै जु कुल की कांणि।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धर्या मसांणि॥ ४६॥

रेजीव, जगत् का अनुकरण करता हुआ तू जगत् के भुलावे में आ गया है और अपनी वंश-परम्परा के बँधे-बँधाये मार्ग पर चलने लगा है। पर इस अज्ञान के कारण जीवन्मुक्त तो होगा नहीं। अतः जब तेरा यह मानव शरीर चिता पर रखा जायेगा, तब किसका कुल लज्जित होगा ? मानव जन्म ही मुक्ति के प्रयास के लिए मिलता है, इसलिए मानव कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा तो मुक्ति में ही है।

दुनियां भांडा दुख का, भरी मुहांमुह भूष।
अदया अलह राम की, कुरहै ऊंणीं कूष॥ ४७॥

यह संसार दुःख का भण्डार है। उसमें भूख और अभाव लबालब भरे हैं। जिन जीवों पर अल्लाह या भगवान् राम की कृपा नहीं है, वे तो कुदेश एवं हीनकोख से ही उत्पन्न हुए हैं अथवा वे तो हीन कुख में ही व्यथित हुए हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

जिहि जेबड़ी जग बाँधिया, तूँ जिनि बँधै कबीर।
ह्वैसी आटा लूण ज्यूं, सोना सँवाँ सरीर॥ ४८॥

कबीर, जिस माया-मोह की रस्सी में संसार बँधा हुआ है, तू उसमें मत बँध। अन्यथा इस संसार में तेरा कंचन जैसा शरीर अर्थात् अहं इस माया-मोह में ऐसे मिल जायेगा जैसे आटे में नमक।

टिप्पणी—उपमा अलंकार। ईश्वर-प्रेम की भावना के कारण शरीर को अथवा हंस-देह को कंचन कहा गया है। ईश्वर-भक्ति के बिना उसके पतन का अंदेशा है।

कहत सुनत जग जात है, विषै न सूझै काल।
कबीर प्यालै प्रेम कै भरि भरि पिवै रसाल॥ ४९॥

कबीर कहते हैं कि संसार ज्ञान और वैराग्य की बात कहता और सुनता हो जाता है। पर उसे वस्तुतः विषयों में मृत्यु नहीं दिखाई देती है। इसलिए वह रसिक लौकिक प्रेम-रस के सरस प्याले भर-भरकर पी रहा है अथवा कबीर विषय को काल समझकर उससे बचने के लिए ईश्वर-प्रेम के सरस प्याले भर-भर कर पी रहे हैं।

टिप्पणी—पहले अर्थ में 'रसाल', 'प्रेम' आदि में व्यंग्य है। अबोध जीव लौकिक विषय को ही रसाल प्रेम समझता है।

रूपक अलंकार। भरि-भरि रसाल पाठ भी है।

कबीर हद के जीव सूं, हित करि मुखां न बोलि।
जे लागे बेहद सूं, तिन सूं अंतर खोलि॥ ५०॥

कबीर कहते हैं कि माया से ग्रस्त अज्ञानी जीवों में अन्तरंग बनकर अपने

हृदय की बातें नहीं करनी चाहिए। प्रेमपूर्वक मुँह से नहीं बोलना चाहिए। वे तो मानव को जगत् की सीमाओं में ही बाँधे रहेंगे। अगर ज्ञानी भक्त एवं अपरिच्छिन्न जीव से प्रेम हो जाय तो उसके समक्ष अपने हृदय की सारी बातें स्पष्ट कर देना उचित है। वही हित का मार्ग दिखा सकता है।

कबीर केवल राम की, तूं जिनि छाँड़ै ओट।
घण अहरणि बिचि लोह ज्यूं, घणीं सहै सिर चोट॥ ५१॥

कबीर चेतावनी दे रहे हैं "रे जीव, तू केवल भगवान् राम की शरण मत छोड़; अन्यथा इस संसार के दुःखों में अथवा कर्मों में उसी प्रकार पिसेगा जैसे हथौड़े और निहाई के बीच लोहा खूब चोट सहता रहता है। ईश्वर-प्रेम के बाद कुछ बनने को रह ही नहीं जाता है, अतः कर्म और दुःख की चोट का प्रश्न ही नहीं।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

कबीर केवल राम कहि, सुध गरीबी झालि।
कूड़ बड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी कालि॥ ५२॥

कबीर कहते हैं कि जीव, तू केवल भगवान् का नाम लेता रह तथा विनम्र भाव धारण कर, गरीबी से दुःखी मत हो। जो मूर्ख और अहंकारी हैं वे अपने वैभव की बड़ाई में डूब जाते हैं। उनके लिए यह अहंकार भविष्य में भारी पड़ेगा तथा बुरे परिणाम देगा। मन में यही भावना रख।

काया मंजन क्या करै, कपड़ धोइ म धोइ।
उजल हूवा न छूटिए, सुख नींवड़ी न सोइ॥ ५३॥

जीव, शरीर को क्या साफ कर रहा है? कपड़े भी चाहे धो या मत धो इस शारीरिक उज्ज्वलता से व्यक्ति मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः इस बाह्य स्वच्छता से प्रसन्न होकर अज्ञान में सुखपूर्वक मत सो अपने वास्तविक कर्त्तव्य से प्रमाद मत कर।

टिप्पणी—बाह्य आडम्बर छोड़कर प्रेम और भक्ति की अन्तःसाधना की प्रेरणा व्यंजित है।

उजल (उज्ज्वल) कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खांहि।
एकै हरि के नाँव बिन, बांधे जमपुरि जांहि॥ ५४॥

साफ-सुथरे कपड़े पहनने तथा पान-सुपारी से अपने मुँह को सुशोभित करने भर में ही सीमित रहने वाले लोग भगवान् के भजन के बिना अन्त में काल की पाश में बँधे हुए यमपुर जाते हैं और नरक की यातना भोगते हैं।

तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथ बंधी लोइ।
मनि परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ॥ ५५॥

रे जीव, इस संसार में तेरा कोई वास्तविक साथी नहीं है। ये सब स्वार्थ से बँधे हुए लोग हैं। पर जीव को इस सत्य का कहने-मात्र से मन में साक्षात्कार नहीं होता, उसकी इसमें निष्ठा नहीं जमती। यह उसका अज्ञान के कारण स्वभाव है।

मांइ बिरांणी (बिडाणी) बाप बिर (बिड़), हम भी मंझि बिरांह (बिडांह)।
दरिया केरी नाव ज्यूं, संजोगे मिलियांह ॥ ५६॥

माता भी परायी है, पिता भी पराये हैं और हम सब पराये लोगों के बीच में ही हैं। उनमें से कोई भी अपना वास्तविक निजी व्यक्ति नहीं है। परमार्थत: अद्वैत तत्त्व ही अपना स्वरूप है। फिर निजी कौन है? संसार केवल संयोगवश मिले हुए व्यक्तियों का स्थल है। नदी में चलने वाली नावें जैसे भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर संयोग से मिल जाती हैं, ऐसे ही इस विश्व में व्यक्ति भी मिल गए हैं।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

इत प्रधर उत घर, बणजण आये हाट।
करम किरांणां बेचि करि, उठि जु लागे बाट ॥ ५७॥

कबीर कहते हैं कि यह संसार ज्ञानी जीवों के लिए पराया घर है और वह परलोक (मुक्ति का स्थान) वास्तविक घर है। इस संसार रूपी बाजार में ये जीव वाणिज्य करने के लिए आए हैं। अपने पाप-पुण्य रूपी किराने को बेचकर ज्ञानी जीव अपने घर का रास्ता लेंगे। सभी पाप-पुण्य यहीं समाप्त करके जायेंगे।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। ज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता है, इसकी ध्वनि है।

नांन्हां काती चित दे, महँगे मोलि बिकाइ।
गाहक राजा राम है, और न नेड़ा आइ ॥ ५८॥

रे जीव, तू पूरा मन लगाकर, ध्यानस्थ होकर इस जीवन रूपी सूत को महीन कात। यह सूत बहुत महँगे मूल्य में बिक जायेगा। इस सूत के ग्राहक केवल भगवान् राम हैं। अन्य कोई भी इसे खरीदने का साहस नहीं कर सकता है, अतः कोई भी नजदीक नहीं आयेगा।

टिप्पणी—यह 'सूत' जीवन सूत्र है। 'नान्हा करि काति' की व्यंजना जीवन के पाप-पुण्य के कलमष एवं बँधनों को ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा दूर करना है। तभी यह जीवन भगवान् को स्वीकृत होगा और इसका प्रेम या मुक्ति रूपी महान् मूल्य प्राप्त हो सकेगा। अन्य देवताओं में यह सामर्थ्य नहीं है। भक्ति, ज्ञान और योग का समन्वय यही व्यंजित है।

सांगरूपक अलंकार।

डागल उपरि दौडणां, सुख नींदड़ी न सोइ।
पुनैं (पुन्न) पाये द्यौंहड़े, ओछी ठौर न खोइ ॥ ५९॥

रे अर्द्ध प्रबुद्ध जीव, तुम्हारा यह जीवन ऊँची छतों पर दौड़ने के समान

अत्यन्त दुस्साध्य है अतः अत्यन्त सावधानी से चलना है, इस ज्ञान-यात्रा में सांसारिक सुखों की नींद में मत सो जाना, अन्यथा इस साधना की ऊँचाई से गिरकर नष्ट होने अथवा यात्रा में अत्यधिक विलम्ब होने का डर है। तुम्हारी अज्ञान की रात्रि अभी समाप्त हुई है। तुम्हें पुण्यों के प्रभाव से पुनः ज्ञान का दिन (प्रभात) प्राप्त हुआ है। इसे हीन स्थानों में बैठ-बैठ कर कर नष्ट मत कर; अर्थात् सांसारिक माया जाल के तुच्छ कार्यों में गवाँ मत।

टिप्पणी—**पाठान्तर**—पुन्नै पाइ देह रे (देहड़ी)। पुण्यों से यह मानव शरीर मिला या हंस देह की ओर उन्मुख है। इसका पतन मत होने दो।

मैं मैं बड़ी बलाइ हे, सकै तौ निकसो भाजि।
कब लग राखौं हे सखी, रूई पलेटी आगि॥ ६०॥

यह अहंकार बड़ी भारी बला है। अगर सम्भव हो तो इससे निकल कर दूर भाग जाना चाहिए। रे सखी, रुई में लपेटी हुई अग्नि कब तक रोकी जा सकती है? वह तो एक दिन सम्पूर्ण रुई को जलाकर भस्म कर देगी। इसी प्रकार भक्ति और साधना में छिपी हुई यह अहंभावना किसी-न-किसी दिन इनको नष्ट करेगी ही; अतः यह शीघ्र ही त्याज्य है।

टिप्पणी—'दृष्टान्त' है। 'रूपक' की ध्वनि है।

मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैंषणा, मेरी गल की पास॥ ६१॥

रे जीव, 'मैं'-'मैं', 'मेरी'-'मेरी' इन भावनाओं को प्रश्रय मत दो। यह ममता अहंभाव और अधिकार की भावना विनाश के मूल है। यह तुम्हारे पाँवों का बन्धन है और तुम्हारे गले की फाँसी है।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार।
हल्के हल्के तिरि गये, बूड़े तिनि सिरि भार॥ ६२॥

कबीर कह रहे हैं कि यह नौका अत्यन्त जर्जर है। इसके खेने वाले भी मूर्ख हैं। जो भार रहित हल्के-हल्के यात्री थे वे तो इस समुद्र को तैरकर पार कर गये हैं, पर जिनके सिर पर भारी बोझा था वे डूब गये हैं।

टिप्पणी—यह जीवन-रूपी नौका है। विषय-वासना, काम-क्रोध आदि इसके खेने वाले हैं। जीव-यात्रियों में कुछ के पास पाप-पुण्य के बोझे हैं। जिन्होंने ज्ञान और साधना से इन पाप-पुण्यों को छोड़ दिया है; वे ही हल्के यात्री हैं। वे ही इस संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

अन्योक्ति अलंकार।

पाठान्तर—'फूटे छेक अपार' अर्थात् अनेक छिद्र हो गये हैं।

(१३) मन कौ अंग

मन कै मतै न चालिये, छाड़ि जीव की बांणि।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि॥ १॥

मन के चलाए हुए मत चलो। इस मन को स्वच्छन्दतापूर्वक इधर-उधर मत भटकने दो। सामान्य जीव की तरह मन के पीछे चलने की इस आदत को छोड़ दो। इस मन को उलट कर, संसार से विमुख करके, चैतन्य में इस प्रकार विलीन करो जैसे कातने वाला सूत को लम्बा खींचकर वापिस उसे ताकू पर लपेट देता है।

टिप्पणी—संकल्प-विकल्पों के न उठने देने तथा अन्तःकरण को निरोध अवस्था में विलीन कर देने की साधना का वर्णन है।

'उपमा' अलंकार।

चिंता चिति (चित्य) निबारिये, फिरि बूझिये न कोइ।
इंद्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ॥ २॥

चैतन्य को चिन्तन में प्रवाहित होने से रोक दीजिए तथा इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर मत बढ़ने दीजिए। उसके बाद भगवत्प्राप्ति का मार्ग किसी से भी पूछने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे व्यक्ति को भगवान् की प्राप्ति सहज ही हो जायेगी।

टिप्पणी—सहज साधना का एक तत्त्व वर्णित है।

आसा का ईंधण करौं, मनसा करौं बिभूति।
जोगी फेरी फिल करौं, यौं बिननां वो सूति॥ ३॥

आशाओं का ईंधन बनाकर ज्ञानाग्नि में डाल दूँ, और इस प्रकार मन में उठने वाली इच्छाओं की राख कर दूँ। ज्ञानाग्नि में जली हुई इच्छाएँ विभूति स्वरूप होंगीं। उनको धारण करना उपासना ही है। ऐसी विभूति रमा कर जोगी की तरह भगवान् की प्राप्ति के लिए फेरी लगाता रहूँ। कबीर कहते हैं कि इस तरह मुझे अपने जीवन-सूत्र को कातना है अर्थात् इसी प्रकार जीना है। अथवा इसके बिना वह सुदशा प्राप्त नहीं हो सकती।

टिप्पणी—पाठान्तर—'यो बिन नांऊ (नावैं) सूत'—इस पाठ का अर्थ होगा 'बिन रुई अर्थात् बिना उपादान के सूत'। इच्छादि जीवन-सूत्र के उपादान हैं। उनके बिना जीवन सूत्र कातने का अर्थ है, अनासक्त जीवन बिताना। अथवा नाम रूप रहित सुदशा को प्राप्त करना।

कबीर सेरी साकड़ी, चंचल मनवां चोर।
गुण गावै लैलीन होई, कछू एक मन मैं और॥ ४॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् की प्राप्ति का मार्ग बहुत संकरा है। उसमें केवल

एक ही समा सकता है। अर्थात् एकनिष्ठ एवं एकाग्र मन वाला ही ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। पर यह मन अत्यन्त चंचल और चोर प्रकृति का है। यह एकाग्र नहीं होता है इसमें द्विविधा रहती है। यह अनेक में रमता है। यह लवलीन होकर भगवान् के गुण-गान गाता हुआ प्रतीत होता है, पर इस मन में समाया हुआ कुछ और ही होता है, अर्थात् यह उस समय भी विषय-वासनाओं में रमा रहता है।

कबीर मारौं मन कूँ, टूक टूक ह्वै जाइ।
बिष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ॥ ५॥

इस मन ने वासनाओं के विष की क्यारी बो तो दी है, पर अब उसको काटने में, उसका फल भोगने में क्यों पछता रहा है? कबीर कहते हैं कि इस मन को ऐसा मारूँ कि वह छिन्न-भिन्न होकर समाप्त ही हो जाय ताकि उसे फिर कभी वासनाओं में फँसने का अवसर ही न मिले या वह अनासक्त भाव से उनका फल भोगे।

टिप्पणी—मानवीकरण।

इस मन कौं बिसमल करौं, दीठा करौं अदीठ।
जे सिर राखौं आपणां तौ पर सिरिज अंगीठ॥ ६॥

इस मन को छिन्न-भिन्न करके अधमरा कर दूँ अथवा समाप्त कर दूँ और जो कुछ दिखाई दे रहा है; उसे दृष्टि से ओझल कर दूँ। यह संसार मन को वासना तथा उसके द्वारा देखने पर ही टिका हुआ है। न देखने पर रहेगा ही नहीं। अगर मैं अपने सिर अर्थात् 'अहं' भाव को बनाये रखता हूँ तो उसके साथ दुःखों की अँगीठी भी रची ही जाती है। ये दुःख तो 'अहं' पर ही आधारित हैं। उसी से इनकी सृष्टि होती है।

टिप्पणी—इसमें 'दृष्टि-सृष्टिवाद' की ओर संकेत है। पाठान्तर—"तौ पर सिज जलौ अँगष्ठि"।

मन जांणै सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूँ वै पड़ै॥ ७॥

मन जानता सब-कुछ है, पर वह जान-बूझकर ही अनुचित काम करता रहता है। विषय-वासनाओं के बन्धन करने वाले स्वरूप से परिचित होते हुए भी मन का स्वभाव ही उनमें लिप्त हो जाने का है। कुशल-क्षेम कैसे रह सकती है जब मनुष्य दीपक हाथ में लेकर (मार्ग देखता हुआ भी स्वेच्छा से ही जानते हुए ही, कुएँ में गिर पड़ता है।

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

हिरदा भीतरि आरसो, मुख देष्या न जाइ।
मुख तौ तौ परि देखिए, जे मन की दुबिधा जाइ॥ ८॥

आत्म-दर्शन का शीशा अपने हृदय में ही है। पर मानव अपने ही भीतर भगवान् के दर्शन नहीं कर पाता है। दर्शन तो तब होते हैं, जब मन की द्विविधा दूर हो। जैसे साफ और स्थिर शीशे में ही प्रतिबिम्ब ठीक दिखाई देता है, वैसे ही एकाग्र-चित्त में ही भगवान का प्रतिबिम्ब तथा अपना आत्म-स्वरूप ठीक दिखाई दे सकता है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूँ, अनल अकासां जोइ॥ ९॥

मन लगाने से तथा मन को उस चैतन्य में समर्पित कर देने से ही उस मन (परम तत्त्व) की प्राप्ति होती है। उस तत्त्व की प्राप्ति की निष्ठा (मन) के अभाव में अन्तःकरण तत्त्व-साक्षात्कार के उपयुक्त एकाग्र, निरोध अथवा समाधि अवस्था में नहीं पहुँच पाता है। शून्य या गगन में उस निरंजन की ज्योति के दर्शन करके उन्मन अवस्था को पहुँचा हुआ मन अनल पक्षी के उस अंडे के समान हो जाता है जिसमें पक्षी आकाश में ही उस अण्डे से निकलता है, पर पृथ्वी पर न गिरकर, पुनः आकाश में ऊँचा उड़ जाता है। मन की यह उन्मन अवस्था में शून्य शिखर पर या गगन में पहुँचने पर ही होती है; पर उसके बाद वह मन नीचे जाकर सांसारिक विषयों में नहीं रमता है; ऊर्ध्वोन्मुखी ही रहता है।

टिप्पणी—'मन' के यमक से कई अर्थ हैं। यह कबीर की साधना एवं उनकी दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करने वाली साखी है। कबीर ने 'मन' और उन्मन'—दोनों का परमतत्त्व एवं परमतत्त्व के साक्षात्कार करने वाली अन्तःकरण की अवस्था—दोनों ही अर्थों में प्रयोग किया है। वस्तुतः इनका अभेद भी माना जा सकता है।

अनल = ज्योति; अनल = पक्षी-विशेष। दोनों ही अर्थ लिए जा सकते हैं। ऊपर दोनों का ही संकेत है।

मन गोरख मन गोबिंदौ, मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ॥ १०॥

मन की उपाधि से ही चैतन्य ईश्वर, गुरु, जीव, साधक आदि भिन्न-भिन्न नाम रूपों में प्रतीत होता है। अतः मन ही सब कुछ है। मन ही गोरखनाथ है, और मन ही गोविन्द भगवान् है। मन ही औघड़ मार्गी संत है अथवा मन ही अपरिच्छिन्न अवस्था को पहुँचता है। यत्नपूर्वक नियन्त्रित मन वह शक्ति है जो विश्व का सृजन करती है। अतः इस अवस्था का अहंकारी चैतन्य ही वास्तव में स्रष्टा है।

टिप्पणी—उल्लेख अलंकार।

एक जु दोसत हम किया, जिस गलि लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाइ॥ ११॥

कबीर कहते हैं कि हमने ऐसे व्यक्ति का अपना मित्र बना लिया है, जिसने लाल रंग का वस्त्र (अंगरखा) पहन,रखा है, अथवा जिसके गले पर लाल निशान है। इस रंग को मिटाने की चेष्टा में संसार के सब, धोबी धोते-धोते हार गये हैं, पर यह लाल रंग जाता ही नहीं है।

टिप्पणी — यह प्रेम की लालिमा है। यह मित्र अनुरागी मन ही है। 'सब जग धोबी' का अभिप्राय है, सम्पूर्ण सांसारिक कर्म तथा प्रेम के अतिरिक्त अन्य साधनाएँ। रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

पांणीं हीं तैं पातला, धूंवां हीं तैं झींण।
पवनां बेगि उतावला, सो दोसत कबीरैं कीन्ह ॥ १२ ॥

कबीर कहते हैं कि हमने ऐसा मित्र बनाया है जो जल से भी पतला, है; धूम से अधिक क्षीण है और जिसमें पवन से अधिक वेग है। मन की निरुद्ध एवं वशीकृत अवस्था में साक्षात्कृत परमतत्त्व ही मित्र है।

टिप्पणी—उपनिषद की भाषा का अनुकरण है।

उपर्युक्त दोनों साखियों में कबीर की सखामात्र की अभिव्यक्ति है।

कबीर तुरी पलांणियां, चाबक लीया हाथि।
दिवस थकां साईं मिलौ, पीछैं पड़िहै राति ॥ १३ ॥

मैंने मन रूपी घोड़े पर जीन कस ली है और संयम तथा एकाग्रता का चाबुक इस घोड़े को चलाने के लिए अपने हाथ ले लिया है। मैं जीवन-रूपी दिन के रहते ही अपने प्रियतम (भगवान्) के दर्शन करना चाहता हूँ। इसके बाद मृत्यु-रूपी रात के आ जाने पर तो मेरी यात्रा रुक जायेगी।

टिप्पणी—ज्ञान, भक्ति और योग की साधना तो केवल मानव शरीर के साथ ही चलती है; फिर रुक आती है। मानव रूप में पुनर्जन्म होने पर ही यात्रा फिर चलती है। कबीर को इतना धैर्य नहीं है, अतः एक ही जन्म में साधना पूरी करना चाहते हैं। इस प्रकार इसमें पुनर्जन्म सम्बन्धी मान्यता का खण्डन नहीं है, अपितु मनुष्य योनि के अतिरिक्त सभी योनियाँ केवल भोग-योनि हैं, की ध्वनि है एवं प्रियतम (भगवान्) से मिलने की आतुरता व्यंजित है।

रूपक अलंकार।

मनवां तौं अधर बस्या, बहुतक झींणां होइ।
आलोकत सचु पाइया, कबहूँ न न्यारा सोइ ॥ १४ ॥

(मन सांसारिक विषय-वासनाओं से ऊपर उठकर शून्य तत्त्व में रम गया है) इस शून्य में मन को परम-तत्त्व के दर्शन हो गये हैं, जिसके देखने में ही वह आह्लाद एवं मंगल का अनुभव कर रहा है। अब इस तत्त्व-दर्शन से जीव कभी विमुख नहीं होगा।

टिप्पणी—अन्तःकरण की वृत्ति का इस ज्ञान-दशा में अत्यन्त क्षीण आवरण सा रह जाता है और वृत्ति एवं आत्म-स्वरूप का भेद भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है। इससे मन अत्यन्त क्षीण हुआ कहलाता है। उसका उपचय तो जीव के अहं तथा सांसारिक विषयों की ममता से होता है।

मन न मार्‌या मन करि, सके न पंच प्रहारि।
सील साच सरधा नहीं, इंद्री अजहुँ उघारि॥ १५॥

जीव ! तू दत्तचित्त होकर अपने मन को नहीं मार सका। काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ—इन पाँचों शत्रुओं पर भी प्रहार नहीं कर सका ! यह कारण है कि तुम्हारे में शील और सत्य के प्रति श्रद्धा नहीं जाग सकी। अथवा तुम्हारे में शील, सत्य एवं श्रद्धा के भाव नहीं जाग सके। तुम्हारी इन्द्रियाँ आज भी नग्न एवं अनियन्त्रित हैं तथा विषयों की ओर दौड़ती हैं।

टिप्पणी—'मन न मान्या मम करि' पाठान्तर का है "दत्तचित्त होकर तुमने परम-तत्त्व का मनन नहीं किया।" जीव को अपना सत्य स्वरूप प्राप्त करने की प्रेरणा है।

भगवान को भी शील एवं सत्य से रूप में देखा गया है। रामभक्ति धारा की झलक भी है तथा सत्य-देह के गुणों—धैर्य, दया, शील विचार एवं सत्य का संकेत हो सकता है।

कबीर मन बिकरै पड़्या, गया स्वाद कै साथि।
गलका खाया बरजतां, अब क्यूँ आवै हाथि॥ १६॥

कबीर कहते हैं कि मन विकृत हो गया है, बुरे रास्तों में, विकारों की ओर चलने लगा है। स्वाद से अभिभूत होकर उसी के साथ हो गया है और जिधर उसे स्वाद ले गया है, उधर ही चला गया है। मना करते-करते भी उसने गडाकू मछली अथवा गिजा की चीजें खाई हैं; अर्थात् गहरी विषय-वासनाओं में अत्यधिक डूबा है। अब उस पर नियन्त्रण कैसे हो सकता है ?

टिप्पणी—मानवीकरण।

कबीर मन गाफिल भया, सुमिरण लागै नांहि।
घणीं सहैगा सासनां, जम की दरगाह मांहि॥ १७॥

कबीर जीव के प्रतिनिधि बनकर पाश्चात्ताप कर रहे हैं कि यह मन मदहोश हो गया है; भगवान् के नाम-स्मरण में नहीं लगता है। जब यमपुर पहुँचेगा तो इसको अनेक यातनाएँ सहनी पड़ेंगी।

टिप्पणी—मानवीकरण। 'मन यातना भोगेगा' से चैतन्य के कर्त्ता और भोक्ता होने का निषेध व्यंजित है।

कोटि कर्म पल में करै, यहु मन विषिया स्वादि।
सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि ॥ १८ ॥

यह मन विषयों के स्वाद में लग गया है, अतः उस स्वाद के लिए करोड़ों कर्म एक पल में कर डालता है। यह सद्गुरु के उपदेशों पर ध्यान नहीं देता है। इस स्वाद में अब तक इसने व्यर्थ ही जीवन गँवाया है।

टिप्पणी—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को इन साखियों में 'मन' कहा गया है। 'कोटि कर्म' से संकल्प एवं वासना को कर्म मानने की व्यंजना है। वे ही बन्धन के हेतु हैं।

मैंमन्ता मन मारि रे, घट ही माहैं घेरि।
जबहीं चाले पीठि दे, अंकुश दै दै फेरि ॥ १९ ॥

विषयों के नशे में चूर मन-रूपी हाथी को अन्तःकरण-रूपी घर में ही चारों ओर से घेर कर कुचल दो। यह जब-जब ईश्वर से विमुख होकर चलने की चेष्टा करे तभी इसे गुरु-भक्ति, साधुभाव एवं वैराग्य के अंकुश से मोड़कर ईश्वराभिमुख करते रहो।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार। 'घट माही घेरि' का तात्पर्य मन में संकल्पात्मक एवं मोहात्मक वृत्तियों को न उठने देना है। इससे मन निरोध वृत्ति में आकर अन्तर्मुखी हो जाता है। राजयोग की इस साधना का भी संकेत है।

मैंमंता मन मारि रे, नांन्हां करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलकै सीसि ॥ २० ॥

रे मानव, अहंकार में मस्त इस मन को कुचल दे। इसे महीन करके पीस डाल; अर्थात् इसको विषयों का भोग करके मोटा मत होने दे। इसके वासनामय स्वरूप को क्रमशः क्षीण कर तभी तुम्हारी जीवात्मा परम आनन्द को प्राप्त हो सकेगी। त्रिकुटी अथवा शून्य शिखर पर तुम्हें तभी परम ज्योति के दर्शन हो सकेंगे।

टिप्पणी—कायायोग एवं राजयोग का समन्वय व्यंजित है। 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

कागद केरी नाँव री, पांणी केरी गंग।
कहै कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग ॥ २१ ॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर कागज की नौका है और यह संसार मायामोह के जल से भरी हुई गंगा है। इस जीवन-यात्रा में मेरे साथ काम-क्रोधादिक पाँच दुर्जन साथी हैं। ऐसी अवस्था में इस संसार-रूपी गंगा से कैसे पार उतर सकूँगा?

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार। शरीर की क्षणभंगुरता तथा भवसागर से पार होने की असमर्थता से जनित चिंता की व्यंजना है।

कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता काल्हि ।
डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निबांणां चालि ।। २२ ।।

कबीर कहते हैं कि गुरु के उपदेश से कल जो मन कुछ देर के लिए ईश्व-न्मुख हो गया था, मन की वह अवस्था आज कहाँ चली गई ? वास्तव में पहाड़ पर बरसे हुए मेह का पानी ढुलककर नीचे के स्थानों की ओर चला जाता है । पहाड़ पर तो उसकी शीतलता और सरसता क्षणिक ही होती है । वैसे ही पहाड़ के समान अग्रहणशील, जड़ एवं अहंकारी मन पर गुरु के उपदेश का क्षणिक प्रभाव ही हु...

टिप्पणी—'रूपक' और 'उपमा' अलंकार । विषयासक्त मन के पहाड़ पर पड़े हुए जल की तरह ढुलक जाना अर्थ भी सम्भव है । पर उसमें 'पहाड़' से ... रूपक के निर्वाह की व्यंजना नहीं रह जाती है । 'कत गया' में विषयासक्त मन मिट जाने से उसकी क्षणिकता की अपेक्षा ईश्वर-प्रेम की वृत्ति के क्षीण हो जाने की वेदना की व्यंजना अधिक प्रसंगानुकूल है तथा प्रेमाग्नि के ठण्डे होने तथा ब्रह्माण्ड से गिरने का संकेत भी है ।

मृतक कूं धीजौ नहीं, मेरा मन बीहै ।
बाजै बाव बिकार की, मूवा भी जीवै ।। २३ ।।

कबीर कहते हैं कि मन के मर जाने; अर्थात् मरा हुआ सा प्रतीत होने पर भी मुझे विश्वास नहीं है मेरा मन उससे भयभीत ही है । अगर विषय-विकार की हवा चलने लगे तो यह मन मरा हुआ भी जी उठता है ।

टिप्पणी—साधनों का मन भी सहज में मरता नहीं; मरा हुआ सा ... होता है । अतः विषय के स्पर्श से फिर जी उठता है । इस साखी में मन की ... तुलना व्यंजित है । सर्प भी पुरवैया के स्पर्श से जी उठता है, ऐसी लोक धारणा है । वस्तु से अलंकार ध्वनि है सांगरूपक ध्वनित है ।

'भुजंग' के उपमान रूप में गृहीत होने से भय की कुटिलता एवं विषयलोलुपता ध्वनित होती है ।

काटी कूटी माछली, छींकै धरी चहोड़ि ।
कोइ एक अषिर मन बस्या, दह मैं पड़ी बहोड़ि ।। २४ ।।

काट-कूटकर तथा अच्छी प्रकार सँभालकर मछली को ऊँचे छींके पर रख दिया था । पर उसी मरी हुई मछली के मन में कोई एक वासना अवशिष्ट रह गई थी । बस, उसी एक वासना से जीवित होकर वह पुनः तालाब में गिर पड़ी और फिर उसी तरह विचरण करने लगी ।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति तथा सांगरूपक । तथाकथित मरा हुआ मन एक वासना से पुनः जीवित होकर संसार में विचरण करने लगता है । साधना की ऊँचाई तक तो मन का पुनः विचलित होना सम्भव है, उसके बाद नहीं । कु...

के शून्य शिखर व ब्रह्मपद तक पहुँची हुई आत्मा के या मन के पुनः गिरने का भय है; उस अतिक्रान्त हंस अवस्था को पहुँचे हुए जीव के लिए भय नहीं। इस अतिक्रान्त अवस्था की प्राप्ति कायायोग से नहीं, ज्ञान और प्रेमयोग से ही सम्भव है।

कबीर मन पंषी भया, बहुतक चढ्या अकास।
उहां हीं तै गिरि पड्या, मन माया के पास ॥ २५ ॥

साधन मार्ग का पथिक यह मन रूपी पक्षी बहुत ऊँचे आकाश में चढ़ गया। इसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं। पर उन सिद्धियों के अहंकार के कारण वह उसी उच्च भूमिका में गिर पड़ा और पुनः माया के पाश में आकर उसमें लिप्त हो गया।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार। कुण्डलिनी के शून्य शिखर व ब्रह्म पद तक पहुँचने पर भी कायायोग का साधक पुनः विषयासक्त हो सकता है। इससे कायायोग की अपेक्षा कबीर को प्रेमयोग की श्रेष्ठता मान्य है, यही ध्वनि है।

भगति दुवारा सांकड़ा, राई दसवैं भाइ।
मन तौ मंगल ह्वै रह्यो, क्यूं करि सकै समाइ ॥ २६ ॥

भक्ति का द्वार सँकरा है। वह राई के दशम भाग के समान है। वह मन मस्त हाथी की तरह हो रहा है; उस सँकरे मार्ग में यह कैसे समा सकता है। अर्थात् भक्ति की प्राप्ति अहंकार-शून्य सूक्ष्म मन के लिए ही सम्भव है।

टिप्पणी—'सांगरूपक' अलंकार।

करता था तौ क्यूं रह्या, अब करि क्यूं पछताइ।
बोवैं पेड़ बबूल का, अंब कहां तैं खाइ ॥ २७ ॥

मन सांसारिक कर्मों में क्यों लिप्त बना रहा? अब उन असद् कर्मों के लिए पछताने से क्या होता है? जो बबूल का वृक्ष बोता है, वह आम कहाँ से खा सकता है?

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार।

काया देवल मन धजा, बिषै लहरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, ताका सरबस जाइ ॥ २८ ॥

यह शरीर मन्दिर है और मन उसकी ध्वजा है। यह ध्वजा विषय-वासनाओं की हवा से फहरा रही है। ध्वजा के फहराने के साथ ही अगर मन्दिर भी हिलने-डुलने लगे तो उस मन्दिर की स्थिरता ही क्या? उसी प्रकार जिसका शरीर मन के साथ ही चलायमान रहता है, वासनाओं के जगते ही विषयों की ओर दौड़ने लगता है उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। ऐसा जीव साधना नहीं कर सकता है।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

मनह मनोरथ छाड़ि दे, तेरा किया न होइ।
पांणी मैं घीव नीकसै, तौ रूखा खाइ न कोइ ॥ २९ ॥

रे मन, तू अपने मनोरथों को छोड़ दे। तेरी इच्छाओं से, तेरे कर्त्तापन से क्या होता है? अगर पानी से ही घी निकल आता तो संसार में रूखी रोटी कोई नहीं खाता। पानी तो सहज सुलभ ही है। उसी प्रकार व्यष्टि मन के मनोरथों से ही कुछ प्राप्त हो जाता तो विश्व में कुछ भी अलभ्य नहीं रहता। सबका व्यष्टि मन तो शेखचिल्ली है ही।

टिप्पणी—निदर्शना अलंकार।

पहले 'जो मन' को कर्त्ता कहा गया है; उससे इस साखी का विरोध नहीं है। वहाँ पर समष्टि मन की कल्पना है और यहाँ व्यष्टि मन की।

काया कसूँ कमांण ज्यूं, पंचतत्त करि बाँण।
मारौं तौ मन मिरग कौं, नहीं तौ मिथ्या जांण॥ ३०॥

मैं अपने शरीर को धनुष की तरह कस लूँ। पाँचों प्रकार के यमों अथवा पाँच तत्त्वों को बाण बना लूँ और उन बाणों से मन रूपी मृग को मार डालूँ। तभी यह साधना सफल है, तभी हंस अवस्था की प्राप्ति होगी अन्यथा तो यह सब झूठी साधना है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

यम—सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अहिंसा और ब्रह्मचर्य। धैर्य, दया, शील, विचार और सत्य, इन पांच तत्त्वों की ओर उन्मुख होने का संकेत भी है। यहाँ 'शरीर' शब्द में सूक्ष्म स्थूल, कारण, महाकारण एवं कैवल्य पाँचों शरीरों के अर्थ का अन्तर्भाव है।

(१४) सूषिम कौ अंग

कौण देस कहाँ आइया, कहु क्यूं जांण्यां जाइ।
उहु मार्ग पावैं नहीं, भूलि पड़े इस मांहि॥ १॥

जीवात्मा आत्म-चिन्तन कर रही है कि मेरा मूल जन्म स्थान कौन-सा है और मैं कहाँ इस जगत् में आ गई हूँ? यह बोध कैसे जागे? उस मूल स्थान ब्रह्म के पास पहुँचाने वाला मार्ग तो मिलता नहीं है; इसी जगत् में ही भटक रही हूँ।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। जीव के जगत् में भटकते रहने की वेदना तथा मुक्त होने की तीव्र आकांक्षा की व्यंजना है।

उतथैं कोइ न आवई, जाकौं बूझौं धाइ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ॥ २॥

उस मूल ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप एवं उस तक पहुँचाने वाले मार्ग का अपरोक्ष ज्ञान कैसे हो! ब्रह्मप्राप्ति के बाद तो कोई वापिस जन्म ग्रहण नहीं करता है। अतः उस स्थान से तो कोई वापिस आता नहीं; जिससे दौड़कर पूँछ लूँ

संसार से सबको अपने-अपने कर्मों का बोझा लाद कर भेजा ही जाता है। जिनके पास पाप-पुण्य का बोझ है वे ब्रह्म तक पहुँचते नहीं उनका लक्ष्य ब्रह्म तक पहुँचना नहीं है। अतः उनसे उस मार्ग का पूछना ही व्यर्थ है।

टिप्पणी—यहाँ जो ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं—वे सब अनुमान पर आधारित हैं; स्वानुभूति पर नहीं। अतः उनकी निरपेक्ष सत्यता का दावा केवल दम्भ है। वह (अवाङ्‌मनस गोचर तत्त्व) केवल स्वानुभूति का विषय है। यह ज्ञान 'पारख गुरु' ही दे सकता है। 'पारख गुरु' पारख-रूप हो जाता है अतः वह एक बार शरीर छोड़ने के बाद ऊपर से नीचे नहीं आता है।

ब्रह्ममार्ग की दुर्विज्ञेयता, सच्चे गुरु की विरलता तथा ब्रह्म-ज्ञान के लिए विकलता का चित्रण है।

सबकूँ बूझत में फिरौं, रहण कहै नहीं कोइ।
प्रीति न जोड़ी राम सूँ, रहण कहाँ थें होइ॥ ३॥

जीवात्मा कहती है कि सबसे जीवन की स्थिरता के रहस्य एवं उसकी साधना के बारे में पूछती फिरती हूँ। पर कोई भी उपदेशक उसको नहीं बता पाता है। वस्तुतः जब जीव ने भगवान् से प्रेम-सम्बन्ध नहीं जोड़ा है तो उसे जीवन की सच्ची स्थिरता कैसे प्राप्त हो सकती है? प्रेम से ही एक-अनेक का भ्रम नष्ट होता है, सत्य स्वरूप एवं पारख-पद में प्रतिष्ठा होती है। आवागमन छूट जाता है, यही 'रहण' है।

टिप्पणी—विनोक्ति अलंकार।

चलौ चालौं सब कोउ कहै, मोहि अँदेसा और।
साहिब सूँ पर्चा नहीं, ए जांहिगे किस ठौर॥ ४॥

'चलो' 'चलो' तो सब लोग कहते हैं पर मुझे तो दूसरा ही भय है कि जब व्यक्तियों का भगवान् से परिचय ही नहीं है, उनको गन्तव्य स्थान का पता ही नहीं है; तब वे जायेंगे कहाँ? अर्थात् ज्ञान रहित सारी साधनायें अन्धकार में चलने के समान हैं। वे ब्रह्म रूप गन्तव्य तक नहीं पहुँचा सकती हैं।

जाइबे कौं जागा नहीं, रहिबे कौं नहीं ठौर।
कहै कबीरा संत हौं, अबिगति की गति और॥ ५॥

कबीर कहते हैं "हे सन्तो! न जाने के लिए कोई स्थान है और न यह जगत् रहने योग्य जगह है। भगवान् की माया ही विचित्र है कि उसमें सम्पूर्ण विरोधी धर्माश्रयत्व है। भगवान् की प्राप्ति कोई एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना नहीं है। जहाँ है, वहीं रहना है। जो आत्मस्वरूप जैसा है उसको वैसा जानना भर ही ब्रह्मस्वरूप को पहुँचना है। पर यह जगत् जीव को माया में लिप्त करके अपने स्वरूप को भुलाने वाला है, अतः रहने योग्य नहीं है। जगत् में सत्यत्व की प्रतीति और आसक्ति ही इसमें रहना है। अतः जगत् से अनासक्ति एवं अपने आत्म-स्वरूप

का बोध ही जीवन के लक्ष्य हैं। अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना ही जीना है। इसी से अविगत की गति वर्णनातीत एवं विलक्षण कही गई है।

कबीर मारग कठिन है, कोइ न सकई जाइ।
गए ते बहुड़े नहीं, कुशल कहै को आइ॥ ६॥

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त दुर्लभ है। वहाँ सामान्य जन नहीं पहुँच सकता है। जो वहाँ तक पहुँच गये हैं, वे वापिस नहीं आये। उस मार्ग की कुशलता अर्थात् सुख-सुविधा या दुर्गमता का वर्णन कौन करे?

जन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल।
पाव न टिकै पिपीलका, लोगनि लादे बैल॥ ७॥

भक्त कबीर का मूल वासस्थान शून्य-शिखर है। कुण्डली को जाग्रत होकर वहाँ पहुँचना है। पर नाड़ीजल से सुषुम्ना का यह मार्ग रपटीला है तथा इनके बीच में चक्ररूप पर्वत आते हैं। ऐसे रपटीले एवं पर्वतीय मार्ग पर चींटी की गति से बढ़ने वाले सूक्ष्म साधक (जिसने सम्पूर्ण वासनाओं एवं सम्प्रदायगत अहंकार का त्याग कर दिया है) के पैर भी फिसलने लगते हैं। पर अन्य साधकों ने तो अपने मन रूपी बैल को अनेक कर्मों की वासना के बोझ से भी लाद रखा है। वे वहाँ पर कैसे पहुँच सकते हैं?

टिप्पणी— 'कायायोग' के बिम्बों से परमतत्त्व की प्राप्ति का वर्णन है। वह माया से अतीत तत्त्व है उसके पहुँचने का मार्ग सिद्धियों के कारण रपटीला तथा अनेक प्रकार के अहंकारों के कारण पर्वतीय हो गया है। अपने मन को वासना-रहित करके सूक्ष्म करने वाला साधक भी कठिनता से उस तत्त्व को प्राप्त कर पाता है। वासनाओं एवं पंथों के अहंकारों से लदे हुए साधक के लिए तो वह तत्त्व दुष्प्राप्य है ही।

प्रतीकों और लाक्षणिक भाषा का प्रयोग है। सांगरूपक' अलंकार। प्रथम पंक्ति का दूसरा अर्थ—'रे भक्त', कबीर (महान् तत्त्व) का स्थान तो शून्य शिखर है; अर्थात् उसका स्वरूप मायातीत है।

जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ।
मन पवन का गमि नहीं, तहाँ पहूँचे जाइ॥ ८॥

जो स्थान इतना दुर्गम है कि वहाँ चींटी भीं नहीं चढ़ सकती है; जो इतना सूक्ष्म है कि वहाँ राई तक के लिए स्थान नहीं है, और जहाँ मन और प्राण तक की गति नहीं है; कबीर उसी पद को पहुँच गये हैं।

कबीर मारग अगम है, सब मुनिजन बैठे थाकि।
तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुरु की साषि॥ ९॥

ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग दुर्गम है। सब मुनि लोग चलने से थक कर बीच में

ही बैठ गये हैं। पर कबीर अपने गुरु की साक्षी से अर्थात् उनके द्वारा साक्षात्कार करते हुए तत्त्व के सहारे तथा उनकी कृपा के बल पर वहाँ पहुँच गया है।

टिप्पणी—व्यतिरेक की व्यंजना।

सुर नर थाके मुनि जनां, जहाँ न कोई जाइ।
मो भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ॥ १०॥

देवता, मनुष्य और मुनि लोग—सभी उस मार्ग पर चलने से थक गये हैं, वहाँ कोई नहीं पहुँचा है। कबीर के बड़े भाग्य हैं कि उसने उसी स्थान पर अपना स्थान बना लिया है, अर्थात् उसकी आत्म स्वरूप में स्थिति हो गई है।

टिप्पणी—व्यतिरेक अलंकार।

कबीर सूषिम सुरति का जीव न जांणें जाल।
कहै कबीरा दूरि करि, आतम अदिष्टि (अदृष्टि) काल॥ ११॥

कबीर कहते हैं रे जीव तू सूक्ष्म आत्मतत्त्व एवं उसके ज्ञान के रहस्य को नहीं समझता। अतः हे जीव, आत्मा को अज्ञान से ढकने वाली माया को तुझे दूर कर देना चाहिए।

प्रांण प्यंड कौं तजि चलै, मूवा कहैं सब कोइ।
जीव छतां जांमैं करै, सूषिम लखै न कोइ॥ १२॥

इस शरीर को जब प्राण छोड़कर चले जाते हैं तो सब उसको मरा हुआ मानते हैं। पर जीव अविनाशी है, अतः उसके कूटस्थ रहते हुए ही यह शरीर जन्म लेता है और मरता है, इस सूक्ष्म ज्ञान की ओर किसी का ध्यान नहीं है। अथवा जीवित रहते हुए जिस अवस्था में व्यक्ति मर जाता है अर्थात् वासनाओं और आसक्ति से रहित एवं असंग होकर जीवन्मृत अथवा जीवन्मुक्त अवस्था को पहुँच जाता है, इस सूक्ष्म स्थिति की ओर किसी का भीं ध्यान नहीं है।

(१५) माया कौ अंग

जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ।
रामचरन नीकां गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ॥ १॥

यह संसार बाजार है। इसमें स्वाद-रूपी ठग हैं तथा माया वेश्या का रूप करके बैठी है। इसलिए, हे जीव तू भगवान् के चरणों की अच्छी प्रकार शरण ले ले, ताकि इस माया के धोखे में आकर अपना जीवन ही न हार जाय, अर्थात् भक्ति आदि सत्कर्मों से विमुख होकर माया-मोह में फँस जाय।

टिप्पणी—'सांगरूपक' अलंकार।

कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तौ फंधै पड़्या गया कबीरा काटि॥ २॥

कबीर कहते हैं कि यह माया पापिन है। जीव को फँसाने के लिए फन्दा लेकर बाजार में बैठी है। सारा संसार इसके फन्दे में फँस गया है। पर कबीर (व्यापक एवं मुक्त आत्मा) ने इस फन्दे को काट दिया है।

टिप्पणी— व्यतिरेक अलंकार

कबीरा माया पापणीं, लालै लाया लोग।
पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग ॥ ३ ॥

कबीरा कहते हैं कि यह माया पापिन है। इसने जीवों में तृष्णा पैदा कर दी है और उसकी कुछ तृप्ति भी होने दी है। इससे हर व्यक्ति में भोग का लालच उत्पन्न हो गया है। पर इस माया को पूर्णतया कोई भी नहीं भोग सका। सबकी तृष्णा बनी ही रही। इन भोगों से इसी संसार में बिछोह हो जाता है। ये यहीं रह जाते हैं। यहीं इनकी अन्तिम परिणति है।

टिप्पणी—'मानवीकरण' अलंकार।

लालै—इसमें भोग की आकांक्षा तथा उसके लिए उपयुक्त एवं पर्याप्त विषय न मिलने से उत्पन्न वेदना—दोनों अर्थों का समन्वय है।

कबीर माया पापणीं हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥ ४ ॥

कबीर कहते हैं कि माया पापिन है। जीवों को भगवान् से विमुख करती है उन पर दुर्मति की कढ़ी लगा देती है। इस प्रकार कभी भी उनसे राम-नाम का उच्चारण नहीं होने देती है।

टिप्पणी—मानवीकरण अलंकार। माया-सम्बन्धी अधिकांश साखियों में मानवीकरण है।

जाणों जे हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस।
हरि बिचि घालै अंतरा माया बड़ी बिसास ॥ ५ ॥

जीव अपने मन में अभिलाषा भी करता है कि मैं भगवान् का भजन करूँ उस परमतत्त्व से अभिन्न हो जाऊँ। इससे बहुत बड़ी आशायें बाँधता है। पर यह माया बड़ी विश्वासघातिनी है। यह जीव और भगवान् के बीच भेद उत्पन्न कर देती है; जीव में ईश्वर के प्रति अविश्वास जगा देती है।

टिप्पणी—जीव और ब्रह्म का भेद माया जनित ही है।

कबीर माया मोहणी, मोहे जांण सुजांण।
भाग्यां ही छूटै नहीं, भरि भरि मारै बांण ॥ ६ ॥

कबीर कहते हैं कि यह माया मोहिनी है। यह ज्ञानी और बुद्धिमानों को भी मोहित कर लेती है। इसकी मोहिनी शक्ति से तो भाग कर ही अर्थात् इससे

अलग रहने के प्रयास से छुटी नहीं मिल सकती है क्योंकि यह पूरी शक्ति से विषय-रूपी बाण मारती है।

टिप्पणी—इससे छूटने का उपाय तो ज्ञानपूर्वक इसका भोग करके इसकी वासनाओं का समूल नाश करना है।

'सांगरूपक' अलंकार।

कबीर माया मोहणीं, जैसी मीठी खाँड़।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तौ करती भाँड ॥ ७ ॥

कबीर कहते हैं कि यह माया मोहिनी है। यह शक्कर जैसी मीठी है। सद्गुरु की कृपा हो गई कि ज्ञान-वैराग्य जाग गया, अन्यथा तो यह माया मुझे भाण्ड (अर्थात् बहुरूपिया एवं मिथ्या प्रशंसक) बनाकर ही छोड़ती अथवा हँसी का पात्र बना देती है।

टिप्पणी—'रूपक' तथा 'उपमा अलंकार'।

'करती भाण्ड'—स्वरूप-भ्रष्ट करने तथा अज्ञान का प्रशंसक बनाने की व्यंजना है।

कबीर माया मोहणीं, सब जग घाल्या घांणि।
कोइ एक जन ऊबरै, जिनि तोड़ी कुल की कांणि ॥ ८ ॥

कबीर कहते हैं कि यह माया मोहिनी है। उसने सारे संसार को घानी में डालकर कुचल दिया है। कोई विरला ही है जो कुल के अहंकार एवं रूढ़ियों से ऊपर उठ गया है अतः इसके प्रभाव से बच सका है। असंग एवं विरक्ति ही इससे बचने के एक मात्र उपाय हैं।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

कबीर माया मोहणीं, माँगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि ॥ ९ ॥

यह माया विचित्र मोहिनी शक्ति है। इसके प्राप्त करने के लिए जो गिड़-गिड़ाता है, उसकी इच्छा करता है, असके पीछे लगा रहता है; उसके यह हाथ नहीं आती। पर जो इसे झूँठ समझ कर इससे विरक्त हो जाता है; उसके यह स्वयं पीछे-पीछे लगी फिरती है। अर्थात् विषयी माया के पीछे दौड़ता है और माया आगे-आगे बढ़ती प्रतीत होती है। पर यह ज्ञानी के वश में हो जाती है। तथा उसे अपने वश में करने के लिए प्रलोभन देती रहती है।

टिप्पणी—विरक्त और ज्ञानी की सिद्धियों द्वारा फँसाये रखने की मान्यता का संकेत है।

माया दासी संत की, ऊभी देइ असीस।
बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ॥ १० ॥

यह माया सन्त की दासी है। निरन्तर उसकी सेवा में खड़ी उसको आशीष देती रहती है, अर्थात् उसके लिए योगक्षेम जुटाती रहती है। सन्त ने भगवान् का भजन करते हुए इस माया को भोगकर, ज्ञानपूर्वक विषयों का उपयोग करके, इस माया को लात मार कर छोड़ दिया है। वह इसमें लिप्त नहीं होता।

टिप्पणी—सांगरूपक।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा त्रिष्णां नां मुई, यौं कहि गया कबीर॥ ११॥

कबीर ने सारभूत बात कह दी है कि न माया (वासना) मरती है न मन ही। शरीर शक्तिहीन होकर मृतवत् हो जाते हैं अथवा शरीर मरते जाते हैं, पर आशा और तृष्णा बनी ही रहती हैं। उन्हीं वासनाओं के वशीभूत होकर शरीर जन्म-मरण में चक्कर काटता रहता है।

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ।
सोइ मूवे धन संचते, सो उबरे जे खाइ॥ १२॥

आशा जीवित रहती है और संसार एवं संसार के लोग मरते रहते हैं। इस सृष्टि का एक विचित्र नियम है। जो इस जगत् में माया का संचय करते हैं, वे नष्ट होते हैं और जो उसको खा लेते वे बच जाते हैं। अर्थात् जो पाप-पुण्य का संचय करते हैं, वे निरन्तर जन्म-मरण में चक्कर काटते रहते हैं। वे आत्म-स्वरूप को नहीं प्राप्त कर पाते हैं, यह उनका नाश ही है पर जो कर्मों को ज्ञान एवं वैराग्य-पूर्वक भोग कर नष्ट कर देते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। यही उनका बचना है।

टिप्पणी—'विरोधाभास' अलंकार।

कबीर सो धन संचिये, जो आगैं कूँ होई।
सीस चढ़ायें पोटली, ले जात न देख्या कोइ॥ १३॥

कबीर कहते हैं कि जो धन-द्रव्य परलोक के लिए हो सके, उसका ही संचय करना चाहिए। वह धन तो ज्ञान और प्रेम ही है। लोग सांसारिक धन-संचय में जुटे हुए हैं। यह परलोक के लिए होता तो ठीक था। पर हमने तो मर कर जाने वाले किसी भी व्यक्ति के सिर पर इस धन की पोटली नहीं देखी है।

टिप्पणी—'अपरिग्रह' की भावना एवं ईश्वर प्रेम का सहज उपदेश है। 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

त्रीया त्रिष्णां पापड़ीं, तासु प्रीति न जोड़ि।
पैंड़ी चढ़ि पाछौं पड़ै, लागै मोटी खोड़ि॥ १४॥

कबीर कहते हैं कि स्त्री (अर्थात् कामवासना) और तृष्णा पापिन हैं पतन के हेतु हैं। ये जीव का पगडण्डी पर चढ़कर पीछा करती हैं। अथवा जीव साधनाओं

और सिद्धियों की सीढ़ी पर चढ़ कर भी इनके कारण गिर जाता है और इससे उसके बहुत बड़ा दूषण लग जाता है उसका अंग-भंग हो जाता है ।

टिप्पणी—ब्रह्मपद की ओर उन्मुख अथवा उस पद को प्राप्त व्यक्ति भी इनके कारण पतित होकर संसार चक्र में फँस जाता है । उसकी ज्ञानाग्नि भी ठण्डी होकर धूमिल हो जाती है । यही संकेत है ।

त्रिष्णां सींची नां बुझै, दिन दिन बधती जाइ ।
जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ ॥ १५ ॥

तृष्णा की अग्नि विषयों के जल से सींचने पर भी नहीं बुझती है । उससे तो दिन-प्रतिदित प्रबल होती रहती है । पर ज्ञान और भक्ति की घनघोर वर्षा से जवासे की हरियाली की तरह यह तृष्णा कुम्हला जाती है ।

टिप्पणी—'विरोधाभास अलंकार' व उपमा गर्भित रूपक । कवि प्रोढ़ोक्ति का प्रयोग । कवि-परम्परा में यह माना जाता है कि वर्षा काल में आक और जवासा के पत्र झुलस जाते हैं । 'मेह' का सामान्य वर्षा तथा ईश्वर प्रेम की वर्षा—दोनों अर्थों का ग्रहण है । उनमें उपमेय उपमान भाव है ।

कबीर जग की को कहै, भौजलि बूड़ै दास ।
पारब्रह्म पति छाड़ि करि, कर मानि की आस ॥ १६ ॥

कबीर कहते हैं कि विषयी लोगों की तो बात ही क्या है ? इस भवसागर में वे भक्त भी डूब गये हैं जो परब्रह्म रूपी पति के प्रेम की उपेक्षा करके सम्मान की इच्छाओं में फँसे रहे ।

टिप्पणी—रूपक अलंकार ।

माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहीं जाइ ।
मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबनि कौं खाइ ॥ १७ ॥

कबीर कहते हैं कि धन-द्रव्य छोड़ दिया तो क्या हुआ ? उसके प्रभाव एवं उसकी वासना से मुक्ति मिल गई तो क्या है ? सम्मान की आकांक्षा तथा उससे प्रभावित होने की दुर्बलता तो छूटी नहीं । इस सम्मान एवं उसकी आकांक्षा तथा आत्म-गौरव के अहंभाव से बड़े-बड़े मुनि भी नष्ट हो गए हैं । सम्मान की आकांक्षा गौरव के अहं तथा मान (प्रेम प्रसंग का) से सम्पूर्ण जगत् ग्रसित है । ये ही उनके पतन एवं नाश के हेतु हैं । मान करने तथा खुशामद कराने की वृत्ति मुनियों में भी होती है ।

टिप्पणी—शब्द में सन्दर्भ एवं संस्कार से कई अर्थों की छाया (Shades of Meaning) रहती हैं । कबीर ने यहाँ पर 'मानि' शब्द की कई अर्थ-छवियों का प्रयोग किया है । इस अर्थ में श्लेष की छाया मानी जा सकती है । यह विशेषता कबीर में अन्यत्र भी मिलती है ।

रांमहिं थोड़ा जांणि करि, दुनियां आगैं दीन।
जीवा कौं राजा कहैं, माया के आधीन ॥ १८ ॥

राम की महत्ता में विश्वास न जमने के कारण उसकी उपेक्षा करने, वास्तव में उसे छोटा समझने या राम के विषय में अधूरे ज्ञान के कारण जीव राम-स्वरूप एवं महान् होते हुए भी संसार के समक्ष अपने आपको दीन समझने लगता है। वह माया के अधीन होकर उन जीवों को 'राजा' मानने लगता है, जो स्वयं माया के वश में हैं।

टिप्पणी—'थोड़ा' शब्द के कई अर्थ-स्तरों की ध्वनि।

रज बीरज की कली, तापरि साज्या रूप।
रांम नांम बिन बूडिहै कनक कांमणी कूप ॥ १९ ॥

यह शरीर रज और वीर्य के मिश्रण से विकसित एक कली मात्र है। जीव ने तो उसी को अपना रूप समझ कर भिन्न-भिन्न वस्त्रालंकारों से सजाया है। भगवान् के नाम-स्मरण के बिना यह शरीर कामिनी और कंचन से कुँए में गिरेगा इनके मोह से नष्ट होगा।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार। विषयासक्त शरीर के प्रति वितृष्णा की ध्वनि।

माया तरवर त्रिबिधि का, साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीको तनि ताप ॥ २० ॥

यह माया सत्त्वादि तीन गुणों का वृक्ष है। इसकी शाखायें दुःख और संताप से निर्मित हैं। इससे शीतलता तो स्वप्न में भी नहीं मिल सकती है। इसके फल फीके हैं और शरीर को तप्त करने वाले हैं।

टिप्पणी—सांगरूपक। 'माया' असत्, जड़ और दुःख रूप है। यहाँ पर प्रधानतः उसके दुःख रूप का निरूपण है।

कबीर माया डाकणीं, सब किसही कौं खाइ।
दांत उपाड़ौं पापणीं, जे संतौं नेड़ी जाइ ॥ २१ ॥

कबीर कहते हैं कि यह माया डाइन है, यह सभी संसार व्यक्तियों को खा जाती है। पर अगर यह पापिन सन्तों के पास जायेगी तो उसके दांत उखाड़ दूँगा। तात्पर्य यह है कि माया का नाशकारी एवं विषैला प्रभाव सन्त पर नहीं होता।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

नलनी सायर घर किया, दौ लागी बहुतेणि।
जलही माहैं जलि मुइ, पूरब जनम लिषेणि ॥ २२ ॥

इस जीवात्मा रूपी कमलिनी ने संसार रूपी सागर में अपना निवास स्थान बना लिया है। इस सागर में विषय-वासना रूपी वाड़वाग्नि अत्यधिक प्रज्वलित है

और उसमें वह जीवात्मा-रूपी क़मलिनी अपने पूर्व जन्म के कर्मों एवं तद्जनित वासनाओं के कारण जलकर भस्म हो गई है, ऐसा वह अनुभव करती है। अर्थात् भवजाल में उसका मुक्त शुद्ध एवं आनन्द स्वरूप तिरोहित हो गया है और उसे दुःख की प्रतीति होती है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति तथा सांगरूपक।

कबीर गुण की बादली, तीतरबानीं छांहि।
बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मंदिर मांहि॥ २३॥

कबीर कहते हैं कि माया त्रिगुणात्मक बदली है। इसकी तीतरबानी बदली की सी छाया है। इस तीतरबानी बदली से वर्षा अवश्य होती है; पर सर्वत्र नहीं, कहीं-कहीं होती है। इसमें एक विचित्रता और है, जो व्यक्ति इस बदली की छाया से बाहर रहते हैं, वे तो भीगने से बच जाते हैं; और जो इसके मन्दिर में अर्थात् इसकी छाया में रहते हैं, वे भीग जाते हैं। इस प्रकार माया विषयानंद की वर्षा अवश्य करती है पर जो जीव इस माया के मन्दिर में रहते हैं; अर्थात् माया में लिप्त रहते हैं, वे तो विषयासक्त हो जाते हैं और जो इस माया से बाहर हैं, वे इसके मोह से मुक्त रहते हैं।

टिप्पणी—विरोधाभास और सांगरूपक। माया चैतन्य के एक देश में रहती है; इसकी व्यंजना भी है। इसकी बदली को 'तीतर वर्णी बदली' भी कहते हैं। राजस्थानी की एक लोकोक्ति में इसका प्रयोग देखिए—

तीतरवर्णी बादली, विधवा काजल रेख।
यह बरसै वह घर करै, ज्यामैं मीन न मेख॥

कबीर माया मोह की, भई अँधियारी लोइ।
जे सूते ते मुसि लिए, रहे बसत कूँ रोइ॥ २४॥

कबीर कहते हैं कि यह माया मोह की अन्धकारमयी अज्ञान रूपी काली कम्बली हो गई है। जो जीव अज्ञान में सो रहे हैं, उन पर यह काली कम्बली डालकर माया उन्हें मोह लेती है तथा उनकी आत्म-स्वरूप रूपी अमूल्य वस्तु छीन लेती है। उसके लिए वे रोते ही रह जाते हैं। सांसारिक जीवों में उसी आत्मज्ञान के अभाव एवं उसे पुनः प्राप्त करने की विकलता है और यह माया जनित है।

टिप्पणी—सांगरूपक। 'लोइ' से माया का आचरण रूप तथा 'मुसि लिए' से विशेष रूप व्यंजित है।

संकल ही तें सब लहै, माया इहि संसार।
ते क्यूं छूटैं बापुड़े बांधे सिरजनहार॥ २५॥

माया ने इस संसार में सभी को अज्ञान की श्रृंखला से बांध रखा है। पर वे

बेचारे इस बन्धन से कैसे मुक्त हो सकते हैं, उनको स्वयं सृष्टि-कर्त्ता भगवान् ने बाँध दिया है।

टिप्पणी—शांकर वेदान्त की तरह कबीर भी बन्धन को जीवकृत मानते हैं। कुछ दर्शन इन बन्धनों को ईश्वर-कृत ही मानते हैं। कुछ जीवों को वे 'बद्ध जीव' कहते हैं। कबीर जीवों के प्रति प्रकट की गई संवेदना के आवरण में उन दर्शनों पर भी व्यंग्य कर रहे हैं। 'सभंगपदश्लेष' से 'सबल है' पाठ मानकर भी अर्थ किया जा सकता है। 'यह सांकल से भी शक्तिशाली है।'

बाड़ि चढ़ंती बेलि ज्यूँ, उलझी आसा फंध।
तूटै पणि छूटै नहीं, भई जो बाचाबंध॥ २६॥

जीव की माया अर्थात् व्यष्टि-अज्ञान या तूला अविद्या समष्टि अज्ञान इस संसार से उसी प्रकार उलझ गई है, जैसे बाड़ पर चढ़ती हुई बेल बाड़ के काँटों तथा अपनी ही नाल के फन्दों से परस्पर उलझ जाती है। यह बेल बाड़ में पूर्णतया उलझ कर जकड़ जाती है, इसलिए इसके नाल टूट जाते हैं, पूरी बेल से अलग हो जाते हैं, पर बाड़ से छूटते नहीं हैं। उसी प्रकार जीव अपनी आशाओं एवं आसक्ति के द्वारा संसार के विषय-रूपी काँटों से ऐसा बँध जाता है, ऐसा वचनबद्ध हो जाता है कि उससे विलग नहीं हो पाता है। इस प्रकार जीव अपने असंग, शुद्ध एवं आनन्द के अखण्ड स्वरूप को भूल ही जाता है।

टिप्पणी—उपमा और सांगरूपक। व्यष्टिकृत जगत् एवं समष्टिकृत संसार के पारस्परिक अध्यास से जनित उलझन का सुन्दर रूपक है। 'बाचाबंध' के द्वारा जीव का राग-सम्बन्ध ही बन्धन का हेतु है इसकी भी व्यंजना है। 'भई ज' पाठ में 'अगर बाचा बन्ध है' अर्थ भी है। 'अगर नहीं' की व्यंजना से असंग जीव का माया में रहते हुए ही अखण्ड चैतन्य से भी विलग न होना ध्वनित है।

सब आसण आसा तणां, निर्बातिकै (निरव्रति) को नांहि।
निबरति (निरव्रति) कै निबहै नहीं, परव्रति परपंच मांहि॥ २७॥

सारे ही आसन या स्थान (मठ) आशाओं से बँधे हुए हैं। निवृत्ति मार्ग वालों के लिए ये नहीं हैं। निवृत्ति मार्ग वाले साधु की विषय-वासनाओं की प्रवृत्ति एवं भोग पर आधारित इस जगत् में नहीं निभती है।

कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता बंधावणा, तिहि घरि तिता अंदोह॥ २८॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार का माया-मोह झूठा और क्षणिक है। संसार का यही नियम है कि जिस घर में जितनी बधाइयाँ और खुशियाँ होती हैं उस घर में उतने ही रंज भी होते हैं।

टिप्पणी—'संयोगाः विप्रयोगान्ताः' का भाव व्यंजित है।

'अर्थान्तरन्यास' अलंकार ।

माया हमसौं यों कह्या, तू मति दे रे पूठि।
और हमारे बसि पड़े, गया कबीरा रूठि ॥ २९ ॥

कबीर कहते हैं कि माया ने उससे विरक्त न होने के लिए हमसे अनुरोध किया और कहा कि अन्य सभी जीव उसके वशीभूत हैं । पर कबीर तो तब भी माया से नाराज होकर विमुख ही हो गया ।

टिप्पणी—मानवीकरण ।

पाठान्तर—'और हमारे हम बालू' ।

बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ़्या कलंक।
और पँखेरू पी गए, हंस न बोवै चंच ॥ ३० ॥

बगुली ने सागर के जल का थोड़ा आचमन करके उसे जूठा कर दिया और इससे सम्पूर्ण सागर ही दूषित हो गया । इस जूठे और दूषित जल को अन्य सब पक्षी तो पी गये, पर हंस ने इस जल में चोंच डुबाई भी नहीं ।

टिप्पणी—अन्योक्ति अलंकार । विषय भोगों के इस जगत् को वासना, लिप्सा और आसक्ति की बुगली ने उच्छिष्ट करके कलंकित कर दिया है । ऐसे विषय-भोगों का जाल अज्ञानी तथा विषयासक्त जीव-रूपी पक्षी तो पीते रहे पर ज्ञानी जीव रूप हंस ने इस विषय-जल का स्पर्श भी नहीं किया । यह हंस-जीव जागत्-सरोवर में रहते हुए भी विषयासक्ति के जलपान से उदासीन ही रहा ।

'बगुली' वासना या काया का. और 'नीर' विषय रस का 'बिटालिया' भोग का 'सागर' विषयानंद का 'पखेरू' विषयी जीवों का और 'हंस' मुक्तात्मा का प्रतीक हैं ।

कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरियां दे बांह।
नारद से मुनियर गिले, किसौ भरोसौ त्यांह ॥ ३१ ॥

कबीर कहते हैं, 'रे जीव तू माया से मत हिल-मिल, चाहे यह तुम्हें सौ बार भी आश्रय दे । इसके सम्पर्क से नारद जैसे मुनि भी अपने पथ से भ्रष्टा हो गये हैं । इसका क्या विश्वास किया जाय ?

टिप्पणी—मानवीकरण अलंकार ।

माया की झल जग जल्या, कनक कांमणीं लागि।
कहु धौं किहि बिधि राखिये, रुई पलेटी आगि ॥ ३२ ॥

कञ्चन और कामिनी के मोह में यह सारा संसार माया की अर्थात् विषय भोगों की ज्वाला में जल गया है । कहो तो, रुई में लिपटी आग को प्रज्वलित होने एवं उसे रुई को भस्म करने से कैसे रोका जा सकता है ।

टिप्पणी – 'निदर्शना' और 'रूपक' अलंकार ।

(१६) चांणक कौ अंग

जीव बिलंब्या जीव सौं, अलष न लखिया जाइ।
गोबिन्द मिलै न झल बुझै रही बुझाइ बुझाइ ॥ १ ॥

एक जीव दूसरे जीव में ही रमा हुआ है। वह अलक्ष्य निर्गुण तत्त्व की ओर नहीं देख रहा है। पर जब तक भगवान् नहीं मिलेंगे, तब तक यह सांसारिक दुःखों की ज्वाला बुझेगी नहीं। आत्मा इसे अन्य साधनों से बुझा-बुझाकर थक गई है।

टिप्पणी—पुनरुक्ति प्रकाश।

इही उदर कै कारणै जग जाँच्यौ निस जाम।
स्वामीं-पणौ जो सिरि चढ्यो, सर्यौ न एको काम ॥ २ ॥

स्वामी (साधु) बनकर इस पेट के लिए जीव रात-दिन संसार से याचना करता रहा। बस स्वामीपन का अहंकार उस पर हावी हो गया। इससे उसका एक भी काम सिद्ध नहीं हुआ; न इहलौकिक और न पारलौकिक।

स्वामीं हुणां सोहरा, दोद्धा (दोरहा) हूँणां दास।
गाडर आंणीं ऊन कूं, बांधी चरैं कपास ॥ ३ ॥

स्वामी अर्थात् साधु होना तो सरल है, पर भगवान् का दास होना अत्यन्त कठिन है। ऊन के लिए लाई गई भेड़ जैसे द्वार पर बँधी ऊन तो देती ही नहीं, गाँठ का कपास और चर जाती है। वैसे ही मुक्ति के लिए बने साधु साधुपने के अहंकार तथा साधना-पद्धति की रूढ़ियों में बँधकर ज्ञान तो प्राप्त कर ही क्या सकते हैं, उल्टे अपने शील के विनय एवं उसकी सहजता को भी खो बैठते हैं।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार। 'स्वामी' और 'दास' में मुद्रा अलंकार 'मालिक और सेवा' अर्थ की ओर व्यंजना है।

'सेवाधर्मो परमगहनो योगिनामप्यगम्यम्' की व्यंजना है।

स्वांमी हूवा सीतका, पैककार पचास।
राम नांम कांठै रह्या, करै सिषां की आस ॥ ४ ॥

इस कलिकाल में सेंतमेंत के व्यर्थ के अनेक स्वामी बन जाते हैं; उनके पचासों सेवक भी मिल जाते हैं। अथवा अचम्भे में डालने वाली अपनी सिद्धियों की अफवाहें उड़ाने वाले पचासों हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए राम-नाम एक किनारे रखा रह जाता है, वे तो केवल शिष्यों से आशा करते हैं।

कबीर तस्टा टोकणीं, लीए फिरै सुभाइ।
राम नांम चीन्हैं नहीं, पीतलि ही कै चाइ ॥ ५ ॥

कबीर कहते हैं कि ये स्वामी तसले और टोकनी लिये फिरते हैं। यही उनका

सहज रूप बन गया है । राम-नाम से उनका कोई परिचय नहीं है । वे केवल पीतल के बर्तनों और सिक्कों की इच्छा में ही अटके हुए हैं ।

कलि का स्वांमीं लोभिया, पीतलि धरी बटाइ ।
राज दुबारां यौं फिरे, ज्यूं हरिहाई गाइ ॥ ६ ॥

यह कलियुग का स्वामी लोभी है । पीतल में रखी हुई खटाई की तरह इसका व्यक्तित्व लोभ से विकृत हो गया है । भटकी हुई एवं स्वाद के वशीभूत होकर खेतों में जबरदस्ती घुस जाने वाली गाय की तरह यह आज का स्वामी भी राज-दरबारों में स्वाद और सम्मान के लिए भटकता फिरता है ।

टिप्पणी —उपमा अलंकार ।

'कलि का स्वामीं लोभिया, मनसा धरी बधाइ ।
देंहि पईसा ब्याज कौं, लेखाँ करतां जाइ ॥ ७ ॥

कलियुग का स्वामी लोभी है । इसकी तृष्णा बढ़ी हुई है । ब्याज पर पैसा उधार देता है और उसी के हिसाब करने में अपना समय गवाँ देता है ।

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिले न कोइ ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होइ ॥ ८ ॥

कबीर कहते हैं कि इस कलियुग में बहुत ही बुरा हुआ । आजकल सच्चे मुनि तो मिलते ही नहीं हैं । जो लालची, लोभी और हँसी-मजाक से मन बहलाने वाले हैं, उनका ही अब आदर होता है ।

चार्‌यूं बेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत ।
बालि कबीरा ले गया पंडित ढूंढ़ै खेत ॥ ९ ॥

चारों वेदो को पढ़ाने पर भी पंडित अध्येता में भगवान के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं कर पाया । अथवा चारों वेदों का वक्ता होने पर भी उस स्वयं में भगवान् के प्रति प्रेम नहीं जागा । प्रेम-रस व ज्ञान रूपी अन्न से भरी हुई बाल तो कबीर ले गया और तथाकथित पंडित सार-शून्य शब्दों के खेत को ही ढूंढ़ता रहा ।

टिप्पणी—'उपमा' और 'व्यतिरेक' अलंकार । जीव सत्य-स्वरूप से नीचे आकर अहंकारी रूप हो गया । इस भ्रमावस्था में उसने वेदादि रचे । कबीर की यह मान्यता भी व्यंजित है ।

बांह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरु नांहि ।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउं बेदां माँहि ॥ १० ॥

ब्राह्मण चाहे संसार का गुरु हो, पर वह मात्र-संन्यासी या पारखी का गुरु नहीं है । ब्राह्मण चारों वेदों के उपदेश में उलझ कर जीवन नष्ट कर रहा है । पर संन्यासी या पारख गुरु तत्त्व-वस्तु का साक्षात्कार कर लेता है ।

टिप्पणी—इन सखियों में ब्राह्मण के अहंकार एवं वेदज्ञान की निरर्थकता की स्वस्थ भावना के साथ ही अवैतिक तथा ब्राह्मण विरोधी अस्वस्थ स्वर भी स्पष्ट है। वेदों को भ्रमजनित ज्ञान मानने की कबीर की दृष्टि भी ध्वनित है।

साषित सण का जेवड़ा, भींगाँ सूँ कठठाइ।
दोइ अषिर गुरु बाहिरा, बांध्या जमपुरि जाइ॥ ११॥

हरि-विमुख अथवा दुष्ट सन की रस्सी के समान है। ज्ञान एवं प्रेम के जल से भीग कर विनम्र एवं सरस होने के स्थान पर यह अभिमानी और कठोर बन जाता है। गुरु के दो अक्षरों से वंचित, विमुख व अश्रद्धालु होकर अपने पाप-कर्मों से बँधा हुआ यह दुष्ट अन्त में यमपुर को जाता है।

टिप्पणी—उपमा और रूपक अलंकार। मध्य काल में 'साषित' वह व्यक्ति माना जाता था जो वैष्णव धर्म की दीक्षा से वंचित रहता था। यह शब्द 'शाक्त' का अपभ्रंश भी है अतः इसमें दोनों अर्थों का अभेद हो गया और रूढ़ि लक्षणा से इसका अर्थ 'दुष्ट' बन गया।

पाड़ोसी सू रूसणां, तिज तिल सुख की हांणि।
पंडित भए सरावगी, पाँणी पीवें छाँणि॥ १२॥

अपने पड़ोसी से रुष्ट होने से निरन्तर (थोड़े-थोड़े) सुख का क्षय होता रहता है। इन अहम्मन्य पण्डितों में अपने पड़ोसी धर्मावलम्बियों के प्रति सद्भाव नहीं है। इससे सुख-शान्ति की हानि हो रही है। ये पण्डित सरावगी हो गये हैं और पानी को छान कर पीने लगे हैं; अर्थात् वे अहिंसा एवं शुद्धता का ढोंग करते हैं अथवा दूसरों के धर्म की अनावश्यक नुक्ताचीनी और छान-बीन करने लगे हैं।

टिप्पणी— तत्कालीन अवस्था का संकेत है। 'पड़ोसी' को ईश्वर का प्रतीक मानकर अर्थ ठीक बैठ जाता है। पड़ोसी अर्थात् ईश्वर से रुष्ट होने से क्रमशः थोड़े-थोड़े सुख का क्षय होता रहता है। पंडित तो अनीश्वरवादी हो गये हैं और धर्म की नुक्ताचीनी करने लगे हैं अथवा शुद्धता का ढोंग करने लगे हैं।

पंडित सेती कहि रह्या, भीतरि भेद्या नाँहि।
औरूं कौं परमोधतां, गया मुहरक्यां माँहि॥ १३॥

कबीर पण्डित से कह रहा है कि ज्ञान तेरे भीतर प्रवेश नहीं कर पाया है। तुम दूसरों को उपदेश देते हो, पर स्वयं उस तत्त्व को नहीं समझते। तुम तो केवल नेतागीरी में ही भटक गये हो अथवा पण्डित की छाप लगने की अहंकार में ही खो गये हो।

पाठ-भेद—'आपण समझै नाँहि' पाठ भी ठीक है।

चतुराई सूवें पढ़ी, सोई पंजर माँहि।
फिर प्रमोधै आंन कौं, आपण समझै नाँहि॥ १४॥

ताते को राम-राम आदि मान्य शब्दों का ज्ञान होते ही वह अहंकार से पिंजरे में बन्द तो गया। उसके बाद वह दूसरों को ज्ञान देने लगा, पर इस अहंकार में स्वयं उसे कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ।

टिप्पणी--'अन्योक्ति'। केवल शाब्दिक ज्ञान-मात्र से मठाधीश बनकर उपदेश देने वालों की ओर संकेत है।

राशि पराई राषताँ, खाया घर का खेत।
औरौं कौं परमोधताँ, मुख मैं पड़िया रेत ॥ १५ ॥

जो दूसरों की अन्न-राशि की ही रखवाली करते हैं, वे अपने घर का खेत समाप्त कर लेते हैं। लापरवाही में पशु उनका खेत चर जाते हैं। दूसरों की चिन्ता के अहंकार तथा अपनी वास्तविकता की उपेक्षा में उनका ज्ञान विषय-वासनाओं से धूमिल हो जाता है। मात्र दूसरों को ज्ञान देने से अपने मुख पर धूल ही पड़ती है।

टिप्पणी—'रूपक' अलङ्कार।

तारा मंडल बैंसि करि, चंद बड़ाई खाइ।
उदै भया जब सूरका, स्यूँ तारा (तार्या) छिपि जाइ ॥ १६ ॥

तारों के समूह में बैठकर चन्द्रमा प्रशंसा को प्राप्त करता है, पर सूर्य के उदित होते ही वह भी तारों के समान निस्तेज होकर छिप जाता है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार। अल्पज्ञों अथवा अज्ञानियों के समक्ष शब्द-ज्ञान वाले का महत्त्व है, पर तत्त्वज्ञ के समक्ष वह निस्तेज ही प्रतीत होता है। मात्र उपदेशक पर व्यंग्य है।

देषण के सब कोउ भले, जिसे सीत के कोट।
रवि के उदै न दीसहीं, बंधै न जल की पोट ॥ १७ ॥

दीखने में सब उपदेशक सुन्दर ही प्रतीत होते हैं। निहार या कुहरे के दुर्ग उपयोगी न होने पर भी देखने में सुन्दर ही लगते हैं। पर ज्ञान रूपी सूर्य के उदित होते ही उनके निहार के कोट रूप अहंकार के दुर्ग नष्ट हो जाते हैं। उनका अहंकार रूप निहार पिघलकर लज्जा रूपी पानी में परिणत हो जाता है। पर उस पानी की भी पोटली नहीं बँधती हैं। अर्थात् वह लज्जा भी क्षण स्थायी है, वह भी ज्ञान की ओर प्रवृत्त नहीं कर पाती है।

टिप्पणी—'रूपक' और 'दृष्टांत अलंकार।

तीरथ करि करि जग मुवा, डूंघै पाँणी न्हाइ।
रांमहि राम जपंतड़ां, काल घसीट्यां जाइ ॥ १८ ॥

धर्माभिमानी लोग तीर्थ कर करके तथा उसके गहरे जल में नहा-नहा कर मर गये। पर उसकी मुक्ति नहीं हुई। अन्तःकरण की सच्ची भक्ति भावना के अभाव में

केवल जीभ से निरन्तर राम-नाम जपने वालों को भी अन्त में काल ही घसीटकर ले जाता है।

टिप्पणी—बाह्याचरण व्यर्थ है, की ध्वनि है।

कासी काँठें घर करै, पीवै निर्मल नीर।
मुकति नहीं हरि नाँव बिन, यौं कहै दास कबीर॥ १९॥

भक्त कबीर का यह विश्वास है कि काशी के किनारे घर बसा ले और गंगा के शुद्ध निर्मल जल का पान भी करता रहे, पर भगवान् के नाम-स्मरण के बिना मुक्ति सम्भव ही नहीं है।

टिप्पणी—अन्ध विश्वासों पर व्यंग्य।

कबीर इस संकार कौ, समझाऊँ कै बार।
पूंछ जो पकड़ै भेड़ की, उतर्‌या चाहै पार॥ २०॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार को कितनी बार समझाऊँ। इसने भेड़ की पूँछ पकड़ रखी है, अर्थात् रूढ़ियों के पीछे चल रहा है और संसार सागर से पार उतरना चाहता है।

टिप्पणी—गया की पूँछ पकड़ कर व्यक्ति वैतरणी तरता है; भेड़ की पूँछ से नहीं; इस धारणा का उपयोग है।

पाठ-भेद—'भेड़' के स्थान पर 'भेद' पाठ भी है। भेद बुद्धि से नहीं अभेद बुद्धि से व्यक्ति पार लगता है।

कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूँ मैं ध्रंम।
कोटि करम सिरि ले चल्या चेत न देखै भ्रंम॥ २१॥

कबीर कहते हैं कि जीव मन में फूला नहीं समाता है कि वह धर्म करता है पर जागकर इस भ्रान्ति को नहीं समझता है कि इस तथाकथित धर्म के अहंकार से उसने अनेक पाप-पुण्यों का बोझ अपने सिर पर ले लिया है। इससे उसे जन्म-मरण के चक्कर में घूमना पड़ेगा।

टिप्पणी—"अहंकार शून्य होकर ज्ञान पूर्वक किये गये कर्म ही मुक्ति के हेतु हैं, शेष तो केवल बन्धन कारक हैं"; यही ध्वनित है।

मोर तोर की जेवडी, बलि बंध्या संसार।
काँसि (कांछसि) कडूंबा सुत कलित, दाझण बारंबार॥ २२॥

यह जगत् मेरी तेरी की रस्सी में बलि के बकरे के समान बँधा हुआ है। यह पुत्र और कलत्र-रूपी काँस और कडूँवा के घास की अग्नि में बार-बार जलेगा। अर्थात् उनके मोह से बार-बार जन्म धारण करके कष्ट भोगेगा अथवा जिस कुटुम्ब, पुत्र और स्त्री की आकांक्षा करता है उनके मोह में तो तुझे बार-बार झुलसना पड़ेगा।

(१७) कथणी-करणी कौ अंग

कथणीं कथी तौ क्या भया, जे करणीं नाँ ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यूं, देषतहीं ढहि जाइ ॥ १॥

महान् सिद्धान्तों की बातें करने से क्या लाभ है अगर उन्हें कार्य-रूप में परिणत करके अपने जीवन में स्थिर नहीं किया जाय तो। ये उच्च सिद्धान्त व्यक्ति के जीवन में मूर्तिमान होने चाहिए, अन्यथा वे कच्ची मिट्टी के दुर्गों की तरह देखते ही देखते क्षण भर में ढह जायेंगे।

टिप्पणी—उपमा और 'दृष्टान्त' अलंकार।

कालबूत = मेहराव बनाने के लिए मिट्टी का भराव तैयार करना इस दृष्टि से संकल्प रूप 'कथणी करणी' को आधार देने के लिए आवश्यक है, यह भी ध्वनि है।

जैसी मुख तैं नींकसै, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल मैं करै निहाल ॥ २ ॥

जिन सिद्धान्तों की बातें व्यक्ति के मुख से निकलती हैं, अगर उन्हीं के अनुसार वह जीवन-यापन करे तो वह परब्रह्म के नजदीक आ जाता है। भगवान् उस व्यक्ति को पल भर में ही निहाल कर देते हैं।

जैसी मुष तैं नीकसै, तैसी चालै नांहि।
मानिष नहीं ते स्वान गति, बाँध्या जमपुर जांहि ॥ ३ ॥

जो व्यक्ति अपने वचनों का पालन नहीं करते है, वे मनुष्य नहीं है। उनकी कुत्तों की सी गति है और वे बँधे हुए यमपुर को जाते हैं।

पद गाएं मन हरषियाँ, साषी कह्याँ अनंद।
सो तत नाँव (नाँउं) न जाँणिया, गल मैं पड़िया फंध ॥ ४ ॥

पद गाने से व्यक्ति का मन हर्षित हो गया और साखी कहकर भी उसने आनन्द ले लिया, पर उस तत्त्व रूप भगवान् का, जो इन पदों और साखियों का वास्तविक प्रतिपाद्य है, हृदय से साक्षात्कार न करने से जीव के गले में फन्दा ही पड़ा। अर्थात् यह सच्चे ज्ञान और प्रेम से शून्य पद-गान के लय आदि से प्राप्त आनन्द भी बन्धन के ही हेतु बनते हैं।

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड।
जाँणैं बूझै कुछ नहीं, यौं ही आंधा रूंड ॥ ५ ॥

जो मनुष्य अपने मुख भी ऊँचा करके जोर-जोर से कीर्तन करता दिखाई देता है, पर उस तत्त्व को नहीं समझता है, वह केवल अन्धा रूँड मात्र अर्थात् ज्ञान और दर्शन के साधन रूप शिर से विहीन केवल धड़ मात्र है।

टिप्पणी—'तूँड' और 'रूँड' शब्दों में 'प्रेम शून्य कीर्तन प्राणहीन एवं जड़ है' व्यंग्य है।

मैं जाँण्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा थैं भलौं जोग।
रांम नांम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग ॥ ६ ॥

मैं समझता था कि पुस्तकों का पढ़ना अच्छा है। पर वास्तव में इस शुष्क शब्द-ज्ञान की अपेक्षा उस परम तत्त्व से योग प्राप्त करने की साधना कहीं अधिक अच्छी है। अतः हे जीव! भगवान् के नाम से प्रेम कर, चाहे संसार इसके लिए तुम्हारी निन्दा ही करे।

पाठन्तर—'भक्ति न छाडों राम की भावै, निंदउ लोग।'

कबीर पढ़िबो दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ।
बांवन अषिर सोधि करि ररै ममैं चित लाइ ॥ ७ ॥

कबीर कहते हैं कि ऐसे भक्तिशून्य पढ़ने को दूर कर दो। केवल पुस्तकों में मत भटको, इनको बहा दो। बांवन अक्षरों का शोधन करके उनका मूल सार ढूंढ़ कर उसी में अपने चित्त को रमाओ। यह मूल सार केवल 'र' और 'म' है अर्थात् 'राम' है।

कबीर पढ़िबो दूरि करि, आथि पढ़्या संसार।
पीड़ न उपजी प्रीति सूं, तौ क्यूंकरि करै पुकार ॥ ८ ॥

कबीर कहते हैं कि भक्ति-शून्य पढ़ने को दूर करो। संसार पढ़ा हुआ ही है। पर जब संसार में और तुम्हारे में इस पढ़ने से भगवान् की पीर नहीं जागी है, फिर तुम और संसार उनसे अपने को अपनाने की पुकार क्यों करोगे?

टिप्पणी—'आखि पढ़्या संसार' के पाठ-भेद का अर्थ'—सारा ही संसार पुस्तकें पढ़ता है, पर किसी में 'पीर' नहीं जागती। भक्ति की उत्कृष्टता व्यंजित है।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
ऐकैं अषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ ॥ ९ ॥

यह सारा संसार इन पुस्तकों को पढ़ते-पढ़ते मर गया है, पर इनमें से कोई वास्तविक पंडित नहीं हुआ। जो अपने पति-परमेश्वर के नाम का एक अक्षर भी पढ़ लेता है; अर्थात् उसमें अपने प्रिय के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है और उसके प्रेम में तन्मय होता है, वही उत्कृष्ट पंडित बन जाता है। उसी को तत्त्व-ज्ञान होता है।

(१८) कामीं कौ अंग

कांमणि काली नागणीं, तीन्यूं लोक मंझारि।
राम सनेही ऊबरे, बिषई खाये झारि ॥ १ ॥

कामिनी तीनों लोकों में फैली हुई काली नागिन है। इसके दंश से केवल राम भक्त ही बच सके हैं। इसने विषयी पुरुषों को अशेष रूप से ही खा लिया है।

टिप्पणी--'रूपक' अलंकार। 'विराट् भावना'।

तुलना कीजिए—

ओ चिन्ता की पहली रेखा; 'अरी, विश्व वन की व्याली'। (प्रसाद)

कांमणि मीणीं षांणिकी, जे छेड़ौ तौ खाइ।
जे हरि चरणां राचिया, तिनके निकटि न जाइ॥ २॥

कामिनी काटने वाली बिल्ली है। अगर इसे छेड़े तो खा जाती है अर्थात् जो कामिनी से विषय-भोग के इशारे एवं हास-परिहास करता है, उसको यह कामिनी वासनायें उद्दीप्त करके एवं भोगों में डालकर नष्ट कर देती हैं। पर जो भगवान् के चरणों में अनुरक्त हैं वे इस कामिनी-रूप बिल्ली को छेड़ते ही नहीं, उनके यह निकट भी नहीं जाती। यह स्वयं भी उनसे भयभीत रहती है।

टिप्पणी— रूपक' अलंकार। कामिनी के स्वभाव की बिल्ली के स्वभाव से तुलना गहरी अर्थ व्यंजना करती है। 'मीणी' का अर्थ धूर्त' एवं षाणकी का अर्थ 'वेश्या' लेने से भी सुन्दर व्यंजना हो जाती है। कामिनी का घातक, रूप 'मीणी' और षांणकी' में सबसे ठीक एवं प्रभावी होकर रूपायित होता है। 'मीणी खांडकी' पाठ मानकर कुछ 'मधुमक्खी' अर्थ भी लेते हैं। इसमें खांडकी के साहचर्य से मीणी का अर्थ 'मधुमक्खी' लिया गया है। इसमें खींचतान भी है। पर शहद की मक्खी में शहद नहीं केवल दंश है इसकी व्यंजना भी है।

'मींनीं षाणिकी' के स्थान पर 'सुन्दर सर्पिणीं' पाठ मानने से इसमें के 'सुन्दर' के कारण आकर्षण की व्यंजना है तथा 'सर्पिणी' से छेड़ने पर ही खाती है, की भी व्यंजना है।

परनारी राता फिरै, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहै अंति समूला जांहि॥ ३॥

दूसरे की स्त्री से अनुराग करना चोरी की कमाई खाना है। इससे व्यक्ति चार दिन के लिए चाहे फलता-फूलता रहे, पर अन्त में वह समूल ही नष्ट हो जाता है।

टिप्पणी—इन साखियों में व्यष्टि के चरित्र-निर्माण तथा समाज की व्यवस्था दोनों ही दृष्टियाँ हैं।

परनारी परसुंदरी, बिरला बंचै कोइ।
खातां मींठी खाँड सी, अंति कालि विष होइ॥ ४॥

दूसरे की स्त्री तथा दूसरे की प्रेमिका में अनुरक्त होने से कोई विरला ही बचता है। वह खाने में अर्थात् भोग में खाँड के समान मीठी अवश्य लगती है; पर उसकी परिणाम विष रूप ही है।

टिप्पणी -- 'उपमा' अलंकार ।

विषयी जीवों के सहज स्वभाव का निरूपण है ।

परनारी कै राचणैं, औंगुण है गुण नांहि ।
षार समंद मैं मंछला, केता बहि बहि जांहि ।। ५ ।।

पराई स्त्री में अनुरक्त होना दोष ही है, गुण नहीं है । पर खारे पानी में भी कितनी मछलियाँ बहती रहती हैं । उनको यही प्रिय है । ऐसा अवगुण होने पर भी विषयी पुरुषों को अपने स्वभाव के कारण यही प्रिय है ।

टिप्पणी—'निदर्शना' । नदी के मधुर एवं शान्त जल में विहार करने वाली अनेक मछलियाँ भी खारे समुद्र में पहुँच जाती हैं और उसके अथाह जल एवं प्रबल लहरों में विवश होकर बहती रहती हैं । ऐसे ही स्वकीया के मधुर प्रेम से भटक कर अनेक मानव परकीया के साथ तीक्ष्ण एवं परिणाम में दुखदायी भोगवासना में बह जाते हैं । जीव के इस स्वभाव का चित्रण है ।

परनारी को राचणौं, जिसी ल्हसण की खांनि ।
षूणैं बैसि र षाइए, परगट होइ निवानि ।। ६ ।।

दूसरे की स्त्री के साथ रमण करना लहसुन खाने के समान है । चाहे कोई लहुसन को कहीं दूर कोने में बैठकर ही खावे, पर उसकी गन्ध के द्वारा यह दीवार में अर्थात् सबके समक्ष प्रकट हो जाता है । वैसे ही परनारी का गुप्त प्रेम भी अपने प्रभाव के माध्यम से प्रकट हो ही जाता है ।

टिप्पणी - 'उपमा' अलंकार । **पाठान्तर** —'कोनै बैठे खाइए, परगत होइ निदानि' अर्थात् 'अन्त में' प्रकट हो ही जाता है ।'

नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम ।
कहै कबीर ते रांम के, जैं सुमिरैं निहकाम ।। ७ ।।

जब तक देह में वासना और इच्छा है तब तक सभी नर और नारी वास्तव में नरक-रूप है । वासना के विषय स्वयं भी नरक रूप हैं तथा परिणाम में भी केवल नरक के ही हेतु हो सकते है । जो निष्काम-भाव से भगवान् का स्मरण करता है, प्रेम के लिए ही प्रेम करता है, वही वस्तुतः भगवान् का प्रियजन है ।

टिप्पणी —सकाम कर्म मानव के जन्म-मरण के हेतु हैं जो दुख रूप हैं अतः नरक है । निष्काम भक्ति ही श्रेय है ।

नारी सेती नेह, बुधि बबेक सबहीं हरै ।
कांइ गमावैं देइ, कारिज कोइ नां सरै ।। ८ ।।

कामिनी रूप नारी के प्रति आसक्ति मनुष्य की बुद्धि, विवेक तथा अन्य सब शक्तियों का अपहरण कर लेती है । रे जीव, इस अनुराग में अपना शरीर क्यों

रहा है ? इससे तेरा कोई कार्य सिद्ध नहीं होगा अर्थात् तुझे जीवन के किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी।

नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
बेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वै है मूरति भंग॥ ९॥

रे मानव, अनेक प्रकार के भोजन के स्वादों का सुख तथा नारी के साथ राग-रंग, इन दोनों को छोड़ दे। अन्यथा, तुझे पछताना पड़ेगा और तेरा स्वरूप एवं तेरी आकृति विकृत एवं नष्ट हो जायेंगे। मानव का वास्तविक स्वरूप ईश्वर-प्रेम है, वही तुम नहीं कर पाओगे।

नारीं नसावैं तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ॥ १०॥

नारी के प्रति आसक्ति मनुष्य के तीनों प्रकार के, आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक सुखों का नाश करती है; चाहे ये सुख किसी भी व्यक्ति के पास हों। सुख पुण्यों का परिणाम है, और आसक्ति पुण्य-क्षय का हेतु है। उस व्यक्ति का भक्ति, मुक्ति, इन्द्रियजय तथा अपने स्वरूप ज्ञान में तो प्रवेश भी असम्भव है।

एक कनक अरु कांमनी, विष फल कीए उपाइ।
देखैं ही थैं बिष चढ़ै, खांयें सूं मरि जाइ॥ ११॥

कामिनी और कञ्चन, ये दो तो विष-फल ही उत्पन्न हुए हैं। इनके दर्शन मात्र से ही विष चढ़ जाता है; अर्थात् मोह का नशा छा जाता है। इनके उपभोग से तो व्यक्ति नष्ट ही हो जाता है। उसका ईश्वर-प्रेम और आत्म-बोध नष्ट होते हैं।

टिप्पणी—रूपक, अतिशयोक्ति और व्यतिरेक अलंकार।

एक कनक अरु कांमनी, दोऊ अगनि की झाल।
देखें हीं तन प्रजलै, परस्यां ह्वैं पैमाल॥ १२॥

कामिनी और कञ्चन, दोनों ही अग्नि की ज्वाला है और ऐसी प्रबल एवं विचित्र हैं कि इनके देखने भर से व्यक्ति का शरीर जलने लगता है, अर्थात् वासना से उतप्त हो जाता है। इनके स्पर्श अर्थात् अधिकार और उपभोग से तो व्यक्ति बिल्कुल भस्म ही हो जाता है।

टिप्पणी—रूपक, अतिशयोक्ति और व्यतिरेक अलंकार।

कबीर भग की पीहड़ी, केते गए गडंत।
केते अजहूँ जाइसी, नरकि हंसत हंसत॥ १३॥

कबीर कहते हैं कि इस स्त्री-सहवास की आसक्ति के कारण पता नहीं कितने कब्र में गड़ते गए हैं, भोग के गर्त में डूब कर नष्ट हो गए हैं और तब भी पता नहीं कितने और अज्ञानवश यह सुख भोगेंगे तथा परिणामस्वरूप हँसते-हँसते अर्थात् स्वेच्छा से नरक में जायेंगे।

जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच।
उत्यम ते अलगे रहैं, निकटि रहैं तें नीच॥ १४॥

स्त्री अर्थात् माया जगत् की जूठन है। इसी से भले और बुरे का अन्तर ज्ञात होता है। जो उत्तम प्रकृति के लोग हैं, वे इस भोगों की जूठन से अनासक्त एवं अलग ही रहते हैं। पर जो अधम प्रकृति के हैं वे इसमें आसक्त रहते हुए इससे निकटतम संसर्ग रखते हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। माया अनादि काल से भोग्या है। जीव उसे पूरी नहीं भोग सका, अतः उच्छिष्ट है।

नारी कुंड नरक का, बिरला थंभैं बाग।
कोई साधू जन ऊबरैं, सब जग मूवा लाग॥ १५॥

नारी का सहवास स्वयं नरक रूप है तथा नरक की यातना का कारण है। कोई एक-आध हो अपने मन रूपी घोड़े की लगाम थामकर अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण कर पाता है, कोई साधु व्यक्ति ही इसके आकर्षण से बच पाता है। अन्यथा तो सारा जगत् इसके सम्बन्ध अथवा भूतही प्रभाव से शक्तिहीन एवं मरा हुआ ही है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

सुंदरि थैं सूली भली, बिरला बंचै कोइ।
लोह निहाला अगनि मैं, जलिबलि कोइला होइ॥ १६॥

कामिनी से तो शूली ही कम घातक है। इसके घात से तो कोई एक-आध मरने से बच भी पाता है। पर कामिनी के घात से तो एक भी नहीं बचता। जैसे आग में पड़ा हुआ लोहा भी जलकर कोयला हो जाता है, वैसे ही इस वासना की आग में पड़ा हुआ शक्ति-सम्पन्न साधक भी भस्म हो जाता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और निदर्शना अलंकार। 'बिरला बंचै कोई' का 'कामिनी से कोई बिरला ही बच पाता है' अर्थ भी लिया जा सकता है।

अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल।
और गुनह हरि बकससी, कांमीं डाल न मूल॥ १७॥

यह अज्ञानी मनुष्य सावधान नहीं होता है। इसके संशय के काँटे नष्ट नहीं हो रहे हैं। काम-वासना की अधमता में भी इसे संदेह बना ही रहता है। भगवान् अन्य अपराधों को तो क्षमा भी कर सकते हैं, पर कामी के लिए तो वहाँ भी कोई ठौर-ठिकाना ही नहीं है। काम-वासना माया-मोह का अधमाधम रूप है। यह रोग सबसे दुस्साध्य है।

टिप्पणी—'काम' विक्षेप रूप माया का सर्वप्रथम विकार है, अतः सबसे अन्त में नष्ट होता है। कामी सब प्रकार के धर्मों के प्रति अंधा हो जाता है।

भगति बिगाड़ी कांमियां, इंद्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया बादि ।। १८ ।।

इन्द्रियों के स्वाद के वशीभूत होकर कामी व्यक्तियों ने भक्ति को विकृत कर दिया है। वे भक्ति के आवरण में वासनाओं की तृप्ति करने लगे हैं। उन्हों ईश्वर-प्रेम के अमूल्य हीरे को अपने हाथ से यों ही खो दिया है। मानव-जन्म जिस प्रेम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए मिला था, उसे भी उन्होंने तुच्छ वासनाओं से ही गँवा दिया है।

टिप्पणी—'हीरा'—भक्ति; मुक्ति प्रेम आदि की आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए प्रयुक्त सिद्धों, सन्तों एवं कबीर का अत्यन्त प्रिय प्रतीक है। 'रूपकातिशयोक्ति'।

कामीं अमीं न भावई, विष ई कौं ले सोधि।
कुबधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ रहौ परमोधि।। १९ ।।

कामी व्यक्ति को भक्ति और ज्ञान रूपी अमृत अच्छा नहीं लगता है। वह हर जगह विषय-रूपी विष को ढूँढ़ ही लेता है। मन की वासना और आसक्ति या अनासक्ति ही कर्मों को विष और अमृत बना देती है। कामी का स्वभाव ही वासनामय है। अत: वह विषय-रूपी विष की ओर ही दौड़ता है। ऐसे जीवों की कुबुद्धि समाप्त नहीं होती है, चाहे उनको स्वयं भगवान् शंकर ही क्यों न समझावें।

टिप्पणी—तुलना कीजिए—'विष कीड़ा विष खात।

'प्रकृतिर्यान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति।'

'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

बिष बिलंबी आतमां, ताका मजकण खाया सोधि।
ग्यांन अंकुर न ऊगई, भावै निज परमोद।। २०।।

विषयों ने जीवात्मा का आश्रय लेकर उसे ग्रस्त कर लिया है। इससे उसका सारभूत अंश ही नष्ट हो गया। अर्थात् विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप ईश्वर-प्रेम में स्थित रहने की उसकी शक्ति ही आवृत्त हो गई है। जैसे अन्नकण घुन लग जाने से खोखला हो जाता है और उसमें अंकुर नहीं फूटता है। वैसे ही अन्तःकरण विषय-वासनाओं की आसक्ति से शक्तिहीन हो जाता है और उसमें ज्ञान के अंकुर नहीं फूटते हैं। उसे अपने आनन्द-प्रमोदों में रमना ही अच्छा लगता है।

टिप्पणी--'मजकण' में 'लक्षणा'। अमूर्त भावनाओं के लिए मूर्त उपमान का प्रयोग है। 'भावै निज परमोध' पाठ भी है इसका अर्थ है चाहे उसे उसकी आत्मा ही क्यों न समझाये।

'रूपक अलंकार।

विषै कर्म की कंचुली, पहरि हुआ नर नाग।
सिर फोड़ं सूझै नहीं, कोउ आगिला अभाग ।। २१ ।।

विषय-वासना के कर्मों की केंचुली पहिन कर यह मनुष्य सर्प बन गया है। लाख सिर फोड़ता है और जीवन का मार्ग ढूँढ़ने के लिए प्रयत्न करता है पर वासना में अन्धा होने के कारण इसे मार्ग सूझता नहीं, अर्थात् इसे ईश्वर-प्रेम का रास्ता नहीं दिखाई देता है। यह इस जीव के पूर्व जन्म के पापों का ही परिणाम है।

टिप्पणी – सांगरूपक अलंकार। विषयी को भुजंग कहना अर्थ-गर्भित है।

कामीं कदे न हरि भजै, जपै न केसौ जाप।
रांम कह्यां थैं जलि मरै, कोउ पूरिवला पाप ॥ २२ ॥

कामी कभी भी भगवान् का भजन नहीं करता है। वह केशव को नहीं भजता है, या वह कैसा भी जाप नहीं करता है, सभी प्रकार के जपों से विमुख है। विषयी का राम के नाम-स्मरण से सहज विरोध है। नाम-स्मरण विषयों को दग्ध करता है। अतः राम का नाम लेने से तो वह जल-भुन जाता है। उसके पूर्व जन्म के उत्कृट पाप ही हैं, जो उसे सन्मार्ग पर नहीं चलने देते हैं।

कामी लज्या नां करै, मन माहैं अहिलाद।
नींद न मांगै सांथरा, भूष न मांगै स्वाद ॥ २३ ॥

कामी कुमार्ग पर चलने में लज्जा का अनुभव नहीं करता है। उल्टे उसके मन को वासकाओं से आह्लाद होता है, उसमें उत्साह जागता है। वासनाओं का आवेश व्यक्ति के नीर-क्षीर विवेक को ही नष्ट कर देता है। नींद को वस्त्रों की अपेक्षा नहीं रहती और भूख स्वाद का ध्यान नहीं रखती। निद्राग्रस्त चाहे जहाँ सो सकता है और भूखा चाहे जो खा लेता है। वैसे ही कामी विवेक-शून्य होकर काम-तृप्ति में रत हो जाता है।

टिप्पणी – निदर्शना अलंकार।

नारि पराई आपणीं, भुगत्या नरकहि जाइ।
आगि आगि सबरा कहै, तामैं हाथ न बाहि ॥ २४ ॥

रे कामी, तूने दूसरे की स्त्री अपनी बना ली है, पर उसे भोगने पर नरक ही जाना पड़ेगा। सब उसे आग-आग कहते हैं। इस आग में हाथ मत डाल, अन्यथा जल जायेगा।

टिप्पणी – रूपक अलंकार।

पाठान्तर –'आगि आगि सब एक है'—इस पाठ से दूसरे अर्थ का संकेत हो जाता है। नारी चाहे अपनी है या दूसरे की, उनका आसक्ति एवं भोग्य रूप नरक का हेतु है, क्योंकि आग तो सब एक सी ही है; जलती ही है। इन दोनों अर्थों की व्यंजनाओं में भी कुछ अन्तर है। पहले में सामाजिक धर्म एवं व्यक्ति चरित्र की रक्षा का उपदेश भी व्यंग्य है। दूसरे में भोग सामान्य ही गहृत है, की ध्वनि है।

कबीर कहता जात हौं, चेतै नहीं गंवार।
बैरागी गिरही कहा, कांमीं वार न पार॥ २५॥

कबीर कहते हैं कि मैं काम-वासना के विरुद्ध निरन्तर चेतावनी देता रहा हूँ। पर इस मूर्ख जीव को ज्ञान नहीं होता है। कामी गृहस्थ है या कामी वैरागी है, इसका कहीं कुछ अन्तर नहीं है। कामियों का कोई अन्त नहीं है।

ग्यांनीं तौ नीडर भया, मांनैं नांही संक।
इंद्री केरे बसि पड़्या, भँचं (भूँजै) बिषै निसंक॥ २६॥

अहंमन्य ज्ञानी तो अपने ज्ञान के अन्धकार में निडर हो गया है। उसके मन में जरा भी भय और संकोच नहीं है। वह इन्द्रियों के वश में हो गया है और निश्शंक होकर विषय-वासनाओं में लिप्त रहता है। यह विषयों में निश्शंक होकर दग्ध हो रहा है। उसके साथ ही यह निस्संगता का मिथ्याभिमान भी रखता है।

टिप्पणी— ज्ञान के ढोंग का दुष्प्रभाव व्यंजित है।

ग्यांनी सूल गँवाइया, आपण भये करता।
ताथैं संसारी भला, मन मैं रहै डरता॥ २७॥

अहंमन्य ज्ञानी ने अपने मूल स्वरूप एवं गाँठ की बुद्धि —दोनों ही खो दिए हैं। वह अपने आप को कर्त्ता मानने लगा है और इससे वह नितान्त निश्शंक हो गया है। ऐसे ज्ञानी से तो संसारी और अज्ञानी ही अच्छा है, जो कम से कम मर्यादाओं से डरता तो रहता है तथा ऐसे अहंकार का वहन तो नहीं करता।

टिप्पणी - उपर्युक्त दो साखियों में मिथ्याभिमानी तथा अहंमन्य ज्ञानी का वर्णन है। ऐसे ज्ञानी को 'निस्त्रैगुण्यो पथि विचरताम् को विधि को निषेधः' की स्थिति प्राप्त नहीं होती, अपितु उसमें केवल इसका मिथ्या अभिमान जागता है।

(१९) सहज कौ अंग

सहज सहज सब कोउ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ॥ १॥

'सहज', 'सहज' कहकर उसकी बात तो सब करते हैं, पर वास्तव में उस सहज के स्वरूप को कोई पहचानता नहीं है। जो व्यक्ति सहज रूप में ही, स्वभावतः ही, विषयों की आसक्ति छोड़ देता है, वही वास्तव में 'सहज' अवस्था को प्राप्त होता है। 'सहज' शब्द से अभिहित उस निर्गुण परमतत्त्व का साक्षात्कार करता हुआ वह 'सहज समाधि' की अवस्था में स्थित रहता है।

टिप्पणी — 'पुनरुक्ति' तथा 'यमक' अलंकार। 'सहज' के लिए परिशिष्ट देखें। 'सब कोउ' में सहजयानी बौद्धों, सिद्धों, संतों तथा पंडितों का अन्तर्भाव है।

सहज सहज सब कोउ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
पाँचू राखै परसती, सहज कहोजै सोइ ॥ २ ॥

'सहज'-'सहज' की दुहाई तो सब देते हैं, पर वास्तव में सहज से किसी का परिचय नहीं है। जो साधक अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का आत्म-स्वरूप से स्पर्श करती हुई रखता है, अर्थात् वे उसी के सत्, चित् आनन्द स्वरूप का साक्षात्कार करती रहती है तथा जीव को सहज सुख का अनुभव होता रहता है; वही साधक सहज को समझता है। साधक की यह अवस्था ही वस्तुनः सहज अवस्था है।

दूसरा अर्थ—'परसती' को साधुओं की भाषा के कारण 'अपरसती' मानें तो इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है—जो जीव अपनी पाँचों इन्द्रियों को विषयों से अनासक्त रखता है, वही सहज को पहचानता है।

सहजें सहजें सब गए, सुत बित कांमणि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा रांम ॥ ३ ॥

भक्त का धीरे-धीरे सहज भाव से पुत्र, कलत्र, धन, वासना आदि सभी से सम्बन्ध छूट गया है। अब भक्त कबीर भगवान् राम से एकाकार होते हुए उन्हीं में समा गये हैं। यही वस्तुतः उसका 'सहज' स्वरूप है।

सहज सहज अब कोउ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजें हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ ॥ ४ ॥

'सहज'-'सहज' पुकारते रहने पर भी वस्तुतः सहज का ज्ञान किसी को भी नहीं है। जिन्हें सहज भाव से, स्वाभाविक रूप से जीवन में प्रवृत्त रहने से ही भगवान् का साक्षात्कार होता है; इसी प्रवृत्ति के कारण जिन्हें भगवान् स्वयं वरण कर लेते हैं और जो 'सहज-तत्त्व' या सहज स्थिति में (शून्य में) भगवान् के दर्शन कर लेता है, वही वास्तव में सहज को समझता है। इसी साधक एवं अवस्था दोनों को सहज कहना चाहिए।

टिप्पणी—कर्त्ता, भोक्ता, वैराग्य निवृत्ति, प्रवृत्ति आदि सभी का अहंकार छोड़कर सहज भाव से जीना, यही सहज का स्वरूप यहाँ व्यंजित है। 'सहज' तत्त्व में हरि दर्शन सम्पूर्ण साधना को भक्तिमय करने में सक्षम है।

तुलना कीजिए—

'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।'

(२०) सांच कौ अंग

कबीर पूंजी साइ की, तूं जिनि खोवै ख्वार।
खरी बिगूचनि होइगी, लेखा देती बार ॥ १ ॥

रे मानव, तुम्हें भगवान् की तरफ से मानव-शरीर एवं बुद्धि की जो सम्पत्ति मिली है, उसको विषय-वासनाओं में नष्ट मत कर। ईश्वर-प्राप्ति में ही उस शक्ति को लगा। नहीं तो, भगवान् को हिसाब देते समय तुम्हें बहुत अधिक उलझन का सामना करना पड़ेगा। तुम्हारी छीछालेदर एवं भर्त्सना होगी।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

लेखा देणां सोहरा, जे दिल सांचा होइ।
उस चंगे दीवाँन में, पला न पकड़ै कोइ॥ २॥

अगर मनुष्य का मन सच्चा है तो हिसाब देना अत्यन्त सुगम है। जिसने सच्चाई के साथ जीवन व्यतीत किया है और सबका लेना देन साफ रखा है; उसका भगवान् के निर्मल एवं खुले दरबार में कोई भी पल्ला नहीं पकड़ सकता है; अर्थात् उस पर लेन-देन सम्बन्धी कोई किसी प्रकार का आरोप नहीं लगा सकता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

कबीर चित्त चमंकिया, किया पयाना दूरि।
काइथि कागद काढिया, तब दरिगह लेखा पूरि॥ ३॥

कबीर कहते हैं कि उसका हृदय सच्चा है, उसके हृदय में जीवन की सच्चाई चमत्कृत हो गई है वह आत्म-विश्वास एवं उल्लास के साथ ही दूर परलोक की यात्रा कर रहा है। वहाँ पर जब चित्रगुप्त कर्मों का लेखा-जोखा निकालेगा तब वह लेखा सही ही मिलेगा। वह पाप-मुक्त ही निकलेगा। अथवा कबीर कहते हैं कि जीव ने दूर परलोक की यात्रा की और वहाँ पर चौंक गया। चित्रगुप्त ने उसके कर्मों का लेखा-जोखा निकाला। उस लेखे से सारा दरबार भर गया।

टिप्पणी—प्रथम अर्थ में 'कबीर' के ब्याज से सच्चे जीव की परलोक यात्रा के अवसर पर पर उठने वाली भावनाओं का चित्रण है।

काइथि कागद काढिया, तब लेखैं वार न पार।
जब लग सांस सरीर मैं, तब लग राम संभार॥ ४॥

रे विषयी मानव, जब चित्रगुप्त तुम्हारे कर्मों का लेखा-जोखा निकालेगा तो तुम्हारे असत्कर्मों की कोई सीमा ही नहीं दिखाई देगी। अतः जब तक तुम्हारे शरीर में श्वास है तब तक भगवान् का स्मरण ही कर ताकि असत्कर्मों का यहीं नाश हो जाय।

टिप्पणी—उपर्युक्त साखियों में हिन्दू एवं मुसलमानों की परलोक-सम्बन्धी धारणाओं का मिश्रण है।

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज।
साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज॥ ५॥

रे काजी, यह पाँच बार की नमाज पढ़नी केवल झूठी वन्दना है। इस नमाज में प्रतिपादित उस मूल-अद्वैत तत्त्व को तो समझते नहीं हो; तुम्हारी आस्था तो भेद-भाव में है। अतः अभेद अद्वैत एवं सत् तत्त्व में निष्ठा से रहित झूठी नमाज पढ़कर भी तुम हृदय की सच्चाई की हत्या ही करते हो; अथवा सच्चे जीव की जिव्ह करते हो यह तुम अपनी ही हानि कर रहे हो। इससे तुम सत्यतत्त्व को नहीं प्राप्त कर सकते।

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं साचा होइ॥ ६॥

कबीर कहते हैं कि जब काजी ने अपनी जीभ के स्वाद से वशीभूत होकर जीव की हत्या की, तब तो उसे अद्वैत का ज्ञान नहीं था; मरने वाले को अपने से भिन्न मानता था। उस समय तो उसके लिए दो तत्त्व या ब्रह्म थे—एक काजी का अपना तथा दूसरा उस मारे जाने वाले जीव का। पर मस्जिद पर ऊँचे चढ़कर उसने केवल वचनों से एकमात्र ईश्वर की सत्ता की ही घोषणा की। ऐसा काजी परलोक में खुदा के समक्ष सच्चा कैसे माना जायगा ?

काजी मुलां भ्रंमियां, चल्या दुनीं कै साथि।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि॥ ७॥

जब काजी और मौलवी ने जीव-हत्या के लिए अपने हाथ में छुरी पकड़ी, उसी समय से वे भ्रमित होकर धर्म के मार्ग से भटक गए हैं और दुनियाँ के साथ चलने लगे हैं। उन्होंने उसी समय से अपने धर्म को हृदय से भुला ही दिया है।

जोरी करि जिबहै करैं, कहते हैं ज हलाल।
जब दफतर देखैगा दई, तब ह्वैगा कौंण हवाल॥ ८॥

काजी जीव को जबरदस्ती पकड़कर उसकी इच्छा के विरुद्ध हत्या करता है और उसे हलाल (धर्मानुकूल बलि) मानता है। लेकिन जब भगवान् या विधाता उसके कर्मों का लेखा देखेगा, तब उस काजी की क्या दशा होगी ?

जोरी कीयां जुलम है, मांगै न्याब खुदाइ।
खालिक दरि खूनो खड़ा, मार मुहे मुंहि खाइ॥ ९॥

स्वाद के वशीभूत मानव ने जीवन में जबरन बहुत प्रबल अत्याचार किए हैं पर खुदा का न्याय चाहता है अथवा वह भगवान् के सामने न्याय की कामना करता है और क्षमा की आशा करता है। यह सृष्टिकर्त्ता के समक्ष खड़ा हुआ खूनी तो मुँह ही मुँह पर मार खाता है।

सांई सेती चोरियां, चोरा सेती गुझ।
जाणैंगा रे जीवड़ा, मार पड़ैगी तुझ॥ १०॥

रे जीव, तू मालिक से तो छिपाव करता है, उससे दूर रहता है और जो काम, क्रोधादिक जीवन के सत्य तथा ईश्वर-प्रेम के चोर हैं, उनके गठबन्धन रखता है। पर इस व्यवहार की असलियत तब समझेगा, जब इसके कारण तुझ पर ईश्वर के दरबार में मार पड़ेगी।

सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जिनकौ दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहा खुदाइ ॥ ११ ॥

रे शेख, तू सन्तोषी वृत्ति से तो वंचित है (क्योंकि अब भी विषयों में फँसा है) फिर तेरे कावे और मक्का जाने से क्या लाभ है? जिनका हृदय ही विकृत है, जिनके हृदय में भगवान् की निष्ठा ही अखण्ड नहीं है, उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार कैसे हो सकता है।

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

खूब खांड (खाण) है खीचड़ी, माँहि पड्यौ टुक लूँण।
पेड़ा (हेड़ा) रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण ॥ १२ ॥

थोड़े-से नमक से युक्त खीचड़ी अत्यन्त मधुर भोजन है। उससे तृप्ति प्राप्त करना, सन्तोष, त्याग एवं अपरिग्रह की भावना का द्योतक है, इससे वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है। अतः पेड़ा और रोटी को अथवा मांस रोटी या हेड़े (खुले) निमंत्रण) में अच्छे भोजन जो भोग-लिप्सा, परिग्रह एवं हिंसा का परिचायक है, खाकर भोग परिग्रह एवं हिंसा को वासना पुष्टि करके कौन बुद्धिमान अपना गला कटायेगा अर्थात् अन्ततः नष्ट होगा।

टिप्पणी—भोग-लिप्सा परिग्रह एवं हिंसा सभी बन्धन के हेतु हैं। सहज अपरिग्रह, वैराग्य एवं अहिंसा का जीवन ही जीवन है।

पापी पेजा बैसि करि, भषै मांस मद दोइ।
तिनकी देष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ ॥ १३ ॥

पापी व्यक्ति उपासना में बैठकर भी मांस और मदिरा का सेवन करता है। ऐसे व्यक्तियों को देखने से ही मुक्ति से वंचित रहना पड़ता है। उनका दर्शन ही अनेक बार नरक का फल देता है अथवा उनकी अन्तिम गति मुक्ति नहीं है। उन्हें करोड़ों नरकों का फल भोगना पड़ेगा।

टिप्पणी—पंच मकार में मुक्ति मानने वालों तथा तामसिक उपासकों पर व्यंग्य है 'तिनकी दस्या' पाठ भी है, ऊपर उसके अर्थ का अन्तर्भाव कर दिया जाता है।

सकल बरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि।
हरि दासनि की भ्रांति करि केवल जमपुरि जांहि ॥ १४ ॥

सब जातियों के व्यक्ति एक स्थान पर एकत्र होकर शक्ति की पूजा के

आवरण में मांस भक्षण करते हैं। पर भगवान् के भक्तों से जाति-पाँति के आधार पर घृणा करते हैं? अथवा हरि-भक्त होने का भ्रम पैदा करते हैं। ऐसे व्यक्ति निश्चय ही यमपुर जाते हैं।

टिप्पणी—शाक्त लोगों की तथा जाति-पाँति एवं ऊँच-नीच की भावना एवं मिथ्या अहंकार वालों की भर्त्सना।

कबीर लज्जा लोक की, सुमरै नाँहीं साच।
जाणि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़ै काच॥ १५॥

कबीर कहते हैं कि जो लोक-परम्परा एवं रूढ़ियों के संस्कारों के कारण सत्य वस्तु को ग्रहण कहीं करता है और उन रूढ़ियों में ही फँसा रहता है, वह उसी व्यक्ति के समान है जो जान-बूझकर सोना तो छोड़ देती है और कांच के टुकड़े को कस कर कर पकड़ लेता है। अथवा ईश्वर-प्रेम रूपी कंचन छोड़कर मिथ्या चमक वाली रूढ़ियों रूपी कांच के टुकड़े को पकड़े रहता है।

टिप्पणी—निदर्शना या रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

कबीर जिनि जिनि जांणियां, करता केवल सार।
सो प्राँणी काहै चलै, झूठे जग की लार॥ १६॥

पर जिन-जिन को यह ज्ञान हो गया है कि भगवान् ही मूल तत्त्व है, वे व्यक्ति इस मिथ्या संसार के पीछे-पीछे कैसे चल सकते हैं? अर्थात् इस संसार की विषय-वासनाओं एवं तथाकथित धर्म एवं रूढ़ियों की उपासनाओं में वे कैसे फँस सकते हैं?

झूठे कौं झूठा मिलै, दूणां बधै सनेह।
झूठे कूं साचा मिलै, तब ही तूटै नेह॥ १७॥

मिथ्या संसार में सत्य की निष्ठा रखने वाला व्यक्ति भी झूठा ही होता है। ऐसे झूठे व्यक्ति का जब ऐसे ही दूसरे झूठे व्यक्ति से मेल होता है तो उसमें संसार के प्रति मोह दृढ़ होता है। पर ऐसे व्यक्ति की जब जगत् के मिथ्यात्व एवं ब्रह्म के सत्यत्व में निष्ठा वाला सन्त मिलता है, तभी संसार के प्रति उसकी आसक्ति नष्ट होती है।

(२१) भ्रम बिधौंसण कौ अंग

पांहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार।
इही भरोसै जे रहे, ते बूडे काली धार॥ १॥

जो पत्थर की मूर्ति को ही सृष्टिकर्त्ता मानकर पूजता है, और इस बुत-परस्ती के बल पर अपने उद्धार की आशा करता है, वह संसार-समुद्र की गहरी भयानक धार में डूब जाता है।

टिप्पणी—पत्थर के संसर्ग एवं डूबने के पारस्परिक सम्बन्ध से अच्छी व्यंजना

है। यह 'बुतपरस्ती' का परिणाम है, मूर्ति-पूजा का नहीं। कवि ने यद्यपि इस सूक्ष्म अन्तर को ध्यान में नहीं रखा है।

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट।
पांहनि बोई पृथमीं, पंडित पाड़ी बाट ॥ २ ॥

बुतपरस्त या पंडित का यह संसार काजल की कोठरी है और उसके कर्म-रूपी स्याही के किवाड़ लगे हुए हैं। उसने चारों ओर पृथ्वी को पाषाण मूर्तियों से बो सा रखा है। इस प्रकार पंडित संसार पर डाका डाल रहा है।

पांहन कूँ का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आँधा नर आसामुषी, यौंही खोवै आब ॥ ३ ॥

पत्थर की पूजा करने से क्या लाभ है? यह पत्थर जन्म भर पूजने पर भी कभी किसी को कुछ कहता नहीं है। भक्त की प्रार्थना पर उत्तर नहीं दे पाता है। पर मानव आशाओं में फँसा हुआ अन्धा हो गया है और इसी से व्यर्थ ही मूर्ति-पूजा में अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति गँवा रहा है।

हम भी पांहन पूजते, होते रन के रोझ।
सतगुरु की कृपा भई, डार्‌या सिर थैं बोझ ॥ ४ ॥

कबीर कहते हैं कि हम पर सतगुरु की कृपा हो गई है। इससे हमने अन्ध-विश्वासों के बोझ को अपने सिर से पटक दिया है अन्यथा हम भी उनमें फँसे हुए पत्थर की पूजा करते और जलहीन सूखे जंगल की नीलगाय की तरह उभय-भ्रष्ट एवं अनुपयोगी होकर भटकते फिरते।

टिप्पणी—रूपक अलङ्कार।

जेती दषौ आत्मा, तेता सालिगरांम।
साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सू कांम ॥ ५ ॥

मैं जितनी आत्माओं अर्थात् जीवों को देखता हूँ, वे सभी मुझे शालग्राम अर्थात् भगवान् ही लगते हैं। साधु ही प्रत्यक्ष देव है। वही पूजनीय है। इसी में मेरी निष्ठा जमी हुई है। मुझे पत्थर से भी कुछ काम नहीं है।

सेवैं सालिगरांम कूं, मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपिनैं नहीं, दिन दिन अधकी लाइ ॥ ६ ॥

शालग्राम की सेवा करने पर भी जीव के मन की भ्रान्ति दूर नहीं होती, उसको तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो पाता है। स्वप्न में भी संसार के अनुतापों से मुक्त होकर वह शीतलता का अनुभव नहीं कर सकता है। संसार की ज्वाला उसके लिए दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है।

सेवैं सालिगरांम कूं, माया सेती हेत।
वोढ़े काला कापड़ा, नांव धरावैं सेत ॥ ७ ॥

जो शालग्राम की पूजा तो करता है, पर स्नेह माया से रखता है, वह व्यक्ति वासना-रूपी काले कपड़े पहनता है पर अपना नाम श्वेत है; अर्थात् अपने को भक्ति रूपी शुभ्र वस्त्र को धारण करने वाला मानता है। भाव यह है कि माया में आसक्त व्यक्ति की उपासना केवल दम्भ मात्र है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास।
सूवै सैंबल सेविया, यौं जग चल्या निरास ॥ ८ ॥

तत्त्व-ज्ञान एवं सच्ची ईश्वर-भक्ति से रहित जप-तप, तीरथ-व्रत, धर्म, विश्वास आदि मुझे थोथे ही दिखाई पड़ते हैं। इनका आश्रय तोते के द्वारा सेंमर के फूल के सेवन के समान ही निस्सार है। जैसे तोते को सेंमर के फूल में रस की प्राप्ति होती है; वैसे ही संसार को भी तीरथ-व्रत आदि से मुक्ति प्राप्त होने का भ्रम भर रहता है। अन्त में उसे भी तोते की तरह निराश होना ही पड़ता है।

टिप्पणी—'निदर्शना' और 'रूपक' अलंकार।

तीरथ तो सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ।
कबीर मूल निकंदिया, कौंण हलाहल खाइ ॥ ९ ॥

कबीर कहते हैं कि ये तीर्थ सब बेल हैं ओर सम्पूर्ण जगत् पर छाये हुए हैं। पग-पग पर तीर्थ हैं। इनसे धर्म के बाह्याडम्बर एवं दम्भ को प्रश्रय मिलता है। कबीर ने इनकी जड़ ही काट दी है। ये धर्म का दम्भ पैदा करते हैं। इनके इस विष का सेवन कौन करे? और क्यों करे? अथवा कबीर कहते हैं कि इस बाह्याडम्बर ने धर्म और सत्य के मूल को ही काट दिया है। इन बाह्याडम्बरों के विष का पान कौन करे?

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि ॥ १० ॥

कबीर कहते हैं कि मन को मथुरा, हृदय को द्वारिका, और इस शरीर को काशी समझो। इस शरीर का दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र ही वास्तव में देवालय है। जीव वहीं पर परम ज्योति को पहचान ओर उसी की उपासना कर।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। बाह्याचार-प्रधान तीर्थ यात्रा के स्थान पर कबीर आभ्यन्तर उपासना का महत्त्व प्रतिपादित कर रहे हैं।

कबीर दुनियां देहुरैं, शीश नवांण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यौ लाइ ॥ ११ ॥

कबीर कहते हैं कि यह अज्ञानी संसार बाहरी देवालयों में भगवान् के समक्ष नतमस्तक होने जाता है। कबीर अपने आपको सम्बोधित करते हैं; "रे साधक, तू अपने अन्तःकरण में विराजमान भगवान् से अपनी लौ लगा ले और उसी के ध्यान में मग्न हो जा।"

टिप्पणी—व्यतिरेक की ध्वनि।

(२२) भेष कौ अंग

कर सेती माला जपै, हिरदै बहे डंडूल।
पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल॥ १॥

जो व्यक्ति हाथ से तो माला जपता रहता है, पर जिसके मन में वासनाओं का अँधड़ चलता रहता है; उस व्यक्ति का उद्धार नहीं हो सकता है। वह उसी व्यक्ति के समान है जिसके पैर बर्फ में गल रहे हैं; और पीर शुरू हो गई है। अथवा संसार से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति जप प्रारम्भ करता है, पर वासना की उत्कटता के कारण वहीं फँसा रह जाता है।

टिप्पणी—'निदर्शना' और 'रूपक' अलंकार।

दूसरी पंक्ति के और अर्थ भी हो सकते है—तीर्थयात्रा में पैर बर्फ में गलते रहते हैं तथा ठण्ड से पीड़ा होने लगती है। अर्थात् ये बाह्याडम्बर भौतिक दृष्टि से कष्टदायक और आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हैं।

कर पकर अंगुरी गिनैं, मन धावै चहुँ ओर।
जाहि फिरांयां हरि मिलै, सो भया काठ कठोर (की ठोर)॥ २॥

माला को हाथ तो पकड़े रहता है और अँगुली उसके मनके गिनती रहती है। पर मन उस जप में नहीं लगता और चारों ओर भटकता रहता है। जिस मन को संसार से हटाकर ईश्वरोन्मुख करने से भगवान की प्राप्ति होती है, वही मन अब काठ के मनके के समान जड़ हो गया है अथवा वह मन कठोर काठ बन गया है जिसमें नाम-स्मरण की सरसता नहीं व्यापती और जो भगवान् की ओर मुड़ता नहीं है। जैसे काठ के मनके में जाप की सरसता नहीं व्यापती और वह केवल हाथ में घूमता रहता है; वैसे ही इस बाहरी जाप से मन भक्ति से सरस नहीं होता, अपितु सासांरिक वासनाओं में ही चक्कर काटता रहता हैं।

माला पहरैं मनमुषी, तार्थं कछू न होइ।
मन माला कौं फेरताँ, जग उजियारा सोइ॥ ३॥

व्यक्ति मन की वासनाओं की ओर उन्मुख रहकर माला पहनता है, उससे कुछ भी लाभ नहीं है। मन रूपी माला को फेरने से ही, उसे संसार से विमुख करने से ही व्यक्ति को परमतत्त्व का प्रकाश मिलता है। पर व्यक्ति मन का स्थान माला को देकर उसे ही घुमाता है; मन को नहीं।

माला पहिरै मनमुषी, बहुतैं फिरैं सचेत।
गाँगी रौलै बहि गया, हरि सूं नाँहीं हेत ॥ ४ ॥

माला पहनकर मन के आदेशों पर चलने वाला दम्भी भक्त बहुत ही मदहोश हुआ फिरता है। गंगा स्नान करके आने वाला गांगी जय-जयकार के हल्ले-गुल्ले में ही बह गया है। पर इसमें उसमें भगवान् या गंगा के प्रति सच्चा स्नेह नहीं जाग सका है।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार।

कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणाँ, कहा फिरावै मोहि ॥ ५ ॥

कबीर कहते हैं—"रे मानव, तुझे काठ की माला भी चेतावनी दे रही है।" वह कहती है कि तू मन को तो संसार से फिराता नहीं है जिससे कल्याण हो सके, मुझे (माला के मनके) फिराने से क्या होता है?

टिप्पणी—मानवीकरण।

कबीर माला मन की, औंर सँसारी भेष।
माला पहर्‍याँ हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देष ॥ ६ ॥

कबीर कहते हैं कि वेशधारी साधु मनभर की माला पहनते हैं। पर उनका वास्तविक स्वरूप संसारी और विषयी का ही है। अगर माला पहनने से ही भगवान् की प्राप्ति हो जाय तब तो अरहट को होनी चाहिए। उसका गला घड़ों की माला से भरा ही रहता है।

टिप्पणी—'अर्थान्तरन्यास' अलंकार।

पहली पंक्ति का दूसरा अर्थ—माला तो वास्तव में मन की है। उसे फिराओ शेष तो माला आदि का धारण करना केवल संसारी वेष मात्र है।

माला पहर्‍या कुछ नहीं, रुल्य मूवा इहि भारि।
बाहरि ढोल्या हींगलू, भीतरि भरी भँगारि ॥ ७ ॥

माला पहनने से कुछ भी लाभ नहीं है। उसके अहंकार के भार में खोकर ही व्यक्ति नष्ट हो जाता है। भक्तिहीन एवं वासनामय व्यक्ति का यह बाहरी वेश उसी बहुरूपिये के समान है जिसने अपने बाहरी शरीर पर हींगलू का लाल रंग पोत रखा है, अथवा बाहर तो सुन्दर पलंग की सेज बिछी हुई है पर अन्दर भंगार भरी हुई है अर्थात् जिसके अन्तस्तल में वासनाओं का कूड़ा कर्कट भरा हुआ है।

टिप्पणी—'निदर्शना' अलंकार।

माला पहर्‍या कुछ नहीं, काती मन कै साथि।
जब लग हरि प्रगटै नहीं, तब लग पड़ता हाथि ॥ ८ ॥

अगर मन रागद्वेष की कैंची चलाता रहे तो साधु वेश धारण करने के लिए माला पहनना व्यर्थ है। जब तक भगवान् अन्तःकरण में प्रकट नहीं होते अर्थात् सच्ची भक्ति तथा जीवन की पवित्रता नहीं जागती तब तक मनुष्य पर माया के हाथ पड़ते रहते हैं अर्थात् वह माया के वश में रहता है अथवा तब तक मनुष्य को यातना ही भोगनी पड़ती है।

टिप्पणी—पाठान्तर—'तब लगि पतड़ा हाथि' इसका अर्थ है, उस समय तक पत्रा हाथ में रहता है अर्थात् उसे धर्म ग्रन्थ पढ़ने पड़ते हैं।

इस पाठ से मूल पाठ अर्थ की दृष्टि से अधिक समीचीन है।

माला पहर्यां कुछ नहीं, गांठि हिरदा की खोइ।
हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ॥ ९॥

रे मानव, माला पहनने से कुछ भी लाभ नहीं है। अपने हृदय की कुटिलता तथा संदेहों की गाँठ दूर करो। अगर भगवान् के चरणों में चित्त को लगा दोगे तो संसार ही स्वर्ग बन जायेगा।

माला पहर्यां कुछ नहीं, भगति न आई हाथि।
माथौ मूंछ मुँडाइ करि, चल्या जगत कै साथि॥ १०॥

अगर भक्ति-भावना नहीं जागी तो माला पहनना व्यर्थ ही रहा। भक्ति सिर और मूँछों का मुण्डन कराकर अर्थात् संन्यासी का वेश धारण करके भी भक्ति के अभाव में जगत् के साथ चलता रहता है। भाव यह है कि वह भी विषयी संसार की तरह ही लोक-व्यवहार करता है।

सांईं सेंती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ।
भावै लंबे केस करि, भावै घुरड़ि मुंड़ाइ॥ ११॥

भगवान् के प्रति सच्चे रहो। उनसे सच्ची प्रीति तथा जगत् से केवल सामान्य सहज व्यवहार रखो, अथवा दूसरों के साथ भी शुद्ध भाव से व्यवहार करो; फिर उसके बाद चाहे जो वेश धारण करो। चाहे लम्बे बाल रखो, चाहे उस्तरे से पूरा मुण्डन ही करा लो।

केसौं कहा बिगाड़िया, जो मूंडै सौ बार।
मन कौं काहे न मूंड़िए जामैं विषै बिकार॥ १२॥

कबीर कहते हैं कि इन बालों ने क्या बिगाड़ा है कि इनको सैकड़ों बार मुंड़ाते हो। इस मन को क्यों नहीं मुंड़ाते हो जिसमें अनेक विषय-वासनायें एवं उनके विकार भरे पड़े हैं; अर्थात् इन वासनाओं को मूल से काटकर मन को स्वच्छ क्यों नहीं करते हो? मन ही मूँड़ने लायक है।

सद्गुरु परिचय के अभाव में जीव का आन्तरिक रूप अलक्षित ही रहता है अर्थात् उसे तत्त्व ज्ञान नहीं होता।

मन मैवासी मूंड़ि ले, केसौं मूंडे कांइ।
जे कुछ किया सु मन किया, केसौं कीया नांहि ॥ १३ ॥

रे साधक, इस शरीर रूपी दुर्ग के अधिपति एवं अहंकारी इस मन के अहंकार को दूर कर, इनकी शक्ति छीन ले; ताकि शरीर-रूपी इस दुर्ग पर अधिकार हो सके। इन बालों को मूँड़ने से क्या होता है ? इन्हें क्यों मूँड़ता है । इन बालों ने मनुष्य का क्या बिगाड़ा है ? जीव को सांसारिक वासनाओं में भटकाने वाला तो मन ही है।

टिप्पणी—मानवीकरण । 'मूँड़ना' का अभिधा और लक्षणा दोनों में प्रयोग है । 'मैवासी' में दुर्गपति और अहंकारी दोनों अर्थ एक साथ ही व्यक्त हैं । 'परिकर' अलंकार तथा 'रूपक' को ध्वनि है ।

पाठान्तर—'मन मस वासी मूंडलें का अर्थ है' मास कल्प करने वाले मानव, तू अपने मन को वासनाओं से रहित कर' ।

मूंड मूंडावत दिन गए, अजहूं न मिलिया राम।
रांम नांम कहु क्या करै, जे मन के औरै काम ॥ १४ ॥

रे साधक, संन्यासी वेश बनाए रखने के लिए सिर मुँड़ाते हुए पता नहीं तुम्हारा कितना समय बीत गया है । पर अभी तुम्हें भगवान् राम के दर्शन नहीं हुए। तुम्हारा मन जब अन्य सांसारिक कार्यों में तल्लीन है तो फिर तुम ही बताओ, राम-नाम का स्नेह-शून्य-स्मरण क्या कर सकता है ? अथवा दूसरी जगह लगे हुए मन से रामनाम स्मरण हो ही सकता है ?

स्वांग पहरि सोरहा भया, खाया पींया षूंदि।
जिहि सेरी साधू नीकले, सो तौ मेल्ही मूंदि ॥ १५ ॥

रे वेशधारी साधु, तुम रंग-बिरंगी वेष-भूषा बनाकर अपने आपको निश्चिन्त एवं सुरक्षित समझने लगे हो । तुमने ठूँस-ठूँस कर खाया-पीया है । इस प्रकार आचरण के जिन मार्गों पर साधु चलता है, वे सब मार्ग तुमने अपने लिए बन्द कर लिए हैं ।

टिप्पणी—'सोहरा' पाठ का अर्थ होगा—प्रसिद्ध या आराम की जिन्दगी वाले हो गये हो । 'सोहरा' पाठ अस्पष्ट है । 'सोहदा' पाठान्तर भी है । यह अधिक ठीक है । इसका अर्थ होगा विषय-लोलुप ।

बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नहीं बबेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥ १६ ॥

रे साधु वैष्णव मत में दीक्षित होने मात्र से क्या हुआ ? तुम्हारे में सच्चा ज्ञान तो जाग नहीं सका । तुम छापा-तिलक भर लगाते रहे और इस प्रकार अनेक

लोगों को ठगते रहे या अनेक जन्मों और लोकों में विषय की ज्वाला में ही जलते रहे।

तन कौ जोगी सब करैं, मन कों बिरला कोइ।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होइ।। १७।।

शरीर पर योगियों की सी वेश-भूषा तो चाहे जो धारण कर लेता है। पर सच्चे वैराग्य के द्वारा मन को कोई बिरला ही योगी बना पाता है। जिसका मन सच्चे योग को धारण कर लेता है, उसे सब प्रकार की सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। अथवा 'सहज' साधना से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

टिप्पणी—'संभावना' अलंकार।

कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबहीं मांहि अलेष।। १८।।

सभी साधुओं, योगियों और सामान्य मानवों का रूप मूलतः एक ही है, पर इसको विभिन्न वेशों ने आवृत्त कर रखा है, उनमें भेद-बुद्धि बनाए हुए हैं। अगर इन विभिन्न रूपों एवं बाह्याचरणों की भेद उत्पन्न करने वाली भ्रान्ति से व्यक्ति मुक्त हो सके तो उसे सर्वत्र ही सभी वेशों में उसी अलक्ष्य और अलेख रूप भगवान् के ही दर्शन होते हैं। सभी वेशों से भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है।

भरम न भागा जीव का, अनंतहि धरिया भेष।
सतगुरु परचै बाहिरा, अंतरि रह्या अलेष।। १९।।

जीव ने जोगी, सन्यासी आदि के अनेक वेश धारण किए, पर उसका भ्रम और अज्ञान दूर नहीं हुआ।

जगत जहंदम राचिया, झूठे कुल की लाज।
तन बिनसें कुल बिनसिहै, गह्यौ न रांम जिहाज।। २०।।

झूठे कुल की आन तथा मर्यादा की रक्षा की भावना एवं उसके मिथ्या दम्भ में बँधा हुआ व्यक्ति जगत् के नरक अथवा दलदल में अनुरक्त होकर फँस गया है। जीव, तुमने इस संसार के नरक एवं दलदल से निकलने के लिए भगवान् रूपी जहाज का सहारा नहीं लिया है; अतः जिस शरीर और कुल के अहंकार में तू भगवान् को भूल गया है, वह शरीर भी नष्ट हो जायेगा और यह कुल भी।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

पष लै बूडी पृथमीं झूठे कुल की लार।
अलष बिसार्‌यौ भेष में, बूड़े काली धार।। २१।।

यह संसार विभिन्न पंथों और वादों का पक्ष लेकर झूठी एवं नाशवान परम्पराओं के पीछे नष्ट हो रहा है। मानव ने वेश के मोह और अहंकार में उस परमब्रह्म को ही भुला दिया है। फलतः उसका सर्वनाश होगा।

टिप्पणी—'काली धार डूबना'—सर्वनाश के लिये मुहावरे का प्रयोग है। वैतरणी में डूबना' अभिधेय अर्थ है।

चतुराइ हरि नां मिलै, ए बातां की बात।
एक निसप्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ ॥ २२ ॥

यही सार तत्त्व की बात है कि भगवान् चतुरता, पाण्डित्य और चालाकी से नहीं मिलते। अथवा चतुराई से भगवान् मिलते हैं यह तो केवल बात ही बात है। भगवान् तो उस भक्त के ग्राहक हैं और उसी को अपनाते हैं जो निस्पृह, निष्काम और निराश्रय है; जिसमें ज्ञान, योग, साधना या भक्ति के आश्रय का अहंकार भी नहीं जागता।

नवसत साजे कांमनी, तन मन रही सँजोइ।
पीव कै मनि भावै नहीं, पटम कीयें क्या होइ ॥ २३ ॥

कामिनी ने सोलह शृंगार कर लिए हैं। उसने अपने शरीर और मन को आकर्षक आभूषण एवं हेला आदि विभिन्न प्रसाधनों से सजा लिया है। पर जब वह पति को प्रिय नहीं है तो बालों की पट्टी पाड़ने अर्थात् विभिन्न प्रकार के शृंगार करने से क्या लाभ है ?

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार। विभिन्न साधनाओं द्वारा जीवात्मा रूपी नारी के पति-परमेश्वर को रिझाने के प्रयास की तथा अनुग्रह से ही राम मिलने की व्यंजना है।

जब लग पीव परचा नहीं, कन्यां कँवारी जांणि।
हाथलेवा हौंसै लिया, मुसकल पड़ी पिछांणि ॥ २४ ॥

जब तक पति से परिचय और प्रेम नहीं हुआ है, तब तक सभी कुमारी कन्या ही हैं। अत्यन्त उल्लास और विश्वास के साथ पाणिग्रहण तो हो गया, पर पति को पहचानने अर्थात् उसके साथ प्रणय में ऐसी स्त्री को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

टिप्पणी—अन्योक्ति अलंकार। मानव साधक तो बन गया, पर इस बाह्याचरण की साधना द्वारा भगवान् से प्रेम करने में कठिनाई प्रतीत हो रही है।

कबीर हरि की भगति का, मन मैं षरा उल्हास।
मैंवासा भाजै नहीं, हूंण मतै निज दास ॥ २५ ॥

कबीर कहते हैं कि तुम्हारे मन में भगवान् का भक्त बनने का उल्लास तो सच्चा ही है (अर्थात् नहीं है, केवल उसका अहंकार है) पर यह मन का अहंभाव तो जाता नहीं है और तुम भगवान् का दास बनने की सोचते हो।

टिप्पणी—विपरीत लक्षणा। 'मतै' की जगह 'चहै' पाठ भी है।

मैंवासा मोई किया, दुरजिन काढ़े दूरि।
राज पियारे रांम का, नगर बस्या भरिपूरि ॥ २६ ॥

सच्चे भक्त ने अहंकारी मन में भक्ति की चिकनाई एवं मिठास मिलाकर उसकी मोई बनाली तथा उसे खा लिया। उसने मन-रूपी अहंकारी दुर्गपति को कुचल कर अपने वश में कर लिया है। अथवा उसने स्वामित्व का अहंकार छोड़ दिया है। वहाँ पर बसने वाली दुर्वासनाओं रूपी दुर्जनों को निकाल कर बाहर कर दिया गया है। अब इस शरीर और अन्त:करण रूपी नगर में भगवान् राम का ही राज्य है। इस शरीर और अन्त:करण में सच्ची भक्ति व्याप्त हो गई है। अब यह नगर सत्कर्मों और सत् वासनाओं रूपी नागरिकों से परिपूर्ण हो गया है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' और 'सांगरूपक' अलंकार।

(२३) कुसंगति कौ अंग

निरमल बूंद अकास की, पड़ि गई भोमि बिकार।
मूल बिनंठा मांनवी, बिन संगति भठछार ॥ १ ॥

जैसे आकाश की निर्मल बूँद पृथ्वी पर पड़कर उसके मैल से मैली हो जाती है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य माया के संसर्ग से जीव रूप में विकृत हो जाता है या वस्तुत: विकृत प्रतीत होता है। मानव अपने मूल तत्त्व (ईश्वर) से छिन्न होकर सत्संगति के अभाव में भट्टे की राख ही है अर्थात् नष्ट ही होता है।

टिप्पणी—रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

मूरष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ।
कदली-सीप-भवंग-मुषी, एक बूंद तिहुँ भाइ ॥ २ ॥

मूर्ख का संसर्ग नहीं रखना चाहिए, लोहा जल में नहीं तैर सकता है। अर्थात् जैसे लोहे का आश्रय लेकर समुद्र पार करने की भावना वाला व्यक्ति डूबता है, वैसे ही मूर्ख के आश्रय से भी जीव संसार-समूह में डूबता ही है। एक ही बूँद के कदली, सीप और सर्प के मुख में जाने से तीन भिन्न परिणाम होते हैं। वह क्रमश: कपूर, मोती और विष में परिणत हो जाती है।

टिप्पणी—दृष्टान्त और क्रमालंकार।

हरिजन सेती रूसणाँ, संसारी सूं हेत।
ते नर कदे नीपजै, ज्यूं कालर का खेत ॥ ३ ॥

जो व्यक्ति भक्तों से रुष्ट रहता है और विषयी व्यक्तियों के साथ स्नेह रखता है, उस व्यक्ति में तत्त्वज्ञान और भक्ति के अंकुर उसी प्रकार नहीं जमते जैसे नमक या खार-प्रधान धरती में कोई वनस्पति नहीं उगती है।

टिप्पणी — उपमा अलंकार।

मारी मरूं कुंग की, केला काँठै बेरि।
वो हालै वो चीरिये, साषिस संग निबेर॥४॥

हे प्रभु, मैं कुसंग के कारण उसी प्रकार अत्यन्त दुःखी हूँ जैसे केला बेर की झाड़ी के पास रहने से होता है। बेर की झाड़ी निर्द्वन्द्व होकर हिलती है और केले के पत्ते उससे चिर जाते हैं। ऐसे ही हरिविमुखों या दुष्टों की निर्द्वन्द्वता से मुझे (अर्थात् भक्त को) कष्ट होता है। अतः हे भगवान्, हरिविमुखों की संगति से मेरा पिंड छुड़ा।

टिप्पणी — निदर्शना अलंकार। 'न हेरि' पाठ भी सार्थक है।

मेर नीसाँणी मीच की, कुसंगति ही काल।
कबीर कहै रे प्राणियाँ, बाँणी ब्रह्म संभाल॥५॥

रे मानव, अहंकार और ममता मृत्यु के द्योतक हैं। कुसंगति का परिणाम विनाश ही है। कबीर कहते हैं, "रे जीव, यही सोचकर सदुपदेशों के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का आश्रय ले और उसका मनन कर।"

टिप्पणी — 'आत्मा' के शुद्ध स्वरूप का तिरोधान अहंकार, ममता एवं माया की कुसंगति से होता है। यही मृत्यु है। अतः कुसंगति स्वयं मृत्यु-रूप है और उसकी हेतु भी है, परमार्थतः आत्मा नहीं मरती और उस दृष्टि से मृत्यु कुछ है भी नहीं। सांसारिक दृष्टि से भी एक शरीर के प्रति अहं एवं ममता का नाश ही मृत्यु है।

माषी गुड में गडि रही, पंष रही लपटाइ।
ताली पीटै सिरि धुनैं, मींठै बोई माइ॥६॥

मक्खी गुड़ में धँस गई है और उसके पंख उसके चेंप से लिपट गये हैं। वह सिर धुनती है और हाथ मलती है; अब उसमें उड़ने की शक्ति नहीं रह गई है। रे सखी, मीठे ने उसे नष्ट कर दिया है।

टिप्पणी—अन्योक्ति अलंकार।

माया से आसक्ति में पड़े हुए जीव का चित्रण है।

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणीं ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरै भर्या, साधूं निंद्या सोइ॥७॥

रे मानव अगर तेरे कार्य तेरी जाति के अनुरूप उच्च नहीं हैं तो तेरा ऊँचे कुल में जन्म लेना किस काम का? अगर स्वर्ण के कलश में मदिरा भरी हुई है तो साधु उस स्वर्ण कलश की भी निंदा करते हैं।

टिप्पणी —'दृष्टान्त' अलंकार।

(२४) संगति कौ अंग

देखा देखी पाकड़े, जाइ अपरचै छूटि।
बिरला कोई ठाहरै, सतगुर सांमीं (साम्हौ) मूठि॥१॥

सच्ची निष्ठा से रहित व्यक्ति जब केवल दूसरों के अनुकरण से ज्ञान-का मार्ग अपनाता है तो उसे वह निभा नहीं पाता है और वह मार्ग उससे अपरिचय और अज्ञानवश अचेतन रूप में ही छूट जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि गुरु के उपदेश की खड्गधार के समक्ष कोई विरला ही टिक पाता है। अथवा सद्गुरु ने खड्ग सम्हाल ली है, अब विरला ही टिकेगा।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार। "ज्ञान को मार्ग कृपान की धारा", "क्षुरस्य धारा निशितो दुरत्यया" से तुलना कीजिए।

देखा देखी भगति है, कदे न चढ़ई रंग।
बिपति पड़्यां यूं छाड़सी, ज्यूँ कांचली भुवंग॥ २॥

जिसकी भक्ति केवल अनुकरण मूलक है, उस पर भक्ति का सच्चा रंग कभी नहीं चढ़ सकता है। विषय-वासना रूपी आपत्ति आने पर वह भक्ति को उसी प्रकार छोड़ देता है, जैसे सर्प अपनी केंचुली को छोड़ देता है।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

करिए तौ करि जांणिये, सारीषा सूं संग।
लीर लीर लोई थई, तऊ न छाड़ै रंग॥ ३॥

अगर संगति करनी है तो अपने समान शील वाले व्यक्ति की संगति के रहस्य का साक्षात्कार करो। ऊनी लोई फट कर चिथड़ा-चिथड़ा हो जाती है, पर उसका रंग नहीं जाता है। वैसे ही सच्ची मित्रता का रंग हृदय से गहरी विपत्ति आने पर भी छूटता नहीं है।

टिप्पणी—निदर्शना अलंकार।

यहु मन दीजे तास गौं, सुठि सेवग भल सोइ।
सिर ऊपरि आरा सहै, तऊ न दूजा होइ॥ ४॥

जो पवित्र एवं सच्चा ईश्वर भक्त है, उसी को अपना मन देना चाहिए अर्थात् उसी से प्रेम करना चाहिए। ऐसा भक्त सिर पर आरा सहने पर भी कभी भक्ति से विचलित नहीं होता अथवा जिसने उसको अपना मन और प्रेम समर्पित किया है, उससे अलग नहीं होता।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

पांहण टांकि न तोलिए, हाडि न कीजै बेह।
माया राता मांनवी तिन सूं किसा सनेह॥ ५॥

टांकी के तोल से पत्थरों को तोलने का दुस्साहस छोड़ दो, विषय कर्मों के बन्धन साधना के क्षीण प्रयासों से समाप्त नहीं होते। हड्डी में छेद करने से क्या लाभ है? वह निस्संदेह है: अज्ञानी भी प्रेमशून्य होता है उसे शब्द या नाम का उपदेश भी

व्यर्थ है। माया में अनुरक्त मनुष्य से कैसा स्नेह ? उसे ईश्वर-स्नेह से स्निग्ध नहीं किया जा सकता है।

टिप्पणी —'दृष्टान्त' और 'अन्योक्ति' अलंकार। अज्ञानी, असहृदय और जड़ व्यक्ति पर ईश्वर-प्रेम एवं शब्द का प्रभाव नहीं पड़ता है।

टांक—मोती तोलने का तोल (करीब-करीब छह आने भर)।

कबीर तासूं प्रीति करि, जो निरबाहै ओड़ि।
बनिता बिबिध न राचिये, देषत लागै षोड़ि॥ ६॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् रूपी उस एक पुरुष से ही जीवात्मा को प्रेम करना चाहिए, क्योंकि वही पुरुष अन्त तक प्रेम का निर्वाह कर सकता है। उस प्रेमी का पक्ष लेकर उस पक्ष को निभा सकना है अथवा विपत्ति पड़ने पर भी प्रेम का निर्वाह करा सकता है। स्त्री-रूप जीवात्मा को अनेक देवताओं रूप पुरुषों में नहीं अनुरक्त होना चाहिए। सती नारी को तो उन्हें देखने अथवा उनका ध्यान करने मात्र से दूषण लग जाता है।

टिप्पणी – 'रूपकातिशयोक्ति'। अनन्य भक्ति अथवा प्रेम की व्यंजना है। "माया के विभिन्न रूप ही अनेक नारियाँ हैं; उनमें आसक्त नहीं होना चाहिए। ईश्वर-भक्त को तो उन नारियों का ध्यान करने अथवा उन्हें देखने मात्र से ही दूषण लगता है।" दूसरी पंक्ति का यह अर्थ भी प्रसंगानुकूल है।

कबीर तन पंषी भया, जहां मन तहां उड़ि जाइ।
जो जैसे संगति करै, सो तैसे फल खाइ॥ ७॥

यह वासनासक्त शरीर तो पक्षी बन गया है। जहाँ इसे इच्छायें ले जाती हैं वहीं चला जाता है अथवा मन के साथ-साथ उड़ता फिरता है। इसी से शरीर को इस जन्म में तथा जन्मान्तर में कष्ट भोगने पड़ते हैं। जो जैसी संगति में रहता है, उसे वैसे ही फल मिलते हैं, चंचल मन के साथ रहने से शरीर की भी यही दुर्गति है।

टिप्पणी—'अर्थान्तरन्यास' और 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

काजल केरी कोठड़ी, तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पैसि र निकसणहार॥ ८॥

यह संसार काजल की कोठरी के समान है। इसमें घुसने वाले को कालिख लग ही जाती है। पर ईश्वर-भक्त की बलिहारी है कि वह इस संसार रूपी काजल की कोठरी में घुस कर वासनाओं की कालिमा से अछूता ही निकल आता है।

टिप्पणी— उपमा और रूपक अलंकार। कर्मभोग के लिए संसार में आना तो अनिवार्य है, पर भक्त उसमें लिप्त नहीं होता। यही व्यंजना है।

(२५) असाध कौ अंग

कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध।
बाहरि दीसै साध गति, माहैं महा असाध॥ १॥

कबीर कहते हैं कि कुछ साधुओं का वेश तो विषयातीत विरक्तों का सा होता है, पर उनके कर्म अपराध पूर्ण रहते हैं। बाहर से तो उनकी साधुओं की सी अवस्था प्रतीत होती है, पर उनका अन्तःकरण महान् असाधु ही है।

उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यूँ माँडै ध्यान।
धीरैं बैठि चपेटसी, यूँ ले बूड़ैं ग्यांन॥ २॥

बाहरी उज्ज्वलता को देखकर साधु पर विश्वास नहीं करना चाहिए। ऐसे साधु बगुले की तरह ध्यान लगाते हैं। जैसे बगुला ध्यान मग्नता का ढोंग रचकर जल के जीवों का भक्षण करता है वैसे ही ये साधु भी शिष्यों से सन्निकटता स्थापित करके उनमें अपनी साधन सम्पन्नता एवं वैराग्य की शुभ्रता का झूठा विश्वास जगाते हुए उनको मिथ्या ज्ञानाभास में डुबा देते हैं या उनके साथ स्वयं भी ज्ञान के अहंकार में डब जाते हैं।

टिप्पणी—उपमा और रूपक अलंकार।

जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जांणि।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊँडै देसी आंणि॥ ३॥

जो लोग जितने ही मीठे बोलते हैं उनको उतना ही साधु मत समझो। पहले ये लोग ज्ञान-समुद्र की थाह दिखाते हैं, गहराई का अन्दाज बता देते हैं। अर्थात् उसके मर्म को समझने का झूठा विश्वास पैदा करते हैं, उसका ढोंग रचते हैं। पर अन्त में कहीं गहरे में डुबो देते हैं; अर्थात् ज्ञानाभास के विचित्र उलझाव में डाल देते हैं।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार। मीठा बनकर बोलने वाला सहज साधु नहीं।

(२६) साध कौ अंग

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बांवना, नींब न कहसी कोइ॥ १॥

कबीर कहते हैं कि साधु की संगति कभी भी निष्फल नहीं जाती है। साधु बाहरी आकार-प्रकार में चाहे कितना ही छोटा प्रतीत होता हो, पर आभ्यन्तर शक्ति के कारण उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती है। जैसे चन्दन का वृक्ष छोटा होने पर भी नीम नहीं कहला सकता है।

टिप्पणी—'निदर्शना' अलंकार।

कबीर संगति साध की, बगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गंवाइसी, देसी सुमति बताइ॥ २॥

कबीर कहते हैं कि साधु की संगति करने में तत्परता दिखानी चाहिए। वह दुर्बुद्धि दूर करेगी और सुमति प्रदान करेगी।

मथुरा जाउ भावै द्वारिका, भावै जाउ जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछु न आवै हाथ॥ ३॥

व्यक्ति मथुरा, द्वारिका, जगन्नाथ आदि में कहीं चला जाय, पर साधु की संगति के बिना उसके कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।

मेरे संगी दोइ जणाँ, एक वैष्णौं एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम॥ ४॥

कबीर कहते हैं कि मेरे वास्तविक साथी केवल दो ही हैं—एक वैष्णव और दूसरा भगवान्। भगवान् तो मुक्ति का दाता है और यह वैष्णव नाम-स्मरण की प्रेरणा देता है।

कबीर बन बन मैं फिरा, कारणि अपणै राँम।
राम सरीखे जन मिले तिन सारे सबरे काँम॥ ५॥

कबीर कहते हैं कि मैं ईश्वर प्राप्ति के लिए वन-वन में अर्थात् अनेक साधनों में भटकता रहा। पर जब मुझे राम-रूप भक्तजनों (भक्त और भगवान् का अभेद होता है अतः वे राम सदृश कहलाते हैं) से साक्षात्कार हुआ तब उन्होंने मेरे सब काम सिद्ध कर दिये।

कबीर सोइ दिन भला, जा दिन संत मिलाँहि।
अंक भरे भरि भेंटिया, पाप सरीरौं जाँहि॥ ६॥

कबीर कहते हैं कि वही दिन अच्छा है जिस दिन संत लोग मिलते हैं। उनसे गले से गले मिलने से शरीर के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं।

कबीर चंदन का बिड़ा, बैढ़्या आक पलास।
आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास॥ ७॥

कबीर कहते हैं कि संत चंदन का वृक्ष है और आक पलास रूपी सांसारिक व्यक्तियों के बीच में उनके द्वारा घिरा हुआ रहता है। उसने अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों रूपी वृक्षों को अपने समान ही सन्त रूपी चंदन बना लिया। उनमें भी वही प्रेम की सुगन्ध हो जाती है।

टिप्पणी—'चंदन में दूसरे वृक्षों को चन्दन बनाने की क्षमता है, वैसे सन्त में दूसरों को सन्त'। सांगरूपक अलंकार से यह वस्तु ध्वनि है।

कबीर खाई कोट की, पाँणी पिवै न कोइ।
जाइ मिलै जब गंग सैं, तब सब गंगोदिक होइ॥ ८॥

कबीर कहते हैं कि दुर्ग के चारों तरफ की खाई का जल अपवित्र माना जाता है, अतः उसको कोई पीता नहीं है। पर वह जल जब गंगा में मिल जाता है तो गंगोदक की पवित्रता प्राप्त कर लेता है। यह सत्संगति का ही प्रभाव है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति'। भगवान् को समर्पित विषय-वासना भी गंगा जल की तरह पवित्र हो जाती है; यही प्रतिपाद्य है।

जांनि बूझि सांचहिं तजैं, करैं झूठ सूँ नेह।
ताकी संगति रामजी, सुपिनें ही जिनि देहु ॥ ९ ॥

जो व्यक्ति जान-बूझकर सत्य को छोड़ देता है और झूठ को अपना लेता है, उसकी संगति भगवान् स्वप्न में भी न दे।

कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तूँ बसै।
नहिं तर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै ॥ १० ॥

हे भगवान् मुझे ऐसे व्यक्ति से मिला दे जिसके हृदय में तू बसा हुआ है; अर्थात् जो निरन्तर तेरा ही ध्यान करता है; अन्यथा मुझे इस लोक से उठा ले। इन संसारी असत् जनों से मिलकर निरन्तर की वेदना को कौन सहता रहे?

केती लहर समंद की, कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की, उलटी माँहि समाइ ॥ ११ ॥

इस चैतन्य के समुद्र में जीवात्मा की अनेक लहरें उठकर अपने मूल स्थान से कहीं-की-कहीं पहुँच जाती हैं अर्थात् अनेक जन्मों में भटक कर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को भूलकर अपने आपको मलीन आदि कुछ से कुछ मान बैठती है। पर इस भक्त की बलिहारी है, जो उलट कर अर्थात् संसार से विमुख होकर अपने स्वरूप में ही पुनः स्थित हो जाता है।

अथवा—सामान्य जन के मन रूपी समुद्र में उठी हुई तृष्णायें कहीं से कहीं पहुँच जाती हैं और उनके साथ व्यक्ति भी भटक जाता है; पर भक्त की बलिहारी है कि उसकी वासनाओं की ये लहरें उलटकर अपने मूल में ही विलीन हो जाती हैं। यही साधु का लक्षण है। 'उलटी साधना' के ज्ञानपरक रूप की ओर संकेत है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

काजल केरी कोठड़ी, काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, जे रहै राँम की ओट ॥ १२ ॥

यह जगत् काजल की कोठरी है; अर्थात् अज्ञान की कालिमा का स्थान है। इसकी स्थिति का संरक्षण भी अज्ञान की चहारदीवारी द्वारा ही सम्भव है। उस भक्त को धन्य है जिसने भगवान् की शरण ले ली है। इसमें उस पर संसार की कालिमा का कोई असर नहीं होता।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

भगति हजारी कापड़ा, तामैं मल न समाइ।
साषित काली कांवली, भावै तहाँ बिछाइ ॥ १३ ॥

भक्ति अत्यन्त स्वच्छ एवं बहुमूल्य कपड़ा है। भक्त उसको संसार की विषय-वासनाओं से मैला नहीं कर सकता है। इसकी इसमें गुंजाइश ही नहीं। उसमें मैल

का धब्बा अलग चमकने लगता है। पर हरिविमुख का व्यवहार तो काला कम्बल है, उसको चाहे जहाँ बिछा लो। उसे चाहे कैसे ही सांसारिक मलों में लिप्त रखो उसमें सब प्रकार के मल समा जाते हैं, क्योंकि वह पहले से ही मलीन है।

टिप्पणी—सांगरूपक और व्यतिरेक अलंकार।

(२७) साध-साषीभूत कौ अंग

निरबैरी निहकांमता, साँई सेती नेह।
विषिया सूँ न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥ १ ॥

अशत्रुता, निष्कामता, ईश्वर-प्रेम, विषयों के प्रति वैराग्य—ये ही सन्तों के लक्षण हैं।

टिप्पणी—परिसंख्या ध्वनित है।

संत न छाड़ै संतई जे कोटिक मिलैं असंत।
चंदन भुवंगा बैढ़िया, तउ सीतलता न तजंत ॥ २ ॥

संत अपने साधु-स्वभाव को नहीं छोड़ता है, चाहे उसे कितने ही असंतों का मुकाबला करना पड़े। चन्दन से अनेक सर्प लिपटे रहते हैं, पर फिर भी वह अपनी शीतलता का परित्याग नहीं करता है।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार।

कबीर हरि का भाँवता, दूरैं थैं दीसंत।
तन षीणाँ मन उनमनाँ, जग रूठड़ा फिरंत ॥ ३ ॥

कबीर कहते हैं कि ईश्वर का प्रिय भक्त दूर से ही पहचाना जा सकता है। यह क्षीणकाय और विरक्त मन होता है। भक्त का मन ऊर्ध्वगति होकर परमेश्वर के मन में तन्मय हो जाता है, इससे वह जगत् से रूठा हुआ, अर्थात् उपरत ही संसार में घूमता रहता है। संसार में रहता हुआ भी संसार के विषयों के प्रति अनासक्त ही रहता है।

टिप्पणी— मूर्ति-विधायक विम्ब-योजना।

कबीर हरि का भाँवता, झीणाँ पंजर तास।
रैंणि न आवै नींदड़ी, अंगि न चढ़ई मांस ॥ ४ ॥

कबीर कहते हैं कि जो भगवान् का प्रिय है उसका शरीर क्षीण ही रहता है। उसे भगवान् के विरह में नींद ही नहीं आती है; अतः उसके शरीर पर मांस नहीं चढ़ता है। मोटापा विषयी पुरुषों का लक्षण है; विषयों की आसक्ति तथा भोग से शरीर मोटा होता है।

टिप्पणी—बिम्ब-योजना।

अणरता सुख सोवणां, रातै नींद न आइ।
ज्यूं जल टूटै मंछली, यूं बेलंत बिहाइ ॥ ५ ॥

जिसके हृदय में प्रेम का अंकुर नहीं जमा है, वह सुखपूर्वक सोता है अर्थात् विषयों का उपभोग करता है। पर जिसे भगवान् से प्रेम हो गया है, उसे विरह के कारण अज्ञान की रात में नींद नहीं आती है। वह विषयों में आनन्द का अनुभव भी नहीं कर पाता है। जल के कम होने पर जैसी विकलता से मछली समय व्यतीत करती है, वैसे ही ईश्वर-प्रेमी भी प्रेम की कमी की आशंका से अपना जीवन संसार से विरक्ति और व्यथापूर्वक ही बिताता है। जैसे मछली जल की ओर टूटती है, वैसे ही भक्त प्रेम और भगवान् की ओर।

टिप्पणी—उपमा और रूपक अलंकार।

जिण कुछ जांण्यां नहीं, तिन्ह सुख नींदणीं बिहाइ।
मैं र अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी बलाइ ॥ ६ ॥

जिन्हें तत्त्व-ज्ञान की तनिक जिज्ञासा भी नहीं हुई, उन्होंने सुखपूर्वक सोकर अर्थात् विषय-वासनाओं में रमकर अपना जीवन बिता दिया। कबीर कहते हैं कि मैंने तो उस अज्ञेय को जानना चाहा और परिणामतः मुझे विरह-व्यथा और वैराग्य का सामना करना पड़ रहा है।

जाण भगत का नित मरण, अणजांणे का राज।
सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज ॥ ७ ॥

ज्ञानी भक्त को हमेशा ही वियोग की व्यथायें भोगनी पड़ती हैं। अज्ञानी को तो आनन्द ही आनन्द है। वह मौका-बेमौका या कर्म-अकर्म तो समझता नहीं है। उसे केवल अपने पेट भरने से ही काम है।

पाठ भेद—'रस अपरस' पाठ भी संगत है। 'सुस्वाद और कुस्वाद' को समझता नहीं है।

जिहि घटि जांण बिनांण है तिहि घटि आवटणां घणा।
बिन षंडै संग्राम है, नित उठि मन सौं झूझणां ॥ ८ ॥

जिस साधक के अन्तःकरण में ज्ञान और विज्ञान का प्रादुर्भाव हो गया है, उसका हृदय ज्ञान और विरह की अग्नि से अत्यधिक खौलता रहता है। उस अर्द्ध प्रबुद्ध ज्ञानी को इस संसार से बिना तलवार के ही युद्ध करना पड़ता है; प्रतिदिन उसे अपने मन से ही जूझना पड़ता है। मन उसे विषयों में प्रवृत्त करना चाहता है और भक्त उधर जाना नहीं चाहता।

रांम बियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्हैं कोइ।
तंबोली के पांन ज्यूं, दिन दिन पीला होइ ॥ ९ ॥

राम का वियोगी व्यथित ही रहता है। उसकी इस व्यथा को कोई पहचानता नहीं है। वह तंबोली के पान की तरह प्रतिदिन पीला पड़ता जाता है। जैसे पान मूल से छिन्न होने के कारण ऊपरी जल की सरसता में हरा नहीं रह सकता, वैसे ही

भक्त भी संसार के विषयों से रस नहीं ग्रहण कर पाता है। वह विषय-रस मूल से विच्छिन्न एवं कृत्रिम है। इससे प्रेम-वियोगी उल्लसित नहीं रह सकता है।

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

पीलक दौड़ी सांइयां, लोग कहै पिंड रोग।
छांनै लंघण नित करै, रांम पियारे जोग॥ १०॥

भगवान के भक्त पर विरह का पीलापन छाया हुआ है; पर संसार यही समझता है कि उसे पीलिये का रोग हो गया है। अपने प्रिय से मिलने के लिए वह छुप कर उपवास करता है। अर्थात् उसने अन्दर ही अन्दर विषयों का रस लेना त्याग दिया है और लोग उसे रुग्ण समझते हैं।

टिप्पणी—अपह्नुति की ध्वनि।

काम मिलावै राम कूँ, जे कोई जाँणै राषि।
कबीर बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलै साषि॥ ११॥

जिसको काम पर उपयुक्त नियन्त्रण करने तथा उसके अनासक्त भोग का ज्ञान है; उसको काम से ही भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। कामसक्ति भी भक्ति का एक प्रकार है। गोपियों की भक्ति इसी प्रकार की थी। इसमें शुकदेव जी साक्षी हैं। अतः इसमें बेचारे कबीर का क्या दोष है? वे किसी अप-सिद्धान्त की बात नहीं कर रहे हैं।

काँमणि अंग बिरकत भया, रत भया हरि नाँइ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि माँहि॥ १२॥

जो लोग कामिनी के अंगों से विरक्त और भगवान् में अनुरक्त हो गए हैं, वे इस कलि-काल में भगवान् का साक्षात्कार किए हुए गोरखनाथ की तरह ही अमर हो गये हैं।

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

जदि बिषै पियारा प्रीति सूं, तब अंतरि हरि नांहि।
जब अंतर हरि जी बसै, तब बिषिया सूं चित नांहि॥ १३॥

जब विषयों के प्रति भक्ति से अधिक प्रेम रहता है, अन्तःकरण में भगवान् के लिए स्थान नहीं होता। पर जब हृदय में भगवान् का निवास हो जाता है, तब विषयों में मन नहीं लगता। स्वरूपानन्द से हटने पर ही विषयों में मन रमता है।

जिहि घट मैं संसौ बसै, तिहि घटि राम न जोइ।
राम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ॥ १४॥

जिस अन्तःकरण में संशय अर्थात् जीव एवं ब्रह्म के अद्वैत अथवा भक्त और भगवान् के ऐक्य में निष्ठा का अभाव या संदेह रहता है, उस अन्तःकरण को

भगवान् राम का वास्तविक साक्षात्कार नहीं हो पाता है। भगवान् राम एवं उनके स्नेही भक्तों के बीच में तृण मात्र का प्रवेश भी सम्भव नहीं है; अतः संशय के लिए भी स्थान नहीं।

टिप्पणी—'अर्थान्तरन्यास' ध्वनित है।

स्वारथ को सब कोउ सगा, जग सगलाही जांणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि ॥ १५ ॥

यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता ही है कि स्वार्थ सब सम्बन्धों का मूल आधार है। पर जो निःस्वार्थ भाव से लोगों का आदर करता है; वह वास्तव में भक्ति के मूल रहस्य को समझता है। उसके हृदय में जन-सामान्य के प्रति सहज एवं स्वाभाविक स्नेह होता है, यही भक्ति का लक्षण है। वह अहेतुकी प्रेम है। जग स्वार्थ से सेवा करता है पर हरि के द्वारा पालन निःस्वार्थ है। यही भगवान के प्रेम या अनुग्रह की पहचान है, यही विशेषता है।

जिहि हिरदै हरि आइया, सो क्यूँ छांनां होइ।
जतन जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ ॥ १६ ॥

जिस अन्तःकरण में भगवान् की भक्ति का प्रवेश हो गया है अथवा जिस हृदय ने भगवान का साक्षात्कार कर लिया है; उसमें तात्त्विक अन्तर हो ही जाता है वह तत्त्वज्ञ भक्त कैसे छिपा रह सकता है? अगर वह यत्नपूर्वक अपने आप को छिपाने की चेष्टा भी करता है तब भी वह प्रकट हो ही जाता है।

फाटै दीदै मैं फिरौं, नजरि न आवै कोइ।
जिहि घटि मेरा सांइयां, सो क्यूँ छांनां होइ ॥ १७ ॥

मैं साक्षात्कृत भक्त के दर्शन के लिए आँखें फाड़ कर घूम रहा हूँ। पर ऐसा मुझे कोई नजर नहीं पड़ रहा है जिसके अन्तःकरण में मेरा भगवान निवास कर रहा है; वह व्यक्ति छिपे कैसे रह सकता है? पर ऐसे व्यक्ति विरले हैं।

सब घटि मेरा सांइयां, सूनीं सेज न कोइ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घटि परगट होइ ॥ १८ ॥

मेरा भगवान् घट-घट में वास कर रहा है। उस प्रियतम से किसी भी जीवात्मरूपी प्रेयसी की शय्या सूनी नहीं है। पर जिन अन्तःकरणों में ये प्रकट होते हैं, जिनकी सेज प्रियतम से सनाथ होती है, अर्थात् जिन्हें अपने अन्तकरण में भगवान् का भान होता रहता है तथा जो जीवात्मायें भगवान् के प्रेम का रसास्वादन करती रहती हैं, सखि, वे ही बड़ी भाग्यशाली हैं।

टिप्पणी—भक्ति ज्ञान एवं रहस्यवाद का समन्वय द्रष्टव्य है।

पावक रूपी राम है, घटि घटि रह्या समाइ।
चित चकमक लागै नहीं, तातै धूंवां ह्वै ह्वै जाइ ॥ १९ ॥

भगवान् अग्नि के समान सर्वव्यापी तत्त्व है। यह प्रत्येक अन्त:करण में समाया हुआ है। पर चित्त रूपी चकमक पत्थर की साधना से रगड़ होती नहीं और ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होकर विषय-वासनाओं का कूड़ा-कर्कट जला नहीं पाती; इसी से गुरु के उपदेश से जाग्रत बौद्धिक ज्ञान एवं यत्किंचित् प्रेम की चिनगारी से विषयों का कूड़ा बार-बार धूम में परिणत होता रहता है। प्रबल प्रेम के बिना विषयों का कूड़ा भस्म नहीं होता।

टिप्पणी—'सांगरूपक' और 'उपमा' अलंकार।

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोइ।
कै जागै बिषई विष भर्‌या, कै दास बंदगी होइ॥ २०॥

कबीर कहते हैं कि सृष्टि के कर्त्ता एवं स्वामी भगवान् जागते रहते हैं, अन्य कोई नहीं। वह तो निरावरण ज्ञान-स्वरूप है, अत: उसकी तो हमेशा जाग्रत अवस्था ही रहती है। यह तो मायातीत अवस्था है। लोक में या तो विषयों के विष से भरा जीव जो सुख-शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता, वह जागता है या वह भक्त जो उपासना में लीन है और भगवान् की प्राप्ति के लिए बेचैन है, वह जागता है।

कबीर चाल्या जाइ था, आगैं मिल्या खुदाइ।
मीरां मुझ सौं यौं कह्या, किनि फुरमाई गाइ॥ २१॥

कबीर कहते हैं कि मैं तो यों ही बेखबरी से जीवन-मार्ग पर चल रहा था। रास्ते में आगे से भगवान् मिल गए। उस महान् ने मुझे आदेश दिया कि तुम अपनी साक्षात्कृत अनुभूति को गाकर प्रकट क्यों नहीं करते? या गुरु ने आदेश दिया कि उसके समक्ष अपनी बात विस्तार से निवेदित क्यों नहीं की?

कबीर कहते हैं कि मैं तो हज और काबे की तीर्थ-यात्रा पर जा रहा था। मुझे रास्ते में खुदा मिल गये। स्वामी मुझसे लड़ पड़े और उन्होंने कहा कि तुम्हें गाय का बलिदान किसने बताया था।

टिप्पणी—'आगैं' से अनुग्रह की व्यंजना है।

(२८) साध महिमा कौ अंग

चंदन की कुटकी भली, नाँ बंबूर की अंवराँऊं।
बैश्नौं की छपरी भली, नाँ साषत का बड गाऊँ॥ १॥

चन्दन के वृक्ष की तो छोटी-सी कुटिया ही अच्छी है, पर बबूल के पेड़ों की अमराई (उपवन) भी अच्छी नहीं। वैष्णव भक्तों की छोटी सी झौंपड़ी भी रहने योग्य है और शाक्तों या हरिविमुखों का बड़ा गाँव भी नहीं।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार। वैष्णव-प्रेम तथा शाक्तों के प्रति जुगुप्सा व्यंजित है।

पुरपाटण सूबस बसै, आनंद ठांयें ठांइ।
रांम सनेही बाहिरा, ऊजंड़ मेरे भाइ॥ २॥

वे नगर और शहर जो सुन्दर ढंग से बसे हुए हैं, जिनमें स्थान स्थान पर आनन्दोत्सव हो रहे हैं, पर जिनमें ईश्वर-भक्तों का अभाव है, मेरी समझ में वास्तव में वे नगर उजड़े हुए स्थान ही हैं।

टिप्पणी—विनोक्ति।

जिहि घरि साध न पूजिये, हरि की सेवा नाहिं।
ते घर मड़हट सारषे, भूत बसै तिन मांहि॥ ३॥

जिन घरों में साधु की पूजा और भगवान् की उपासना नहीं है, वे घर श्मशान के समान हैं। उनमें भूत रहते हैं।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

हैवर गैंवर सघन घन, छत्र धजा फहराइ।
ता सुख थैं भिष्या भली, मूरि सुमिरति दिन जाइ॥ ४॥

श्रेष्ठ घोड़े और हाथियों के झुण्डों की अतुल सम्पत्ति तथा छत्र फहराती हुई ध्वजा से जो सुख प्राप्त होता है उससे तो भिक्षा माँग कर खाना अधिक आनन्ददायक है; क्योंकि उसमें व्यक्ति का दिन भगवान् के नाम-स्मरण में तो व्यतीत होता है।

टिप्पणी—सांसारिक धन-वैभव के अधिकार एवं सुखोपभोग से अहंकार जागता है तथा भीख से विनयशीलता। भक्ति के लिए विनय ही अपेक्षित है। यही व्यंजना है।

हैवर गैंवर सघन घन, छत्रपति की नारि।
तास पटंतर ना तुलै, हरिजनि की पनिहारि॥ ५॥

किसी के पास उत्तम घोड़े और उत्तम हाथी भरपूर संख्या में हैं। वह छत्रपति राजा की रानी भी है। उसके साथ भी भक्त की पनिहारी की तुलना नहीं की जा सकती है क्योंकि वह निरन्तर भक्तों की सेवा में रत रहती है।

टिप्पणी—'सुघर घर' पाठ भी है। अर्थ स्पष्ट है। 'हे गैवर' पाठ का अर्थ है घोड़ा हाथी तथा उत्तम हाथी।

क्यूं नृप नारी नींदये, क्यूं पनिहारी कौ मान।
वा माँग संवारै पीव कौं, वानित उठि सुमिरै रांम॥ ६॥

राजा की स्त्री की निन्दा क्यों होती है? और भक्ति की पनिहारी का सम्मान क्यों है? उत्तर है—प्रथम अपने सांसारिक पति के लिए शृंगार करती है, और दूसरी नित्यप्रति राम का स्मरण करती है और भक्तों की सेवा में संलग्न है।

टिप्पणी—प्रश्नोत्तर शैली है। 'उत्तर' अलंकार।

कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनौं पूत।
राम सुमरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत ॥ ७ ॥

कबीर कहते हैं कि वही सुन्दर स्त्री वास्तव में धन्य है; अथवा वे स्त्रियां ही वास्तव में सुन्दर हैं जिन्होंने वैष्णव पुत्र को जन्म दिया है। ऐसा पुत्र भगवान का स्मरण करके सांसारिक भयों से मुक्त हो जाता है। बाकी सबके पुत्रों का जन्म तो व्यर्थ ही चला जाता है। या सारा जग वस्तुत: निपूता ही रह गया।

कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजै दास।
जिंहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास ॥ ८ ॥

कबीर कहते हैं कि वही कुल अच्छा है जिसमें भक्त उत्पन्न होता है। जो कुल भक्त को जन्म नहीं दे पाता; वह आक-पलास के समान व्यर्थ है।

टिप्पणी — उपमा अलंकार।

साषत बांभण मति मिलै, बैसनौं मिलै चँडाल।
अंक माल दे भेटिये, मानौं मिले गोपाल ॥ ९ ॥

हे भगवान्, हरिविमुख या शाक्त ब्राह्मण से भी भेंट न हो और चाहे वैष्णव चाण्डाल भी मिल जाय। ऐसे चाण्डाल से भी गले में माला पहना कर ऐसे मिलना चाहिए मानो साक्षात् कृष्ण ही मिल गये हैं।

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार।

कुल से व्यक्ति उत्तम अथवा अधम नहीं होता, अपितु आचरण से होता है, यही ध्वनि है।

रांम जपत दालिद भला, टूटी घर की छाँनि।
ऊँचे मंदरि जालि दे, जहाँ भगति न सारंगपानि ॥ १० ॥

राम का भजन करते हुए दारिद्रय और घर का टूटा हुआ छप्पर ही अच्छा है। जहाँ सारंगपाणि भगवान विष्णु की भक्ति का अभाव है ऐसे ऊँचे महल भी जलाने योग्य हैं।

कबीर भया है केतकी, भँवर भये सब दास।
जहाँ जहाँ भगति कबीर की, तहां तहां रांम निवास ॥ ११ ॥

कबीर अर्थात् वह महान् तत्त्व केतकी का वृक्ष हो गया है और सब भक्त उसके चारों ओर मँडराने वाले भौंरे हैं। उस महान तत्त्व की जहाँ-जहाँ भक्ति है, उन-उन स्थानों पर भगवान् का निवास है।

टिप्पणी —'रूपक' अलंकार।

(२९) मधि कौ अंग

कबीर मधि अंग जे कोउ रहै, तौ तिरत न लागैं बार।
दुहु दुहु अं सूंग लागि करि, डूबत है संसारि ॥ १ ॥

कबीर कहते हैं कि जो अपने अंगों को मध्य में संतुलित रखते हैं, उनको तैरने में कठिनाई नहीं होती। पर दोनों ही तरफ झुकने वाले व्यक्ति डूब जाते हैं। इसी प्रकार जो साधक मध्यम मार्ग को अपनाता है, उसे संसार-समुद्र से पार होने में देर नहीं लगती है; पर जो अतिवादी साधनाओं में से किसी भी एक के आग्रह में पड़ जाता है अथवा कभी प्रवृत्ति मार्ग में और कभी निवृत्ति मार्ग में भटकता है, उसे भवसागर में डूबना ही पड़ता है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

कबीर दुबिधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल बहु उपति है, दोऊ कहिए आगि ॥ २ ॥

कबीर कहते हैं कि मानव को अतिवादी दृष्टियों की द्विविधा छोड़कर मध्यम मार्ग में एकनिष्ठ हो जाना चाहिए। अत्यधिक शीतलता एवं अत्यधिक तपन दोनों ही वास्तव में आग हैं और मानव को भस्म कर देती हैं।

टिप्पणी—समासोक्ति अलंकार। जीवन में अत्यधिक भोग परायणता अथवा अस्वाभाविक संयम—दोनों ही अतिवादी दृष्टियाँ परमार्थ को नष्ट करती हैं।

अनल अकासां घर किया, मधि निरन्तर बास।
बसुधा व्योंम बिरकत रहै, बिनटा हर बिसवास ॥ ३ ॥

इस मध्यम मार्ग के अपनाने से जीव-ज्योति आकाश रूपी परम तत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाती है; उसी 'मधि' अर्थात् द्वैत एवं द्विविधा रहित तत्त्व में शाश्वत रूप से स्थित हो जाती है। सहज-भाव से 'मधि' तत्त्व में प्रतिष्ठित रहने की साधना के कारण जीव पृथ्वी और आकाश अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से; लोक-परलोक, भौतिकता-आध्यात्मिकता भोग संयम-प्रवृत्ति और निवृत्ति, द्वैत-अद्वैत आदि सभी द्वन्द्वों के अहंकार से ऊपर उठकर विरक्त हो जाता है। जीव के सब सम्प्रदायवादी अन्ध-विश्वास नष्ट हो जाते हैं।

टिप्पणी—कबीर में 'मधि' परमतत्त्व तथा सहज साधना दोनों का द्योतन है। यह पूर्णतया बौद्धों का मध्यम मार्ग नहीं है। 'अनल अकासा घर किया' का अर्थ—मूलाधार चक्र की चण्डाग्नि का गगन मण्डल में पहुँच जाना भी है। इससे 'मधि' की साधना से कायायोग की सिद्धियों के प्राप्त होने का सिद्धान्त भी स्पष्ट है। 'सभंग पद श्लेष' से द्वन्द के किसी पक्ष में उसका विश्वास नहीं ठहरता है।

वासुरि गमि न रैंणि गमि, ना सुपनै तरगंम।
कबीर तहां बिलंबिया, जहां छांहड़ो न धंम ॥ ४ ॥

कबीर कहते हैं कि यह मधि वह अवस्था है जहाँ न दिन की पहुँच है और न रात की। जहाँ स्वप्न की तरंगें भी नहीं पहुँच पाती हैं। अर्थात् यह संकल्प-विकल्प से परे हैं। न जहाँ छाया है और न धूप ही। कबीर ऐसे ही कालातीत, जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति से अतिक्रांत और सुख-दुःखों से परे के तत्त्व तथा अवस्था में रम रहा है।

जिहि पैड़ै पंडित घए, दुनियां परी बहीर।
औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रह्या कबीर॥ ५॥

जिस परम्परा के मार्ग पर पंडित चलता है, संसार की भीड़ उस मार्ग पर उलट पड़ती है। अथवा जैसे सैनिकेतर लोग सैनिक छावनी का पीछा करते हैं, वैसे ही लोग पंडितों के पीछे-पीछे चलते हैं। पर परमतत्त्व का पथ दुर्गम है। कबीर को उस तत्त्व की प्राप्ति के लिए गुरु ने ऊँची-नीची दुर्गम घाटी का मार्ग बता दिया है और वह उसी घाटी पर लोक परम्परा का मार्ग छोड़कर चढ़ रहा है।

स्रगनृकथैं (सरग-नरक थै) हूँ रह्या, सतगुरु के प्रसादि।
चरन कवंल की मौज मैं रहिस्यूँ अन्त रु आदि॥ ६॥

कबीर कहते हैं कि मुझे गुरुदेव का प्रसाद प्राप्त हो गया है। उससे मैं स्वर्ग नरक से मुक्त हो गया हूँ। स्वर्ग-नरक तो भोगों के स्थान हैं। उनसे तो जन्म-मरण का चक्कर बँधा रहता है। मैं तो भगवान के चरण-कमलों के आनन्द में हमेशा के लिए रहूँगा।

टिप्पणी—कर्म से भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। भक्तों के लिए वही परम पुरुषार्थ है। रूपक अलंकार।

हिंदू मूये रांम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुहु मैं कदे न जाइ॥ ७॥

हिन्दुत्व के अहंकार से बद्ध व्यक्ति ईश्वर को अवतारी राम में तथा मुसलमान संस्कार वाले परम तत्त्व को खुदा में सीमित एवं इन दोनों को भी परस्पर में पृथक् समझकर नष्ट हो रहे हैं। कबीर कहते हैं कि वही वास्तव में जी रहा है जो इस भेद-बुद्धि में नहीं पड़ता है, और जो इन दोनों में व्याप्त अभेद एवं अद्वैत तत्त्व को देखता है। क्योंकि जीवन की सार्थकता ही इस भेद-बुद्धि से ऊपर उठना है।

टिप्पणी—'जोवता' पाठ का अर्थ होगा 'वही वास्तव में तत्त्व के दर्शन कर पाता है' यह अधिक अच्छा पाठ है।

'व्यतिरेक' की ध्वनि।

दुखिया मूवा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनदी रांन के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूंरि॥ ८॥

इस संसार में कुछ विषय-जनि दुःख से मर रहे हैं और दूसरे सुखों के लिए

उत्कंठित है। पर राम के भक्तों ने सांसारिक सुख-दुःख से अपने आपको अलग कर लिया है। उन्होंने सुख-दुःख उठाकर दूर रख दिये हैं। अतः वे शाश्वत आनन्द में ही रहते हैं।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
रांम सनेही यूं मिले दुन्यूं बरन गंवाइ ॥ ९ ॥

कबीर कहते हैं कि हल्दी पीली होती है और चूना श्वेत, पर दोनों मिलकर एवं अपना रंग मिटाकर लाल रंग की रोली में परिणत हो जाते हैं। राम के भक्त विभिन्न सम्प्रदायों के होते हुए भी ऐसे ही अपने सम्प्रदायों का रंग छोड़कर एकाकार हो जाते हैं और उनके विभिन्न साम्प्रदायिक भाव ईश्वर-प्रेम की लालिमा में परिणत हो जाते हैं।

टिप्पणी—रूपक, उपमा और निदर्शना अलंकार ध्वनित हैं। यह साखी 'मधि' का स्वरूप स्पष्ट कर रही है। मधि' दो अतिवादी एवं विरोधी तत्त्वों का सामान्य मेल अथवा समझौता भर नहीं है; वह दो मार्गों के बीच का स्थान नहीं है। पर इन विरोधों के सामंजस्य से उत्पन्न तीसरी वस्तु अथवा समन्वय की आधार भूमि है। वह पीले और श्वेत से मिलकर बने लाल रंग के समान है।

काबा फिर कासी भया, रांम भया रहीम।
मोट (मोठ) चून मैंदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥ १० ॥

सम्प्रदायवादी आग्रहों का परित्याग करने, समन्वय के मध्यम मार्ग को अपनाने तथा मधि-तत्त्व में प्रतिष्ठित होने पर काबा काशी हो गया है और राम रहीम बन गए हैं। क्योंकि अब भेद का ज्ञान कराने वाली उपाधि मूलतत्त्व में समाहित हो गई है। भेदों का घोटा चून अब पिस कर अथवा मोठ का चून अभेद की मैदा बन गया है। कबीर तू इस मैदा का भोजन कर।

टिप्पणी— रूपक एवं लाक्षणिक शैली का प्रयोग।

धरती अरु अरु असमान बिचि, दोईतूं बड़ा अबध।
षट दरसन संसै पड़्या, अरु चौरासी सिध ॥ ११ ॥

इस धरती और आकाश में अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में यह द्वैत तथा पारस्परिक विरोध की अतिवादी दृष्टि ही वास्तव में अवध्य हैं। इस द्वैत का नाश करने के उपाय की खोज में छहों दर्शन तथा चौरासी सिद्ध—सभी भ्रम में पड़े हुए हैं। पर उसका कोई सर्वसम्मत मार्ग नहीं खोज पाये हैं। 'मधि मार्ग' ही उसका हल है। वह कबीर को प्राप्त हुआ है। यहाँ यही ध्वनित है।

टिप्पणी—व्यतिरेक की ध्वनि।

(३०) सारग्राही कौ अंग

षीर रूप हरि नाँव है, नीर आन ब्यौहार।
हंस रूप कोइ साध है, तत का जांणनहार ॥ १ ॥

हरि का नाम अर्थात् स्वयं भगवान् क्षीर रूप है। और जगत् के अन्य व्यवहार जल हैं। संसार में ये दोनों मिले हुए हैं। यही जगत् है। तत्त्ववस्तु का ज्ञानी कोई-कोई साधु हंस रूप है जो नीर-क्षीर का विवेक कर लेता है। अर्थात् इस जगत् के व्यवहार के मूल में रहने वाले सत्य तत्त्व का ज्ञानी ही साक्षात्कार करता है।

टिप्पणी—परंपरित रूपक।

'सत्यानृतमिथनीकृत ममेदं व्यवहारमिदं' की व्यंजना है। 'हंस' से हंस-चैतन्य, मुक्त एवं ज्ञानी जीवात्मा का ग्रहण है।

दूसरा अर्थ—हरि का नाम-स्मरण अर्थात् भक्ति दूध रूप है और संसार के अन्य व्यवहार जल रूप हैं। ये दोनों मिले हुए हैं। दूध का जल भी दूध है। जैसे जगत् के सभी व्यवहार तत्त्वतः ईश्वराराधन है, यह कोई विवेकी हंस ही देख सकता है।

कबीर साषत को नहीं सबै बैस्नों जांणि।
जा मुखि राँम न उचरै, ताही तन की हांणि ॥ २ ॥

कबीर कहते हैं कि हरिविमुख के लिए कुछ भी नहीं है और वैष्णव के लिए सम्पूर्ण समृद्धियाँ हैं। अथवा हरिविमुख को कुछ भी विवेक नहीं है और वैष्णव भक्त उपर्युक्त नीर-क्षीर की सब बात जानता है। जिसके मुख से भगवान् के नाम का उच्चारण नहीं होता है, उसके शरीर अर्थात् सर्वस्व की हानि होती रहती है।

टिप्पणी—व्यतिरेक अलङ्कार।

कबीर औगुंणा नां गहै गुंण ही कौं ले बीनि।
घट घट महु के मधुप ज्यूं, परमातम ले चीन्हि ॥ ३ ॥

कबीर चेतावनी दे रहे हैं कि रे जीव, तू अवगुणों की ओर ध्यान मत दे। गुणों को एकत्र कर ले। शहद को एकत्र करने वाली मक्खी की तरह घट-घट में व्याप्त भगवान् को पहचान ले। अर्थात् असत् जड़, एवं दुःख से सच्चिदानन्द को पृथक् कर लो।

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार। सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त सत् स्वरूप को 'मधु' कहकर कबीर ने उसके आनन्द स्वरूप की व्यंजना की है। जो ज्ञान ही नहीं, अनुभूति और स्वाद का विषय है। इस प्रकार यहाँ ज्ञान और भक्ति का भी समन्वय है।

बसुधा बन बहु भाँति है, फूल्यौ फल्यौ अगाध।
मिष्ट सुबास कबीर गहि, बिषम कहै किहि साध ॥ ४ ॥

यह संसार अनेक प्रकार के वृक्षों वाला वन है। इसमें विषय के अनन्त फल-

फूल खिले हुए हैं। कबीर कहते हैं कि इस जगत् के विषय में से मधुर सुगन्ध ही ग्रहण करो। इनकी कटुता की ओर क्यों बढ़ते हो ? अनासक्ति एवं ज्ञान-पूर्वक संसार के विषयों की मधुर गन्ध मात्र को ग्रहण करने वाले साधु इसे विषय क्यों मानें ? वे उनके लिए बन्धन के हेतु नहीं हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। भक्ति और ज्ञान से विषमय विषय मधुर हो जाते हैं।

पाठान्तर—'विषम गहे नहि साध—साधु जगत् के विषय तत्त्वों को ग्रहण नहीं करते हैं।

(३१) बिचार कौ अंग

राम नाम सब कोउ कहै, कहिबे बहुत बिचार।
सोई रांम सती कहै, सोई कौतिगहार ॥ १ ॥

राम नाम का उच्चारण तो बहुत से करते हैं, पर कहने-कहने में बहुत अन्तर है। अनन्य प्रेम वाली सती तथा सत्यनिष्ठ सन्त भी वही राम नाम कहते हैं और बहुरूपिया ढोंगी भी। ढोंगी कीर्तन के तमाशे का आनन्द लेता है, सन्त और सती की तरह नाम के मूल तत्त्व में मग्न नहीं होता। नाम और नामी में अभेद होता है; जो नाम का स्मरण इस मूल तत्त्व के साक्षात्कार सहित करता है; वही सती और सन्त है।

टिप्पणी--व्यतिरेक की व्यंजना।

आगि कह्यां दाझै नहीं, जे नहीं चपै पाइ।
जब लग भेद न जांणिये, राम कह्या तौ कांइ ॥ २ ॥

जब तक व्यक्ति अग्नि पर पैर नहीं रखता है, तब तक वह 'आग' शब्द के उच्चारण मात्र से जलता नहीं है। उसी प्रकार तत्त्व-वस्तु के ज्ञान के बिना राम-नाम के केवल उच्चारण से क्या लाभ है ? उससे परमपद की प्राप्ति नहीं होती।

टिप्पणी—'दृष्टान्त' अलंकार। 'गृह मध्य दीप की बातनि, तम निवृत्त नहिं होई' (तुलसी)।

कबीर सोचि बिचारिया, दूजा कोई नांहि।
आपा पर जब चीन्हियां, तब उलटि समाना मांहि ॥ ३ ॥

कबीर ने चिन्तन करके देख लिया है कि संसार में दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं, जब व्यक्ति ने अपने और पराये के रहस्य का मनन किया तो उसे ज्ञान हुआ कि अपने से अर्थात् चैतन्य के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं। अतः वह स्वयं ही उलट कर अपने मूल चेतन-स्वरूप में समा गया; अद्वैत-तत्त्व पर पहुँच गया।

टिप्पणी—सिद्धों की 'उलटी साधना' प्राणायाम की थी, कबीर ने उसे ज्ञान तत्त्व भी दे दिया।

कबीर पांणी केरा पूसला, राख्या पवन सँवारि।
नाना बाणी बोलिया, जोति धरी करतारि ॥ ४ ॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर पानी का बुदबुदा है। और प्राण-रूपी वायु के सहारे टिका हुआ है। यह पंच भूतों का जड़ संघात अनेक प्रकार से बोल रहा है। इसमें सृष्टि-कर्त्ता ने ज्ञान की ज्योति प्रतिष्ठित कर दी। यही प्राणी का रहस्य है।

टिप्पणी—रूपक अलङ्कार।

नौ मण सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुड़ें, जिनि जाणीं भगति मुरारि ॥ ५ ॥

कबीर कहते हैं कि प्रत्येक घर के द्वार पर नौ मन सूत उलझा हुआ पड़ा है; अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति असीम कर्म-जाल में फँसा हुआ है। वह उसको कर्म के द्वारा ही सुलझाने की चेष्टा करता है। पर वे विनयशील व्यक्ति ही जो भगवान् की भक्ति कर रहस्य समझ सके हैं, इस कर्म-जाल को सुलझाने में समर्थ हुए हैं। अर्थात् यह कर्म-जाल तो ज्ञान और भक्ति से ही सुलझ सकता है।

टिप्पणी—'नौ मण सूत' को नवधा भक्ति का प्रतीक मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता है।

आधी साषी सिरि कटै, जो र बिचारी जाइ।
मनि परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिलि गाइ ॥ ६ ॥

अगर कोई व्यक्ति साखी के रहस्य पर मनन करता है तो आधी साखी में ही उसका अहंकार नष्ट हो जाता है। अन्यथा अगर साखी के उपदेश पर विश्वास नहीं जमता है तो चाहे उसे रात-दिन गाते रहो, उसका कुछ भी फल नहीं है।

सोई अषिर सोई बंयन, जन जूजुवा चवंत।
काई एक मेलै लवणि, अर्मी रसांइण हुंत ॥ ७ ॥

वे ही अक्षर हैं और वे ही वचन हैं पर व्यक्ति उनको भिन्न-भिन्न तरह से बोलते हैं। कोई मुक्तात्मा उनमें अपने हृदय की अनुभूति का ऐसा लवण मिला देता है कि यह मात्र शब्दोच्चारण की खटाई अमरतत्त्व प्रदान करने वाला रसायण बन जाती है।

टिप्पणी—रूपक और उपमा व्यंजित।

हरि मोत्यां की माल है, पोई काचै तागि।
जतन करो झटका घंणां, टूटैगी कहूँ लागि ॥ ८ ॥

भगवान् का नाम-स्मरण अमूल्य मोतियों की माला है; पर वह चंचल मन के कच्चे धागे में पिरोई हुई है। व्यक्ति को संसार के विषयों के अनेक धंधे लगे हुए हैं। उनके किसी भी झटके में इस माला के टूटने का डर है। अतः इस हरि-स्मरण की माला को सँभाल कर रखो। अर्थात् धन्धों में भी राम स्मरण के तार को टूटने मत दो।

टिप्पणी—रूपक अलङ्कार ।

मन नहीं छाड़ै विषै, विषै न छाड़ै मन कौं ।
इनकौं इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौं ॥ ९ ॥

मन विषयों को नहीं छोड़ता है और विषय मन को । इन दोनों का यही स्वभाव है । इन दोनों के द्वारा व्यक्ति भी पूर्णतया घिरा हुआ है । व्यक्ति इनसे सहज में ही मुक्त नहीं हो पाता है । व्यक्ति को न वासना से मुक्ति मिलती है और न विषयों से ।

खंडित मूल बिसास, कहौ किम बिगतह कीजै ।
ज्यूं जल मैं प्रतिब्यंब, त्यूं सकल रांमहि जांणीजै ॥ १० ॥

जिनका मूल विश्वास ही खण्डित हो गया है, वे सृष्टि और सृष्टिकर्ता के विषय में क्या कह सकते हैं ? भगवान् सम्पूर्ण विश्व में उसी प्रकार प्रतिबिम्बित है जैसे जल में सूर्य प्रतिबिम्बित है । भगवान् का इस जगत् में इस प्रकार बिम्ब-रूप में ही साक्षात्कार करना चाहिए ।

सो मन सो तन सो विषै, सो त्रिभवन-पति कहूं कस ।
कहै कबीर ब्यंदहु नरा, ज्यूं जल पूर्या सकल रस ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण त्रिभुवन का स्वामी भगवान् सामान्य जन के समान ही तन, मन और विषय-वासनाओं में आसक्ति वाला कैसे हो सकता है, जीव अणु है और ईश्वर विभु है । कबीर कहते हैं, "रे मानव, ईश्वर को सफल रसों में जल के समान विश्व में व्याप्त रूप ही जानो और उसी रूप में उसका ध्यान करो ।"

भगवान् की सर्व व्यापकता के साथ ही प्रतिबिम्बवाद की ओर भी संकेत है ।

पाठ भेद —खंडित मूल विनास, कहौ किय विग्रह कीजै ।

मूल के नष्ट होने पर सम्पूर्ण विनाश ही होता है, उस तथ्य को कैसे अस्वीकारा जा सकता है ।

(३२) उपदेश कौ अंग

हरिजी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर ।
भौसागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर ॥ १ ॥

भगवान् का यही संकल्प हुआ कि कबीर साखी कहे ताकि भवसागर में डूबते हुए जीव उनके उपदेश का अवलम्ब लेकर संसार-समुद्र से पार उतर सकें ।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार । इसमें कबीर की काव्य-प्रेरणा को ईश्वर की दिव्य प्रेरणा एवं उनके काव्य-प्रयोजन को मानव के आत्यन्तिक कल्याण की कामना कहा गया है । यह साखी कबीर की काव्य-सम्बन्धी मान्यता पर प्रकाश डालती है । इसका चरितमूलक महत्त्व है ।

काली काल तत्काल है, बुरा करौ जिनि कोइ।
अन बावै लौहा (लाहा) दाँहिणैं, बोवै सु लुणतां होइ ॥ २ ॥

कलिकाल कर्मों का सद्य फल देने वाला युग है। इसलिए कोई बुरा कर्म न करे किसान के बाएँ हाथ में अन्न का पौधा और दाहिने हाथ में काटने के लिए हँसिया रहता है। काटने में क्या देर लगती है? ऐसी ही कलिकाल में कर्मों के तत्काल फल मिलते हैं। जो जैसा बोता है, वैसा ही काटता है। या अन्न बाईं ओर है और लाहा दाहिनी ओर जिसने बोया है उसने वही काटा है। पाप-पुण्यों का यथावत् फल मिलता है।

टिप्पणी—'अर्थान्तरन्यास'।

कबीर संसा जीव में, कोइ न कहे समझाइ।
बिधि बिधि बाँणीं बोलता, सो कत गया बिलाइ ॥ ३ ॥

कबीर कहते हैं कि जीव संशय में पड़ा हुआ है कि जो अनेक प्रकार की बातें करता है, मृत्यु के उपरान्त वह कहाँ चला जाता है। इस जीवन-मरण के रहस्य को उसे कोई भी समझकर नहीं बता पाता है।

कबीर संसा दूरि करि, जांमण मरण-भरंम।
पंचतत तत्तहि मिले, सुरति समाना मंन ॥ ४ ॥

कबीर कहते हैं कि मृत्यु-सम्बन्धी संशय को दूर कर दो। यह जन्म-मरण केवल भ्रम मात्र है। शरीर के पंच तत्त्व व्यापक पंच तत्त्वों में मिल जाते हैं और व्यष्टि-चैतन्य समष्टि-चैतन्य अर्थात् ईश्वर में विलीन हो जाता है। यहाँ मुक्तात्मा का मरण है। मुक्तात्मा का मरण ही वास्तव में मरण है। क्योंकि वह ज्ञान और प्रेम से परम-तत्त्व में लीन होता है।

टिप्पणी—यहाँ मन व्यष्टि-चैतन्य तथा 'सुरति' विशुद्ध आत्मा तत्त्व अथवा समष्टि-चैतन्य है। मन के सुरति में समाने से ज्ञान एवं प्रेम-साधना का समन्वय व्यंजित है।

ग्रिही तौ च्यंता घणीं, वैरागी तौ भीष।
दुहु कात्यां बिचि जीव है, दौं हनैं संतौ सीष ॥ ५ ॥

गृहस्थ है तो उसे अनेक प्रकार की घरेलू चिन्तायें हैं। और विरक्त हो गया है तो भिक्षा की चिन्तायें हैं। वास्तव में जीव दो कैंचियों के बीच में है। इस द्विविधा से मुक्ति का उपाय संतों से सीखना चाहिए। उस सीख से गृहस्थ और विरक्त—दोनों ही उपर्युक्त चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं।

बैरागी बिरकत भला, गिरहीं चित्त उदार।
दुहुं चुका रीता पड़ैं, ताकूं वार न पार ॥ ६ ॥

अगर वैरागी है तो उसमें सच्ची विरक्ति की भावना होनी चाहिए और अगर गृहस्थ है तो उसमें उदारता होनी चाहिए। क्रमशः इन दोनों से चूक जाते

हैं, उनका जीवन व्यर्थ हो जाता है और उनके पतन और कष्टों की सीमा नहीं रहती है।

जैसी उपजै पेड़ सूं, तेसी निबहै ओरि।
पैंका पैंका जोड़तां, जुड़िसी लाष करोड़ि ॥ ७ ॥

जैसा फल वृक्ष में लगा है; अगर उसके अनुरूप निर्वाह होकर वह फल वैसा ही पक जाय तो क्या कहना है! वैसे ही अगर मानव की गुरु के उपदेश से जनित मन-स्थिति का अन्त तक निर्वाह हो जाय तो वह सब सिद्धियों को प्राप्त होता हुआ परम तत्त्व को पहुँच जाता है। जैसे पैसा-पैसा जोड़ने से लाख-करोड़ जुड़ जाते हैं, वैसे ही मनुष्य ध्यान और स्मरण की सम्पत्ति को थोड़ा-थोड़ा जोड़ते हुए अन्त में परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

टिप्पणी—उपमा और दृष्टान्त।

दूसरा अर्थ—मानव को मूल चैतन्य से जिस स्वरूप की प्राप्ति हुई है उसका संरक्षण एवं निर्वाह करना चाहिए। ध्यानादिक के कण-कण को जोड़ते हुए व्यक्ति आत्म-स्वरूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो सकता है।

पाठान्तर—'जैसी लौ पहले लगी' के अर्थ का अन्तर्भाव भी ऊपर के प्रथम अर्थ में हो गया है।

कबीर हरि के नांव सूं, प्रीति रहै इकतार।
तौ मुख तैं मोती झड़ै, हीरे अंत न पार ॥ ८ ॥

कबीर कहते हैं कि अगर जीव की भगवान् के नाम से अविच्छिन्न प्रीति बनी रहे तो उसके मुख से मोती झड़ने लगेंगे, उसकी वाणी से फूल बरसने लगेंगे और उसके पास हीरों की गिनती ही नहीं रहेगी। अर्थात् उसकी वाणी में अपूर्व माधुर्य एवं वचन-सिद्धि का प्रादुर्भाव हो जायेगा और उसे स्वरूप-स्थिति-जन्य आनन्द का अतुल वैभव प्राप्त होगा।

टिप्पणी—'मुख तैं मोती झड़ै' राजस्थान के मुहावरे का प्रयोग एवं अन्योक्ति। 'हीरा' आत्मानन्द का मान्य प्रतीक है।

ऐसी बांणी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ ॥ ९ ॥

मानव को अपना अहंकार छोड़कर ऐसी मधुर और विनम्र वाणी बोलनी चाहिए जिससे उसे स्वयं भी शीतलता प्राप्त हो और सुनने वालों को भी सुख मिले।

को एक राखै सावधान, चेतनि पहरै जागि।
बस्तन बासन सूं खिसै, चोर न सकै लागि ॥ १० ॥

सचेतन होकर पहरे में जागता हुआ जो कोई अपने सामान की सावधानी

रखता है; उसके बर्तन, वस्त्र कैसे जा सकते हैं ? उसके तो चोर पीछे ही नहीं लग सकेंगे ।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' ।

अपने चैतन्य को जागरूक रखने से माया-रूपी चोर का हाथ नहीं पड़ता है और मूल तत्त्व की सुरक्षा होती रहती है । यही व्यंजना है ।

(३३) वेसास कौ अंग

जिनि नरहरि जठरांह, उदिकथैं पंड प्रगट कियौं ।
सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ ।।
उरध पाव अरध सीस, बीस षषां इम रषियौ ।
अंन पान जहां जरै, तहां तैं अनल न चषियौ ।।
इँहि भाँति भयानक उद्र में, उद्र न कबहू छंछरै ।
कृषन कृपाल कबीर कहि, इमि प्रतिपाल न क्यौ करैं ।। १ ।।

नृसिंह भगवान् ने जीव को जठराग्नि के ताप के समीप ही वीर्य और रज की जलरूप एक बूंद से पिण्ड के रूप में परिणत कर दिया । उसको श्रवण, हाथ, पाँव, घ्राण, जिह्वा, मुख आदि सब कुछ दिये । ऊपर की तरफ पैर और नीचे को सिर किए हुए गर्भ की भगवान् ने दस महीने तक रक्षा की । जिस अग्नि में अन्न और जल—सब कुछ भस्म होता है । वहाँ पर इस पिण्ड को अग्नि का ताप स्पर्श तक नहीं कर सका। इस प्रकार की अग्नि से परिपूर्ण भयानक पेट में भी यह गर्भ कभी पीड़ित नहीं हुआ। कबीर कहते हैं कि भगवान् कृष्ण अत्यन्त कृपालु हैं, वे जीव का इस प्रकार पोषण क्यों नहीं करें ? वे अवश्य करते हैं--जीव को यही विश्वास पुष्ट करना है ।

टिप्पणी—विशेषोक्ति अलंकार । यह एक पद अंश प्रतीत होता है ।

भूखा भूखा क्या करैं, कहा सुनावै लोग ।
भांडा घड़ि जिनि मुख दिया, सोई पूरण जोग ।। २ ।।

रे जीव, 'भूखा हूँ'—'भूखा हूँ' तूने यह रट क्यों लगा रखी है ? लोगों को क्यों सुना रहा है ? जिसने इस शरीर रूपी घड़े को बनाया है, जिसने इसे मुख दिया है, वही इस घट और मुख को भरेगा भी ।

टिप्पणी--दृष्टान्त अलंकार । ईश्वर का अनन्य विश्वास की प्रेरणा ।

रचनहार कूं चीन्हि लै खैबे कूं कहा रोइ ।
दिल मंदिर में पैसि करि, तांणि पछेवड़ा सोइ ।। ३ ।।

खाने के लिए क्यों रोता है ? उसकी क्या चिन्ता है ? अपने निर्माण करने वाले भगवान को पहचान ले और हृदय-रूपी मन्दिर में प्रवेश करके उस अन्तर्यामी की उपासना कर । उसके बाद निश्चिन्त रह । अपना कपड़ा तान कर सो जा । वह अपने आप भोजन आदि की चिन्ता करेगा ।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

तुलना कीजिए—

'अनन्याश्चितयन्तो मां ये जना पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानाम् योगक्षेमं वहाम्यहम्॥' (श्रीमद्भगवद्गीता)

राम नाम कर बोहड़ा, बाही बीज अघाइ।
अंति कालि सूका पड़ै, निरफल कदे न जाइ॥ ४॥

रे जीव, राम-नाम को अपना बोहरा बनाकर अथवा राम-नाम रूपी निचाई के खेत में तू भरपेट साधना के बीज बो। अगर अन्त समय में सूखा भी पड़ जायेगा तो भी तेरा प्रयास निष्फल नहीं होगा। उस नीचे खेत में सिद्धि रूप अन्न पैदा होगा ही और तुम्हें खाने को मिल ही जायेगा। अगर नहीं भी होगा तो ईश्वर रूपी बोहरा देगा। अर्थात् भगवान् को समर्पित किए हुए कर्म, उनसे प्रेरित साधना या यज्ञादिक कर्म अथवा जीवन-व्यापार विधि-विधान से पूरे न भी हों, तब भी सफल ही होते हैं।

टिप्पणी—अन्योक्ति और रूपक अलंकार।

च्यंतामणि मन मैं बसै, सोई चित में आंणि।
बिन च्यंता च्यंता करै, इहैं प्रभू की बांणि॥ ५॥

मानव, भगवान् रूपी चिन्तामणि (चिन्तन करते ही इच्छाओं की पूर्ति करने वाली) तुम्हारे हृदय में ही निवास करती है। तुम उसी का ध्यान करो। तुम भगवान् का चिन्तन नहीं भी करते हो पर भगवान् फिर भी तुम्हारा ध्यान रखते है। भगवान् का यही अनाथ-हितकारी सहज स्वभाव है। जिसका व्यक्ति को कभी संकल्प भी नहीं उठा होगा, भगवान् उसी को संकल्प बना देते हैं और सफल करते हैं।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

कबीर का तूं चितवै, का तेरा च्यंत्या होइ।
अण च्यंत्याँ हरिजी करै, जो तोहि च्यंत न होइ॥ ६॥

कबीर कहते हैं—मानव, तू क्या चिन्ता कर रहा है? तेरे चिन्ता करने से क्या होता है? भगवान् तेरे उन कर्मों को भी सिद्ध कर देंगे, जिनका तुम्हारे मन में कभी संकल्प भी नहीं उठा है, ताकि तुम पूर्णतया निश्चिन्त हो सको।

टिप्पणी—भगवान् भक्त के योग-क्षेम का ध्यान स्वयं रखते हैं।

तुलना कीजिए—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां.......................।'—(श्रीमद्भगवद्गीता)

करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ।
मासा घटै न तिल बधै, जो कोटिक करै उपाइ॥ ७॥

ईश्वर ने भाग्य-लिपि लिख दी है। अब इसमें और कुछ नहीं बढ़ाया जा सकता है। इसमें रत्ती भर भी कुछ घट-बढ़ नहीं सकती है, चाहे व्यक्ति कितने ही उपाय करे।

टिप्पणी—यह 'भाग्यवाद' कर्म का निषेध करने के लिए नहीं, ईश्वर के विश्वास एवं संतोष पैदा करने के लिए है।

जाकौ जेता निरमया, ताकौं तेता होइ।
रती घटै न तिल बधै, जौ सिर कूटै कोइ ॥ ८ ॥

जिसके लिए भगवान् ने जितना भोग रचा है, उसको उतना ही प्राप्त होगा। उसमें तनिक भी परिवर्तन सम्भव नहीं है, चाहे कोई कितना भी प्रयत्न करे।

च्यंता न करि अच्यंत रहु, सांई है संम्रथ।
पसु पंषेरू जीव जंत, तिनकी गाठि किसी ग्रंथ ॥ ९ ॥

भगवान् सर्व शक्तिमान् है। अतः हे मानव, तू किसी प्रकार की चिन्ता मत कर, निश्चिन्त रह। पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं की गाँठ में कौन-सा धन है? पर उनका भी पेट भरता ही है। यह भगवान् का ही अनुग्रह है।

टिप्पणी— दृष्टान्त अलंकार। 'ग्रंथ' के स्थान पर 'गरत्थ' और 'न अर्थ' पाठ भी है। अर्थ स्पष्ट है।

संत न बांधै गांठड़ी, पेट समातां लेइ।
सांई सू सनमुख रहै, जहां मांगै तहां देइ ॥ १० ॥

साधु संचय करके गठरी नहीं बाँधते हैं। केवल पेट भरने लायक ग्रहण कर लेते हैं। वे निरन्तर भगवान की ओर अभिमुख रहते हैं, अतः जहाँ और जब माँगते हैं, भगवान् उन्हें झट दे देते हैं।

टिप्पणी—अपरिग्रह एवं ईश्वर के अनुग्रह से उत्पन्न सत्यसंकल्प की भावना का चित्रण है।

राम नांम सूं दिल मिली, जन (जम) हम पड़ी बिराइ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरकि न जाइ ॥ ११ ॥

भगवान् से मेरा हृदय मिला हुआ है और संसार के लोगों से पार्थक्य है। पर मुझे मेरे आराध्य का पूरा भरोसा है; इससे मैं कभी नरक में नहीं जा सकता।

टिप्पणी—'जन' के स्थान पर 'जम' पाठ भी माना जा सकता है।

कबीर तूं काहे डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भुसैं जु लाष ॥ १२ ॥

कबीर, तुम क्यों डरते हो? तुम्हारे सिर पर भगवान् का हाथ है। पर हाथी पर चढ़कर मत डोलो अन्यथा कुत्ते तुम्हारे पीछे भोंकते रहेंगे। अर्थात् अहंकारी और परिग्रही मत बनो, अन्यथा लोगों की ईर्ष्या के पात्र बन जाओगे।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार।

मीठा खांण मधुकरी, भाति भाति कौ नाज।
दावा किसंही का नहीं, बिन बिलाइति बड़ राज ॥ १३ ॥

भिन्न-भिन्न तरह के अनाजों से बनी हुई मधुकरी (भिक्षान्न की रोटी) बहुत ही मधुर भोजन है । अनेक लोगों से माँगे हुए इस अन्न पर किसी का भी दावा नहीं है। यह तो बिना विदेशों पर अधिकार के ही बड़ा राज्य है ।

मांनि महातम प्रेम रस, गरवातण गुण नेह ।
ऐ सबहीं अहला गया, जबहीं कह्या कुछ देह ।। १४ ।।

जब किसी ने किसी व्यक्ति से कहा कि कुछ दो, बस तभी उस मनुष्य का सम्मान, महात्म्य, प्रेम रस, गौरव, गुण एवं स्नेह—सभी कुछ व्यर्थ हो जाते हैं ।

टिप्पणी—सहोक्ति अलंकार । 'भगवान् से ही माँगना चाहिए, अन्य किसी से नहीं' की व्यंजना है । अन्य से मागने पर भगवान् के प्रति विश्वास तो जाता ही है, जगत् से भी गौरव आदि नष्ट हो जाते हैं ।

मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोइ ।
कहै कबीर रघुनाथ सूं, मति र मंगावै मोहि ।। १५ ।।

संसार से माँगना मरण के समान है। पर इस माँगने की वृत्ति से कोई विरला ही बचता है । कबीर भगवान् से कभी भी ऐसा न माँगने की वृत्ति देने की प्रार्थना करते हैं ।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार ।

पाडल पंजर मन भँवर, अरथ अनूपम बास ।
रांम नांम सींच्या अंमी, फल लागा बेसास ।। १६ ।।

यह अनुराग पूर्ण अन्तःकरण रूपी शरीर रक्तवर्ण का पुष्प है और वृत्तिरूप मन इसका भौंरा है । इसमें सुन्दर विचार रूपी अनुपम सुगन्ध है । जब इस पेड़ को राम-नाम के स्मरण रूपी अमृत से सींचा जाता है तो इसमें भगवान् के प्रति एक-निष्ठ विश्वास का फल लगता है । यही जीवन की परम प्राप्तव्य है ।

टिप्पणी—सांगरूपक । भक्ति के स्वरूप का सांगोपांग चित्रण है ।

मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास ।
अब मेरे दूजा कोउ नहीं, एक तुम्हारी आस ।। १७ ।।

जीव कहता है कि मेरा अहंभाव समाप्त हो गया है और अब मैं मुक्त हूँ, मेरी ब्रह्म में निष्ठा हो गई है । हे भगवान्, अब मेरे लिए दूसरा कोई नहीं है; केवल तुम्हारा ही भरोसा है ।

टिप्पणी—भक्ति की अन्यता एवं ईश्वर पर पूर्ण विश्वास का भाव है ।

जाकै दिल में हरि बसै, सो नर कलपै कांइ ।
एकै लहरि समंद की, दुख दलिद्र सब जाइ ।। १८ ।।

जिस हृदय में भगवान् का निवास है; अर्थात् जिसे हृदय में ईश्वर पर पूर्ण विश्वास है; उसे पछताने और दुःख भोगने की क्या आवश्यकता है ? भगवान्

के अनुग्रह रूपी समुद्र की एक लहर मात्र से उसका सम्पूर्ण दारिद्रमय एवं दुःख समाप्त हो जाते हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

पाद गांये लैंलीन ह्वै, कटी न संसै पास।
सबै पिछोड़े थोथरे, एक बिनां बेसास॥ १६॥

जो व्यक्ति भक्ति-भावना से रहित होकर बाहरी तल्लीनता से भक्ति के पदों का गान करता है उससे संशय दूर नहीं होते; उसमें भगवान् के प्रति निष्ठा नहीं जागती है। ईश्वर के प्रति निष्ठा के अभाव में जीवन के सारे कार्य एवं साधनायें सार रूप अन्न से पीछे बची फटकन अर्थात् अनाज फटकने से बचे हुए तुसरूप मात्र हैं।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

टिप्पणी—'विरोधाभास' का चमत्कार एवं लाक्षणिकता।

गावण हीं मैं रोज है, रोवण हीं मैं राग।
इक बैरागी ग्रिह मैं, इक गृहीं मैं बैराग॥ २०॥

गाने में ही रोना है और रोने में ही राग पूर्ण गान है। अर्थात् सांसारिक विषयों में रमना वास्तव में व्यथा का हेतु है और भगवान् के प्रति प्रेम की व्यथा में ही जीवन-संगीत की वास्तविक रागिनी है। एक व्यक्ति गृहस्थ रहकर भी वस्तुतः अनासक्त भावना से विरक्त है, और दूसरा वेष से विरक्त भी वासना से गृहस्थ है।

गाया तिनि पाया नहीं, अण गांयां थैं दूरि।
जिनि गाया बिसवास सूँ, तिनि रांम रह्या भरिपूरि॥ २१॥

जिन्होंने गुणगान के अहंकार का वहन किया है, उन्हें भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकी। भगवान् तो गान और शब्द से अतीत हैं। फिर ऐसे गायक की निष्ठा तो अहंकार में जमी, भगवान् में नहीं। उनमें यह गर्व जागा कि उन्होंने भगवान् का गुणगान किया है। जिन्होंने भगवान् का गुणगान किया ही नहीं, उनकी भगवान् से मिलने की बात ही क्या है? उनको तो न भगवान् में विश्वास था और न उसके प्रति राग ही। जिन लोगों ने अहंकार से रहित होकर भगवान् में ही पूर्ण विश्वास और निष्ठा जमाकर भगवान् का गुणगान किया; उनके रोम-रोम में भगवान् नित्य ही व्याप्त रहते हैं ऐसा उन्हें स्पष्ट साक्षात्कार होने लगता है। वे तो भगवद्रूप ही हो जाते हैं।

(३४) पीव पिछांणन कौ अंग

संपटि मांहि समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड में रम रह्या, साहिब कहिए सोइ॥ १॥

जो डिबिया में ही समा जाता है; वह शालग्राम भगवान् का वास्तविक स्वरूप नहीं है। जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, उसी को ईश्वर कहना चाहिए। वही भगवान का वास्तविक स्वरूप है।

रहै निराला मांड थैं, सकल मांड ता मांहि ।
कबीर सेवै तास कूं, दूजा कोइ नांहि ॥ २ ॥

जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त रहता हुआ भी उससे पृथक है और जिसमें सम्पूर्ण जगत् समाया हुआ है, वही भगवान् है । भगवान् व्यापक है और जगत् व्याप्त है। ऐसे ईश्वर को ही कबीर भजते हैं । यह अद्वैत-तत्त्व है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं ।

टिप्पणी—'मांड' शब्द का जगत् के लिए प्रयोग करने से जगत् का कल्पित और मिथ्या होना भी व्यंजित है ।

विरोधाभास अलंकार ।

भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार ।
सतगुर गुरू बताइया, पूरिबला भरतार ॥ ३ ॥

जीवात्मा, तू इस सांसारिक पति के बल पर भ्रमित होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गई और तूने अनेक प्रकार के व्यभिचार किये हैं, अर्थात् अपने धर्म और स्वरूप से विचलित करने वाले माया के कर्मों में संलग्न हुई । पर सद्गुरु ने तुम्हें तत्त्वज्ञान दे दिया है, श्रेष्ठ गुर या मन्त्र दे दिया है और इस प्रकार तुझे उसने तुम्हारे पहले मूल पति अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करा दिया है ।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार ।

जाकै मुह माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप ।
पुहुप बास थैं पातला, ऐसा तत अनूप ॥ ४ ॥

जीवात्मा के वास्तविक पति ब्रह्म के न मुख है, न सिर है, न रूप है और न रेखा । उसको रूपवान् या रूप-रहित भी नहीं कहा जा सकता है । वह पुष्प की गन्ध से भी अत्यन्त क्षीण है अर्थात् केवल अनुभूति-गम्य है । भगवान् ऐसी ही अनुपम तत्त्व वस्तु है ।

टिप्पणी—'अणोरणीयान्' की व्यंजना है । व्यतिरेक अलंकार ।

'रूप कुरूप' पाठ भी मिलता है ।

(३५) बिर्कताई कौ अंग

मेरै मन मैं पड़ि गई, ऐसी एक दरार ।
फाटा फटक पषाण ज्यूं, मिल्या न दूजी बार ॥ १ ॥

कबीर कहते हैं कि मेरे मन में संसार से वैराग्य की एक ऐसी दरार पड़ गई है कि वह स्फटिक पाषाण-खण्ड की तरह अन्त में फट कर जगत् से पूर्णतया अलग ही हो गया । उसके बाद वह फिर ने सांसारिक विषयों में रमा ही नहीं ।

टिप्पणी—उपमा और रूपक अलंकार । तत्त्व ज्ञान के बाद मन विषयों से हमेशा के लिए अलग हो जाता है ।

मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साक।
जौ परि दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक ॥ २॥

विषय वासनाओं में मधुरता का अनुभव करने वाला मन अब वैराग्य-भावना के कारण बहुत समय से विषयों का रस नहीं ले रहा है । तीन दिन के पड़े हुए दूध के समान अब वह अन्तःक्षुब्ध होकर किण्वित (Fermented) हो गया है । उसके विषयों का स्वाद अब मधुर न रहकर अत्यधिक खट्टा एवं कड़ुवा हो गया है । वह विषयी मन अब दूध की तरह फट गया है । उसकी वासना दुर्गन्ध देने लगी है और इस प्रकार उसका संसार से नाता-रिश्ता टूट गया है । मन तो संसार से सम्बन्ध का ही नाम है । उसके टूटने से उसका अन्तःविघटन हुआ है । जैसे किण्वित दूध, दूध नहीं रहता वैसे ही विरक्त मन, मन नहीं रहता ।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार । विरक्त मन एवं फटे दूध का रूपक गहरी व्यंजना की क्षमता का द्योतक है ।

चंदन भागां गुण करै, जैसे चोपीपंन।
दोउ जन भागां नां मिलैं, मुकताहल अरु मंन ॥ ३ ॥

चन्दन के टुकड़े करने पर उनमें से सुगन्ध निकलती है; और फैलती है; जैसे चोआ का लेप अथवा मंजीठ के पत्ते सुगन्ध देते हैं । पर मोती और मन — ये दो वस्तुएँ विभक्त होने पर पुनः नहीं मिलती हैं और नाहीं इनके गुण में वृद्धि होती है।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार ।

पासि बिनंठा कापड़ा, कदे सुराग न होइ।
कबीर त्याग्या ग्यांन करि, कनक कामनी दोइ ॥ ४ ॥

अगर पास फटा हुआ कपड़ा है तो उस फटे हुए कपड़े पर कभी भी सुन्दर रंग नहीं आता है । वैसे ही संसार के विषयों से फटे हुए मन पर भी भक्ति का सुरंग नहीं चढ़ता है । यही कारण है कि कबीर ने ज्ञानपूर्वक स्वर्ण और स्त्री दोनों को त्याग दिया है, सम्पूर्ण विषयों से मन को विरक्त कर लिया है ।

टिप्पणी—'दृष्टान्त' अलंकार । विषयों से मन विक्षुब्ध रहता है, यही फटना है ।

चित चेतनि मैं गरक ह्वै चेत्य न देखैं मंत।
कत कत की सालि (सलि) पाड़िये, गल बल सहर अनंत ॥ ५ ॥

कबीर कहते हैं कि यह मस्त चित्त चैतन्य रूप परम तत्त्व में लीन होकर तथा जाग कर नहीं सोचता है । यह सारा नगर ही अर्थात् जगत् ही विषयों के कोलाहल से भरा हुआ है । यह मन किस-किस की खबर लेगा ? किस-किस विषय को शान्त करेगा ? इससे तो विरक्त ही होना ठीक है ।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार ।

जाता है सो जांण दे, तेरी दशा न जाइ।
खेवटिया की नाव ज्यू, घणें मिलैंगे आइ ॥ ६ ॥

जो इस संसार से और तुम से बिछुड़ रहा है उसे बिछुड़ने दे। तू इस बात का ध्यान रख की ममता में पड़ कर कहीं तेरा विरक्त भाव न चला जाय। नाव को खेने वाले के पास तो अनेक व्यक्ति आकर मिलते ही रहेंगे। जीवन नौका को खेते हुए तुम्हें भी अनेक साथी मिलेंगे ही।

टिप्पणी—उपमा तथा रूपक की ध्वनि।

नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर बारि।
जो त्रिषावंत होइगा, तो पीवेगा झष मारि ॥ ७ ॥

रे बाले ! रे अबोध, सबको जल पिलाती क्या फिरती है? घर-घर में तालाब हैं। जिसे प्यास होगी वह अपने आप ही हार कर अन्त में पीयेगा। अर्थात् तत्त्वज्ञान के उपदेश का अमृत तुम जबरदस्ती क्यों पिलाते फिरते हो? प्रत्येक व्यक्ति का चैतन्य अमृत एवं आनन्द स्वरूप है, जिसे प्रेम, जिज्ञासा एवं मुमुक्षुत्व जागेंगे, वे स्वयं ही प्रेम एवं तत्त्व-ज्ञान को धारण करके अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायेंगे। यह अमृत जबदस्ती बाँटने की वस्तु नहीं है।

टिप्पणी—अन्योक्ति। 'घर बारि' का अर्थ 'घर द्वार' भी है।

सतगंठी कोपीन है, साअ न मानै संक।
रांम अमलि माता रहै, गिणैं इन्द्र कौ रंक ॥ ८ ॥

विरक्त साधु ने सात गाँठ वाली कोपीन धारण कर रखी है। उसे किसी का भी भय नहीं है। वह भगवान् राम की भक्ति के नशे में मस्त रहता है और इन्द्र को भी दरिद्र समझता है। ज्ञान और भक्ति की निधि के समक्ष सब ऐश्वर्य तुच्छ हैं।

टिप्पणी—व्यतिरेक ध्वनित है।

दाबै दाझण होत है, निरदावै निसंक।
जे नर निरदावै रहैं, तो गिणैं इन्द्र की रंक ॥ ९ ॥

व्यक्ति को अधिकार की आकांक्षा से तपन सहन पड़ती है पर जिसमें इसका अभाव है वह निडर है। ऐसे व्यक्ति इन्द्र की सम्पत्ति को तुच्छ तथा इन्द्र को दरिद्र समझता है।

टिप्पणी—व्यतिरेक ध्वनित है।

कबीर सब जग हंडिया, मंदिल कंधि चढ़ाइ।
हरि बिन अपना कोउ नहीं, देखे ठोकि बजाइ ॥ १० ॥

कबीर कंधे पर काँवड में पूजा तथा अन्य आवश्यक सामग्री का बोझा ढोते हुए मैं सारे संसार में भटक लिया हूँ। मैंने सबको (सिद्धों और देवताओं को) ठोक-बजा-

कर परख लिया है। वास्तव में भगवान् के अतिरिक्त अपना हितैषी कोई भी नहीं है।

टिप्पणी—संसार एवं अन्य साधनाओं से वैराग्य तथा भगवान् की भक्ति ध्वनित है।

(३६) सम्रथाई कौ अंग

नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणें जोग शरीर।
जे कछु किया सु हरि किया, तार्थें भया कबीर कबीर ॥ १ ॥

कबीर कहते हैं कि मैंने इस विश्व में कुछ भी नहीं किया है। कुछ कर ही नहीं सका। मेरे में करने योग्य शक्ति ही न थी। वास्तव में कर्त्ता तो भगवान है। उसी ने सब कुछ किया है। उसी के करने से मैं जो कुछ आज हूँ, वह हुआ हूँ। सामान्य व्यक्ति से भक्त कबीर हो गया हूँ।

टिप्पणी—जीव के अपने कर्त्तापन का निषेध एवं भगवान् के कर्तृत्व एवं अनुग्रह की स्वीकृति।

व्यतिरेक की ध्वनि।

कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ।
जे किया कछु होत है, तौ करता औरै कोइ ॥ २ ॥

कबीर कहते हैं कि जीव के करने से कुछ भी नहीं होता है। जो कुछ भी होता है वह सब उसके बिना किए ही हो जाता है। जिसके करने से कुछ होता है वह कर्त्ता जीव नहीं, कोई और ही है अर्थात् भगवान है।

टिप्पणी—जीव में तो कर्तृत्व का अहंकार मात्र है। सम्पूर्ण क्रियायें स्वतः ही चैतन्य से ही चालित हैं। अगर कोई कर्त्ता है तो वह समष्टि-चैतन्य अर्थात् भगवान् है; इन दर्शन का प्रतिपादन है।

जिसहि न कोई तिसहि तूं, जिसै तूं तिस सब कोइ।
दरिगह तेरी सांइयां, नां महरूम न होइ ॥ ३ ॥

हे भगवान्, जिसके लिए अन्य कोई आश्रय नहीं है, अर्थात् जो अपने को अनाथ अनुभव करता है उसके लिए तेरा आश्रय है और जिसको तेरा अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, उसको सबका आश्रय मिल गया। क्योंकि सब तेरी ही शक्ति से सबको आश्रय दे पाते हैं। हे स्वामी, तेरे दरबार में पहुँचकर तो कोई भी तुम्हारे अनुग्रह से वंचित नहीं रहता है। न कोई अब तक रहा है और न भविष्य में रहेगा।

एक खड़े ही लहैं, और खड़ा बिललाइ।
साईं मेरा सुलषनां, सूता देह जगाइ ॥ ४ ॥

हे भगवान् जिस पर तुम्हारी कृपा है, उसे तो खड़े-खड़े ही अर्थात् सहज ही

में सब कुछ प्राप्त हो जाता है; पर अन्य जिन्हें तुम्हारी कृपा नहीं मिल सकी, खड़े-खड़े तरसते और दुःखी होते रहते हैं। मेरा स्वामी इतना अच्छा है, मुझ पर इतना कृपालु है कि मुझे अपनी मोह-निद्रा से जगा देता है अर्थात् मुझे अनुग्रह प्राप्त करने की प्रेरणा दे देता है जिससे सब कुछ मिलता है, जीवन कृतार्थ होता है।

टिप्पणी—व्यतिरेक की ध्वनि।

सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुंण लिख्या न जाइ ॥ ५ ॥

सातों समुद्रों को स्याही में तथा सम्पूर्ण वनों की लकड़ियों को कलम में परिणत कर लिया जाय और सम्पूर्ण धरती रूपी कागज पर भगवान् के गुणगान लिखे जायँ, तब भी उनके पूरे गुण नहीं लिखे जा सकते हैं।

टिप्पणी—ये सब ससीम हैं असीम इनके द्वारा वर्णित नहीं हो सकता।

अबरन कौं का बरनिये, मोपै लख्या न जाइ।
अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ ॥ ६ ॥

रूप-रेख रहित का कैसे वर्णन हो? मैं तो उसके वास्तविक स्वरूप को देख भी नहीं सकता हूँ। अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार विभिन्न सम्प्रदाय वालों ने अपना-अपना वाना भगवान् को पहनाया है अर्थात् भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से उन्होंने अनुमान लगाया है। उसी के अनुरूप वे उसका वर्णन कर करके थक गए। पर, हे सखि, उसका वास्तविक परिचय वे नहीं दे सके। अथवा ये मायी (माया के अधिपति) भगवान् का परिचय ही दे सके। वह निरंजन तो वर्णन का विषय ही नहीं है।

टिप्पणी—पाठान्तर—मोपै बरनि न जाई अबरन बरने बाहिरा करि-करि थका उपाई।—पारनाथ तिवारी)

झल बांवै झल दांहिनैं, झलहि मांहि व्यौहार।
आगैं पीछैं झलमई, राखैं सिरजनहार ॥ ७ ॥

इस संसार में बाँई ओर ज्वालायें हैं, दाहिनी ओर भी ज्वालायें हैं। सब तरफ माया रूपी अग्नि की लपटें ही लपटें हैं। मानव को इन लपटों में ही अपना व्यवहार चलाना पड़ता है। इन चारों तरफ की ज्वालाओं में केवल सृष्टिकर्त्ता भगवान् ही जीव को जलने से बचा सकता है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

सांई मेरा बांणियां, सहजि करै ब्यौपार।
बिना डांडी बिन पालड़े, तोलै सब संसार ॥ ८ ॥

मेरे भगवान् बनिये हैं, और सहज अर्थात् न्यायोचित वाणिज्य करते हैं। जिसके जैसे कर्म हैं उसको वैसा ही फल देते। वे बिना तराजू के ही सबको उनका उचित भाग देते हैं। अर्थात् वे अपने आप में पूर्ण हैं, उनका न्याय सहज है।

टिप्पणी—रूपक, विभाविना और व्यतिरेक अलंकार।

कबीर वार्‌या नांव परि, कीया राई लूंण।
जिसहि चलावै पंथ तूं, तिसहि भुलावै कौंण ॥ ९ ॥

कबीर कहते हैं कि मैं अपने भगवान् के नाम पर न्यौछावर हूँ। मैंने 'राई लूण' के नाम-स्मरण के अक्षुण्ण एवं निरापद बने रहने की कामना की है। अथवा 'राई लूण' में मैंने अपने आपको ही न्यौछावर कर दिया है। मैंने अपने को भगवान् की इच्छा पर छोड़ दिया है। जिसको भगवान् सन्मार्ग पर चलाते हैं उन्हें पथ-भ्रष्ट भी कौन कर सकता है?

टिप्पणी—'राई लूँण करना' आपदाओं को दूर करने की मंगल कामना का लोकाचार है।

अर्थान्तरन्यास अलंकार।

कबीर करणीं क्या करै, जे रांम न करै सहाइ।
जिहिं जिहिं डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाइ ॥ १० ॥

कबीर कहते हैं कि मानव के कार्य करने से क्या होता है; अगर उसकी सहायता भगवान् न करे तो। वह जिस-जिस साधन या देव रूप डाल का आश्रय लेकर ऊँचा चढ़ना चाहता है; वही डाल साधक के अहंभाव के बोझ से झुक जाती है और इस प्रकार जीव अपने कार्य में सफल नहीं हो पाता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

जद का माइ जनमियां, कदे न पाया सुख।
डाली डाली मैं फिरौं, पातै पातै दुख ॥ ११ ॥

जब से माता ने मुझे जन्म दिया है, तब से मुझे कभी भी, कहीं पर भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकी। मैं सुख की तलाश में डाली-डाली फिरता रहा और दुःख पात-पात पर छाया रहा। जगत् में दुःख सर्वव्यापी है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर से पृथक् होने पर जीव को जगत् में दुःख ही भोगना पड़ता है। उसके जगत् से सुख प्राप्ति के प्रयास व्यर्थ रहते हैं।

टिप्पणी—लोकोक्ति अलंकार। 'कदे' के स्थान पर 'कबहु' भी हैं।

सांई सूं सब होत है, बंदे थैं कुछ नांहि।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहि ॥ १२ ॥

भगवान् सर्वशक्तिमान् है। उसके करने से ही सब कुछ होता है; मनुष्य के करने से कुछ भी नहीं। भगवान् सब असम्भवों को सम्भव कर देते हैं। राई से पर्वत कर देते हैं और पर्वत को राई में विलीन कर देते हैं।

टिप्पणी—लोकोक्ति।

(३७) कुसबद कौ अंग

अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास ॥ १ ॥

भाले के नोंक की चोट सह्य हो सकती है। व्यक्ति उसके लगते ही एक बार व्यथा की निःश्वास तो निकाल लेता है। पर साधु को कुसबद की चोट तो मौन रह कर ही सहनी पड़ती है, अतः असह्य है। में उस महान् का दास हूँ जो कुशब्द की चोट को ऐसे सहन कर जाता है। या 'शब्द' की चोट से उत्पन्न वियोग व्यथा में मौन हो जाता है।

टिप्पणी—निन्दा को सहन करना ही साधु का स्वभाव है। 'व्यतिरेक' अलंकार ध्वनित है।

खंदन तौ धरती सहैं, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ ॥ २ ॥

पैरों की टाप से खोद-खाद धरती ही सहन करती है तथा कटाई वन ही सह सकते हैं। बुरे वचन सहन करने की क्षमता केवल भक्त में ही है; अन्य किसी में भी इस प्रकार के अपमान और कष्टों के लिए सहिष्णुता नहीं है।

टिप्पणी—तुल्ययोगिता अलंकार।

सीतलता जब जांणियें, समिता रहै समाइ।
पष छाडै निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ ॥ ३ ॥

मानव में वास्तविक शीतलता एवं शान्ति का विकास तो तब मान जाता है जब उसमें सुख-दुःख एवं मानापमान में समत्व भावना आ जाती है। जब वह हरेक प्रकार के आग्रह एवं पक्ष को त्याग कर पूर्णतः निष्पक्ष बन जाता है और जब उसको कुशब्द दुखित नहीं करते, तभी शीतलता मिलती है।

टिप्पणी—"तुल्यनिंदा स्तुति मौनी··· ····दुखेष्णनुद्विग्नमनः सुखेषु विगत-स्पृहः वीतरागभयक्रोधी" से तुलना कीजिए।

कबीर सीतलता भई, पायां ब्रह्म गियान।
जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान ॥ ४ ॥

जब मानव को इस समत्वयोग जनित शीतलता की प्राप्ति हो जाती है और ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण विश्व जिस माया और विषय-वासनाओं की आग में जलता है वही उसके लिए शीतल जल के समान बन जाती है। रागद्वेष एवं फलासक्ति विषयों में तपन पैदा करते हैं। ज्ञानी एवं भक्त इनसे ऊपर उठा हुआ होता है; अतः उसके लिए तपन का प्रश्न ही नहीं।

(३८) सबद कौ अंग

कबीर सबद सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, तार्थं छूटि भरंति ।। १ ।।

कबीर कहते हैं कि शरीर में व्याप्त अनहदनाद बिना तारों की तंत्री का शब्द है। वह भीतर और बाहर सब जगह भरा हुआ है। नाद रूप से सम्पूर्ण विश्व में तथा बिन्दु रूप से व्यष्टि में व्याप्त है। इस रूप में जिसे इस शब्द का साक्षात्कार होता है; उसके माया जनित भ्रम नष्ट हो जाते हैं।

टिप्पणी -- विभावना अलंकार।

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुबिचार।
सतगुर के प्रसाद थैं, सहज सील मत सार ।। २ ।।

सत्य पर आरूढ़ तथा संतोष एवं समता को धारण करने वाला मानव सावधान होकर शब्द के रहस्य पर गहरा चिन्तन करता है। उसे सद्गुरु की कृपा से सम्पूर्ण मतों के सारभूत अंश सहजशील की प्राप्ति हो जाती है।

टिप्पणी—'सहज' के लिए परिशिष्ट द्रष्टव्य है। पाँच पक्के तत्त्वों की ओर संकेत है। इनका संकेत अन्यत्र किया गया है।

सतगुर ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ ।। ३ ।।

गुरु को सिकलीगर के समान होना चाहिए जो तत्त्व-ज्ञान के प्रतिपादक शब्दों के मसकले (शान रखने का चक्र) पर रगड़कर मुमुक्षु शिष्य के अन्तःकरण का दर्पण के समान चमका दे।

टिप्पणी—उपमा और रूपक अलंकार। सद्गुरु की कृपा से पारख रूप प्राप्त होने का संकेत है। यह कबीर-पन्थ के दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

संशोधन—'सभा' के संस्करण में यहाँ पर 'सतगुरु साँचा सूरिवां' से प्रथम अंग की ७वीं साखी की पुनरावृत्ति है। माताप्रसाद जी के 'संस्करण' में भी यह पुनरावृत्ति है। पद पुनरावृत्ति के कारण उस साखी को यहाँ छोड़ दिया गया है।

हरि रस जे जन बेधिया, सतगुण सीं गणि नांहि।
लागी चोट सरीर मैं, करक कलेजे मांहि ।। ४ ।।

जो व्यक्ति भगवान् के प्रेमबाण से अथवा उसके भक्ति-रस से विद्ध हो गया हैं; उसकी समता सात गुण वाले धनुष की मार भी नहीं करती। ऐसे व्यक्ति की चोट शरीर पर लगती है, पर व्यथा हृदय में होती है। शब्द की चोट ब्राह्य है, पर उससे जनित वेदना आभ्यन्तर होती है।

टिप्पणी -- 'असंगति' अलंकार।

ज्यूं-ज्यूं हरि गुण साँभलूँ, त्यूं-त्यूं लागैं तीर।
सांठी-सांठी झड़ि पड़ी, भलका रह्या सरीर ॥ ५ ॥

मैं ज्यों-ज्यों भगवान् के गुणों का श्रवण करता हूँ तथा उनका साक्षात्कार करता हूँ, त्यों-त्यों मुझे प्रेम की व्यथा के आघात सहने पड़ते हैं। इन शब्द-बाणों का लकड़ी रूप बाहरी अर्थ तत्त्व तो झड़कर गिर गया है और तत्त्व-ज्ञान एवं प्रेम-पीर का आभ्यन्तर तत्त्व रूपी आगे का फल अन्तःकरण में समा गया है। या इन तीरों से अन्तःकरण की उपाधियाँ अर्थात् व्यर्थ के अहंकार दूर हो गए हैं और वह स्वच्छ होकर चमकने लगा है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' और सांगरूपक अलंकार।

पाठ-भेद—'भलका' के स्थान पर 'झलक' पाठ भी सम्भव है। तब इसका अर्थ इस प्रकार होगा—"इन तीरों की चोट से अन्तःकरण की सांठी रूप बाहरी उपाधियाँ (अर्थात् वासना एवं प्रेम का अहंकार) दूर हो गई हैं और सच्ची पीर से वह अन्तःकरण स्वच्छ होकर चमकने लगा है।

ज्यूं-ज्यूं हरि गुण साँभलूँ, त्यूँ-त्यूँ लागैं तीर।
लागैं थैं भागीं भक्तैं नहीं, साहणहार कबीर ॥ ६ ॥

भगवान् के गुणों को ज्यों-ज्यों सुनता हूँ, और उनका ध्यान करता हूँ, त्यों-त्यों शब्द के तीर गहरे लगते हैं। पर मैं इनकी व्यथा से भागता नहीं हूँ। आखिर, सहने वाला कबीर है न, अर्थात् महान् है न। अथवा सहन कराने वाला भी महान् है, ईश्वर है। उनका अनुग्रह गुण-श्रवण करने तथा प्रेम-पीर सहने की शक्ति देता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति तथा परिकर अलंकार।

सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥ ७ ॥

सुखी व्यक्ति बहुतों को पुकार लेता है। पीड़ा और भी अधिक को पुकारती है। लेकिन कबीरा को तो शब्द-बाण की चोट लगी है और वह तो अपने स्थान पर ही खड़ा रहा है। वह किसी को भी नहीं पुकार सका है।

टिप्पणी—शब्द (तत्त्व ज्ञान) से उत्पन्न प्रेम-पीर व्यक्ति को आत्मस्थिति और मौन कर देती है। पीड़ा का वास्तविक स्वरूप यही है।

(३६) जीवन मृतक कौ अंग

जीवन मृतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आपण करैं, मति दुख पावैं दास ॥ १ ॥

जीवित ही मर जाय अर्थात् शरीर के सप्राण रखते हुए विषय-वासनाओं में अनासक्त रहे तथा उनके सुखों की तृष्णा का परित्याग कर दे, संसार में अथवा संसार

के विषयों की किसी प्रकार की भी आशा न रखे, तब भगवान् भक्त की सेवा को स्वीकृत करते हैं। ऐसे भक्त को कभी दुःखों का सामना नहीं करना पड़ता।

कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया शरीर।
तब पँडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ॥ २ ॥

कबीर कहते हैं कि जब मेरा मन मर गया अर्थात् उसकी वासना नष्ट हो गई उसकी जगत् से आश्रय मिलने की आशा छूट गई तथा शरीर भी क्षीण हो गया तब भगवान् 'कबीर'-'कबीर' कहते हुए मेरे पीछे लगे ही फिरने लगे। वास्तव में वासना-रहित निर्मल मन को भगवान् का सानिध्य प्राप्त हो ही जाता है।

टिप्पणी—भक्त की बच्चे की तरह भगवान् रक्षा करते रहते हैं, यही ध्वनि है।

कबीर मरि मड़हट रह्या, तब कोइ न बूझै सार।
हरि आदर आगैं लिया, ज्यूं गउ बछ की लार ॥ ३ ॥

कबीर कहते हैं कि जब मैं सासारिक वासनाओं से शून्य होकर मृतवत् एवं श्मशान में पहुंचा हुआ सा हो गया तो जगत् के किसी काम का नहीं रहा। इससे जगत् ने कभी मेरी बात ही नहीं पूंछी। पर इसी अनाथ अवस्था पर द्रवित होकर भगवान् ने स्नेहपूर्वक मुझे अपना लिया। मुझे आगे करके मेरे संरक्षण में स्वयं पीछे इस प्रकार चलने लगे जैसे गाय अपने बछड़े के पीछे चलती है।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

अनाथ और अनाश्रित वास्तव में वही है जो स्वयं संसार से, और संसार जिससे कुछ आशा न रखे। ऐसे अनाथ के भगवान् नाथ हैं। कबीर की यह व्याख्या गम्भीर एवं दार्शनिक आधार लिये हुए है।

घर जालौं घर उबरै, घर राखौं घर जाइ।
एक अचंभा देखिया, मरा (मड़ा) काल कौं खाइ ॥ ४ ॥

अगर मैं अपना माया-मोह रूप यह सांसारिक घर जला देता हूँ तो मेरे वास्तविक घर अर्थात् स्वरूप स्थिति की रक्षा होती है। अगर मैं इस संसार की रक्षा का प्रयत्न करूँ तो स्वरूप का विस्मरण हो जाता है और मेरा वास्तविक घर छूट जाता है। यह अनुभूति विलक्षण है। जीवन्-मृत व्यक्ति काल को नष्ट कर देता है, मुक्त पुरुष के लिए काल नहीं रहता है। या यह जगत् विलक्षण है, यह दृश्य जगत् रूप केवल चित्रित है, कल्पित है, पर इसी में काल वीतता है। यही काल को खाता है।

टिप्पणी—'उलटवांसी' की शैली में प्रतिपादन है।

मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसैं मरि मुवा, ज्यूं बहुरि न मरनां होइ ॥ ५ ॥

सांसारिक विषयों में फँसकर मरते-मरते यह जगत् नष्ट हो रहा है। पर

किसी को उचित अवसर पर मरना नहीं आया। ज्ञान पूर्वक संसार की विषय-वासनाओं एवं शरीर के अध्यास का त्याग ही उचित अवसर की मृत्यु है। कबीर कहते हैं, 'रे मन, ऐसा मर जिससे फिर कभी मरने की नौबत न आये, जन्म-मरण से ही छूट जाय।"

टिप्पणी—'मुवा' संबोधन स्त्रियों की गाली होने के कारण हास्य के सृजन के साथ ही गम्भीर अर्थ-व्यंजना भी करता है। सांसारिक जीव ज्ञान की दृष्टि से मरा हुआ ही है।

बैद मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल संसार।
एक कबीरा ना मुवा, जिन के राम अधार।। ६।।

वैद्य भी मर गया और रोगी भी मर गया। सारा संसार ही मर गया, कबीर कहते हैं कि केवल कबीर अथवा वह व्यक्ति अर्थात् भक्त जिसने भगवान् की शरण ली है, वह नहीं मरा।

टिप्पणी—जीव का अहंभाव मरता है चैतन्य नहीं। वैद्य और रोगी दोनों में यह अहंभाव है। भक्त भगवान् से अभिन्न होकर उसी में अपना अहं विलीन कर देता है; महान् बन जाता है। वह महान् न जन्मता है और न मरता है। 'कबीर' का अर्थ विभु है। 'कबीर' शब्द से इस अर्थ की भी व्यंजना है, विभु कभी नहीं मरता।

मन मर्‌या ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही विभूति।। ७।।

सांसारिक आसक्ति वाले मन के मरने से ममता नष्ट हो गई। ब्रह्म से जीव को पृथक करने वाला अहंभाव निवृत्त हो गया। अब योगी उस परम तत्त्व में विलीन है और उसकी साधना के स्थल पर केवल भस्म मात्र अवशिष्ट है, अर्थात् इस जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त जीव के कार्य वासना और आसक्ति की अग्नि से शून्य होकर भस्मवत् रह जाते हैं।

जीवन थैं मरिबो भलौ, जौ मरि जानैं कोइ।
मरनैं पहली जे मरैं, तो कलि अजरावर होइ।। ८।।

विषय-वासनाओं का भोग ही जीवन और उन वासनाओं की निवृत्ति ही मृत्यु है। अगर कोई वास्तव में मरना जानता है तो इस अज्ञान और वासना के जीवन से प्रेम एवं ज्ञान-रूप मृत्यु अच्छी है, क्योंकि वह जीव को स्वरूप में स्थित करती है। जो व्यक्ति पाञ्चभौतिक शरीर के छूटने-रूप मृत्यु से पहले ही वासनाओं से मुक्ति-रूप मृत्यु का वरण करता है, वह इस कलिकाल में अथवा कल ही झट ही अजर-अमर हो जाता है।

टिप्पणी—विरोधाभास अलंकार।

'मरे' शब्द की विभिन्न अर्थ-छायाओं का ग्रहण है। इसमें 'यमक' है।

खरी कसौटी रांम की, खोटा टिकै न कोइ।
रांम कसौटी सो टिकै, जो जीवन मृतक होइ ॥ ९ ॥

भगवान् अर्थात् भक्ति और ज्ञान की कसौटी खरी है; इस पर नकली व्यक्ति नहीं टिक सकता है। जो इस कसौटी पर खरा उतरता है; वह वास्तव में जीवन्मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी—ज्ञानी और भक्त सहज ही जीवन्मुक्त होते हैं। 'रूपक' अलंकार

आपा मेट्यां हरि मिलै, हरि मेट्यां सब जाइ।
अकथ कहांणीं प्रेम की कह्यां, न को (कोइ) पत्याइ ॥ १० ॥

जो भक्त अपने अहं को मिटा देता है, उसे भगवान् की प्राप्ति होती है। पर जो अपने अहं को तीव्र करके भगवान् के अस्तित्व में आस्था ही खो देता है, वह तो सम्पूर्ण संसार और प्रेम को ही मिटा रहा है। अपने को मिटाकर प्रेम को अर्थात् परम प्रेमास्पद भगवान् को प्राप्त करने की यह कहानी अकथनीय एवं विलक्षण है। इस अहंकारी संसार को इस पर विश्वास नहीं होता। या अच्छी प्रकार कहने पर क्या यह सम्भव है कि किसी को विश्वास न हो।

टिप्पणी—सत् का ज्ञान सबको है। पर जीव ने अहं ने उस सत् में भेद किया है। उसके विलीन होते ही सत् का अपरिच्छिन्न रूप में अर्थात् भगवत्स्वरूप साक्षात्कार होता है। अहं ही ईश्वर का ज्ञान नहीं होने देता है। इसमें प्रेम और ईश्वर के अभेद का महान् सिद्धान्त भी प्रतिपादित है।

निगुरांवां बहि जायगा, जाकै थाघों नहीं कोइ।
दीन गरीबी बन्दिगी, करतां होइ सु होइ ॥ ११ ॥

जिनको गुरु में आस्था नहीं है; जो विश्वास हीन हैं, वे आधार विहीन एवं अहंकारी हैं; वे संसार के प्रमाद में बह जायेंगे। जो विनम्रता तथा दैन्य पूर्वक भगवान् की बंदगी करते हैं, वे ही वास्तव में सफल क्रियाशील हैं। उन्हीं का जग में जीवन सफल है ईश्वर व गुरु के प्रति प्रेम तथा आस्था ही जीवन का लक्ष्य है।

टिप्पणी—"निगुरांवां' की कई अर्थ ध्वनियों का प्रयोग है।

दीन गरीबी डीन कौ, दूंदर कौं अभिमान।
दुंदर दिल विष सूं भरौ, दीन गरीबी राम ॥ १२ ॥

दीन व्यक्ति को भगवान् ने विनम्र बनाया है और धनवान को अभिमानी। विनम्र व्यक्ति के हृदय में, उसकी दीनता में भगवान् का वास है और सांसारिक वैभव वाले अहंकारी का हृदय विष से भरा रहता है। अपने को बड़ा मानना है, वही विष रूप है।

टिप्पणी—व्यतिरेक की ध्वनि।

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसें ह्वै रह्या, ज्यूं पांऊं तलि घास ॥ १३ ॥

कबीर संतों का सेवक है और भक्तों के सेवकों का भी सेवक है। कबीर ने अपने जीवन को पैरों के तले रहने वाले घास के समान विनम्र बना लिया है।

टिप्पणी—उपमा अलंकार। 'महान्' अर्थ वाले कबीर की घास से तुलना एक चमत्कार की सृष्टि कर रही है।

'परिकर' अलंकार की व्यंजना।

रौंड़ा ह्वै रही बाट का, तजि पाषँड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान॥ १४॥

रे मानव, अपने पाखण्ड और अहंकार को छोड़कर रास्ते के कंकड़ के समान विनम्र होकर रहो। जो व्यक्ति ऐसा ही निरहंकार हो जाता है; उसी को भगवान् की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी—'उपमा' की ध्वनि।

(४०) चित कपटी कौ अंग

कबीर तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत।
जालूँ कली कनीर की, तन रातौ मन सेत॥ १॥

कबीर कहते हैं कि उस व्यक्ति के पास भी नहीं फटकना चाहिए जिसमें प्रेम का छल मात्र है, दिखावा है। कनीर के वृक्ष की कली ही जलाने योग्य है जो ऊपर से लाल है, पर भीतर से श्वेत है। जिस व्यक्ति का व्यवहार अनुरागमय प्रतीत होता है, पर है वह राग-शून्य ही ऐसा व्यक्ति त्याज्य है।

टिप्पणी—'दृष्टान्त' और 'अन्योक्ति' का मिलन।

संसारी साषत भला, कंवारी कै भाइ।
दुराचारी वैश्नों बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ॥ २॥

संसार के विषयों में अनुरक्त पर धर्म पूर्वक रहने वाला शाक्त भी जो अपने आपको कुमारी कन्या का भाई ही समझता है, सज्जन है। पर व्यभिचारी तो वैष्णव भी दुर्जन है। भक्त कभी भी उसके पास नहीं जाता है।

टिप्पणी—'व्यतिरेक' की ध्वनि।

निरमल हरि का नांव सों, कै निरमल सुध भाइ।
फैलै दूणी कालिमां, भावै सों मण सावण लाइ॥ ३॥

व्यक्ति का अन्तःकरण या तो भगवान् के नाम-स्मरण से निर्मल होता है अथवा सहज स्वभाव को धारण करने से। पंथों के आडम्बर एवं कपटपूर्ण व्यवहार से जनित उसके हृदय की कालिमा उसके पंथानुमोदित कर्म रूपी सौ मन साबुन से भी नहीं धुलेगी ... [illegible] उससे दुगनी बढ़ेगी।

चतुर्थ है ... [illegible] तिशयोक्ति अलंकार।

(४१) गुरु-सिख हेरा कौ अंग

ऐसा कोई नां मिलै, हम कौं दे उपदेश।
भौंसागर मैं डूबतां, कर गहि काढ़ै केस ॥ १ ॥

हमें ऐसा कोई गुरु नहीं मिला जो सच्चे तत्त्वज्ञान का उपदेश देता और [illegible] भवसागर में डूबते हुए हमें अपने हाथ में बाल पकड़कर निकाल लेता।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

'बाल पकड़ने' में भवसागर में पूरा डूब जाने तथा जबरन निकालने [illegible] व्यंजना है।

ऐसा कोई नां मिलैं, हम कौं लेइ पिछानि।
अपना करि किरपा करैं, ले उतारैं मैदानि ॥ २ ॥

हमें ऐसा कोई गुरु नहीं मिला जो हमारी सामर्थ्य एवं योग्यता के स्व[illegible] तथा स्तर को पहचान कर हमें अपनाता और हम पर कृपा करता। उसके [illegible] तदनुरूप उपदेश एवं साधन देकर हमें इस संसार रूपी-मैदान में जूझने के लिए उ[illegible] देता, ताकि हमारी विजय सुनिश्चित हो जाती।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

ऐसा कोई नां मिलै, रांम भगति का मीत।
तन मन सौंपे मृग ज्यूं, सुनैं बधिक का गीत ॥ ३ ॥

हमें भगवान् की भक्ति का ऐसा सच्चा प्रेमी नहीं मिला जो मृग के स[illegible] अपना तन-मन भक्ति को समर्पित कर देता और मारने वाले के गीतों की भी [illegible] पर मुग्ध होकर मरने से भयभीत नहीं होता।

टिप्पणी—'उपमा' और रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

ऐसा कोई नां मिलै, अपना घर देइ जराइ।
पंचूं लरिका पटकि करि, रहै रांम ल्यौ लाइ ॥ ४ ॥

हमें ऐसा कोई विरक्त और अपरिग्रही जीव नहीं मिला जो अपनी वि[illegible] वासनाओं एवं शारीरिक सम्पत्ति-रूपी घर को ज्ञान और प्रेम की आग से नष्ट [illegible] दे तथा अपने काम-क्रोधादि पाँचों लड़कों की उपेक्षा करता हुआ उन्हें पटक [illegible] भगवान् के ध्यान में मग्न रहे।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति तथा सांगरूपक अलंकार।

ऐसा कोई नां मिलै, जासौं रहिये लागि।
सब जग जलतां देखिये, अपणीं अपणीं आगि ॥ ५ ॥

हमने ऐसा कोई नहीं देखा है जिसमें श्रद्धा और विश्वा[illegible] सकें, ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं। अधिकांश तो ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं जो अप[illegible]

[illegible] घास ॥ १३ ॥

में जल रहे हैं। श्रद्धा और प्रेम तो उसी के प्रति जाग सकता है जो विषय-वासनाओं से ऊपर उठ गया है।

ऐसा कोई नां मिलै, जासूं कहूँ निसंक।
जासूं हिरदै की कहूं, सो फिरि मांडै कंक ॥ ६ ॥

मुझे ऐसा कोई विवेकी तथा सच्चा हितैषी नहीं मिला, जिसके समक्ष पथ-प्रदर्शन की आकांक्षा और विश्वास के साथ अपने हृदय की उलझनों को बिना किसी संकोच के प्रगट कर सकूँ। जिस किसी से मैं अपने हृदय की बात कहता हूँ वही एक और उलझन पैदा कर देता है; साधना के किसी पाखण्ड में फंसा देता है।

ऐसा कोई नां मिलै, सब विधि देइ बताइ।
सुंनि मंडल मैं पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ ॥ ७ ॥

ऐसा कोई तत्वज्ञानी तथा साधनाविज्ञ गुरु नहीं मिला जो मुझे वह मार्ग दिखा देता, जिससे मैं उस शून्य गगन में निवास करने वाले परम-तत्त्व में ध्यान लगाये रहता।

टिप्पणी—कायायोग के प्रतीकों का प्रयोग।

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जांह।
ऐसा कोई नां मिलै, पकड़ि छुड़ावैं बांह ॥ ८ ॥

हमारे देखते हुए संसार काल के मुख में जा रहा है और संसार के देखते हुए हम वहाँ से चले जायेंगे। ऐसा कोई गुरु नहीं मिला जो काल से बाँह छुड़ाकर हमें मुक्त कर लेता।

तीनि सनेही बहु मिलै, चौथे मिलै न कोइ।
सबै पियारे रांम के, बैठे परबसि होइ ॥ ९ ॥

माया के विभिन्न त्रैतों से स्नेह करने वाले तो इस संसार में अनेक हैं, पर मायातीत एवं त्रयातीत चतुर्थ का प्रेमी हमें नहीं मिला। संसार का प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है और उसको प्रिय है, पर वह अपने अज्ञान से ही माया के इन त्रैतों के वशीभूत है।

टिप्पणी—यहाँ तीन तथा चतुर्थ से कई संकेत सम्भव हैं; पर चतुर्थ के सब अर्थ एक ही अर्थ में पर्यवसित होते हैं।

1. सतोगुण, रजोगुण और तपोगुण—यह त्रैत है और चतुर्थ है गुणातीत।
2. धर्म, अर्थ, काम—त्रिवर्ग और मोक्ष चतुर्थ।
3. वित्तैषणा-पुत्रैषणा एवं लोकैषणा—इन तीनों से परे का तत्व चतुर्थ है; वह स्वरूप स्थिति है।
४. जाग्रत, 'स्वप्न' और सुषुप्ति—इनसे परे समाधि की तुरीय अवस्था ही चतुर्थ है।

निष्कर्ष यह है कि अंत की अवस्था में व्यक्ति माया में लिप्त रहता है और मायातीत तत्त्व का साक्षात्कार ही चतुर्थ का स्नेह है।

माया मिलै महोबंती, कूड़े आखै बैन।
कोई घायल बेध्या नां मिलै, साईं हदा सैण ॥ १० ॥

प्रेम करने वाली माया मिल जाय और वह मोह और वासना की प्रेरणा देने वाले एवं बन्धन के हेतु पर कूड़े कर्कट के समान शब्द भी बोले। यही जगत में आसान है। पर भगवान् के प्रेम-कटाक्ष से विंधे हुए घायल व्यक्ति का मिलना सहज नहीं है।

टिप्पणी—'माया' माया लिप्त व्यप्ति के लिए लक्षणा है तथा 'कूड़े आखै बैन' असत् कार्यों में प्रवृत्ति के लिए उपलक्षण।

रूपक अलंकार।

सारा सूरा बहु मिलै, घायल मिलै न कोइ।
घायल ही घायल मिलै, तब राम भगति दिढ़ होइ ॥ ११ ॥

माया के वैभवों से सन्तुष्ट रहने के कारण सांसारिक दृष्टि से अच्छे-भले लोग तो बहुत मिल सकते हैं। पर भगवान् के प्रेम से घायल व्यक्ति दुर्लभ ही है। लेकिन जब गुरु के शब्द-बाणों से घायल को अपना समान-धर्मी घायल अथवा भक्त को जब भगवान के प्रेम से घायल व्यक्ति मिलता है; तब उसकी भक्ति और भी सुदृढ़ होती है।

प्रेम ढूँढ़त मैं फिरौं, प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कौं प्रेमी मिलै, तब सब विष अमृत होइ ॥ १२ ॥

कबीर कहते हैं कि मैं भगवान् के प्रेमी को ढूँढ़ता फिरता हूँ, पर मुझे कोई सच्चा प्रेमी भी नहीं मिला। जब भगवान् के प्रेमी से प्रेमी मिलता है, तब यह विषय वासनाओं का सारा विष अमृत में परिणत हो जाता है। क्योंकि उस समय ईश्वर-प्रेम का प्रवाह फूट पड़ता है। भक्ति वासना को भी अमृत रूप कर देती है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

हम घर जाल्या आपणां, लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौं तास का, जे चलैं हमारे साथि ॥ १३ ॥

हमने माया-मोह-रूपी अपना घर तो जला दिया है और जलाने के साधन रूप ज्ञान-भक्ति एवं वैराग्य का मुराड़ा (जलती हुई लकड़ी अथवा झट से आग सुलगा देने वाली काँटियों का ढेर) अपने हाथ में ले लिया है। अब उसका घर जलायेंगे जो हमारे साथ भगवान् के पास जाना चाहता है।

टिप्पणी—'लिया मुराड़ा हाथ' आदि मुहावरे के रूप प्रयोग भी है। अपना साफा हाथ में ले लिया अर्थात् इज्जत का ख्याल नहीं रहा। रूपकातिशयोक्ति अलंकार। पाठभेद—'जे चालै म्हारे साथि'।

(४२) हेत प्रीति सनेह कौ अंग

कमोदिनीं जलहरि बसै, चंदा बसे अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास॥ १॥

कुमुदनी जल में रहती है और चन्द्रमा आकाश में। पर इस दूरी का अनुभव न करते हुए भी अपने प्रियतम के दर्शन से कुमुदिनी खिल जाती है। जो जिसे प्रिय है, वह उसके पास ही है, चाहे स्थान और काल की कितनी भी दूरी है।

टिप्पणी—'अर्थान्तरन्यास' और 'अन्योक्ति' अलंकार।

भक्त को भगवान् से ऐसे ही सान्निध्य की अनुभूति होती रहती है।

कबीर गुरु बसै बनारसी, सिष समंदां तीर।
बिसार्‌या नहीं बीसरै, जे गुंण होइ सरीर॥ २॥

कबीर कहते हैं कि गुरु बनारस में रहते हैं और शिष्य दूर समुद्र के किनारे। पर अगर शिष्य और गुरु के अन्तःकरण में पारस्परिक सच्चे प्रेम के तत्त्व हैं तो वे एक-दूसरे को थोड़ी देर के लिए ऊपर से भूलते हुए भी वस्तुतः भूलते नहीं हैं। उनमें स्नेह की आभ्यन्तर प्रतीति बनी रहती है।

टिप्पणी—'बनारसी' और 'समंदा' स्थान की दूरी के प्रतीक हैं। कबीर के किसी शिष्य से पुरी में रहने की किवदन्ती का संकेत भी माना जा सकता है। भक्त और भगवान् के प्रेम की भी व्यंजना है।

जो है जाका भावता, जदि तदि मिलसी आइ।
जाकौ तन मन सौंपिया, सो कबहुँ छांड़ि न जाइ॥ ३॥

व्यक्ति को जिसके प्रति सच्चा स्नेह है वह जब कभी आकर उससे अवश्य ही मिलता है। जिसको अपना तन, मन और सर्वस्व अर्पण कर दिया है वह कभी भी हमेशा के लिए छोड़कर नहीं जा सकता है।

टिप्पणी—लौकिक प्रेम के वर्णन से प्रपत्ति एवं अनुग्रह की व्यंजना। 'समासोक्ति' अलंकार।

स्वामी सेवक एक मत, मन ही मैं मिलि जाइ।
चतुराई रीझैं नहीं, रीझैं मन कै भाइ॥ ४॥

जिस स्वामी और सेवक का ऐकमत्य है अर्थात् जो सेवक अपने को स्वामी के अनुकूल बना लेता है और स्वामी उसे अपना लेता है, वे बाहर से पृथक व्यवहार करते हुए प्रतीत होते हैं, पर वास्तव में वे मन में एक-दूसरे के अनुकूल और अभिन्न हैं। स्वामी सेवक की कूटनीतिज्ञता से प्रसन्न नहीं होता, अपितु उसके सहज भाव पर रीझता है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति'। भक्त और भगवान् का सेव्य-सेवक सम्बन्ध व्यंजित है। जीव संसारी और अल्पशक्तिमान् है, और भगवान् सर्वशक्तिमान् एवं मायातीत है। इस भेद के रहते हुए भी वे मूलतः एक हैं। भगवान् जीव की सहज सरलतापूर्ण प्रपत्ति पर रीझते हैं, उसकी बुद्धिमत्ता, ज्ञान और साधना से अर्थात् उसकी अहं भावना से नहीं।

(४३) सूरातन कौ अंग

काइर हुवां न छूटिये, कछु सूरा तन साहि।
भरम भलका दूरि करि, सुमिरण सेल संबाहि ॥ १ ॥

रे जीव, कायर होने से इस संसार रूपी संग्राम से मुक्ति नहीं मिलेगी, अतः शरीर में कुछ वीरता धारण कर। कृत्रिम एवं भ्रान्ति में डालने वाली चमक के आयुधों को छोड़कर भगवान् के स्मरण-रूपी भाले को सँभालो।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

षूंणैं पड़्या न छूटियो, सुणि रे जीव अबूझ।
कबीर मरि मैंदान मैं, करि इन्द्र्यां सूं झूझ ॥ २ ॥

रे अज्ञानी जीव सुन, कोने में छिपकर माया के आघातों से बच नहीं सकेगा। इन्द्रियों से जूझता हुआ चौड़े मैदान में ही अपने प्राण त्याग कर। अर्थात् विषय-वासनाओं से भागना उनकी निवृत्ति का उपाय नहीं है। ज्ञान-वैराग्य पूर्वक उनको भोगते तथा उनकी वासनाओं को नष्ट करते हुए ही, इस प्रकार लड़ते हुए ही, उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। आसक्ति की निवृत्ति ही आसक्त जीव की मृत्यु है और वह काम्य है।

कबीर सोई सूरिमां मन सूं मांड़ै झूझ।
पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज ॥ ३ ॥

कबीर कहते हैं कि सच्चा शूरवीर वही है जो वासनापूर्ण मन से युद्ध करके उसके शब्द, स्पर्श, रूप-रस और गन्ध अथवा ज्ञानेन्द्रियों रूपी उसके पाँचों पैदल सैनिकों को भगा देता है और इस प्रकार द्वैत-भाव को नष्ट करने में सफल हो जाता है।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

सूरा झूझैं गिरद सूँ, इक दिसि सूर न होइ।
कबीर यौं बिन सूरिमां, भला न कहिसी कोइ ॥ ४ ॥

शूरवीर वही है जो चारों ओर की सेनाओं से युद्ध कर पाता है। जो केवल एक तरफ ही जूझता है; वह शूरवीर नहीं। कबीर कहते हैं कि इसके बिना अर्थात् चारों ओर लड़ सकने की क्षमता के बिना कोई भी शूरवीर की प्रशंसा नहीं कर सकता है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार। विषय-वासना, पक्षधरता, मानापमान आदि सभी से युद्ध करने पर ज्ञानी और भक्त सच्चा शूरवीर है, केवल एक साधना का आग्रह वहन करने मात्र से नहीं।

कबीर आरणि पैसि करि, पीछें रहे सो सूर।
सांई सूं साचा भया, रहसी सदा हजूर ॥ ५ ॥

कबीर कहते हैं कि इस आध्यात्मिक युद्ध-स्थल में प्रवेश करके जो अपने स्वामी के पीछे लगा रहता है, वही वास्तव में शूरवीर है। उसी ने आध्यात्मिकता के विरोधी योद्धाओं को मारकर स्वामी की अर्थात् आध्यात्मिकता एवं भक्ति की रक्षा की। ऐसा व्यक्ति अपने स्वामी के समक्ष सच्चा सिद्ध हुआ एवं उसका विश्वासपात्र बना रहा। वह हमेशा ही भगवान् की सेवा में प्रस्तुत रहेगा।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' व 'विरोधाभास'। ईश्वर-भक्त की ओर संकेत है। माया से जो पराजित न हो, उसके काम-क्रोधादिक सैनिकों को मारकर भक्ति का संरक्षण करता रहे तथा अपने स्वामी का अनुगामी हो, वही निर्मल अन्तःकरण वाला जीव सच्चा भक्त बन सकता हैं। उसी पर भगवान् का अनुग्रह होता है और वही ईश्वर से शाश्वत समीप्य लाभ करता है।

पाठान्तर—'पीछे रहे न सूर' इससे अर्थ भिन्न हो जाता है।

गगन दमांमां बाजिया, पड़्या निसानैं घाव।
खेत बुहार्‌या सूरिमैं, मुझ मरणे का चाव ॥ ६ ॥

आकाश में युद्ध के नगाड़े बजने लगे हैं और निशान पर चोट पड़ने लगी है। शूरवीर ने युद्ध की भूमि झाड़-बुहार कर तैयार कर ली है। अब उसे मरने की अकांक्षा है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति'। जीवन्मृत बनने की आकांक्षाकी व्यंजना है। ऐसा साधक जीव ही शूरवीर है। खेत बुहारना युद्ध-भूमि तैयार करना, स्थूल काम-क्रोधादिक को हटाना एवं विवेक-वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न होना है। 'खेत बुहारना' का अर्थ—विरोधी पक्ष के सैनिकों का सफाया भी है, ताकि मूल शत्रु से मुकाबिला हो सके। यहाँ अज्ञान ही मूल शत्रु है और विक्षेप जन्य काम-क्रोधादिक उसके सैनिक। यहाँ 'खेत बुहारना' कामादिक को नष्ट करना भी है। 'नगाड़ा बजना' और 'निशान पर चोट' गुरु के सदुपदेशों के द्वारा वासनाओं से जूझने का आह्वान है। 'गगन दमांमां' शब्द से 'अनहदनाद' की व्यंजना भी है। पाठान्तर—खेत जु, मांडिया पाठ भी है।

कबीर संसा मेरै कोउ नहीं, हरि सूं लाग्या हेत।
कांम क्रोध सूं झूझणां चौड़े मांड्या खेत ॥ ७ ॥

कबीर कहते हैं कि मुझे अपनी शक्ति पर किसी प्रकार का संशय तथा शत्रु

से कोई भय नहीं रह गया है। भगवान् से मेरा प्रेम हो गया है। उनसे मुझे शक्ति मिल रही है। इसी से मैंने छिपकर नहीं, चौड़े में, माया को शत्रु घोषित करके युद्ध का आह्वान किया है। मुझे काम-क्रोधादिक से लड़ना है।

टिप्पणी— 'रूपक' अलंकार। 'संसा कोउ नहीं' में द्वैत जनित संशय व्यंजित है।

सूरैं सार सँबाहिया पहर्‌या सहज सँजोग।
अब कै ग्यांन गयंद चढ़ि, खेत पड़ण का जोग ॥ ८ ॥

शूरवीर ने तत्त्व-ज्ञान-रूप शस्त्र धारण कर लिया है और सहज वैराग्य का केसरिया बाना पहन लिया है। अब की बार ज्ञान-रूपी हाथी पर चढ़कर युद्धस्थल में प्रयाण करना है और वहीं पर खेत रहने का सुयोग भी है। अर्थात् सांसारिक बद्ध जीव की मृत्यु रूप जीवन्मृत अवस्था को प्राप्त करने का सुन्दर अवसर आ गया है।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार। 'पीछे रहे सु सूर', 'खेत पड़न का जोग' आदि के द्वारा कबीर ने 'शूरवीर' के सम्बन्ध में परम्परागत धारणाओं का खण्डन करके आध्यात्मिक क्षेत्र के अनुरूप इन प्रत्ययों को अर्थ दिया है। इसमें परम्परा रूढ़ियों में न बँधे रहने की कबीर की अकांक्षा भी स्पष्ट है।

सूरा तबही परषिये, लड़ै धणीं कै हेतु।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै, तऊ न छाड़ै खेत ॥ ९ ॥

शूरवीर की परीक्षा उस समय होती है, जब वह अपने स्वामी के लिए लड़ता है। उस समय उसके अंग-अंग कट जाते हैं, पर वह फिर भी युद्ध-क्षेत्र नहीं छोड़ता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत दोहे में वीर के वर्णन से अप्रस्तुत में भक्त के स्वरूप की व्यंजना है। अक्तियों या 'समासोक्ति' अलंकार। भक्त का जीवन-संग्राम भगवान् के लिए है। उनसे ही प्रेरित है। इसमें जीव-भाव के तत्त्व छिन्न-भिन्न हो जाते हैं पर वह जीवन्मृत अवस्था में ही लड़ता रहता है।

खेत न छाड़ै सूरिवां, झूझै द्वै दल मांहि।
आसा जीवन मरण की, मन में आंणें नांहि ॥ १० ॥

यह शूरवीर दोनों दलों से जूझता है पर तब भी युद्ध-क्षेत्र से भागता नहीं है। इसके मन में जीवन-मरण की कुछ भी चिन्ता नहीं है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' या समासोक्ति अलंकार। 'व्यतिरेक' की व्यंजना भी है। भक्त, रागद्वेष द्वैत या अतिवाद के दो दलों से जूझता है और अन्त तक लड़ता ही रहता है। जीवन-मरण में से वह किसी का भी स्वागत करने के लिए तैयार है। उसके लिए भक्ति का रसास्वाद ही जीवन है और विषयों से विरक्ति ही मरण है।

अतः दोनों ही ग्राह्य है। सांसारिक दृष्टि से मरण से भी उसे कोई भय नहीं है और जीने की आसक्ति भी नहीं है।

अब तौ झूक्यां हीं बणै, मुड़ि चाल्यां घर दूरि।
सिर साहिब कौं सौंपतां सोच न कीजै सूरि॥ ११॥

हे शूरवीर, अब तो युद्ध करने में ही कल्याण है। मुड़कर पीछे चलो तो घर बहुत दूर रह गया है। अपने स्वामी के लिए सिर समर्पित करने में तुम्हें हिचकना नहीं चाहिए।

टिप्पणी—'अन्योक्ति'। जीव अपने ही कर्मजाल में फँस कर अपने माया-रहित रूप से दूर आ गया है। यही 'घर दूरि' का तात्पर्य है। प्रारब्ध कर्मों को वैराग्यपूर्ण भोगकर नष्ट किए बिना केवल ज्ञान मात्र से माया रहित स्वरूप से प्रतिष्ठा सम्भव नहीं। 'मुड़ि चाल्यां' का तात्पर्य—माया के पसारे को ध्यान और आत्म-चिन्तन से समेट लेना है। यह भी अब जन्मान्तर की वासनायें नष्ट होने से पूर्व सम्भव नहीं है। 'जूझना' विषयों की ज्ञान-वैराग्यपूर्वक भोगकर उनकी आसक्ति को ज्ञान और प्रेम से नष्ट करना है। 'सिर सौंपना' जीव के अहंभाव का ईश्वर में विलय है। आध्यात्मिक व्यंजना के लिए प्रतीकों का प्रयोग।

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी, मनका रुचित कीन्ह।
मरनै कहा डराइये, हाथि स्यंधौरा लीन्ह॥ १२॥

अब तो कुछ ऐसा हो गया है कि मैंने अपने चित्त की इच्छा-पूर्ति के अनुकूल संकल्प कर लिया है। भगवत्प्राप्ति की प्रबल इच्छा ने सती की तरह परमात्मा-रूप पति से मिलने का संयोग भी कर दिया है। पति के संग सती होने के संकल्प का प्रतीक सौभाग्य सिन्दूर का पात्र मैंने अपने हाथ में ले लिया है। अब मरने से क्या भय है।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार। पाठभेद—'मन का भावतु कीन'।

लौकिक प्रेम के प्रस्तुत एवं बिम्ब से रहस्यवादी प्रेम की व्यंजना है।

जिस मरनैं थैं जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूं कब देखिहूं पूरन परमानंद॥ १३॥

व्यष्टि चैतन्य के अलग होने रूप जिस मृत्यु से संसार शरीर की गहरी आसक्ति के कारण भयभीत है, वह मेरे आनन्द का विषय है। मैं शरीर के सीमित अहं से सर्वथा मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य में प्रतिष्ठित होना चाहता हूँ। अतः मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि कब शरीर का सीमित अहं छूटे और कब मुझे परब्रह्म के दर्शन हों।

टिप्पणी—मृत्यु से सीमायें हट जाती हैं और चैतन्य को अपने असीम रूप का साक्षात्कार होता है! यही अभिप्रेत।

कायर बहुत पमांवहीं, बहकि न बोल सूर।
कांम पड्यां हीं जांणिये, किसके मुख परि नूर॥ १४॥

कायर ही बहुत डींग मारता है। सच्चा शूरवीर अपनी प्रशंसा में बहकता नहीं है। पर जब अवसर आता है तब पता चलता है कि किसके चेहरे पर शूरवीरता का वास्तविक तेज है।

टिप्पणी—लोकोक्ति।

जाइ पूछौ उस घाइलैं, दिवस पीड़ निज जाग।
बांहणहारा जाणिहै, कैं जांणैं जिस लाग॥ १५॥

भगवान् के प्रेम में घायल व्यक्ति से पूछो कि उसे कितनी गहरी व्यथा है। दिन भर पीड़ा में कराहता है और रात में उसी पीड़ा से जागता है। ऐसी चोट की मार्मिकता को या तो वह समझता है जिसने प्रेम-तीर मारे हैं या वह जिसे तीर लगे हैं। प्रेम के तीर एवं व्यथा दोनों अनुभूति रूप हैं अतः दूसरों के लिए अलक्ष्य हैं।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

घाइल घूमैं गहिभर्‍या, राख्या रहै न ओट।
जतन कियां जीवैं नहीं, बड़ीं मरम की चोट॥ १६॥

प्रेम-बाण से घायल व्यक्ति अपनी चोट के नशे से अर्द्ध जागृत-सी अवस्था में होकर चक्कर काटता है। वह किसी भी सहारे या बहाने से इस व्यथा को भुलाकर जीवन के सामान्य कार्यों में प्रवृत्त नहीं हो सकता। उसकी यह चोट मार्मिक है; अतः उसका सांसारिक जीवन बन नहीं सकता, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति'। भक्त की दशा का वर्णन है।

ऊँचा विरष अकासि फल, पंषी मूए झूरि।
बहुत सयांनें पचि रहे, फल निरमल परि दूरि॥ १७॥

साधना-रूपी वृक्ष अत्यन्त ऊँचा है। इस वृक्ष पर बहुत ऊँचे माया से परे शून्य में ब्रह्मज्ञान रूपी फल है। इस आनन्द के लिए इन्द्रियाँ रूपी पक्षी विसूरकर ही रह जाते हैं, पर उन्हें इस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती है। बहुत से ज्ञानाभिमानी चतुर भी इसके लिए प्रयत्नशील हैं। पर यह ब्रह्मानन्द उनकी चतुराई एवं ज्ञान से परे की वस्तु है। यह भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होने वाली स्वसंवेद्य अनुभूति है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

वह वृक्ष सुषुम्ना मार्ग, शून्य शिखर, व आकाश-रूप तथा अनहदनाद एवं ज्योति फल रूप भी माने जा सकते हैं। इन्द्रियाँ रूपी पक्षी यहाँ तक नहीं पहुँचते। यह स्थिति विद्वत्ता द्वारा नहीं, अपितु साधना से प्राप्य है।

दूरि भया तौ का भया, सिर दे नेड़ा होइ।
जब लगि सिर सौंपे नहीं, कारज सिधि न होइ॥ १८॥

रे जीव, अपने अज्ञान एवं अहंभाव के कारण तू ब्रह्म से दूर हो गया तो क्या हुआ? अब भी अपना सिर-रूपी अहंभाव समर्पित करके तू ब्रह्म के सन्निकट हो जा।

जब तक तू अपने अहं का समर्पण नहीं करेगा, तब तक मुझे मुक्ति नहीं मिलेगी, तू जीवन में कृतार्थ नहीं होगा।

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारै हाथि करि, सौ पंसे घर माँहि॥ १९॥

कबीर कहते हैं कि यह घर प्रेम का है, अपनी मौसी का नहीं। यहाँ रोने धोने या अनुनय-विनय से काम नहीं चलता। प्रेम के घर में वहीं प्रवेश कर सकता है, जो सिर उतार कर अपने हाथ पर रख लेता है; अर्थात् अपना पृथक् अहं भगवान् को समर्पित कर देता है; प्रेम के लिए मृत्यु का वरण करता है।

टिप्पणी—लौकिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना है। द्विवेदी जी ने इस प्रेम को मृत्यु का प्रेम कहा है। 'सीस उतारै हाथ करि' में लौकिक एवं आलौकिक प्रेम की दो भिन्न लक्षणाएँ और ध्वनियाँ हैं।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पंग तलि धरै, तब निकट प्रेम का स्वाद॥ २०॥

कबीर कहते हैं कि जीव का वास्तविक घर प्रेम ही है। परम तत्व से अभेद प्राप्ति का स्वरूप एवं मार्ग—दोनों ही प्रेम स्वरूप हैं। यह मार्ग अगम्य और अनन्त है। जो व्यक्ति अपना सिर उतार कर पैरों के तले रख लेता है, अर्थात् अपने पृथक् अहंभाव को कुचल देता है, उसके लिए प्रेम का स्वाद अत्यन्त सन्निकट एवं सुलभ है। पृथक् अहं एवं मृत्यु की सीमा समाप्त होते ही व्यक्ति असीम परमतत्व में प्रतिष्ठित हो जाता है।

टिप्पणी—'प्रेमः पुरुषार्थो महान्' की व्यंजना है।

प्रेम न खेतौं नींपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ॥ २१॥

प्रेम अत्यन्त ही दुर्लभ वस्तु है। यह खेतों में पैदा नहीं होता है कि इसका बाहुल्य हो। यह सामान्यतः बाजार में बिकने वाली वस्तु नहीं है कि चाहे जो इसे खरीद ले यह अमूल्य एवं दुष्प्राप्य वस्तु है। राजा-प्रजा में से जिस किसी को इसकी चाह होती है; उसे अपना सिर देखकर अपना अहं समर्पित करके इसे लेना पड़ता है।

टिप्पणी—लौकिक और अलौकिक—दोनों प्रकार के प्रेम का चित्रण है।

सीस काटि पासंग दिया, जीव सरिभरि लीन्ह।
जाहि भावे सो आइ ल्यौं, प्रेम आट (हाट) हंम कीन्ह॥ २२॥

कबीर कहते हैं कि हमने अपना सिर अर्थात् पृथक् अहं तराजू का पासंग दूर करने के लिए दे दिया है और फिर अपने चैतन्य को बाट बनाकर उसके बराबर प्रेम (परम तत्व) प्राप्त कर लिया है। हमने प्रेम की हाट को है अथाव प्रेम हमारी आट

में (अधिकार में) है। जिस किसी को खरीदने की इच्छा है, वह ऊपर के तोल-भा[illegible] से ही खरीद सकता है।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

ब्रह्म-चैतन्य एवं जीव-चैतन्य समान हैं, अभिन्न हैं। अन्तर केवल जीव के [illegible] की उपाधि ने किया है। वही तराजू का पासंग है, अन्यथा जीव और ब्रह्म के [illegible] बराबर हैं, वे अभिन्न हैं। साधक जीव ने अपने आपको देकर ईश्वर प्रेम (अर्थ[illegible] स्वयं ईश्वर को) प्राप्त किया है। प्रेम ऐसे ही मिलता है। अभेद का रागात्[illegible] प्रत्यक्ष ही प्रेम है। अभेद परमतत्त्व है अतः वह प्रेम रूप है। इस 'रूपक' से यही [illegible] दर्शन व्यंजित है।

सूरं सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस।
आगं थं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास ॥ २३॥

शूरवीर ने भगवत्प्राप्ति के लिए अपना सिर उतार लिया और शरीर की आस[illegible] छोड़ दी। ऐसे अहंकार-शून्य एवं शरीर को त्यागे हुए भक्त को अपनी ओर आते देखकर भगवान् आगे बढ़कर स्वागत की प्रसन्न मुद्रा में मुस्करा दिए।

टिप्पणी—'शरीर संसार का उपलक्षण है। 'प्रपत्ति' और 'अनुग्रह' दोनों [illegible] चित्रण है उनका अन्योन्याश्रित भाव भी व्यंजित है।

भगति दुहेली रांम की, नहि कायर का कांम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि का नांम ॥ २४॥

भगवान् की भक्ति अत्यन्त कष्ट-साध्य है। इस मार्ग में कायर की गति [illegible] है। जो अपना सिर काटकर हाथ में ले लेगा वही वास्तव में भगवान् की भक्ति [illegible] का साहस कर सकेगा।

भगति दुहेली रांम की, जसि खाँड़े की धार।
जे डोलं तौ कटि पड़े, नहीं तौ उतरै पार ॥ २५॥

भगवान् की भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। यह तलवार की धार पर चलना [illegible] जो कोई इसमें हिल जाता है; अर्थात् संशय एवं विषयासक्ति के कारण जो भ[illegible] दृढ़ नहीं रहता वही इस धार से कट कर गिर जाता है, नष्ट हो जाता है। [illegible] अविचल होकर चलने का मार्ग है। इस प्रकार चलने वाला इस भवसागर [illegible] उतर जाता है।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार। 'क्षुरस्य धारा' से तुलना कीजिए।

भगति दुहेली रांम की, जैसी अगनि की झाल।
डाकि पड़े ते ऊबरे, दाधे कौतिगहार ॥ २६॥

दाम्पत्य, वात्सल्य आदि किसी भी सांसारिक भावना की उपाधि [illegible] भक्ति से सिद्ध होती है। जीव का इन वासनाओं में उलझ जाने का भय [illegible]

रहता है, अतः यह दुस्साध्य है। इसी से भक्ति अग्नि की लपेटों की तरह है। जो ज्वालाओं के भीतर कूद पड़ता है वह बच जाता है, पर जो दूर से तमाशा देखने वाला दर्शक है और इनके स्पर्श के कौतुक का आनन्द लेना चाहता है वही झुलस जाता है।

टिप्पणी—जो भक्ति की मूल चेतना का साक्षात्कार कर लेता है, वह उसकी अग्नि में तपता हुआ वासनाओं के कल्मष से मुक्त होकर कंचन के समान निर्मल हो जाता है। यही उसका बचना है। पर जो भक्ति का असली रूप नहीं जानता है, वह केवल कौतुक देखने वाला दर्शक मात्र है, वह वासनाओं में लिप्त हो जाता है, यही उसका जलना है।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

कबीरा घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यांन षड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ॥ २७ ॥

कबीर कहते हैं कि प्रेम (भक्ति) रूपी घोड़े पर चढ़ कर तथा अपने हाथ में ज्ञान-रूपी तलवार लेकर इस चेतन रूपी घुड़सवार ने संसार के युद्धस्थल में काल-रूपी शत्रु के सिर पर गहरे आघात किये हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य।

कबीर हीरा वणजिया, महँगे मोल अपार।
हाड़ गल्या माटी गली, सिर साटै ब्यौहार ॥ २८ ॥

कबीर कहते हैं कि मैंने अत्यन्त महँगे भाव में हीरा अर्थात् तत्त्वज्ञान खरीदा है। इस व्यापार में शरीर की हड्डियाँ, माँस, मज्जा आदि सब तो नष्ट होकर व्यर्थ हो गये। उन्हें मैं बहुमूल्य समझता था, पर वे तो खोटे सिक्के ही निकले। अन्त में अपने शिर अर्थात् जीव भाव के—स्वयं के—बदले में मैंने इस हीरे को खरीदा है। मैं खरीदार स्वयं ही इसका मूल्य बन गया हूँ।

टिप्पणी—सांगरूपक, और रूपकातिशयोक्ति अलंकार। 'हाड़ गला माटी मिली' पाठ भी है।

जेंते तारे रैणि के, तेतै बैरी मुझ।
धड़ सूली सिर कंगुरैं, तऊ न बिसारौं तुझ ॥ २६ ॥

हे भगवान्, तुम्हारी भक्ति से अगर संसार में मेरे इतने शत्रु हो जायँ जितने आकाश में तारे हैं, मेरा शरीर सूली पर चढ़ा दिया जाय और सिर काट कर दुर्ग के कंगूरे पर लटका दिया जाय, तब भी मैं आपको नहीं छोड़ूँगा।

जे हार्‌या तौ हरि सवाँ, जे जीत्या तो डाव।
पारब्रह्म कूँ सेवतां, जो सिर जाइ तो जाव ॥ ३० ॥

इस भक्ति के खेल में वास्तव में हार कभी होती नहीं। अगर भक्त हारता है तो भगवान् से, समर्थ से। समर्थ से, वह भी भगवान् जैसे समर्थ से हार भी जीत ही है। वह हार भी आनन्द का ही हेतु है अथवा भक्त की हार से भगवान् का सवायापन सिद्ध हो जाता है; यह भी भक्त का काम्य है, अतः जीत ही है। अगर भक्त जीतता है अर्थात् भगवान् को अनुग्रह के लिए झुका लेता है, तो फिर बाजी मार ही लेता है। यही तो उसका दाव था। परब्रह्म की सेवा में उनके साथ खेल की बाजी में अर्थात् उसकी प्राप्ति में अगर जीव का अपना अस्तित्व ही मिटता है तो मिट जाय। यही काम्य भी है।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार। 'सो खेलता' पाठ भी है।

सिर साटैं हरि सेवियें, जाणि जीव की बांणि।
जे सिर दीयां हरि मिलै, तद लगि हांणि न जांणि ॥ ३१ ॥

अपने आपको समर्पित करके भी भगवान् की सेवा करनी चाहिए। इसमें जीव के लिए स्वार्थ एवं लाभ-हानि की प्रवृत्ति का त्याग आवश्यक है। अपने अहं को देकर भी, अगर भगवान् की प्राप्ति हो जाती है तब भी कुछ हानि नहीं है; लाभ ही है।

टिप्पणी—अपने आपको मिटाकर प्राप्त करने में विरोधाभास का चमत्कार है।

टूटी बरत अकास थैं, कोइ न सकै झड़ झेल।
साध सती अरु सूर का, अंणीं ऊपिला खेल ॥ ३२ ॥

आकाश अर्थात् अत्यधिक ऊँचाई से टूटे हुए मोटे रस्से को चपेट को सहन करके उसे धरती पर गिरने से कोई नहीं रोक सकता है। उसी प्रकार पतित होते हुए साधक को सँभाल पाना बहुत कठिन है। साधू, सती एवं शूरवीर का कार्य ऊँची सूली पर की गई नट-विद्या के समान है, जहाँ से फिसलने पर गिरते हुए रस्से की तरह ही न सँभल सकने के कारण उसे नष्ट होने से बचाने वाला कोई नहीं है।

टिप्पणी—'निदर्शना' और 'रूपक' अलंकार।

सती पुकारैं सलि चढ़ी, सुनि रे मींत मसांन।
लोग बटाऊ चलि गये, हंम तुम रहे निदांन ॥ ३३ ॥

सती चिता पर बैठकर श्मशान को सम्बोधित करके कह रही है—'रे श्मशान! यहाँ तक साथ आने वाले लोग कुछ देर के मेहमान थे। वे तो सब चले गये, अब तुम्हारा और मेरा अन्त तक का साथ है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' और 'रूपक' अलंकार। साधक-जीवात्मा ज्ञान-वैराग्य की अग्नि में अपने वासनामय शरीर को भस्म करके पति के शुद्ध-चैतन्य-रूप परमेश्वर से मिलने जा रही है। इस अग्नि के ताप को सह सकने वाली आगन्तुक तृष्णा आदि अब उसे छोड़कर चली गई है। उसी अवस्था में अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए

उसने वैराग्य की अग्नि का वरण किया है । वही चिन्ता रूप है । 'चिता' सती आदि के रूपक से रहस्यवाद की भी व्यंजना है ।

सती बिचारी सत किया, काठौं सेज बिछाइ ।
ले सूती पिव आपणां, चहुं दिसि आगनि लगाइ ।। ३४ ।।

धर्म परायण सती ने अपने धर्म का पालन किया । उसने लकड़ी की चिता तैयार की तथा उसके चारों ओर आग लगाकर उसमें अपने पति के साथ सो गई ।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' । अनेक साधनाओं के काष्ठ को ज्ञानाग्नि एवं प्रेमाग्नि से चारों ओर प्रज्वलित करने तथा उसमें अपनी वासनाओं को भस्मीभूत करके जीवात्मा का पति-परमेश्वर के साथ अभेद स्थापन—यही इसका प्रतिपाद्य है । 'सूती' में सांसारिक विषयों के अग्रह्मण-रूप नींद का संकेत है ।

सती सूरातन साहि करि, तन मन कीया घांण ।
दिया महौला पीव कूँ, तब मड़हट करै बषांण ।। ३५ ।।

सती ने अपने अन्त:करण में शूरवीरता सँजोकर अपने शरीर और मन को पीस डाला और अपना सर्वस्व पति को समर्पित कर दिया । तब इस त्याग का मरघट भी वर्णन करने लगा । मरघट इस क्रिया का स्मारक है इस रूप में यह वर्णन ही है । काया या उपाधि भस्मवत् या मरघट रूप रह जाती है । यह उपाधि भी नष्ट होकर मरघट की तरह अभेद का साधन है ।

टिप्पणी—'मानवीकरण' अलंकार । लाक्षणिक प्रयोग ।

सती जलन कूँ नीकली, पीव का सुमरि सनेह ।
सबद सुनत जीव नीकल्या, भूलि गई सब देह ।। ३६ ।।

आत्मा रूपी सती अपने पति परमेश्वर के स्नेह का ध्यान करती हुई पति से भेद करने वाली अपनी अपाधि को जलाने के लिए साधना के मार्ग पर अग्रसर हुई । तभी उसे अनहदनाद या गुरु का शब्द सुनाई दिया, इसके सुनते ही उसका चैतन्य शरीर की सीमा से अतिक्रान्त हो गया और उसका देहाध्यास मिट गया ।

सती जलन कूँ नीकसी, चित धरि एक बमेक ।
तन मन सौंप्या पीव कूँ, तब अंतरि रही न रेख ।। ३७ ।।

आत्मा-रूपी सती अपने चित्त में एक मात्र विवेक धारण करके अपने पति प्रभु का ध्यान करती हुई चित्त में दग्ध होने के लिए उद्यत हुई । उसने अपना तन-मन सर्वस्व भगवान् को समर्पित कर दिया है और उसके बाद उसमे तथा पति में अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं रहा ।

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यूं न मराइ ।
मूंवा पीछै सत करै, जीवत क्यूं न कराइ ।। ३८ ।।

हे सखि, मैं तुमसे पूछती हूँ कि पांचभौतिक शरीर को रखते हुए ही इसकी वासनाओं से असम्पृक्ति-रूप मृत्यु का वरण क्यों नहीं करती हो ? जिस सतीत्व के

मार्ग को मर कर अपनाती हो अर्थात् इहलौकिक विषयों का त्याग करके अपने पति की अनुकूलता तथा उनसे अभेद की प्राप्ति करती हो, उस अनुकूलता एवं अभेद को अनासक्त भाव पति परमेश्वर के लिए विषयों को भोगते हुए ही क्यों नहीं प्राप्त करती ?

टिप्पणी—प्रतीकों का प्रयोग है। जीवन्मुक्ति की कामना व्यंजित है। जीवन्मृत का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है।

कबीर प्रगट रांम कहि, छानै रांम न गाइ।
फूस कजोड़ा दूरि करि, ज्यूँ बहुरि न लागै लाइ ॥ ३६ ॥

भगवान् का स्मरण प्रकट रूप में करो; केवल छिपकर नहीं अर्थात् सम्पूर्ण कार्यों को ही ईश्वराराधन में परिणत करो। विषयासक्ति के कार्यों में भी राम नाम को ओझल मत होने दो। प्रकट में विषयों में रमो और एकान्त में भजन करो, यह ठीक नहीं। अज्ञान और वासना-रूपी फूस के समूह या ढेर को हटा दो, ताकि इस संसार की ज्वला फिर न धधके।

टिप्पणी—साधना को छिपाने एवं गुह्य बनाने से ढोंग को प्रश्रय मिलता है। सम्पूर्ण जीवन ही भक्तिमय होना चाहिए।

कबीर हरि सबकूं भजै, हरि कूँ भजै न कोइ।
जब लग आस सरीर की, तब लग दास न होइ ॥ ४० ॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् तो सबका ध्यान रखते हैं, पर भगवान् का स्मरण कोई भी नहीं करता है। जब तक व्यक्ति शरीर में आसक्त रहता है, तब तक वह भक्त नहीं हो सकता है। देहासक्ति में उसे भगवान् का ध्यान ही नहीं रहता। देहासक्ति से ऊपर उठने पर देह से आशा छोड़कर ही व्यापक चैतन्य का साक्षात्कार एवं ईश्वर-प्रेम सम्भव है।

आप सवारथ मेदनीं, भगत सवारथ दास।
कबीरां रांम सवारथी, जिनि छाड़ी तन की आस ॥ ४१ ॥

सारा जगत् अपने सांसारिक स्वार्थों के वशीभूत है। अहमन्य भक्त में भी यह भावना है कि उसकी भक्ति अक्षुण्ण रहे। पर कबीर तो इस अहंकार से भी मुक्त हैं। उनका स्वार्थ तो भगवान् राम की इच्छा है। भगवान जैसे रखते हैं; वैसे ही रहने में उन्हें आनन्द है। उन्होंने अपने शरीर (सूक्ष्म शरीर का भी) का भरोसा छोड़ दिया है तथा इच्छाओं का परित्याग कर दिया है। भक्त का अहं बना रहे, मैं भक्त रहूँ यह भी एक वासना ही है। कबीर ने इसका भी त्याग कर दिया है।

टिप्पणी—'व्यतिरेक' अलंकार ध्वनित है। भगवान् की इच्छा से परिचालित रहने की सहज भावना ही कबीर का सहज जीवन-दर्शन है। उसमें भक्त या ज्ञानी बनने की आसक्ति एवं अहं भी नहीं है।

(४४) काल कौ अंग

झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद ॥ १ ॥

लोग इस झूठे सांसारिक सुख को सुख कह कर अपने मन में हर्ष का अनुभव करते हैं। यह संसार नश्वर है; इसका उनको ध्यान भी नहीं है। यह सारा जगत् काल का चबेना है जिसमें से कुछ को काल ने मुँह में डाल रखा है और कुछ उसकी गोद में पड़ा हुआ है जो उसके मुख में जाने की प्रतीक्षा कर रहा है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

आज कि काल्हि कि निसि हमैं, मारगि माल्हंतां।
काल सिचांणां नर चिड़ा, औझड़ औच्यंतां ॥ २ ॥

हम मनुष्य चिड़ियाँ हैं और यह काल हमारे लिए बाज पक्षी है। यह बाज हमको बेखबर पाकर अचानक कहीं ऐसे-वैसे स्थान में, रास्ते चलते हुए आज या कल या रात में ही अर्थात् अत्यन्त शीघ्र ही, या चाहे जब अँधेरे में मार देगा; हमें पता नहीं चलेगा।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

काल सिहांणै (सिरहाणै) यौं खड़ा, जागि पियारे म्यंत।
रांम सनेही बाहिरा, तूँ क्यूँ सोवै नच्यंत ॥ ३ ॥

रे प्यारे मित्र, काल तेरे सिरहाने खड़ा है या खड़ा-खड़ा प्रसन्न हो रहा है, यह सोचकर जाग, अर्थात् अज्ञान की निद्रा को त्याग कर ज्ञानार्जन कर। भगवान् की भक्ति से पराङ्मुख होकर तू इस प्रकार निश्चित कैसे सो रहा है?

टिप्पणी—मानवीकरण।

सब जग सूता नींद भरि, संत न आवै नींद।
काल खड़ा सिर ऊपरै, ज्यूँ तौरणि आया बींद ॥ ४ ॥

सारा जगत् अज्ञान की गहरी नींद में सो रहा है। सन्त को अपने वास्तविक घर का ज्ञान हो गया है, अतः वह रास्ते में बेखबर कैसे सो सकता है? सन्त को तो जगत् से चल देने की व्यग्रता के कारण बेचैनी है और नींद नहीं आ रही है। उसे ऐसा भान होने लगा है कि काल मानव के सिर पर दरवाजे पर आए हुए दूल्हे के समान खड़ा हुआ है; वह जीवात्मा रूपी पत्नी को ले जायेगा। उसकी तैयारी की चिन्ता में सन्त को नींद कैसे आ सकती है?

टिप्पणी—'उपमा' और 'काव्यलिंग' अलंकार। 'बींद' से रहस्यवादी भावना के पुट के कारण काल का आगमन हर्ष का विषय बन गया है। यहाँ काल से भय नहीं, आत्मा की पतिगृह जाने की व्यग्रता व्यंजित है। अलंकार से वस्तु ध्वनि एवं भाव-ध्वनि है।

आज कहै हरि काल्हि भजौंगां, काल्हि कहैं फिरि काल्हि।
आज ही काल्हि करंतड़ां, औसर जासी चालि ॥ ५ ॥

मानव सोचता है कि मैं भगवान् का भजन कल से करूँगा । दूसरे दिन फिर अगले दिन पर टाल देता है । वह यह नहीं सोचता कि आज-कल करते-करते यह मानव-जीवन का सुअवसर ही समाप्त हो जायेगा ।

कबीर पल की सुधि नहीं, करैं काल्हि को साज ।
काल अच्यंता झड़पसी, ज्यूँ तीतर को बाज ॥ ६ ॥

कबीर कहते हैं कि मानव-जीवन का पल भर का तो भरोसा नहीं है और वह कल के लिए तैयारी करता है । उसको इस बात का ध्यान नहीं है कि जैसे बाज तीतर पर झपटता है, वैसे ही काल मानव पर अचानक ही हमला करता है ।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार ।

कबीर टग टग चोघतां, पल पल गई बिहाइ ।
जीव जँजाल न छाड़ई, जम दिया दमांमां आइ ॥ ७ ॥

कबीर कहते हैं कि टकटकी लगाकर देखते-देखते ही पल-पल करके जीवन बीत गया, पर जीव ने संसार के जंजाल नहीं छोड़े और अन्त समय भी आ गया। अब तो यमराज ने आकर कँच का नगाड़ा ही बजा दिया है ।

टिप्पणी—'मानवीकरण' अलंकार ।

मैं अकेला ए दोई जणां, छेती नांहीं कांइ ।
जे जम आगैं ऊबरौं, तो जुरा पहूंती आइ ॥ ८ ॥

जीव सोचता है कि वह तो अकेला है और उस पर आक्रमण करने वाले दो हैं, मृत्यु और वृद्धावस्था । इन दोनों से उसका तथा इन दोनों का आपस में फासला भी कोई विशेष नहीं है । किसी प्रकार अगर मृत्यु टलती है, अर्थात् उसमें कुछ दिन की देर रहती है तो पहले वृद्धावस्था आ घेरती है । वह भी मानव को ईश्वर-स्मरण या अन्य साधनाओं के लिए असमर्थ कर देती है ।

टिप्पणी—'मानवीकरण' अलंकार ।

जीव को प्रारम्भ से ही सजग रहने की चेतावनी है ।

बारी बारी आपणीं, चले पियारे म्यंत ।
तेरी बारी रे जिया, नेड़ी आवै नित ॥ ९ ॥

सब प्रियजन और मित्र अपनी-अपनी बारी जगत् से चले जा रहे हैं। इसी से जीव को भी चिन्ता लगी है । वह अपने आप से ही कहता है, 'रे प्राण, तेरी बारी भी नित्यप्रति नजदीक ही आ रही है ।'

टिप्पणी—'मानवीकरण' अलंकार ।

दौं की दाधी लाकड़ी, ठाढ़ी करे पुकार ।
मति बसि पड़ौं लुहार कै, जालै दूजी बार ॥ १० ॥

दावाग्नि में जली हुई लकड़ी खड़ी-खड़ी भगवान् से प्रार्थना कर रही है कि अब उसे कोयला होने के बाद लुहार के हाथ मत पड़ने देना, जो उसे फिर दुबारा जलाए ।

टिपणी—'अन्योक्ति'। प्रतीकों का प्रयोग । इसमें जीव के बार-बार जन्म लेने की व्यथा की व्यंजना है । चेतन पहले मूल अज्ञान के कारण जीव-रूप में परिणत होकर जगत् की ज्वाला में जलता है और फिर अपने ही कर्म अथवा काल रूपी लुहार के द्वारा जन्मान्तर की आग में जलाया जाता है । अतः वह जन्म-मरण से छुटकारे की कामना करता है ।

जो ऊग्या सो आँथवै, फूल्या सो कुमिलाइ ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ें, जो आया सो जाइ ॥ ११ ॥

जो उदित हुआ है, वह अस्त होगा । जो फूला है, वह मुरझायेगा । जो चुना गया है, वह ढह जायेगा और जो आया है, वह जायेगा । यही जीवन का शाश्वत नियम है ।

टिप्पणी—'जातस्य मृत्युध्रुवं' से तुलना कीजिए ।

जो पहर्‌या सो फाटिसी, नांव धर्‌या सो जाइ ।
कबीर सोइ सत्त गहि, जौ गुरि दिया बताइ ॥ १२ ॥

जो वस्त्र पहना गया है, वह फटेगा । जिसने नाम धारण किया है अर्थात् जिसका नाम-रूप बना है; वह नष्ट होगा । अतः कबीर कहते हैं कि जिस ईश्वर तत्त्व का गुरु ने उपदेश दिया है, उसमें निष्ठा जमाओ ।

टिप्पणी—'जायते म्रियते' वाले श्लोक से गीता में व्यक्त भाव की छाया है । 'गुरि' में गुरु एवं गुर दोनों अर्थों का समन्वय है ।

निधड़क बैठा राम बिन, चेतनि करै पुकार ।
यह तनु जल का बुदबुदा, बिनसति नाहीं बार ॥ १३ ॥

जीवात्मा का शुद्ध अन्तःकरण स्वयं जीव से ही पुकार कर कह रहा है, आत्म-उद्बोधन कर रहा है कि तू भगवान् की भक्ति के बिना भी निर्भय होकर कैसे बैठा है ? यह शरीर तो जल का बुदबुदा है; इसको नष्ट होने में देर नहीं लगेगी ।

टिप्पणी—रूपक अलंकार ।

पाठान्तर—'चेति न करै पुकार'—जगकर भगवान् से पुकार क्यों नहीं करता है ?

पांणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिनां छिप जांहिगे, तारे ज्यूँ परभाति ॥ १४ ॥

पानी के बुदबुदे क्षण-स्थायी हैं। हम जीव मात्र की जाति भी है ऐसी ही। जैसे प्रातःकाल होते ही तारे छिप जाते हैं वैसे ही एक दिन हम जीव भी समाप्त हो जायेंगे।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार।

कबीर यहु जुग कुछ नहीं, षिन षारा षिन मींठ।
काल्हि जु बैठा मालियां (मांड़ियां,) आज मसांणां दीठ ॥ १५ ॥

इस संसार की अपनी कोई सत्ता और स्वरूप नहीं है। दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार यह व्यक्ति की वासना के अनुरूप ही प्रतीत होता है। अतः यह एक क्षण में कड़ुआ और एक क्षण में मीठा प्रतीत होता है। कल तो महल में शरीर से सजा-सजाया बैठा था अथवा जो कल विवाह मण्डप में था, वह आज श्मशान में दिखाई पड़ता है।

टिप्पणी—'अर्थान्तरन्यास' अलंकार।

पाठान्तर—'काल्हि जो दीठा मँडिया का अर्थ 'जो कल महल में दिखाई देता था।' सब में जगत् से विरक्ति की प्रेरणा है।

कबीर मंदिर आपणें, नित उठि करती आलि (बालि)।
मड़हट देष्यां डरपती, चौड़ दीन्हीं जालि ॥ १६ ॥

'हे सखि, जो सुन्दरी हमेशा अपने महल में बैठा करती थी और जिसे श्मशान देखने भर से भय लगता था, काल का ग्रास होने पर उसी के तथाकथित सुन्दर शरीर को खुले में जला दिया गया।

टिप्पणी—शरीर की अशुचिता एवं जीवन की नश्वरता का चित्रण है।

मंदिर मांहि झबूकती; दीवा की सी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया, काढ़ौ घर की छोति ॥ १७ ॥

जो दीपक की लौ की तरह अपने महल में चमकती रहती है अर्थात् जो महल का शृङ्गार है, वही प्राण-रूपी मेहमान के शरीर से चले जाने के बाद अत्यन्त अपावन समझी जाती है। लोग उसके लिए कहने लगते हैं कि जल्दी से महल की छूत को दूर करो।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार। शरीर की अशुचिता का वर्णन है।

शरीर का यह महल अत्यन्त ऊँचा और धवल है। इस शरीर-रूपी महल के

ऊँचा मंदर धौलहर, मांटी चित्री पौलि।
एक रांम के नांव बिन, जंम पाड़ैगा रौलि ॥ १८ ॥

द्वार अर्थात् बहिरंग अनेक प्रकार की बाहरी सजावटों के उपकरण-रूप रंग-बिरंगी मिट्टी से सुसज्जित हैं। पर इसके भीतर राम-नाम के स्मरण की शक्ति का अभाव है, अतः किसी दिन इस महल को यम रूपी शत्रु नष्ट-भ्रष्ट कर देगा।

टिप्पणी—पहली पंक्ति में अन्योक्ति सी प्रतीत होती है, पर दूसरी पंक्ति के कारण इस सारी साखी में रूपकातिशयोक्ति और रूपक अलंकार मानना चाहिए।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
नां जांणैं कहां मारिसी, कै घर कै परदेस ॥ १९ ॥

कबीर जीव को चेतावनी दे रहे हैं, 'रे जीव, तू अपनी शक्ति पर क्या अभिमान करता है? मृत्यु ने तुम्हारे बाल पकड़ रखे हैं। पता नहीं यह काल तुम्हें कहाँ मारेगा, घर पर या परदेश में? अर्थात् यह चाहे जहाँ मार सकता है।

टिप्पणी—'मानवीकरण' अलंकार।

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावणहार ॥ २० ॥

कबीर कहते हैं कि मृत शरीर का यह बाजा अब नहीं बजता है। उसके तार सब टूट गये हैं। बेचारा यंत्र क्या करे? इसका तो बजाने वाला अर्थात् जीवात्मा ही इसे छोड़ कर चला गया है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

धवणि धवंती रहि गई, बुझि गए सब अंगार।
अहरणि रह्या ठमूकड़ा, (ठमकड़ा) जब उठि चले लुहार ॥ २१ ॥

धौंकनी हवा देते देते बन्द हो गई है। इस भट्टी के अंगारे बुझ गये हैं और लोहे की निहाई पर पड़ने वाली चोटें शान्त हो गई हैं अतः वह नितान्त स्थिर एवं क्रिया-शून्य पड़ी है। अब इस पर रखकर घड़ने वाले लुहार यहाँ से उठकर चले गये हैं।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार।

यह शरीर से प्राण निकलने का चित्र है। क्रमशः 'लुहार' जीवात्मा का 'धवणि' प्राणवायु का, 'अंगार' शरीर के चैतन्य का तथा 'ठमूकड़ा अहरणि' कूटस्थ चैतन्य का प्रतीक है। जीवात्मा के सारे कार्य प्राणवायु के सहारे कूटस्थ चैतन्य के आश्रय पर चलते हैं। पर वह 'कूटस्थ' लुहार के अहरन की तरह अविकृत एवं स्थिर रहता है। सब कुछ चला जाता है, पर अहरन रूप कूटस्थ चैतन्य रह जाता है।

पंथी ऊभा पंथ सिरि, बगुचा बाँध्या पूठि।
मरणां मुह आगैं खड़ा, जीवण का सब झूठि ॥ २२ ॥

यह जीव पथिक है और मृत्यु के मार्ग पर खड़ा है। इसने अपने धर्माधर्म की

पोटली बाँध रखी है। बस इस जगत से चलने ही वाला है। मृत्यु आगे इसके सम्मुख खड़ी हुई है। अब जीवन की बात तो सब केवल झूँठ और कल्पना है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

यहु जिव आया दूर थैं, अजौं भी जासी दूरि।
बिज कै बासैं रमि रह्या डाल रह्या सर धूरि॥ २३॥

यह संसार जीव की अनन्त यात्रा है। यह जीव बहुत दूर से अर्थात् अपने मूल स्थान ब्रह्म-स्वरूप से दूर आ गया है। अभी उसे जन्म-जन्मान्तर की बहुत लम्बी यात्रा करनी है। वर्तमान जीवन तो केवल इसकी यात्रा का बीच का पड़ाव मात्र है। इसमें ही भूला हुआ वह आनन्द केलि कर रहा है; अपने शिर में धूल डाल रहा है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

रांम कह्या तिनि कहि लिया, जुरा पहूँति आइ।
मंदिर लागै द्वार थैं, तब कुछ काढ्यां न जाइ॥ २४॥

जिन्होंने अपनी युवावस्था में भगवान् का स्मरण कर लिया; वे ठीक रहे। अब तो वृद्धावस्था पहुँची आ रही है। वृद्धावस्था के आगमन से शरीर रूपी मन्दिर के इन्द्रियाँ रूपी किवाड़ बन्द हो जाते हैं। जब महल के दरवाजे बन्द हो जाते हैं तो फिर उसमें से कोई वस्तु निकाली नहीं जा सकती है। उसी प्रकार इन्द्रियों के बन्द हो जाने से विषयों को ग्रहण करने की क्षमता न रहने पर जिह्वा से राम-नाम का उच्चारण भी नहीं होता है।

टिप्पणी—दृष्टान्त और रूपक अलंकार।

बरियां दीती बल गया, बरन पलट्या और।
बिगड़ी बात न बाहुड़ै, करि छिटक्यां कत ठौर॥ २५॥

कबीर कहते हैं कि अब अवसर निकल गया है। शरीर की शक्ति क्षीण हो गई है और उसका रंग भी बदल गया है; और ही हो गया है। अब बिगड़ी बात फिर बनती नहीं। उस पर हाथ मलते रहने से क्या लाभ है?

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

बरियां बीती बल गया, अरू बुरा कमाया।
हरि जिन छाड़ै हाथ थैं, दिन नेड़ा आया॥ २६॥

रे जीव, अवसर निकल गया है। शरीर की शक्ति क्षीण हो गई है। जीवन में तुमने असत् कर्मों की बुरी कमाई की है। अब मृत्यु भी नजदीक आ रही है, भगवान् का आश्रय मत छोड़। अन्यथा बहुत बुरे परिणाम भोगने पड़ेंगे।

कबीर हरि सूँ हेत करि, कूड़ै चित्त न लाव।
बांध्या बार षटीक कै, ता पसु किती एक आव॥ २७॥

कबीर जीव को चेतावनी दे रहे हैं कि तू भगवान् में अपना मन लगा। इन असत् भावनाओं को अपने मन में स्थान मत दे। खटीक के दरवाजे पर बँधे हुए पशु की आयु शेष ही क्या रह जाती है? उसी प्रकार हे जीव, तुम यमराज के द्वार पर पहुँच गए हो। अब तुम्हारी कुछ भी आयु शेष नहीं है। अब ही नाम स्मरण कर।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार।

विष के बन मैं घर किया, सरप रहे लपटाइ।
ताथैं जियरैं डर गह्या, जागत रैंणि बिहाइ॥ २८॥

संसार के विषैले वन में जीव अपना घर बनाये हुए है। यहाँ पर वासना-रूपी सर्प उससे लिपटे हुए हैं। वासना के सर्प ने जीव को डस लिया है। इससे उसका हृदय निरन्तर डरता रहा है कि कहीं दर्शन के परिणामस्वरूप मृत्यु ही न हो जाय और वह इसी भय से जागते-जागते रात बिता देता है।

टिप्पणी—यह ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था का चित्र है। उस समय जीव को यह जीवन अज्ञान रूपी रात्रि तथा वासनायें सर्प प्रतीत होने लगती हैं। ये सर्प जन्म-जन्मान्तर से डस रहे हैं। जीव पर वासना का नशा चढ़ा हुआ है। इसमें ज्ञानपूर्वक वासनाओं से सजग होकर जीना ही जागना है। अन्यथा सद्यःजाग्रत ज्ञान भी पुनः धूमिल हो सकता है जो वास्तव में आध्यात्मिक मृत्यु ही है सर्प से दंशित को जीवन के लिए भी जागना पड़ता है। इस प्रकार इसमें 'सांगरूपक' का भी निर्वाह है।

कबीर सब सुख राम है, और दुखां की रासि।
सुर-नर-मुनियर असुर सब, पड़े काल की पासि॥ २९॥

कबीर कहते हैं कि केवल भगवान् एवं उनका स्मरण ही आनन्द-रूप तथा सुखों के हेतु हैं। अन्य सब कार्य तो दुःखों का समूह है। दुःखों के हेतु हैं। देवता, मनुष्य, मुनिवर एवं असुर सभी मृत्यु के पाश में पड़े हुए हैं। मृत्यु परम दुःख-रूप है।

टिप्पणी—मानवीकरण अलंकार।

काची काया मन अथिर, थिर थिर कांम करंत।
ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरैं, त्यूं त्यूं काल हसंत॥ ३०॥

अभी नष्ट हो जाने की सम्भावना वाला मानव का यह शरीर कच्चा है और निरन्तर अस्थिर रहने वाला इसका मन है। पर फिर भी वह इनके लिए इस प्रकार के कार्य करता है मानो ये दोनों हमेशा के लिए स्थिर हैं। जैसे-जैसे मानव निर्भय होकर अर्थात् अपने को निर्भय समझकर इनके लिए कार्य करता है, वैसे-वैसे काल उसकी मूर्खता पर हँसता है।

टिप्पणी—'मानवीकरण' अलंकार।

रोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार।
हा हा करते ते मुए कासनि करौं पुकार ॥ ३१ ॥

मृत्यु के बाद रोने वाले, उस शव का दाह करने वाले एवं उसके पीछे से बिलखने वाले बान्धव-जन सभी मरे हैं। सारा संसार ही नाशवान् है। ऐसी अवस्था में मैं किससे स्थिरता और रक्षा की आशा करूँ ? जो स्वयं मृत्यु से नहीं बच पाता, वह दूसरे को क्या बचा सकता है ?

जिनि हम जाए ते मुए हम भी चालणहार।
जे हमको आगैं मिले, तिन भी बांध्या भार ॥ ३२ ॥

जिन्होंने हमें जन्म दिया था; वे मर गये। हम भी उसी रास्ते जाने वाले और वहीं पहुंचने वाले हैं। जो हमें आगे मिल रहे हैं उन्होंने भी अपना सामान बांधकर जाने की तैयारी कर ली है।

टिप्पणी—सम्पूर्ण जगत् प्रतिक्षण नाश की ओर आगे बढ़ रहा है। 'अहनि अहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्'। शेषा स्थातुनिच्छामि किमाश्चर्यमतः परम्।
—(महाभारत)

(४६) संजीवनि कौ अंग

जहां जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ।
चल कबीर तिहि देसड़ैं, जहाँ बैद बिधाता होइ ॥ १ ॥

कबीर कहते हैं कि उस देश चलो जहाँ पर वृद्धावस्था और मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं है। वहाँ पर कोई मरा हुआ सुना ही नहीं जाता है। उस स्थान पर स्वयं भगवान् ही वैद्य है जो जीव को अपने अनुग्रह के द्वारा सम्पूर्ण प्रकार की व्याधियों से मुक्त कर देता है; उसकी आनन्द-स्वरूप में स्थिति कर देता है।

टिप्पणी—प्रेमानुभूति एवं स्वरूप-स्थिति ही यह स्थान है, यही कालातीत है।

कबीर जोगी बनि बस्या, षणि खाये कंद मूल।
नां जाणौं किस जड़ी थैं, अमर भया असथूल ॥ २ ॥

कबीर कहते हैं कि योगी साधना के वन में बस कर विभिन्न प्रकार की तपस्याओं के कंद-मूल-फल खोद-खोद कर खाते हैं। पता नहीं कौन-सी ऐसी जड़ी मिल जाय जिसे खाकर योगी का शरीर ही अमर हो जाय।

टिप्पणी—'अस्थूल से 'स्थूल' और सूक्ष्म' दोनों प्रकार के शरीरों का अर्थ लिया जा सकता है। शरीर के अमर होने का तात्पर्य है इनसे अविच्छन्न चैतन्य की अमरता का ज्ञान। यह स्वरूप प्रतिष्ठा से ही सम्भव है। 'हंस' अवस्था अमर है। सन्तों की मान्यता है कि मोक्षानुभूति के समय एक शरीर रहने की कल्पना है, वह भी अमर है। इनकी ओर भी संकेत हो सकता है।

कबीर हरि चरणौं चल्या, माया मोह थैं टूटि।
गगन मँडल आसण किया, काल गया सिर कूटि ॥ ३ ॥

कबीर माया-मोह से छुटकारा प्राप्त करके उससे सम्बन्ध तोड़कर भगवान् के चरणों में चला गया है। इस प्रकार शून्य में अपना स्थान बना लिया है अर्थात् शुद्ध चैतन्य में प्रतिष्ठित हो गया है। अब वह कालातीत है अतः मृत्यु सिर धुन कर ही रह गई है।

टिप्पणी—'गगन मण्डल' में कायायोग की साधना से प्राप्य स्थान का भी संकेत है। भक्ति से वह स्थान भी प्राप्त हो जाता है, यही कबीर का दर्शन है। इस साखी में यह भाव भी है। 'मानवीकरण' तथा सम्प्रदायगत 'प्रतीक' का प्रयोग है।

यहु मन पटकि पछाड़ि लँ, सब आपा मिटि जाइ।
पंगुल ह्वै पिव पिव करै, पीछैं काल न खाई ॥ ४ ॥

रे जीव, इस मन को नीचे डालकर, पछाड़कर पराजित कर दे, जिससे इसका संम्पूर्ण अहंभाव मिट जाय। उसके बाद कुचली हुई वासनाओं में पंगु तथा वशीभूत यह मान आर्त्त होकर निरन्तर भगवान् को 'पिव-पिव' करके पुकारता रहेगा। रे जीव, इस नाम-स्मरण के कारण तुझे काल नहीं खा सकेगा।

टिप्पणी—मानवीकरण। रहस्यवादी भावना की व्यंजना। दैन्य, अहंकार का नाश एवं दुःख व्यक्ति को ईश्वर-प्रेम की ओर अभिमुख करते हैं। यह भी संकेत है।

कबीर मन तीषा किया, बिहर लाइ षरसाँण।
चित चर्णूं मैं चुभि रह्या, तहाँ नहीं काल की पाँणि ॥ ५ ॥

भगवान् के विरह-रूपी मसकले पर इस मन को तीक्ष्ण करने के बाद मानव का चित्त भगवान् के चरणों में लग जाता है, उसमें प्रविष्ट ही हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले मानव के लिए काल शक्तिहीन ही रहता है।

टिप्पणी—मन की तीक्ष्णता, विषय-वासनाओं के जंग से मुक्ति तथा भगवद् प्रेम की उग्रता है। 'चुभि रह्या' अर्थ गर्भित प्रयोग है। 'रूपक' का निर्वाह है।

तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत।
सीतल छाया गहर फल, पंषी केलि करंत ॥ ६ ॥

उस वृक्ष का प्रश्रय लेना चाहिए जो बारहों महीने हरा-भरा एवं फलवान् रहता है। ऐसे वृक्ष की शीतल छाया रहती है और उसमें खूब फल फल लगते हैं। उसमें पक्षी आनन्द से क्रीड़ा करते हैं।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार। भगवान् का आश्रय लेने की व्यंजना है। वह नित्य एकरस रहता है। भक्ति का आनन्द शीतल है, उससे मिलने वाले फल भी अनन्त एवं गहरे हैं। 'फल' मुक्ति तथा भक्ति का आनन्द है एवं पक्षी मुक्त व भक्त जीवात्माएँ हैं।

दाता तरवर दया फल, उपगारी जीवंत।
पंषी चले दिसावरां, बिरषा सुफल फलंत ॥ ७ ॥

भगवान् की साधना ही श्रेष्ठ वृक्ष है और उनका अनुग्रह एवं उनसे प्राप्त ज्ञान तथा भक्ति ही इस वृक्ष के फल हैं। यह फल जीव मात्र का उपकारी है। विषय वासना-रूपी पक्षी अब दूर विदेशों को चले गए हैं, अतः भक्ति और ज्ञान के फल ही फल अब वासनाओं से न जूठे किए जायेंगे और न दूषित ही होंगे। भक्ति के उद्रेक की अब की बार की वर्षा ऋतु मुक्ति-रूपी सुन्दर फलों से फलवती होगी। ज्ञान और भक्ति पूर्ण आनन्द में परिपक्व होंगे।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

(४६) पारिष अपारिष कौ अंग

पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि।
जोड़ी बिछुटी हंस की, पड़्या बगाँ कै साथि ॥ १ ॥

इस मानव ने प्राप्त अमूल्य पदार्थ को फेंककर अपने हाथ में कंकड़ ले लिया है। हंस अपनी जोड़ी से तो बिछुड़ गया है और बगुलों की संगति में पड़ गया है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' व अर्थान्तरन्यास अलंकार। भक्ति और ज्ञान ही वह अमूल्य पदार्थ है जो गुरु की कृपा से साधक को यह प्राप्त हो गया है। अथवा अपना स्वरूप अमूल्य पदार्थ है जो प्राप्त ही है, पर जीव अज्ञानी एवं अपारिख होने से, इसे भूले हुए हैं। यही पेलना है। 'कंकर' विषय वासनायें एवं अहंकार-पुष्ट करने वाली साधनायें हैं। संत एवं ज्ञानी जनों से बिछुड़कर पाखण्डी एवं विषयी व्यक्तियों के साथ हो जाना हंस से अपनी जोड़ी का बिछुड़कर बगुलों के साथ हो जाना है। इसमें 'प्रतीकों' का प्रयोग है।

एक अचंभा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ।
परिषणहारे बाहिरा, कौड़ी बदलै जाइ ॥ २ ॥

हमने एक आश्चर्य देखा है कि हीरा खुले में दुकान पर बिक रहा है। पर उसके सच्चे परखने वाले के अभाव में अथवा परखने वाले के अज्ञान के कारण वह कौड़ी के मूल्य में ही जा रहा है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' है। यहाँ 'हीरा' आत्मानन्द है। जीव का स्वरूप होने के कारण यह सबके लिए सहज सुलभ है; सबके जीवन में व्याप्त है। यही दुकान में बिकना है। पर जीव अज्ञानवश इसे छोड़कर विषयों के सुख में उलझना चाहता है। विषय-सुख उसी के कारण सुख-रूप हैं पर माने जाते हैं, विषय के कारण ही उसका आत्मानंद का कौड़ी के बदले जाना है। 'अचंभा' इसलिए कि सहज-सुलभ अमूल्य वस्तु इतनी उपेक्षित है।

कबीर गुदड़ी बीषरी, सौदा गया बिकाइ।
खोटा बांध्या गांठड़ी, इब कुछ लिया न जाइ ॥ ३ ॥

कबीर कहते हैं "रे जीव, अब तो (मृत्यु के बाद) यह संसार-रूपी बाजार तुम्हारे लिए उठ गया है। तुम्हारा सारा सौदा बिक गया है, अर्थात् इस जन्म के सम्पूर्ण प्रारब्ध कर्मों का भोग हो गया है। पर तुमने इस जगत् व्यापार में असत् कर्मों के खोटे सिक्कों का ही संचय किया है; इनसे कुछ भी बहुमूल्य खरीदा नहीं जा सकता अर्थात् इन असत् कर्मों से आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

पैंडें मोती बीखर्‌या, अंधा निकस्या आय।
जोति बिनां जगदीश की, जगत उलंध्यां जाय ॥ ४ ॥

इस मानव जीवन के मार्ग में भक्ति, ज्ञान और साधना के मोती पड़े हुए हैं। जैसे अंधा रास्ते में बिखरे हुए मोतियों को उलांघ कर चला जाता है और उन्हें ले नहीं पाता, वैसे ही भगवान् के अनुग्रह के प्रकाश से वंचित अज्ञानी एवं अपारखी अंधा संसार में ज्ञान, भक्ति एवं साधना के इन मोतियों को छोड़ता हुआ जीवन-मार्ग में बढ़ता रहता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

कबीर यहु जग अन्धला, जैसी अन्धी गाइ।
बच्छा था सो मरि गया, ऊभी चांम चटाइ ॥ ५ ॥

कबीर कहते हैं कि यह संसार अपनी वासनाओं में उसी प्रकार अंधा है जैसे स्नेह के मोह में गाय अंधी रहती है। अपने बच्चे के मर जाने के बाद गाय खड़ी-खड़ी मृत चर्म के कृत्रिम बछड़े को चाटती रहती है, वैसे ही यह जीव भी मोहवश सत्य को छोड़कर जगत्-रूप आभास से ही प्रेम करता रहता है।

टिप्पणी—उपमा और रूपक अलंकार।

जब गुण कूँ गाहक मिलै, तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण कौं गाहक नहीं, तब कौड़ीं बदलै जाइ ॥ ६ ॥

गुण का ग्राहक मिलने पर ही गुण का मूल्य होता है। उस समय वह वस्तु लाखों में बिक जाती है। पर अगर गुण-ग्राहक का ही अभाव है तो वस्तु कौड़ियों के मूल्य में चली जाती है।

टिप्पणी—ज्ञानी या सन्तों के उपदेशों के तत्त्व-ज्ञान एवं ईश्वर-प्रेम का मूल्य गुण के ग्राहक ही जानते हैं।

कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।
बगुला मंझ न जांणई, हंस चुणे चुणि खाइ॥ ७॥

कबीर कहते हैं कि समुद्र की एक लहर ने अनेक मोती बिखेर दिए हैं। त
पर बैठा हुआ बगुला उनका मूल्य नहीं पहचानता है; उनकी उपेक्षा करता है। प
हंस उन मोतियों को चुन-चुन कर खा लेता है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलङ्कार। गुरु का उपदेश ईश्वर का अनुग्रह ए
जीवन-प्रवाह तत्त्व-ज्ञान एवं प्रेम के मोती बिखेर देते हैं। विषयी और अज्ञा
उनका महत्त्व नहीं समझ पाता है, पर विवेकी हंस उन्हें बीन-बीन कर एकत्र क
लेता है।

'रूपकातिशयोक्ति' मानकर भी अर्थ हो सकता है।

हरि हीरा जन जौहरी, ले ले मांडि हाटि।
जब र मिलैगा पारिषी, तब हीरां की साटि॥ ८॥

भगवान् अथवा भगवत्प्रेम हीरा है और भक्त उनको बेचने वाला जौहरी
ऐसे भक्तों ने भगवान् की भक्ति, गुणगान, नामस्मरण और उसके सत्य-स्वरूप
स्थिति की दुकान लगा रखी है, पर जब कोई हीरे की परख करने वाला जबरदस्त
पारखी, जिज्ञासु, या सत्य-स्वरूप की परख वाला गुरु आयेगा तब इस भक्ति ए
स्वरूप स्थिति रूपी हीरे का मूल्य चुकाकर इसे खरीद सकेगा। अपने अहं से इसका
विनिमय करेगा।

टिप्पणी—'सांगरूपक' एवं 'जबर' में सभंग पद श्लेष अलङ्कार। सन्तों के
अनुसार 'तत्वमसि' के पदों से ऊपर का तत्व सत्यपद है; पारखी पद है। उसको
अनुभव से पहचानने वाला ही पारखी है। यही वेदान्त के अनुसार 'तत्त्वमसि' का
लक्ष्यार्थ है।

(४७) उपजणि कौ अंग

नांव न जांणौं गाँव का, मारगि लागा जांउँ।
काल्हि जु काटां भाजिसी पहिरी (पहिसी) क्यूँ न खड़ांउँ॥ १॥

जीव अपने मन में विचार कर रहा है कि मैं अपने जीवन के लक्ष्य से परि
चित नहीं हूँ। यों ही जीवन-मार्ग में आगे बढ़ता जा रहा हूँ। रास्ते में मुझे संकट
रूपी काँटे चुभ सकते हैं। मुझे अपनी रक्षा के लिए विवेक रूपी खड़ाऊँ पहन लेनी
चाहिए थीं। अथवा काल के इस मार्ग को भागकर काटना पड़ेगा अतः आज ही उस
मार्ग पर क्यों न रवाना हो जाऊँ?

टिप्पणी—रूपक अलङ्कार।

नांव न जांणौ गाँव का, बिनु जाणे कहँ जाऊँ।
चलते-चलते जुग गया, पाव कोस पर गाऊँ॥ २॥

मैं अपने गाँव का नाम तो जानता नहीं था। कहाँ जाता? मुझे चलते-चलते

अनेक जन्म-रूपी अनेक युग व्यतीत हो गए हैं। पर अभी अपने गन्तव्य (परम तत्त्व) को मैं प्राप्त नहीं कर सका हूँ। यह स्थान तो चौथाई कोस पर ही है, अर्थात् मेरे अपने ही स्वरूप के अज्ञान में छिपा हुआ है।

टिप्पणी—ऊपर वाली साखी से इसका संदर्भ और व्यंजना कुछ भिन्न है।

सीष भई संसार थैं, चले जु सांई पास।
अबिनासी मोहि ले चल्या, पुरई मेरी आस ॥ ३ ॥

साधक एवं दुलहिन जीवात्मा की इस जगत्-रूपी पीहर से विदाई हो गई है। अब वह अपने स्वामी परमब्रह्म के पास जा रही है। वह मन में प्रसन्न है कि पति-परमेश्वर उसे स्वयं ले जा रहे हैं; उनके अनुग्रह से ही वह प्रेम एवं परमतत्त्व को प्राप्त कर रही है। अब उसके मान की साध पूर्ण हो रही है। जीवात्मा की पति-परमेश्वर से मिलने की ही सबसे बड़ी आकांक्षा होती है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। रहस्यवादी भावना के आवरण में मान और भक्ति की व्यंजना।

इन्द्रलोक अचरिज भया, ब्रह्मा पड़्या विचार।
कबीरा चाल्या रांम पै, कौतिगहार अपार ॥ ४ ॥

कबीर भगवान् की शरण में चला गया है, यह देखकर सम्पूर्ण इन्द्र लोक को आश्चर्य हुआ है। इससे ब्रह्मा भी असमंजस में पड़ गये हैं। इस कौतुक को देखने वाले अपार हैं। अर्थात् भगवान् का जो अनुग्रह देवताओं एवं ऋषियों के द्वारा काम्य है और जो उन्हें भी दुर्लभ है, वही कबीर को सहज प्राप्त हो गया है।

टिप्पणी—'व्यतिरेक' अलंकार।

ऊंचा चढ़ि असमान कूं, मेर ऊलंघे ऊड़ि।
पसू पंषेरू जीव जंत, सब रहे मेर मैं बूढ़ि ॥ ५ ॥

कबीर साधना से उच्च मायातीत अवस्था को पहुँच गए हैं तथा ऊंचे उठकर सुमेरु रूपी अहंभाव को लाँघ गए हैं। सभी पशु-पक्षी और जीव-जन्तु अर्थात् जीवमात्र ही अहंभाव तथा रागद्वेष में ही डूबे हुए हैं।

टिप्पणी—'असमान चढ़ि' में कुण्डलिनी को जाग्रत करने तथा 'शून्य गगन' तक साधक के पहुँच जाने का संकेत भी है। 'व्यतिरेक' अलंकार।

सद पाँणीं पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव।
बासी पावस पढ़ि मुए, बिषै बिलंबे जीव ॥ ६ ॥

कबीर, पाताल से ताजी जल खींचकर पी। इस वर्षाऋतु के पड़े हुए बासी जल में विष से परिपूर्ण या उससे लिपटे हुए जीव पड़कर मर गए हैं। इससे यह दूषित हो गया है।

ध्वन्यर्थ—कबीर, अपनी पात्रता के अनुरूप सहज एवं स्वकीय साधना से अपनी स्वानुभूति की गहराई में बैठकर हमेशा ताजा रहने वाले ज्ञान और प्रेम के रस का आस्वाद ले। अन्य आचार्यों के द्वारा बताए गए परम्परागत साधन-मार्ग को अपने पूर्वाग्रहों एवं वासनाओं के विष से पूर्ण और विषयों में अनुरक्त जीवों ने उसमें प्रवृत्त होकर तथा स्वयं उससे नष्ट होकर दूषित कर दिया है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

यहाँ पर परम्परा के बन्धनों से मुक्ति के साथ स्वानुभूति से साक्षात्कृत सहज साधना की मंगल विधायकता की व्यंजना है।

कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूतां लिया जगाइ।
आंषि न मीचौं डरपता, मति सुपिनां ह्वै जाइ॥ ७॥

स्वप्न में भगवान् ने दर्शन दिये और मुझे सोते हुए से जगा दिया। अब मैं इस डर से कि भगवान् के दर्शन ही कहीं स्वप्न में न बदल जायँ, अपनी आँखें बन्द नहीं करता हूँ।

टिप्पणी—यहाँ जगत् ही स्वप्न है और अपने स्वरूप का अज्ञान ही निद्रा। स्वरूप-ज्ञान ही सोते से जागना है। भगवान् के द्वारा जागना उनके अनुग्रह का द्योतक है। 'आँखें बन्द न करने' का अभिप्राय पुनः ईश्वर-प्रेम में प्रतिष्ठा एवं अपने स्वरूप की अविस्मृति के साथ विषय-वासनाओं के मोह में न फँसना है। यहाँ पर गुरु-कृपा एवं श्रवण से जाग्रत स्वरूप-ज्ञान को तथा ईश्वर के अनुग्रह से अचानक जागे हुए ईश्वर-प्रेम को 'मनन' एवं 'निदिध्यासन' तथा प्रेमप्रसंग से पुष्ट करते रहने के संकल्प एवं प्रेरणा देते रहने की व्यंजना है।

'रूपक' अलंकार। ज्ञानयोग एवं प्रेमयोग का सुन्दर समन्वय है।

गोब्यंद कै गुंण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि।
डरता पांणीं ना पीऊँ, मति वै धोये जांहि॥ ८॥

भगवान् के अनेक गुण मेरे अन्तकरण में अंकित हैं। मैं इस डर से जल नहीं पी रहा हूँ कि कन्हीं वे गुण धुल न जायें।

टिप्पणी—'जल पीना' विषय-वासनाओं में अनुरक्त होना है। लाक्षणिकता है।

कबीर अब तौं ऐसा भया, निरमोलिक निज नाउं।
पहली काच कथीर था, फिरता ठांवै ठाउं॥ ९॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् के नाम-स्मरण से अब मैं बहुमूल्य कंचन बन गया हूँ। पहले तो मैं कच्चे राँगे की तरह था जो इधर-उधर विषय-वासनाओं में भटकता रहता था।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

भौ समंद विष जल भर्या, मन नहीं बाँधै धीर ।
सबल सनेहीं हरि मिले, तब उतरे पारि कबीर ॥ १० ॥

कबीर कहते हैं कि इस भवसागर में विषय-वासनाओं का विषमय जल भरा हुआ है। मन का धैर्य इससे डगमगा रहा है। मुझे भगवान्-रूपी शक्तिशाली प्रियजन का सहारा प्राप्त हो जाय, तभी मैं ऐसे भवसागर से पार उतर सकता हूँ।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार ।

भला सुहेला ऊतर्या, पूर्या मेरा भाग ।
रांम नांव नीका गह्या, तब पांणीं पंक न लाग ॥ ११ ॥

कबीर कहते हैं कि मैंने राम-रूपी नौका अच्छी प्रकार पकड़ ली है और इस भवसागर से सरलतापूर्वक पार हो गया हूँ। मेरे तो भाग्य खुल गये हैं; मुझे अपना प्राप्तव्य मिल गया है। इस यात्रा में मुझे न तो माया का प्रवाह-रूपी पानी हो स्पर्श कर सका और न वासना-रूप इसके विचारों की कीचड़ ही। राम नाम के सहारे मैं माया-मोह से असम्पृक्त रह कर ही जी रहा हूँ।

टिप्पणी—सांगरूपक ।

कबीर केसौ की दया, संसा घाल्या खोइ ।
जे दिन गये भगति बिन, ते दिन सालैं मोहि ॥ १२ ॥

कबीर कहते हैं कि मुझ पर भगवान् का अनुग्रह हुआ है। इससे से मेरा सम्पूर्ण संशय मिट गया है। इस ज्ञान के पश्चात् अब भगावन् की भक्ति से शून्य बीते हुए मेरे पिछले दिन मुझे कष्ट दे रहे हैं।

कबीर जाचण जाइया, आगै मिल्या अजंच ।
ले चाल्या घर आपणे, भारी पाया संच ॥ १३ ॥

मैं इस संसार में विभिन्न साधनाओं एवं विषयों से सुख की माँग करता फिर रहा था। इस बीच में मुझे याचना न कराने वाले आप्तकाम भगवान् का साक्षात्कार हो गया। वे मुझे अपने स्थान पर ले गये; अर्थात् उन्होंने मुझे अपनी शरण में ले लिया और वहाँ मुझे अपार संचय प्राप्त हुआ, अपने ही आप्तकाम एवं सत्यसंकल्प स्वरूप का साक्षात्कार। इस महान् सत्य-रूप संचय (कोश) की उपलब्धि मुझे वहाँ हुई।

टिप्पणी—'संच' में दो अर्थों का एक साथ प्रयो[illegible] है। इससे ही श्लेष पुष्ट रूपक है। कबीर ने अजंच जैसे नए शब्द गढ़ लिये हैं। ये दोनों ही कबीर की भाषा की विशेषताएँ हैं।

(४८) दया निरवैरता कौ अंग

कबीर दरिया प्रजल्या, दाझैं जल थल झोल।
बस नांहीं गोपाल सौं, बिनसै रतन अमोल ॥ १ ॥

कबीर कहते हैं कि मन या जगत्-रूपी सागर में आग लग गई है। इससे सम्पूर्ण मनोभाव या जल-थल और जीव जलकर भस्म हो गए हैं। इस बैर-भाव या माया-रूपी अग्नि का भगवान् पर वश नहीं चलता है; अन्यथा वह अमूल्य रत्न अर्थात् आत्मा के स्वरूप या मानवता को भी भस्म कर देती है, वह उसे भुला भर पाती है।

ऊँनमि बि आई बादली, बर्सण लगे अँगार।
उठि कबीरा धाह दे, दाझत है संसार ॥ २ ॥

यह वैरभाव या माया की बदली घिर आई है और सांसारिक यातनाओं के अंगार बरसाने लगी है। कबीर तू जाकर और धाड़ मारकर सबको चेतावनी दे दे कि इससे सारा संसार जल रहा है। अथवा इस संसार को जलता हुआ देखकर भगवान् के समक्ष रोकर पुकार कर।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

दाध बली ता सब दुखी, सुखी न देखौं कोइ।
जहां कबीरा पग धरै, तहां टुक धीरज होइ ॥ ३ ॥

बैर क्रोध और निर्दयता की ज्वाला धधक रही है। इससे सब दुःखी हैं; किसी को भी वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं है। पर इन जलते हुए स्थानों में जहाँ-जहाँ कबीर ने अपना पैर रखा है, अर्थात् महान् ने उस भूमा या आत्म-स्वरूप के ज्ञान से प्रबल होकर इस ग्रन्थि को दबाया है, लोगों ने परिकृपा की है, उन-उन स्थानों पर थोड़ी शीतलता आई है। इससे जलते हुए लोगों को धैर्य बँधा है; और बचने की आशा हुई है।

टिप्पणी—'कबीर' शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ से एक विशेष व्यंजना हुई है। 'पग धरै' (अग्नि को पैर से दबाकर बुझाने की क्रिया) अर्थ-गर्भित प्रयोग है। द्वैत या बैर-भाव का निषेध व्यंजित है

(४९) सुन्दरि कौ अंग

कबीर सुन्दरि यों कहै, सुन हो कंत सुजांण।
बेगि मिलौं तुम आइ करि, नँहितर तजौं परांण ॥ १ ॥

कबीर जीवात्मा की परब्रह्म से मिलने की आतुरता का चित्रण कर रहे हैं। जीवात्मा-रूपी सुन्दरी कह रही है—"हे चतुर स्वामी, परब्रह्म मेरी विनय सुनो। तुम शीघ्र मुझसे मिलो, अन्यथा मैं अपने प्राण त्याग दूँगी।"

टिप्पणी—लौकिक प्रेम के बिम्बों का प्रयोग है। लौकिक नारी के लिए 'प्राण-त्याग' अभिधेयार्थ में है, पर जीवात्मा के प्रसंग में यह वियोग की असह्यता एवं प्रेम के शैथिल्य की आशंका का ही व्यंजक है।

कबीर जे कोउ सुन्दरी, जांणि करै विभचार।
ताहि न कबहूं आदरै, प्रेम पुरिष भरतार॥ २॥

कबीर कहते हैं कि अगर कोई स्त्री सब कुछ समझकर भी व्यभिचार अर्थात् अन्य पुरुषों से प्रेम करती है; तो उसे उसका प्रेमी पुरुष; उसका पति न कभी अंगीकार करता है, और न उसका सम्मान करता है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति'। परमात्मा का परोक्ष बोध होने पर भी अगर जीवात्मा भगवान् की अनन्य प्रेमिका न बनकर इधर-उधर की सिद्धियों और साधनाओं में फँसी रहती है तो उसे भगवान् का अनुग्रह एवं प्रेम नहीं प्राप्त हो सकता है। 'प्रेम-पुरिष' का भगवान् ही अर्थ लेने पर इसमें 'सुन्दरी' आदि में रूपकातियोक्ति से आत्मा मानकर भी व्याख्या हो सकती है। लौकिक प्रेम के बिम्बों से आध्यात्मिक प्रेम के साक्षात्कार का वर्णन है।

जे सुंदरि सांई भजै, तजै आंन की आस।
ताहि न कबहूं परहरै, पलक न छाड़ै पास॥ ३॥

जो सुन्दरी अपने स्वामी की ही सेवा में रत रहती है और अन्य व्यक्तियों से कुछ भी आशा नहीं रखती, उसे उसका पति कभी नहीं छोड़ता है, क्षण भर भी उससे दूर नहीं होता है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार। जीवात्मा को परमात्मा के प्रति अनन्य प्रेम की प्रेरणा दी गई है। अनन्य प्रेम से ही भगवान् का सामीप्य एवं अनुग्रह मिलता है।

इस मन कौं मैदा करौं, नान्हां करि करि पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीस॥ ४॥

अरी जीवात्मा-रूपी सुन्दरी, इस मन को महीन करके पीसते हुए मैदा के समान बना दो अर्थात् इसके अहंकार और तृष्णा को हटाकर उसमें भक्ति के अनुरूप स्निग्धता उत्पन्न करो, तब कहीं तुम्हें वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होगी। तभी सुन्दरी के मस्तक पर प्रेम एवं सौभाग्य की ज्योति चमकेगी; ब्रह्मरन्ध्र अथवा त्रिकुटि में भगवान् की ज्योति के दर्शन होंगे।

टिप्पणी—'रुपकातिशयोक्ति' अलंकार।

दरिया पारि हिंडोलनां, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारि सुलषणीं, नित प्रति झूलण जाइ॥ ५॥

संसार नदी के उस पार पति परमेश्वर ने एक प्रेम का झूला डाल रखा है, जिस पर स्वयं पति ही जोर से पैंग मारकर जीवात्मा-रूपी सुन्दरियों को झुला रहे हैं अर्थात् आनन्द-क्रीड़ा कर रहे हैं। वही स्त्री सुलक्षणी है जो इस झूले पर नित्य प्रति अपने पति के साथ झुलने के लिए जाती है।

टिप्पणी—अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति एवं सांगरूपक अलंकार।

संसार-समुद्र से परे परमात्मा के प्रेम एवं उसकी आनन्द-केलि का रसास्वाद करने की प्रेरणा है। स्वयं पति-परमेश्वर इस आनन्द-क्रीड़ा के प्रारम्भ करने वाले सक्रिय पात्र हैं। सगुण भक्ति की तरह यहाँ पर प्रेमी के प्रेम-पक्ष का चित्रण है, उसका प्रयोजन अनुग्रह है।

(४६) कस्तूरियां मृग कौ अंग

कस्तूरी कुंडलि बसैं, मृग ढूंढै बन मांहि।
ऐसैं घटि घटि रांम है, दुनियां देखै नांहि॥ १॥

मृग की नाभि में कस्तूरी रहती है। वह उसकी सुगन्ध से अभिभूत होकर उसे प्राप्त करने के लिए वन-वन में ढूंढ़ता फिरता है; घासों को व्यर्थं सूंघता रहता है। वैसे आनन्द-स्वरूप भगवान् प्रत्येक के अन्त:करण में निवास करते हैं। जीव उस आनन्द के आभास से मुग्ध होकर उसे पूर्ण रूप से प्राप्त करने की इच्छा से विभिन्न साधनाओं में भटकता है। जीव अपने आप में अन्तर्मुखी होकर नहीं देखता। पर इसके बिना वह प्राप्य नहीं है।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

कोइ एक देखै संत जन, जांकै पांचूं हाथि।
जाकै पांचूं बस नहीं, ता हरि संग न साथि॥ २॥

उस भगवान् के दर्शन कुछ ऐसे विरले साधुओं को ही होते हैं जिनके सत्य-शील आदि पाँचों हाथ में हैं। जिनके पाँचों इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, उनको न भगवान् के दर्शन होते हैं और न उनको अनुग्रह ही प्राप्त होता है।

टिप्पणी—पहले 'पंच' से धैर्य, सत्य-शील-विवेक एवं संतोष गृहीत है।

सो सांई तन मैं बसैं, भ्रंम्यौं न जांणै तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूं, फिरि फिरि सूंघै घास॥ ३॥

वह परब्रह्म जीव के अन्त:करण में विराजमान है, पर माया में भ्रान्त व्यक्ति इस रहस्य को नहीं समझता है अत: कस्तूरी-मृग जैसे बाहर बारम्बार घास सूंघता फिरता है; वैसे ही यह जीव भी परमतत्त्व को बाहर संसार में ही ढूंढ़ता है। जैसे कस्तूरी वास्तव में नाभि में है, घास में केवल गन्ध की मिथ्या प्रतीति भर है, वैसे ही परमतत्त्व तो आत्म-स्वरूप है। जगत् में तो उसका अध्यास भर है।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

कबीर खोजी रांम का, गया जु सिंघल दी।
रांम तौं घट भीतर रंमि रह्या, जो आवै परतीत॥ ४॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् की खोज करने वाले केवल भ्रमित होकर सिंघल

द्वीप जाते हैं। अगर किसी को विश्वास हो तो ईश्वर प्रत्येक अन्तःकरण में रमा हुआ व्याप्त है। उसके कहीं भी दर्शन हो सकते हैं।

टिप्पणी—नाथपंथ और सूफियों के ईश्वर-दर्शन के लिए सिंहल द्वीप जाने पर व्यंग्य है।

घटि बधि कहीं न देखिये, ब्रह्म रह्या भरपूरि।
जिन जाण्यां तिनि निकटि है, दूरि कहैं ते दूरि ॥ ५ ॥

कहीं पर भी चैतन्य को कम या अधिक नहीं समझना चाहिए। ब्रह्म सर्वत्र ही समान रूप से पूर्ण एवं व्याप्त है। वह अखण्ड एवं एकरस है। जिन्हें ब्रह्म का ज्ञान हो गया है, उनके लिए वह अत्यन्त सन्निकट है, क्योंकि वह उनका आत्म-स्वरूप है। पर जिन्होंने इसे दूर समझा है; अर्थात् अपने से भिन्न माना है उनके लिए वह तत्त्व दूर है, उनकी समझ से परे है। उन्हें तत्त्व के अज्ञान को ही तत्त्व मानने का आग्रह है।

मैं जांण्यां हरि दूर है, हरि रह्या सकल भरपूरि।
आप पिछांणें बाहिरा, नेड़ा ही थैं दूरि ॥ ६ ॥

मैंने भगवान् को अपने से दूर समझा है; मैं अज्ञान में था। हरि तो सर्वव्यापी है, सब कुछ हरि ही है। पर जो अपने स्वरूप-ज्ञान से वंचित हैं, उनके लिए भगवान् निकटतम होते हुए, भी अपना ही स्वरूप होते हुए भी दूर प्रतीत होते हैं अर्थात् अज्ञात हैं।

तिणकैं ओल्है राम है, परबत मेरैं भांइ।
सतगुरु मिलि परचा भया, तब हरि पाया घट मांहि ॥ ७ ॥

भगवान् तो जीव की आतमस्वरूप की अपनी विस्मृति रूप तिनके की ओट में छिपे हुए हैं। पर जीव उसे द्वैत एवं परोक्षता के पर्वत के पीछे छिपा हुआ समझता था, पूर्णतया अज्ञात मानता था। जब सद्गुरु से साक्षात्कार हुआ और भगवान् के स्वरूप का परिचय हो गया तो उसे भगवान् को अपने अन्तःकरण में ही उपलब्धि हो गई।

टिप्पणी—अपने स्वरूप का ज्ञान सबको है। पर आत्मा ही परमात्मा है, यही ज्ञान सबको नहीं है जो गुरु के उपदेश से 'दशम त्वमसि' की तरह झट हो जाता है। यही तिनके की ओट है, जीव इस अज्ञान को जो अपनी ही एक सामान्य भूल है, महान् मानता है, अतः पर्वत के समान कहा गया है। इसके लिए जीव महान् साधनायें करता है। पर यह अज्ञान केवल गुरु के उपदेश मात्र से निवर्त्य है; वह सहज लाभ है।

रांम नांम तिहूं लोक मैं, सकल रह्या भरपूरि।
यहु चतुराई जाहू जलि, खोजत डोलैं दूरि ॥ ८ ॥

भगवान् तीनों लोकों में सर्वत्र व्याप्त है। पर मानव की वह बुद्धि जो उसे बाहर ढूँढ़ती फिरती है, वह जलाने योग्य है।

टिप्पणी—बाह्य साधनाओं की निंदा है।

ज्यूं नैंनूं मैं पूतली, त्यूं खालिक घट माँहि।
मूरिख लोग न जांणहीं, बाहरि ढूंढण जांहि ॥ ६ ॥

जिस प्रकार नेत्रों में पुतली है, वैसे ही भगवान् सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। पर अज्ञानी व्यक्तियों को इसका अन्तर्यामित्व ज्ञात नहीं है; अतः वे उस परमतत्त्व को अपने से बाहर खोजने निकलते हैं।

टिप्पणी—नेत्र विश्व को देखते हैं, पर स्वयं अपने को नहीं। पर नेत्र के अस्तित्व के सम्बन्ध में अज्ञान अथवा भ्रम किसी को नहीं है। वैसे ही चैतन्य सबका द्रष्टा है। इन्द्रियाँ उसके कारण ही ज्ञाता हैं, उसकी ज्ञाता नहीं। वह चैतन्य तो स्वानुभूति-रूप एवं स्वयंप्रकाश है, वह बाह्य साधनों से ज्ञातव्य नहीं है।

(५१) निंद्या कौ अंग

लोग बिचारा नींदई, जिन्ह न पाया ग्यांन।
रांम नांव राता रहै, तिनहुं न भावै आंन ॥ १ ॥

जिन्हें आत्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ है, वे ज्ञानियों की निंदा करते हैं। वे बेचारे दया के पात्र हैं। जो भगवान् के नाम में ही रत रहते हैं, उन्हें भक्ति के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता, किसी की निंदा भी नहीं अच्छी लगती।

दोख पराये देखि करि, चल्या हसंत हसंत।
अपनैं च्यंति (चीति) न आवई, जिनकी आदि न अंत ॥ २ ॥

मनुष्य दूसरों के दोषों को देखकर अहंकार से व्यंग्यपूर्ण हँसी हँसता है। वह अपने उन दोषों की ओर ध्यान नहीं देता है, जिन दोषों का न आदि है न अन्त है, अर्थात् अनन्त है।

टिप्पणी—जीव मात्र में दोष अनादि और अनन्त हैं।

निंदक नेड़ा राखियै, आंगणि कुटी बंधाइ।
बिन साबण पांणीं बिना, निरमल करै सुभाइ ॥ ३ ॥

अपने निंदक को अपने समीप ही, अपने आँगन में ही छप्पर डालकर रखना चाहिए। वह बिना साबुन और जल के व्यक्ति को सहज रूप में ही निर्मल कर देता है।

टिप्पणी—साधु में निंदा सहन करने से विनयशीलता आती है, यही उसके लिए काम्य है।

न्यंदक दूरि न कीजिये, दीजै आदर मान।
निरमल तन मन सब करै बकि बकि आंनहि आंन ॥ ४ ॥

अपने निंदक को दूर नहीं करना चाहिए। उसको तो आदर सम्मान देना चाहिए। वह कुछ से कुछ कहता है अर्थात् अनुचित निंदा भी करता रहता है। इससे वह वह आत्मालोचन का भाव जगाकर मानव को शरीर और मन अर्थात् अपने बाह्य और आभ्यन्तर सभी को निर्मल करने की प्रेरणा दे देता है।

जे कोउ नींदै साध कूं, संकटि आवै सोइ।
नरक मांहि जांमै मरै मुकति न कबहूं होइ ॥ ५ ॥

जो कोई साधु अर्थात् तत्त्वज्ञ की निंदा करता है, उसे संकट ही भोगने पड़ते हैं। ऐसा व्यक्ति निरन्तर जन्म-जन्मान्तर तक नरक की यातना भोगता रहता है। उसकी कभी मुक्ति नहीं होती है।

कबीर घास न नींदिए, जो पाऊँ तलि होइ।
उड़ि पड़ै जब आंखि मैं, खरी दुहेली होइ ॥ ६ ॥

कबीर कहते हैं कि पैरों में पड़ी हुई खास की भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। किसी समय उसका भी महत्त्व होता है अगर उसका कोई टुकड़ा भी आँख में पड़ जाता है तो अत्यन्त कष्टदायक होता है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति अलंकार।

संसार में सबका महत्त्व है; सामान्य प्रतीत होने वाला व्यक्ति भी अवहेलनीय नहीं है।

आपनपौ न सराहिए और न कहिये रंक।
नां जांणौं किस बिरख तलि, कूड़ा होइ करंक ॥ ७ ॥

आत्मश्लाघा करना तथा दूसरों को तुच्छ समझना—दोनों ही मिथ्या अभिमान के चिह्न हैं। यह शरीर नश्वर एवं तुच्छ है। पता नहीं, यह शरीर हड्डियों का ढेर मात्र बनकर किस वृक्ष के नीचे पड़ा रहेगा। पता नहीं किस समय व्यक्ति को मरकर अथवा ऐसे ही तुच्छ अवस्था को प्राप्त करना पड़े।

कबीर आप ठगाइए, ओर न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै, और ठग्यां दुख होइ ॥ ८ ॥

कबीर कहते हैं कि स्वयं किसी दूसरे से ठगे जाओ; दूसरों को ठगो नहीं। स्वयं के ठगे जाने से आनन्द और दूसरों को ठगने से दुःख की अनुभूति होती है।

टिप्पणी—ठगे जाने से अपने पास से कुछ ऐश्वर्य कम होता है। उस धन से दूसरे का लाभ होता है, यही संत के आनन्द का कारण है। दूसरों को ठगने से दूसरों के ऐश्वर्य की हानि होती है। उन्हें दुःख होता है। यह सत्पुरुष के कष्ट का कारण

है, उसकी आत्मा उसे कचोटती रहती है। यही दुःख का हेतु है। इसमें 'अपरिग्रह' की भावना की प्रशंसा है।

अब कै जे सांई मिलै, तौ सब दुख आषौं रोइ।
चरनूं ऊपरि सीस धरि, कहूं जो कहणां होइ ॥ ६ ॥

अब की बार किसी जन्म में अगर भगवान् से साक्षात्कार हो तो मैं उनको अपनी सब व्यथा रोकर निवेदित करूँ। उनके चरणों पर अपना सिर धरकर वह सब कुछ कह दूँ जो मुझे कहना है।

टिप्पणी—भक्त में मिलन की अतिशय आतुरता है।

नोट—यह साखी इस अंग से असम्बद्ध प्रतीत होती है।

(५१) निगुणां कौ अंग

हरिया जाणैं रूँषड़ा, उस पांणीं का नेह।
सूका काठ न जांणई, कबहू बूठा नेह ॥ १ ॥

वर्षा के जल के स्नेह-पूर्ण उपकार के महत्त्व को केवल हरे-भरे वृक्ष ही समझ सकते हैं। उन्हीं को जीननदान मिलता है। सूखे काठ को क्या पता रहता है कि वर्षा कब हुई? उसमें तो जल से रस ग्रहण करके हरे होने की क्षमता ही नहीं है।

टिप्पणी—'अन्योक्ति'।

इसमें पात्र, सहृदय एवं कृतज्ञ व्यक्ति के स्वरूप की व्यंजना है। अकृतज्ञ और अपात्र ही 'निगुरां' हैं। ईश्वर के अनुग्रह, प्रेतु और तत्त्वज्ञान का महत्त्व पात्र, जिज्ञासु और भक्त ही आंक पाता है, संसारी, अज्ञानी और अपात्र नहीं।

झिरिमिरि झिरिमिरि बरषिया, पांहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल भइ, पांहण वोही तेह ॥ २ ॥

पत्थर पर हल्की-हल्की धाराओं में पानी बरसा। उस पड़ी हुई मिट्टी की कठोरता समाप्त हो गई वह गल कर सजल हो गई, पर कठोर पत्थर वैसा ही रहा।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार।

तत्त्व-जिज्ञासु, अधिकारी एवं गुण ग्राहक ही प्रेम और अनुग्रह की द्रवणशीलता से प्रभावित हो सकता है। जैसे मिट्टी सजल हो जाती है, पर पत्थर नहीं; वैसे ही अधिकारी एवं तत्त्व-जिज्ञासु गुरु के उपदेश से तादात्म्य स्थापित कर लेता है; पर अनधिकारी नितान्त असम्पृक्त ही रहता है।

पार ब्रह्म बूठा (बड़) मोतियां, झड़ि बांधी सिषरांह।
सगुरां सगुरां चुणि लिया, चूक पड़ी निगुरांह ॥ ३ ॥

परब्रह्म ने अपने अनुग्रह, प्रेम तथा स्वरूप-ज्ञान रूपी बड़े-बड़े मोतियों की वर्षा

की झड़ी ऊँचे शिखरों पर अर्थात् मायातीत उच्च भूमियों पर लगा दी। उन मोतियों को गुरु की कृपा-प्राप्त तत्त्व-जिज्ञासुओं ने जिन्होंने गुरुमंत्र को हृदयंगम कर लिया है, उन्होंने चुन-चुन कर हस्तगत कर लिया, पर गुरु पर अश्रद्धालु एवं अनधिकारी गुरु-मंत्र से वंचित व्यक्ति इसमें चूक गए।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति एवं सांगरूपक अलंकार।

कबीर हरि रस बरषिया, गिर डूंगर सिषरांह।
नीर निवांणां ठाहरै, ना ऊं छापरड़ांह ॥ ४ ॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् ने अपनी भक्ति एवं अनुग्रह के रस की वर्षा अहंकारी-रूप ऊँचे पहाड़ों के शिखरों पर भी की। पर यह रस रूपी जल नीचे विनम्र व्यक्ति-रूप पहाड़ की तलहटियों में ही ठहरा, अहंकार के ऊँचे छप्परों पर नहीं। अहंकारी इस प्रेम-रस से सिक्त नहीं हुए और विनम्र भक्त प्रेमरस से भर गया।

कबीर मूंढठ करमियां, नष सिंष पाषर ज्यांह।
बांहणहारा क्या करै, बांण न लागै त्यांह ॥ ५ ॥

कबीर कहते हैं कि जो लोग जड़ भाग्य वाले हैं अथवा जिनके कर्म ही मोह-पूर्ण एवं भक्तिहीन हैं तथा जिनका नखशिख; अर्थात् मन, बुद्धि आदि सब ही पत्थर की तरह जड़ है, उन पर तत्त्व के उपदेश एवं प्रेम के बाणों का असर नहीं होता है। बाण चलाने वाले का उसमें क्या दोष है ? पत्थर रूप उनके जड़ हृदय पर ज्ञान और प्रेम के बाण का प्रभाव ही नहीं पड़ता है।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न सुरझ्या मन।
कह कबीर चेत्या नहीं, अजहूं सुपहला (सपहला) दिन ॥ ६ ॥

कहते-सुनते, तत्व का उपदेश देते हुए सारा जीवन व्यतीत हो गया है। पर अज्ञानी जीव का मन एक बार माया में उलझ कर अब उससे छुट्टी नहीं पा सका है। कबीर कहते हैं कि जीव अब भी सावधान नहीं हुआ; उसका आत्म-बोध नहीं जागा। उसके लिए अब भी पहला ही दिन है अर्थात् उसका अज्ञान यथावत् ही है। अथवा आज भी प्रभापूर्ण दिन है। जीव जगाकर आत्मबोध की ओर अब भी बढ़ सकता है, जीव जब जागे तब ही ठीक है।

कहै कबीर कठोर कै, सबद न लागै सार।
सुधबुध कै हिरदै भिदै, उपजे बिबेक विचार ॥ ७ ॥

कबीर कहते हैं कि जड़ एवं अज्ञानी तत्त्वोपदेश के वास्तविक रहस्य को आत्मसात् नहीं कर पाता है। पर वही तत्त्व प्रबुद्ध जिज्ञासु के हृदय में व्याप्त हो जाता है और उसमें इससे विवेक एवं विचार जाग जाते हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

सीतलता कै कारणैं, नाग बिलंबे आइ ।
रोम रोम विष भरि रह्या, अंमृत कहां समाइ ॥ ८ ॥

परम आनन्द की प्राप्ति की आकांक्षा से हमने विषयों के सर्प का अवलम्बन किया है पर इससे हमारी बुद्धि विषय-वासनाओं के विष से इतनी भर गई है कि उसमें तत्त्व-ज्ञान का अमृत अब कहाँ समा सकता है ? या जैसे सर्प शीतलता के लिए चन्दन से लिपटता है पर रोम-रोम में विष रहने के कारण उसमें शीतलता का अमृत नहीं समाता है, वैसे ही विषयी को तत्त्व ज्ञान और प्रेम का अमृत स्पर्श नहीं करता।

सरपहि दूध पिलाइये, दूधैं विष ह्वै जाइ ।
ऐसा कोई नां मिलै, सौं सरपैं विष खाइ ॥ ९ ॥

सर्प को दूध पिलाने से दूध भी विष रूप में परिणत हो जाता है । पर हमें ऐसा कोई न मिला जो सर्प के सहित विष को भी खा जाय ।

'सर्प' माया है । उनका बन्धन ही विष है । भक्ति आदि दूध है, माया में लिप्त की भक्ति भी बन्धन का हेतु है; यही उसका विष होना है । सच्चा ज्ञानी और भक्त ही माया और उसके विष को नष्ट कर सकता है । भक्त माया में रहता हुआ भी उससे निर्लिप्त रह सकता है ।

टिप्पणी—अन्योक्ति अलंकार ।

जालौं इहै बडपणां, ज्यूं सरलै पेड़ि खजूरि ।
पंखी छांह न बीसवैं, फल लागैं ते दूरि ॥ १० ॥

इस खजूर के लम्बे सीधे पेड़ की ऊँचाई जलाने योग्य है, निन्दनीय है । पक्षी इसकी छाया में विश्राम का आनन्द भी नहीं ले सकते हैं । इसके फल तो बहुत ही ऊँचे रहते हैं । वहाँ तक पहुँचने का तो कोई प्रश्न ही नहीं ।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार । जिस व्यक्ति के बड़प्पन एवं सरलता से किसी को कुछ भी लाभ नहीं है; उसके बड़े एवं सरल होने के अहंकार पर व्यंग्य है ।

ऊँचा कुल कै कारणैं, वंस बध्या अधिकार (असरार) ।
चंदन बास भेदै नहीं, जाल्या सब परिवार ॥ ११ ॥

ऊँचे कुल के अहंकार के कारण उन्मत्त होकर बाँस के वृक्ष खूब बढ़ते हैं पर उनमें चन्दन की सुगन्ध तो समा नहीं सकती, अतः उनका सारा परिवार ही जला दिया जाता है' ।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' । कुलाभिमानी सन्त के सद्गुणों को तो अपना नहीं पाता, अतः उसका सकुटुम्ब नाश न्यायोचित एवं अवश्यम्भावी ही है ।

कबीर चंदन के निड़ै, नींव भी चंदन होइ ।
बूड़ा बंस बडाइतां, कौं जिनि बूड़ै कोइ ॥ १२ ॥

कबीर कहते हैं कि चन्दन की समीपता से नीम जैसा कड़वा पेड़ भी सुगन्धित

चन्दन बन जाता है; पर बाँस ऐसा नहीं बन पाता है। जैसे बाँस का पेड़ अपने अहंकार में चन्दन की गन्ध ग्रहण न करके नष्ट हो जाता है, वैसा नाश तो किसी का भी न हो अर्थात् प्रेम और ज्ञान के लिए इतना अग्रहणशील होकर कोई नष्ट न हो।

टिप्पणी—अन्योक्ति अलंकार।

सन्तों की संगति से कटु वासनाओं में भी भक्ति की सुगन्ध और मधुरता आ जाती है; पर अहंकारी, गुणों को ग्रहण न कर सकने वाले एवं श्रद्धाहीन, निगुरे व्यक्ति पर सन्त का प्रभाव नहीं पड़ सकता है। उसका जीवन ही नष्ट हो जाता है। ऐसा जीवन किसी का भी नष्ट न हो। यह कबीर की मंगलकामना है।

(५३) बीनती कौ अंग

कबीर सांई तौ मिलहिंगे, पूछहिंगे कुसलात।
आदि अंति की कहूँगा, उर अंतर की बात ॥ १ ॥

कबीर पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं कि भगवान् तो अवश्य मिलेंगे ही और मेरी राजी-खुशी अवश्य पूछेंगे। उस समय मैं शुरू से अन्त तक अपनी जीवन-कथा और अपने हृदय की बात खोलकर कहूँगा।

टिप्पणी—मिलन के उल्लास की अभिव्यक्ति है।

कबीर भूलि बिगाड़ियां, तूं नां करि मैला चित।
सांहिब गरवा लोड़िये, नफर बिगाड़ें नित ॥ २ ॥

कबीर कहते हैं कि अज्ञान के कारण यह सब बिगड़ गया है। पर जीव, तुम्हें उदास और हताश नहीं होना चाहिए। भगवान् गम्भीर व्यक्ति को अपनाते हैं। अथवा स्वामी महान् होना चाहिए, अन्यथा सेवक को, भूलें हमेशा बिगाड़ी ही रहती हैं। जीव, तुम्हारा स्वामी तो महान् है अतः तुम्हें कोई चिन्ता नहीं । तुच्छता तो सारे काम को ही बिगड़ देती है।

टिप्पणी—स्वामी की सहायता व्यंजित है।

करता केरे बहुत गुंण, आगुणं कोई नांहि।
जे दिल खोजौं आपणौं, तौं सब औंगुण मुझ मांहि ॥ ३ ॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् में अनन्य गुण हैं और अवगुण एक भी नहीं है। जीव के प्रतिनिधि होकर कबीर आत्मालोचन करते हैं कि अगर मैं अपने हृदय को खोजूं तो सब अवगुण मेरे में ही हैं।

टिप्पणी—'विनय भक्ति' में भक्त के लिए भगवान् को सर्वगुण सम्पन्न तथा अपने आपको, अवगुणों वाला देखना आवश्यक है। वैसे भी ईश्वर के प्रत्येक कार्य मंगलमय ही हैं, **इससे** उसमें सब गुण ही हैं। अल्पज्ञ जीव के राग-द्वेष से ही कोई भाव अवगुण बनता है। अतः अहंता और ममता में अवगुण है; किसी कार्य में नहीं।

औसर बीता अलपतन, पीव रह्या परदेश।
कलंक उतारौ केसवां, भांनौ भरंम अंदेस ॥ ४ ॥

जीवात्मा अपने आपसे कहती है कि मुझे अपने प्रियतम से प्रेम के जो अवसर प्राप्त हुए थे, वे तो मेरे छोटेपन अथवा अबोध अवस्था में बीत गये। अब मेरे प्रियतम भगवान् मुझसे बहुत दूर देश में हैं। हे भगवान्, मेरे भ्रम और भय को दूर कीजिए तथा इस अबोधता के कारण मैं जीवात्मा, आपको नहीं पा सकी, इस कलंक को मेरे सिर पर से उतार दीजिए।

टिप्पणी—पति-परमेश्वर से मिलने की विकलता का चित्रण है।

कबीर करत है बीनती भौसागर के तांई।
बंदे ऊपरि जोर होत है, जंम कूं बरजि गुसांई ॥ ५ ॥

कबीर ईश्वर से भवसागर पार करने की विनय करते हैं और कहते हैं कि आपके इस जन पर अत्याचार हो रहा है। यमराज जोर-जुल्म कर रहा है। अतः उसे तो, हे भगवान् आप ही रोकें।

टिप्पणी—काल जीव के नहीं ईश्वर के वश में है।

हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर।
मीरां मुझ मैं क्या खता, मुखां न बोलै पीर ॥ ६ ॥

कबीर कहते हैं कि मैं अनेक बार हज और काबे हो आया हूँ, अर्थात् तीर्थ-व्रत आदि बाह्य साधनाओं को कर चुका हूँ। पर हे भगवान्, पता नहीं मुझ में क्या दोष है कि मेरा प्रिय मुझसे मुँह से भी नहीं बोलता है।

टिप्पणी—बाह्याडम्बर से अहंकार जागता है। गुरु का उपदेश केवल विनयशील व्यक्ति को ही होता है। प्रेमी भी सहज प्रेम पर ही रीझता है। यही व्यंजना है।

ज्यूं मन मेरा तुझ सौं, यौं जे तेरा होइ।
ताता लोहा यौं मिलै, संधि न लखई कोइ ॥ ७ ॥

हे भगवान्, जैसे मैं तुमसे मिलने के लिए आतुर हूँ वैसे ही अगर तुम भी मुझे अपनाने के लिए विकल हो जाओ तो हम दोनों ऐसे एकाकार हो जाएँगे जैसे गर्म लोहे के टुकड़े आपस में मिल जाते हैं और उनकी सन्धि भी दिखाई नहीं देती है।

टिप्पणी—उपमा अलंकार। यहाँ प्रेम-जनित अद्वैत की कामना का चित्रण है, और यह अवस्था अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है। 'यं एषः वृणुते' के समान ही भाव है। जीव और ब्रह्म का ओत-प्रोत भाव कबीर दर्शन की मुख्य विशेषता है। इस साखी में यही व्यंजित है।

(५३) साषीभूत कौ अंग

कबीर पूछै रांम कूं, सकल भवनपति राइ।
सबही करि अलगा रहौं, सो बिधि हमहिं बताइ॥ १॥

कबीर भगवान् से पूछते हैं, हे सम्पूर्ण भवनों के स्वामी, मुझे वह साधन बताओ जिससे मैं इस सम्पूर्ण माया से असम्पृक्त रह सकूं।

टिप्पणी—'सकल भवन पति' सकल भवन में रहते हुए भी उससे अलग है। जीव को भी यही अवस्था काम्य है।

जिहि बिरियां सांई मिलै, तास न जांणें और।
सबकूं सुख दे सबद करि, कपर्णी-अपर्णी ठौर॥ २॥

साधक को किस अवसर पर भगवान् के दर्शन सम्भव हैं, इसे तत्त्व गुरु के अतिरिक्त और कोई नहीं मानता है। गुरु सबको अधिकारी भेद से उनके कर्मों और वासनाओं के अनुसार उपदेश देकर आनन्द-लाभ करा देते हैं।

टिप्पणी— गुरु साक्षात्कृतधर्मा होते हैं, वे ही अधिकारी की पात्रता समझते हैं। यही व्यंजना है।

कबीर मन का बाहुला, ऊंचा बहै असोस।
देखत हीं दह मैं पड़ै दई किसा कौं दोस॥ ३॥

कबीर कहते हैं कि यह जीव के मन का नाला इस संसार के अथाह एवं अशोष्य मोह जल में बहने लगता है। वह जान-बूझकर अज्ञान और विषय-वासनाओं के गहरे गड्ढे में गिर पड़ता है। फिर अब किसे दोष दे रहा है? माया के बन्धन उनके अपने स्वकल्पित हैं। स्वयं के चेतन पर ही छूटेंगे।

(५४) बेली कौ अंग

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी, नां तूंबड़ी न बेलि।
जालण आंणीं लाकड़ी, ऊठी कूंपल मेल्हि॥ १॥

बेल ऐसी सूख गयी थी कि न तो उसके तूंबों के फल रहे और न ही वह हरी भरी ही रही कि बेल कही जा सकती। उसको जलाने के लिए सूखी लकड़ी के रूप में घर लाए थे पर यहाँ आकर फिर से उसमें कुल्ले फूटने लगे।

टिप्पणी—'अन्योक्ति'।

यह माया का वर्णन है। कायायोग आदि की साधना से माया रूपी बेल और विक्षोभ-रूप उसके फल नष्ट से प्रतीत होने लगते हैं। जैसे सूखी लकड़ी केवल जलाने के उपयोग की है, वैसे ही माया को सामान्य जीवन-निर्वाह का साधन भर समझने का अहंकार साधक में जाग जाता है। पर पूर्ण तत्त्वज्ञान तथा ईश्वर-प्रेम के परिपाक के अभाव में अचानक किसी वासना से यह माया पुनः सक्रिय हो जाती है और उसमें

वासना के अंकुर फूटने लगते हैं। वासना केवल ज्ञान और भक्ति से ही समाप्त होती है।

आगैं-आगैं दौ जलै, पीछैं हरिया होइ।
बलिहारी ता बिरछ की, जड़ काट्यां फल होइ ॥ २ ॥

यह माया-रूपी वृक्ष विचित्र है। इसकी शाखा का अगला भाग संयम और साधना रूपी दावाग्नि से जलता हुआ प्रतीत होता है, पर अगर सच्ची भक्ति तथा तत्त्वज्ञान नहीं है तो उसका पिछला भाग वासनाओं से हरा होता रहता है। अर्थात् यह माया ऊपर से झुलसी हुई प्रतीत होती है, पर ज्ञान से पूर्व वह मूलतः हरी-भरी ही रहती है। इस वृक्ष की बलिहारी है, यह तो जड़ काटने पर ही फल देता है। अर्थात् माया को निर्मूल करने पर ही, माया को असत्-रूप मानने पर ही मोक्ष-रूपी फल मिलता है। माया चैतन्य पर आधारित है; वही इसका मूल है। पर उससे यह नितान्त पृथक् एवं असम्पृक्त भी है। माया चैतन्य का विकास भी नहीं है। अपने अधिष्ठान के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान ही माया है। अतः माया को निर्मूल करने का अर्थ—अधिष्ठान के स्वरूप का तत्त्वज्ञान ही है। यही मोक्ष है।

टिप्पणी—'रूपक' तथा 'विरोधाभास अलंकार।

जे काटौं तौ डहडही, सींचौं तौ कुम्हिलाइ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुंण कह्यां न जाइ ॥ ३ ॥

इस त्रिगुणात्मक माया-रूपी बेल के विचित्र विरोधी गुण हैं। इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता है। यह अनिवर्चनीय है। इस बेलि को अगर तत्त्वज्ञान एवं भक्ति रहित साधना, कर्म एवं संयम रूपी कुल्हाड़े से काटो तो यह और भी अधिक हरी-भरी हो जाती है। वासनायें दबाने से बाद में प्रबल होती हैं। उनके मिथ्यात्व का ज्ञान ही उन्हें नष्ट करता है। अगर इस बेलि को भक्ति रूपी रस से सींचते रहो अर्थात् वासनाओं को भक्ति का साधन बनाकर भोगते रहो; वासनाओं को भक्ति में परिणत करते रहो तो यह माया रूपी-बेल मुरझा जाती है। इससे माया धीरे-धीरे सूक्ष्म होती हुई समाप्त हो जाती है। भक्ति और ज्ञान की अवस्था में वासना और माया बन्धन का हेतु नहीं बनती।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति, रूपक और विरोधाभास अलंकार। 'गुणवन्ती' में श्लेष अलंकार। पूरन साहब ने वाणी और कल्पना को बेल कहा है। कल्पना भी माया ही है।

आंगणि बेलि अकासि फल, अणब्यावर को दूध।
ससा-सींग की धनुहड़ी, रमै बांझ का पूत ॥ ४ ॥

यह माया आंगन में लगी हुई बेल है, पर इसके फल दूर आकाश में, शून्य में लगते हैं अथवा इसके फल केवल कल्पित एवं शून्य रूप हैं। यह उस स्त्री का दूध

है जिसके कभी बच्चा ही नहीं हुआ। यह खरगोश के सींग का बना हुआ धनुष है जिससे बांझ का पुत्र खेल रहा है।

टिप्पणी—इन रूपकों से माया के विवर्त, असत्, मिथ्या एवं अनिर्वचनीय रूप का प्रतिपादन हुआ है। माया का आश्रय और अधिष्ठान चैतन्य है, अतः यह चेतन-रूप आंगन में लगी हुई है। 'आंगन बेल' की यही व्यंजना है। माया-रूप जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं, विवर्त है। इस माया का कोई जागतिक फल सत् नहीं है; वह कल्पित है, इसलिए आकाशी या शून्य है। अथवा इसके आश्रय से मायातीत तत्त्व को प्राप्त करना ही इसका फल है, वह भी सबसे अतीत होने के आकाशीय ही है। सत् और असत् से विलक्षण होने से 'अण व्यावहर का दूध' है तथा जगत् के असत् एवं मोक्ष के मायातीत होने से 'अकासि फल' कहा गया है। 'ससा सींग की धुनहड़ी' 'रमै बांझ क़ा पूत' ये वस्तुतः असत् पदार्थ एवं असत् कार्य हैं, पर इनका व्यवहार होता है। अतः व्यवहार में ये सत् प्रतीत होते हैं और भोग के साधन बनते हैं। माया असत् होते हुए भी व्यवहार में सत् प्रतीत होती है। कर्म भोग का साधन है, पर है मिथ्या ही। इन वाक्यखण्डों का यही संकेत है।

कबीर कड़ई बेलड़ी, कड़वा ही फल होइ।
सींध नांव तब पाइये, जे बेलि बिछोहा होइ॥ ५॥

कबीर कहते हैं कि यह माया कचरिया की बेल है जो कड़वी होती है। इसके कचरिया रूप वासनादिक फल मूलतः कड़वे ही हैं। परिणाम में कड़वे हैं अर्थात् बन्धन के हेतु होते हैं। कचरिया का फल पकने पर बेल से अलग होकर मीठा एवं सुगन्धपूर्ण हो जाता है। उस समय उसका नाम सेंध पड़ जाता है वैसे ही साधक भी माया से पृथक् होने पर सिद्ध कहलाता है। उसमें भक्ति का माधुर्य एवं ज्ञान की सुगंध हो जाती है। तब माया कड़वी और बन्धन कारक नहीं रहती।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

सींध भइ तब का भया, चहूं दिसि फूटि बास।
अजहूँ बीज अंकूर है, अभी ऊगण की आस॥ ६॥

कड़वी कचरिया के पकपर सेंध होने से क्या लाभ हुआ? उसकी सुगंध तो चारों ओर फूट गई है। पर उसमें अन्दर बीज शेष हैं, जिनके उगने की अब भी सम्भावना है। इसके बीजों से उगी हुई बेल के फल फिर भी कड़वे ही होंगे।

टिप्पणी—'अन्योक्ति'। सिद्ध पुरुष की प्रशंसा चारों ओर फैल जाती है। ये प्रशंसा और सम्मान बन्धन के हेतु हैं, क्योंकि इनसे अहंकार की पुष्टि होती है तथा इनकी वासना जो बीज रूप सिद्ध में हैं, पुनः अंकुरित एवं पल्लवित होकर सिद्ध के पतन एवं बन्धन का हेतु बन जाती है, तत्त्वज्ञान की अग्नि से हर प्रकार की वासना के बीजों को जला देने पर ही व्यक्ति सच्चा सिद्ध हो सकता है। यह प्रेरणा इस साखी का प्रतिपाद्य है।

(५६) अबिहड़ कौ अंग

कबीर साथी सो किया, जाके सुख दुख नहीं कोइ ।
हिलि मिलि ह्वै करि खेलिस्यूं, कदे बिछोह न होइ ॥ १ ॥

कबीर कहते हैं कि मैंने उस पुरुष से मित्रता की है, जिसको संसार के सुख-दुःख नहीं व्यापते; अर्थात् वह सुख-दुःख के द्वन्द्व से परे है। मैं उस पुरुष के साथ हिल-मिलकर आनन्द केलि करूँगा। उस परम तत्त्व से मेरा (जीव चैतन्य का) वियोग कभी नहीं होगा, अर्थात् जीव और ब्रह्म का अभेद हो जायेगा।

टिप्पणी—पाठान्तर—'हिल-मिल के संग खेलिस्यूं'।

—(पारसनाथ तिवारी)

कबीर सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोइ ।
गुण औगुण बिहड़ै नहीं, स्वारथ बंधी लोइ ॥ २ ॥

कबीर कहते हैं कि जीव का भगवान् के समान कोई दूसरा हितैषी नहीं हो सकता है। वह जीव को गुण-अवगुण किसी भी अवस्था में छोड़ता नहीं, उन पर ध्यान दिए बिना ही वह जीव पर अनुग्रह करता है। वह स्वार्थ-परायण लोगों की तरह अपने भक्त को सम्पत्ति-विपत्ति की किसी भी अवस्था में छोड़ता नहीं है। पर जगत् के स्वार्थों में बँधे हुए लोग तो गुण-अवगुण की (अर्थात् मेरे व्यवहार के प्रति अपनी अनुकूलता तथा प्रतिकूलता की भावना की) कभी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

टिप्पणी—'विहड़ै' की कई अर्थ छवियों का प्रयोग है। भगवान् के एकरस एवं अहेतुक अनुग्रह वर्णन है। जैसे भगवान् में भक्त के प्रति अहेतुकी प्रेम होता है, वैसे ही भगवान् में भक्त पर अहेतुक अनुग्रह। यही कबीर का प्रेम-दर्शन है।

आदि मधि अरु अंत लौं, अबिहड़ सदा अभंग ।
कबीर उस करतार का, सेवक तजै न संग ॥ ३ ॥

यह परमतत्त्व जो स्वभावतः ही सम्पूर्ण उलझनों से परे ऋजु एवं सहज है सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् सर्वदा एकरस एवं अखण्ड ही रहता है। ऐसे परम अनुग्रही, कर्त्ता एवं स्वामी का साथ सेवक कभी नहीं छोड़ता है।

टिप्पणी—सहज परमतत्त्व ही सेव्य एवं उपास्य है। यह अद्वैत एवं अखण्ड तत्त्व है और ज्ञान तथा भक्ति दोनों का विषय है। यही कबीर की निर्गुण भक्ति है। अबिहड़=जो ऊबड़-खाबड़ नहीं है, झाड़ झंगाड़ से परे है। इससे परमतत्त्व के दुर्विज्ञेयत्व एवं गूढ़ रहस्यत्व का निषेध करके उसके सहजत्व का प्रतिपादन हुआ है।

पदावली

दुलहनीं गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥टेक॥
तन रत करि मैं, मन रत करिहूँ, पंचतत बराती।
रांमदेव मोरै पाँहूनैं आये, मैं जोबन मैंमाती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उपचार।
रांमदेव संग भाँवरि लैहूँ, धनि धनि भाग हमार॥
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी॥

कबीर जीवात्मा और परमात्मा के विवाह के रूपक में रहस्यवादी भावना को व्यक्त कर रहे हैं। हे दुल्हन, अथवा सौभाग्यशालिनी स्त्री तुम मंगल गीत गाओ। हमारे घर पर स्वयं भगवान् पति के रूप में पधारे हैं। मैं अपने पति में अपने शरीर और मन—दोनों को एवं उनके प्रेम में रंजित कर दूंगी। अथवा शरीर और मन रूपी उन वस्त्रों को रंग लूंगी जो विवाह के अवसर के वस्त्र होंगे। पंच तत्त्व उनके बराती बनकर आये हैं। भगवान् राम मेरे पति बनकर मुझे लेने आये है। मैं यौवन के मद से पूर्ण हूं अर्थात् साधना और प्रेम की परिपक्वावस्था को पहुंच गई हूं, अतः मुझ में पति-मिलन की उत्कट अभिलाषा है। शरीर-रूपी इस तालाब के किनारे मैं विवाह की वेदी तैयार करूंगी और विवाह के मन्त्र स्वयं ब्रह्मा पढ़ेंगे। मेरा यह परम सौभाग्य है कि मैं भगवान् राम के साथ भाँवर लूंगी। जीवात्मा कितने उल्लास का अनुभव कर रही है कि उसे स्वयं भगवान् ब्याह कर ले जा रहे हैं। इस पर तैंतीस करोड़ देवताओं तथा अठासी हजार मुनि आश्चर्य-चकित हैं।

टिप्पणी—सांगरूपक और व्यतिरेक अलंकार। रहस्यवादी प्रतीक के आवरण में प्रेम और अनुग्रह अथवा ईश्वर-जीव-दोनों के पारस्परिक प्रेम का चित्रण है।

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाय।
भाग बड़े घरि बैठे आये ।।टेक।।
मंगलचार मांहि मन राखौं, राम रसांइण रसना चाखौं।
मंदिर माहि भया उजियारा, ले सूती अपना पीव पियारा ।।
मैं रनिरासी (रनिवासी) जे निधि पाई, हर्माहि कहा यहु तुर्माहि बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछु न कीन्हा, सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हा ।। २ ।।

बहुत लम्बे समय के बाद अर्थात् जन्म-जन्मान्तर के कष्टों के बाद मेरे प्रियतम राम मेरे यहाँ आये हैं और यह भी परम सौभाग्य है कि वे स्वयं घर बैठे ही आये हैं। मैं मंगल-विधान में अपने मन को अनुरक्त करती हूँ एवं राम के प्रेम रस का आनन्द जीभ से ले रही हूँ। मेरे हृदय-मन्दिर में प्रेम का प्रकाश हो गया है और मैं अपने पति के संग सो गई हूँ। मुझ निराश ने जितनी अमूल्य निधियाँ अर्थात् आनन्द एवं नौ सिद्धियाँ प्राप्त की हैं, उसमें मेरी पात्रता नहीं अपितु तुम्हारे अनुग्रह का ही महत्त्व है। कबीर कहते हैं कि जीवात्मा भगवान् के अनुग्रह एवं प्रेम में विभोर हो पड़ी है, अतः अनुभव करती है कि उसने कुछ भी प्रयास नहीं किए। वह कहती है, 'हे सखि, यह सहज सौभाग्य तो मुझे प्रियतम राम ने ही दिया है।'

टिप्पणी—प्रियतम के अनुग्रह दाम्पत्य-प्रेम एवं रहस्यवादी भावना का भाव-विभोर करने वाला चित्र है। सांगरूपक का निर्वाह।

मन्दिर..........उजियाया..........ज्ञान और प्रेम का प्रतीक है।

ले..........पियारा..........जीवात्मा और परमात्मा के अभेद की रागमय अनुभूति का प्रतीक है।

पाठान्तर का अर्थ 'रनिवासी' मुझ महलों में सीमित सभी ने, अथवा रनिवास सम्बन्धी जो निधियाँ।

अब तोहि जांन न देहूँ रांम पियारे।
ज्यूं भावै त्यूं होहू हमारे ।।टेक।।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये भाग बड़े घरि बैठे आये।
चरननि लागि करौं बरिआई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ।।
इत मनि मंदिर रहौ नित चौखैं, कहै कबीर परहु मति धोखै ।। ३ ।।

पत्नी भाव में जीवात्मा कह रही है, 'हे मेरे प्रियतम राम, अब मैं आपको हृदय से जाने नहीं दूँगी। आप जैसे चाहें मेरे बन जाइए। मैंने जन्म-जन्मान्तर से बिछुड़े हुए आपको प्राप्त किया है और इसमें भी मेरा अहोभाग्य है कि आप स्वयं ही घर आ गये हैं। अब मैं आपके चरणों में अनुरक्त होकर आपसे यहीं रहने की जबरदस्ती करूँगी; आपको अपने प्रेम में उलझाए रखूँगी। हे भगवान्, आप इस मन-मन्दिर में हमेशा अच्छी प्रकार आराम से निवास करें। जहाँ प्रेम का दिखावा एवं धोखा है, वहाँ मत जाइए।'

टिप्पणी—'सांगरूपक' अलंकार। प्रेम के लौकिक बिम्बों से अलौकिक प्रेम की व्यंजना है। पति पर एकाधिपत्य की भावना लौकिक प्रेम में तो ठीक ही है। अलौकिक प्रेम में अनन्यता एवं विरह की आशंका से मुक्ति की आकांक्षा की व्यंजना में ही इसका अभिप्राय है।

मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागी तोहि रे।
चरन कंवल मन मांनियां, और न भावै मोहि रे॥ टेक॥
षट दल कंवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाई रे।
दहुँ कै बीचि समाधियां, तहां काल न पासै आइ रे।
अष्ट कंवल दल भींतरा, तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुरु मिलै तौ पाइये, नहिं तौ जन्म अक्यारथ जाइ रे॥
कदली कुसुम दल भीतरां, तहा दस अंगुल का बीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत (होइ) नहीं मींच रे॥
बंक नालि के अंतरै, पछिम दिसां की बाट।
नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भँवर गुफा के घाट रे॥
त्रिबेणी मना अन्हवाइए, सुरति मिलैं जौ हाथि रे।
तहां न फिरि मघ जोइए, सनकादिक मिलिहैं साथि रे॥
गगन गरज मघ जोइये, तहाँ दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घन बरषिहै, तरां भीजत हैं सब संत रे॥
षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गए श्रीवनवारि रे।
जुरा मरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे॥
गुरु गमे ते पाईए, झंषि मरे जिनि कोइ रे।
तहां कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे॥ ४॥

साधक जीवात्मा कह रही है, 'मेरे मन की मुग्धता रूप अथवा उसके हेतु मन-मोहन मेरे स्वामी, यह मन तुझ में अनुरक्त हो गया है। तुम्हारे ही चरण-कमलों का मन निरन्तर ध्यान कर रहा है और अन्यत्र कहीं भी नहीं जाता है। कुण्डलिनी जागकर अब स्वाधिष्ठान चक्र पर पहुंच गई है और यह साधक जीव छह दलों के कमल में निवास कर रहा है। अथवा मैंने सहज संयम, सुपाय और अतीत रूप चारों वाणियों को मिला दिया है। स्वाधिष्ठान चक्र तथा शून्य चक्र के बीच में विभिन्न समाधियां लगती हैं। वहां पर काल की भी गति नहीं है। जीव उन स्थानों पर रहता हुआ कालजयी हो जाता है। अष्ट दल वाले कमल में श्रीरंग भगवान् आनन्द

केलि करते रहते हैं। जीवन की यह अनुभूति गुरु के मिलने पर ही प्राप्त होती है, अन्यथा तो जन्म व्यर्थ हो चला जाता है। मेरुदण्ड-रूपी कदली के शिरोभाग में जो फूल विकसित है, उसमें दस अंगुल का अवकाश है। रे साधक, यहीं पर तू अनाहत चक्र को खोज अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार कर ले। इससे न तुम्हारा जन्म होगा और न मृत्यु ही अन्यथा तुम्हारा जन्म मृत्यु में परिणत होगा, तुम्हें जन्म-मरण में भटकना पड़ेगा। मेरुदण्ड पीछे है, अतः पश्चिम दिशा के सुषुम्ना मार्ग का ऊपरी भाग वक्रमार्ग है वहीं पर एक भ्रमर गुफा है। उसमें से झरते हुए अमृत रस का पान करो। वहीं पर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मेल की त्रिवेणी है। जीव, तुम उसमें स्नान करो ताकि तुम्हें अपने स्वरूप की स्मृति जाग जाय। वहाँ से पुनः जगत् की ओर फिरने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वहाँ पर मधि तत्त्व अर्थात् परमतत्त्व की ओर ध्यान लगाते रहो। उसी स्थान पर तुम्हें सनकादिक अमर ज्ञानियों से भेंट होगी। वहीं पर आकाश में अनहदनाद की घोर गर्जना भी सुनाई देगी। वहीं पर मधि तत्त्व का साक्षात्कार करते रहो। उस स्थान पर ही अनन्त प्रकाश पुञ्ज भगवान् दिखाई देते रहेंगे। वहाँ ज्ञान की बिजली चमकती रहेगी और प्रेम एवं आनन्द का बादल बरसता रहेगा। उसी वर्षा में सारे सन्त लोग भीगते रहते हैं। जिस समय सोलह दल वाले कमल का विकास हो जायगा, उस समय तुम्हें स्वयं कृष्ण के दर्शन होंगे, यहीं पर वृद्धावस्था और मृत्यु का भय भाग जाता है। रे जीव, यहाँ पहुँचकर पुनर्जन्म के भय को भी दूर कर दो। चाहे कोई अन्य साधनाओं में कितना भी झक मारता रहे, सिर पीटता रहे, यह अवस्था तो गुरु की कृपा से उनके मन्त्र तथा उससे निर्दिष्ट मार्ग से ही प्राप्त होती है। यही सहज समाधि की अवस्था है; यहीं पर कबीर रम रहा है। वहीं पर व्याप्त भूमा तत्त्व का साक्षात्कार होता है।

टिप्पणी—प्रमुखतः हठयोग की साधना का वर्णन है। अष्टदल कमल की कल्पना कबीर की अपनी है। पर इसी में भक्तियोग और ध्यानयोग का मिश्रण भी है। यही कबीर की विशेषता है। 'गुरु' शब्द में अनेक अर्थ-छवियाँ हैं।

गोकुल नाइक बींठुला, मेरौ मन लागौ तोहि रे।
बहुतक दिन बिछुरे भये, तेरी औसेरे आवै मोहि रे ॥टेक॥
करम कोटि कौ गेह रच्यौ रे, नेह गये की आस रे।
आपहिं आप बंधाइया, द्वै लोचन मरहिं पियास रे ॥
आपा पर संमि चीन्हिये, दीसै सरब समांन।
इहि पद नरहरि भेटिये, तूं छांड़ि कपट अभिमांन रे ॥
नां कतहुं चलि जाइये नां सिर लीजै भार।
रसनां रसहि बिचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे ॥

साधैं सिधि ऐसी पाइये, किबा होइ म होइ।
जे दिढ़ ग्यांन न ऊपजं, तौ अहटि रहैं जिनि कोइ रे ॥
एक जुगति एकै मिलै, किबा जोग कि भोग।
इन दून्यूं फल पाइये रांम नांम सिधि जोग रे ॥
प्रेम भगति ऐसी कीजिए, मुखि अंमृत बरिषै चंद।
आपही आप बिचारिये, तब केता होइ अनंद रे ॥
तुम जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे ॥
चरन कंवल चित लाइये, रांम नांम गुन गाइ।
कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ रे ॥ ५ ॥

'हे गोकुल के नटवर स्वामी, मेरा मन तुझ में अनुरक्त हो गया है। तुझसे बिछड़े हुए बहुत समय (कई जन्म) बीत गया है, अब ज्ञान और प्रेम जागने पर मुझे तुम्हारी याद सताने लगी है। तुम्हारी प्रीति से वशीभूत होकर तुम्हारे आने और मिलने की आशा से मैंने तुम्हारे स्वागतार्थ करोड़ों कर्मों में इतने बड़े घर (जगत्) का निर्माण कर लिया। पर इससे मैं अपने कर्मों में स्वयं ही बँध गया हूं (जीव भगवान् से मिलने की अनेक साधनाओं में भटकता है; पर वे सच्चे ज्ञान के अभाव में बन्धन के हेतु होती हैं) अब मेरे नेत्र तुम्हारे दर्शन के लिए प्यासे हैं। हे भगवान् अपने और पराये का भेद हटाओ जिससे मुझे सब समान ही दिखायी दें।" फिर अपने को ही सम्बोधित करके कह रहा है, "इस प्रकार तुम भगवान् के चरण-कमलों को प्राप्त कर सकोगे। जीव, तू अपने मन को कपट और अहंकार छोड़ दे। फिर न इस जगत् को छोड़कर जाने की जरूरत है और न ही अपने सिर पर अनेक साधनाओं के भार वहन की। भगवान् विष्णु का ध्यान कर और उसके नाम-रस का जिह्वा से साक्षात्कार कर। चाहे कुछ भी हो, साधना से ही सिद्धि प्राप्त होती है। अगर इनसे सच्ची दृष्टि नहीं मिलती है तो दुःखी अथवा निराश होने की कोई बात नहीं है। ऐसे एक उपाय से भोग और योग में से एक ही पदार्थ की प्राप्ति होती है। इन दोनों की प्राप्ति तो भगवान् के नाम-स्मरण एवं भक्ति-योग से ही होती है। प्रेम-भक्ति इतनी तल्लीनता के साथ करनी चाहिए कि आकाश एवं चन्द्र नाड़ी से अमृत की वर्षा होने लगे। इस प्रेम-रस का स्वयं ही हृदय में ध्यान करो। देखना कितने आनन्द का अनुभव होता है।

कबीर जीवों से (पाठकों से भी) कहते हैं कि तुम यह मत समझो कि यह कोई कविता मात्र है। यह तो स्वानुभूति से प्राप्त ब्रह्म-ज्ञान एवं तत्व दर्शन है। हमने इन पंक्तियों में केवल आत्म-कल्याण के साधन का मूल तत्व प्रतिपादन किया है। आप भगवान् के चरण-कमल में चित्त लगा दें, भगवान् का गुणगान करें।

कबीर कहते हैं कि ऐसा करते पर निःसन्देह आपको भक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होगी।

टिप्पणी—यह पद कबीर की 'कविता-सम्बन्धी' एवं जीवन-सम्बन्धी विचार-धारा के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कबीर की दृष्टि में भक्ति ही सर्वोत्तम साधना है। कबीर की पद-रचना का प्रयोजन लोकहित है, मनोरंजन नहीं। वह सच्ची अनुभूति-रूप ही है; कविता मात्र नहीं, अर्थात् कल्पना प्रसूत मात्र नहीं। अनुभूति और कविता कल्पना को व्यावर्त्तक तत्व मानने की एक परम्परा रही है, कबीर को वही मान्य है। इसी का संकेत है।

अब मैं पाइबौ रे पाइबो ब्रह्म गियान।
सहज समाधें सुल में रहिबौ, कोटि कलप विश्राम ॥टेक॥
गुरु कृपालु कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या, परम जोति परकासा ॥
मृतक उठ्या धनक कर लीयै, काल अहेड़ी भागा।
उद्या सूर निस किया पयांनां, सोवत थैं जब जागा ॥
अबिगत अकल अनूपम देख्या, कइतां कह्या न जाई।
सैन करै मनहीं मन रहसै, गूंगै जांनि मिठाई ॥
पहुप बिनां एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।
नारी बिनां नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया ॥
देखत कांच भया तन कंचन, बिन बानी मन मांनां।
उड़्या बिहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समांनां ॥
पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं, न्हाये उदिक न न्हांऊं।
भागा भ्रम ये एकही कहतां, आये बहुरि न आंउं ॥
आपै मैं तब आपा निरष्या, आपनपैं आपा सूझ्या।
आपै कहत सुनत फुनि अपनां, आपनपैं आपा बूझ्या ॥
अपनैं परचै लागि तारी, आपन मैं आप समांनां।
कहै कबीर जे आप बिचारै, मिटि गया आवन जांनां ॥ ६ ॥

जीवात्मा कहती है कि अब मुझे ब्रह्म ज्ञान हो गया है। करोड़ों कल्पों में अर्थात् अनन्त काल तक मैं सहज समाधि के सुख का अनुभव करता हुआ स्वरूप में स्थित रहूँगा। जब कृपालु गुरु ने मुझ पर अनुग्रह किया तब मेरा हृत्कमल विकसित हुआ। मेरे सब भय भाग गये और मुझे दशों दिशाओं का ज्ञान हो गया परब्रह्म ज्योति का प्रकाश सर्वत्र फैल गया है। अब यह जीवनमृत अथवा जीवन्मुक्त

ज्ञान के धनुष को लेकर खड़ा हो गया है। काल-रूपी शिकारी जो अब तक इस जीवात्मा को बाँधे हुए था, अब भाग गया है। जीवात्मा ने अपने कालातीत स्वभाव का साक्षात्कार कर लिया है। जब जीवात्मा अज्ञान की नींद में सोते हुए से ज्ञान में जाग गई तो ज्ञान का सूर्य उदित हो गया और अज्ञान की रात्रि पलायन कर गई। जीव को उस अविगत, अखण्ड एवं अद्भुत के दर्शन हुए जो स्वयं भी एवं जिसकी अनुभूति भी वर्णनातीत है। इस अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए जीव केवल संकेत भर करता है; मन ही मन उसकी रहस्यमयता का साक्षात्कार करता रहता है। यह उसके लिए गूंगे का गुड़ है। यह अनुभूति बिना पुष्प के फूला हुआ वृक्ष है; तुरही के बिना ही यह अनुभूति या नाद बजा रहा है। नारी के बिना ही इस घड़े में जल भरा जा रहा है। मुझे सहज स्वरूप की प्राप्ति हो गई है। इस परमतत्त्व के दर्शन होते ही यह कच्चा शरीर कंचन बन गया है। इस आनन्द का मौन रहकर मन ने रसास्वाद किया है, पर वाणी इसका वर्णन नहीं कर सकती है।

इस अनुभूति को प्राप्ति करने के लिए मन-रूपी पक्षी साधना में बहुत ऊँचाई तक उड़ा पर उसे प्राप्त नहीं कर सका। जैसे घट की भेदक उपाधि के नष्ट होने पर जल में जल समा जाता है, वैसे ही शरीर की उपाधि नष्ट होने से समष्टि चैतन्य में व्यष्टि चैतन्य समा गया है। इस मुक्तावस्था के बाद मैं पूजे हुए देवताओं को फिर नहीं पूजूँगा अर्थात् जीवन-साधनाओं की पुनरावृत्ति अब नहीं होगी। जिस संसार के जल में मैंने स्नान किया है, अब उसमें पुनः स्नान नहीं करूँगा। मेरा भ्रम एक क्षण में ही बात की बात में दूर हो गया है। अब इस संसार में पुनः नहीं आऊँगा। अपने अहं को जब मैंने स्वयं ही अन्तर्मुखी होकर देखा तो मुझे अपने वास्तविक स्वरूप, शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार हो गया। अपने ही बारे में स्वयं कहते-सुनते अर्थात् मनन करते हुए मुझे अपने आप ही आत्म-बोध हो गया है। इससे आत्म-परिचय की कुंजी लग गई है और यह व्यष्टि अहं समष्टि अहं से तदाकार हो गया है। अथवा त्राटक-ध्यान लग गया है, इससे जीव शून्य गगन की ओर ही बढ़ेगा, नीचे की ओर नहीं आ सकता है। कबीर कहते हैं कि जो अपने स्वरूप का चिन्तन करते हैं, उनका आवागमन छूट जाता है।

टिप्पणी—'मृतक········भागा' में रूपक एवं लाक्षणिकता का पुट है। पहुप····भरिया—विभावना अलंकार।

और 'उद्या··············पवांना'—रूपकातिशयोक्ति। सूर्य के उदित होने पर जीव जागते हैं, यह लोक का चित्र है। पर यहाँ जीव के जागने पर सूर्य उदित हुआ है, यह कहा गया है। यह उलटवांसी है आध्यात्मिक अनुभूति है। परोक्ष ज्ञान जागना है और अपरोक्षानुभूति रूपी ज्ञान सूर्य का उदय है। 'कंचन भया' से मुक्ति की अनुभूति के योग्य बनाने की व्यंजना है। यह क्षमा, सन्तोष' विचार एवं सत्संग की प्राप्ति में सम्भव है। यहाँ इस दर्शन का भी संकेत है।

नरहरि सहजैं हीं जिनि जांना ।
गत फल फूल तत तर पलव, अंकूर बीज नसांनां ।।टेक।।
प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि परजारी ।
ससि जरि सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी ।।
उलटे पवन चंक्र षट बेध्या, मेर डंड सर पूरा ।
गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहद तूरा ।।
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमीं ।
पद आनन्द काल थैं छूटै, सख मैं सुरति समांनीं ।। ७ ।।

कबीर कहते हैं कि जिन्हें भगवान् का सहज साधना से ही ज्ञान हो गया है; अर्थात् जिनकी सहज ही स्वरूप में प्रतिष्ठा हुई है; उनके इस माया और संसार रूपी वृक्ष के विषय-भोग रूप फल फूल, उसके बाद मोह-रूप पल्लव, अन्त में वासना रूपी बीज भी—सब क्रमशः नष्ट हो गये हैं गुरु की कृपा से उनमें ब्रह्मज्ञान का प्रकाश प्रकट हो गया है; और ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी है। वे सूर्य और चन्द्रमा से कही दूर अतीत अवस्था को पहुँच गए हैं। उन्हें परमतत्त्व के योग की ताली लग गई है। वे वहीं स्थिर हो गए हैं अथवा इड़ा और पिंगला जो आपस में दूर-दूर थीं उन्हें योग की ताली अर्थात् त्राटिका लग गई है और वे त्रिकुटी में मिल गई है। उनके प्राणादिक पवनों ने उलट कर कुण्डलिनी के षट-चक्रों का भेदन कर दिया है और उनका सुषुम्ना मार्ग शब्द-रूपी बाणों से भर गया है। आकाश में गम्भीर गर्जना होने लगी है; इससे मन शून्य-रूप परमतत्त्व में समा गया है। अनहद नाद के बाजे बजाने लगे हैं। सम्पूर्ण अन्तःकरण में सद्बुद्धि (ज्ञान और भक्ति) व्याप्त हो गई है तथा त्रिकुटि में साक्षात् भगवान् के दर्शन होने लगे। हैं आनन्द-स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर ऐसे सिद्ध कालातीत हो गए हैं। उनकी स्मृति एवं निष्ठा अपने ही आनन्द-स्वरूप में स्थिर हो गई है।

टिप्पणी—सहज ज्ञानावस्था को प्राप्त करने से हठयोग आदि की सम्पूर्ण सिद्धियाँ एवं अवस्थाएँ अपने आप ही प्राप्त हो जाती हैं। यही इसका प्रतिपाद्य है।

मन रे मन हीं उलटि समांना ।
गुर प्रसादि अकल भई तोकौं, नहीं तर था बेगांनां ।।टेक।।
नेड़ै थैं दूरि दूरि थैं नियरा, जिनि जैसा करि जाना ।
औलौती का चढ्या बलींडै, (बरेंडे) जिनि पीया किनि माना ।।
उलटे पवन चक्र षट बेध्या, सुंनि सुरति लै लागी ।
अमर न मरै मरै नहीं जीवै, ताहि खोजि बैरागी ।।
अनभै कथा कवन सौं कहिये, है कोई चतुर बबेकी ।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी ।। ८ ।।

रे साधक, गुरु की कृपा से तुझे ज्ञान हो गया है, अन्यथा तू अन्य लोगों की तरह परमतत्व से अपरिचित ही रहता है। अब तेरे मन की भटकी हुई वृत्तियाँ अपने मूल आधार में समा गई हैं अथवा व्यष्टि-मन उस परम-तत्व या समिष्ट-मन में समा गया है। ओलीत (छप्पर का वह भाग जो दीवार से थोड़ा बाहर निकला हुआ रहता है और—जहाँ से पानी टपकता है), का जल उलट कर बलींड़े (बल्लरी के ऊपर का छप्पर का भाग जहाँ से छान-दोनों ओर ढालू होती है) पर चढ़ गया है, अर्थात् विषयों को ओर बहिर्मुखी आनन्द-वृत्ति उलट कर आत्मरति की ओर अभिमुखी हो गई है। इस आत्मरति के जल को जिसने पिया है, वही उसका स्वाद जानता है। प्राण-वायु ने उलट कर षट्-चक्र का भेदन कर दिया है। तुम्हारा ध्यान शून्य एवं सुरति-तत्त्व में लग गया है अथवा तुम्हारी सुरति (स्मृति एवं सम्यक् रति) उस शून्य तत्व में अनुरक्त हो गई है। जो तत्व न आता है, न जाता है, न मरता है और न जन्म लेता है। रे विरक्त साधक, तू उस तत्व की शोध कर। अथवा अमर तत्त्व चैतन्य कभी मरता नहीं है और मृत जड़ तत्त्व कभी प्राणवान नहीं होता, इस सत्य का अनुसन्धान कर। यही तत्व सबका स्वरूप है, अत: वह अत्यन्त समीप है। पर वह जीव के अहंकार रूप से नितान्त दूर भी है। इस प्रकार यह तत्त्व जीव से दूर और नजदीक दोनों होता है। जिन्होंने इस तत्त्व को जैसा समझा है, उनके लिए यह वैसा ही है। जिन्होंने इसे अपने अहंकारी रूप से पृथक् अथवा दूर समझा है, उन्होंने तथा जिन्होंने इसे अपना ही स्वरूप अथवा अपने अत्यन्त निकट समझा उन्होंने भी अपनी मति के अनुसार इसे ठीक ही समझा है। जीवन के छप्पर की ढाल का तेरा मन इस तत्त्व की बलीड़ा-रूप ऊँचाई पर ठीक चढ़ा ही है। जिन लोगों ने इस तत्त्व का वास्तविक साक्षात्कार किया है; उनकी इसके उपर्युक्त स्वरूप में निष्ठा और प्रतिष्ठा हुई है। यह निर्गुण एवं निर्द्वन्द्व कथा किससे कहे ? क्या इसके योग्य कोई चतुर ज्ञानी है ? कबीर कहते हैं कि गुरु ने जो ज्ञान का ज़लता हुआ पलीता दिया है, उसकी ज्योति एवं ज्वाला के दर्शन कोई विरला ही कर पाता है।

टिप्पणी—कायायोग के प्रतीकों का प्रयोग है। छठी पंक्ति में 'आवै न जाई' पाठ भी है।

इहि तत रांम जपहु रे प्रांनीं, बूझौ अकथ कहांणी।
हरि कर भाव होइ जा ऊपरि, जाग्रति रैंन बिहानी ।।टेक।।
डांइन डारै, (ड़ोरे) सुनहां डोरै, स्यघ रहै बन घेरे।
पांच कुटंब मिलि झूझन लागे बाजत सबद सघेरैं ।।
रोहै मिरग ससा बन घेरै, पारधी बांण न मेलै।
सायर जलै सकल बन दाझै, मंछ अहेरा खेलै ।।
सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि बिचारै।
कहै कबीर सोइ गुरु मेरा, आप तिरै मोंहि तारै।। ६ ।।

रे प्राणी, इस जगत् में परमतत्त्व राम का जाप करो तथा ज्ञान की शब्दातीत कहानी को समझो। जिस पर भगवान् का अनुग्रह रहता है, वह उस अज्ञान-जनित सांसारिक जीवन की रात्रि को ज्ञानपूर्वक व्यतीत करता है। माया रूपी डाकिन ने मन रूपी कुत्ते पर सर्वत्र बन्धन के डोरे डाल रखे हैं। इस जीवन-रूपी वन पर अहंकार रूपी सिंह का अधिकार है। पाँचों इन्द्रियाँ विषयों के लिए झगड़ रही हैं। भोगों के सघन शब्द हो रहे हैं। तृष्णा-रूपी मृग इस शरीर में विचरण कर रहे हैं और वासना-रूपी खरगोश इस शरीर को घेरे हुए हैं। पर साधक जीवात्मा-रूपी शिकारी इन पर बाण नहीं चलाता है। इस भवसागर में विषय-वासनाओं की आग लगी हुई है, और उसमें व्यष्टि के जीवन-वन भस्म हो रहे हैं। पर ऐसी अवस्था में भी विरक्त साधक आनन्द केलि कर रहा है। वह अपने काम-क्रोधादिक की शिकार का आनन्द ले रहा है। कबीर कहते हैं कि वही वास्तव में पंडित है और परमतत्व का जानकार है जो इस पद पर विचार करता है। इस ज्ञान का साक्षात्कार करके जो स्वयं भवसागर से पार होता है और मुझे भी करता है, वही मेरा गुरु है।

टिप्पणी—उलटवासी तथा सांगरूपक अलंकार।

अवधू ग्यान लहरि धुनि मांडी रे।
अबद अनीत अनाहद राता, इहि बिधि त्रिष्णां खांडी रे ॥टेक॥
बन के ससै समंदि घर कीया मंछा बसै पहाड़ी।
सइ पीवै बांम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी ॥
खार (षाड) बुणं कोली मैं बैठी, मैं भ्वैं खूंटा मैं गाड़ी।
तांणै वाणै पड़ी अनंवासी, सूत कहै बुणि गाढ़ी।
कहै कबीर सनहु रे संतौ, अगम ग्यांन पद मांही।
गुरु प्रसाद सूई कै नांकै हस्ती आवै जाहीं ॥ १० ॥

रे अवधूत, साधक ने ज्ञान की तरंग में अपना स्थान बना लिया है। वह कालातीत अनहदनाद में अनुरक्त हो गया है और इस प्रकार उसने अपनी सांसारिक तृष्णाओं को नष्ट कर दिया है वासनाओं के वन में विचरने वाले जीव ने अब ज्ञान के समुद्र में अपना घर बना लिया है। यह साधक जीव इस साधना की उच्च पहाड़ी पर पहुंच गया है अथवा उसकी कुण्डलिनी जाग्रत होकर उच्च शून्य शिखर पर पहुंच गई है। मतवाले ब्रह्मण को अर्थात् अहंकारी जीव को सूक्ष्म एवं शुद्ध चैतन्य ने पी लिया है; अर्थात् अपने में समाविष्ट कर लिया है। अथवा सहस्रार कमल से झरने वाले अमृत का पान शूद्र अर्थात् साधक का जीव करता है, पर उसकी मस्ती से ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी का निर्मल चैतन्य मतवाला हो जाता है। इस ज्ञान का फल बिना खेती-बाड़ी के ही मिल जाता है, अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति सहज रूप में होती है विधि-विधानों के निर्वाह से नहीं। जुलाहे रूपी जीव में प्रतिष्ठित यह चेतना ध्यान

रूपी थान बुन रही है। इसके खूँटे और गाड़ी (वस्त्र बुनने के साधन) भी जीव के अहंभाव ही हैं। इस थान के तानों-बानों में जब थोड़ा अलगाव रह गया तब ध्यान के सूत्रों ने ही इस ध्यान-रूपी थान को और अधिक सघन बुनने के लिए कहा है। अर्थात् स्वयं ध्यान में ही सघन होने की प्रेरणा जागी। अथवा खाड़ (जिसमें बैठकर कोली कपड़ा बुनता है) कोली में बैठ गया है और भूमि-खूँटी में गाड़ दी गई है। इन्द्रिय गोलकों अथवा विषय-गह्वरों में अनुप्रविष्ट भोक्ता जीव अब साधक बन गया है। वह अन्तर्मुखी हो गया है और सारी इन्द्रियाँ तथा विषय उसमें उल्टे प्रविष्ट हो गये हैं। व्याप्त चैतन्य पर अहंकार के खूँटे गड़े रहते हैं। यही जीव भाव है। पर अब इस व्यष्टि अहंकार में खूँटे में व्याप्त चैतन्य समा गया है। 'समद समाना बूँद में' वाली अनुभूति हो रही है।

कबीर कहते हैं, "हे संतो सुनो, गुरु के अनुग्रह से इस अगम्य ज्ञान में प्रतिष्ठित होने पर इस सूक्ष्म तत्व रूपी सुई की नौंक में से अहंकार रूपी हाथी आता-जाता रहता है अर्थात् अहंकार की क्रियाओं से साधक का चैतन्य असम्पृक्त ही रहता है तथा जीव की क्रियायें भी चलती रहती हैं।"

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार। प्रतीकों का प्रयोग है।

एक अचंभा देख्या रे भाई।
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥टेक॥
पहलें पूत पीछे भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ।
जल की मछली तरवरि ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई ॥
बैलहि डारि गूंनि घर आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई।
तलि करि साषा ऊपरि करि मूल बहुत भांति लागे जड़ फूल ॥
कहै कबीर या पद को बूझै, तांकू तीन्यूं त्रिभुवन सूझै ॥ ११ ॥

रे भाई, मैंने एक आश्चर्य देखा है। खड़ा हुआ सिंह गाय चरा रहा है। पहले पुत्र पैदा हुआ है और बाद में माता। गुरु शिष्य के चरण-स्पर्श कर रहा है। जल में रहने वाली मछली ने वृक्ष पर बच्चा दिया है। बिल्ली को पकड़ कर मुर्गा खा गया है। बैल को बाहर पटक कर बोरी घर आ गई है। कुत्ते को बिल्ली उठाकर ले गई है। एक वृक्ष है जिसकी जड़ ऊपर है और शाखायें नीचे फैली हुई हैं। उसकी जड़ में अनेक फूल लगे हुए हैं। कबीर कहते हैं कि जो इस पद को समझता है उसको तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार है।

प्रतीकार्थ की व्याख्या—यह उलटवाँसी है। सिंह-रूप ज्ञानी जीवात्मा इन्द्रियों की गायों को अनासक्त भाव से विषयों में प्रवृत्त कर रही है। पहले बोध-रूपी पुत्र पैदा हो गया है और बाद में भक्ति-रूपी माता। तत्वज्ञानी जीवात्मा में उपदेश के शब्द समा गए हैं। ये उसी के प्रतिपादक बन गए हैं। 'तत्वमसि आदि वाक्य

जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं, ये शब्द ही गुरु हैं। या प्रतिपादन ही गुरु द्वारा चेले का चरण-स्पर्श है। कुण्डली रूपी मछली ने सुषुम्ना रूपी वृक्ष के शून्य-शिखर पर पहुँच कर ज्ञान एवं आनन्द के पुत्र को जन्म दिया है। मूषे रूपी ज्ञानी जीव ने माया रूप बिल्ली को खा लिया है। पाप-पुण्य के संचित कर्म अथवा प्राण रूपी बैल को अर्थात् इनके अहंकारी जीव को पटक कर जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गई है। प्राण और कर्म का मूल आश्रय शुद्ध चैतन्य ही है, अतः वही इस रूपक में 'गुनी' रूप है। माया के कारण उल्टा अध्यास होता है। जगत् में प्राणों में या कर्मों में अथवा इनके कारण चैतन्य की प्रतीति होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्राण या कर्म चैतन्य का वहन कर रहे हैं। इसी से यहाँ कबीर ने 'बैल' पर 'गुनी' मानी है। विषय-भोग के मोह-रूपी कुत्ते को माया-रूपी बिल्ली अपने साथ ही ले गई। इस संसार-रूपी वृक्ष का मूल माया से ऊपर चैतन्य है और प्रसार नीचे माया में। मोक्ष, सिद्धि आदि फल-फूल इसकी जड़ में ही लगते हैं। अथवा ज्ञान रूपी वृक्ष का मूल चैतन्य में है; पर वृत्ति रूप प्रसार नीचे माया में ही।

टिप्पणी—इससे मिलते-जुलते पर कुछ अंशों में भिन्न एक 'शब्द' के प्रतीकों को डॉ० रामकुमार ने निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया है—

पुत्र=जीव; माता=माया; गुरु=शब्द; चेला=जीवात्मा; सिंह=ज्ञान; गाय=वाणी; मछली=कुण्डली; तरवर=मेरुदण्ड; कुत्ता=अज्ञानी; बिल्ली=माया; पेड़=सुषुम्ना नाड़ी; फल-फूल=चक्र और सहस्रदल कमल; घोड़ा=मन; भैंस=तामस वृत्तियाँ; बैल=पंच प्राण; गोनि=स्वरूप की सिद्धि।

कबीर में वे ही प्रतीक सन्दर्भ के बदलने से भिन्न अर्थ देने लगते हैं। अतः वर्माजी के प्रतीकार्थ उस 'शब्द' के प्रसंग में ही ठीक हैं। यहाँ ज्ञानयोग का अर्थ ही अधिक समीचीन है।

पाठान्तर—बैलहि डारि घरि आई घोंरै चढ़ि भैंस चरावन गाई।

'उर्ध्वमूलमधःशाखः' की भी छाया है।

हरि के खारे (खरे) बड़े पकाये, जिनि जाने (जारे) तिनि खाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, तार्थं जनमि जनमि डहकाए ॥टेक॥
धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोलनां गादह नाचै, भैंसा निरति करावै ॥
स्यंघ ज बैठं पांन कातरै, घूंस गिलौरा लावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछू एक आंनंद सुनावै।
कहै कबीर सुनहुं रे संतौ गडरी परबत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै; समंद अकासां धावा ॥ १२ ॥

भगवान् ने जो कड़ुवे अथवा खरे बड़े पकाए हैं उन्हें जिन व्यक्तियों ने समझा है उन्होंने स्वादपूर्वक खाया है अर्थात् भक्ति और साधना के अयातत: कड़ुवे प्रयास भी ज्ञानीजनों को मधुर ही प्रतीत होते हैं। शेष अज्ञानी एवं भक्ति शून्य लोग जन्म जन्मातर में भटकते हुए फिरते हैं। उत्तम बैल पुण्य का मंदल तथा सामान्य बैल पाप-पुण्य का रबाव बजा रहे हैं। कौआ-रूपी वासनामय जीव उनसे ताल मिलाता रहता है। वासना के वस्त्र पहने हुए यह जीव संसार में नंगा नाच रहा है। उसके काम-क्रोधादिक का उन्माद भैंसे की तरह नाच रहा है। सिंह-रूप जी का चैतन्य पान काट रहा है, अर्थात् विषय का आधार बना है और चूहा-रूप अज्ञान उस पान की गिलौरी-रूप विषयों को भोगता है। ये जागतिक आनन्द उसी भक्ति के आनन्दोत्सव में सम्मिलित हो गये हैं। मूषिका-रूपी साधक आत्माएँ भक्ति और ज्ञान के मंगल-गान करती हैं, उससे अन्य जीवों का भी कुछ आनन्द तत्त्व का साक्षात्कार कराती है। पर अज्ञानी जीव पर उसका कितना प्रभाव है? कबीर कहते हैं, 'रे सन्तों, इस माया, रूपी भेंड़ ने चैतन्य-रूपी पर्वत को चर लिया है अर्थात् उसके शुद्ध स्वरूप को आवृत्त कर लिया है। चकवा-रूपी जीव वासना-रूपी अंगारे निगल रहा है और भवसागर उस आकाश-रूपी परमतत्त्व को तिरोहित करने के लिए धावा बोल रहा है।'

टिप्पणी—उलटवांसी। प्रतीकों के द्वारा व्यंजना। 'जिनि जारे' पाठ का अर्थ है कि संसार की विषय वासनाएँ वस्तुत: कड़वी हैं, पर जो इनको अपनी ज्ञानाग्नि में जला देता है; वह इनका भी आस्वाद ले लेता है। पर इससे 'जाने' पाठ अधिक समीचीन है।

पाठान्तर—कछुआ संख बजावै। छठी पंक्ति में।

चरखा जिनि जरै।
कातौंगी हजरी कौ सूत, नणद के भइया की सौं ।।टेक।।
जलि जाई थलि गह ऊपजी, आई नगर मैं आप।
एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप ।।
बाबल मेरा ब्याह करि, बर उत्यम ले चाहि।
जब लगि बर पावै नहीं, तब लग तूं हीं ब्याहि ।।
सुबधी कै घरि लुबधी आयौ, आन बहू कै भाइ।
चूल्हे आगनि बताइ करि, फलसौ दीयौ ठठाइ (उठाइ) ।।
सब जगही मर जाइयौ, एक बढ़ईया जिनि मरै।
सब रांडनि कौ साथ चरषा को घरै ।।
कहै कबीर सो पंडित ग्याता, जो या पदहि बिचारै।
पहलै परचै गुरु मिलै तो पीछैं सतगुर तारै ।। १३ ।।

जीवात्मा कहती है कि मुझे अपनी ननद के भाई की सौगन्ध है, इस शरीर-रूपी चरखे से मैं बहुत कीमती सूत कातूँगी; अर्थात् भक्ति-साधना करूँगी। यह चरखा जले नहीं। मेरी उत्पत्ति की स्थली जो माया है; वह जल जाय अर्थात् आसक्ति नष्ट हो जाय। मैं तो अपने पति के गृह में उसके नगर में आ गई हूँ। मैंने एक आश्चर्य देखा है कि बिटिया अर्थात् माया ने पिता-रूप ज्ञान को जन्म दिया है। बिटिया अपने पिता से कह रही है कि मेरा ब्याह करो। मैं उत्तम वर चाहती हूं। जब तक वर की प्राप्ति न हो, तब तक पिता तू ही विवाह कर ले। अर्थात् बोधरूप पिता से जीवात्मा की आकांक्षा है कि वह परमात्मा-रूप पति के प्रति प्रेम जगाकर विवाह करा दें। जब तक यह प्रेम परिपक्व न हो, तब तक इस बोध में ही निष्ठा बनी रहे। सुबुद्धि अर्थात् ज्ञानवृत्ति के साथ ईश्वर-प्रेम आया है। जैसे बहिन के घर भाई आ गया है। ज्ञान और भक्ति दोनों ही जीव की साधना के ही पुत्र और पुत्री हैं। ज्ञानवृत्ति-रूपी बहिन ने चूल्हे को आग लगाकर अर्थात् विषय-वासनाओं को भस्म करके अपने अन्तःकरण के दरवाजे खोल दिये। सारा संसार चाहे मर जाय, पर इस शरीर रूपी चरखे को बनाने वाला ईश्वर अथवा गुरु-रूपी बढ़ई न मरे। मुझे उनसे जो ज्ञानवृत्ति एवं भक्ति रूप जो चरखा मिला है, उसे मैं सब रांडों अर्थात् अज्ञानी जीवात्माओं के साथ नहीं कातूँगी। अपने ज्ञान और भक्ति को विषय-वासनाओं के साथ नहीं करूँगी। कबीर कहते हैं कि वह वास्तव में पंडित और ज्ञानी है जो इस पद का मनन करता है। पहले जब गुरु को जिज्ञासु की योग्यता प्रथम परिचय मिल जाता है, तभी उसके बाद सत्गुरु उसका उद्धार करता है। या का परिचय में गुरुमन्त्र मिलता है तथा बाद में गुरु कृपा से ही उद्धार होता है।

टिप्पणी—साधना और ज्ञान के प्रतीकों, रूपकातियोक्ति व 'व्यतिरेक' का प्रयोग। 'बीजक' में इन प्रतीकों का अन्य संदर्भ में इन अर्थों में प्रयोग हुआ है।

बिटिया=जीव; बाप=ईश्वर बहिन=वाणी; भाई=पंडित।

अब मोहि ले चलि नणद के बीर, अपनैं देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूं, कुसंग आहि बदेसा ॥टेक॥
गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।
सातौं बिरही मेरं नीपजैं, पंचं मोर किसानां।
कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई ॥ १४ ॥

रहस्यवाद एवं हठयोग साधना की अनुभूति का व्यंजक शब्द है। जीवात्मा पत्नी रूप में अपने पति परमात्मा को सम्बोधन करके कह रही है—'रे ननद के वीर (भाई), मुझे तुम अपने देश ले चलो। यहाँ पर (संसार में) काम-क्रोधादिक

शत्रुओं ने मुझे लूटा है, मेरे शुद्ध चैतन्य तथा भक्त एवं प्रेमी रूप को विकृत किया है। इस विदेश में कुसंगति हैं। गंगा अर्थात् इड़ा के किनारे मेरी खेती है और पिंगला-रूपी यमुना पर मेरा खलियान है अथवा मेरी सम्पूर्ण खेती-बारी इस जगत् से परे भक्ति और आध्यात्मिक क्षेत्र में हैं। मेरे जीवन का आनन्द एवं उसकी सिद्धियाँ—सब उसी सधना के क्षेत्र में हैं। उस खेती-बारी में सातों प्रकार के अनाज पैदा होते हैं। अर्थात् जीवन की सम्पूर्ण कृत-कार्यता उसी से प्राप्त होती है। वहाँ पर मेरे पाँच किसान हैं जिनसे आनन्द-रूप अन्न प्राप्त होता है। इस प्रेम-साधना की यह कहानी अकथनीय है; शब्दों के द्वारा यह कही नहीं जा सकती है। जिन व्यक्तियों में प्रेम की यह सहज-साधना प्रकट होती है वे ईश्वर-प्रेम में सहज रूप में ही तन्मय रहते हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। इसमें ससुराल जाने तथा ननद के वीर के प्रयोग से माधुर्य-भाव के आवरण में साधना का प्रतिपादन है। 'गंग और जमुन' से काया-योग के प्रतीकार्थ का भी ग्रहण है।

अब हम सकल कुसल करि मांनां।
स्वांति भई तब (जब) गोब्यंद जांनां ।।टेक।।
तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि।
जमथैं उलटि भया है रांम, दुख विसर्‍या सुख कीया बिसरांम।
बैरी उलटि भये हैं मींता, साषत उलटि सजन भये चीता।
आपा जांनि उलटि ले आप, तौं नहीं ब्यापै तीन्यूं ताप।
अब मन उलटि सनातन हूवा, तम हम जांनां जब जीवत मूवा।
कहै कबीर सुख सहज समाऊं, आप न डरौं न ओर डराऊं।। १५ ।।

जब मुझे गोविन्द का ज्ञान हो गया तो मेरे जीवन की सम्पूर्ण ज्वालायें समाप्त हो गईं और मुझे शान्ति मिल गई। अब मुझे सर्वत्र मंगल के ही दर्शन हो रहे हैं। अब तक शरीर में जो विविध प्रकार की वासनाओं की पीड़ायें थीं वे सब भगवान् के अनुग्रह से उन्हीं की आराधना में परिणत होकर सहज समाधि के सुख बन गई हैं। ईश्वर-अर्पित विषय-भोग भी चित्त-शुद्धि के द्वारा समाधि के हेतु अथवा समाधि रूप ही होते हैं। अतः अब तक जो यम या काल रूप था, वही अब रक्षक राम हो गया है। सांसारिक दुःखों की चेतना विस्मृत हो गई है और सारा जीवन ही आनन्द में मग्न हो गया है। शत्रु सब पलट कर मित्र हो गए हैं। शाक्त अथवा हरि-विमुख व्यक्ति या भाव भी हमारे मन के संकल्प के अनुरूप सज्जन बन गए हैं। जो अपने अन्तःकरण को संसार से उलट कर तथा अपने स्वरूप को पहचान लेता है, उसे तीनों प्रकार के ताप व्यथित नहीं करते। अब हमारा मन संसार से विमुख होकर शाश्वत तत्त्व में लीन हो गया है। तभी हमने समझा है कि अब हम जीवन्मृत हो गए हैं। कबीर कहते हैं कि मैं सहज आनन्द में समा गया हूँ। अब न तुझे किसी

से डर है और न मैं किसी को भयभीत करना चाहता हूँ। अद्वैत में भय के लिए स्थान नहीं। मैं अद्वैत की भूमि में प्रतिष्ठित हो गया हूँ।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

संतौ भाई आई ग्यांन की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडांणीं, माया रहै न बाँधी रे ॥टेक॥
दुचिते की दोइ थुंनीं गिरांनीं, मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्नाँ छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा।
जोग जुगति करि संतौं बांधी, निरचू चुवै न पांणीं।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणी ॥
आंधी पीछैं जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींनां।
कहै कबीर भांन के प्रगटें, उदित भया तम षींनां ॥ १६ ॥

हे भाई संतों, अब मेरे हृदय में ज्ञान की आँधी चलने लगी है। इससे भ्रम रूपी छप्पर उड़ गया है। अब जीव को माया बाँधे हुए नहीं रख सकती है। इस छप्पर की जितनी सामग्री थी, वह पूरी ही नष्ट हो गई है। मन की द्विविधा-रूपी दोनों खंभे जिन पर छप्पर टिका हुआ था, गिर गये हैं और इस छप्पर का आधारभूत मोह रूप 'म्याल' भी टूट गया है। तृष्णा रूपी छान ज्ञान की आँधी से उड़कर धरती पर गिर गई है। अब जीव की तृष्णा धराशायी हो गई है। कुबुद्धि का घड़ा फूट गया है। अज्ञान और वासना का यह जीवन ज्ञान से छिन्न-भिन्न हो गया। पर ज्ञानोदय से जीवन का नव रूप भी निर्मित हो गया है। संतों ने योग की युक्ति से इस जीवन-रूपी छप्पर को फिर से बाँध दिया है। अब इसमें वासना का जल नहीं चूता है, यह चूने वाला छप्पर ही नहीं रहा है। इस शरीर में से कपट का कूड़ा निकल गया है। अब मुझे भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार हो गया है। इस ज्ञान की आँधी के बाद जो भगवान् के अनुग्रह एवं प्रेम के रस की वर्षा हुई है, उससे भक्तजन प्रेम के महारस से भीग गये हैं। कबीर कहते हैं कि ज्ञानरूपी सूर्य के उदित होते ही अज्ञान का अंधकार क्षीण हो गया।

टिप्पणी—सांगरूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार। ज्ञान और भक्ति के समन्वय से प्राप्य महारस की अनुभूति का लौकिक बिम्बों से चित्रण है। यह कबीर की दार्शनिक मान्यता के प्रतिनिधि पदों में से है।

पाठान्तर—'हित चित की द्वै'। लौकिक योगक्षेम चिन्तन की दो थूनियाँ।

अब घटि प्रगट भये रांम राई, सोधि सरीर कनक की नांई ॥टेक॥
कनक कसौटी जैसें कसि लेइ सुनारा, सोधि सरीर भयो तन सारा ॥
उपजत उपजत बहुत उपाई, मन थिर भयो तबै तिथि पाई ॥

बाहरि खोजत जनम गंवाया, उनमनीं ध्यान घट भीतरि पाया ॥
बिन परचै तन कांच कथीरा, परचैं कंचन भया कबीरा ॥१७॥

कबीर कहते हैं कि अब तो अन्तःकरण में भगवान् राम प्रकट हो गये हैं। अब साधक का शरीर स्वर्ण की तरह निर्मल हो गया है। जैसे सुनार स्वर्ण को कसौटी पर कस कर शोध लेता है वैसे ही साधक ने अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण को अपनी साधना से शुद्ध करके खरा कर लिया है। उसे धीरे-धीरे तत्त्वज्ञान हो गया है। अब मन की चंचलता नहीं रही और जीव अपने स्वरूप में स्थित हो गया है। इस अज्ञानी जीव ने आनन्द-तत्त्व को बाहर खोजकर अपना जीवन व्यतीत कर दिया, पर उस उन्मन या परमतत्त्व का साक्षात्कार तो उसे अन्तःकरण के भीतर ही हुआ। कबीर कहते हैं कि जब तक जीव का परमतत्त्व से परिचय नहीं है, तब तक उसका शरीर कच्चे रांगे की तरह चंचल एवं मूल्यहीन रहता है; पर परिचय के बाद ही कंचन बन जाता है।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

हिंडोलनाँ तहाँ झूलै आतम रांम।
प्रेम भगति हिंडोलनाँ, सब संतनि कौ विस्रांम ॥टेक॥
चन्द सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूलैं पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोर ॥
द्वादस गम के अंतरा, तहाँ अमृत कौं ग्रास।
जिनि यह अमृत चाखिया, सो ठाकुर हंम दास ॥
सहज सुंनि कौ नेहरौ, गगन मंडल सिरिमौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जो हम झूलंहि हिंडोल ॥
अरध-उरध की गंगा जमुनां, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिबेणीं संगम बाट ॥
नाद ब्यंद की नावरी, रांम नांम कनिहार।
कहै कबीर गुंण गाइले, गुर गंमि उतरौ पार ॥ १८ ॥

कबीर कहते हैं कि यह प्रेम-भक्ति का झूला है। यह सब संतों का आश्रय है। यहीं पर कबीर अथवा साधक जीव झूल रहा है। इड़ा और पिंगला के दो खम्भे हैं और वक्र नाड़ी की डोरी लगी हुई है। उस झूले अर्थात् प्रेम के आनन्द में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ झूल रही हैं और वहीं मेरा हृदय भी झूम रहा है। ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर के सहस्रार कमल से अमृत की वर्षा हो रही है। यह [illegible]ल परम-ज्योति का स्थान है। यह परम ज्योति पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों [illegible]न और बुद्धि—इन बारह तत्त्वों से परे की वस्तु है। इसी से यह द्वादश अंगुली से परे कहा गया है। यही अमृत-रूप

हैं, जिन्होंने इस अमृत का स्वाद चखा है, वे हमारे स्वामी हैं और हम उनके दास हैं। सहज शून्य जो परम-तत्त्व का स्थान है। वह हमारा पीहर है, क्योंकि वही जीव का उत्पत्ति स्थान है और गगन मण्डल हमारी ससुराल है। जीवात्मा साधना एवं आध्यात्मिक विवाह-सम्बन्ध से जहाँ पहुँचती है, जहाँ पति परमेश्वर से उसका मिलन होता है वही ससुराल है। उसे कबीर गगन आदि नामों से अभिहित करते हैं, जीवात्मा इस प्रेम-रस के हिंडोले में झूलकर अपने पीहर एवं ससुराल—दोनों ही कुलों की मर्यादा का निर्वाह करती है। उपर और नीचे गंगा-यमुना अर्थात् इड़ा एवं पिंगला हैं। बीच में सुषुम्ना के ऊपरी भाग पर सहस्रार कमल का घाट है। यहीं पर जीव विश्राम करता है। यहीं पर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के तदाकार होने का त्रिवेणी-संगम है। इसी ब्रह्मरन्ध्र-रूप त्रिवेणी के अमृत-रस का पान करने के लिए ही षट्चक्र की गगरी है; अर्थात् इनकी साधना से ही उल्टे कूप के जल का रसपान होता है। इसी त्रिवेणी में नाद और बिन्दु से निर्मित नौका है जिसके कर्णधार स्वयं भगवान् अथवा उनका नाम स्मरण है। ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट जीव को ही नाद और बिन्दु का साक्षात्कार होता है। कबीर कहते हैं—जीव तुम भगवान् का गुणगान करो, ताकि गुरु की शक्ति से इस भवसागर से पार हो सको।

टिप्पणी—सांगरूपक। दो भिन्न-भिन्न रूपकों का निर्वाह है। रहस्यवाद, भक्ति और साधना का अभेद व्यंजित है।

सम्पूर्ण विश्व में एक महानाद व्याप्त है। उसी का प्रकाश महाबिन्दु है। इन्हीं का व्यष्टि रूप 'नाद' और 'बिन्दु' है। ये 'शिव' और 'शक्ति' एवं 'परमतत्त्व' और 'जीवतत्त्व' के प्रतीक हैं। साधक 'बिन्दु' को 'नाद' में तन्मय करना चाहता है। इन दोनों का मेल ही ऊपर 'नौका' कहा गया है। साधक जीव इसी नाद-बिन्दु के मिलन से परमतत्त्व को पहुँचता है; अतः नौका से पार उतरने का रूपक है। भगवान् के कर्णधार होने से, अर्थात् भगवान् के अनुग्रह से ही सब कुछ प्राप्य है; इसकी यही व्यंजना है। 'पीहर' एवं 'ससुराल' दोनों की मर्यादा के निर्वाह से 'सहजावस्था' एवं 'समाधि' दोनों की प्राप्ति जीव के लिए अपेक्षित है, यही व्यंजना है। 'पीहर' एवं 'ससुराल' दोनों ही आनन्द के स्थान हैं। एक स्वरूप स्थिति का तथा दूसरा आनन्द केलि एवं आनन्द की अभिव्यक्ति का प्रतीक है।

कौ बीनें प्रेम लागौ री माई, को बीनें।
रांम रसांइण माते री माई, को बीनें ॥टेक॥
पाई-पाई तूं, पुतिहाई, पाई की तुरियां बेचि खांइं री माई, को बीनें ॥
ऐसें पाई पर बिथुराई, त्यूं रस आंनि बनायौ री माई, को बीनें।
नाचै तांनां नाचै बांनां, नाचै कूंच पुराना री माई, को बीनें ॥१६॥

जीवात्मा अपने समानधर्म वाली साधिका जीवात्मा अथवा माया से कह रही है, रे सखि, अथवा माई, अब कौन बुनें? इन सांसारिक क्रिया-कलापों को ही

चलाता रहे ? मुझे तो भगवान् से प्रेम हो गया है। अब कौन बुने ? मैं तो प्रियतम राम के प्रेम-रस में मग्न हो गई हूँ; मस्त हो गई हूँ। अब कौन बुने ? तूने यह विश्वास कर लिया है कि मुझे सूत सुलझा कर साफ करने की क्रिया सिद्ध हो गई है। अर्थात् सांसारिक कार्यों में मैं सिद्धहस्त हो गई हूँ। पर मैंने तो बुनने के साधन तुरी को बेचकर खा लिया है, अर्थात् सांसारिक व्यवहार की साधन रूप वासना ही समाप्त कर ली है। मेरा मन प्रेम-रस से इतना परिपूर्ण हो गया है और कुछ ऐसा बन पड़ा है कि इस सूत सुलझाने की पाई पर भी वही रस फैला गया है; अर्थात् जीवन की सम्पूर्ण क्रियायें उसी प्रेम-रस में लिप्त हो गई हैं। प्रेम-रस की मस्ती में ताना भी नाच रहा है, बाना भी नाच रहा है। वह पुरानी जीर्ण तुरी भी इसी रस में नाचने लगी है। इस प्रेम-रस में करधे पर बैठकर कबीर भी (जीव) नाचने लगा है। सारा जगत् सांसारिक व्यवहार की सारी क्रियायें तथा उनके सब साधन प्रेम-रस में ओत-प्रोत होकर मस्ती से नाच रहे हैं। कबीर कहते हैं कि इस प्रेम की मस्ती में मैं तो झूमता रहा और सांसारिक जीवन-रूपी ताने को ज्ञान-रूपी चूहे ने काट दिया है। अब यह सांसारिक जीवन-रूपी वस्त्र बुनने योग्य रहा ही नहीं है। सखि, अब संसार के क्रिया-कलापों के टूटे हुए ताने-बाने को फिर सँभाल कर क्यों बुनूँ ? कर्म जाल में क्यों फँसू ?

टिप्पणी—रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार। प्रतीकों का प्रयोग। लौकिक जीव के विरक्त होकर प्रेम-रस में डूब जाने का चित्रण है। यह ज्ञान और प्रेम का जीवन है।

मैं बुनि करि सिरानां हो रांम, नालि करम नहीं ऊबरे ।।टेक।।
दखिन कूंट जब सुनहां भूंका, तब हम सुगन बिचारा।
लरके-परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो रांम ।।
तांनां लीन्हा बांना लीन्हां, लीन्हें गोड के पऊवा।
इत उत चितवत कठवन लीन्हां, माड चलवना डऊवा हो रांम ।।
एक पग दोइ पग त्रैपग, सघें संधि मिलाई।
करि परपंच मोट बँधि आयो, किलकिलि सबै मिटाई हो रांम ।।
तांनां तनि करि बांनां बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यांना।
कहै कबीर मैं बुंनि सिरांना जानत है भगवांनां हो रांम ।। २० ।।

कबीर कहते हैं कि मैं सांसारिक कर्म-रूपी वस्त्र बुन कर थक गया हूँ, पर यह बुनने का कर्म समाप्त नहीं होता है। मैं इस नली के कर्म से अर्थात् बुनने के काम से बच नहीं पाता हूँ : आवागमन का चक्र बना ही हुआ है। इस करधे के दक्षिण किनारे पर जब वृद्धावस्था-रूपी कुत्ता सचेत करने के लिए भौंका तो हमने सगुन विचार, अर्थात् मुझे मृत्यु की सन्निकटता का अनुमान हुआ। पाँचों इन्द्रियाँ

रूपी हमारे लड़के जागते रहे, और इस शरीर-रूपी घर में मृत्यु रूपी चोर का प्रवेश एवं आधिपत्य हो गया। मैंने ताना और बाना ले लिया। ताने को दोनों ओर से थामने वाली दो लकड़ियों से बना जोड़, उसका आधार-काष्ठ, इधर-उधर देखकर माँड़ी घोलने का कठौता, माँड़ी चलाने का काठ का डोआ—बुनने के ये सारे सामान अर्थात् जीवन-यात्रा चलाने के सारे साधन मैंने सजा लिये थे। ताने-बाने की संधियों को आपस में मिलाकर एक कर्म से दूसरे कर्म का अथवा भोग का कर्म से गठबन्धन करके मैं एक पग, दो पग और पग करके क्रमशः सांसारिक यात्रा का कपड़ा बुनता गया, पर अन्त में इस सारे प्रपंच के बाद भी उस ताने-बाने की गठरी बंध गई, सपाट, कपड़ा नहीं बुन पाया, अर्थात् कर्म-जाल एक-दूरे से उलझता ही गया। जीवन सहज एवं सरल नहीं हो पाता। जीवन में साधनों को जुटाने एवं सम्पूर्ण प्रकार के प्रपंच रचने पर भी मैं इस जीवन के ताने-बाने को ठीक से बुन नहीं सका और अन्त में मैंने सारे झंझट को ही समाप्त कर दिया। ताना और बाना बुनने के बाद वस्त्र को पूरा करने से पहले ही मेरा ध्यान दोपहर के भोजन (छाक) पर चला गया, अर्थात् मुझे भजन का ध्यान आया और मुझ पर ईश्वर-प्रेम की मस्ती छा गई तथा मैंने यह बुनना बन्द कर दिया। कबीर कहते हैं कि 'मैं सांसारिक मायाजाल को बुनने से थक कर जीवन से उपराम हो गया हूँ, यह भगवान् ही जानते हैं।

टिप्पणी—अन्योक्ति। ताना-बाना बुनने और जीवन के रूपक का निर्वाह। विभिन्न प्रतीक—जुलाहा=चंचल जीव, ताना-बाना=सांसारिक कर्म; चार-मृत्यु, छाक=ईश्वर प्रेम एवं उससे प्राप्त तृप्ति तथा मस्ती—दोनों ही। 'छाक' से भोजन और तृप्ति—दोनों ही अर्थों का संकेत है।

तननां बुनना तज्या कबीर,
रांम नांम लिखि लिया शरीर ।।टेक।।
लब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै रांम सनेह।
ठाढी रोवै कबीर की माई, ए लरिका क्यूँ जीवैं खुदाई ।।
कहै कबीर सुनहूं री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राई ।। २१ ।।

कबीर ने वस्त्र बुनना छोड़ दिया और अपने शरीर पर राम नाम लिख लिया। उसने सोचा जितनी देर में इस नली को सूत से भरता हूँ; उतना देर मुझे राम-नाम का विस्मरण हो जाता है और राम से स्नेह टूटा रहता है। इस व्यवधान को दूर करने के लिए उसने बुनना छोड़ दिया। कबीर की माँ खड़ी रो रही है कि हे खुदा, यह लड़का कैसे जीवन यापन करेगा? कबीर कहते हैं कि "माईं, सुनो! सबका भरण-पोषण करने वाला त्रिलोकीनाथ है।"

टिप्पणी—इसका कबीर के जीवन-चरित की ओर संकेत है। कबीर वस्त्र बुनते थे। बाद में कपडा बुनना छोड़कर उन्होंने राम-नाम शरीर पर लिख लिया था।

तथा कबीर की माँ खुदा का स्मरण करती थी इन दोनों तथ्यों का संकेत है। 'बुनने' से मायाजाल में फँसते रहने का संकेत है।

जुगिया न्याय मरै मरि जाइ।
घर जाजरौ बलीडौ टेढ़ौ, औलीतो डरराइ (अरराइ) ।।टेक।।
मगरी तजौं प्रीति पाषें सूँ, डांडी दुहे लगाइ।
छीकों छोडि उपरहिडौ बांधौ, ज्यूं जुगि-जुगि रहौं समाइ ।।
बैसि परहडी द्वार मुंदावौं, ल्यावों पूत घर घेरी।
जेठी धीय सासरैं पठवौं, ज्यूं बहुरि न आवै फेरी ।।
लहुरी धीइ सबै कुल खोयौ, तब ढिग बैठन पाई।
कहै कबीर भाग बपरी कौ, किलि-किलि सबै चुकाई ।। २२ ।।

इस संसार या साधक का बार-बार मरना उचित ही है। जीव का शरीर-रूपी घर तो जर्जर ही है और उसका आधार-दण्ड (मेरुदण्ड) विषयों के बोझ से टेढ़ा पड़ गया है। इस छप्पर की कच्ची दीवारों की वर्षा के जल से रक्षा करने वाला ओलोता भी छिन्न-भिन्न होकर डगमगाने लगा है, अर्थात् काल के प्रभाव को रोकने की उसकी सामर्थ्य क्षीण होती जा रही है। छप्पर के बलीडे रखने के स्थान (मगरी) का अत्यधिक ध्यान छोड़कर, उसको मोटा करने और सजाने का ध्यान छोड़कर, उसके पाखों को मजबूत करने के लिए सहारा दो। अर्थात् हे जीव, इस जीवन की रक्षा और कृतार्थता के लिए अब तुम विषयों के प्रति जाग्रत अहंभाव तथा आसक्ति को छोड़ो और जीवन-रूपी छप्पर की ईश्वर-प्रेम-रूपी आधारभूत दीवारों (पाखों) को साधना और ज्ञान की लकड़ियों का सहारा दो, ताकि वे गिरने से बचें। छींका (भोजन रखने का लटकता हुआ झूला सा) बाँधने में सतर्कता बरतने की अपेक्षा छप्पर के ऊपरी हिस्से को मजबूती से बाँधो, ताकि वह युगों तक बना रह सके। अर्थात् भोगेच्छा से प्रेरित होकर विषयों के संचय और संरक्षण की आकांक्षा छोड़कर अपने मन को उच्चतम परमतत्त्व से, अथवा गगन से बांध दो, ताकि उससे तदाकार होकर अनन्त काल तक बने रह सको। रे जीव, आनन्द-रूप परहड़ी (जल के रखने का स्थान) में प्रतिष्ठित होकर तथा अन्तःकरण-रूप घर में अपने बोध-रूप पुत्र को प्रविष्ट करके इन्द्रियों के द्वार बंद कर लो ताकि इस छप्पर को विषय-वासनाओं की तप्त आँधी घुसकर उड़ा न दे। आवरण-रूपा माया चैतन्य की बड़ी और विक्षेप-रूपा छोटी लड़की है। जीव, अपनी बड़ी लड़की को ससुराल भेज दो अर्थात् उसका परम-तत्व में ऐसा विलय कर दो कि फिर कभी वापस तुम्हारे पास न आये। वस्तु का अज्ञान वस्तु पर आश्रित रहता है। वस्तु का ज्ञान होने पर वह अज्ञान वस्तु में ही समा जाता है। वैसे ही चैतन्य को आवृत्त करने वाली माया ज्ञान की अवस्था में चैतन्य में विलीन हो जाती है। विक्षेप-रूपा छोटी लड़की भी जीव के समीप तब बैठ पाती है,

जब सांसारिक विषयों के अपने सम्पूर्ण कुल का नाश कर देती है अर्थात् जब यह विक्षेप रूप माया जगत् से आसक्ति हटाकर ईश्वर की प्रीति में रम जाती है। तभी वह जीव के ज्ञानी एवं विशुद्ध रूप के साथ रह सकती है। अतः इस छोटी लड़की को विषयों से हटाकर ईश्वर-प्रेम में लगाओ। कबीर कहते हैं कि इस बेचारी छोटी लड़की का यही भाग्य कि इसको ईश्वर की प्रीति के द्वारा संसार के सम्पूर्ण टंटे मिटाने पड़ते हैं। आवरण-रूप अज्ञान के नष्ट होने पर जीवन्मुक्त की विशेष-रूपा माया उसे भक्त एवं ज्ञानी के अनुरूप कर्म में प्रवृत्त रखती है।

टिप्पणी—सांगरूपक एवं रूपकातिशयोक्ति अलंकार। वलींडो=छप्पर की आधारभूत बल्ली, मेरुदण्ड और जीव शाश्वतता के ज्ञान का रूपक। ओलोती=वर्षा के पानी को दीवारों से दूर फेंकने के लिए छप्पर के आगे निकला हुआ भाग। काल के प्रभाव से रोकने की क्षमता का रूपक। मगरी=बल्ली रखने की जगह; आसक्ति एवं अहंभाव का रूपक। पाषा=मिट्टी या कच्ची ईटों की ढलावदार दीवार जिस पर छप्पर का बलीड़ा रखा जाता है, भक्ति ज्ञान और साधना का प्रतीक। छींका=लटकता हुआ एक झूला सा जिसमें अविशिष्ट भोजन आदि रखा जाता है, संचित पुण्यों का प्रतीक। परहड़ी=जल रखने का स्थान, आनन्द-स्वरूप का प्रतीक। उपरांहड़ी=ऊपर को, परम तत्त्व या शून्य का प्रतीक। द्वार=इन्द्रियों का प्रतीक। पूत=बोध का रूपक। जेठी धीय=बड़ी लड़की, आवरण-रूपा माया का प्रतीक या कुण्डलिनी का प्रतीक भी हो सकता है। लुहरी धीय=छोटी लड़की, विक्षेप रूपा माया का प्रतीक है, जो ईश्वर-प्रीति में रम गई है।

मन रे जागत रहिये भाई।
गाफिल होइ वसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई ॥टेक॥
षट चक्र की कनक कोठड़ी, बस्त भाव है सोई।
ताला कुंजी कुफल के लागे, उघड़त बार न होई ॥
पंच पहरुवा सोइ गये हैं, बसतै जागरण लागी।
जुरा मरण व्यापै कुछ नाहीं, गगन मंड़ल लौ लागी ॥
करत बिचार मनहीं मन उपजी ना कहीं गया न आया।
कहै कबीर संसा सब छूटा, रांम रतन धन पाया ॥ २३ ॥

रे मन, जागते रहो। तुम असावधान और मदहोश होकर अज्ञान में सोओ मत। तुम्हारे अन्तःकरण-रूपी घर को काम-क्रोधादिक चोर लूट रहे हैं। छह चक्रों की यह तुम्हारी सोने की बहुमूल्य कोठरी है, उसी में तुम्हारे वास्तविक शुद्ध चैतन्य रूप का प्रकाश अवस्थित है, जिसका साक्षात्कार कुण्डलिनी के द्वारा उन चक्रों के भेदन से होता है। वही चैतन्य भावरूप एवं मूल वस्तु है। ईश्वर-प्रेम की व्यथा अथवा यौगिक ताप से कुण्डलिनी जाग्रत करने रूप ताली के लगते ही यही कोठरी

खुल जाती है। या उसके खुलने में देर नहीं लगती है। अथवा प्राणों के ताला-कुंजी तथा कुफल के लगे रहने पर भी इस कोठरी के खुलने में देर नहीं लगती है। ईश्वर-प्रेम अथवा कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर पांचों ज्ञानेन्द्रियां-रूपी पहरेदार सो जाते हैं; अर्थात् वे अपने विषयों से विमुख हो जाते हैं और आत्मा का स्वरूप अर्थात् विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप आत्मा जागने लगती है। उस समय व्यक्ति जरा-मरण से मुक्त हो जाता है। चिन्तन करते-करते अन्तःकरण में ही उस परमतत्त्व का ज्ञानोदय होता है। यह ज्ञानोदय न कहीं से आना है और न कहीं जाना है, अर्थात् किसी नई वस्तु की उपलब्धि नहीं अपितु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित मात्र है। कबीर कहते हैं कि इस साधना से सारा भ्रम नष्ट हो गया है और मैंने राम-रूपी रत्न प्राप्त कर लिया है।

टिप्पणी—सांगरूपक। कायायोग के प्रतीकों से स्वरूप-स्थिति एवं ईश्वर-प्रेम की जाग्रति का चित्रण है।

चलन चलन सब कोउ कहत है,
नां जांनों बैकुण्ठ कहां हैं ॥टेक॥
जोजन एक परमिति नहीं जांनै, बातनि हीं बैकुण्ठ बखानैं।
जब लग है बैकुण्ठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा ॥
कहें सुनें कैसें पतिअइये, जब लग तहाँ आप नहीं जइये।
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति बैकुण्ठहि आहि ॥ २४ ॥

कबीर कहते हैं कि चलने की बात सब करते हैं, पर उन्हें ज्ञान नहीं है कि वास्तव में बैकुंठ कहाँ है। जो व्यक्ति एक योजन प्रमाण दूरी को तो जानता ही नहीं है, पर वह बैकुंठ के स्वरूप को केवल बातों में ही बखानता रहता है। उसको वास्तविक बैकुण्ठ का ज्ञान नहीं है। जब तक जीव को इस नश्वर बैकुण्ठ की आशा बनी रहती है, तब तक उसका भगवान् के चरणों में अनुराग नहीं होता। जब तक उस परम पद का अथवा बैकुण्ठ का जीव स्वयं साक्षात्कार नहीं कर लेता है, तब तक कहने सुनने पर भी उसका विश्वास नहीं जमता है। कबीर कहते हैं कि यह किसे समझाऊँ कि वास्तव में सत्संगति ही बैकुण्ठ है।

अपनें बिचारि असबारी कीजै।
सहज कैं पाइडै पाव जब दीजै ॥टेक॥
दे मुहरा लगांम पहिरांऊं, सिकली जीन गगन दौराऊं।
चलि बैकुण्ठ तोहि लै तारौं, थकहि त प्रेम ताजनैं मारूं ॥
जन कबीर ऐसा असवारा, बेद कतेब दहूं थैं न्यारा ॥ २५ ॥

कबीर अपने आपको सम्बोधित करते हुए करते हैं—साधक, अपने आत्म-चिन्तन की सवारी तभी कर पाओगे, जब सहज-समाधि-रूपी रकाब में अपने पैर

रखोगे, अर्थात् सहज अवस्था को प्राप्त कर लोगे। अगर ऐसा कर सकते हो तो इस मन मुँह को बाँधकर, अर्थात् इसे विषय-वासनाओं से विमुख करके इसके लगाम लगा दो तथा समष्टि के ध्यान की भारी जीन जमाकर तुम्हें शून्य तक की दौड़ लगवा दूँ। इस सवारी से तुम्हें परमपद रूप बैकुण्ठ ले जाकर उतार दूँ। इस मन रूपी घोड़े के थकने पर इसे प्रेम के चावुक की उत्तेजना देकर आगे बढ़ाऊँ। कबीर कहते हैं कि ऐसा भक्त-रूपी आत्म-चिन्तन का सवार वेद और कुरान से अलग एवं उनकी मर्यादा से ऊपर होता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति तथा सांगरूपक अलंकार।

पाठान्तर—'सिकली' के स्थान पर 'सगलत' पाठ डा० रामकुमार वर्मा जी ने दिया है 'सलगत' का अर्थ उन्होंने 'समष्टि' लिया है। यहाँ 'सिगरी' या 'सिगरी' पाठ ठीक है।

अपनैं मैं रंगि आपनपो जानूं।
जिहि रँगि जांनि ताही कूं मांनूं ।।टेक।।
अभि अंतरि मन रग समानां, लोग कहैं कबीर बौरानां।।
रंग न चीन्हैं मूरिख लोई, जिहि रँगि रंग रह्या सब कोई।
जे रंग कबहूं न आवैं न जाई, कहै कबीर तिहि रह्या समाई ।। २६।।

अपने आत्मस्वरूप में तन्मय तथा अन्तर्मुखी होकर ही मैं अपने वास्तविक स्वरूप को जान पाता हूँ। इस तन्मयता या प्रेम के रंग में मुझे अपने जिस स्वरूप का साक्षात्कार हुआ है, उसी को मैं प्रमाण भी मानता हूँ। वह रंग मेरे आभ्यन्तर में व्याप्त हो गया है; उसमें मैं मस्त हूँ। संसार समझता है कि कबीर पागल हो गया है। मूर्ख अज्ञानियों को अपने वास्तविक स्वरूप एवं प्रेम के उस रंग का ज्ञान नहीं होता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् वास्तव में रँगा हुआ है। न जानने पर भी सारा विश्व अपने स्वरूप में ही स्थित है। अपने आनन्द में ही मग्न है। जो रंग न कभी चढ़ता है और न कभी मिटता है, अर्थात् शाश्वत् है; कबीर कहते हैं कि सारा संसार उसी रंग में समाया हुआ है।

टिप्पणी—कबीर द्वारा इस पद में चैतन्य स्वरूप के सहज एवं अनुभूतिमय साक्षात्कार का वर्णन किया गया है। कबीर का आत्मबोध किसी शास्त्र-विशेष की पदावली का सहारा नही लेता, वह सहज है। इसी की यहाँ व्यंजना है। 'रंग' शब्द के अनेक अर्थ-बिम्बों के ग्रहण से तत्त्व का प्रतिपादन तो होता ही है, और इसके साथ ही चमत्कार की सृष्टि भी हो रही है।

झगरा एक नबेरो रांम, जे तुम्ह अपनैं जन सूं कांम।।
ब्रह्म बड़ा कि जिनि रू उपाया, बेद बड़ा कि जहां थैं आया।।
यहु मन बाड़ कि जहां मन मानैं, राम बड़ा कि रांमहि-जानैं।।
कहै कबीर हूँ खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास ।। २७।।

हे भगवान्, यदि आपको अपने भक्त के प्रति आत्मीयता है तो मेरे मन के संशय को दूर करो । ब्रह्मा बड़ा है अथवा वह परम-तत्त्व, जो ब्रह्मा सहित सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण है ? वेद बड़ा है अथवा वह, जहाँ से वेद का ज्ञान प्रकट हुआ है ? यह मन (समष्टि मन) बड़ा है या जिसमें यह मन रमता है अथवा समा जाता है, वह परम तत्त्व ? राम बड़ा है या जो राम को जानता है ? (गोविन्द) बड़े हैं या गुरु ?) कबीर कहते हैं कि मुझे निश्चय ही असमजस एवं चिन्ता है कि तीर्थ जो भक्तों को भक्ति देते हैं, अथवा जहाँ भक्त भक्ति में अवगाहन करते हैं—वे तीर्थ बड़े हैं अथवा वे भक्तगण स्वयं बड़े हैं जो इन स्थानों को तीर्थ बना देते हैं ।

दास रांमहि जानिहै रे, और न जानैं कोइ ।।टेक।।
काजल देइ सबै कोई, चषि चाहन माहि बिनांन ।
जिन लोइनि मन मोहिया, ते लोइन परवांन ।।
बहुत भगति भौसागरा, नानां विधि नांनां भाव ।
जिहि हिरदै श्रीहरि भेटिया, सो भेद कहूँ कहूँ ठाव ।।
दरसन संमि को कीजिये, जौ गुन नहि होत समांन ।
सींधव नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिलै पषान ।। २८ ।।

कबीर कहते हैं कि भक्त को केवल भगवान् से प्रेम है । वह अन्य किसी को नहीं जानता । नेत्रों में काजल तो सभी लगाते हैं पर किन नेत्रों के प्रति अनुराग जागता है—यह एक रहस्य है । उनके चाहने का एक विवेक है । जो नेत्र मन को मोहित करते हैं, वे ही नेत्र सुन्दर हैं । उनका सौन्दर्य किसी बाहरी कारण से नहीं, परन्तु वे स्वयं ही इसके कारण हैं, और सौन्दर्य के ज्ञान में भी वे ही प्रमाण हैं । इस भवसागर में अनेक तरह की भक्ति है, उसके अनेक प्रकार हैं एवं अनेक भाव हैं । पर जो भगवान् का अपने हृदय में साक्षात्कार कर लेता है, ऐसा भक्त तो कहीं-कहीं ही मिलता है । भगवान् के वे दर्शन ही क्या जिनके द्वारा भक्त में भगवान् के समान गुण न प्रकट हों । कबीर कहते हैं कि नदी सिंधु में मिलकर तदाकार हो जाती है, पर पत्थर की शिला फटकर आपस में कभी पुनः एक नहीं होती । अथवा नमक जल में मिलकर तदाकार हो जाता है; पर पत्थर जल से अभिन्न नहीं हो पाता है । सच्चा भक्त परम-तत्त्व से एक हो जाता है, पर अहंकार से जड़ भक्त भगवान् में तन्मय नहीं हो पाता ।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार । व्यतिरेक की ध्वनि ।

कैसै होइगा मिलवा हरि सनां ।
रे तू विषै बिकार न तजि मनां ।।टेक।।
रे तै जोग जुगुति जान्यां नहीं,तैं गुर का सबद मान्यां नहीं ।।

गन्दी देही देखि न फूलिये, संसार देखि न भूलियै ॥
कहै कबीर मन बसु गुंनी, हरि भगति बिनां दुख दुख फुनि फुनीं ॥ २६ ॥

रे मन, तू विषयों के विकारों को छोड़ दे, अन्यथा तेरा भगवान् से मिलन कैसे होगा ? जीव, तूने योग की युक्ति समझी नहीं है। तूने गुरु के उपदेशों का भी अनुसरण नहीं किया है। अपनी इस वासना-कलुषित देह को देखकर फूल मत जाओ। संसार के सुखों एवं आत्मीयों के स्नेह में अपने वास्तविक स्वरूप को मत भूलो। कबीर कहते हैं कि यह मन बहुत गुणों वाला प्रतीत होता है, उसे ऐसा अहंकार ही जाग जाता है। इन तथाकथित गुणों का अहंकार वहन करते हुए भी वह मन भगवान् की भक्ति के बिना बारम्बार दुःखों का अनुभव करता है।

कासूं कहिये सुनि रामां तेरा मरम न जानै कोई जी।
दास बबेकी सब भले, परि भेद न छानां होई जी ॥टेक॥
ए सकल ब्रह्मंड तैं पूरिया, अरू दूजा महि थांन जी।
मैं सब घट अंतरि पेषिया, जब देख्या नैन समांन जी ॥
रांम रसायन रसिक हैं, अद्‌बुद गति बिस्तार जी।
भ्रम निसा जो गत करै, ताहि सूझै संसार जी ॥
सिव सनकादिक नारदा, ब्रह्मि लिया निज बास जी।
कहै कबीर पद पंकुज्या, अब नेड़ा चरण निवास जी ॥ ३० ॥

हे भगवान्, तुम्हारे गुणगान किसको सुनाऊँ ? तुम्हारी गरिमा के रहस्य का ज्ञान किसी को नहीं है। सभी भक्त श्रेष्ठ और विवेकी हैं, पर अधिकांश ने भगवान् के रहस्य को समझा नहीं है अथवा उन भक्तों का पारस्परिक भेद किसी से छिपा नहीं है। सारा ब्रह्माण्ड तुमसे व्याप्त है, पर फिर भी तुम इससे पृथक् हो अतः तुम्हारा वास्तविक स्थान इससे अन्यत्र ही है अथवा तुम्हारा दूसरा स्थान यह पृथ्वी है, या (लोग कहते हैं) तुम्हारा दूसरा रूप देवालय में है। पर जब मैंने समान दृष्टि से देखा तब मैंने तुमको सब अन्तःकरणों के भीतर पाया अथवा जब तुम्हें मैंने नेत्र अर्थात् प्रकाशक की तरह देखा तब मैंने सब अन्तःकरण में तुम्हें ही देखा। तुम ही वहां पर ज्ञान रूप में हो। जैसे नेत्र विश्व को देखते हैं, पर नेत्रों का ज्ञान आभ्यन्तर प्रत्यक्ष है; वैसे भगवान् सम्पूर्ण जगत का प्रकाशक है, पर वह स्वयं प्रकाश एवं स्वानुभूति है। यही भगवान् को नेत्र की तरह देखता है। स्वयं राम ही रसायन और रसिक—दोनों हैं। यही कारण है कि उनकी लीला और व्यापकता विलक्षण है जो भक्त भ्रम-रूपी रात्रि को समाप्त कर देता है, उसी को संसार का वास्तविक रहस्य ज्ञात होता है। शिव-सनकादिक ने अपना स्थान भगवान् में बना लिया है, अर्थात् वे तत्व में प्रतिष्ठित हो गये हैं। कबीर कहते हैं कि मैंने भी भगवान् के चरण कमलों के नजदीक ही अपना निवास बना लिया है।

मैं डोरैं डोरे जांऊंगा,
तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।टेक।।
सूत बहुत कछु थोरा, ताथैं लाइ लै कंथा डोरा ।
कंथा डोरा लागा, तब जुह्रा मरण भौ भागा ।।
जहाँ सूत कपास न पूनीं, तहां बसैं इक मूनीं ।
उस मूनीं सूं चित लांऊंगा, तो मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।
मेर डंड इक छाजा, तहाँ बसै इक राजा ।
तिस राजा सूं चित लांऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।
जहाँ बहु हीरा घन मोती, तहां तत लाइ लै जोती ।
तिस जोतहिं जोति मिलांऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।
जहाँ ऊगैं सूर न चंदा, तहां देख्या एक अनंदा ।
उस आनंदा सूं चित लाँऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।
मूल बंध इक पावा, तहाँ सिध गणेस्वर रावा ।
तिस मूलहि मूल मिलांऊंगा, तौ मैं बहुरिन भौजलि आंऊंगा ।।
कबीरा तालिब तेरा, तहाँ गोपत (गोपि) हरी गुर मोरा ।
तसां हेत हरि चित लांऊंगां, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।। ३१ ।।

मैं अगर साधना के सूत्रों का आलम्बन करता हुआ या ध्यान-मार्ग से आगे बढ़ूंगा अथवा सुषुम्ना मार्ग से कुण्डलिनी को ऊपर चढ़ाऊँगा तो मुझे इस भवसागर में फिर कभी नहीं आना पड़ेगा । रे जीवन, यह जीव का सूत्र बहुत छोटा है, अतः इससे तू कंथे में डोरे डाल ले, अर्थात् परमार्थ-साधक ब्रह्मनाल पर पहुँच जायेगा तब वृद्धावस्था और मृत्यु का भय नहीं रहेगा । जहाँ न सूत है, न कपास और न पौनी ही (रुई की बनी हुई) अर्थात् साधना से बाह्य उपकरणों अथवा ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव का अभाव है; वहीं पर साक्षात् परमतत्त्व के मौन साधक का निवास है । उसी परमतत्त्व में मैं अपने चित्त को विलीन कर दूंगा, ताकि भवसागर में पुनः न न आना पड़े । सुषुम्ना का एक उच्च मेरुदण्ड है जिसके शून्य-शिखर-रूपी भवन में परम नाद-रूपी राजा का निवास है । कुण्डलिनी को वहाँ पहुँचा कर उस नाद का श्रवण करता हुआ उसी राजा में अपना चित्त लगाऊँगा जिससे मेरा इस संसार में फिर जन्म नहीं होगा । उस शून्य अथवा सहज समाधि में आह्लाद-रूप अनेक हीरे-मोतियों का घन है । वहीं पर उस तत्व ने लय की ज्योति प्रकट की है । उस परम ज्योति में मैं अपने चैतन्य को समाहित कर दूंगा, जिससे इस जगत में फिर न आना पड़े ! जहाँ सूर्य, चन्द्र का उदय नहीं है, उसी संसार से अतिक्रान्त स्थान में मन आनन्द का

अनुभव किया है। उसी आनन्द में अपना चित्त रमा दूँगा जिससे पुनर्जन्म नहीं होगा। मुझे सहस्रार कमल का आभास मिल गया है। वहाँ सिद्धगणों के सिरमौर राजा अथवा गणेश निवास करते हैं। (वहीं पर साधक को सनकादिक मिलते हैं)। कुण्डलिनी को उस कमल पर पहुँच कर मैं उस मूल तत्व में अपने स्वरूप को विलीन कर दूँगा ताकि पुनः न आना पड़े। उस तत्त्वोपदेश के लिए ही जीव का शिष्यत्व है कबीर कहते हैं मैं उसी तत्त्व का शिष्य हूँ। मैं तेरा चाहने वाला हूँ। उसी स्थान में मेरे गुरु एवं भगवान् अर्थात् साधक और सिद्ध अन्तर्निहित हैं। उसी मंगल रूप भगवान् में मैं अपना चित्त अपना प्रेम लगाऊँगा, ताकि मुझे इस भवसागर में पुनः नहीं आना पड़े।

टिप्पणी—ऐसे पदों में हठयोग एवं दार्शनिक धारणाओं, साम्प्रदायिक रूपों से अतिक्रान्त उस अनुभूति का चित्र है जो कबीर को सहज रूप में प्राप्त हुई है। इनमें हठयोग की साधना के साथ प्रेम-योग का भी चित्रण है। यह बात 'गोपी' पाठ तथा 'गोपी' को ही गुरु मानने से और भी पुष्ट हो जाती है। यही कबीर की मान्यताओं के मेरुदण्ड हैं।

उल्लेख अलंकार।

संतौ धांगा टूटा गगन बिनसि गया सबद जु कहां समाई।
ए संसा मोहि निस-दिन व्यापै, कोइ न कहै समझाई ।।टेक।।
नहीं ब्रह्मंड प्यंड, पुंनि नांहीं, पंचतत भी नाहीं।
इला-प्यंगुला-सुषमन नांहीं, ए गुंण कहां समाहीं ।।
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं, तहिंया, रचनहार पुनि नांहीं।
जोवनहार अतीत सदा संगि, ये गुंण तहां समांहीं ।।
तूटै बँधै बँधै पुनि तूटै, जब तब होइ बिनासा ।।
तब तो ठाकुर अब को सेवग, को काकै बिसवासा ।।
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै, जौ धागा उनमांनां।
सीखै-सुनै पढै का होई, जो नहीं पदहि समांनां ।। २२ ।।

कबीरदास जी कहते हैं "हे सन्तो, हठयोग की साधना से प्राप्त ध्यान का धागा टूट गया उस समय गगनोपम शून्य-समाधि भी नष्ट हो गई। उस समय अनहद की ध्वनि सुनाई देती थी, वह भी कहीं विलीन हो गई। यह ध्वनि कहाँ विलीन हुई; यह संदेह मुझे रात-दिन रहता है। मुझे कोई भी (हठयोगी) इस संदेह से निवृत्त करने वाला समाधान नही देता। परमार्थ में या परमपद की प्राप्ति की अवस्था में न ब्रह्माण्ड है और न पिंड ही। उस समय इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना भी नहीं हैं, अतः इन हठयोगी साधनाओं एवं साधनों पर आधारित अनहदनाद, गगनोपम अवस्था आदि भी तत्वतः नहीं हैं। शुद्ध आत्म-मात्र में ये नाशवान कहाँ रह सकते हैं!

उस परमपद की अनुभूति में घर-बार नहीं है, कुछ भी नहीं है । सृष्टि कर्त्ता भी नहीं है (जब सृष्टि ही नहीं तो उसके कर्त्ता की कल्पना की भी क्या आवश्यकता है) अथवा इन उपर्युक्त सम्पूर्ण साधनों का अहंकारी साधक भी नहीं रहता है । पर साक्षी चेता आत्मा तो इन सबसे अतीत एवं शाश्वत है । इसके अभाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती है ; ये सारे (ब्रह्माण्ड, पिंड हठयोगी साधना, उसके साधन, प्राप्त अवस्था आदि) गुण उसी शुद्ध चैतन्य में समाहित हो जाते हैं । इस जगत् का नियम है कि टूटे हुए बँधते हैं और बँधे हुए फिर टूटते हैं । इन हठयोग साधनाओं के जो सूत्र बँधे हैं; वे टूटते हैं, अतः नाशवान हैं कभी न कभी इसका नाश भी होता ही है । कायायोग से प्राप्य ये 'शून्य' आदि अवस्थायें ही परम प्राप्तव्य एवं शाश्वत नहीं हैं । इन हठयोगी क्रियाओं एवं सिद्धियों को प्राप्त करने वाला अहंभाव, उस समय इनका स्वामी होता है । शुद्ध आत्म-चैतन्य की प्राप्ति से पूर्व तो साधक सिद्ध होने के अहंकार का ही वहन करता है । पर उस परमपद की प्राप्ति के बाद वह शुद्ध निरहंकार आत्म-तत्त्व का दास बन जाता है । इस साधक की अहंकारी जीवात्मा भी सहज भाव-भक्ति से प्राप्त परमपद की अवस्था में अपने अहकारी रूप का परित्याग करके उस पद की गरिमा से अभिभूत हो जाती है । पर उस अहंभाव की अवस्था में तो वह उस निरहंकार शुद्ध रूप पर विश्वास नहीं करती । उस अवस्था की उस अहंभावना का वहन करने वाले साधक को परमपद का भान नहीं हो पाता है । अतः कायायोग की सिद्धियों के इस अहंकारी रूप को ही साधक चरम समझता है । पर निरहंकार रूप इसे चरम कैसे समझ सकता है ? अतः कौन किस पर विश्वास करे ? नीची सीढ़ी का व्यक्ति ऊपर की सीढ़ी न देखकर अपने आप को ही उच्चतम अवस्था तक पहुँचा हुआ मान लेता है पर ऊँची सीढ़ी वाला नीचे की सीढ़ी वाले को उच्चतम कैसे मान ले ? यही आत्मा के उपर्युक्त अहंकारी और निरहंकारी स्वरूपों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है । कबीर कहते हैं कि अगर इस ध्यान सूत्र को सहज भाव-भक्ति से द्वारा उस निरहंकार परमपद एवं परम-तत्व से जोड़ दें, अर्थात् कायायोग के साथ ज्ञान एवं प्रेम-तत्त्व का मिश्रण कर दें तथा इस योग की सिद्धियों को उस परम तत्व के ज्ञान एवं भक्ति का साधन बना दें तो शून्य अवस्था आदि भी नष्ट नहीं होगी, क्योंकि उस एक की सत्ता पर इनकी भी सत्ता टिकी हुई है । भक्त और ज्ञानी को हठयोग की भी सब सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं । अथवा इस हठयोग की गगनादि अवस्थाओं को ही अन्तिन स्थिति न मानकर इनके मूल आधार-तत्त्व का साक्षात्कार करें तब भी ये 'गगन' आदि नष्ट नहीं होंगे । कबीर कहते हैं जो इस पद के मूल रहस्य में तन्मय नहीं हो पाता है । वह इसको क्या पढ़ता और क्या सुनता है ?

टिप्पणी—सहज भक्ति और ज्ञान की समाधि ही परमपद है; वह कभी नहीं टूटती । सब समाधियों का साध्य वही समाधि है और अन्य समाधियों की सत्ता भी उसी पर है । इस पद से कबीर की 'हठयोग' सम्बन्धी धारणा भी स्पष्ट होती है ।

कबीर का दर्शन मूलतः सहज-ज्ञान एवं भक्ति का दर्शन है, कायायोग का नहीं। कायायोग केवल कबीर के लिये भी साधन भर ही है। यह इस पद से निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

ता मन को खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहां समाई ।।टेक।।
सनक सनंदन जैदेव नांमां, भगति करि मन उनहुं न जानां।
सिव विरंचि नारद मुनि ग्यानी, मन की गति उनहूँ नहिं जानी ।।
ध्रूं प्रहिलाद विभीषन सेषा, तन भीतर मन उनहुं न देषा।
ता मत का कोइ जानै भेव, रंचक लीन भया सुखदेव ।।
गोरष भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा।
अक[illegible] निरंजन सकल सरीरा, ता मनसौं मिलि रह्या कबीरा ।। ३३ ।।

रे जीव, उस परम-तत्त्व अथवा सहज-समाधि-रूप मन का अन्वेषण करो। यह वृत्यात्मक मन (इसमें हठयोग की क्रिया से प्राप्त स्थितियाँ भी सम्मिलित हैं) तो शरीर पर आश्रित हैं। शरीर के नष्ट होते ही यह कहाँ रहेगा ? यह भी नष्ट हो जायेगा। सनकादिक देवता भी भक्ति करके उस मन को प्राप्त नहीं कर सके। शिव, ब्रह्मा, नारद आदि ज्ञानी मुनि भी उस परम-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाये। ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, शेष आदि भी हठयोग को शारीरिक साधनाओं से प्राप्त हुए शरीरी उपाधियों में उस परम-तत्त्व रूप मन को नहीं देख सके। उस परम-तत्त्व का वास्तविक रहस्य कोई नहीं समझता है। वह अगम्य और अगोचर है। उस परम-तत्त्व रूप मन में शुकदेव कुछ तन्मय हो सके हैं। गोरखनाथ, भरतरी और गोपीचन्द उस तत्त्व में लीन होकर परम आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। अखण्ड एवं माया से रहित होने पर भी वह परम-तत्त्व सम्पूर्ण शरीरों में व्याप्त है, उसी परम तत्त्व से कबीर तदाकार हो गया है।

टिप्पणी—'शुकदेव' के नाम से स्पष्ट है कि कबीर परम-तत्त्व की प्राप्ति का साधन हठयोग नहीं, सहज ज्ञान और सहज भक्ति मानते हैं। 'मन' का प्रयोग 'सहज समाधि' एवं परमतत्व दोनों अर्थों में है। पौराणिक पुरुषों का उल्लेख भारतीय परम्परा को मान्यता देने का संकेत कर रहा है।

भाई रे बिरले दोस्त कबीर के, यहु तत बार बार कासौं कहिये।
भांनण-घड़ण-संचारण-संम्रथ, ज्यूँ राखै त्यूं रहिये ।।टेक।।
आलम-दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि-बिन सकल अयानां।
छह दरसन छ्यांनवैं पाषंड आकुल किनहूं न जानां ।।
जप-तप-संजम-पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानां।
कागज लिखि लिखि जगत भुलानां, मनहीं मन न समानां ।।

कहै कबीर जोगी अरू जंगम, ए सब झूठी आसा ।।
गुर-प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूं, निहचै भगति निवासा ।। ३४ ।।

रे भाई, कबीर के मित्र अर्थात् सहधर्मी तो बहुत बिरले ही हैं । अतः वह इस तत्वोपदेश की बात बारंबार किससे कहे ? भगवान् नाश, उत्पत्ति एवं रक्षा—सभी में पूर्ण समर्थ है; अतः जैसे वह रखता है जीव को वैसे ही आनन्दपूर्वक रहना चाहिए। मैंने संसार ढूँढ़ लिया है । भगवान के बिना सब कुछ अज्ञान-स्वरूप है, आधार-शून्य हैं । उसकी भक्ति से रहित सम्पूर्ण कार्य केवल अज्ञान है । छहों दर्शनों एवं छयानवें पाखण्डों (बौद्ध-मतों) में से किसी ने भी इस तत्त्व (रहस्य) को पूर्णतः नहीं समझा है । यह सारा संसार ज्ञान एवं भक्ति से शून्य जप, तप, संयम, पूजा, अर्चना और ज्योतिष के चक्कर में पागल हो गया है । यह जगत् कागज लिख-लिखकर अर्थात् ग्रन्थों की रचना कर-करके अपने अभिमान में ही भटक गया है । ऐसे साधक अपने अन्तःकरण एवं अपनी आत्मा को उस परम-तत्व को विलीन नहीं कर पाये । जोगी जंगम आदि विभिन्न सम्प्रदायों से साधक अपनी साम्प्रदायिक साधनाओं से उस परम-तत्त्व को प्राप्त करने की झूठी आशा लगाये हैं । गुरु की कृपा पर विश्वास करके जो उस भगवान की रट चातक की तरह लगाता है, उसकी भक्ति एवं भगवान में निश्चय ही प्रतिष्ठा हो जाती है और वही भगवान को प्राप्त कर पाता है ।

कितेक सिव संकर गए ऊठि,
राम समाधि अजहूं नहीं छूटि ।। टेक ।
प्रलै काल कहूँ कितेक भाष, गये इन्द्र से अगणित लाख ।।
ब्रह्मा खोजि पर्‌यौ गहि नाल, कहै कबीर वै राम निराल ।। ३५ ।।

भगवान राम निरन्तर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित एवं अगम्य हैं । पता नहीं कितने शिवादिक देव अनेक कल्पों में हो गये हैं; और चले गये हैं । पर उनमें से किसी ने भी भगवान् को वास्तविक रूप में नहीं जाना । जब तक 'ज्ञाता' और ज्ञेय का भेद है तब तक ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता है । ध्याता और ध्येय के भेद पर आश्रित शिवादिक की इतनी लम्बी तपस्या के उपरान्त राम की समाधि आज भी नहीं टूटी—राम अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहे; इनके ज्ञेय नहीं बने । कितने ही प्रलय कालों का वर्णन है । अगणित इन्द्रादिक देवता भी होकर चले भी गए हैं । ब्रह्मा भी उस परम तत्व के साक्षात्कार के लिए नाल पकड़ कर असीम गहराई तक गए हैं । पर उस भगवान का पार न पा सके । वह तो नीरोग है, अपार और असीम है । उसको सीमा में बाँधकर देखने का प्रयास ही भ्रम है ।

टिप्पणी—पौराणिक धारणाओं पर आधारित बिम्ब-विधान से सहज-ज्ञान और सहज भक्ति की व्यंजना ।

अच्यंत च्यंत ऐ माधौ, सो सब मांहि समाना।
ताहि छाड़ि जे आन भजत हैं, ते सब भ्रंमि भुलांना ॥ टेक ॥
ईस कहै मैं ध्यान न जानूँ, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणां कारणि केसो, नाम धरण कौं तोहीं ॥
कहौ घौं सबद कहां थैं आवै, अरू फिरि कहां समाई।
सबद अतीत का मरम न जानैं, भ्रंमि भूली दुनियाई ॥
प्यंड मुकति कहां ले कीजै, जो पद मुकति न होई।
प्यंडै मुकति कहत हैं मुनि जन, सबद अतीत था सोई ॥
प्रगट गुपत गुपत पुनि प्रगट, सोई कत रहै लुकाई।
कबीर परमानन्द मनायें, एकथ कथ्यौ नहीं जाई ॥ ३६ ॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् बुद्धि के चिन्तन से परे ध्यान-गम्य है और सर्वत्र सबमें व्याप्त है। उस भगवान् को छोड़कर जो अन्य मर्यादाओं से सीमित देवता का भजन करते हैं वे सब भ्रम में हैं। स्वयं शंकर भी कहते हैं कि मुझे उस परम-तत्त्व का ध्यान करना नहीं आता है; (इससे कबीर भगवान् के अनुग्रह के प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हैं।) शिवादिक को अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठा दुर्लभ प्रतीत होती है। हे केशव, तुम्हारी कुछ करुणा के प्रभाव से तुम्हारे नाम का स्मरण भर कर लेता हूं। रे जीव, इस बात पर विचार करो कि यह नाद-शब्द कहाँ से उत्पन्न होता है और किस में समा जाता है ? इस नाद से अतीत है परम-तत्त्व। उस शब्द-ब्रह्म से अतीत परम-तत्त्व का रहस्य न समझने वाली सम्पूर्ण दुनिया भ्रम में भूली हुई है। इस हठयोग की साधना के शरीर (पिंड) की मुक्ति होती है। उस मुक्ति से क्या लाभ है, अगर उसके बाद परमपद की प्राप्ति रूप मुक्ति नहीं मिलती। मुनि लोग, हठयोग की शून्य, शब्द, गगन आदि अवस्थाओं की प्राप्ति इस पिण्ड की मुक्ति ही की बात करते हैं। पर जो इस शब्द से अतीत परम तत्त्व है; जो शब्द, गगन आदि इन सम्पूर्ण अवस्थाओं में प्रकट है, जो इन सब में अन्तर्हित है तथा अन्तर्हित रहता हुआ भी इन्हीं से सीमित न होने के कारण इनसे पूर्णतया ढक भी नहीं जाता है, ये सब उसके एक वेशमात्र हैं। वह परम-तत्त्व कहाँ ओझल हो सकता है ? वह तो सर्वत्र प्रकट ही है। उस परम-तत्त्व के आनन्द में ही कबीर मग्न है, पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है।"

'पारख पद' की शाश्वतता एवं उसकी प्राप्ति की प्रेरणा व्यंजित है।

सो कछू बिचारहु पंडित लोई।
जाकै रूप न रेख बरण नहीं कोई ॥ टेक ॥
उपजै प्यंड प्रांन कहां थै आवै, मूवा जीव जाई कहाँ समावै।
इंद्री कहां करहि बिस्रांमा, सो कत गया जो कहता रांमां ॥

पंचतत तहां सबद न स्वादं, अलख निरंजन विद्या न बादं।
कहै कबीर मन मनहि समानां, तब अगम निगम झूठि करि जाना ॥ ३७ ॥

जिस परम-तत्त्व के रूप, रेखा, वर्ण आदि कुछ भी नहीं हैं; उसके बारे में पंडित लोग कुछ विचार करें। विचारणीय यह है कि यह पिंड कहाँ से उत्पन्न हुआ है, इसमें प्राण कहाँ से आ गए हैं? मरने के बाद जीवात्मा किसमें समाहित हो जाती है? ये इन्द्रियाँ किस में विश्राम लेती हैं। जो राम-राम का उच्चारण करता था, वह कहाँ चला गया है? ये सारे प्रश्न गूढ़ रूप से चिंतनीय हैं। जिससे ये सब तत्व प्रगट होते हैं और अन्त में जिसमें समा जाते हैं; वही परम तत्व है। उस परम तत्त्व की शुद्ध अवस्था में पंच तत्त्व नहीं रहते। न वहाँ शब्द है न स्वाद ही। वह अलक्ष्य निरंजन (माया रहित परम-तत्त्व) है। जिसको न विद्या (शास्त्रीय ज्ञान आदि) प्राप्त कर सकती है और न वाद-विवाद ही। कबीर कहते हैं कि जब से यह मेरा अन्तः करण उस परम-तत्व में समाहित हो गया है, उस समय से मुझे वेद-पुराण आदि सभी कुछ मायाकृत एवं मिथ्या प्रतीत होने लगे हैं।

टिप्पणी—तुलना कीजिए अविद्यावत् विषयाणि सर्वशास्त्राणि।'

जौ पैं बीज रूप भगवाना।
तौ पंडित का कथिसि गियाना ॥टेक॥
नहि तन नहि मन नाहीं अहंकारा, नहि सत-रज-तम तीनि प्रकारा ॥
विष अमृत फल फले अनेक, बेद अरु बोध कहैं तरु एक ॥
कहै कबीर इहै मत मान, केहिधूं छूट कवन उरझान ॥ ३८ ॥

कबीर कहते हैं कि जब भगवान् बीज रूप है तो पंडित, बहुत लम्बे-चौड़े ज्ञान की बात करने में क्या है? शेष सब परमार्थ-रूप में सत् तो है नहीं। वस्तुतः न शरीर है, न मन है और न अहंकार ही। प्रकृति के सत्, रज, तम—ये तीन गुण भी भिन्न-भिन्न नहीं हैं। वेद और बौद्ध दोनों कहते हैं कि एक ही वृक्ष है। सबका मूल वही एक चैतन्य है। उसी को वृक्ष कहा गया है। जीव की अपनी वासनाओं और कर्मों के अनुसार इस वृक्ष के अमृत और विष रूप फल लगते हैं। सारे भोग चैतन्य पर ही आधारित हैं, अतः वे इस चैतन्य-वृक्ष के फल कहे गए हैं। कबीर कहते हैं कि मेरे मन ने यह मान ही लिया है, अर्थात् मेरी चैतन्य के एकत्व में निष्ठा जम गई है अतः मैं मुक्त हो गया हूँ। कहो, एक बार छूटा हुआ पुनः कौन उलझता है? अथवा यह संसार मन की कल्पना है, अतः इससे कौन छूटता है और इसमें कौन बंधता है? ये सब प्रतीति भर हैं। अर्थात् न कहीं मुक्ति है और न बन्धन ही।

टिप्पणी—इसमें परिणामवाद का भी आभास है; पर वास्तव में यह विवर्त का प्रतिपादक ही है। वैसे सिद्धावस्था के ज्ञानियों के लिए ये दार्शनिक मत-मतान्तर

के भेद वस्तुतः कुछ हैं नहीं, उनके लिए केवल एक मूल अविकृत तत्व है। यही इस पद का प्रतिपाद्य है।

साम्य—'न बद्धो न मोक्षो, न चोत्पत्ति एषः परमार्थता।' से भाव साम्य द्रष्टव्य है।

पांडे कौन कुमति तोहि लागी।
तूं राम न जपहि अभागी ॥ टेक ॥
बेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसें भारा।
रांम नांम तत समझत नांहीं, अंति पड़ै मुखि छारा ॥
वेद पढ्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखै रांमां।
जन्म मरन थैं तौ तूं छूटै, सूफल हूंहि सब कांमां ॥
जीव बधत अरू धरम कहत हौ अधरम कहां है भाई।
आपन तौं मुनिजन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई ॥
नारद कहै व्यास यौं भाषै, सुखदेव पूछौ जाई।
कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ रांम ल्यौं लाई ॥ ३६ ॥

रे अहंमन्य पंडित, तुझे यह क्या दुर्बुद्धि जाग गई है कि तू साम्प्रदायिक मान्यताओं को सत्य समझ कर उनमें फँस गया है। रे अभागे, राम का सच्चा जप क्यों नहीं करता है ? जैसे गधा चन्दन का भार वहन करता है पर उसकी सुगन्धि से अभिभूत नहीं होता, वैसे ही पंडित तू भी वेद और पुराण पढ़ता तो है पर तू राम-नाम के वास्तविक तत्व को तो नहीं समझता है। इसी से अन्त में तेरे मुँह में धूल पड़ेगी। पंडित, वेद पढ़ने का तो वास्तविक परिणाम यह होता है कि मानव सब में भगवान् के दर्शन करने लगता है। इस ज्ञान से तो तू जन्म-मरण से छूट जायेगा और तेरा मानव-जन्म धारण करना ही सफल हो जायेगा। तू जीव की हत्या करता है और उसको धर्म बतलाता है तो भाई, अधर्म कौन-सा है ? इस प्रकार वध करने वाला तू अपने आपको मुनि समझ बैठा है। फिर कसाई किसको कहोगे ? भक्ति और ज्ञान के तत्व का नारद और व्यास इसी प्रकार वर्णन करते हैं। तुम सुखदेव की साक्षी भी ले सकते हो। कबीर कहते हैं कि जीव की दुर्बुद्धि तब छूटती है जब वह भगवान राम में अपना ध्यान लगा लेता है।

(6)

पंडित बाद बदंते झूठा।
रांम कह्यां दुनियां गति पावै, षांड कह्यां मुख मीठा ॥ टेक ॥
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि आई ॥

नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनैं।।
साची प्रीति विषै मायासूँ, हरि भगतनि सूं हासी।
हैं कबीर प्रेम नहिं उपज्यौ, बाँध्यौ जमपुरि जासी।। ४० ।।

पंडित लोग झूठे शास्त्रीय वाद-विवादों में पड़े हुए हैं और वाचिक ज्ञान को ही सब कुछ मान बैठे हैं। अगर ज्ञान और भक्ति से शून्य राम-नाम के उच्चारण मात्र से मुक्ति हो जाती, चीनी कहने मात्र से मुख मीठा हो जाता, अग्नि कहने से ही पैर जल जाते, जल के उच्चारण मात्र से प्यास बुझ जाती, भोजन के कथन मात्र से भूख मिट जाती, तो संसार में कोई भी किसी प्रकार के अभाव से दुःखी ही नहीं होता। सभी लोग इस भवसागर से राम शब्द के उच्चारण मात्र से तर जाते। मनुष्य के साथ अनुकरण से तोता भी रामनाम रटता है, पर वह भगवान् के नाम का प्रभाव नहीं जानता। अगर कभी पिंजड़े से छूट कर जंगल में चला जाता है तो उसे फिर राम-नाम की सुधि भी नहीं जागती। अतः यह ज्ञान और प्रेम से रहित यांत्रिक जप मात्र है। वास्तव में तो ऐसे व्यक्तियों में माया और विषयों के प्रति ही सच्ची आसक्ति है। यह यांत्रिक नाम-स्मरण तो केवल भगवान् के भक्तों का मजाक बनाना है। कबीर कहते हैं कि अगर भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम नहीं उपजा है तो अन्त में अपने कर्मों से बंधे हुए जीव को यमपुर ही जाना पड़ेगा।

टिप्पणी—विचार कई दृष्टान्तों से मूर्त्त हो गया है। ज्ञान और राग से 'राम तत्व' के साक्षात्कार सहित जप ही प्रभावी होता है। यान्त्रिक नाम-स्मरण के ढोंग का खण्डन है।

जौ पैं करता बरण बिचारै।
तौ जनमत तीनि डांडी किन सारै।।टेक।।
उतपति ब्यंद कहाँ थैं आया, जोति धरी अरु लागी माया।
नहिं कोउ ऊंचा नहि कोउ नींचा, जाका प्यंड ताही का सींचा।।
जे तूं बांभन बभनीं जाया, तो आँन बाट ह्वै काहे न आया।
जे तूं तुरक तुरकनीं जाया, तौ भीतरि खतनाँ क्यूं न कराया।।
कहै कबीर मधिम नहिं कोई, सो मधिम जा मुखि रांम न होई।। ४१ ।।

अगर भगवान् को वर्ण-विचार होता तो वे मानव के जन्म से ही तीन विभाजक रेखायें खींच देते। रे वर्णाभिमानी जीव, तुम्हारी उत्पत्ति का बिन्दु अन्यत्र कहाँ से आया है? सब उसी ब्रह्मरूप बिन्दु से उत्पन्न हुए हैं। ज्योंही पंचभूतों का जड़ शरीर चेतन के प्रकाश से प्रकाशवान् हुआ त्यों ही उसे माया ने अपने में लिप्त कर लिया। उत्पत्ति की दृष्टि से सब जीव इस प्रकार समान हैं; न कोई ऊंचा है और न कोई नीचा। जिसने यह शरीर बनाया है; उसी ने इसको सींचा है, पुष्ट किया है।

अगर तुम ब्राह्मणी से उत्पन्न हुए और ब्राह्मण सबसे उच्च कोई जीव है तो फिर जन्म के समय किसी अन्य मार्ग से क्यों नहीं आये ? तू मुसलमान स्त्री से पैदा हुआ और तू मूलतः मुसलमान ही है तो तेरा खतना भीतर पेट में ही क्यों नहीं हो गया ? कबीर कहते हैं कि कोई जन्म से नीचा नहीं है। नीचा वही है जिसके मुख में भगवान् राम का नाम नहीं है।

टिप्पणी—ऊँच-नीच तथा जाति-पाँति की भावना का संत-सम्प्रदाय के तर्कों से खण्डन है। 'हरि को भजै सो हरि का होई' की भावना है।

कथता बकता सुरता सोई।
आप बिचारै सो ग्यांनी होई ॥टेक॥
जैसे अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला।
नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यांन बिचार ॥
देही माटी बोलै पवनां,, बूझि रे ज्ञानी मूबा सू कवनां।
मुई सुरति बाद अहंकार, वह न मुवा जो बोलणहार ॥
जिस कारनि तटि तीरथि जांही, रतन पदारथ घटहीं माहीं।
पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बषांणै, भीतरि हूती बसत न जांणैं ॥
हूं न मूवा मेरी मुई बलाइ, सो न मुवा जो रह्या समाइ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जाता नजरि न आया ॥ ४२ ॥

शास्त्र के वाद-विवाद में पड़कर तथा अन्य सांसारिक कार्यों के बारे में बकते-झकते मानव की अपने स्वरूप की चेतना या स्मृति ही सो गई है। कबीर कहते हैं कि जो ग्रन्थों का पल्ला पकड़ कर ही नहीं रहते, अपितु अपने स्वरूप का स्वयं चिन्तन करते हैं, वे ही ज्ञानी हैं। यह शरीर अग्नि और वायु का सम्मिश्रण है। पवन से जैसे अग्नि प्रज्वलित रहती है, वैसे ही प्राणवायु के कारण इस शरीर में चैतन्य की उष्णता है। यह जगत् भी केवल चंचल एवं चपल बुद्धि की क्रीड़ा मात्र है। इस शरीर के दश द्वार हैं, नौ इन्द्रियों के तथा दसवाँ ब्रह्मरन्ध्र का। रे ज्ञानी, इस तत्त्व का अपने आत्म-चिन्तन से साक्षात्कार कर। यह शरीर तो मिट्टी है, अर्थात् चेतन्य-शून्य जड़ है ही; और जो बोलता है, वह भी वायु है। वह भी स्वयं तो जड़ ही है। रे ज्ञानी, फिर विचार, जिसे मरा हुआ कहते हैं, वह कौन है ? मानव की अन्तर्मुखी वृत्ति, सुरति या स्मृति समाप्त हो जाती है और उसके पीछे जीव का अहंकार भी मर जाता है। पर आत्मा जो द्रष्टा है, शब्द में जिसकी अभिव्यक्ति होती है; बोलती है, और जो वह नहीं मरती, जिस आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति तीर्थों में भटकता है, वह अमूल्य पदार्थ तो प्रत्येक के अन्तःकरण में विराजमान है। पंडित-पढ़कर वेद का उपदेश देता है; पर अपने अन्तर में विराजमान आत्म-तत्त्व को नहीं पहचानता है। कबीर कहते हैं कि मैं नहीं मरा, और न मर सकता हूं। मेरी बलाय मरे। गुरु ने मुझे उस ब्रह्म

तत्त्व के दर्शन करा दिये हैं; जो मर कर कहीं जाता हुआ नहीं दिखाई पड़ता है अर्थात् मरता ही नहीं। अथवा मुझे तो कोई मरता हुआ दिखाई ही नहीं पड़ रहा है। जड़ का मरना क्या ? और चेतन मर नहीं सकता। अतः मृत्यु केवल मिथ्या भ्रम मात्र है।

टिप्पणी—मृत्यु एवं अमरता के तात्त्विक स्वरूप का चित्रण है। इस पद में तथा अन्य कई पदों में मृत्यु के मिथ्यात्व का चित्रण हुआ है। यह वेदान्त की मान्यताओं के अनुरूप है।

हम न मरैं मरिहैं संसारा।
हम कूं मिल्या जियावनहारा ।।टेक।।
अब न मरूं मरनैं मन मांनां, तेई मूए जिनि रांम न जांनां।
साकत मरै संत जन जीवै, भरि भरि राम रसाइण पीवै ।।
हरि मरिहैं तौ हमहूँ मरिहैं, हरि न मरै हंम काहे कूं मरिहैं।
कहैं कबीर मन मनहि मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा ।। ४३ ।।

कबीर कहते हैं कि हम नहीं मरेंगे; यह माया-रूप संसार ही मर जायेगा। हमें तो जिलाने वाला मिल गया है अर्थात् आत्मा के अमरतत्त्व का बोध हो गया है। अब मैं नहीं मरूंगा, क्योंकि मैंने मरने का रहस्य समझ लिया है। वे ही मरे हैं जिन्होंने परमात्मा को नहीं जाना। हरि-विमुख मरते हैं, पर सन्त जन जीवित रहते है और भरपेट भक्तिरस का पान करते रहते हैं। भगवान् मरे तो हम भी मरें। आत्मा और परमात्मा का अभेद है और हरि शाश्वत हैं। अतः आत्मा अमर है, जब भगवान् कभी नहीं मरेंगे तो हम क्यों मरेंगे ? कबीर कहते हैं कि हमने अपने आप को परमतत्त्व में विलीन कर दिया है। अब हम अमर हो गये हैं और हमने आनन्द-सागर प्राप्त कर लिया है।

टिप्पणी—शुद्ध चैतन्य एवं ब्रह्म से अभिन्न जीव की अमरता का प्रतिपादन है। इसी में कबीर की निष्ठा है; अतः वे अन्य संतों से श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार व्यतिरेक की ध्वनि है।

कौंन मरै कौन जनमै आई।
सरग (स्रग) नरक (न्रक) कौने गति पाई ।।टेक।।
पंचतत अबिगत थैं उतपनां, एकैं किया निबासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनैं, रेख रही नहीं आसा ।।
जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहि समांनां, यहु तत कथौ गियानीं ।।
आदैं गगनां अंतैं गगनां मधे गगनां भाई।
कहै कबीर करम किस लागै, झूठी संक उपाई ।। ४४ ।।

कबीर कहते हैं कि यह जन्म-मरण आदि सब मिथ्या है। चैतन्य में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है और चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ है नहीं। कौन मरता है? कौन जन्म लेता है? किसको स्वर्ग-नरक मिलता है? यह सब कथन मात्र है। पंच-तत्त्व अविकारी भगवान् से उत्पन्न होते हैं और उसी एक में निवास करते रहते हैं। वे परम-तत्व से एक बार बिछुड़ कर अर्थात् बिछुड़े हुए प्रतीत होकर पुनः उसी सहज रूप में समा जाते हैं। उनकी पृथकता का न कोई चिह्न रह जाता है और न कोई सम्भावना ही। जैसे जल में घड़ा है और घड़े में जल है। बाहर और भीतर दोनों जगह जल ही जल है। घड़े की उपाधि के समाप्त होने पर जल, जल में समा जाता है। इसमें कुछ नया परिवर्तन नहीं होता है। ज्ञानी लोग संसार के सम्बन्ध में भी मूलतः अपरिवर्तनशीलता एवं विवर्त के सिद्धान्त को ही मानते हैं। संसार के आदि, मध्य और अन्त—तीनों ही अवस्थाओं में आकाश अर्थात् ब्रह्म ही है। इस अविकारी में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। अतः कर्मों का जो स्वयं असत् हैं, किससे सम्बन्ध हो सकता है? अर्थात् किसी से नहीं। जीव को कर्म-सम्बन्ध की केवल झूठी शंका मात्र पैदा हो गई है। मिथ्या प्रतीति मात्र है।

टिप्पणी—'अव्यक्तादिनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भरत।
अव्यक्तानिधनानि एव, तत्र का परिदेवना।'—(गीता)

गीता से साम्य द्रष्टव्य है। द्रष्टान्त अलंकार से ब्रह्म के अविकारी रूप तथा परमार्थतः परिवर्तन का निषेध किया गया है।

कौंन मरैं कहूं पंडित जनां।
सो समझाइ कहौ हम सनां ॥टेक॥
माटी माटी रही समाइ, पवनैं पवन लिया सँगि लाइ।
कहै कबीर सुनि पंडित गुंनी, रूप मूवा सब देखै दुनीं ॥ ४५ ॥

हे पंडित लोगो, हमें समझाकर बताओ कि कौन मरता है। मिट्टी रूप स्थूल शरीर पृथ्वी में समा जाता है। प्राणवायु वायु में लीन हो जाती है। कबीर कहते हैं 'हे पंडितो, केवल यह रूप मर जाता है अर्थात् रूप बदल जाता है। इस तत्व की दुनिया साक्षी है। दुनिया रूप को ही मरते देखती है।'

टिप्पणी—परमार्थतः मृत्यु है ही नहीं।

जे को मरै मरन है मींठा।
गुरु प्रसादि जिनहीं मरि दीठा ॥टेक॥
मूवा करता मुई ज करनीं, मुई नारि सुरति बहु धरनीं ॥
मूवा आपा मूवा मांन, परपंच खेइ मूवा अभिमांन।
रांम रमें रमि जे जन मूये, कहै कबीर अविनासी हूये ॥ ४६ ॥

अगर कोई मरना जानता है अर्थात् सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्य धारण करता है तो उसका अनासक्ति एवं वैराग्य-रूप मरण भी मधुर है। गुरु की कृपा से जिन्होंने मर कर देखा है, इस माधुर्य के लिए उनकी साक्षी है। कर्त्तापन मर जाता है और उसके कार्य भी नष्ट हो जाते हैं। कार्य रहते ही नहीं। मरा हुआ अर्थात् जीवन्मृत व्यक्ति कर्त्तापन एवं आसक्ति को छोड़कर जो कार्य करता है वे ही मृत कर्म हैं। ऐसे व्यक्ति की अनेक प्रकार के रूपों को धारण करने वाली वासना या स्मृति रूप नारी भी मर गई है; अहंकार मर गया है और उनके साथ ही सम्मान की आकांक्षा भी। उसका देहाभिमान सम्पूर्ण विषयों के प्रपंच को साथ लेकर समाप्त हो गया है। जो राम की भक्ति में रमता है और रम कर मर जाता है अर्थात् विषयों के प्रति अनासक्त हो जाता है; कबीर कहते हैं, वह व्यक्ति भगवान् से तदाकार होकर अविनाशी बन जाता है।

टिप्पणी—जीवन्मुक्त अथवा जीवन्मृत का चित्रण है।

जस तूं तस तोहि कोइ न जान।
लोग कहैं सब आनहि आंन ।।टेक।।
चारि बेद चहूँ मत का बिचार, इहि भ्रंमि भूलि पर्यो संसार।
सुरति सुमृति दोइ कौ बिसवास, बाझि पर्यौ सब आसा पास ।।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मैं बपुरौ धूं कामैं काकर।
जिहि तुम्ह तारौ सोइ पैं तिरई, कहै कबीर नांतर बांध्यौ मरइ ।। ४७ ।।

हे भगवान् जैसे तुम हो वैसा तुम्हें कोई जानता नहीं है। तुम्हारे वास्तविक स्वरूप से किसी का भी परिचय नहीं है। वह स्वरूप मन-वाणी से अगम्य है। लोग तुम्हारा स्वरूप से भिन्न कुछ और ही और वर्णन करते हैं। चारों वेदों और सब प्रकार के मत-मतान्तरों के प्रभु-सम्बन्धी विचार भी भगवान् के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं कर पाते हैं। पर संसार उन्हीं के विचारों में भ्रमित होकर भूला हुआ है। श्रुति और स्मृति पर भरोसा करके सारा संसार आशा और मोह के फंदों में फंस गया है अथवा श्रुति और स्मृति दोनों का यही विश्वास है कि सब आशा के फँदों में फंसे हुए हैं। ब्रह्मादिक देवता तथा सनकादिक मुनिजन—सभी वेदादिक की साम्प्रदायिक मान्यताओं में उलझकर भगवान् के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान सके हैं, फिर मेरी तो हस्ती क्या है? मैं बेचारा हूँ ही किस गिनती में? हूँ ही किसका भगवान्, आप अनुग्रह करके जिसका उद्धार करते है वही इस भवसागर से तर सकता है। शेष तो अज्ञान में बँधे हुए ही मरते हैं।

टिप्पणी—'त्रैगुण्यविषयावेदो नैस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' तथा 'यं एषः वृणुते तेनैव लभ्यो' की छाया है। पर कबीर तत्वज्ञान की उस भावभूमि में प्रतिष्ठित नहीं हैं

जिसमें व्यास भगवान् है । उस भूमि को नहीं छू पा रहे हैं । वेदों के प्रति मूलभूत अनास्था एवं उनके विरोध के अहंकार से कबीर मुक्त नहीं हो सके हैं ।

लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद की नंनद, नन्द कहौ धूं काकौं रे
धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यहु नन्द कहाँ थौ रे ।।टेक।।
जांमें मरै न संकटि आवै, नांव निरंजन जाकौ रे।
अबिनासी उपजै नहिं बिनसे, संत सुजस कहैं ताकौं रे ।।
लष चौरासी जीव जंत मैं, भ्रमत भ्रमत नन्द थाकौ रे।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो, भगति (भगत) करै हरि ताकौ रे ।। ४८ ।।

हे लोगो, तुम जो कहते हो कि भगवान् नन्द के पुत्र हैं । फिर बताओ नन्द किसके पुत्र हैं पर जब धरती और आकाश—दोनों ही नहीं थे, उस समय नन्द भी कब थे ? पर भगवान् तो थे ही । भगवान् तो वे हैं जो न जन्म लेते हैं और न मरते हैं । वे कभी ऐसे किसी प्रकार के संकट में नहीं आते हैं । वे क्षय रहित हैं, उनका नाम ही निरंजन (माया से अतीत) है । अविनाशी भगवान् न पैदा होते हैं और न नष्ट होते हैं । सन्त लोग उनका इसी रूप में गुण-गान करते हैं नन्द भगवान् के पिता क्या हो सकते हैं ? नन्द तो स्वयं चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ थक गया है । भक्त कबीर का भगवान् तो ऐसा है जिसकी स्वयं कृष्ण भी भक्ति करते हैं । अथवा भक्त कबीर का स्वामी ऐसा (अनुग्रही) है । भगवान् उसी का है जो उसकी भक्ति करता ।

टिप्पणी—भगवान् को सगुण एवं जन्मादिक सीमा में बद्ध मानने का खण्डन ।

निरगुंण राम जपहु रे भाई ।
अबिगति की गति लखी न जाई ।।टेक।।
चारि बेद जाकै सुम्रित पुरांनां, नौ व्याकरनाँ मरम न जांनां ।।
सेस नाग जाकै गरड़ समांनां, चरन कंवल कंवला नहिं जांनां ।।
कहै कबीर जाकै भेदै नांहीं, निज जन बैठे हरि की छांही ।। ४९ ।।

रे भाई, निर्गुण भगवान् की उपासना करो । अविगत का स्वरूप मन-वाणी से अगम्य है । चारों वेद, स्मृति, पुराण, नौओं व्याकरण—ये सभी शास्त्र उसके वास्तविक स्वरूप का रहस्य नहीं जान सके हैं । शेषनाग भी उनके रहस्य रूपी गरुड़ में समा गये, अर्थात् मुग्ध होकर उस तत्त्व में तन्मय हो गये हैं । वे पृथक् अहं न रहने से उस भगवान् का वर्णन नहीं कर सके है । उनके चरण-कमलों की महिमा स्वयं लक्ष्मी भी नहीं जान सकी हैं । कबीर कहते हैं, भगवान् स्वगत आदि एवं धर्म-सम्प्रदायों की

मान्यताओं के द्वारा जनित सभी प्रकार के भेदों से परे हैं। हिन्दू-मुसलमान आदि सभी भक्तों को उसकी शरण में जाने का समान अधिकार है।

पाठान्तर—'कहै कबीर सो भरमै नाही'।

मैं सबनि मैं और न मैं हूँ सब।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो,
कोई कहौ कबीर कहौ रांम राई हो ।।टेक।।
नां हम बार बूढ नाहीं हमरै चिलकाई हो ।
पठए न जांऊं अरवा नहीं आंऊं, सहजि रहूँ हरिआई हो ।।
वोढन हमरै एक पछेवरा, लोक बोलैं इकलाई हो।
जुलहे तनि बुनि पांनि न पावल, फारि बुनी दस ठांई हो ।।
त्रिगुंण रहित फल रमि हम राखल, तब हमारो नाउं रांम राई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाइ हो ।। ५० ।।

मैं आत्मा के रूप में सब में व्याप्त हूँ। आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है। में अर्थात् आत्मा ही सब कुछ है। इस संसार में मेरी ही अलग-अलग पृथकताएँ है। इस नाना रूपात्मक जगत् में मेरे ही अनेक रूप प्रतिभासित होतें हैं। इस परम-तत्त्व को कबीर अर्थात् भूमा कहता है और कोई राम पर है एक ही। न हम कभी बच्चे रहे हैं और न कभी बूढ़े रहे हैं। हम में कभी यौवन भी नहीं आया। मैं कहीं भेजा नहीं जा सकता हूँ, न ही बुलाने पर मेरा पुरागमन होता है। मैं सहज ही हरा-भरा रहता हूँ, अर्थात् मैं अपने सहज आनन्द एवं प्रसन्न स्वरूप में व्यवस्थित रहता हूँ। हमने उपाधि का सामान्य वस्त्र (पछेवरा) तक नहीं ओढ़ रखा है; पर दुनिया ने हम पर इकलाई ओढ़ने अर्थात् एक की उपाधि का आरोप कर रखा है, (एकेश्वरवाद की ओर संकेत है), आत्मा क्रिया-शून्य, अविकारी शाश्वत एवं अद्वैत है, की व्यंजना है। अथवा हमारे पास ओढ़ने के लिए केवल एक पछेवरा है और लोग कहते हैं कि यह इकलाई है। अर्थात् मैं एक सामान्य उपाधि से उपहित रहता हूँ। वह जगत का व्यवहार चलाने भर के लिए है। उससे मैं आसक्त नहीं हूँ, पर लोग इसको ऐश का वस्त्र समझते हैं और इसके प्रति मुझ में आसक्ति का आरोप कर लेते हैं। जुलाहा रूपी जीवात्मा सांसारिक कार्यों के ताने-बाने से अखण्ड तत्त्व-रूपी थान का साक्षात्कार नहीं कर पाता है, उसका वास्तविक स्वरूप नहीं समझ पाता अतः वह इस तत्त्व का साक्षात्कार इन्द्रियों की उपाधि से दश खण्डों में करता है अर्थात् अखण्ड ज्ञान को खण्डों में विभाजित करके देखता है। वृत्ति खण्ड का ही प्रत्यक्ष कराती है और अज्ञानी को प्रत्येक इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। पर ज्ञान है अखण्ड ही। अर्थात् जुलाहा (जीवात्मा) जीव-रूपी थान को तन बुनकर उसके लिए बाजार या ग्राहक नहीं पा सका अथर्त् जीवन भगवान् को जीवन समर्पित नहीं कर

सका, अतः उस थान को फाड़कर दस टुकड़ों में बुनना पड़। अर्थात् उसे दसों जन्म और ग्रहण करने पड़े। हम त्रिगुणात्मक माया से रहित स्वरूप में रमे हुए हैं, इसलिए हमारा नाम राजा राम है। मैं (अर्थात् आत्मा) इस सम्पूर्ण संसार का द्रष्टा हूँ, पर संसार मुझे (आत्मा को) नहीं देख सकता है। कारण स्पष्ट है। जगत् जड़ है, चेतन नहीं, अतः ज्ञाता नहीं बन सकता। उपाधि-ग्रस्त निरुपाधिक को नहीं देख सकता है। जड़ जगत् उपाधि-ग्रस्त है और ईश्वर निरुपाधिक। इसी ज्ञान की प्राप्ति कबीर की कुछ विशेष उपलब्धि है।

लोका जांनि न भूलौ भाई।
खालिक खलक खलक मैं खालिक, सब घट रह्यौ समाई ॥टेक॥
अल्ला एकं नूर उपनाया, (निपाया) ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थैं सब जग किया, कौन भला कौन मन्दा ॥
ता अल्ला की गति नहिं जांनी, गुरु गुड़ दिया मीठा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहिब दीठा ॥ ५१ ॥

हे दुनियाँ के लोगो, तुम जान-बूझकर भ्रम में मत पड़ो। यह सृष्टि ईश्वर ही है। इस सृष्टि में सृष्टिकर्त्ता ईश्वर ही व्याप्त है। सबके अन्तःकरण एवं कण-कण में भगवान् राम ही व्याप्त है। परम-तत्त्व भगवान् ने एक ज्योति पैदा की है। उस ज्योति की निन्दा कैसी? उसके प्रकाश-रूप चैतन्य से भगवान् ने यह सारा जगत् उत्पन्न किया है। इसमें कौन उत्तम है और कौन अधम है? उस दृष्टि से सब बराबर हैं। उस परमतत्त्व की गति अगम्य है; उसे कोई नहीं जानता है। उसका ज्ञान-स्वरूप मीठा गुड़ गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ है। यह केवल अनुभूति-गम्य है और वाणी से अतीत है। कबीर कहते हैं कि मुझे सर्वत्र भगवान् के दर्शन होने लगे हैं, अतः स्पष्ट है कि मैंने उस पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है।

रांम मोहि तारि कहाँ लै जैहौं।
सौ बैकुंठ कहौ धूँ कैसा, करि पसाव मोहि देहौं ॥टेक॥
जे मेरे जीव दोइ जांनत हौ, तौ मोहि मुकति बताओ।
एकमेक रमि रह्या सबनि मैं, तो काहे भरमावौ ॥
तारण तिरण जबै (तबै) लग कहिये तब (जब) लगतत न जांनां।
एक रांम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मन मांनां ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग है।

हे राम, आप मेरा उद्धार करके मुझे कहाँ ले जायेंगे? मुझ पर अनुग्रह करके जो वैकुण्ठ मुझे देने वाले हैं यह तो बतलाइए कि वह वैकुण्ठ कैसा है? उससे क्या नई उपलब्धि हो रही है? आप मेरी जीवात्मा को अपने से पृथक् कोई दूसरा तत्त्व

समझते हैं तब तो मुझे मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग बतायें और मुक्ति प्रदान करें। पर आप तो सम्पूर्ण विश्व में तथा सभी जीवों में तदाकार होकर रमे हुए हैं। आप स्वयं ही सब आत्माएँ हैं। तो फिर मुक्ति क्या ? और उसकी उपलब्धि क्या ? वह तो आत्मा का स्वरूप ही है और उपलब्धि ही है। फिर मुझे इन मुक्ति आदि शब्दों में क्यों भ्रमित करते हैं ? उद्धार करने वाला, उद्धार एवं उद्धार चाहने वाला—यह भेद तभी तक रहता है जब तक जीव को तत्त्व ज्ञान नहीं होता है। तब कबीर कहते हैं कि मैंने परम तत्त्व को सर्वव्यापी के रूप में देख लिया है और मेरा मन सम्पूर्ण प्रकार के भ्रमों से मुक्त होकर पूर्णतया आश्वस्त हो गया है। अतः मेरे लिए मुक्ति क्या ? मेरे लिए यह नई उपलब्धि नहीं, मैं सदा मुक्त ही हूँ।

टिप्पणी—न परमार्थतः कुछ मुक्ति है और न बन्धन ही, इसी औपनिषदिक तत्त्व का ही प्रतिपादन है।

पाठान्तर—'जउ तुम मोकौं दूरि करत हौ।'

सोहं हंसा एक समान, काया के गुंन आंनहि आंन ॥
माटी एक सकल संसारा, बहु बिधि भांडे घडै कुंभारा ॥
पंच बरन दस दुहिये गाइ, एक दूध देखौ पतिआइ ॥
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभुवननाथ रह्या भरपूरि ॥ ५३ ॥

ईश्वर और जीवात्मा सब शरीरों में एक समान ही है, एक ही तत्त्व है। केवल शरीरों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। इसी से भिन्नता प्रतीत होती है। सम्पूर्ण जगत् में मिट्टी तो एक है, पर कुम्हार उससे बहुत तरह के घड़े तैयार कर लेता है। पांच रंगों की दस गायों का दूध निकालिए। उन सब के दूध एक ही हैं—इसकी परीक्षा के द्वारा आश्वस्त हो सकते हो। कबीर कहते हैं कि इसीलिए मानव को भेद का संशय दूर करके यह विश्वास कर लेना चाहिए कि सम्पूर्ण जगत् में त्रिभुवनपति भगवान् पूर्णतया व्याप्त हैं। वही एक मात्र तत्व है।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार।

प्यारे रांम मनहीं मनां।
कासूं कहूँ कहन कौं नाहीं, दूसर और जानां ।।टेक।।
ज्यूं दरपन प्रतिब्यंब देखिए, जाप दवासूं सोई।
संसौ मिट्यौ एक कौ एकं, महा परलै जब होई ॥
जौ रिझऊं तौ महा कठिन है, बिन रिझयें थैं सब खोटी ॥
कहै कबीर तरक दोइ साधै, ताकी मति है मोटी ॥ ५४ ॥

प्रिय भगवान् की गरिमा एवं महत्व का मैं मन ही मन साक्षात्कार करता हूँ। किससे कहें, यह कथन का विषय ही नहीं है अथवा इस महिमा का वर्णन किससे

किया जाय, दूसरा कोई कहने के लिए है ही नहीं। जैसे दर्पण में प्रतिबिंब देखिए तो अपना ही दूसरा मुख होता है, वैसे ही इस संसार में सब कुछ, भगवान् का अपना प्रतिबिम्ब ही है। ज्यों ही जीव का भ्रम मिट जायेगा और संसार का प्रलय होगा, त्योंही वह एक तत्व अवशिष्ट रह जायेगा। भगवान् पर अनुरक्त होऊँ, उनसे तादात्म्य स्थापित करूँ उन्हें प्रसन्न करूँ, यह तो महा कठिन है। पर भगवान् से प्रेम न करके व्यक्ति पृथकता का ही अनुभव करता रहे, अथवा भगवान् को न रिझाये [उन्हें प्रसन्न किये बिना] तो उसका सारा जीवन ही व्यर्थ है। कबीर कहते हैं कि जो द्वैत को सिद्ध करना चाहते हैं और उसी में विश्वास करते हैं; उनकी बुद्धि ही स्थूल है।

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

हंम तौ एक एक करि जांनां।
दोइ कहै तिनहीं कौ दोजग, जिन नाहिन पहिचांनां ।।टेक।।
एकै पवन एक ही पांनीं, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़ सब भाड़े, एक ही सिरजनहारा ।।
जैसें बाढ़ीं काष्ट ही कटै, अगिनि न काटे कोई।
सब घटि अंतरि तूंहीं व्यापक, धरै सरूपैं सोई ।।
माया मोहे अर्थ देखि करि, काहे कूं गरबांनां ।।
निरभैं भया कछू नहीं व्यापै, कहै कबीर दिवांनां ।। ५५ ।।

हमने तो अच्छी प्रकार से विश्लेषण करके समझ लिया है कि परमार्थ रूप में केवल एक ब्रह्म है। अथवा हमने परम-तत्त्व को एक ही करके समझा है जो व्यक्ति द्वैत की बात करते हैं उन्हीं के लिए द्विविधा है। दो अलग-अलग संसार हैं; ईश्वर और ब्रह्म का अलग तथा जीव का अलग। अथवा वे ही नरक के भागी होते हैं। उन्होंने परम-तत्त्व को पहचाना ही नहीं। एक ही पवन है; एक ही जल है। सम्पूर्ण विश्व में एक ही ज्योति व्याप्त है। एक ही मिट्टी से सम्पूर्ण घड़े बनाए गए हैं। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् की वस्तुएँ एक उत्पादन कारण के ही विभिन्न रूप हैं, वह भिन्नता की प्रतीति मात्र है। इस विश्व का स्रष्टा ही एक है। इस विश्व में नाश आदि के रूप में जो परिवर्तन दिखाई दे रहा है; वह केवल जड़ में है, चेतन में नहीं। बढ़ई वन के काठ को काटता है, अग्नि को नहीं काट सकता है। काठ के संसर्ग से अग्नि कटती हुई प्रतीत होती है। वैसे ही शरीर के संसर्ग से चेतन में नाश आदि परिवर्तनों की प्रतीति मात्र होती है। सम्पूर्ण अन्तःकरणों एवं कण-कण में तू ही व्याप्त है और तुम्हीं ने ये सारे रूप धारण किए हैं इस विषय जगत् को देखकर जीव माया में मोहित हो जाता है। इस नश्वर ऐश्वर्य पर वह क्यों गर्व करता है? भगवान् के प्रेम में मस्त हुआ कबीर कहता है कि द्वैत से ऊपर उठे हुए निर्भय जीव को किसी प्रकार का मोह नहीं व्यापता है।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार । मूल तत्त्व अपरिवर्तनशील है; परिवर्तन केवल बाह्य प्रतीति मात्र है तथा मूल तत्त्व के सर्व व्यापित्व के रागात्मक प्रत्यक्ष की व्यंजना है ।

अरे भाई दोइ कहाँ सो मोहि बतावौ ।
बिचिही मरम का भेद लगावौ ।।टेक।।
जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं, दीन एक बीच भई करनीं ।।
रांम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई ।।
कहै कबीर चेतहु रे भौंदू, बोलनहारा तुरक न हिन्दू ।। ५६ ।।

कबीर कहते हैं, अरे, दो कहाँ हैं ? मुझे समझाओ परम तत्त्व एक है । परम तत्त्व और अपने बीच में तुम भेद दिखाने वाला भ्रम पैदा कर रहे हो । इसी से द्वैत की प्रतीति हो रही है । जिससे उत्पन्न किया है; क्या उसने दो पृथ्वी बनाई हैं ? धर्म मूलतः एक है ? सब का साध्य एक ही है । पर विभिन्न प्रकार की आचरण-पद्धतियों ने धर्म के मूल स्वरूप को आवृत्त करके मजहब भेद किया है । इन धर्मावलम्बियों के ध्यान में से उपास्य राम और रहीम तो ओझल हो गये तथा और तसबी के बाह्य भेदों पर उनकी दृष्टि जम गई । कबीर कहते हैं 'रे मूर्ख' सावधान होकर समझ । यह बोलने वाला चेतन न हिन्दू है और तुर्क ।

टिप्पणी—'धर्म' और उपास्य के पारमार्थिक स्वरूप को पहचानने पर भेद-बुद्धि नहीं जागती । पर अधिकारी भेद से गृहीत धर्म की साधनाओं एवं उपास्य के बाह्य-स्वरूप-भेदों को ही सत्य मानने से साम्प्रदायिक एवं मजहबी भेद पैदा होते हैं । कबीर ने ठोस दार्शनिक आधारों पर धर्म-तत्त्व का विवेचन तथा इस मजहबी भावना का खण्डन किया है ।

ऐसा भेद बिगूचनि भारी ।
बेद कतेब दीन अरू दुनियां, कौन पुरिष कौन नारी ।।टेक।।
एक बूंद एकै मल-मूतर, एक चांम एक गूदा ।
एक जोति थैं सब उतपनां, कौन बांम्हन कौन सूदा ।।
माटी का प्यंड सहजि उतपनां, नाद रु ब्यंद समांनां ।
बिनसि गयां थैं का नांव धरिहौं, पढ़िगुनि भ्रंस मरम न जांनां ।।
रज-गुन ब्रह्मा तम-गुन संकर, सत-गुन हरि है सोई ।
कहै कबीर एक रांम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई ।। ५७ ।।

कबीर कहते कि हैं द्वैतभाव अथवा भेद-बुद्धि अत्यधिक उलझन पैदा करने वाली है । यह वास्तविकता को दबाने वाली हैं । इसने वेद और कुरान में, विभिन्न धर्मों में एवं दुनिया के विभिन्न रूपों में भेद पैदा कर दिया है । कौन पुरुष है और कौन नारी

है ? सब जीव समान हैं। सब एक पिता की बूँद से पैदा हुए हैं। सब में एक ही मल-मूत्र हैं। एक ही चर्म और मांस है। एक ही चेतन की ज्योति से सब उत्पन्न हुए हैं। इसलिए कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र है ? यह मिट्टी का पाञ्चभौतिक पिण्ड (शरीर) सहज चेतन से ही पैदा हुआ है और नाद जीव और बिंदु (सूक्ष्म शरीर) में समाहित है। जब इस शरीर का नाश हो जायेगा तब इसका क्या नाम रखोगे ? जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसका नाम भी कैसा ? उसके बाद केवल आत्मा अवशिष्ट रह जायेगी, जिसके विभिन्न नाम नहीं होंगे। यदि विभिन्न नाम होते तो भेद माना जाता। शास्त्रों के पढ़ने तथा मनन करने से इसका ज्ञान हो जायेगा यह भेद भ्रम है, अथवा शास्त्रादि के पढ़ने पर भी तुम्हें इस भेद का रहस्य नहीं समझ आया। ब्रह्मा, विष्णु आदि भी केवल उपाधि के भेदों से ही भिन्न हैं रजोगुण में वही तत्त्व ब्रह्मा, तमोगुण में शंकर और सतोगुण में विष्णु है। इसलिए कबीर कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान का कोई तात्त्विक अन्तर नहीं होता है। जीव को अपने मंगल के लिए मजहबी भेदों से ऊपर उठकर राम (परम तत्त्व) का ही भजन करना चाहिए।

हंमारै रांम रहीमां करीमा केसो, अलह रामसति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और नदूजा कोई॥ टेक॥
इनकै काजी मुल्लां पीर पैकंबर, रोजा पछिम निवाज।
इनकै पूरबदिसा देव द्विज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा॥
तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दहुठां रांम खुराई।
जहाँ मसीति देहुरै नांहीं, तहां काकी ठकुराई॥
हिन्दू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटि अरू कनराई।
अरध उरध दसहूं दिस जित तित, पूरि रह्या रांम राई॥
कहै कबीरा दास कबीरा, अपनीं रहि चलि भाई।
हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जई॥ ५८॥

कबीर कहते हैं कि हमें तो रहीम, करीम, केशव, अल्लाह आदि सभी सत् रूप राम ही लगते हैं। जिबह की भावना को हटाकर विश्वभर (विश्व का भरण-पोषण करने वाला) की भावना के साथ तादात्म्य करो। अथवा संसार की उत्पत्ति के सूत्र को हटाकर देखो, एक मात्र विश्वम्भर-रूप परम तत्व अवशिष्ट रह जाता है। विश्व में कोई दूसरा है ही नहीं। इन सम्प्रदायों के कारण ही भेद जाग जाता है। मुसलमानों की काजी, मुल्ला, पीर, पैगम्बर, रोजा रखना पश्चिम की ओर नमाज पढ़ना, आदि में आस्था है। दूसरी ओर हिन्दुओं में पूर्व दिशा की ओर देवता और ब्राह्मण की पूजा, एकादशी के व्रत तथा गंगा आदि के स्थान में ही धर्म-बुद्धि है। मुसलमान ने मस्जिद में ही तथा हिन्दुओं ने मन्दिर में ही खुदा और राम को देखा है। पर जहाँ

न मंदिर है और न मस्जिद है; वहाँ पर कौन देवता का स्वामित्व है। इस प्रकार दोनों ने भगवान् को अत्यधिक सीमित करके देखा है। हिन्दू और मुसलमान—दोनों का पारस्परिक विश्वास टूट गया है और वे एक-दूसरे से पृथकता का अनुभव करने लगे हैं अथवा दोनों ही वास्तविक मार्ग से हट गए हैं। वास्तव में ऊपर-नीचे दशों-दिशाओं में यहाँ-वहाँ सर्वत्र ही वह परम-तत्त्व समाया हुआ है। कबीर कहते हैं कि भक्त फकीर, तू अपनी भक्ति और अपने अभेद-मार्ग पर चल। हिन्दू और मुसलमानों—दोनों का एक ही स्रष्टा है, उसकी महिमा अपार है, वह बुद्धि से अतीत है।

काजी कौन कतेब बषांनैं।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जांनैं ॥टेक॥
सकति से नेह पकरि करि सुनति, यहु न बदूं रे भाई।
जौ र खुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई ॥
हौं तो तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा (तातै) 'हिन्दू रहिये ॥
छाड़ि कतेव रांम कहि काजी, खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झषमारी ॥ ५६ ॥

कबीर कहते हैं, "रे काजी किस कुरान का बखान करता है? इस कुरान को पढ़ते-पढ़ते कितने दिन हो गए हैं, पर उस एक तत्त्व के स्वरूप का ज्ञान तुमको नहीं हुआ। शक्ति अथवा स्नेह के बन्धन में डाल कर सुन्नत कर देने से मैं इसकी महिमा का कायल नहीं हो सकता। अर्थात् यह नहीं मान सकता कि मुसलमान मूलतः खुदा का बनाया हुआ है। अगर खुदा ही मुझे तुर्क बनाता तो सुन्नत अपने आप प्रकृति के द्वारा ही हो जाती। मैं तो पुरुष हूँ, इसलिए मुझे सुन्नत के द्वारा मुसलमान बना भी लिया गया। पर खतने के अभाव में औरतों के मुसलमान होने का क्या आधार है? पुरुष तो अर्द्ध नारीश्वर है, उसका आधा अंग नारी तो उससे पृथक हो नहीं सकता है, अतः वह आधा हिन्दू तो रहेगा ही। हे काजी, तू इस किताब के अन्ध- [illegible]स को छोड़कर भगवान् राम का भजन कर। तू सुन्नतें करके बहुत खून करता है। इस अन्धविश्वास में काजी तो झख मार रहा है, पर कबीर ने तो भगवान् की भक्ति का आश्रय ले लिया है।

टिप्पणी—'सुन्नत' का अपने साथ सम्बन्ध स्थापित किया देखकर कुछ विचारक कबीर के मुसलमान होने के अनुमान की पुष्टि समझते हैं; पर वास्तव में यह इससे उल्टा है। 'आधा हिन्दू रहिए' से कबीर के हिन्दू होने की पुष्टि अधिक है। भक्ति और दर्शन आदि के अन्य निर्णायक प्रमाणों से भी वह स्पष्ट है।

मुलां कहां पुकारै दूरि,
रांम रहीम रह्या भरपूरि ।।टेक।।
यह तौ अलह गूंगा नांहीं, देखै खलक दुनीं दिल मांहीं।
हरि गुंन गाइ बंग मैं दीन्हां काम क्रोध दोऊ बिसलम कीन्हां ।।
कहै कबीर यह मुलना झूठा, रांम रहीम सबनि मैं दीठा ।। ६० ।।

रे मुल्ला, तू खुदा को दूर से क्या बुला रहा है ? राम और खुदा तो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। भगवान गूँगा नहीं है। वह दूर ही होता तो मुल्ला, तुम्हारी आवाज पर बोल जाता। सम्पूर्ण सृष्टि, सारी दुनियां ही उसे अपने अन्तःकरण में देख ले। मैंने तो भगवान् के गुणगान की 'बांग' दी है और अपने काम-क्रोधादिक की 'जिबह' की है। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार मुझे तो मुल्ला की किताब का उपदेश झूठा लगता है कि अल्लाह सातवें आसमान में है मैंने तो राम और रहीम के सर्वत्र ही दर्शन किए हैं।

पढ़ि ले काजी बंग निवाजा ।
एक मसीत दसौं दरवाजा ।।टेक।।
मन करि मका कबिला करि देही, बोलनहार जगत गुर येही।
उहां न दोजग भिस्त मुकांमां, इहां हीं रांम इहां रहिमांनां ।।
बिसमल तांमस भरम कंदूरी, पंचूं भषि ज्यूं होइ सबूरी।
कहै कबीर मैं भया दिवांनां, मनवां मुसि मुसि सहजि समांनां ।। ६१ ।।

रे काजी, तुम्हारे इस शरीर रूपी मस्जिद के इन्द्रियों और ब्रह्मरन्ध्र के दसों दरवाजे हैं। काल उनमें से किसी भी दरवाजे से घुसकर आक्रमण कर सकता है। अतः तू जल्दी नमाज पढ़ ले, भगवान् की आराधना कर ले। इन दसों दरवाजों से उस भगवान् को पुकार। अपने मन को मक्का तथा शरीर को कबला बना ले। तुम्हारे में जो चेतन बोल रहा है वही वास्तव में सम्पूर्ण जगत् का गुरु है। अन्तरात्मा ही भगवान् को वास्तविक एवं प्रभावोत्पादक उपदेश देने में सक्षम है। इस जगत् से परे कहीं भी स्वर्ग-नरक नहीं हैं। यहीं पर राम है और यहीं पर रहीम है। जिब्ह करना धर्म है, यह भावना तमोगुण है, यह भ्रम है, मन का मैल है या जिब्ह करना तामसिक है। उसको धर्म मानना भ्रम है, वह मन का मैलापन है। इन्द्रियों के स्वाद के लिए तुम्हें यह जिब्ह करनी पड़ती है। तुम अपनी इन इन्द्रियों की विषय-वासनाओं को ही खाकर मिटा दो अथवा काम-क्रोधादिक पाँचों विकारों को ही खा जाओ ताकि तुम्हें शान्ति प्राप्त हो सके। कबीर कहते हैं कि मैं तो भगवान् के प्रेम में पागल हो गया हूँ, और मेरा मन चुपके से अथवा संकुचित होता हुआ आत्मा के सहज स्वरूप में विलीन हो गया है। अब जिब्ह आदि मजहब के बाह्याचरणों में मेरा विश्वास नहीं रह गया है।

मुलां करि ल्यौ न्याव खुदाई।
इहि बिधि जींव का भरम न जाई ॥टेक॥
सरजीव आंनैं देह बिनासै, माटी बिसमल कीता।
जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता॥
बेद कतेब कहौ क्यूं झूठा, झूठा जो न बिचारै।
सब घटि एक-एक करि जांनैं, तो भीं दूजा करि मारै॥
कूकड़ी मारै बकरी मारै, हक-हक करि बोलै॥
सबै जीव सांईं के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै॥
दिल नहीं पाक-पाक नहीं चींन्हां, उसदा षोज न जांनां।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दोजग ही मन मांनां॥ ६२॥

रे मुल्ला, इन बाह्याचारों में जीवन की सार्थकता नहीं है, इस सम्बन्ध में तू वास्तविक एवं ईश्वरीय न्याय पर टिक। पक्षपात की दृष्टि छोड़। इस प्रकार के बाह्याचारों के प्रति आग्रह से जीव का भ्रम नहीं नष्ट होता। तुम जीवित प्राणी को लाते हो और उसका देह नष्ट करते हो। इस प्रकार उसकी चेतन-हीन मिट्टी का जिब्ह करते हो। ऐसे हलाल करके तुम जीव के ज्योति-स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सके। फिर उसकी मिट्टी का जिब्ह करके तुमने क्या वलिदान किया? वेद और कुरान झूठा नहीं है; अर्थात् वह झूठा है जिसने उनके वास्तविक रहस्य का साक्षात्कार नहीं किया। उनके उपदेश से तुमने घट-घट में उसी भगवान् का बौद्धिक साक्षात्कार तो किया पर तुम्हारे अन्तःकरण में द्वैत की प्रतिष्ठा रही। इसी से व्यवहार में जीव को दूसरा समझ कर मार देते हो। तुम मुर्गी मारते हो, बकरी मारते हो। इसको अपना धर्म और अधिकार समझते हो। पर सभी जीव भगवान् के प्रिय हैं। अतः क्या कहकर उनके मारने के पाप से बच सकोगे? तुम्हारा हृदय पवित्र नहीं है। तुम उस परम पवित्र को नहीं पहचान सके; उस परमतत्त्व को नहीं ढूंढ़ सके। तुमने स्वर्ग का मार्ग छोड़ दिया और नरक में ही तुम्हारा मन रम गया।

या करीम बलि हिकमति तेरी।
खाक एक सूरति बहुतेरी ॥टेक॥
अर्ध गगन में नीर जमाया, बहुत भांति करि नूर निपाया।
अवलिय-आदम-पीर-मुलांनां, तेरी सिफति करि भये दिवांनां॥
कहै कबीर यहु हेत बिचारा, या रब या रब यार हमारा॥ ६३॥

हे प्रभु, मैं तुम्हारी इस शक्ति पर बलिहारी हूं। मिट्टी एक है, पर उससे तने

अनेक शकलें बना दी हैं; अथवा एक ही मिट्टी के अनेक रूप तेरे ही हैं। तूने आधे आकाश में अर्थात् अधर आकाश में ही मेघ-खण्डों में पानी जमा दिया है। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार से तेरी शक्ति के दर्शन होते हैं। नक्षत्रादिक के रूप में अनेक प्रकार के आकाश-स्तम्भ तूने ही बनाए हैं। औलिया, आदम, पीर और मुल्ला तुम्हारा ही गुणगान करके मस्त हो गए हैं। कबीर कहते हैं कि यह पालनकर्त्ता प्रभु हमारा ही परम मित्र है, इसी भावना को पुष्ट करने में ही मैंने अपना मंगल समझा है।

टिप्पणी—'बहुतेरो' में सभंगपद श्लेष है। 'अबलि' पाठ भी मिलता है उसका अर्थ है 'सर्वप्रथम'।

काहे री नलनीं तूं कुम्हिलांनी।
तेरै ही नालि सरोवर पांनी ।।टेक।।
जब मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलनीं तोर निवास ।।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि ।।
कहै कबीर जे उदिक समांन, ते नहीं मूए हमारै जान ।। ६४ ।।

रे कमलिनी, तू कैसे मुरझा गई है। तेरा नाल (जड़) सरोवर के पानी में है। अथवा तेरे चारों और तो सरोवर का जल भरा हुआ है, जहाँ से हमेशा तुझे सरसता मिलती रहती है। कमलिनी, तेरी उत्पत्ति भी जल में ही होती है और तेरा पर्यवसान भी जल में ही होता है। तेरा निवास ही जल में है। न तो तेरी जड़ों में कहीं तपन है और न तेरे ऊपर ही कहीं आग है। फिर यह मुरझा देने वाली आग तुम्हें कहाँ से लग गई है ? अथवा तुम्हारा किससे प्रेम हो गया है, जिससे तुम्हें यह आग गई है। कबीर कहते हैं जो निरन्तर जल के समान शीतल एवं शान्त रहते हैं, वे हमारे विचार से, कभी मरते ही नहीं हैं।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' अलंकार।

कमलिनी जीवात्मा का प्रतीक है और 'जल' परम ब्रह्म का। जीवात्मा मूलतः आनन्द स्वरूप है, यही 'तेरे ही नाल सरोवर पानी' है। जीवात्मा की उत्पत्ति परम-ब्रह्म से है; वह निरन्तर उस परम-तत्त्व में ही अवस्थित रहती है और अन्त में अपने जीव भाव की मुक्ति पर भो उसी में समाहित हो जाती है। यही उसकी उत्पत्ति 'वास' और 'निवास' का अभिप्राय है। परमब्रह्म आनन्द-स्वरूप है। दुःख से उसका किसी काल में भी स्पर्श नहीं है। जीवात्मा की उत्पत्ति आदि केवल कल्पना है, विवर्त है। अतः आत्मा शाश्वत-आनन्द-स्वरूप ही है। तीनों ही कालों में उसका भी दुःख से कभी संस्पर्श नहीं होता है। इसी से 'काहे कुम्हिलानी' से आश्चर्य एवं जीवात्मा के दुःखी होने का मिथ्यात्व व्यंजित है। आत्मा का मूल स्वरूप आनन्दमय है तथा ऊपर की अर्थात् माया की आग भी उसे स्पर्श नहीं कर सकती है, अतः 'न तलि तपति न ऊपरि आग' कहा गया है। जीव की दुःखानुभूति पारमार्थिक नहीं है। यह केवल भ्रम जनित है, अतः मिथ्या है। अथवा जीवात्मा का प्रेम परमेश्वर से न होकर

विषयों से आसक्ति हो गई है, इसी से उसे दुःख की अनुभूति होती है। पर वस्तुतः आत्मा मरणादिक विकारों से सर्वथा मुक्त है, यही व्यंजना है। मरणादिक से सर्वथा मुक्ति का ज्ञान उसी जीवात्मा को होता है जो परमात्मा-रूपी जल के समान शांत एवं माया से असम्पृक्त है तथा आनन्द-स्वरूप से प्रतिष्ठित रहती है, यही 'उदिक समान' है, इसमें अनुभूतिमय या रागमय तत्त्वज्ञान की व्यंजना है। इससे ज्ञान और भक्ति का समन्वय हो गया है।

इब तूं ही स प्रभु मैं कुछ नाहीं।
पंडित पढ़ि अभिमांन नसांहीं ।।टेक।।
मैं मैं मैं जब लग मैं कीन्हा, तब लग मै करता नहीं चीन्हां।
कहै कबीर सुनहु नरनाहा, नां हम जीवत न मूंवाले माहा ।। ६५ ।।

कबीर कहते हैं कि तत्त्वज्ञान के बाद ऐसा प्रतीत होने लगा कि "हे भगवान्, तू ही सब कुछ है और 'मैं' के अहंकार वाला जीव कुछ भी नहीं। पंडित इस ज्ञान को पढ़कर अपना अहंकार नष्ट करते हैं।" कबीर करते हैं कि जब तक 'मैं' 'मैं' करता रहा अर्थात् अपने 'अहं' की पृथकता में डूबा रहा, तब तक मैं सृष्टिकर्त्ता भगवान् को नहीं पहचान पाया। ईश्वर ही एकमात्र तत्त्व है, इसका मुझे बोध नहीं हो सका। हे मनुष्यों में श्रेष्ठ संतो, इस ज्ञान के बाद मुझे प्रतीत होता है कि न तो मैं संसार का वासना सहित-उपभोग करने रूप जीवन को धारण किये हूँ अर्थात् जीवित हूँ और न संसार की दृष्टि से मृत ही हूँ, क्योंकि मैं जगत् का व्यवहार करता हुआ प्रतीत होता हूँ। इस प्रकार सांसारिक दृष्टि से न मैं जीवित हूँ और न मृत ही। मैं वस्तुतः ज्ञान के कारण जीवन्मृत हो गया हूँ।

अब का डरौं डर डरिहि समांनां।
जब थैं मोर तोर पहिचांनां ।।टेक।।
जब लग मोर तोर करि लन्हा, भै भै जनमि जनमि दुख दीन्हा।
आगम निगम एक करि जांनां, ते मनवां मन मांहि समांनां ।।
जब लग ऊंच नीच करि जांनां, ते पसुवा भूले भ्रंम नांनां।
कहि कबीर मैं मेरी खोई, तबहि रांम अवर नहीं कोई ।। ६६ ।।

कबीर कहते हैं कि तत्त्वज्ञान के बाद मुझ में भय कहाँ है ? किससे भय हो ? जब से मैंने अपना तथा जगत् का स्वरूप पहचान लिया है, जब से मुझे अहं और पर के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार हो गया है तब से भय भय में ही, अर्थात् 'भयं भयानाम्' रूप ईश्वर में ही समाहित होकर समाप्त हो गया है। 'पर' अर्थात् दूसरा कुछ है नहीं तथा अपने स्वरूप से भय होता नहीं। अतः भ्रम मिथ्या है। ज्ञान के बाद मिथ्या अपने आप में ही विलीन हो जाता है। कबीर कहते हैं कि तब तक मैं

अहं और पर के भेद में भटकता रहा, तब तक जन्म-जन्मान्तर में उत्पन्न हो-हो कर दुःख पाता रहा। पर जब वेद और शास्त्र के प्रतिपाद्य में समन्वय करके मैंने उस अभेद-तत्त्व को समझ लिया है, तब यह संकल्पों में भटकने वाला मन उस परम तत्त्व में समा गया अथवा मन का संकल्पात्मक रूप अपने मूल स्वरूप में ही समाहित हो गया। जब तक जिन जीवों में ऊँच-नीच का मोह भाव बना रहा, तब तक वे पशु-जीव अर्थात् अज्ञानी एवं बद्ध-जीव नाना प्रकार के भ्रमों में भटकते रहे। कबीर कहते हैं कि जब मैंने अहंता और ममता को समाप्त कर दिया; तभी मेरे लिए केवल राम ही रह गए और अन्य कुछ भी नहीं रहा।

बोलनां का कहिये रे भाई।
बोलत बोलत तत नसाई ॥टेक॥
बोलत बोलत बढ़ै बिकारा, बिन बोल्यां क्यूं होइ बिचारा।
संत मिलै कछु कहिये कहिये, मिलै असंत मष्टि करि रहिये ॥
ग्यांनीं सूं बौल्यां हितकारी, मूरखि सूं बोल्यां झषमारी।
कहै कबीर आधा घघ डोलै, भर्या होइ तौ मुंषा न बोलै ॥ ६७ ॥

रे भाई, बोलने की क्या ही करामात है? उसका क्या वर्णन करूँ? बोलते-बोलते मूल तत्त्व ही आवृत्त हो जाता है। उसका वास्तविक ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा उपाधि का ही ज्ञान सत्य प्रतीत होने लगता है। बोलना नाम रूप के अभिधेयत्व से मूल वस्तु को आवृत्त करना ही है। उपाधि को सत्य-सत्य प्रतीत कराने के कारण बोलते-बोलते विकार में वृद्धि होती है। पर अगर वस्तु के बारे में कहे-सुने नहीं तो चिंतन कैसे सम्भव है? अगर संत से भेंट हो तो अवश्य विचार-विमर्श करना चाहिए। पर अगर असंत मिले तो चुप्पी ही ठीक है। ज्ञानी से बातचीत करना मंगलमय है और अज्ञानी से बोलना—झख मारना है। कबीर कहते हैं कि जल से आधा भरा हुआ घड़ा आवाज करता है, पर पूरा भरा हुआ शब्द-शून्य हो जाता है। अधूरा ज्ञानी ज्ञान की बक-झक करता रहता है, पर पूर्ण ज्ञानी तत्त्व का साक्षात्कार करके, उस तत्त्व में तन्मय होकर मौन हो जाता है। तत्त्व 'अवाङ्मन-सगोचर' है, अतः उस तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ कहते नहीं बनता। वह तत्त्व मौन से ही प्रकट होता है।

टिप्पणी—शांकर वेदान्त तत्त्व को मौन से प्रकट मानता है।

बागड़ देस लूवनका घर है।
तहां जिनि जाइ दाझन का डर है ॥ टेक ॥
सब जग देखौं कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत अबीरा ॥
न तहां सरवर न तहां पांणी, न तहां सतगुरु साधू-बांणी ॥
न तहां कोकिल न तहां सूवा, ऊंचें चढ़ि-चढ़ि हंसा मूवा ॥

देस मालवा गहर गंभीर, डग-डग रोटी पग पग नीर ॥
कहैं कबीर घरहीं मन मांनां, गूंगै का गुड़ गूँ जांना ॥ ६८ ॥

यह बांगर प्रदेश लू की लपटों से भरा पूरा है। वहाँ मत जाओ। वहाँ पर झुलस जाने का भय है। मैंने यह सारा प्रदेश घूम कर देख लिया है; इसमें कोई भी धैर्यशाली नहीं है। यहाँ सिर पर धूल पड़ती है; पर लोग उसे अबीर मान लेते हैं। इस प्रदेश में न कोई तालाब है और न कहीं शीतल जल है। यहाँ सद्गुरु भी नहीं है और साधुओं के उपदेश भी नहीं मिलते। न वहाँ पर कोकिल है और न सूआ ही। यहाँ पर गर्मी से बचने तथा शीतलता प्राप्त करने के लिए हंस ऊँचा चढ़-चढ़ कर भी निराश हो गया है, कहीं भो कोई शीतल सरोवर नहीं दिखाई पड़ता है।

मालवा देश पर्याप्त जल एवं गहरी हरियाली से परिपूर्ण है। वहाँ पर पद-पद पर रोटी और पानी सहज उपलब्धि हैं। कबीर कहते हैं; "पर मेरा मन तो अपने घर में रम गया है। इस आनन्द को मैंने गूंगे का गुड़ समझा है जो शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है।"

टिप्पणी—समासोक्ति।

यहाँ पर देश वर्णन एवं स्वदेश प्रेम की अपेक्षा साधना पक्ष अधिक व्यंजित है। 'बागड़ देश' वासना के प्रदेश का या बहिर्जगत् का प्रतीक है तथा 'मालव' साधना और भक्ति का या अन्तर्जगत् का। 'घर ही मन मांना' सहज-ज्ञान से सहज-स्वरूप की स्थिति की व्यंजना है। 'लू' वासना की तप्त लहर है। उसका ही ताप 'दाझन' है। इस वासना के प्रदेश में अन्तःकरण को शीतलता प्रदान करने वाले साधकों, सन्तों एवं सद्गुरुओं का अभाव है। सद्गुरु और साधु के उपदेशों का यहाँ कोई प्रभाव भी नहीं पड़ता है। यहाँ पर भगवान् का गुणगान करने वाली कोकिल और नाम-स्मरण करने वाले तोते का भी अभाव है। विवेकी और साधक जीव-रूपी हंस प्रयास करने पर भी अपने अनुरूप मनःस्थिति प्राप्त करने में असफल हो गया है। भक्ति के प्रतीक 'मालवे' में जीवन के आनन्द भी हैं और साथ ही मन को ईश्वर-प्रति से शीतलता प्रदान करने वाला भक्ति-नीर भी। 'घर ही मन मांना' में तो स्वरूप-स्थिति है अतः उसमें ज्ञान, भक्ति और साधना—सभी से प्राप्त होने वाले तथा उनसे भी अतीत शुद्ध आनन्द की अनुभूति है। वही गूंगे का गुण है।

अवधू जोगी जग थै न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति कर सींगी, नाद न पंडै धारा ॥टेक॥
बसै गगन मैं दुनीं न देखै, चेतन चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहीं छाड़ै, पीवै महारस मींठा।
परगट कंथा, मांहैं जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।
सहंस इकीस छ-सै धागा, निहचल नाकै पोवै ॥

ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै ।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहस सुंनि ल्यौ लागै ॥ ६६ ॥

कबीर कहते हैं कि यह अवधू योगी संसार से विलक्षण है । यह मुद्रा, शृंगी आदि बाह्य उपकरणों को महत्त्व नहीं देता । ध्यान-योग से प्राप्त निरति की अवस्था ही इसकी मुद्रा है और सुरति ही सींगी है । इसकी सींगी का नाद (शब्द) अथवा नाद-श्रवक ज्ञान और साधना से प्राप्त स्वरूप-स्थिति की चैतन्य-धारा को काटता नहीं । यह योगी ध्यान-योग और ज्ञान-योग से गगन-अवस्था में प्रतिष्ठित रहता है और संसार की विषय-वासनाओं की ओर ध्यान भी नहीं देता है । वह चैतन्य की चौकी पर अर्थात् अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है । शून्य-शिखर पर एक बार चढ़कर वहाँ से यह अपना आसन नहीं छोड़ता है अर्थात् उस अवस्था से नीचे संसार की ओर नहीं आता है, वहीं पर अवस्थित रहकर यह योगी ब्रह्म-रन्ध्र से टपकने वाले अमृत रस का पान करता रहता है । प्रकट रूप में कंथा पहने रहता है पर अन्दर से वह जोगी है । अर्थात् वेश तो बनाए हुए है; पर वस्तुतः उनकी अन्तरात्मा वेश आदि से पृथक् एवं विरक्त है । यह अवधू अपने हृदय के दर्पण में उस परमतत्त्व के बिम्ब को देखता रहता है । इक्कीस हजार और छह सौ श्वासों रूपी धागों को निश्चल होकर कुम्भक प्राणायाम के नाके में (सूई के छिद्र में) पिरोता रहता है; अर्थात् अपनी प्राणवायु को सूक्ष्म बनाकर नासिका के अन्दर ही कुम्भक अवस्था के भीतर ही संचरण कराता रहता है । वह ज्ञान की अग्नि में अपने शरीर अर्थात् विषय-वासनाओं को भस्म करता रहता है । यह त्रिकुटि अर्थात् त्रिवेणी अथवा ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच कर निरन्तर परम चैतन्य का साक्षात्कार करता रहता है; यही उसका जानना है । कबीर कहते हैं कि वही वास्तव में सब योगियों में श्रेष्ठ है, वही उनका स्वामी है; जो सहज और शून्य में अपना ध्यान निरन्तर लगाये रहता है ।

टिप्पणी—इसमें कायायोग की अपेक्षा ध्यानयोग एवं ज्ञानयोग की श्रेष्ठता प्रतिपादित है । कायायोग की सार्थकता ही ध्यानयोग और ज्ञानयोग के साधन बनने में है । यही कबीर का दर्शन है । इसमें कायायोग के प्रतीकों का प्रयोग है । पर उनको ध्यानपरक एवं ज्ञानपरक अर्थ दिये गये हैं । 'मुद्रा' जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व की परिचायिका है । 'मुद्रा' जो कानों में पहनी जाती है; वह उसी एकत्व का बाह्य प्रतीक है । इस योगी में यह 'निरति' रूप ही है । 'निरति' की विशिष्ट व्याख्या परिशिष्ट में देखें ।

अवधू गगन मंडल घर कीजै ।
अंमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि-रस पीजै ॥टेक॥
मूल बांधि सर गगन समांनां, सुषमन (पोतन) लागी ।
काम क्रोध दोऊ भया पलीता, तहा जोगणीं जागी ॥

मनवां जाइ दरीवैं बैंठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नांहीं, सबद अनाहद बागा ॥ ७० ॥

हे अवधू, तुम शून्य-शिखर पर अपना स्थायी स्थान बना लो। वहाँ पर निरन्तर अमृत की वर्षा होती रहती है और शाश्वत आनन्द की अनुभूति जागती रहती है। वहाँ पर तुम्हें ब्रह्मरन्ध्र से टपकने वाले रस का स्वाद मिलता रहेगा। कबीर कहते हैं कि अब यह जीव उस स्थिति में पहुँच गया है जहाँ मूलाधार चक्र को बन्द करके उसके सरोवर को इसमें आकाश में समाहित कर दिया है; अर्थात् सम्पूर्ण सांसारिक विषयों की अनुभूति इस गगनावस्था से समाहित हो गई है। अथवा मूलाधार चक्र बन्द हो गया है और प्राणों का शर शून्य (ब्रह्म-रन्ध्र) में समाहित हो गया सुषुम्ना की त्रिवेणी उस शून्य-शिखर के मानसरोवर में समा गई है। अथवा सुषुम्ना इड़ा और पिंगला को अपने में गूँथने लगी है, अर्थात् सुषुम्ना में सामने लगी हैं। काम-क्रोधादिक साधना की अग्नि में जलकर भस्म हो गए हैं और कुण्डलिनी जाग उठी है। मन उस समाधि की उच्च अवस्था में प्रतिष्ठित हो गया है और वहाँ पर वह आनन्द में मग्न हो गया है। कबीर कहते हैं कि इस अवस्था में पहुँचकर उसके हृदय में कोई संशय अवशिष्ट नहीं रहा है और अनहद नाद बजने लगा है।

कोई पीवै रे रस रांम नांम का, जो पीवै सो जोगी रे।
संतौ सेवा करौ रांम की, और न दूजा भागी (भोगी) रे ॥टेक॥
यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे।
ईश्वर गौरी पीवन लागे, रांम तनीं मतिवारी रे ॥
चंद सूर दोइ भाठी कीन्हीं, सुषमनि चिगवा लागी रे।
अंमृत कूंपी सांचा पुरया, मेरी त्रिष्णां भागी रे ॥
यहु रस पीवै गूँगा गहिला, ताकी होई न बूझै सार रे।
कहै कबीर महारस मंहगा, कोई पीवेगा पीवणहार रे ॥ ७१ ॥

कबीर कहते हैं कि भगवान् के नाम-स्मरण का रस-पान कोई करे। यह अद्भुत रस है। इसको पीने वाला ही जोगी (परमभक्त और ज्ञानी) होता है। हे सन्तो, तुम राम की ही उपासना करो। इस सेवा का अधिकारी अथवा इस सेवा का भोग करने में समर्थ अन्य कोई दूसरा नहीं है। अगर रामभक्ति का रस प्राप्त हो गया तो अन्य सब रस फीके हैं। यह रस ब्रह्माग्नि प्रज्वलित करने वाला है महेश्वर और उमा इस रस का पान करने लगे। राम के लिए उसमें मस्ती छा गई है। अथवा सांसारिक विषयों का रस सेव्य नहीं है। यह तो फीका है। विषय-रस को तो ज्ञान की अग्नि ने ही भस्म कर दिया है। शिव और पार्वती इस विषय-रस का पान करने लगे थे, पर भगवान् राम ने उनकी बुद्धि को इस रस से हटा दिया। समाधि के रस को

तैयार करने के लिए इड़ा और पिंगला की भट्टी बनाई गई है और सुषुम्ना उस रस को चुआने लगी है। इस प्रकार से तैयार किए हुए समाधि-रस या अमृत के पान से उस सत्य-रूप निरंजन ज्योति से मेरा साधक जीव आपूरित हो गया है। अथवा मेरे सब संकल्प और इच्छायें पूरी हो गई हैं, या मैं सचमुच तृप्त हो गया हूँ। अब मेरी सांसारिक विषय-वासनाओं की तृष्णायें भाग गई हैं। इस समाधि के रस को गूँगा और पागल (मस्त) पीता है और संसार में उसकी कुशल क्षेम कोई नहीं पूछता है, अर्थात् इस समाधि के रस को पीकर जीव इसके आनन्द में गूँगा और मस्त हो जाता है; सांसारिक विषयों के उपयुक्त नहीं रहता। संसार ऐसे व्यक्ति की उपेक्षा करता है। कबीर कहते हैं कि यह भक्ति-रस अत्यन्त मँहगा एवं अमूल्य है; इसको पारखी एवं पी सकने की सामर्थ्य वाला साधक ही पी सकता है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या गगन-रस पीवै त्रिभवन भया उजियारा ।।टेक।।
गुड़ करि ग्यांन ध्यांन करि महुवा, भव-भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहजि समांनीं पीवै पीवनहारा ।।
दाइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महारस भारी।
काम-क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी ।।
सुंनि मंडल मैं मंदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै ।।
पूरा मिल्या तबैं सुष उपज्यौ, तन की तपति बुझानी।
कहै कबीर भौं बंधन छूटै, जोतहि जोति समानी ।। ७२ ।।

अवधू, मेरा मन प्रेम ज्ञान और ध्यान में महारस को पीकर मस्त हो गया है और भावाभाव से निर्मुक्त शून्यावस्था अथवा उन्मनि अवस्था को पहुँच गया है। वहाँ पर मेरा जीव प्रकाश के बरसने वाले अमृत का पान करता है। वहाँ की ज्योति से सम्पूर्ण विश्व में प्रकाश छा गया है। ज्ञान-रूप गुड़ तथा ध्यान-रूप महुआ से संसार रूपी भट्टी में इस मदिरा का निर्माण हुआ है सुषुम्ना नाड़ी इस रस को चुआने की नाली है अथवा पिलाने वाली नारी है। यह सहज में समाहित होकर इस साधक जीव को इस महारस का पान करा रही है। लोक और परलोक के दोनों पुटों को मिलाकर तैयार किए गए घट को भट्टी पर चढ़ाकर उससे रस चुआया गया है और उससे महारस चुआ है। इस भट्टी में काम-क्रोध का ईंधन दिया गया है। अब मैं संकोच आदि सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो गया हूँ। 'वासनायें' इस रस से नष्ट हो गई हैं। अब शून्य-मण्डल में मादल की ध्वनि सुनाई देने लगी है और जीव का मन

उस ध्वनि में मस्त होकर नाचने लगा है। उस गुरु की कृपा से वह अमृत प्राप्त हुआ है इस ध्यान और ज्ञान की परिपक्व अवस्था में मिलने वाला महारस कायायोग के आनन्द से कहीं ऊँचा है। कायायोग का आनन्द भी इसी महारस में समाहित हो गया है। इस प्रकार सुषुम्ना आदि की साधनायें उस सहयोग में समाहित हो गई हैं। इस महारस के पान से परमतत्त्व से तदाकारता स्थापित कर दी है। इससे सम्पूर्ण संसार के ताप मिट गये हैं। कबीर कहते हैं कि इस महारस के द्वारा संसार से मुक्ति मिलती है और जीव की ज्योति परमतत्त्व की ज्योति में समाहित हो जाती है।

टिप्पणी— 'सांगरूपक'।

यह आध्यात्मिक मदिरापन का वर्णन है। इसमें महारस ही मदिरा है। महारस को ज्ञान और ध्यान से निर्मित मानकर कबीर ने अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया है। यह हठयोग में झरने वाले 'अमृत' से कहीं अधिक उत्कृष्ट वस्तु है। इसकी मस्ती में वह अमृत का आनन्द भी समाहित हो जाता है। यही कबीर का दर्शन है। पंचमकार की 'मदिरापन' का भी प्रकारान्तर खण्डन है।

छाकि पर्‌यो आतम मतिवारा,
पीवत रांम रस करत विचारा ।।टेक।।
बहुत मोलि महँगे गुड़ पावा, लै कसाब रस रांम चुबावा ।।
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा, मांगि-मांगि रस पीवै विचारा।
कहैं कबीर काबी मतिवारी, पींवत रांम रस लगी खुमारी ।। ७३ ।।

कबीर कहते हैं कि आत्म-चिन्तन में ही मस्त आत्म-ज्ञानी भक्ति-रस का पान तथा विचार करता हुआ तृप्त हो गया है। उसे अपने गुरु से अपने पूर्ण अहंकार के मूल्य में ज्ञान-रूपी महँगा गुड़ मिला है। काम-क्रोधादि के कस (बेर आदि की छाल) को लेकर और उसे साधना और भक्ति की भट्टी पर चढ़ाकर उसने महारस अर्थात् राम-प्रेम के रस में परिणत किया है। यह रस सम्पूर्ण शरीर रूपी नगर में व्याप्त हो गया है। पीने वाला रसिक इस रस को माँग कर पी रहा है। कबीर कहते हैं कि ज्ञानी को यह मस्ती खूब फबती है। इस साधक को राम-रस रूपी मदिरा के पीने से नशा छा गया है।

टिप्पणी—'सांगरूपक' साधना और आध्यात्मिक अनुभूति का चित्रण है।

बोलौ भाई रांम की दुहाई।
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूँ न अघाई ।।टेक ।।
इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागि जोग जुग तारी ।।

मन मतिवाला पीवैं रांम रस, दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अंमृत धार चुवाई।।
पंच जाने सो संग करि लीन्हैं, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।।
सहज सुंनि मैं जिनि रस चाख्या, सतगुरु थैं सुधि पाई।
दास कबीर इहि रसि माता, कबहूँ उछकि (छकि) न जाई।। ७४।।

रे भाई संतो, राम की दुहाई बोलो, उसका जय-जयकार करो। इस भक्ति के महारस को शिव सनकादिक पीकर मस्त हो गए हैं और अब भी इस आनन्द से तृप्त नहीं हुए हैं; अघाये नहीं हैं। वे पीते ही जा रहे हैं। इस महारस को तैयार करने के लिए इड़ा और पिंगला की भट्टी तैयार की गई है। इसके नीचे ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित है। जीव के इन्द्रियों और ब्रह्मरन्ध्र के दस द्वार हैं, उनको सूर्य और चन्द्र नाड़ी से बन्द कर दिया गया है, ताकि यह आनन्द-रस विषय भोग के रूप में बाहर न निकले। योग-साधना की दुहरी ताली से इसके क्षरण के मार्गों को बन्द करके मतवाला साधक जीव अन्दर ही अन्दर इस राम-रस का पान कर रहा है। इस अवस्था में उसे अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। सुषुम्ना में अधोगति से चलने वाली प्राणवायु अब ऊर्ध्वगति वाली हो गई है। अतः प्राणधारा की गंगा उलटकर बहने लगी है और चैतन्य का प्रवाह ईश्वराभिमुख हो गया है। इस साधना के प्रभाव से अमृत की धार टपकने लगी है, इसके रसिक जीव ने अपने साथ अपने पाँचों अभिमान कर लिए हैं और अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ इस नशे की मस्ती में अग्रसर हो रहा है। जीव महारस के प्याले प्रेमपूर्वक पीने लगा है और उसकी सोती हुई कुण्डली जाग उठी है। जिन्होंने सहज शून्य में पहुँचकर इस महारस का स्वाद चख लिया है, उन्हें सद्गुरु की कृपा से आत्मबोध हो गया है। भक्त कबीर कहते हैं कि वे इस महारस में उन्मत्त हैं। उन्हें इस रस से कभी भी उपरति नहीं होती है। उनकी तृप्ति कभी समाप्त नहीं होती है। या कबीर इस महारस में उन्मत्त हैं; उसकी तृप्ति भी शाश्वत है। उसे इस रस से उपरति नहीं जागती है।

टिप्पणी—पंच अभिमान—विश्व, तैजस, प्राज्ञ, प्रत्यगात्मा और निरंजन हैं। ऐसे पदों से स्पष्ट है कि सहज साधना एवं ज्ञान तथा भक्ति के इस महारस से काया-योग की सिद्धियाँ भी स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।

रांम रस पाईया रे।
ताथैं बिसरि गये रस और ।।टेक।।
रे मन तेरा कोइ नहीं, खैंचि लेइ जिन भार।
बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल ।।

और मरत का रोइए, जो आपै थिर न रहाइ।
जो उपज्या सो बिनसिहै तार्थं दुख करि मरै बलाइ ॥
जहाँ उपज्या तहां फिरि रच्या, रे पीवत मरदन लाग।
कहै कबीर चित चेतिया, तार्थं, रांम सुमरि बैराग ॥ ७५ ॥

कबीर कहते हैं कि मुझे राम की भक्ति का रस प्राप्त हो गया है। उसके आनन्द में मस्त होने कारण संसार के विषयों एवं अन्य प्रकार की साधनाओं के रस विस्मृत हो गए हैं। इस संसार में जीव का कोई भी अपना नहीं है। यह व्यर्थ की ममता का भार वहन कर रहा है। यह संसार तो मानव के लिए केवल पक्षी के वृक्ष के बसेरे के समान है जो जीवन-रूपी आकाश में उड़ते हुए के लिए एक रात्रि का विश्राम मात्र है। दूसरों के मरने पर रोना क्या, जब व्यक्ति स्वयं ही स्थिर नहीं है। जो इस संसार में आया है, उसमें से कोई भी स्थिर नहीं रहेगा। जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु होगी ही। इसके लिए मेरी बलाय दुःख करे। ज्यों ही जीव संसार में पैदा होता है, त्यों ही उसमें अनुरक्त होने लगता है और इस विषय-रस को पीते हुए मर्दित हो जाता है। अथवा जिस अंग से पैदा हुआ उसी में बाद में अनुरक्त हो गया और जिसका (स्तन) का पान किया उसी का मर्दन करने लगा। कबीर कहते हैं, "रे चित्त, तुझे अब ज्ञान हो गया है, अतः तू वैराग्य-भावना पूर्वक भगवान् राम का स्मरण कर।"

टिप्पणी—रूपक और उपमा अलंकार। 'जातस्य मृत्युध्रुवं' की छाया है।

रांम चरन मनि भाए रे।
अस ढरि जाहु रांय (रांड) के करहा, प्रेम प्रीति ल्यौ लाये रे ॥टेक॥
आंब चढ़ी अंबली, रे अंबली, बबूर चढ़ी नगबेली रे।
द्वै थर चढ़ि गयौ रांड कौं करहा, मनह पाट की सैली रे ॥
कंकर कूई पतालि पनियां, सूनैं (सोनै) बूंद बिकाई रे।
बजर परौं इहि मथुरा नगरी, कांन्ह पियासा जाई रे ॥
एक दहिड़िया दही जमायौ, दुसरी परि गई साई रे।
न्यूंति जियाऊँ अपनौं करहा, छार मुनिस की डारी रे ॥
इहि बंनि बाजै मदन भेरि रे, उहि बंनि बाजै तूरा रे।
इहि बंनि खेलै राही रुकमनि, उहि बंनि कान्ह अहीरा रे ॥
आसि पासि तुरसी कौं बिरवा, मांहि द्वारिका गाऊं रे।
तहां मेरो ठाकुर रांम राइ है, भगत कबीरा नांउं रे ॥ ७६ ॥

कबीर अपने हृदय की अभिलाषा को प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस मन का राम-चरण में अनुराग हो। इसी अनुराग के साथ भगवान् में ध्यान लगाये हुए

इस उत्तम जीवन का ऊँट यात्रा में सफलतापूर्वक चलता रहे। आम के वृक्ष के सहारे से बढ़ने वाली बेल में आम की सुगन्ध समा जाती है; पर बबूल के वृक्ष पर चढ़ने वाली बेल नागफनी है, जिसमें अनेक काँटे ही काँटे हैं। उसी प्रकार भगवान् के अनुराग में परिणत जीवन प्रेम से सुवासित रहता है; पर अन्य प्रकार का जीवन वासनाओं अथवा कृच्छ्र साधनाओं से कंटकित ही है। भगवान् के अनुराग से रहित दुहागिन (रण्डा) जीवात्मा का ऊँट (जीवन) दो गधों पर चढ़ गया है; अर्थात् वह पाप और पुण्य या आवरण और विक्षेप में फँसा रहता है। ऐसे व्यक्ति का मन भी कोमल वासनाओं के मार्गों का अनुसरण करने लगता है। कंकड़ों से परिपूर्ण अर्थात् कृच्छ्र साधनाओं से प्राप्य गगन-मण्डल की अमृत बरसाने वाली ब्रह्मनाड़ी ही कुँई हैं। उसका रसपान करने वाली पनिहारिन कुण्डली नीचे पाताल में है अथवा इस अमृत कूप का जल अत्यन्त गहरा है, पाताल में है। उस अमृत कूप की बूँद सोने के मूल्य बिकती है या शून्य-मण्डल में मिलती है अर्थात् दुष्प्राप्य एवं अमूल्य है। पर कायायोग की कृच्छ्र साधनाओं से प्राप्त अमृत कूप आदि की यह गगनावस्था की समाधि-रूप मथुरा पर बज्रपात हो, यह किस काम की? जहाँ से स्वयं कृष्ण, साक्षात् भगवान् प्यासे ही रह जाते हैं अर्थात् कायायोग की जिन साधनाओं में भगवान् के सहज अनुराग का अभाव है और जीवात्मा उस महारस से वंचित रहती है, वे साधनाएं अकाम्य हैं। एक कायायोग के साधक रूपी दही वाले ने एक प्रकार का साधना का दही जमाया। उसके स्वाद से वशीभूत होकर दूसरे ने भी ऐसे ही दही के लिए साईं (Advance) दे दी। वह भी उसी साधना में प्रवृत्त हो गया, पर इस दही से जीवात्मा ने अपने जीवन की वासनाओं को ही परितृप्त किया। मुनि लोगों को तो इस दही में से खाक भी नहीं मिला अथवा उनको तुच्छ अंश छार मात्र ही प्राप्त हुआ, अर्थात् इससे आध्यात्मिक जीवन की परितृप्ति तो नहीं हुई। अभिप्राय यह है कि मानव एक लौकिक वासना से दूसरी लौकिक वासना में अथवा कायायोग की एक साधना से दूसरी साधना में उलझता रहा। पर इससे उसकी भोग-लिप्सा अथवा सिद्धियों का अहंकार बढ़ता ही रहा। सहज-अवस्था की प्राप्ति मे तो ये बाधक ही रहे हैं। कायायोग की साधना के इस वन में तो केवल मंदल और भेरी ही बज रही है, पर भगवत्प्रेम के उस वन में मधुर तुरीं का वादन हो रहा है। इस वन में माया-रूपी रुक्मिणी खेल रही है, पर उस वन में स्वयं साक्षात् कृष्ण ही क्रीड़ा कर रहे हैं। इस प्रेम-स्थली में इधर-उधर तुलसी के वृक्ष हैं और उनके अन्तर में द्वारिका है। उसी अनुराग से सुगन्धित स्थल में मेरे स्वामी भगवान् राम विराजते हैं। भगवान् की प्रेम-साधना वस्तुतः कबीर को प्राप्य है। अतः कबीर कहते हैं कि कबीर ऐसे ही भक्त का नाम है।

टिप्पणी—प्रेम-साधना की कायायोग से श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है। कायायोग के प्रतीकों का प्रयोग है। 'दृष्टान्त' अलंकार का भी प्रयोग है।

थिर न रहै चित थिर न रहै, च्यंतामणि तुम्ह कारणि हो।
मन मैले मैं फिरि-फिर आइहूँ, तुम सुनहुं न दुख बिसरावन हो ।।टेक।।
प्रेम खटोलवा कसि-कसि बांध्यो, बिरह बांन तिहि लागू हो।
तिहि चढ़ि इंदऊ करत गवंसियां, अंतरि जमवा जागू हो ।।
महरू मछा मारि न जांनै, गहरै पैठा धाई हो।
दिन एक मगरमच्छ लै खैहे, तब को रखिहै बंधन भाई हो ।।
महरू नां महरइये जांनें, शबद न बूझै बौरा हो ।
चारै लाइ सकल जग खायो, तऊ न भेटि निसहुरा हो ।।
जौं महाराज चाहौ महरईये, तौ नाथौ ए मन बौरा हो।
तारी लाइकैं सिष्टि बिचारौ, तब गहि भेटि निसहुरा हो ।।
टिकुटी भई कांन्ह कै कारणि, भ्रंमि-भ्रंमि तीरथ कीन्हां हो।
सो पद देहु मोरि मदन मनोहर, जिहि पदि हरि मैं चिन्हां हो ।।
दास कबीर कीन्ह अस गहरा, बूझै कोई महरा हो ।।
यह संसार जात में देखौं, ठाढ़ा रहौ कि निहुरा हो ।। ७७ ।।

हे चिन्तामणि भगवान् आपके लिए मेरा मन विकल है; वह स्थिर नहीं होता है, बल्कि बार-बार मेरा मन कुण्ठित और मलीन ही होता जाता है। पर दुःखों को दूर करने वाले भगवान् आप मेरी नहीं सुनते हैं। मैंने प्रेम का खटोला कस-कसकर तैयार किया है। उसे विरह-रूपी रस्से से सुदृढ़ कर ,लिया है। उसी पर चढ़ कर मन आपसे मिलने के लिए आगे बढ़ता है। पर अन्तःकरण में वासना का यम जाग जाता है। यह मछुवा-रूपी जीव वासना से ग्रस्त मच्छ को मारना नहीं जानता है। यह मच्छ संसार के विषयों के जल में गहरा पैठकर कहीं भाग जाता है ? एक दिन मगर मच्छ-रूपी यम पकड़कर जीव को खा जायेगा। उस समय कौन उसे बांध कर रोक सकेगा ? यह मछुआ मछुएपने के काम को समझता नहीं है। यह पागल, गुरु के उपदेश पर ध्यान नहीं देता है। वासना से सम्पूर्ण जीवों को विषयों की चाट लगाकर खा लिया है; पर फिर भी बिना शऊर के इस मछुए की वास्तविक मछली (भक्ति या साधना) से भेंट नहीं हुई। हे प्रभु, अगर आप मुझ पर अनुकम्पा करना चाहते हैं। अथवा वास्तविक मछुएपन की शिक्षा देना चाहते हैं तो मेरे इस महड़ोश मन को कुचल दो। ज्ञान और प्रेम की ताली लगाकर सृष्टि के मूल रहस्य पर जब कोई चिन्तन करता है तब कहीं बिना शऊर के उस मछुये रूपी जीव को उस मछली (भक्ति या साधना) की प्राप्ति होगी, जिसके आश्रय से भगवान् से भेंट हो पाती है। व्यक्ति कृष्ण के लिए तकली अर्थात उसी की परह क्षीण, चंचल और बेचैन होकर उसे ढूंढ़ने के लिए भ्रमवश अनेक तीर्थों में भटकता रहता है। हे भगवान् मेरे सुन्दर

मदन गोपाल, मुझे वह बुद्धि प्रदान कीजिए जिस बुद्धि से मैं आपको पहचान सकूं। भक्त कबीर ने प्रेम में अपने मन की जो गूढ़ स्थिति बनाई है, उसे कोई गम्भीर ज्ञानी साधक ही समझ पाता है। इस जगत् को जाता हुआ देख रहा हूं। हे प्रभु, आपके आश्रय पर खड़ा रहूं या इस संसार प्रवाह के समक्ष मुझे नतमस्तक ही होना पड़ेगा।

टिप्पणी—'सांगरूपक'।

बीनती एक राम सुंनि थोरी।
अब न बचाइ राखि पति मोरी ॥टेक॥
जैसें मंदला तुमहि बजावा, तैसें नाचत मैं दुख पावा ॥
जेइ सि लागी सबै छुड़ावौ अब मोहि जिनि बहु रूप कछावौ ॥
कहै कबीर मेरी नाव उठावौ तुम्हारे चरन कवल दिखलावौ ॥ ७८ ॥

हे प्रभु, अब आप मेरी थोड़ी-सी विनय सुनो। अब मेरी सांसारिकता को सुरक्षित मत रहने दो। मुझे अपने से दूर मत रखो। इसी में मेरे मान की रक्षा है। जैसे आपने इस संसार में मुझे नचाने के लिए मंदला बजाया उसी के अनुरूप अर्थात् आपकी ही प्रेरणा से मैं जगत् के विषयों में प्रवृत्त होता हुआ दुःखी हुआ अगर आप मेरी सम्पूर्ण कालिमा को धोना चाहते हैं तो मुझे अब अधिक बहुरूपिया बनाकर इस जगत् में मत भ्रमित कीजिए। कबीर कहते हैं। हे भगवान् अब आप मेरा इस संसार में भटकना छुड़ा दीजिए तथा मुझे अपने चरण-कमल की शरण में लीजिए।

मन थिर रहै न घर ह्वै मेरा।
इन मन घर जारे बहुतेरा ॥टेक॥
घर तजि बन बाहरि कियौं बास, घर बन देखौं दोऊ निरास ॥
जहां जांऊं तहां सोग संताप, जुरा मरण कौ अधिक बियाप ॥
कहै कबीर चरन तोहि बंदा घर मैं घर दे परमांनन्दा ॥ ७९ ॥

कबीर कहते हैं कि यह मन इस भावना के कारण स्थिर नहीं है कि इसको किसी भी स्थिति में संतोष नहीं है। इनसे आनन्द की प्राप्ति की खोज ने अनेक घर भस्म कर दिए हैं, अर्थात् अनेक स्थितियां बदली हैं, अनेक जन्म लिये हैं। इसने गृहस्थ का त्याग करके वैराग्य लिया है। पर इसे गार्हस्थ्य और वैराग्य—दोनों ही में निराशा हुई; वास्तविक आनन्द नहीं प्राप्त हो सका। मैं जहां जाता हूं वहीं पर मुझको शोक-सन्ताप का सामना करना पड़ता है। मुझे वृद्धावस्था और मृत्यु दिन-प्रतिदिन अधिक पराजित करते जा रहे हैं। कबीर भगवान् से प्रार्थना करते हैं—"हे प्रभु, मैं आपके चरणों में नत-मस्तक हूं। मुझे अपनी सहज अवस्था में ही परम आनन्द प्रदान कर।"

कैसें नगरि करौं कुटवारी ।
चंचल पुरिष बिचषन नारी ।।टेक।।
बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दुहै तीन्यू सांझ ।।
मकड़ी घरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी ।।
मूषा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साप पहरइया ।।
नित उठि स्याल स्यंउ सूं झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।। ८० ।।

इस नगर की संरक्षा कैसे करू ? अथवा इस नगर में कोटपाल पद का निर्वाह कैसे करू ? इसका पुरुष अत्यन्त चंचल है और यहाँ की नारी चतुर है विलक्षण है अथवा कटाक्ष पूर्ण नेत्रों वाली है । यहाँ पर बैल ब्याता है और गाय बांझ रह जाती है। तीनों संध्या कालों में (अर्थात् प्रातः मध्याह्न और सायं) बछड़ों का दोहन होता है। मक्खी मकड़ी के घर की मालकिन छाछ पर नियंत्रण रखने वाली बन गई है। मांस को फैलाकर चील उसकी रखवाली कर रही है । बिल्ली नौका बन गई है और चूहा उसे खे रहा है । मेंढ़क सो रहा है और सांप उसकी रखवाली करता है । प्रतिदिन सियार सिंह से जूझ रहा है । इस प्रकार का नगर अत्यन्त विषम परिस्थितियों से पूर्ण है । कबीर कहते हैं कि इस नगर की अवस्था (इस पद का अर्थ भी) कोई बिरला ही समझ पाता है ।

प्रतीकार्थ—शरीर-रूपी नगर का वर्णन है । जीव-रूपी चंचल पुरुष इसका स्वामी तथा आसक्ति-रूपी नारी चतुर एवं कटाक्षपूर्ण होने के कारण उस पुरुष पर नियन्त्रण रखती है । जीव-रूपी सियार काल-रूपी सिंह से निरन्तर जूझ रहा है । जीव अमरतत्त्व प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रयत्नशील है, पर अपने शरीर की आन्तरिक विषम अवस्था के कारण उसे सफलता नहीं मिल रही है । उस सफलता का भान भी नही हो पा रहा है । पर वास्तव में आत्मा अमर ही है, अतः काल-रूपी सिंह सियार को मार नहीं सकता है । इसी कारण 'जूझना' कहा गया है । विभिन्न वासनाओं के वशीभूत मन-रूपी बैल अनेक संकल्पों के रूप में सृष्टि कर रहा है । पर तत्त्वान्वेषिणी बुद्धि मौन एवं निष्क्रिय होने के कारण गाय बांझ हो गई । इस बैल-रूप मन का अनुगमन करने वाली वासना से आक्रान्त इन्द्रियाँ रूपी बछड़ों को सत्त्व, रज एवं तम—तीनों प्रकार के विषयों में जोता जाता है । उनके द्वारा विषयों का रस ग्रहण करने का प्रयास है । यही उनको तीनों संध्याकालों में दुहना है । मन की तृष्णा-रूपी मक्खी ही इस मकड़ी-रूप माया (जगत्) की मालकिन हो गई है । मकड़ी मक्खी को अपने जाल से आवृत्त करके वश में करती है । पर यह वशीभूत मक्खी ही अब इस जाल की स्वामिनी है । अतः तृष्णा-रूप मक्खी ही इस जगत् के छाछ-रूपी विषयों का स्वाद लेती है; अपने को मालकिन माने हुए है । मलीन तृष्णा-रूप चील इन विषयों के मांस को अपने सामने रखकर उसकी रखवाली कर रही है, अर्थात्

१८

जगत् के सम्पूर्ण विषयों पर तृष्णा का अधिकार हो गया है। मांस की रखवाली चील के द्वारा अपने आप में विडम्बना है। चील स्वयं ही मांस खाने वाली है; फिर रक्षा किससे? वैसे तो तृष्णा ही विषयों का भोग करती है और उसी का विषयों पर अधिकार है। फिर विषयों की संरक्षा कैसी? विषय से उपरति कैसी? तृष्णा के कारण ही विषय ज्ञान के साथ सम्बद्ध होकर मोक्ष के हेतु नहीं बन पाते हैं। दुर्मति-रूप बिल्ली को अब मन-रूपी चूहा अपने संकल्पों के अनुसार चला रहा है। तृष्णा से आक्रान्त जीव-रूपी मेंढ़क ज्ञान से विमुख होकर सो गया है और संशय-रूपी सर्प उसका पहरा दे रहा है, ताकि ज्ञान इसके समीप नहीं फटक सके। सर्प इस मेंढ़क को पूर्णतया निगल नहीं सकता। संशय जीव को थोड़ी देर के लिए आक्रान्त भर कर पाता है; सर्वदा के लिए निगल नहीं सकता। सियार-रूपी जीव काल-रूपी सिंह से जूझ रहा है। वह अमरतत्त्व प्राप्त करना चाहता है; पर अपनी ही कमजोरी के कारण सफल नहीं हो पा रहा है। पर सिंह भी सियार को नष्ट नहीं कर सकता है। जीव काल से ग्रसित नहीं होता। केवल अज्ञान से ग्रसित होता हुआ लगता है, अतः 'जूझ रहे हैं' कहा गया है।

इन प्रतीकों की अन्य तरह से भी व्याख्या हुई है—गाय=गायत्री, जिसने (अपना तत्त्व छिपा रखा है; अतः बांझ है।)

दूसरा अर्थ—आत्मा जो विकार रहित है।

बैल=शब्द ब्रह्म जो नाना रूपों में अभिव्यक्त होता है।

दूसरा अर्थ—अज्ञान जो नाना प्रकार की सृष्टि में परिणत होता है।

सियार=कुमति।

सिंह=विवेक या ज्ञान।

सियार=गुरु का उपदेश।

सिंह=मन।

टिप्पणी—सिद्ध सम्प्रदाय के प्रतीकों को ज्ञानपरक अर्थ देने की कबीर की प्रवृत्ति ही है।

भाई रे चूँन बिलूँटा खाई।
बाघति संगि भई सबहिन कैं, खसम न भेद लहाई ।।टेक।।
सब घर फोरि बिलूँटा खायो, कोई न जांने भेव।
खसम निपूतौ आंगणि सूतौ, रांड न देई लेव ।।
पाड़ोसिन पनि भई बिरांनीं, मांहि हुई घर घालै।
पंच सखी मिलि मंगल गांवें, यह दुख याकौं सालै ।।
द्वै-द्वै दीपक धरि-धरि जोया, मंदिर सदा अंधारा।
धर घेहर सब आप सवारथ, बाहरि किया पसारा ।।

होत उजाड़ सबै कोई जानैं, सब काहू मनि भावै।
कहै कबीर मिलै जे सतगुरु, तौ यहु चून छुड़ावै॥ ८१॥

रे भाई, इस जीवन-रूपी चून को संशय-रूपी चूहा खाता जा रहा है। भ्रम में पड़कर बाधिनी-रूपी जीवात्मा सभी प्रकार के भोगों या बाह्याचारों की साधनाओं में पड़ जाती है। यह भेद वह अपने पति ईश्वर से छिपाने की चेष्टा भी करती है अर्थात् अपने पति ईश्वर से पराङ्मुख रहती है। उनको अपनी सम्पूर्ण साधनाएं समर्पित नहीं करती। इस संशय-रूपी चूहे ने इस जीवात्मा के सम्पूर्ण घर, अर्थात् ज्ञान-राशि को खा लिया है। इस गुप्त रहस्य को यह पहचान नहीं पा रही है। शुद्ध आत्मा अथवा ईश्वर-रूपी इसका पति आंगन में ही सो रहा है अर्थात् वह जीव का अपना स्वरूप ही है। पर उस निपूते (गाली) को जन्म-मरण से रहित अपने पति को अपना भेद भी नहीं देती है। अर्थात् वह स्वरूप-विस्मृति के साथ ही ईश्वरार्पण की सहज बुद्धि से पराङ्मुख भी हो आती है इससे यह जीवात्मा भोगों की कुसंगति में पड़ जाती है। यह माया-रूपी पड़ोसिन की मैत्री के मोह में अपने ही स्वरूप अथवा पति-रूप ईश्वर से बिरानी अर्थात् पराई और विमुख हो गई है। यह माया-रूपी पड़ोसिन इस जीवात्मा के घर में घुस गई है और उसने इस घर पर अपना अधिकार ही जमा लिया है। शुद्ध चैतन्य-रूप घर के आभ्यन्तर में जीवात्मा और परमात्मा का अभेद घोषित करने वाली पांच मुद्राओं रूपी जो मंगल-गान हो रहा है, वह वासना से आक्रान्त इस जीवात्मा तथा माया—दोनों को ही बुरा लग रहा है। यह अभेद सहज एवं नित्य है, पर अज्ञानी जीव को इसकी आकांक्षा ही खटकती है। घर-घर पाप और पुण्य के दो-दो दीपक जले हुए हैं, पर भीतर अन्तःकरण में ज्ञान के अभाव का अन्धकार है। घर-घूरा सब ममता के मोह से ग्रस्त हैं। इस जीवात्मा ने अन्तर्मुखी होने की अपेक्षा बाहर संसार में अपनी आसक्ति का प्रसार किया है। इस माया के कारण जीव का सब कुछ उजड़ रहा है; अर्थात् जीव को अपने स्वरूप एवं ईश्वर-प्रेम की विस्मृति हो रही है; यह सब जानते हैं। साधक जीव को यह परोक्ष ज्ञान है भी। पर इस माया का आकर्षक रूप सबके हृदय में समाया हुआ है। स्वरूप की स्मृति के लिए जीव को अपरोक्ष ज्ञान एवं भक्ति की अपेक्षा है। कबीर कहते हैं कि अगर सद्गुरु की प्राप्ति हो तो वे इस चून-रूपी जीवन की रक्षा कर सकते हैं। उसको ईश्वर-प्रेम एवं उसके महारस के स्वाद में लगा सकते हैं।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

बिपिया अजहूं सूरति सुख आसा,
हूंण न देह हरि के चरन निवासा॥टेक॥
सुख मांगें दुख पहली आवै, तातैं सुख मांग्या नहीं भावै।
जा सुख थैं सिव बिरंचि डरानां सो सुख हमहु सांच करि जानां॥

सुखि छ्याड़्या (छाड़्या) तब सब दुख भागा, गुरु के सबद मेरा मन लागा।
निसि बासुरि बिषै तनां उपगार, विषई नरकि न जातां बार॥
कहै कबीर चंचल मति त्यागी, तब केवल रांम नांम ल्यौ लागी ॥ ८२॥

कबीर कहते हैं कि इस मन को अब भी विषयों से सुख-प्राप्ति की आशा है। इसी से वह जीव को भगवान के चरणों में निवास नहीं करने देता है। जब मानव सुख की आकांक्षा करता है तो दुःख पहले ही आ जाता है। सांसारिक सुख नाशवान है, अतः उसका परिणाम दुःख उसके साथ ही लगा हुआ है। जिस विषय-वासनाओं के सुख से शिव, ब्रह्मादिक भी भयभीत हैं उसी सुख को जीव ने सत्य और स्थायी मान लिया है। जब मानव इस सुख की आकांक्षा छोड़ देता है तो दुःख भी भाग जाता है। क्योंकि दुःख तो सुख का अनुचर है, उसका सहज एवं अपरिहार्य परिणाम है। सुख-दुःख की अनुभूति से ऊपर उठा हुआ मेरा मन गुरु के उपदेश में लवलीन हो जाता है। जीव दिन-रात विषयों में ही लिप्त रहता हैं। विषयी व्यक्ति को नरक में जाते हुए देर नहीं लगती है। कबीर कहते है कि जब जीव विषय-ज़नित चंचलता को दूर करता है, तभी उसकी राम-नाम में लौ लग सकती है।

तुम्ह गारड़ू मैं विष का माता।
काहै न जियावौ मेरे अंमृतदाता ।।टेक।।
संसार भवंगम डसिले काया, अरु दुख दारन ब्यापैं तेरी माया।
सापनि एक पिटारै जागे, अह निसि रोवै ताकूं फिरि लागै ॥
कहै कबीर को को नहीं राखैं, राम रसांइन जिनि जिनि चाखे ॥ ८३॥

हे प्रभु, तुम तो विषयों के सर्प के विष उतारने वाले हो और मैं विषयों के विष से उन्मत्त हूँ। अतः हे अमृत देने वाले भगवान्, मुझे इन विषयों से मुक्त करके जीवन दान क्यों नहीं देते हो ? संसार अर्थात् विषय-वासना एवं मोह का सर्प इस शरीर को डस लेता है तथा भगवान् की माया से प्रेरित महान् दारुण व्यथा से यह शरीर पूर्णतया पीड़ित हो जाता है। इस संसार अथवा मन-रूपी पिटारे में एक वासना-रूप सर्पिणी जागती रहती है। जो इन सांसारिक सुखों के लिए विकल होता रहता है; उसी को यह सर्पिणी बार-बार काटती है। यही संसार का नियम है। पर कौन इन सर्प-दंश से छूटे हैं ? उत्तर है—जिन व्यक्तियों ने भगवान् की भक्ति के रसाइन का स्वाद ले लिया है।

टिप्पणी—रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार।

माया तजूं तजो नहीं जाइ।
फिरि फिरि माया मोहि लपटाइ ।।टेक।।
माया आदर माया मांन, माया नहीं तहां ब्रह्म गियांन ॥

माया रस माया कर जांन, माया कारनि तज परानं ।।
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सबही लोग ।।
माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहुँ पासि ।।
माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता ।।
माया मरि करै ब्यौहार, कहे कबीर मेरे रांम अधार ।। ८४ ।।

कबीर अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहते हैं कि मैं इस माया को छोड़ने का प्रयत्न करता हूँ, पर यह माया मुझसे छूटती नहीं है। यह मुझ बार-बार लपेट ही लेती है। इस संसार में माया ही सब कुछ है। अन्दर-मान सम्मान आदि सब कुछ माया ही है। जहाँ माया का प्रभाव नहीं है, वहीं पर ब्रह्मज्ञान है। सम्पूर्ण विषयों के स्वाद माया के ही परिणाम हैं। इसी माया के आनन्द के लिए जीव अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। ये जप, तप, योग आदि सब कुछ माया ही हैं। माया ने संसार के भी लोगों को बाँध रखा है। जल, थल, आकाश आदि सम्पूर्ण दृश्यमान पदार्थ माया ही हैं। माया सर्वत्र व्याप्त है। माता और पिता भी माया ही है। स्त्री, पुत्र आदिक तो अत्यधिक मोह-ममता के आश्रय होने के कारण जटिल बन्धन के रूप हैं। अतः वे ही अतिमाया अर्थात् माया के प्रगाढ़ रूप हैं। कबीर कहते हैं कि मुझे राम का ही भरोसा है, अतः मैं माया को मार कर अज्ञान और मोह को नष्ट करके संसार में व्यवहार करता हूँ।

ग्रिह जिनि जांनौ रूढ़ौ रे।
कंचन कलस उठाइ ल मंदिर, रांम कहे बिन धूरौ रे ।।टेक।।
इनि ग्रिह मन डहके सबहिन के, काहू कौ पर्‌यौ न पूरौ रे ।।
राजा रांणां राव छत्रपति, जरि भये भसम कौ कूरौ रे ।।
सबथैं नींकी संत मँडलिया, हरि भगतनि कौ भेरौ रे।
गोबिद के गुन बैठे गेहैं, खैहैं टूकौ टेरौ रे ।।
ऐसे जांनि जपौं जगजीवन, जम सूं तिनका तोरौ रे।
कहै कबीर रांम भजिबे कौं, एक आध कोई सूरौ रे ।। ८५ ।।

इन शरीर रूपी ग्रहों को उत्तम एवं प्रेमास्पद मत समझो। रे जीव, तुम चाहे विशेष साज-सज्जा एवं लावण्य रूपी स्वर्ण के कलशों के साथ इस शरीर रूपी मन्दिर को उठा लो, अर्थात् इसको खूब सजा लो और पुष्ट करो, पर भगवान के नाम-स्मरण के अभाव में यह धूल के समान है। इन बाहरी चमक-दमक के घरों ने सभी के मन को भ्रम में डाला है, पर इनसे किसी को भी वास्तविक तत्त्व एवं आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकी। राजा, राणा, राव, छत्रपति जैसी बड़ी-बड़ी उपाधियों के धारण करने वाले एवं अपने शरीर पर अभिमान रखने वाले सभी जलकर भस्म

का कूड़ा बने हैं। वास्तव में सबसे श्रेष्ठ तो संतों की मंडली है। हरि भक्तों की भीड़ अथवा समूह ही उत्तम है। वे बैठे बैठे अर्थात् संसार के सम्पूर्ण झंझटों से मुक्त होकर भगवान के गुणगान गाते रहते हैं और जैसा भी रोटी का टुकड़ा मिलता है; उसी को खाकर संतोष कर लेते हैं संतों के इस आदर्श को हृदय से अनुभूत करके भगवान् का जप करो, ताकि यम को चुनौती दे सको। कबीर कहते हैं कि भगवान् के भजन करने में कोई एक-आध ही शूरवीर है।

रंजसि मीन देखि बहु पांनी।
काल जाल की खबरि न जांनीं ।।टेक।।
गारै गरब्यौ औघट घाट, सो जल छाड़ि बिकानौं हाट ।।
बंध्यौ न जांनै जल उदमादि, कहै कबीर सब मोहे स्वादि ।। ८६ ।।

जीवात्मा-रूपी मछली विषय-जल की बहुतायत को देखकर मन में अत्यन्त प्रसन्न होती है। पर उसे उस जल में पड़े हुए काल-रूपी जाल का ध्यान नहीं रहता है। सामान्य जन-संकुल घाटों से दूर के अवघट घाट में घूमती हुई अपने ज्ञान और वैराग्य की गरिमा से गर्वीली मछली जाल में न फँसने तथा सर्वथा मुक्त रहने के अज्ञान में विचरती है और जाल की उपेक्षा करती हुई वहाँ के विषयों का स्वाद लेती है। पर वह भी जाल में फँस ही जाती है और अन्त में बाजार में बिक जाती है। वैसे ही कायायोग का साधक जीव साधना के औघट घाट की गुफा में पहुँच कर उस साधना का अहंकारी हो जाता है। वह अपने आपको संसार के झंझटों से छूटा हुआ मानकर निर्द्वन्द्व विचरण करने लगता है। उसे भी काल के जाल का ध्यान नहीं रहता है। ऐसा साधक भी वास्तव में भक्ति और ज्ञान से प्राप्य आध्यात्मिक आनन्द-रूपी जल के सहज घाटों को छोड़कर बाह्याचरणों की साधना के औघट घाटों के जाल में फँसा हुआ ही है। सिद्ध होने के अहंकार से ग्रसित यह साधक भी विषयों के स्वाद में उलझ ही जाता है। वह काल के जाल से नहीं बच पाता है। अन्त में उसे भी मछली की तरह विषयों की दूकान पर बिकना पड़ता है और काल उसे भी ग्रस लेता है। यह साधक साधना की तथा अन्य प्रकार की विषय-वासनाओं एवं बाह्याचारों के आडम्बरों में बँध जाता है। फिर औघट घाट की मछली जैसे जल में उत्पात करती है और क्रीड़ा करती है, वैसे ही यह भी साधना जल में केलि और उत्पात करता रहता है। उसे ईश्वर प्रेम के जल की गम्भीरता, सुरक्षा एवं वहाँ के आनन्द का भान नहीं होता है। परिणामस्वरूप औघट घाट की मछली की तरह यह साधक भी साधना के औघट घाटों में विचरता हुआ काल का ग्रास होता है। कबीर कहते हैं कि सारा संसार ही वासनाओं के स्वाद से मोहित है।

टिप्पणी—कायायोग की साधना के जल को ही सर्वस्व मानने वाले को उसकी मस्ती में यह अहंकार जाग जाता है कि वह बँधा हुआ नहीं है। यह साधक कायायोग के स्वाद से मोहित होने के कारण तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाता है

और बँधा होने पर भी अपने को बँधा नहीं समझता है। वह काल से ग्रसित ही है, मुक्त नहीं। ज्ञान और भक्ति में सहज प्रतिष्ठा ही मुक्ति है। यहाँ पर व्यंजना है। अन्योक्ति और रूपकातिशयोक्ति, दोनों का निर्वाह है। सांगरूपक अलंकार है।

काहे रे मन दह दिसि धावै,
विषिया संगि संतोष न पावै ।।टेक।।
जहां जहां कलपै तहां तहां बंधना, रतन कौ थाल कियो तैं रंधनां ।।
जौं पं सुख पईयत इन मांही, तौ राज छाड़ि कत बन कौं जाहीं ।।
आनंद सहत (सहित) तजौ विष नारी, अब क्या झीषै पतित भिषारी ।।
कहै कबीर यहु सुख दिन चारि, तजि विषिया भजि चरन मुरारि ।। ८७ ।।

रे मन, तुम भोग-विलास के गहरे गड्ढों की ओर क्यों दौड़ रहे हो ? अथवा रे मन तुम दशों दिशाओं में क्यों दौड़ रहे हो ? तुम विषयों से आसक्त रहकर कभी भी परम आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। जहाँ-जहाँ भी विषयों के संकल्प हैं वहीं-वहीं बन्धन हैं। तुम्हें भगवान् ने जीवन-रूपी रत्नों का थाल दिया था, पर तुमने भक्ति के महारस पीने योग्य इस बहुमूल्य पात्र को विषय-वासनाओं की आग पर चढ़ाकर भोगों के भोजन पकाने का बर्तन बना दिया है। इन भोगों में ही सुख होता तो भक्तजन राजपाट छोड़कर वन में क्यों जाते ? अगर परमतत्त्व-रूप आनन्द की आकांक्षा है तो इस वासना रूप विषैली नारी का परित्याग कर दो। इन विषयों ने तुम्हें पतित एवं दीन भिखारी बना दिया है; तुझे आनन्द के लिए तरसा दिया है। अब इन विषयों के लिए क्यों झींक रहा है ? कबीर कहते हैं कि यह सांसारिक विषयों का सुख तो केवल चार दिन का है। वह भी आपाततः प्रतीत मात्र होता है। जीव, तुम इन विषयों को छोड़कर भगवान् का भजन करो।

जियरा जाहिगौ मैं जानां।
जो देख्या सो बहुरि न पेष्या, माटी सूं लपटांनां ।।टेक।।
बाकुल बसतर किता पहरिबा, का तप बनखंडि बासा।
कहा मुगध रे पांहन पूजै, का जल डारै गाता ।।
कहे कबीर सुर मुनि उपदेसा, लोका पंथि लगाइ।
सुनौं संतौ सुमिरौ भगत जन, हरि बिन जनम गवाई ।। ८८ ।।

कबीर कहते हैं कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। ये प्राण अवश्य जायेंगे यह तुझे पूर्ण विश्वास है। संसार में जिसको एक बार देखा है, वह फिर दुबारा नजर नहीं आया। वह शरीर तो मिट्टी में ही मिल गया। वल्कल अथवा अन्य प्रकार के वस्त्रों के पहनने से क्या होता है ? ये कितने दिन के हैं ? जप, तप, वन में वास आदि का भी क्या लाभ होता है ? रे मूर्ख, पत्थर पूजने का भी कोई लाभ नहीं है। ये सब बाह्याचार हैं। शरीर पर पानी डालने से क्या होता है। ये बाह्याचार मृत्यु से मानव का पिण्ड नहीं छुड़ा सकते। देवताओं और मुनियों के उपदेशों ने तो जीव को लोक-

मार्ग पर ही लगाया है, जिसका परिणाम अमरता नहीं हो सकता । कबीर कहते हैं, 'रे सन्तो, तुम भक्तजनों के मार्ग का ध्यान करो । भगवान् की भक्ति के बिना तो सभी साधनाओं में जन्म व्यर्थ ही जाता है ।

पाठान्तर—डा० पारसनाथ तिवारी में प्रथम पंक्ति के अतिरिक्त शेष पंक्तियाँ भिन्न हैं ।

हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई ।
हरि कैं बियोग कैसे जीऊँ मेरी माई ।।टेक।।
कौन पुरिष को काकी नारी, अभिअंतरि तुम्ह लेहु बिचारी ।।
कौन पूत को काको बाप, कौन मरै कौंन करै (सहै) संताप ।।
कहै कबीर ठग सौ मनमाना, गई ठगौरी ठग पहिचाना ।। ८६ ।।

भगवान् मायावी एवं ऐन्द्रजालिक हैं । उन्होंने सम्पूर्ण जगत् में अपनी माया फैला रखी है । उनके कारण हरि स्वयं जीव से ओझल हो गए हैं । मैं (आत्मा) उनके वियोग में कैसे जीवित रह सकती हूँ । ये संसार के सम्पूर्ण सम्बन्ध केवल माया-जनित और भ्रम हैं । कौन पुरुष है ? कौन किसकी स्त्री है ? कौन पुत्र है ? कौन किस का पिता है ? कौन मरता है ? कौन कष्ट भोगता है ? अपने अन्दर विचार करके देखो । ये सब सम्बन्ध केवल माया-जनित एवं कल्पित हैं । सर्वत्र उस एक ही तत्त्व की सत्ता है । कबीर कहते हैं कि इस ठग (ईश्वर) में मेरा मन अनुरक्त एवं तदाकार हो गया है । अब उसकी माया मेरे लिए ठगी न रहकर लीला बन गई है । जब मैंने ठग के असली अद्वैत एवं लीला करने वाले रूप को पहचान लिया है तो ठगी रह ही नहीं सकती है । मुझे सत्य का साक्षात्कार हो गया ।

दूसरा अर्थ—यहाँ पर 'ठग' मन को भी मान सकते हैं । इस मन ने जीवात्मा में से हरितत्त्व को ठग कर ओझल कर दिया है । जीव हरि के वियोग में कैसे जी सकता है ? उसकी सत्ता ही हरि पर आधारित है । ये सब सम्बन्ध मन की ही कल्पना है । कबीर कहते हैं कि यह ठग मन ही माना गया है । इस मन के वास्तविक स्वरूप एवं उसके क्रिया-कलापों को पहचान लेने पर ठगी नहीं रहती है । जीव फिर उस ठगी में धोखा नहीं खाता है; उस ठगी का आनन्द ही लेता रहता है । इन दोनों अर्थों में से पहले में जगत् समष्टि मायाकृत अथवा ईश्वरकृत तथा दूसरे में व्यष्टि-मायाकृत अथवा जीवकृत माना गया है । यही व्यंजना है ।

टिप्पणी—श्री विश्वनाथसिंह एवं श्री पुरनसाहब 'गुरु' को ठग माना है । यह ठग हरितत्त्व को छिपाकर जीव को अन्यत्र लगा देता है । उसकी वाणी ही 'ठगौरी' है । इसका गुरु अतत्त्वज्ञ और ढोंगी है कहे कबीर ठग सो मन माना' के अर्थ में उन्हें कुछ खींचतान एवं अध्याहार का आश्रय भी लेना पड़ा है । पर सम्भवतः निर्गुण पन्थ में विकसित 'गुरुडम' की अतिवादिता के कारण यह खण्डन आवश्यक हो

गया होगा । इसी से यह अर्थ गृहीत हुआ होगा । इसमें 'पारख' सिद्धान्त की ओर संकेत भी है । 'पारख गुरु' के पूर्व के गुरु को ठग कहा गया है । कबीर-पंथ में वास्तविक गुरु पारख-गुरु ही है ।

पाठ-भेद—तिवारीजी ने 'सहै संताप' तथा वर्माजी ने 'देई संताप' पाठ दिया है ।

सांई मेरे साजि दई एक डोली ।
हस्त लोक अरू मैं तैं बोली ।।टेक।।
इक झंझर सम सूत खटोला, त्रिस्ना बाव चहूँ दिसि डोला ।।
पाँव कहार का भरम न जाना, एकैं कह्या एक नहीं माना ।।
भूभर घाम उहार न छावा, नैहरि जात बहुत दुख पावा ।।
कहै कबीर बर बहु दुख सहिये, राम प्रीति करि ंग ही रहिये ।। ९० ।।

कबीर कहते हैं कि भगवान् ने मेरे लिए शरीर की डोली सजाकर तैयार कर दी है । यह संसार के उपहास का पात्र है तथा इसे उल्टी-सीधी बातें सुननी पड़ती हैं । अथवा लोक में विशेष अस्तित्व वाला यह शरीर 'मैं, तैं' की बोली बोलता हुआ इधर-उधर भटक रहा है । यह झीने सूत के खटोले के समान है । छरछरे सूतों के बीच के छेद ही इस शरीर की विभिन्न इन्द्रियों के द्वार हैं तथा ये ही निर्बल स्थान है । यह तृष्णा-रूपी वायु से (जो इन छिद्रों से भरी जाती है) डोलता रहता है । काम, क्रोध, मद मोह और लोभ रूपी पाँच कहार इस डोली को उठा कर ले चलने वाले हैं । वे एक दूसरे का कहा नहीं मानते हैं । वे परस्पर विरोधी मार्गों में इस शरीर को खींचते रहते हैं । इसके मार्ग में वासना से तप्त मिट्टी है । ऊपर से सांसारिक बाधाओं की धूप पड़ रही है और इस शरीर की पालकी पर भगवान् की अनुकम्पा के कपड़े की छाया भी नहीं है । ऐसी अवस्था में संसार रूपी पीहर में यह जीवात्मा अत्यन्त दुःखी है । कबीर कहते हैं कि इस संसार रूपी पीहर से छुटकारा पाने में चाहे कितने ही सकटों का सामना करना पड़े; पर जीवात्मा-रूपी दुलहन को अपने पति राम से प्रेम करके उसी के पास रहना चाहिए ।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार । जीवात्मा माया जनित है; इसी से संसार को 'पीहर' कहा गया है । यौवन का बोध जागने पर रमणी को पीहर में दुःख का अनुभव होता है । ईश्वर-प्रेम रूपी यौवन में जीव की यही अवस्था हो जाती है । इसी रहस्यवादी भाव के आवरण में भक्ति और ज्ञान की व्यंजना है ।

बिनसि जाइ कागद की गुड़िया ।
जब लग पवन तबै लग उड़िया ।।टेक।।
गुड़िया कौ सबद अनाहद बौलै, खसम लियै कर डोरी डोलै ।
पवन थक्यो गुड़िया ठहरानीं, (खहरानी) सीस धुनै धुनि रोबै प्रांनीं ।।
कहै कबीर भजि सारंगपानीं, नहीं तर ह्वै है खैंचा-तानीं ।। ९१ ।।

यह शरीर-रूपी कागज की गुड़िया (पतंग) शीघ्र ही नष्ट हो जाएगी। जब तक इसको प्राण-रूपी हवा उड़ा रही है, तब तक ही यह उड़ रही है। इस शरीर में जो शब्द है वह अनहद नाद का ही स्वरूप है। इस शरीर-रूपी गुड़िया को जीवात्मा रूपी इसका स्वामी चाहे जिधर लिए डोल रहा है; अर्थात् विभिन्न प्रकार के भोगों में इस शरीर को भटका रहा है। प्राण वायु के थक जाने पर यह शरीर-रूपी पतंग क्रिया-शून्य होकर स्थिर हो जाती है। इसकी मृत्यु पर प्राणी सिर धुन कर रोता है—कि वह शरीर का सतकर्मों में सम्यक् एवं पूर्ण उपभोग नहीं कर पाया। कबीर कहते हैं, 'रे जीव, इस सब बातों को सोचकर भगवान् सारंगपाणि का भजन करो। अन्यथा इहलोक एवं परलोक—दोनों में इस शरीर-रूपी पतंग की अत्यधिक खींच-तान होगी, अर्थात् इसको अनेक कष्ट झेलने पड़ेंगे।'

टिप्पणी—रूपक अलंकार। 'सारंगपाणि' का अर्थ-गर्भित प्रयोग है।

10

मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूंद बिनसि जाइ छिन मैं, गरब करै क्या इतना ॥टेक॥
माटी खोदहिं भींत उसारैं, अंध कहै घर मेरा।
आवै तलब बाँधि लै चालै, बहुरि न करि है फेरा ॥
खोट कपट करि यहु धन जोर्‌यौ, लै धरती मैं गाड़्यौं।
रोक्यो घटि सांस नहीं निकसै ठौर-ठौर सब छाड़्यौं ॥
कहै कबीर नट नाटिका थाके, मदला कौन बजावै।
गये पषनियां उभरी बाजी को काहु कै आवै ॥ ९२ ॥

रे जीव, यह शरीर, जिसे तुम रत्न समझते हो, वह कागज का पुतला है। काल-रूपी पानी की एक बूँद के लगते ही यह क्षण भर में ही नष्ट हो जाता है। इस पर इतना अभिमान क्या करना? मिट्टी खोदकर व्यक्ति ने दीवारें खड़ी कर ली है और अज्ञानी कहता है कि यह मेरा घर है। ज्यों ही मृत्यु का आदेश होता है, त्यों ही इस शरीर को बांधकर यमदूत ले जाते हैं। उसके बाद पुनः इस घर में आने का अवसर नहीं मिलता है। जीव अनेक प्रकार की झूँठ और कपट से धन एकत्र करता है और उसको लोभवश हमेशा के लिए अपने ही अधिकार की वस्तु रखने के अज्ञान से धरती में गाड़ देता है। मृत्यु के आगमन पर दम छूट जाता है; श्वास बाहर नहीं निकलती है और जो धन जहाँ गड़ा था वहीं गड़ा रह जाता है। कबीर कहते हैं कि जब नट-रूपी जीव थक जाता है और जीवन नाटक समाप्त हो जाता है तब जीव के कार्य रूपी मंदला कौन बजा सकता है? इस जीवन-संगीत के तालपूर्ण पखावज बजाने वाले प्राणों के चले जाने पर केवल 'उझरी' अर्थात् समाप्ति की विषम राग बजती रहती है।

टिप्पणी—'सांगरूपक'। जीवन की क्षणिकता एवं ममता की निरर्थकता व्यंजित है।

झूठे तन कौं कहा गरबइये।
मरिये तौ पल भरि रहण न पइये ।।टेक।।
खीर षांड़ घृत प्यंड संवारा, प्रान गयें ले बाहरि जारा ।।
चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरै काठ के संगा ।।
दास कबीर यहु कीन्ह बिचारा, इक दिन ह्वै है हाल हमारा ।। ६३ ।।

कबीर कहते हैं कि क्षण भर के लिए सुन्दर प्रतीत होने वाले इस झूँठे शरीर पर क्या अभिमान करना ? मरने के बाद तो इसको क्षण-भर भी नहीं रखा जा सकता है। दूध, चीनी और घी के सेवन से जिस शरीर की शोभा बढ़ाई गई, उसी को प्राण निकलने पर बाहर जला दिया गया। जिस शरीर के अंगों को सुगन्धित एवं शीतल लेपों तथा चन्दन से चर्चित किया गया था, वही शरीर काठ के साथ रख कर जला दिया गया। शरीर की इस नश्वरता को देखकर भक्त कबीर ने भी अपने मन में विचार किया कि एक दिन उनकी भी यही दशा होगी।

देखहु यह तन जरता है,
घड़ी पहरि बिलंबौ रे भाई जरता है ।।टेक।।
काहैं कौ एता किया पसारा, यह तन जरि बरि ह्वै है छारा ।।
नव तन द्वादस लागी आगी, मुगध न चेतै जस सिख जागी ।।
कांम क्रोध घट भरे बिकारा, आपहि आत जरै संसारा ।।
कहै कबीर हम मृतक समांनां, राम नांम छूटे अभिमांना ।। ६४ ।।

रे भाई, तुम स्वयं देख लो, यह शरीर तो अन्त में जलता ही है। घड़ी प्रहर का विलम्ब भले ही हो जाय पर इसकी अन्तिम परिणति नष्ट होना है। अथवा तुम घड़ी-प्रहर के लिए इस शरीर में भले ही रम लो, या घड़ी-प्रहर के लिए प्रतीक्षा करो, अन्त में इस शरीर को जलना ही है। इस शरीर के लिए इतना सामान क्यों जुटाया है ? इस शरीर को तो अन्त में जलकर भस्म होना ही है। नौ द्वार वाली इस शरीर-रूपी पुरी में बारह प्रकार की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। रे मूर्ख, तुम जागते नहीं हो। यह आग नख-शिख में सर्वत्र लग जाती है। इस अन्तःकरण में काम-क्रोधादिक विकार भरे हुए हैं। इनके ताप से सारा संसार अपने आप ही जल उठता है। कबीर कहते हैं कि हम तो जीवन्मृत है। राम-नाम के आश्रय से हमारी तो इस शरीर के प्रति आसक्ति ही समाप्त हो गई है।

टिप्पणी—'व्यतिरेक' अलंकार की ध्वनि है।

तन राखनहारा कोउ नाहीं ।
तुम्ह सोचि विचारि देखौं मन मांहीं ।।टेक।।
और कुटंब अपनौं करि पार्‌यौ, मूड ठोकि ले बाहरि जार्‌यो ।।
दगाबाज लूटैं अरू रोवैं जारि गाडि खुर खोजहिं खोवैं ।।
कहत कबीर सुनहुँ रे लोई, हरि बिन राखनहार न कोई ।। ९५ ।।

कबीर कहते हैं कि इस शरीर की रक्षा करने वाला कोई नहीं है । जीव, तुम इस बात को बहुत अच्छी तरह विचार कर समझ लो । जिस कुटुम्ब को जीव ने अपना समझ कर पाला था, उसी कुटुम्ब ने उसका सिर फोड़कर उसे बाहर जला दिया । यह कुटुम्ब धोखेबाज है । जीवन भर प्राणी को लूटता ही रहता है । उसे हरि भजन से वंचित रखकर अमरता प्राप्त नहीं करने देता है अतः वही जीव की मृत्यु का कारण है । पर फिर भी जीव की मृत्यु पर कुटुम्ब रोता है । यह भी कैसा धोखा और विडम्बना है ! यह कुटुम्ब मृतक को जलाकर अथवा गाढ़कर उसके पदचिह्नों को ही मिटा देता है, उसका नाम-निशान ही मिटा देता है । कबीर कहते हैं—रे लोगो, सुनो ! भगवान् के बिना इस जीव की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है ।

टिप्पणी—शरीर की नश्वरता तथा कुटुम्ब की ममता की निरर्थकता एवं उसमें निहित धोखे की व्यंजना है ।

अब क्या सोचै आइ बनीं,
सिर सर साहिव रांम धनीं ।।टेक।।
दिन दिन पाप बहुत मैं कीन्हां, नहीं गोब्यंद की संक मनी ।।
लेट्यो भोमि बहुंत पछितांनौं, लालच लागौ करत घनीं ।।
छूटी फोज आनि गढ घेर्‌यौ, उड़ि गयौ गूड़र छांड़ि तनीं ।।
पकर्‌यो हंस जम ले चाल्यौं, मंदिर रोवै नारि घनीं ।।
कहै कबीर रांम किन सुमिरत, चीन्हत नांहिन एक चिनी ।।
जब जाइ आइ पड़ोसी घेर्‌यौ, छांड़ि चल्यौ तजि पुरिष पनीं ।। ९६ ।।

रे जीव, जब मृत्यु ही आ पहुँची है, तब यह सोचने से क्या लाभ है कि प्रभु राम सबके सिर पर हैं। यह तो पहले सोचने की बात थी। जीव, तू प्रतिदिन अनेक पाप करता रहा और कभी भी तू भगवान् से डरा नहीं। अब जब भूमि पर लिटा दिया गया है; तब तो बहुत पश्चात्ताप कर रहा है, पर पहले तो गहरे लालच में ही पड़ा रहा । अब तो यमराज की फौजें वहाँ से चल दी हैं, उन्होंने तेरे इस शरीर-रूपी दुर्ग को घेर लिया है । अन्दर की गहराई में रहने वाला आत्मा-रूपी इसका स्वामी भी अब इस शरीर को छोड़कर उड़ गया है । रस्सी-रूपी शरीर को छोड़कर बड़ी पतंग-रूपी जीव उड़ गया है । अथवा प्राणों को यमदूत पकड़कर ले गये हैं और इस

महल में बहुत सी रानियाँ रोने लगी हैं। कबीर कहते हैं 'रे जीव यह सब देख कर जीवन भर राम का स्मरण क्यों नहीं करता है ? इस शरीर रूपी दुर्ग को बनाने वाले को जीवन भर ही क्यों नहीं पहचाने रहता है ? प्राणान्त्र के समय पड़ोसी आकर घेर लेते हैं। इस पुरुष को तब अपने पुरुषत्व को (उसके अभिमान को भी) छोड़कर चला जाना पड़ता है।'

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

सुवटा डरत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत बिलाई।
तीन बार रूंधै इक दिन मैं, कबहूं क खता खवाई ॥टेक॥
या मंजारी मुगध न मांनै, सब दुनिया डहकाई।
राणां राव रंक कौं व्यापै, करि करि प्रीति सवाई ॥
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनांई।
लाखौं मांहि तैं लेत अचानक, काहू न देत दिखाई ॥ ६७ ॥

हे शुक-रूपी जीव, तुम माया-रूपी बिल्ली से डरते रहो। यह तुम्हें कभी भी काल-रूप होकर नष्ट कर देगी। यह एक दिन में ही अनेक बार तुम्हें त्रस्त करती रहती है। अथवा रे जीव, एक दिन में ही काल से निर्मित जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाओं में तुम्हारा चैतन्य घिरता रहता है। अतः कभी भी और कहीं भी यह काल रूपी बिल्ली तुझ शुक को रूंध लेगी। कभी न कभी यह बिल्ली तुम्हें चट कर ही जायेगी। यह मोह-रूप बिल्ली महामूर्ख है। विवेक-शून्य है मानती ही नहीं है। इस माया ने सम्पूर्ण संसार को धोखे में डाल रखा है। इस माया ने अत्यधिक प्रेम दिखाकर राणा, राव और रंक—सभी को बांध कर रखा है। कबीर कहते हैं, रे शुक-रूप जीव, तुम्हारा इस माया के मोह से तभी छुटकारा होगा जब तुम भगवान् की शरण में चले जाओगे। यह मृत्यु-रूप बिल्ली लाखों जीवों के बीच में से चाहे जिस जीव को उठा लेती है। यह मृत्यु किसी को दिखायी नहीं पड़ती है। इसका प्रभाव अलक्ष्य ही रहता है।'

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति अलंकार'।

का मांगूं कुछ थिर न रहाई,
देखत नैंन चल्या जग जाई ॥टेक॥
इक लख पूत सवा लख नाती, ता रावन घर न दिया न बाती ॥
लंका सा कोट समंद सी खाई, ता रावनि की खबर न पाई ॥
आवत संगि न जात संगाती, कहा भयौ दरि बांधे हाथी ॥
कहै कबीर अन्त की बारी, हाथ झाड़ि जैसे चले जुवारी ॥ ६८ ॥

इन सांसारिक वैभवों में से क्या मांगू ? इनमें से कोई भी वस्तु स्थिर नहीं

रहती है। देखते-देखते सारा जगत् चला जा रहा है। एक लाख पुत्र और सवा लाख नातीं वाले रावण के घर पर दिया-बत्ती करने वाला भी शेष नहीं रहा। समुद्र की खाई वाली लंका जैसे दुर्ग के अधिपति रावण का कहीं नाम निशान नहीं रहा। जन्म के समय इस जीव के साथ कोई आता नहीं है और जाते समय कोई जाता नहीं है। फिर द्वार पर हाथी बाँधने जैसे वैभव का भी क्या उपयोग है? कबीर कहते हैं कि अन्त समय में तो जीव इस प्रकार जाता है, जैसे जुआरी अपनी अन्तिम बाजी में पल्ला झाड़कर ही आता है। अर्थात् अज्ञानी जीव भी जुआरी है जो इस जीवन में ईश्वर-प्रेम रूपी अपनी पूँजी गँवाकर ही जाता है।

रांम थोरे दिन कौं का धन करना,
धंधा बहुत निहाइति मरना ॥टेक॥
कोटीधज साह हस्तीबंध राजा, क्रिपन को धन कौनैं काजा ॥
धंन कै गरबि राम नहीं जाना, नागा ह्वै जंम पैं गुदरांनां ॥
कहै कबीर चेतहु रे भाई, हंस गया कछु संगि न जाई ॥ ९९ ॥

हे भगवान् यह जीवन तो कुछ ही दिन का है। इसके लिए उस धन को जो स्वयं क्षणिक है एकत्र करके क्या करना है? धन के लिए प्राणों की बाजी लगाकर परिश्रम करना पड़ता है। चाहे करोड़पति साहूकार हो, चाहे वह राजा जिसके द्वार पर हाथी बँधे रहते हैं, पर जो धन का लोभी है तथा जिसका धन दान-पुण्य के लिए नहीं है; उस कृपण के धन का क्या उपयोग है? ऐसा व्यक्ति पहले तो धन के अभिमान में राम का स्मरण नहीं करता है, फिर बाद में मरने पर सब लज्जा खोकर नंगा होकर यमराज के समीप गिड़गिड़ाने लगता है। कबीर कहते हैं, 'रे भाई, तुम समय रहते ही जाग जाओ। इस धन के मोह में मत पड़ो। मरने पर इस जीव के साथ इनमें से कुछ भी नहीं जाता है।

काहे कूं माया दुख करि जोरी,
हाथि चूंन गज पांच पछेवरी ॥टेक॥
नां कोई बंध न भाई साथी, बांधे रहें तुरंगम हाथी ॥
मैड़ी महल बावड़ी छाजा, छाड़ि गये सब भूपति राजा ॥
कहै कबीर रांम ल्यौ लाई, धरी रही माया काहू खाई ॥ १०० ॥

रे जीव, तुमने इतने कष्ट झेलकर यह धन-दौलत क्यों एकत्र की है? अन्त में मरने पर तो हाथों में आटे पिण्ड एवं ओढ़ने को एक कफन मात्र ही मिलेगा। ये भाई, बन्धु, साथी-मित्र इनमें से कोई भी साथ नहीं देगा। ये हाथी घोड़े सब यहीं बँधे रह जायेंगे। भूमि के स्वामी इन राजा लोगों को भी मैड़ी (सबसे ऊपर की छत का कमरा) महल, बावड़ी छज्जा आदि सभी कुछ यहीं छोड़कर जाना पड़ा है।

कबीर कहते हैं कि राम में अपनी लौ लगाओ। यह सारी माया यहीं धरी रह जाती है। क्या कभी इसका कोई भोग कर पाया है।

माया का रस खांण न पांवा।
तब लग जम बिलवा ह्वै धावा॥ टेक॥
अनेक जतन करि गाड़ि दुराई, काहू सांची काहू खाई।
तिल तिल करि यहु माया जोरी, चलति बेर तिणां ज्यूं तीरी॥
कहै कबीर हूँ ताका दास, माया मांहैं रहै उदास॥ १०१॥

यह जीव माया (धन-दौलत) का जब तक भोग कर पाता, उससे पहले ही यम-रूपी बिलाव ने उस पर आक्रमण कर दिया। इसने अपने धन को अनेक यत्न करके तथा उसे गाड़ कर छिपाया था। पर किसी ने धन का संचय किया और किसी ने भोगा। जीव ने तिल-तिल संग्रह करके यह धन एकत्र किया था, पर मरते समय इससे पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। कबीर कहते हैं कि मैं उस ज्ञानी का दास हूँ जो इस धन दौलत एवं माया-ममता से पूर्णतः उदासीन रह पाता है।

टिप्पणी—रूपक और उपमा अलंकार।

मेरी मेरी दुनियां करते, मोह मछर तन धरते।
आगै पीर मुकदम होते, वै भी गये यौं करते॥टेक॥
किसकी ममा चचा पुनि किसका, किसका पंगुड़ा जोई।
यहु संसार बजार मंड्या है, जानैंगा जन कोई॥
मैं परदेसी काहि पुकारौं, इहाँ नहीं कोउ मेरा।
यहु संसार ढूंढ़ि सब देख्या, एक भरोसा तेरा॥
खांहि हलाल हरांम निवारैं, भिस्त तिन हुकौं होई।
पंच तत का मरम न जानैं, दोजगि पड़ि है सोई॥
कुटंब कारणि पाप कमावै, तूं जांणैं घर मेरा।
ए सब मिले आप सवारथ, इहां नहीं कोउ तेरा॥
सायर उतरै पंथ सँवारौ, बुरा न किसी का करणां।
कहै कबीर सुनुहु रे संतौ, ज्वाब खसम कूं भरणा॥ १०२॥

कबीर कहते हैं कि इस जगत के प्रति ममता का भाव रखते हुए यह जीव अपने अन्तःकरण में मोह और मात्सर्य को स्थान देता है। पहले जो उच्च और आदरणीय पदों पर आसीन थे, वे भी इस जगत् के प्रति मोह रखते हुए ही चले गये। यह उनकी दुनिया उनके साथ नहीं गई। कौन किसकी मां है? और कौन किसका पिता है? कौन किसका पुत्र है और कौन किसकी स्त्री है? किसका किससे क्या सम्बन्ध है? ये सब सम्बन्ध केवल कल्पित एवं क्षणिक हैं। अथवा यहाँ जगत् में

किसका आसरा तके ? यह संसार तो बाजार की तरह लगा हुआ है। इस बात को कोई विरला ही व्यक्ति समझेगा। इस संसार में जीवात्मा परदेशी है। उसका मूल स्थान तो ब्रह्म है। अतः जीव कह रहा है कि मैं परदेशी इस संसार में किसे अपना कहूँ ? किसे पुकारूँ ? मैंने सम्पूर्ण जगत् को ढूंढ़ कर देख लिया है। यहाँ पर मेरा कोई नहीं है। हे प्रभु, केवल तेरा ही भरोसा है। जो अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहकर जीवन व्यतीत करते हैं तथा हराम से दूर रहते हैं। उन्हीं को स्वर्ग प्राप्त होता है। जो पंचतत्त्व के रहस्य को नहीं समझता है तथा सभी प्राणी मेरी ही तरह पंच-तत्त्वों के बने हुए हैं, और मारने पर उन्हें भी व्यथा होती है, जो इसे न समझकर जीव का वध करते हैं, उन्हें नरक भोगना पड़ता है। जीव, तुमने इस संसार और कुटुम्ब को अपना घर समझ लिया है। इसी से परिवार के लिए अनेक प्रकार के अनुचित कार्य करते रहते हो और पाप के भागी बनते हो। ये सभी कुटुम्बी-जन अपने-अपने स्वार्थ से यहाँ एकत्र हैं। इनमें से कोई भी वास्तव में तेरा नहीं है। हे जीव, इस भवसागर में उतर कर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करो। कबीर कहते हैं कि किसी का अपकार कभी करो ही मत, क्योंकि तुम्हें अपने पति भगवान् के समक्ष अपने पापों के लिए जवाब देना पड़ेगा।

टिप्पणी—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' से तुलना कीजिए।

रे यामैं क्या मेरा क्या तेरा।
लाज न मरहि कहत घर मेरा ।।टेक।।
चारि पहर निसि भोरा, जैसैं तरवर पंखि बसेरा।
जैसैं वनियें हाट पसारा सब जग का सो सिरजनहारा ।।
ये ले जारे वै ले गाड़े, इनि दुखि इनि दोऊ घर छाड़े।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम्ह बिनसि रहैगा सोई ।। १०३ ।।

रे अज्ञानी, इस जगत को अपना घर कहने में तुझे लज्जा का अनुभव नहीं होता। इस जगत् में मेरा और तेरा क्या है ? इस पर किसका स्थाई अधिकार है? यह जगत् चार प्रहर की रात्रि का प्रातःकाल है और जीवन-पक्षी का वृक्ष पर बसेरा मात्र है। अर्थात् जैसे वृक्ष पर पक्षी रात को आश्रय ले लेता है, और चार प्रहर की रात बिताकर सुबह वहाँ से उड़कर चला जाता है, उसी प्रकार जीव के लिए यह शरीर और जगत् थोड़ी देर का विश्राम मात्र है। जीवन-रात्रि के प्रातःकाल में जीव को इस जगत से चले जाना है। जिस प्रकार बनिया अपनी दूकान लगाता है, सारा सामान फैलाकर रख देता है, वैसे ही इस जगत् के निर्माता भगवान् ने जीवों और विषयों का पसारा कर दिया है, यही जगत् है। इस जगत के व्यवहार एवं सम्बन्ध बाजार के व्यवहारों एवं सम्बन्धों की तरह स्वार्थाश्रित एवं क्षणिक हैं। ये हिन्दू शरीर को जलाते हैं और मुसलमान गाड़ते हैं। पर दोनों ही दुःखी होकर इस शरीर और जगत् को छोड़कर चले जाते हैं। कबीर कहते हैं, 'रे लोगों'

(कबीर की) सुनो; यह जगत् हम और तुम (हिन्दू और मुसलमान) भी नष्ट हो जायेंगे; केवल वह चेतनतत्त्व जो हम सबका मूल आधार है; वही रह जायेगा।'

टिप्पणी—'लोई' शब्द में से कबीर की 'लोई' नामक शिष्या का भी संकेत माना जा सकता है।

नर जांणै अमर मेरी काया।
घर घरबात दुपहरी छाया ॥टेक॥
मारग छाड़ि कुमारग जोवैं, आपण मरै और कू रोवैं।
कछू एक किया कछू एक करणा, मुगध न चेतै निहचै मरणां॥
ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा, उपजत बिनसत लगै न बारा।
पंच पंषुरिया एक सरीरा, कृष्ण कवलदल भंवर कबीरा॥ १०४॥

मनुष्य इस विश्वास में है कि उसका शरीर अमर है। वह इसी भ्रम में लिप्त होकर कार्य करता है। यह घर एवं घर से सम्बद्ध सब वस्तुएँ तथा सम्बन्धी केवल दुपहर की छाया में क्षणिक विश्राम के आश्रय के समान ही है। जीवन की क्षणिकता की व्यापक चर्चा के बाद भी व्यक्ति का विश्वास शरीर की अमरता में ही जमा हुआ है। इसी से यह मोक्ष के मार्ग को छोड़कर बन्धन एवं दुःख के मार्ग की ओर ही देख रहा है, उसी पर चल रहा है। वह स्वयं ही इस असद् मार्ग पर चलकर मर रहा है। अन्त में वह नष्ट होगा ही पर इसकी चिन्ता इसे नहीं है और दूसरे के मरने पर रोता है। कैसी विडम्बना है! यह मूर्ख माया के अज्ञान से जागता नहीं है। यह नहीं समझता है कि उसकी मृत्यु निश्चित है; अतः उसे मुक्ति-मार्ग अपनाना चाहिए। उसे जीवन में कुछ करना था और कुछ कर गया है। अर्थात् भजन-मार्ग को छोड़कर विषय-मार्ग पर चल रहा है। यह संसार तो जल की बूंद की तरह क्षणिक है। यह पैदा होते-होते ही नष्ट होता है। इसे नष्ट होने में एक क्षण भी नहीं लगता। पाँच पंखड़ियों वाले फूल के समान ही पंच तत्त्वों से बना हुआ पंचप्राण वाला यह शरीर है। उन पंच तत्त्व एवं पंच प्राण-रूप पंखड़ियों के बिखरने में एवं शरीर रूपी फूल के नष्ट होने में क्या देर लगती है? यही सोचकर कबीर सहस्रार कमल में जिसमें भगवान् कृष्ण का वास है अथवा कृष्ण रूपी कमल में उसी के दल का भ्रमर होकर आबद्ध हो गया है।

टिप्पणी—उपमा और रूपकातिशयोक्ति अलंकार। 'पंच पंखुरियों' से कई संकेत हैं—पंच प्राण, पंच इन्द्रियाँ, पाँच अवस्थायें (जाग्रत स्वप्न) आदि। कबीर-पंथ में पाँच अवस्थायें मानी गई हैं।

मन रे अहरषि बाद न कीजै।
अपनां सुकृत भरि भरि लीजै।।टेक।।
कुंभरा एक कमाई माटी, बहु बिधि जुगति बणाई।
एकनि मैं मुकताहल मोती, एकनि ब्याधि लगाई।।
एकनि दीना पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा।
एकनि दीनीं गरै गूदरी, एकनि सेज पयारा।।
सांची रही संम की संपति, मुगध कहै यहु मेरी।
अंत काल जब आइ पहूँता, छिन मैं कीन्ह नबेरी।।
कहत कबीर सुनौं रे संतौ, मेरी मेरी सब झूठी।
चड़ा चीथड़ चूहड़ ले गया, तणीं तणगती टूटी।। १०५।।

रे मन, सांसारिक उल्लास में पागल होकर विषयों के प्रति आसक्ति रखने की जिद्द मत करो। अपनी मुक्ति के लिए पुण्य एकत्र करो। ईश्वर-रूपी कुम्भकार ने इन पंच-तत्त्वों की मिट्टी तैयार करके जीवों के शरीर-रूपी अनेक प्रकार के घड़े बनाये हैं। एक घड़े में संसार के आनन्द, उल्लास, वैभव-रूपी हरे-मोती भर दिए हैं और दूसरे को अनेक प्रकार की व्याधियां लगा दी हैं। भगवान् ने एक शरीर को ढकने के लिए बहुमूल्य रेशमी वस्त्र और दूसरे के गले में फटी हुई गुदड़ी दे दी है। एक के लिए निवाड़ का पलंग है तो दूसरे को सूखे डंठलों पर सोना पड़ता है, अर्थात् एक व्यक्ति ऐश्वर्यशाली है तो दूसरा भिखारी। कृपण व्यक्ति का धन संचित ही पड़ा रहा; उसे वह भोग नहीं सका। पर फिर भी मूर्ख इस अलंकार का वहन करता रहा कि वह सम्पत्ति उसकी है। अन्त में जब काल आ पहुंचा तो उसने उसे ले जाने में एक क्षण की भी देरी नहीं की। सारी सम्पत्ति यहीं धरी रह गई। यही जगत् का नियम है। कबीर कहते हैं, 'रे सन्तो, यह संसार के प्रति ममता झूँठी है। यह माया किसी के साथ नहीं जाती। फटा हुआ वस्त्र तो चूहा ले जाता है और वह तनी हुई अलगनी जिस पर यह चीथड़ा टंगा था, वह टूट जाती है। अर्थात् काल रूपी चूहा इस जीर्ण सूक्ष्म शरीर को ले जाता है और प्राण एवं चैतन्य की धारा टूट जाती है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार। सन्त सम्प्रदाय के प्रतीकों का प्रयोग।

पाठान्तर—(कई पंक्तियों में भिन्न पाठ के साथ) तिवारी जी ने इस पद को अपनाया है।

हड़-हड़ हड़-हड़ हंसती है, दीवांनपनां क्या करती है।
आड़ी तिरछी फिरती है, क्या च्यौं-च्यौं म्यौं-म्यौं करती है।।

क्या तूं रंगी क्या तू चंगीं, क्या सुख लौड़ै कीन्हां।
मीर मुकदम सेर दिवांनी, जंगल केर खजीनां॥
भूले भरमि कहा तुम राते, क्या मदुमाते माया।
रांम रंगि सदा मतिवाले, काया होइ निकाया॥
कहत कबीर सुहाग सुन्दरी, हरि भजि ह्वै निस्तारा।
सारा खलक खराब किया है, मांनस कहा बिचारा॥१०६॥

कबीर जीवात्मा से कह रहे हैं कि तुम 'हड़-हड़' करके क्या अट्टहास कर रही हो ? क्यों इन विषयों में पागल हो गयी हो ? जैसे नशे वाले के पैर आड़े-तिरछे पड़ते हैं वैसे तुम्हारी क्रियायें उल्टी-सीधी हो गई हैं। तुम इन विषयों के नशे में 'चें-चें मैं-मैं' करके अनर्गल प्रलाप करने लगी हो। तुझे रंगी चंगी' सजी-सजाई एवं स्वस्थ होने का क्या मिथ्याभिमान हो गया है ? तुमने किन सांसारिक सुखों की इच्छा की है, अपने आपको, अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गयी हो। ये सब नश्वर हैं। सरदार चौधरी बड़ा आदमी, खाता-पीता; तृप्तात्मा अधिकारी आदि सभी लोग अन्त में केवल जंगल के खजाने में अर्थात् किनसुखों को खो जाते हैं; जिनमें भस्मादिक में परिणत हो जाते हैं। जीव, तुम अपने स्वरूप को भूलकर इस माया के पड़े हुए कहाँ अनुरक्त हो गये हो ? ये विषय तो अनुराग के योग्य नहीं हैं। इस माया के नशे में क्या पागल होना ? यह तो जीव को उसके मार्ग से हटाने वाली है। रे जीव, हमेशा राम के प्रेम में मस्त रहो ताकि यह शरीर दिव्य हो जाय। अथवा रे जीव, हमेशा राम के रंग में रंगी तुम्हारी काया अन्त में नष्ट तो होनी ही है। कबीर कहते हैं, 'री सोभाग्यवती सुन्दरी जीवात्मा, तू अपने पति भगवान् का भजन कर ताकि तुझे इन माया के कष्टों से मुक्ति मिले। इस माया के सम्पूर्ण जगत् को ही दूषित कर दिया है। बेचारे तुच्छ मानव की तो बात ही क्या है ?

हरि कै नांइ गहर जिनि करऊं।
रांम नांम चित्त मुखां न धरऊं॥टेक॥
जंसै सती तजै स्यंगार, ऐसै जियरा करम निवार॥
राग दोष दहूँ मैं एक न भाषि कदाचि ऊपजै तो चिता न राषि।
भूलै बिसरै गहर जो होई, कहै कबीर क्या करिहो मोही॥१०७॥

टिप्पणी — रूपक अलंकार।

जिन व्यक्तियों ने भगवान् के नाम-स्मरण में विलम्ब किया, उसकी उपेक्षा की तथा राम के नाम को चित्त और मुख पर आने ही नहीं दिया, उन जीवों ने अपने वास्तविक कर्त्तव्यों को छोड़ा है। उनका व्यवहार उस सती के समान है जो सती होते

हुए भी अर्थात् सती होने का अहंकार वहन करते हुए भी अपने पति के लिए शृंगार नहीं करती है। कबीर कहते हैं कि राग-द्वेष की बात मैंने एक भी नहीं की। अगर कभी भूल से राग-द्वेष आया भी तो मैंने उसको अपने हृदय में आश्रय नहीं दिया। कबीर कहते हैं कि अगर भूल से भगवान् के स्मवरण में देर ही हुई है तो क्या करूं, मैं तो उनकी माया से मोहित था अथवा उस क्षणिक विस्मृति से अब चेत जाने के कारण मेरी क्या विशेष हानि हो सकती है।

मन रे कागद कीन पराया।
कहा भयौ ब्यौपार तुम्हारैं, कल तर बढ़ै सवाया ॥टेक॥
बड़ें बोहरै सांटौ (सांठों) दीन्हों, कल तर काढ़्यो खोटैं।
चार लाष अरू असी ठीक दे, जनम लिष्यो सब चोटैं॥
अबकी बेर न कागद कीन्यौ, तौ धरम राइ सूं तूटैं।
पूंजी बितड़ि बंदि लै देहै, तब कहै कौन कै छूटैं॥
गुरुदेव ग्यांनीं भयौ लगनियां, सुमिरन दीन्हौं हीरा।
बड़ी निसरनी नाव रांम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा ॥१०८॥

रे मन, तुमने दूसरे को उधार का कागज लिखकर दिया है। अर्थात् तुम्हारा यह जीवन भगवान् की दी हुई उधार पूँजी है क्योंकि संचित कर्मों में से कुछ का ईश्वरेच्छा से प्रारब्ध के रूप में भोग ही जीवन है। मानव, तुम्हारे जीवन रूपी व्यापार से क्या लाभ है, अगर तुम भक्ति और ज्ञान के द्वारा भगवान् से उऋण न हो सके तो यह ईश्वर के अनुग्रह का ऋण कल तक तुम्हारे सिर पर सवाया बढ़ जायेगा। भक्ति और ज्ञान से दूर होकर अन्य कार्यों को करते रहने से मानव ईश्वर से दूर होता जाता है। फिर ईश्वर-मिलन के लिए अधिक प्रयास करने पड़ते हैं; यही ऋण का सवाया होना है। अथवा जीव, तुम्हारे कलदार (पूँजी) के सवाया हो जाने से भी क्या हुआ? बड़े बोहरे अर्थात् भगवान् ने तुम्हें सद्बुद्धि एवं ईश्वर-प्रेम रूपी धन, अथवा खरा सिक्का दिया है। तुमने कल तक इस पूंजी को नष्ट ही किया है। अथवा तुमने उस ऋण को चुकाने के लिए खोटे सिक्के ही निकाले। तुम्हें चौरासी लाख योनि में भ्रमण करते हुए इस सद्बुद्धि का सदुपयोग ही करना है अन्यथा तुम्हें सब जगह चोट ही सहनी पड़ेगी। अथवा इस ऋण को विलम्ब से चुकाने के दण्ड में तुम्हें चौरासी लाख योनियों के जन्म देने पड़े हैं। अगर इस जन्म में उधार का और कागद नहीं करेगा अर्थात् क्रियमाण कर्मों का एवं भगवान् की अनुकम्पा का ऋण और नहीं लेगा तो तुम्हें यमराज के संकटों से छुट्टी मिल जायेगी, तुम जन्म-मरण से मुक्त हो सकोगे। कर्मों की निधि भगवान् को समर्पित करने से व्यक्ति इस ऋण से उऋण हो जाता है। उसके प्रारब्ध नष्ट हो जाते हैं; और क्रियमाण कर्मों के बन्धन के कारण

रूप संस्कार भी नहीं बनते हैं। यही पुनः ऋण न लेना है। ईश्वर की दी हुई सद्बुद्धि एवं अनुग्रह की पूँजी के दुरुपयोग पर जब तुम कैद कर लिए जाओगे तब तुम्हें कौन छुड़ायेगा ? इस समय तो सद्गुरु तुम्हारा जमानती है, तुम्हारी तरफ से लगान चुकाने वाला है। तुम्हें उसने स्मरण का हीरा दे दिया है। उससे तुम सम्पूर्ण ऋण से उऋण हो सकोगे। भगवान् राम के नाम की नसैनी बहुत ऊँची है। पिंजड़े में बद्ध तोते की तरह प्रारब्ध एवं ऋण से बँधा हुआ कबीर जीवन की भक्ति रूपी इस सीढ़ी पर चढ़ गया है। अब उसे कोई भगवान् के अनुग्रह से अन्य कर्मों के ऋण में बाँध नहीं सकता है।

टिप्पणी—रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार। इसमें ईश्वर-प्रेम आदि कर्म एवं भगवान् का अनुग्रह—इन दोनों सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय है। यह कबीर के जीवन-दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। 'कागद गीर पराया' का अर्थ होगा—ऋण देने वाला पराया व्यक्ति है। कर्म विशुद्ध चैतन्य के लिए विधर्मी तत्त्व है। इसी से उनका ऋण 'पराया' कहा गया है। प्रथम पंक्ति में मन रे कागद कीरि पराया तथा पाँचवीं पंक्ति में अबकी बेर न कागद कीस्यौ' पाठ मिलते हैं 'कीरि' का अर्थ 'ऋण चुकाना' होगा। तदनुरूप पद की व्यंजना बदल जायेगी।

धागा ज्यूं टूटै त्यूं जोरि।
तूटै तूटनि होयगी, नां ऊं मिलै बहोरि ॥टेक॥
उरझ्यौ सूत पांन नहीं लागै, कूच फिरै सब लाई।
छिटकै पवन तार जब छूटै, तब मेरौ कहा बसाई॥
सुरझ्यौ सूत गूँढ़ी सब भागी, पवन राखि मन धीरा।
पंचूं भइया भये सनमुखा, तब यहु पान करीला॥
नांन्हीं मैंदा पीसि लई है, छांणि लई द्वै बारा।
कहै कबीर तेल जब मेल्या, बुनत न लागी बारा॥ १०९॥

रे जीव, भगवान् के साथ जो एकतानता का धागा बँध गया है; उसको टूटने मत दे। ज्यों ही यह किसी भी कारण से टूटे त्यों ही उसे झट जोड़ ले। अगर यह ध्यान और रस का तार टूटता ही रहा तो व्यवच्छेद हो जायेगा। इससे तागे का पुनः जुड़ना असम्भव हो जायेगा। भगवान् से ध्यान लगेगा ही नहीं। यह ध्यान का तार अन्य साधनाओं एवं भोगों से उलझ जायेगा। उलझे धागों पर चाहे कूँची चारों ओर घुमाते रहो, उस पर माण्डी की पालिस नहीं आ पाती है अर्थात् साधनाओं और भोगों में उलझे हुए अन्तःकरण में ईश्वर-प्रेम की तन्मयता के अनुरूप स्निग्धता नहीं आ पाती है; चाहे उपासना के कितने ही बाहरी क्रिया-कलाप करते रहो। अगर विषय-वासनाओं अथवा साधनाओं की प्राणवायु इधर-उधर जोर से चल पड़े और इसके परिणामस्वरूप इस ध्यान का धागा टूट जाय तो जीव का क्या वश है ? अतः इनसे हट कर जीव को भगवान् की भक्ति के तार को सँभाले रहना चाहिए। रे मन,

इस पवन को धैर्यपूर्वक अपने नियन्त्रण में रखो। बस, उसके बाद भगवान् के ध्यान का तार सुलझ जायेगा और इसमें पड़ी हुई सभी विषय-वासनाओं एवं कायायोग की गुत्थियाँ नहीं रहेंगी। जब पाँचों इन्द्रियाँ इस ध्यान-रस में तन्मय हो जायेंगी तब इस ध्यान के धागे पर करारी एवं स्निग्ध पालिश आ जायेगी (ध्यान के धागे से अखण्डता, एकतानता एवं सहजता की व्यंजना है) रे साधक, अब तो वासनामय मन रूपी मैदा को साधना से महीन पीस लिया गया है। उसकी अहंमन्यता, साम्प्रदायिक मान्यताओं की जटिलता एवं वासना की तीव्रता कुचल कर स्निग्ध एवं सूक्ष्म कर दी गई है। यह महीन मैदा ज्ञान और कर्म (साधना) से छानकर राग-द्वेष से रहित कर ली गई है। उसके बाद ईश्वर-प्रेम रूपी तेल चढ़ाकर उसमें यह मैदा डाल दी गई है फिर अब ईश्वर के साथ ध्यान के द्वारा स्थापित एकतानता के धागों पर उपर्युक्त विधि से तैयार मैदा को कलफ लगाकर ईश्वर-आराधना रूप वस्त्र को तैयार करने में क्या देर लगती है?

टिप्पणी—'सांगरूपक'। वस्त्र बुनने के रूपक में ईश्वर-प्रेम एवं आध्यात्मिक जीवन का वर्णन है। इससे कर्मों, साधना, प्राणयाम और प्रेमोपासना का समन्वय है।

> **ऐसा औसर बहुरि न आवै।**
> **रांम मिलै पूरा जन पावै ॥टेक॥**
> **जनम अनेक गया अरु आया, की बेगारि न भाड़ा पाया।**
> **भेष अनेक एक धूं कैसा, नांनां रूप धरै नट जैसा॥**
> **दांन एक मांगौं कवलाकंत, कबीर के दुख हरन अनंत॥ ११०॥**

मानव शरीर तथा ऐसा सद्गुरु प्राप्त होने का सुअवसर पुनः नहीं होगा अतः मानव ऐसी आराधना करे कि उसे ईश्वर की प्राप्ति हो और वह पूर्णता को पहुँच जाय। जीव के अनेक जन्म आए और गए हैं। उनमें जीव ने अनेक बेगार के कार्य किए हैं। इसी से इसको उनका पारिश्रमिक अर्थात् सद्गति एवं ईश्वर-प्रेम नहीं मिल सका। जैसे नट एक ही होते हुए भी अनेक रूप धारण करने से अनेक प्रतीत होता है वैसे ही जीव एक ही है, पर वह अनेक जन्म एवं रूप धारण करता है। कबीर कहते हैं, हे कमलाकान्त भगवान्, मैं आपसे एक ही दान माँगता हूँ और वह है अनेक जन्म, रूप, वेष आदि से जनित दुःखों के हरण की कामना।

टिप्पणी—कबीर के ऐसे पदों में भी उनकी जीवन-गाथा व्यंजित रहती है। इसमें रामानन्द जैसे सद्गुरु के मिलने के सुअवसर की व्यंजना है। पुनर्जन्म के प्रति कबीर का विश्वास भी इसमें लक्षित होता है। यह अधूरा पद प्रतीत होता है।

> **हरि जननी मैं बालक तेरा।**
> **काहे न औगुंण बकसहु मेरा ॥टेक॥**
> **सुत अपराध करै दिन केते, जननीं कै चित रहैं न तेते॥**

कर गहि केस करै जौ घाता, तऊ न हेत उतारै माता ।।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ।। १११ ।।

हे मातृ-रूप-भगवान्, मैं तेरा बालक हूँ । तुम मेरे अवगुणों को क्षमा क्यों नहीं करते हो ? पुत्र एक दिन में कितने भी अपराध कर ले, पर माता उनमें से किसी का भी बुरा नहीं मानती है । अगर पुत्र उसके बालों को पकड़ कर भी चोट करता है तब भी माता उसके प्रति स्नेह नहीं त्यागती है । कबीर कहते हैं कि मेरे हृदय में यही विचार बैठ गया है कि अगर बालक को कोई भी कष्ट है तो माँ को भी उससे दुःख ही होता है ।

टिप्पणी—भगवान् से अत्यधिक सानिध्य की अनुभूति के लिए माता का रूपक है । अपनी व्यथा को व्यथा के द्वारा ही भगवान् को अनुभूत कराना कबीर का उद्देश्य है । व्यथा का साक्षात्कार बुद्धि से नहीं, व्यथा से होता है । अतः कबीर के भगवान् निर्गुण होते हुए भी भावों का अनुभव करने वाले हैं । कबीर के भगवान् का भक्त को रागात्मक साक्षात्कार होता है; अतः निर्गुण होते हुए भी भक्ति का आलम्बन है ।

गोव्यंदे तुम्ह थैं डरपों भारी ।
सरणाई आयौं क्यूं गहिये, यहु कौन बात तुम्हारी ।।टेक।।
धूप-दाझतैं छांह तकाई, मति तरवर सचु पाऊं ।।
तरवर मांहै ज्वाला निकसै, तौं क्या लेइ बुझाऊं ।।
जे बन जलै त जल कूं धावै, मत जल सीतल होई ।।
जलही मांहि अगनि से निकसै, और न दूजा कोई ।।
तारण तिरण तिरण तूं तारण, और न दूजा जांनूं ।।
कहै कबीर सरनांई आयौं, आंन देव नांहि मानूं ।। ११२ ।।

हे गोविन्द, मैं तुमसे भयभीत हूँ । पता नहीं, तुम मुझ पर किस प्रकार अनुग्रह करोगे । मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूँ । क्यों; अब तो मुझे अपना लीजिए न । अब क्यों नहीं अपनाते ? यह आपका क्या न्याय है ? धूप से जलते हुए व्यक्ति ने वृक्ष की छाया का सहारा लिया है । वहाँ वृक्ष के नीचे भी उसे आराम न मिले ? यह क्या बात है । अगर वृक्ष में ऐसी ज्वाला निकलने लगे तो भगवान् उस ज्वाला को मैं किस चीज से बुझाऊं ? जब वन जलने लगता है तो व्यक्ति बुझाने के लिए जल लेने दौड़ता है । अगर जल में भी आग लग जाय और जल भी शीतलता न दे तो फिर किसका आसरा है ? अगर कोई दूसरा है तो नहीं । हे भगवान् तुम ही उद्धार के साधन हो तुम ही उद्धार हो (तुम ही उद्धार करने वाले हो) । जीव का उद्धार भगवान् के अनुग्रह से होता है अतः वही उद्धारक है । नाम-स्मरण के रूप में वही साधना भी है और स्वरूप-स्थिति ही, उद्धार है, अतः भगवान् ही उद्धार-रूप भी है । हे भगवान्, तुम्हारे अतिरिक्त और तो कुछ नहीं । कबीर कहते हैं कि मैं तो तुम्हारी

शरण में आ गया हूँ। अन्य किसी को उद्धारक मानता ही नहीं। तुम्हें मुझे अपने प्रेम से शीतल करना चाहिए था। पर तुम इस संसार की आग में जला रहे हो। इसी कारण मैं तुमसे भयभीत हूँ।

टिप्पणी—'दृष्टान्त'। जल, तरवर आदि दृष्टान्तों द्वारा भगवान् की ओर ही संकेत है।

मैं गुलांम मोहि बेचि गुसांई।
तन मन धन मेरा रांमजी कै तांई ॥टेक॥
आंनि कबीरा हाटि उतारा, सोई गाहक सोई बेचनहारा॥
बेचै रांम तौ राखै कौंन, राखै रांम तो बेचै कौंन॥
कहै कबीर मैं तन मन जार्‌या, साहिब अपनां छिनन बिसार्‌या॥१३॥

हे भगवान्, मैं आपका दास हूँ आप मुझे बेच दीजिए। यह तन, मन, धन—सर्वस्व भगवान् के लिए ही है, उस भगवान् ने ही मुझे इस संसार रूपी बाजार में लाकर उतारा है। भक्त कबीर को राम ही बेचने वाला है और राम ही उसका खरीदार है। भक्त वासनाओं से प्रेरित होकर तथा वासनाओं की परितृप्ति के लिए कार्य नहीं करता अपितु वह भगवान् की प्रेरणा से, भगवान् के संकेत पर ही कार्य करता है और सबकी सब क्रियायें उसी को समर्पित भी हैं। वे ही उसको अपनाते हैं। कार्य के प्रेरक रूप में भगवान् भक्त को बेचने वाले हैं और भक्त के कार्यों के फल भगवान् को ही समर्पित हैं अतः वे खरीदार भी हैं। अगर भगवान् उसे भक्ति को बेच देते हैं तो उसे रखने वाला अर्थात् उससे वंचित करने वाला कौन है? और यदि भगवान् उसे भक्ति समर्पित नहीं करते हैं उसे नहीं बेचते हैं, तो दूसरा कौन उसे बेच सकता है? भगवान् के अनुग्रह से जागने वाला यह समर्पण-भाव उसमें दूसरा कौन जगा सकता है? कबीर कहते हैं कि मैंने अपने शरीर, मन आदि सभी को जला दिया है अर्थात् उनकी आसक्ति तथा उनके पृथक् अहंकार को नष्ट कर दिया है। दास जैसे स्वामी को पूर्णतया समर्पित हो जाता है, वैसे ही मैं भगवान् को पूर्णतया समर्पित हूँ। मैंने अपने प्रभु को क्षण भर के लिए नहीं भुलाया है।

टिप्पणी—'सांगरूपक अलंकार। 'दास प्रथा' का आध्यात्मिक आवरण दे दिया गया है। दास्य भाव की भक्ति की सुन्दर व्याख्या भी है।

अब मोहि रांम भरोसा तेरा।
और कौंन का करौं निहोरा ॥टेक॥
जाके रांम सरीखा साहिब भाई, सो क्यूँ अनत पुकारन जाई॥
जा सिरि तीनि लोक कौ भारा, सो क्यूँ न करै जन की प्रतिपारा॥
कहैं कबीर सेवौ बनवारी, सींचौ पेड़ पीवैं सब डारी॥११४॥

हे भगवन्, मैंने अपने आपको पूर्णतया तुम्हें समर्पित कर दिया है। अब मुझे तुम्हारे सिवाय अन्य किसी का भी भरोसा नहीं है। अब मैं किसी की भी खुशामद नहीं करूँगा। हे भाई, जिसका भगवान् राम जैसा व्यक्ति अनुग्रह करने वाला है तथा जिसका वह समर्थ स्वामी है, वह अन्य किसी से माँगने क्यों जायेगा? तीनों लोकों के प्रतिपालन का भार जिसके सिर पर है, वह अपने भक्त का प्रतिपालन क्यों नहीं करेगा? कबीर कहते हैं, 'रे जीव, सब प्रकार के सुखों और समृद्धियों के दाता भगवान् की सेवा करो। पेड़ की मूल का सिंचन करो ताकि उसकी डाल आप्यायित हो जायें और पेड़ के फलादिक सब लाभ प्राप्त हो सके।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार। भगवान् की भक्ति से कायायोग आदि की सिद्धियाँ भी स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं।

जियरा मेरा फिरै रे उदास।
राम बिन निकसि न जाई सास, अजहूँ कौन आस ॥टेक॥
जहां जहां जांऊ रांम मिलावै न कोई, कहौ संतो कैसें जीवन होई॥
जरै सरीर यहु तद कोई न बुझावै, अनल दहै निस नींद न आवै।
चन्दन घसि घसि अंगि लगाऊं, रांम बिनां दारन दुख पाऊं॥
सतसंगति मति मन करि धीरा, सहज जांनि रांमहि भजै कबीरा ॥११५॥

मेरा हृदय भगवान् के वियोग की व्यथा में विषयों से उदास होकर इधर-उधर भटक रहा है। राम के वियोग में प्राण निकल क्यों नहीं जाते हैं? अब भी किसकी आशा में अटके हुए हैं? मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ अर्थात् जिन-जिन साधनाओं का आश्रय लेता हूँ उनसे ही निराशा होती है। उनमें से कोई भी मुझे भगवान् से नहीं मिलती है। सन्तो, ऐसी अवस्था में जीवन कैसे चले? राम-वियोग में यह शरीर जल रहा है और उस तपन को कोई भी बुझा नहीं पाता है। विरह की आग लगी हुई हैं और रात में नींद भी नहीं आती है, अर्थात् अज्ञान-रूप इन विषयों में मन नहीं लगता है। इस तपन को बुझाने के लिए घिस-घिसकर चन्दन लीपता हूँ। तात्पर्य है कायायोग की एवं अन्य प्रकार की अनेक आध्यात्मिक साधनायें करता हूँ पर रामा के दर्शनों के बिना अत्यन्त दारुण दुःख का ही अनुभव हो रहा है। कबीर सन्तों की संगति में अपनी बुद्धि लगाकर मन में धैर्य धारण करके तथा भगवान् को सहज रूप समझकर ही उनका भजन करते हैं। इसी से उस व्यथा की निवृत्ति होगी।

टिप्पणी—सगुण भक्ति के बिम्बों से निर्गुण भक्ति की प्रगाढ़ता व्यंजित है।

रांम कहौ न अजहूँ केते दिनां।
जब ह्वै है प्रांन प्रभू तुम्ह लीनां ॥टेक॥
भौ भ्रमत अनेक जन्म गया, तुम्ह दरसन गोव्यंद छिन न भया॥

भ्रमि भूलि पर्‌यौ भवसागर कछू न बसाइ बंसीधरा ॥
कहै कबीर दुखभंजनां करौ दया दुरत निकंदनां ॥ ११६ ॥

कबीर जीव को चेतावनी देते हैं, "रे मन, अब भी भगवान् का स्मरण कर लो। प्रभु में तुम्हारे प्राणों के लवलीन होने में बहुत दिन शेष हैं अथवा अब ही भगवान् का नाम लो। अब तुम्हारी मृत्यु के कितने दिन अवशिष्ट हैं ? अब तो बहुत नजदीक आ गई है।" अथवा कबीर ईश्वर से वियुक्त रहने की विकलता को व्यक्त करते हुए कहते है; 'हे राम ! अब आप ही बतावें कि मेरे प्राणों के आपसे तदाकार होने में कितने दिन और शेष हैं। इस संसार में भटकते हुए मुझे अनेक जन्म हो गये हैं। पर एक क्षण के लिए भी मुझे भगवान् के दर्शन नहीं हो सके। एक क्षण भी मैं उनका ध्यान नहीं कर पाया। मैं भ्रमित होकर इस भवसागर की लहरों में पड़ गया हूँ। हे प्रभु, इन लहरों से निकलने में मैं असमर्थ हूँ। हे कृष्ण कुछ भी, वश नहीं चल रहा है।' कबीर कहते हैं, 'हे दुःखभंजन ! हे पापों को नष्ट करने वाले भगवान्, आप शीघ्र ही अनुकम्पा करो।'

टिप्पणी—'परिकर' अलंकार।

हरी मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ॥टेक॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, रांम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥
किया स्यंगार मिलन कै तांई, काहै न मिलौ राजा रांम गुसांई ॥
अब की बेर मिलन जो पाऊं, कहै कबीर भौ-जलि नहीं आंऊं ॥११७॥

जीवात्मा कह रही है, 'हे सखि, भगवान् मेरे पति हैं। भगवान् के बिना मेरे प्राण नहीं रह सकते हैं। हरि मेरे पति हैं और मैं उनकी दुल्हिन हूँ। राम बहुत बड़े हैं और मैं बहुत छोटी हूँ। मैंने उनसे मिलने के लिए शृंगार किया है। हे स्वामी, हे राजा राम अब मुझसे आप शीघ्र क्यों नहीं मिलते हैं ? कबीर कहते हैं, "हे भगवान्, अगर मैं इसी जन्म में आपसे मिल पाऊँ तो इस भवसागर से पुनः नहीं आना पड़े।

टिप्पणी—यहाँ रहस्यवादी आवरण में जीव भगवान् की गरिमा तथा अपनी क्षुद्रता का अनुभव करता है। प्रेमानुभूति की उत्कटता तथा साधना ही उस परम मिलन के लिए शृंगार है। रूपक अलंकार।

पाठ-भेद—धन पिउ एकै संगि बसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा।
धन्नि सुहागिनी जो पिय भावै, कह कबीर फिरि जनिम न आवै॥

रांम बांन अनिययाले तीर।
जाहि लागे सो जांनै पीर ॥टेक॥
तन मन खोजौं चोट न पांऊं, ओषदि मूरी कहां घसि लांऊं ॥

एकही रूप दीसे सब नारी, नां जानौं को पियहि पियारीं ॥
कहै कबीर जा मस्तकि भाग, नां जांनूं काहु देइ सुहाग ॥ ११८ ॥

राम-रूपी धनुष के ये प्रेम एवं अनुग्रह की अनी वाले तीक्ष्ण बाण हैं। उनकी चोट जिनको लगती है; वे ही उस पीड़ा का अनुभव करते हैं। यह सांसारिक पीड़ा विलक्षण एवं असाधारण अनुभूति है अतः इसका अन्य किसी को बौद्धिक ज्ञान भी नहीं होता है। यह चोट आन्तरिक है। जीवात्मा कहती है कि मैंने अपना तन और मन दोनों खोज लिए, पर यह भगवान् के प्रेम की चोट मुझे कहीं भी नहीं दिखाई देती है। औषध की जड़ी घिस-घिस कर कहाँ लगाऊँ ? फिर इस प्रेम की पीर की एवं मिलन की प्रेम के अतिरिक्त कोई औषध भी नहीं है। जीवात्मा रूपी नारियाँ सब सामान ही हैं। ऊपर तो सब जीवात्मा एक-सी ही दिखाई देती हैं। पर पता नहीं, इनमें से कौन-सी अपने पति भगवान् को प्रिय है ? किसमें भगवान् को गहरा एवं आन्तरिक अनुराग है। कबीर कहते हैं कि पता नहीं कौन-सी जीवात्मा भाग्य-शाली है जिसे भगवान् अपने मिलन का सौभाग्य प्रदान करेंगे।

टिप्पणी—रूपक अलङ्कार।

आस नहीं पूरिया रे।
रांम बिन को क्रम काटणहार ॥टेक॥
जद सर जल परिपूरता, चात्रिग चितह उदास।
मेरी विषम क्रम गति ह्वै परी ताथैं पियास पियास ॥
सिध मिलै सुधि नां मिलै, मिलै मिलावै सोइ।
सूर सिध जब भेटिये, तब दुख न ब्यापै कोई ॥
बौछें जलि जैसें मछिका, उदर न भरई नीर।
त्यूं तुम्ह कारनि केसवा, जन तालामेली कबीर ॥ ११९ ॥

जीव कहता है कि भगवान् की कृपा के बिना मेरे जीवन की ईश्वर प्राप्ति की कामना पूर्ण नहीं हो सकी। राम के बिना इन कर्म-बन्धनों को काटने की सामर्थ्य किसमें है ? जब भवसागर वासना के जल से आपूरित होकर हिलोरें लेने लगता है तभी चातक रूपी भक्त का हृदय उदास होने लगता है। इससे उसके भगवत्प्रेम में बाधा होती है। भक्त जीवात्मा कहती है कि मैं विषय-वासनाओं में आसक्त नहीं हो पाती और ईश्वर-प्रेम की आकांक्षा जागने पर भी अभी मुझ में भक्ति का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया। यही मेरी कर्मों की अत्यन्त विषम अवस्था हो गई है। इससे मेरी प्यास में अत्यधिक वृद्धि हो गई है। मुझे अब तक अनेक योगों के सिद्ध पुरुष तो मिले हैं; पर भक्त और ज्ञानी नहीं मिला। अथवा इन सिद्धों से मुझे उस भगवान् की खबर नहीं मिल रही है। अगर वह (अर्थात् ज्ञानी-भक्त अथवा प्रिय की खबर) मिल जाय

तो उस परम-तत्त्व से मेरा मिलन करा दे। वास्तव में शूर और सिद्ध तो वह है जिससे एक बार भेंट होने पर जीवात्मा में किसी प्रकार के दुःख की अनुभूति शेष नहीं रहती। पर ये कायायोग के सिद्ध तो उथले हैं। जैसे छिछले जल में मछली जल-विहार का भरपेट आनन्द नहीं ले पाती है, उस आनन्द नीर से उसका पेट नहीं भरता है। वैसे ही ईश्वर-प्रेम की वियोगिनी जीवात्मा इन साधनाओं में भगवान् के मिलन एवं उससे प्राप्त महारस के लिए तड़फती ही रहती है। कबीर कहते हैं कि इसलिए भक्त को इस संसार में एवं इन साधनाओं में वेचैनी का अनुभव होता रहता है।

टिप्पणी—'दृष्टान्त' अलङ्कार। ऐसे पदों में भक्ति और ज्ञान के महारस की पिपासा के साथ ही कायायोग की अपूर्णता से जनित विकलता भी व्यंजित है।

रांम बिन तन की ताप न जाई।
जल मैं अगनि उठी अधिकाई ।।टेक।।
तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मींनां, जल मैं रहौं जलहि बिन खीनां।।
तुम्ह प्यंजरा मैं सुवनां तोरा, दरसन देहु भाग बड़ मोरा।।
तुम्ह सतगुरु मैं नौतम (न) चेला, कहै कबीर रांमु रमूं अकेला ।। १२० ।।

कबीर कहते हैं कि भगवान् राम के प्रेम और अनुग्रह के बिना शरीर की तपन नहीं बुझती है। उसके बिना जीव के इस चेतन रूपी जल में व्यथा की ज्वालाएं अधिक प्रबल हो जाती हैं। हे भगवान्, तुम आनन्द और प्रेम के अपार समुद्र हो, मैं उस समुद्र में विहार करने वाली मछली हूँ। मैं तुम्हारे स्वरूप में रमती रहूँ, तभी स्वस्थ रहती हूँ अन्यथा व्यथित हूँ ही। हे भगवान् तुम तो पिंजड़े हो और मैं तुम्हारा तोता हूँ। मैं तुम्हारे में समा जाने में ही आनन्द का अनुभव करता हूँ। तुम असीम हो, पर मुझ असीम की सीमायें भी तुम्हीं हो। हे प्रभु, तुम मुझे दर्शन दो। इसे ही मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। कबीर कहते हैं कि आप सद्गुरु हैं पर मैं आपका अनुत्तम एवं नवीन ही शिष्य हूँ। हे राम, मैं आपके उपदेशों को अभी पूर्णतया आत्मसात नहीं कर पाता हूँ पर फिर भी एकाकी आप में ही रमता हूँ।

टिप्पणी—उल्लेख अलङ्कार।

इसके उपमान भक्त और भगवान् के सम्बन्ध तथा भक्त की भावानुभूति की व्यंजना में सक्षम एवं परम्परा-मुक्ति है।

गोव्यंदा गुंण गाईये रे।
ताथैं भाई पाईये परम निधांन ।।टेक।।
ऊंकारे जग ऊपजै, बिकारे जग जाइ।
अनहद बेन बजाइ करि, रह्यो गगन मठ छांइ ।।
झूठे जग डहकाइया रे, क्या जीवण की आस।

रांम रसांइण जिनि पीया, तिनकौं बहुरि न लागी रे पियास ॥
अरध खिन जीवन भला, भगवत भगति सहेत।
कोटि कलप जीवन ब्रिथा, नांहिन हरि सूं हेत ॥
संपति देखि न हरखिये, बिपति देषि न रोइ।
ज्यूं संपति त्यूं बिपति है, करता करै सु होई ॥
सरग (स्वंग) लोक न बांछिये, डरिये न नरक निवास।
हूंणां थां सो ह्वै रह्या मनहु न कीजै झूठी आस ॥
क्या जप क्या तप संजमां, क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जो पैं जुगति न जांनियै, भाव भगति भगवान ॥
सुंनि मंडल मैं सोधि लै, परम जोति परकास।
तहूंवा रूप न रेष है, बिन फूलनि फूल्यौ रे अकास ॥
कहै कबीर हरि गुंण गाइ लै, सत संगति रिदा मंझारि।
जो सेवग सेवा करै, ता संगि रमैं रे मुरारि ॥ १२१ ॥

रे जीव, तुम गोविन्द का गुणगान करो ताकि तुम्हें पद्म कोष की परम आनन्द की प्राप्ति हो सके । ऊँकार के जाप से वास्तविक आनन्द रूप संसार की उत्पत्ति होती है और वहीं आनन्द-विषयों वासनाओं के विकार से नष्ट हो जाता है। रे साधक जीव, तू अनहदनाद सुनता हुआ उस शून्यशिखर पर अपना मठ बनाकर वहीं छाया रहा । पर कायायोग के इस झूँठे जग में भी तू भ्रमित ही रहा । यही जीवन का परम प्राप्तव्य नहीं । फिर इस जीवन का क्या भरोसा ? इसे अन्य साधनाओं में व्यर्थ न खोकर राम-रस पीने में ही लगाना चाहिए । जिन भक्तों ने इस राम के रसायन अर्थात् भक्ति के महारस का पान किया है, उनको फिर कभी प्यास ही नहीं लगी । वे परम आनन्द एवं रस से पूर्णतः तृप्त हो गए । भगवान् के प्रेम का आधे क्षण का जीवन भी उत्तम है । साधनाओं से बढ़ाया हुआ पर भगवत्भक्ति से शून्य करोड़ कल्पों का जीवन भी व्यर्थ है । मानव को न तो सम्पत्ति में हर्ष और अहंकार का अनुभव कराना चाहिए और न विपत्ति में घबड़ाहट का । सम्पत्ति और विपत्ति दोनों ही भगवान् की दी हुई हैं । दोनों ही में जीवन का मंगल है । भगवान् जिसका जैसे मंगल समझते हैं, उसे वैसे ही रखते हैं अतः दोनों ही समान है । हर्ष और दुःख अहंकार एवं व्यथा के विषय नहीं हैं । ये भगवान् की देन के रूप में ही स्वीकार्य है । स्वर्ग की आकांक्षा मत करो और नरक से डरो मत । जीवन को जिस मार्ग पर चलना था; उसी मार्ग पर चल रहा है । मन में जीवन को सुपथ पर चलाने के झूँठे अहंकार एवं व्यर्थ की आशाओं के शिकार मत बनो । भगवान् की भाव-भक्ति एवं प्रेमभक्ति की युक्ति न ज्ञात होने पर जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, स्नान आदि

बाह्याचार सब व्यर्थ हैं। शून्य गगन-मण्डल में उस परम ज्योति के प्रकाश को ढूंढ़ने की चेष्टा करो। वहाँ पर तुम्हें वह रूप और रेख नहीं मिलेगी। वह तो सहज परमतत्त्व है जो बिना फूल के फूला हुआ है, सर्वव्यापी व आकाशवत् है, वह कायायोग से प्राप्य 'शून्य' अवस्था में परिसीमित कैसे रह सकता है? वह तो कार्य-कारण एवं साधन-साध्य सम्बन्धों से रहित सहज रूप में ही सर्वव्यापी है। उसका साक्षात्कार इस कायायोग से नहीं, सहज-प्रेम एवं सहज-भाव से ही सम्भव है। इसलिए हृदय में संत-संगति को धारण करके भगवान् का भजन करो। जो सेवक भगवान् की सेवा में रत है, उसके साथ स्वयं राम ही निरन्तर रमते रहते हैं, क्रीड़ा करते रहते हैं।

टिप्पणी—अनासक्ति योग, भगवान् का ही सर्व-क्रियाओं का कर्तृत्व, जीव में कर्तृत्व के अहंकार की व्यर्थता, सब क्रियाओं का मंगलमयत्व, प्रेम और भक्ति ही सर्वोपरित्व—भारतीय दर्शन और धर्म के ये सब मूल तत्त्व ऐसे पदों एवं कबीर-दर्शन के मूल आधारभूत सिद्धान्त हैं।

रूपक और विभावना अलंकार।

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भज भाई।
जा दिन तेरो कोई नांही, ता दिन रांम सहाई ॥टेक॥
तंत न जानूं मंत न जांनूं जांनूं सुंदर काया।
मीर मल्कि छत्रपति राजा, ते भी खाये माया ॥
वेद न जांनूं भेद न जानूं एकहि रांमां।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हां, सुख कीन्हौं जित नांमा ॥
राजा अंबरीक कै कारणि, चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ भगत की सरन उबारै ॥ १२२ ॥

रे मन, हरि का भजन करो। रे भाई, भगवान का भजन करो। जिस दिन तुम्हारा कोई भी सहारा नहीं रहेगा, उस दिन भी भगवान् होंगे। न मैं तन्त्र जानता हूँ और न मंत्र ही। मेरा इनमें कोई विश्वास नहीं रहा। मैं यह जानता हूँ कि सुन्दर शरीर वाले मीर, छत्रपति, राजा आदि सभी को माया ने नष्ट कर दिया। न मुझे वेदों में विश्वास है और न किसी अन्य गम्भीर शास्त्र में। मेरा विश्वास एकमात्र राम में है। मैंने अहंकारी पण्डितों की ओर से मुंह फेर लिया है तथा मैं भगवान् की ओर उन्मुख हो गया हूँ। राम ही भक्तों का प्रतिपालन करने वाला है। उसने अम्बरीश के लिए सुदर्शन चक्र का प्रयोग किया था। भक्त कबीर का स्वामी ऐसा दयालु है कि वह शरण में आए हुए भक्त की रक्षा करता ही है।

राम भणि रांम भणि रांम चिंतामणि ।
भाग बड़े पायौ छाड़ै जिनि ॥टेक॥
असंत संगति जिनि जाइ रे भुलाइ, साध संगति मिलि हरि गुंण गाइ ॥
रिदा कवल मैं राखि लुकाइ, प्रेम गांठि दे ज्यूं छूटि न जाइ ॥
आठ सिधि नव निधि नांव मंझारि, कहै कबीर भजि चरन मुरारि ॥१२३॥

राम का नाम लो, राम ही बोलो । राम ही चिन्तामणि है; सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है । ऐसी चिन्तामणि बड़े भाग्य से मिलती है । उसे एक बार मिलने पर कभी मत छोड़ो । असंत व्यक्तियों की संगति में पड़कर राम को मत भूलो । साधुओं की संगति में बैठकर भगवान् का गुणगान करो । उस राम को अपने हृदय-कमल में छिपाकर रखो और ऐसी प्रेम की गाँठ में बाँध लो कि राम कभी छुड़ाकर जा ही न सके । आठो सिद्धियों और नो प्रकार की निधि—सभी राम के नाम-स्मरण से प्राप्त हो जाती हैं । कबीर कहते हैं रे जीव, भगवान् के चरणों की ही सेवा कर ।

निरमल निरमल रांम गुंण गावै ।
सो भगता मेरे मनि भावै ॥टेक॥
जे जन लेहि रांम कौ नांउं, ताकी मैं बलिहारी जांउं ॥
जिहि घटि रांम रहे भरपूरि, ताकी मैं चरनन की धूरि ॥
जाति जुलाहा मति कौ धीर, हरषि हरषि गुंण रमैं कबीर ॥ १२४ ॥

कबीर कहते हैं कि जो निर्मल होकर भगवान् के निर्मल गुणों को गाता रहता है, वह भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है । जो भक्त राम का नाम लेते हैं, उन पर मैं न्योछावर हूँ । जिन भक्तों का अन्तःकरण राम के गुणों से व्याप्त है, मैं उन भक्तों के चरणों की धूल हूँ । मैं जाति का जुलाहा हूँ । मेरा मन भ्रमों को छोड़कर स्थिर हो गया है और अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् के गुणों में रम रहा है ।

टिप्पणी—गुरु ग्रंथ साहब में कुछ साधारण पाठभेद के साथ दिया गया है ।

जा नरि रांम भगति नहीं साधी ।
सो जनमत काहे न मूवौ अपराधी ॥टेक॥
गरभ मुचे मुचि भई किन बांझ, सूकर रूप फिरै कलि मांझ ॥
जिहि कुलि पुत्र न ग्यांन बिचारी, वाकी बिधवा काहे न भई महतारी ॥
कहै कबीर नर सुन्दर सरूप, रांम भगति बिन कुचिल करूप ॥ १२५ ॥

जिन व्यक्तियों ने राम की भक्ति नहीं की, वे अपराधी लोग जन्म लेते ही क्यों नहीं मर गए ? वे गर्भ में ही नष्ट क्यों नहीं हुए ? गर्भ नष्ट होने के बाद

उनकी माता बांझ ही क्यों नहीं रह गई ? जिस कुल में पुत्र का ज्ञान की ओर झुकाव हुआ, उसकी माता पुत्रों को जन्म देने से पहले ही विधवा क्यों नहीं हो गई ? कबीर कहते हैं कि मानव चाहे बाहरी शरीर से कितना ही सुन्दर एवं रूपवान है, पर राम-भक्ति के अभाव में वह वास्तव में कुरूप एवं बुरे आचरण वाला ही है ।

रांम बिनां ध्रिग ध्रिग नर नारी ।
कहा तैं आइ कियौ संसारी ।।टेक।।
रज बिनां कैसौ रजपूत, ग्यांन बिना फोकट अवधूत ।।
गनिका कौ पूत पिता कासौं कहै, गुर बिन चेला ग्यांन न लहै ।।
कवारी कंन्यां करै स्यंगार, सोभ न पावै बिन भरतार ।।
कहै कबीर हूँ कहता डरूँ, सुषदेव कहै तौ मैं क्या करौं ।।१२६।।

राम-भक्ति से शून्य नर-नारी केवल धिक्कार के पात्र हैं । उनके संसार में आने का क्या लाभ है ? शौर्य बिना कैसा राजपूत्र ? ज्ञान से शून्य अवधूत तो व्यर्थ नाम का ही अवधूत है । वेश्या का पुत्र किससे अपना पिता कहे ? वैसे ही अनेक देवताओं और साधनाओं में फँसा हुआ किसी के भी प्रति अनन्य नहीं हो सकता है । भक्ति के बिना शिष्य को वास्तविक ज्ञान नहीं मिल सकता है । भक्ति के बिना जन्म कृतार्थ नहीं हो सकता है । कुमारी कन्या अगर शृंगार करती है तो बिना पति के वह वस्तु उसे शोभा नहीं देती । वैसे ही जीवात्मा जब तक भगवान् को पति के रूप में वरण नहीं करती तब वह तक वह कुमारी ही रहती है और तब भी अगर सांसारिक विषय-वासनाओं की सज-धज में फँसी रहती है तो यह उसे शोभा नहीं देता । जीव के जन्म का लक्ष्य और कृतार्थता तो भगवद् भजन हैं । कबीर कहते हैं कि इन कटु सत्यों को मैं तो कहता हुआ भी संकोच करता हूँ, डरता हूँ । स्वयं शुकदेव ने ही ये सब कहा है । मेरा इसमें क्या जोर है ?

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार ।

जरि जाउ ऐसा जीवनां, राजा रांम सूं प्रीति न होई ।
जन्म अमोलिक जात है, चेति न देखै कोई ।।टेक।।
मधुमाषी धन संग्रहै, मधुवा मधु ले जाई रे ।
गयौ गयौ धंन मूंढ जनां, फिरि पीछैं पछिताई रे ।।
बिषिया सुख कै कारनै, जाइ गनिका सुं प्रीति लगाई रे ।
अंधै आगि न सूझई, पढ़ि पढ़ि लोग बुझाई ।।
एक जनम कै कारणैं, कत पूजौ देव सहंसो रे ।
काहे न पूजौ रांम जी, जाकौ भगत महेसौ रे ।।
कहै कबीर चित चंचला, सुनहु मूढ़ मति मोरी ।
बिषिया फिरि फिरि आवई, राजा रांम न मिलहि बहोरी ।।१२७।।

जिस जीवन में भगवान् राम से प्रेम नहीं जागा, वह जीवन नष्ट होने योग्य है; उसमें आग लगे। यह अमूल्य मानव-जीवन व्यर्थ बीत रहा है, इस बात को कोई भी जागकर नहीं देखता है। मधुमक्खी शहद का संचय करती है, पर उसका स्वाद स्वयं नहीं ले पाती। उसे तो शहद बटोरने वाला ले जाता है। वैसे ही जीव जीवन में अनेक प्रकार की शक्तियों का संग्रह करता है, पर वे सब अन्त में वासनाओं को समर्पित हो जाती हैं अथवा यमराज उन सब शक्तियों और कर्मों सहित जीव को ले जाता है। मूर्ख व्यक्तियों का धन यों ही नष्ट हो जाता है और बाद में वे लोग पछताते रहते हैं। जीव को भगवान् ने जो निधि दी है, उसे वह अज्ञानवश यों ही नष्ट कर देता है और बाद में पछताता है। विषयों के सुख की लालसा से व्यक्ति वेश्या से प्रेम करने लगता है। पर अन्त में उसके दुष्परिणाम ही होते हैं। अज्ञानी की यह विषय की आग कभी नहीं बुझती है पर ज्ञानी इस पर चिन्तन करके एवं शास्त्र-ज्ञान से इसे बुझा देता है। इस छोटे से जीवन के सुखों की आकांक्षा में वशीभूत होकर अनेक देवताओं की पूजा क्यों करनी चाहिए? रे जीव, उस राम की उपासना क्यों नहीं करते हो जिसकी उपासना महेशादिक देवताओं ने भी की है। वही जीवन के सम्पूर्ण सुखों तथा वास्तविक सार्थकता का दाता है। कबीर कहते हैं कि यह चित्त बहुत चंचल है। रे मूर्ख, मेरी सलाह ध्यान से सुन। ये विषयों के सुख तो बारम्बार मिलेंगे, अनेक योनियों में मिलेंगे पर केवल मानव-जीवन में प्राप्य भगवान् राम की भक्ति में एक बार चूक जाओगे तो वह किसी योनि में नहीं प्राप्त होगी। वहाँ पर मन विषयों में ही भटकता रहेगा। यहाँ पर भक्ति के प्राप्त होने पर विषयों का सुख तो मिलता ही रहेगा। विषयों के भगवान् को अर्पित होने के कारण उनसे अधिक सुख मिलेगा।

टिप्पणी— उदाहरण अलङ्कार।

राम न जपहु कहा भयौ अंधा।
राम बिना जंम मेलै फंधा ॥टेक॥
सुत दारा का कीया पसारा, अंत की बेर भये बटपारा॥
माया ऊपरि माया मांडीं, साथ न चलैं षोषरी हांडीं॥
जपौ राम ज्यूं अंति उबारैं, ठाढ़ी बांह कबीर पुकारैं॥ १२८॥

रे मन, राम का जाप क्यों नहीं करता है? कहाँ विषय-वासनाओं और अन्य साधनाओं के मोह में अन्धा हो गया है? राम-भजन के बिना यमराज का फंदा तुम पर अवश्य ही पड़ेगा। तुमने जो पुत्र और कलत्र का फंदा तैयार किया है, उनको मोहवश अपना समझा है, वे सब अन्त में तुम्हारी ज्ञान और भक्ति की समृद्धि को लूटने वाले लुटेरे ही सिद्ध होंगे। उनके कारण तुम मोह में पड़ जाओगे और तुम्हारी यह सम्पत्ति क्षीण हो होगी। तुमने इस सांसारिक माया के प्रति कितना मोह रखा है? यह माया तो खोखली हँडिया है। इसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। यह भी

तुम्हारे साथ नहीं चलेगी तुम भगवान् का भजन करो, ताकि तुम्हारा अन्त सुधर सके अर्थात् मोक्ष और भक्ति से तुम्हारा जीवन सफल हो सके। कबीर भुजा उठाकर यह चेतावनी दे रहा है।

डगमग छाड़ि दे मन बौरा।
अब तौ जरें बरें बनि आवै, लीन्हों हाथ सिंधौरा ॥टेक॥
होइ निसंक मगन ह्वै नाचौ, लोभ मोह भ्रम छाड़ो।
सूरौ कहा मरन थैं डरपैं, सती न संचैं भांडौ ॥
लोक बेद कुल की मरजादा, इहै गले मैं पासी।
आधा चलि करि पीछा फिरिहै ह्वै है जल मैं हासी ॥
यहु संसार सकल है मैला, रांम कहैं ते सूचा।
कहै कबीर नाव नहीं छांड़ौं, गिरत परत चढ़ि ऊंचा ॥ १२६ ॥

रे पागल मन, तुम अब अपनी अनस्थिरता तथा चंचलता को छोड़ दो तथा भगवान् के प्रति अनन्य निष्ठा पर सुदृढ़ रहो। जब सती स्त्री अपने हाथ 'सिंधौरा' ले लेती है, अर्थात् पति के संग चलने का प्रतीक रूप सिंदूर पात्र धारण कर लेती है, तब तो फिर उसके चलने में ही कल्याण है। वैसे ही जब जिस जीवात्मा ने परमात्मा को पति के रूप में वरण करके उसमें अपने आपको मिला देने का व्रत ले ही लिया है तब तो उसे निभाना ही श्रेयस्कर है। रे मन, अब संसार की लाज मर्यादा आदि से निश्शंक तथा राम में तल्लीन होकर नाचने लगो; लोभ, मोह और भ्रम का त्याग कर दो। शूरवीर को मरने से क्या डर है ? सती स्त्री सांसारिक वैभव का संचय नहीं करती है। भक्त जीवात्मा भी सती और शूरवीर के समान है। उसे विषयों के परित्याग-रूप मृत्यु का भय नहीं रहता है। वह सांसारिक वैभवों में नहीं उलझती। लोक, वेद और कुल की मर्यादा तथा उनके अनुकूल किए जाने वाले बाह्याचार भी जीव के गले के बन्धन ही हैं। रे जीव, भगवान् से प्रेम करके और संसार को छोड़कर प्रेम के आधे रास्ते चले आए हो। अब यहां से वापिस फिरने से तुम्हारी हंसी होगी। फिर यह संसार तो समूचा ही मलिन है। जो इसमें राम का स्मरण करता है, वही केवल पवित्र है। कबीर कहते हैं कि 'भगवान् का नाम-स्मरण करना मत छोड़ो। आपत्तियों में गिरते पड़ते इस ईश्वर-प्रेम के मार्ग पर ऊंचे ही चढ़ो।'

टिप्पणी—उदाहरण, अलंकार से आध्यात्मिक प्रेम की अनन्यता का प्रतिपादन।

का सिधि साधि करौं कुछ नांहीं,
रांम रसांइन मेरी रसनां मांहीं ॥टेक॥
नहीं कुछ ग्यांन ध्यांन सिधि जोग, ताथैं उपजै नांनां रोग ॥
का बन मैं बसि भये उदास, जे मन नहीं छाड़ै आसा-पास ॥
सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग ब्यौहार ॥ १३० ॥

इन कायायोग की सिद्धियों के लिए साधना करने से क्या लाभ है ? इनमें कुछ भी नहीं है। अमरता प्रदान करने वाला राम-रसायन महारस तो मेरी जीभ में है, अर्थात् नाम-स्मरण से ही परमतत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। ज्ञान, ध्यान, सिद्धि, योग आदि सब व्यर्थ हैं। इनसे अहंकार, भ्रम आदि अनेक व्याधियाँ पैदा हो जाती हैं। अगर मन ने आशाओं के बन्धनों से मुक्ति नहीं प्राप्त की तो घर छोड़कर वन में बसने तथा स्वरूप से उदासी (साधु) बनने का क्या उपयोग है ? यह भी केवल दम्भ ही है। साधना आदि सभी कार्य कच्चे काँच हैं, केवल भगवान् का प्रेम ही वास्तविक सार है; वही फौलाद की तरह दृढ़ है। कबीर कहते हैं—'जीव' तुम सांसारिक व्यवहार का परित्याग कर दो।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

जौं तैं रसनां रांम न कहिबौ।
तौ उपजत बिनसत भरमत रहिबौ ॥टेक॥
जैसी देखि तरवर की छाया, प्रांन गयें कहु काकी माया ॥
जीवत कछू न कीया प्रवानां, मूवा मरम को कांकर जानां ॥
कंधि काल सुख कोई न सोवै, राजा रंक दोऊ मिलि रोवै ॥
हंस सरोवर कंवल सरीरा, रांम रसांइन पीवै कबीरा ॥ १३१ ॥

अगर जीभ से राम-नाम का उच्चारण नहीं करोगे तो जन्म और मृत्यु में भ्रमित होते रहोगे। यह जीवन वृक्ष की छाया के समान क्षणिक है। प्राण निकलने के बाद यह सांसारिक वैभव किसका है ? इसका किसी से भी सम्बन्ध नहीं रहता। जिसने जीवन काल में जीवन को सफल एवं कृतार्थ करने वाला कोई कार्य किया नहीं, फिर मरने पर उसके रहस्य को कौन और कैसे समझ सकेगा ? इस मानव के कंधे पर काल बैठा हुआ है। वह चाहे जब उस पर आक्रमण कर सकता है। ऐसी अवस्था में कोई भी सुखपूर्वक नहीं सो सकता है अर्थात् निश्चिन्त होकर सुख का जीवन नहीं जी सकता है। उस समय राजा और रंक सभी को मिलकर अपनी विवशता में रोना पड़ेगा। कायायोग से प्राप्त मानसरोवर की अवस्था तथा शरीर में जाग्रत षट्चक्रों के कमलों में भी कबीर तो उसी भक्ति-रस का पान करता है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। तिवारी जी की 'कबीर-ग्रन्थावली' के पद में पंक्तियों का क्रम भेद है। अन्तिम पंक्ति में कँवल के स्थान पर 'काल' पाठ भी है।

का नांगे का बांधे चांम।
जौ नहीं चिन्हसि आतम रांम ॥टेक॥
नागें फिरें जोग जे होई, बन का मृग मुकुति गया कोई ॥
मूड़ मुड़ायें जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँती कोई ॥

ब्यंद राखि जे खिलिहै भाई तो घुसरै कौण परंम गति पाई ॥
पढ़ें गुनें उपजै अहंकारा, अधधर डूबे वार न पारा ॥
कहै कबीर सुनहु रे भाई, रांम नांम बिन किनि सिधि पाई ॥ १३२ ॥

नग्न रहने अथवा बाघम्बर धारण करने से क्या लाभ है ? अगर व्यक्ति अपनी आत्मा को नहीं पहचान सका है तो ये सब व्यर्थ के बाह्याडम्बर हैं । अगर नग्न फिरने से योग की सिद्धि हो जाती है, तो बताओ किस वन के पशु की मुक्ति हुई है? सिर मुड़ाने से सिद्धि मिलती है तो बताओ कोई भेड़ अब तक स्वर्ग पहुँची है ? जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य से अपने शरीर की रक्षा की है। अथवा कायायोग की 'बिन्दु' साधना में ही तन्मय रहे हैं, उन अज्ञानियों तथा भक्तिभाव के अरसिकों में से किसने परम पद की प्राप्ति की है ? शास्त्रों के पढ़ने एवं मनन से जिनमें अहंकार पैदा हो जाता है, वे तो इस भवसागर की मझधार में ही डूब जाते हैं । उनका तो कहीं ठौक-ठिकाना ही नहीं है । वे न उस पार के हैं और न उस पार के; कबीर कहते हैं, हे भाइयो, भगवान् के नाम-स्मरण के बिना किसको सिद्धि मिली है ?

पाठान्तर— बिन्दु राखि जो तरिओ भाई ।

हरि बिन भरमि बिगूते गंदा ।
जापें जाऊं आपनपौं छुडावण, ते बीधे बहु फंदा ॥टेक॥
जोगी कहैं जोग सिधि नीकी, और न दूजी भाई ।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, ऐ जु कहै सिधि पाई ॥
जहाँ का उपज्या तहाँ बिलांना, हरि पद बिसर्या जबहीं ।
पंडित गुंनी सूर कवि दाता, ऐ जु कहैं बड़ हंमहीं ॥
वार पार की खबरि न जांनी, फिर्यौ सकल बन ऐसें ।
यहु बन बोहिथ के कऊवा ज्यूं, रह्यौ ठग्यौ सौ बैसें ॥
तजि बांवें दाहिणें बिकार, हरि पद दिढ करि गहिये ।
कहै कबीर गूंगे गुड़ खाया, बूझै तौ का कहिये ॥ १३३ ॥

भगवान् के भजन बिना अंधा एवं मलिन मानव इन साधनाओं एवं संसार के भ्रम में उलझ जाता है । उनकी छीछालेदर होती रहती है । जिस किसी साधक के पास अपने मोह की निवृत्ति के लिए जाता हूँ वही मुझे अनेक फन्दों में उलझा देता है । जोगी कहता है कि यह योग साधना ही सर्वोत्तम है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं है । लुंचित, मुण्डित, मौनी, जटाधर आदि विभिन्न सम्प्रदायों और वेषों के साधु दम्भ भरते हैं कि उन्होंने परम-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है । पर उनकी साधनायें और सिद्धियाँ जहाँ की तहाँ विलीन हो जाती हैं । प्राणादिक के संयम, षटचक्र आदि के भेदन अथवा अन्य कायिक तत्त्वों से ही इन साधनाओं का प्रारम्भ होता है और उन्हीं की सिद्धि में उनकी परिणति हो जाती हैं। अतः ये

जीवन के परमलक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि से निरर्थक ही रहती हैं। उनकी साधनायें जितने अंश में राम के स्मरण का सहारा लेती हैं, उतनी ही वास्तविक सिद्धि दे पाती हैं और उस नाम के विस्मरण पर व्यर्थ होकर जहाँ की तहाँ विलीन हो जाती हैं। जब ये साधक राम का विस्मरण कर देते हैं तब जिस माया से उनका जन्म हुआ है, उसी में ये विलीन हो जाते हैं। पंडित, गुणी, शूर, कवि, दानी आदि सभी को अपने बड़प्पन का अहंकार है। पर उन्हें माया के आदि, अन्त और असीमिता का ज्ञान ही नहीं है। उन्हें जीवन के इस पार एवं उस पार अर्थात् ऐहिक तथा पारमार्थिक रूपों में से किसी का भी ज्ञान नहीं है। वे तो इस माया के वन में इधर-उधर यों ही भटक रहे हैं। जैसे कौआ आकाश-रूपी सागर में डुबकी लगाकर उसका अन्त पाने में असमर्थ होने से थक जाता है, वैसे ही यह मन भी माया की सीमाओं को जानने और उलांघने में अपने को अशक्त पाकर थका हुआ और भ्रमित रहता है। इस मन की सारी साधनाएँ ज्ञान और सिद्धियाँ सभी कुछ माया ही है। अतः माया के विकारों को दाहिने और बायें छोड़कर अथवा वाम पंथ और दक्षिण पंथ के विकारों को छोड़कर अर्थात् इनसे बचते हुए मानव को भगवान् के चरणों में अपनी भक्ति दृढ़ करनी चाहिए। कबीर कहते हैं कि यह परम तत्त्व-रूप महारस की प्राप्ति सहज अनुभूति रूप ही है। गूंगे का गुड़ खाना है। उस अनुभूति के बारे में पूछने पर व्यक्ति उसका किन शब्दों में, कैसे और क्या वर्णन करे? पर अन्य साधनायें और सिद्धियाँ वाणी के विषय हैं अतः वे माया के क्षेत्र की नश्वर वस्तुएँ हैं।

चलौ बिचारी रहौं सँभारी, कहता हूं ज पुकारी।
रांम नांम अंतर गति नांहीं, तौ जनम जुवां ज्यूं हारी ॥टेक॥
मूंड़ मुड़ाइ फूलि का बैठे, कांननि पहरि मंजूसा।
बाहरि देह बेह लपटानीं, भीतरि तौ घर मूसा ॥
गालिब नगरी गांव बसाया, हांम कांम अहंकारी।
घालि रसरिया जब जंम खैंचै, तबका पति रहै तुम्हारी ॥
छांड़ि कपूर गांठि विष बांध्यौ, मूल हूवा ना लाहा।
मेरे रांम की अभैं पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा ॥ १३४ ॥

मैं चेतावनी देता हुआ कह रहा हूँ कि मानव को विवेकपूर्वक तथा माया-मोह से सँभल कर रहना चाहिए। अगर हृदय में राम-नाम नहीं है, तो मानव को यह जन्म जुए की बाजी की तरह हारना ही पड़ता है। रे साधक, कानों में मुद्रा पहनकर तथा सिर मुड़ाकर अहंकार में क्या फूले हुए हो? तुमने अपने शरीर पर भस्म रमा ली है। त्यागी का वेष धारण कर लिया है। पर तुम्हारा अन्तःकरण तो विषय-वासनाओं से नष्ट है अथवा तुम्हारे अन्तःकरण पर तो संशय का अधिकार है। तुमने सजे-सजाए एवं कायायोग की सिद्धियों वाले शरीर-रूपी बहुत बड़े गर्व के नगर में अपना निवास बनाया है और उसके अधिकारों से महान् अहंकारी हो गये हो। अथवा

वहाँ पर हाकिम और हुकम अहंकार का है। तुम्हें अपनी साधनाओं के कारण बहुत अभिमान है, पर जब मृत्यु तुम्हारे गले में रस्सी डाल कर खींचेगी, तब किसकी मान-हानि होगी ? अतः किसी स्थायी मान को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। तुमने भक्ति-रूपी कपूर तो त्याग दिया है और दम्भ रूपी विष अपनी गाँठ में बाँध लिया है। इसी से तुम्हें मूलतत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई। जुलाहा अर्थात् सामान्य जन कबीर कहता है, 'रे ब्रह्मचारी एवं कायायोग के साधक, मेरे भगवान् की भक्ति की नगरी अभय पद देने वाली है, तुम उसी में अपना निवास बनाओ।'

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

पाठभेद—गालिब (गारब=गर्व)—तिवारी।

कौन बिचारि करत हौ पूजा।
आतम रांम अवर नहीं दूजा ।।टेक।।
बिन प्रतीतैं पाती तोड़ै, ग्यांन बिनां देवलि सिर फोड़ै ।।
लुचरी लपसी आप संघारै, द्वारै ठाढा राम पुकारै।
पर-आत्म जो तत बिचारै, कहि कबीर ताकै बलिहारै ।। १३५।।

तुम क्या सोचकर अन्य देवताओं की पूजा कर रहे हो ? आत्माराम अर्थात् अप चैतन्य के अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं। उस तत्त्व का साक्षात्कार अपनी श्रद्धा और विश्वास से ही होगा। तुम बिना भक्ति-भाव के पत्ते तोड़ते ही रहो अर्थात् पूजा के साधन एकत्र करते हो। यह तुम्हारी ज्ञान-शून्य पूजा देवल से सिर फोड़ने की तरह है। भगवान् को प्रसाद लगाने के बहाने से लुचिया, पूरी और लपसी (हलुआ) अपने लिए तैयार करते हो अथवा स्वयं खा जाते हो और दरवाजे पर खड़े-खड़े ही भगवान् को बुलाते हो अर्थात् यह प्रसाद उन तक ले जाते ही नहीं अपितु प्रसाद भेंट करने की घोषणा मात्र करते हो। कबीर कहते हैं कि जो परमात्म-तत्त्व का चिन्तन करता है, उसको ठीक समझता है, उस पर मैं न्योछावर हूँ।

कहा भयौ तिलक गरैं जपमाला।
मरम न जांनैं मिलन गोपाला ।।टेक।।
दिन प्रति पसू करै हरिहाई, गरैं काठ बाकी बांनि न जाई।
स्वांग सेत करणीं मनि काली, कहा भयौ गलि माला घाली ।।
बिन ही प्रेम कहा भयौ रोयैं, भीतरि मैल बाहरि कहा धोयैं।
गलगल स्वाद भगति नहीं धीर, चीकन चंदवा कहै कबीर ।। १३६।।

अगर भगवान् से मिलने के वास्तविक रहस्य एवं पथ का ज्ञान न हो तो तिलक लगाकर एवं गले में माया पहन कर भक्त का वेश धारण करने का क्या लाभ है ? पशु के गले में काठ पड़ा रहता है, उस काठ से उसको चोट भी लगती रहती है; पर फिर भी पशु रात-दिन इधर-उधर भटकता ही रहता है। उसकी यह भटकने की

आदत छूटती नहीं है। वैसे ही गले माला डाले हुए तथा विषय-जनित दुःखों से चोट खाते भी मानव पशु की तरह विषयों में भटकता रहता है। ऐसे व्यक्तियों के वेष तो स्वच्छ होते हैं; पर उनके कार्य मलीन ही रहते हैं। अगर वे गले में माला डाल भी लेते हैं तो क्या लाभ है ? प्रेमरहित आर्त्त पुकार से भी क्या होता है ? जब अन्तःकरण मलीन है तो बाहरी शरीर को धोने से क्या लाभ है ? कबीर कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति गिजा के स्वाद के वशीभूत ही रहे। भक्ति में स्थित होकर धीर नहीं बन सका।

टिप्पणी—'बाह्याडम्बर की निरर्थकता प्रतिपादित है। 'उदाहरण अलंकार।'

ते हरि के आवैंहि किहि कांमां।
जे नहीं चीन्हैं आतमरांमां ।।टेक।।
थोरी भगति बहुत अहंकारा, ऐसे भगता मिलैं (मिलहिं) अपारा ।।
भाव न चीन्हैं हरि गोपाला, जानि क अरहट कै गलि माला ।।
कहै कबीर जिनि गये अभिमाना, सो भगता भगवंत समानां ।। १३७ ।।

जिन्हें अपनी चैतन्य स्वरूप आत्मा का बोध नहीं है, वे अज्ञानी भगवान् के लिए किस प्रयोजन के हैं ? अर्थात् भगवत्-भक्ति से वे दूर हैं। जिनमें भक्ति का अंश तो थोड़ा है पर तद्जनित अहंकार बहुत है, ऐसे भक्त तो बहुत मिलते हैं। जो भगवान् के स्वरूप का भक्तिभाव एवं हृदय से साक्षात्कार नहीं कर पाते, ऐसे व्यक्तियों का माला धारण करना वैसा ही है जैसा अरहट के गले में घड़ों की माला का पड़ा रहना है। कबीर कहते हैं कि जिन्होंने अपना अहंकार नष्ट कर दिया है, वे भक्त भगवान् के समान ही हैं।

कहा भयौ रचि स्वांग बनायौ।
अंतरिजामीं निकट न आयौ ।।टेक।।
विषई विषै दिढावै, गावै रांम नांम मनि कबहूँ न भावै ।।
पापी परलै जाहि अभागे, अमृत छाड़ि विषै रसि लागे ।।
कहै कबीर हरि भगति न साधी, भग मुषि लागि मूये अपराधी ।। १३८ ।।

भक्त अगर अन्तर्यामी भगवान् के निकट नहीं आ पाता है तो उसके बाहरी स्वांग रचने का क्या लाभ है ? ऐसे व्यक्ति केवल विषयी होते हैं। वे तथाकथित भक्ति में भी विषय-वासना को ही दृढ़ करते हैं और उसी का गुणगान करते हैं। उनके मन को राम-नाम वस्तुतः कभी भी नहीं रुचता। ऐसे अभागे पापी नष्ट ही होते हैं। वे भक्ति-रूपी अमृत को छोड़कर विषय-रस में लगे रहते हैं। कबीर कहते हैं कि जिन्होंने वास्तव में भक्ति-साधना नहीं की है और जो केवल विषयोन्मुख रहे हैं, तथा जो स्त्रीभोग में ही लिप्त रहते हैं, वे पापी एवं अपराधी नाश और मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं।

जौ पैं पिय के मनि नहीं भायें।
तौ का परोसनि कै हुलरायें ।।टेक।।
का चूरा पाइल झमकायें, कहा भयौ बिछुवा ठमकायें ।।
का काजल स्यूंदर कै दीयें सोलह स्यंगार कहा भयौ कीयें ।।
अंजन मंजन करै ठगौरी का पचि मरै निगोड़ी बौरी ।।
जौ पैं पतिव्रता ह्वै नारी, कैसें ही रहो सो पियहि पियारी ।।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा, ताहि सुहागनि कहै कबीरा ।। १३९ ।।

अगर स्त्री अपने पति को प्रिय नहीं है, तो पड़ोसिन के उस पर प्रसन्न होकर सराहने से क्या लाभ है ? उस स्त्री के चूड़े और पायल के झुमकाने और बिछुये पहनने से भी क्या लाभ है ? ऐसी स्त्री के काजल लगाने, सिंदूर से माँग भरने, सोलह शृंगार करने आदि का कुछ भी उपयोग नहीं है । शृंगार से आकृष्ट करके ठगने की इच्छा वाली आँखों में अंजन लगाने तथा मंजन करने का पति-प्रेम के अभाव में क्या उपयोग है ? अरी बावली, निगोड़ी तू व्यर्थ ही उन शृंगारों में क्यों पचकर मर रही है? जिनसे तुम अपनी पति को प्रिय नहीं बन पाती हो ? अगर नारी सच्चे अर्थ में पतिव्रता है तो वह किसी भी उपाय से पति की प्यारी बन सकती है, अपने तन; मन, जीवन, यौवन को—सबको समर्पित करके येन-केन-प्रकोरेण । कबीर ऐसी ही स्त्री को सच्चे अर्थ में सुहागिन मानते हैं ।

टिप्पणी—'अन्योक्ति' । यहाँ प्रिय परमात्मा है और स्त्री जीवात्मा । 'परोसिन' विषय-वासनायें, माया-ममता आदि साज-शृंगार एवं जीवन के सम्पूर्ण कार्यकलाप ।

हुलराये, झमकाये, ठमकाये जैसे शब्दों के प्रयोग भाषा की भाव-व्यंजना एवं बिम्ब-विधान की क्षमता को बढ़ाने वाले हैं । कबीर ने अनेक पदों में ऐसे ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया है ।

दूसरे, पनियां भर्‍या न जाई ।
अधिक तिषा हरि बिन न बुझाई ।।टेक।।
ऊपरि नीर लेज तलिहारी, कैसे नीर भरै पनिहारी ।।
ऊधस्यांयौ कूप घाट भयौ भारी, चली निरास पंच पनिहारी ।।
गुरु उपदेस भरी ले नीरा, हरषि हरषि जल पीवै कबीरा ।। १४० ।।

योग-साधना से प्राप्त सहस्रार कमल के कूप का जल अत्यन्त दुष्प्राप्य है । यह जल भरा नहीं जा सकता है । फिर सांसारिक विषयों से जाग्रत अत्यधिक तृषा केवल भगवान् की भक्ति से मिट सकती है; उन अन्य योगादिक साधनों से नहीं । यह कमल-कूप से जलाहरण की क्रिया कठिन भी है । सहस्रार कमल में ऊपर कूप है पर नीचे सुषुम्ना ही इसकी रस्सी है । बेचारी कुण्डलिनी सहज में यह जल कैसे भर सकती है ? पर कबीर में भगवद्भक्ति से यह कूप भक्ति-रस अथवा महारस-रूपी दूध

से परिपूर्ण हो गया है। कमल-कूप का जल ब्रह्मरंध्र के अत्यन्त सँकरे एवं सूक्ष्म मार्ग से स्रवित होता है। पर भक्ति से इस कूप का घाट भी विशाल एवं व्यापक हो गया है। पाँचों इन्द्रियाँ विषय-रस को ही ले पाती हैं, इस महारस रूपी दूध को नहीं। अतः वे घाट के विशाल हो जाने पर भी इस कूप से निराश होकर लौट गई हैं। कायायोग की साधना से प्राप्त रस जिह्वादि से गृहीत हैं, अतः इन्द्रियों का ही विषय होने के कारण इन्द्रियातीत अवस्था तक नहीं पहुँचाता। वहाँ पर इन्द्रियों के बन्धन बने ही रहते हैं। पर भक्ति का रस इन्द्रियों को भी आप्लावित करते हुए जीव को उनकी आसक्ति के बन्धन से मुक्त कर देता है, यह भी इन्द्रियों का लौट जाना है। गुरु की कृपा एवं उपदेश से कबीर यह महारस भर-भर कर ले रहे हैं और प्रसन्नचित्त इसे पी रहे हैं। यह कुण्डलिनी आदि द्वारा नहीं अपितु स्वयं आत्मा द्वारा पिया जा रहा है।

टिप्पणी—'सांगरूपक'। कबीर ने यहाँ पर 'कमल कूप' से जलाहरण वाली योग-साधना की अपेक्षा भक्ति से 'महारस' पान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। 'कमल कूप' का जल भी भक्ति से अमृत में परिणत होता है। इस प्रकार भक्ति के महारस देने में ही कायायोग की भी सार्थकता है। यही कबीर का दर्शन है। इसमें 'उपरि नीर लेज तलिहारी' से खेचरी मुद्रा का संकेत भी ग्राह्य माना जा सकता है।

कहौ भई या अंबर कांसूं लागा।
कोई जांणैगा जांननहार सभागा ॥टेक॥
अंबरि दीसै केता तारा, कौंन चतुर ऐसा चितरनहारा।
जे तुम्ह देखौ सो यहु नांहीं, यहु पद अगम अगोचर मांही ॥
तीनि हाथ एक अरधाई, ऐसा अंबर चीन्हौं रे भाई।
कहै कबीर जे अंबर जांनैं, ताही सूं मेरा मन मानैं ॥ १४१ ॥

रे भाई योगी, यह विचार करो कि यह शून्य किस पर आधारित है? इस रहस्य को कोई भाग्यशाली जानने वाला ज्ञानी ही समझेगा। इस आकाश में कितने तारे दिखाई दे रहे हैं? कौन ऐसा प्रवीण चित्रण करने वाला है; जिसने इस आकाश को इतने सुन्दर ढंग से चित्रित कर दिया है? उस चित्रकार का ध्यान करो। जो तुम यह बाहर इन्द्रियों से तथा योग-साधना से देख पा रहे हो, वही परम-सत्य नहीं है। यह आकाश और शून्य अगम्य एवं अगोचर तत्त्व में समाहित है। यह आकाश तो तीन हाथ में अर्थात् तीन गुणों में ही ओत-प्रोत है। पर तुम उस परमतत्त्व रूप आकाश को पहचानो जो साढ़े तीन हाथ का है, अर्थात् तीन गुणों में भी व्याप्त है तथा उससे अधिक भी है अथवा यह योग—साधना से गम्य-शून्य तो केवल शरीर के शिरोभाग में विराजमान सहस्रार कमल का मध्य भाग मात्र है। पर यह चैतन्य साढ़े तीन हाथ के शरीर-रूप पिण्ड तथा पिण्ड से अतिक्रान्त ब्रह्माण्ड में भी व्याप्त

है, अर्थात् इस प्रकार जो सर्वव्यापी है, उसी चैतन्य तत्त्व का ज्ञान और भक्ति द्वारा साक्षात्कार करो। कबीर कहते हैं कि जो इस आकाश तत्त्व को जानते हैं, उन्हीं से मेरा मन मिलता है।

पाठभेद— तिवारी जी ने पांचवीं पंक्ति नहीं दी है। शेष में भी कहीं-कहीं थोड़ा अन्तर है।

> **तन खोजौ नर नां करौ बड़ाई।**
> **जुगति बिना भगति किनि पाई ।।टेक।।**
> **एक कहावत मुलां काजी, राम बिना सब फोकटबाजी ।।**
> **नव ग्रिह बांभण भणता रासी, तिनहूँ न काटी जम की पासी ।।**
> **कहै कबीर यहु तन काचा, सबद निरंजन रांम नांम साचा ।।१४२।।**

रे मानव, तू अपनी व्यर्थ की प्रशंसा मत कर। अपने शरीर को अपने स्वरूप को, तत्त्वतः पहचान। इस परम-तत्त्व के ज्ञान तथा उसकी युक्तियों के बिना भक्ति किसे प्राप्त हो सकी है? काज्जी और मुल्ला एक ही कहलाते हैं पर उनकी एकता तो रामाश्रित है। ज्ञान की दृष्टि से दोनों ही राम रूप हैं अतः एक ही हैं अथवा राम-भक्ति के कारण ही दोनों एक हैं अन्यथा तो यह एकता की बात सारहीन है। भक्ति के बिना अन्य साधनायें मानव का परम कल्याण नहीं कर पाती हैं। नवग्रह एवं राशि आदि का फलादेश कहने वाला ब्राह्मण मन की फाँसी को कभी नहीं काट पाया। कबीर कहते हैं कि यह शरीर तो कच्चा है, नाशवान है। शब्द-तत्त्व, निरंजन, राम नाम ये ही परम-तत्त्व हैं। ये ही सच्चे और शाश्वत हैं।

> **जाइ परौ हमरौ का करिहै।**
> **आप करै आपै दुख भरिहै ।।टेक।।**
> **ऊझड़ जातां बाट बतावै, जौ न चलै तो बहु दुख पावै ।।**
> **अंधे कूप क दिया बताई, तरकि पड़े पुनि हरि न पत्याई ।।**
> **इन्द्री स्वादि विषै रसि बहिहै, नरकि पड़ै पुंनि राम न कहिहै ।।**
> **पंच सखी मिलि मतौ उपायौ, जंम की पासी हंस बंधायौ ।।**
> **कहै कबीर प्रतीति न आवै, पाषंड कपट इहै जिय भावै ।।१४३।।**

रे अज्ञानी जीव, तुम माया-मोह के फंदे में जाकर पड़ जाओगे तो हमारी क्या हानि है? तुम आप करोगे और स्वयं ही उससे कष्ट उठाओगे। रास्ता छोड़कर भटकने वाले को अगर कोई राह बताता है और वह उस मार्ग पर नहीं चलता है तो उसे ही कष्ट उठाने पड़ते हैं। विषयों के इस अंधे कूप को दिखाकर विषयी को सचेत कर दिया जाता है। पर वह इसमें उछल कर गिर ही पड़ता है और भगवान की भक्ति में विश्वास नहीं करता है। वह इन्द्रियों के स्वाद से वशीभूत विषय-रस में बहता रहता है। ऐसा व्यक्ति राम-नाम का स्मरण नहीं कर पाता है और इस

इस प्रकार नरक की यातना ही भोगता रहता है। इन पाँचों इन्द्रियों ने मिलकर सलाह की है और हंस-रूपी जीव को यम के पाश में बांध दिया है। कबीर कहते हैं कि तब भी इस जीव की ज्ञान और भक्ति में निष्ठा नहीं जमती है और पाखण्ड, कपट एवं विषय-वासनाओं में ही इसका मन रमता है।

ऐसे लोगनि सूं का कहिये।
से नर भये भगति थैं न्यारे, जिनथैं सदा डराते रहिये ।।टेक।।
आपन देही चरवा पांनीं, ताहि निदैं जिनि गंगा आंनी ।।
आपण बूढ़ं और कौं बोड़ै, अगनि लगाइ मंदिर मैं सोवैं ।।
आपण अंध और कूं काना, तिनकौ देखि कबीर डरांनां ।। १४४ ।।

भक्ति से विमुख लोगों से तो क्या कहना है ? उन्हें कहना ही व्यर्थ है। ऐसे हरि विमुख व्यक्तियों से तो डरते रहना चाहिए। स्वयं तो एक घड़ा भर या अंजलि भर पानी भी नहीं देते हैं और गंगा लाने के से महान् कार्य को करने वाले की निन्दा करते हैं। स्वयं तो अज्ञान में डूबते ही हैं, दूसरों को भी उधर ले जाकर डुबाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का कार्य मन्दिर में आग लगाकर उस में ही सोने के समान है। यह जीवन और संसार विषद-वासनाओं एवं अज्ञान के कारण आग लगा हुआ मन्दिर ही है। ये लोग स्वयं तो अज्ञान से अन्धे हैं ही, दूसरों को भी क्रमशः नेत्रहीन कर रहे हैं। अथवा दूसरों को काना कहता है, अर्थात् अपने में बड़े दोष होने पर भी दूसरों में छोटे दोषों को भी देखता है। ऐसे व्यक्तियों को देखकर कबीर भयभीत है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

है हरिजन सूं जगत लरत है।
फुंनिगा कैसे गरड़ भषत हैं ।।टेक।।
अचिरज ऐक देखहु संसारा, सुनहां खेदैं कुँजर असवारा ।।
ऐसा एक अचंभा देखा, जंबक करैं केहरि सूं लेखा ।।
कहै कबीर रांम भजि भाई, दास अधम गति कबहूं न जाई ।। १४५ ।।

हे प्रभु, भक्त से विषय-वासना-रूपी संसार ऐसे लड़ रहा है जैसे मानो पतंगा गरुड़ को खा जाना चाहता है। पर यह कैसे सम्भव है ? इस संसार में हमने एक आश्चर्य देखा है कि विषय-वासना-रूपी कुत्ता भक्ति के हाथी पर चढ़े हुए सवार को खदेड़ देना चाहता है। एक आश्चर्य और है कि सन्देह-रूपी शृगाल ज्ञान-रूपी शेर से लेखा-जोखा कर रहा है। उसकी प्रामाणिकता एवं गहराई को जांचना चाहता है। पर इससे भक्ति में अश्रद्धा जगाने की आवश्यकता नहीं। कबीर कहते हैं, 'हे भाई, भगवान् का भजन करो। भक्त कभी भी अधम गति को प्राप्त नहीं होता है।'

टिप्पणी— रूपकातिशयोक्ति अलंकार। सन्त-सम्प्रदाय के गृहीत प्रतीकों का प्रयोग है।

है हरिजन थैं चूक परी ।
जे कछु आहि तुम्हारौ हरी ।।टेक।।
मोर-तौर जब लग मैं कीन्हा, तब लग त्रास बहुत दुख दीन्हां ।।
सिध साधिक कहैं हम सिधि पाई, रांम नांम बिन सबैं गंवाई ।।
जे बैरागी आस पियासी, तिनकी माया कदे न नासी ।।
कहै कबीर मैं दास तुम्हारा, माया खंडन करहु हमारा ।। १४६ ।।

हे प्रभु, भक्त से कुछ भूल हो गयी है । पर भक्त में जो भी कुछ है, वह सब तुम्हारा ही है । जीव कहता है कि तब तक मेरे में अपने-पराये और द्वैत की भावना रही, तब तक मुझे आपने अनेक सांसारिक दुःख और यातनायें दी हैं । तुम्हारी भक्ति और कृपा से वंचित सिद्धों और साधकों को सिद्धि प्राप्त करने का अहंकार बना रहता है । पर, प्रभु, आपके नाम-स्मरण के अभाव में ये सब सिद्धियाँ व्यर्थ हैं । जो विरक्त होकर भी आशा तृष्णा से संतृप्त हैं । उनका माया का बन्धन कभी भी नष्ट नहीं होता है । कबीर कहते हैं कि मैं तो इन साधनाओं में उलझा हुआ अथवा सिद्ध होने का अहंकारी नहीं हूँ । अतः हे प्रभु ! मेरे अज्ञान एवं मोह को नष्ट कर दो ।

सब दुनी संयांनी मैं बौरा ।
हंम बिगरे बिगरौ जिनि औरा ।।टेक।।
मैं नहीं बौरा रांम कियौ बौरां, सतगुरु जारि गयौ भ्रम मोरा ।।
बिद्या न पढ़ं बाद नहीं जानूं, हरि गुन कथत सुनत बौरांनूं ।।
कांम कोध दोऊ भये बिकारा, आपहिं आप जरैं संसारा ।।
मींठो कहा जाहि जो भावै, दास कबीर रांम गुंन गावै ।। १५० ।।

सांसारिक चतुराई में सारा जगत पटु है और इस मैं दृष्टि से अबोध एवं पागल हूं । इस वैराग्य और भक्ति में हम तो बिगड़ गए हैं, अर्थात् संसार के काम के नहीं रहे हैं । दूसरों लोगों को यह दिशा अरुचिकर है तो वे इस प्रकार न बिगड़ें । वास्तव में इस भक्त दशा को प्राप्त करके मैं जो पागल हुआ हूँ, वह मैं स्वयं नहीं हुआ अपितु भगवान् ने मुझे पागल किया है । उनके अनुग्रह एवं प्रेरणा से यह हुआ है । सद्गुरु ने मेरे सम्पूर्ण भ्रमों को भस्म कर दिया है । अब न मैं विद्याध्ययन करता हूँ और न मुझे विभिन्न प्रकार के वादों का ज्ञान है । मैं तो भगवान् का गुण-गान करता हुआ उन्हीं में मस्त होकर पागल हो गया हूँ । अब काम और क्रोध दोनों ही मेरे लिए विकार हो गये हैं । यह बन्धन-रूपी संसार अपने आप जलकर नष्ट हो रहा है । वास्तव में जो वस्तु जिसे अच्छी लगती है, उसके लिए वही मीठी है । भक्त के लिए भक्ति तथा संसारी के लिए वासना ही मीठी है । यही सोचकर कबीर विषय-वासनाओं को त्याग करता हुआ राम का गुण-गान करता है ।

अब मैं रांम सकल सिधि पाई ।
आँन कहूँ तौ रांम दुहाई ।।टेक।।
इहि चिति चाषि सबै रस दीठा, रांम नाम सा और न मीठा ।
और रसि ह्वै है कफ गाता, हरि रस अधिक-अधिक सुखदाता ।।
दूजा बणिज नहीं कछू बाषर, रांम नांम दोऊ तत आषर ।।
कहै कबीर जे हरि रस भोगी, तांकूं मिल्या निरंजन जोगी ।। १४८ ।।

हे राम, अब मैंने आपके रूप में सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं। अगर मैं किसी अन्य साधना की ओर आकृष्ट होऊँ अथवा इस प्राप्ति को अन्यथा बताऊँ तो मुझे अपनी ही शपथ है। इस चित्त से चखकर मैंने विषय-भोग, योग साधना आदि सभी रसों को देख लिया है। अन्य कोई भी रस नाम-नाम के रस के समान मीठा नहीं है। अन्य रसों से शरीर में कफ की अर्थात् विकार की वृद्धि होती है, पर राम-भक्ति का रस तो सम्पूर्ण प्रकार के सुखों का देने वाला है। घर में अन्य कोई व्यापार नहीं है अर्थात् मैं भक्ति के अतिरिक्त किसी भी साधना में रत नहीं हूँ। अन्य प्रकार की सब साधनायें निस्सार हैं। रामनाम के ये दो अक्षर ही तत्त्व वस्तु है। कबीर कहते हैं कि जो भगवान् की भक्ति के रस का आनन्द लेने वाले हैं, उन्हीं को वह माया-रहित निरंजन-तत्त्व प्राप्त होता है।

रे मन जाहि जहां तोहि भावै,
अब न कोई तेरै अंकुस लावै ।।टेक।।
जहाँ जहाँ जाइ तहां तहां रांमां, हरि पद चीन्हि कयौ विश्रामा ।।
तन रंजित तब देखियत दोई, प्रगट्यौ ग्यांन जहाँ तहाँ सोई ।।
लीन निरंतर बपु बिसराया, कहै कबीर सुख सागर पाया ।। १४९ ।।

भगवान् का भक्त एवं ज्ञानी अपने मन को ही सम्बोधित करके कह रहा है कि अब तुम चाहे जहाँ जाओ। तुम पर योग आदि के अंकुश नहीं लगाऊँगा। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि भगवान् सर्वव्यापी है। अतः तुम जहाँ कहीं जाओगे वहीं भगवान् है। भगवान् के इस सर्वव्यापी स्वरूप को पहचान कर मैं अपने मन से आश्वस्त हो गया हूँ। जब तक मुझे शरीर और विषय-वासनाओं में अध्यास एवं आसक्ति थी, तभी तक मेरे लिए द्वैत था। पर जब से मुझे मेरे स्वरूप का ज्ञान हो गया है, तभी से तुम ही तुम प्रतीत होते हो। हे प्रभु, मैंने तुम्हारे स्वरूप में लीन होकर अपना देहाध्यास भी छोड़ दिया है। अब मुझे आपके स्वरूप में साक्षात्कार और भक्ति के महारस के रूप में परम आनन्द की प्राप्ति हो गई है।

टिप्पणी—'मन' के सम्बन्ध में योगी तथा ज्ञानी एवं भक्त के दृष्टिकोणों में अन्तर रहता है। यही यहाँ पर द्रष्टव्य है। ज्ञानी और भक्त सम्पूर्ण विश्व का ईश्वर

तथा सम्पूर्ण विषयों को मिथ्या या भक्ति-रूप समझने लगता है। है। ऐसे व्यक्ति के लिए 'मन इधर जावे और इधर न जावे' आदि के विधि-निषेध का कोई अर्थ नहीं है।

बहुरि हम काहैं कूं आवहिंगे।
बिछुरे पंचतत की रचना तब हम रांमहिं पांवहिगे ॥टेक॥
पृथी का गण पांणी सोष्या, पांनी तेज मिलांवहिगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगांवहिगे॥
जैसें बहुकंचन के भूषन, एकहिं घालि (गालि) तवांवहिगे।
ऐसे हम लोक बेद कै बिछुरें, सूंनिहि मांहि समांवहिगे॥
जैसें जलहि तरंग तरंगनी, ऐसैं हम दिखलांवहिगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर, हंसहि हंस मिलांवहिगे ॥ १५०॥

कबीर कहते हैं कि इस जन्म के बाद हम क्यों आयेंगे ? हमारी तो मुक्ति ही हो जायेगी। जब यह पंचतत्त्वों की रचना विछुड़ जायेगी अर्थात् अपंचीकृत होकर अपने-अपने कारण-तत्त्वों में समाहित हो जायेंगे; तब हम अर्थात् आत्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेगी। वे ब्रह्मरूप हो जायेंगी। उस समय इस शरीर के सभी पंचतत्त्व अपने-अपने कारणों में समाहित होते चले जायेंगे। पृथ्वी के गुण को (अर्थात् उसके सूक्ष्म रूप) पानी सोख लेगा और इस पानी को हम तेज में समाहित कर देंगे। तेज को पवन में तथा पवन को शब्द-रूप आकाश में मिलाकर हम सहज समाधि में लवलीन हो जायेंगे; अर्थात् हम शुद्ध-चैतन्य-रूप में अवस्थित रहेंगे। स्वर्ण से बने हुए अनेक आभूषणों को एक बर्तन में डालकर तपायेंगे अथवा उन सबको एक स्वर्ण में गला कर उस स्वर्ण को पूर्णतः शुद्ध करने के लिए तपायेंगे। इस प्रकार आत्मा को अनेक रूपों में प्रतिभासित कराने वाले लोक-वेद की विभिन्न उपाधियों से मुक्त होकर हम शून्य में; उस परम-तत्त्व में, समा जायेंगे। जैसे छोटी-बड़ी सभी तरंगें जल में समाकर जल-स्वरूप ही हो जाती हैं, वैसे तरंग-रूप हम आत्मायें भी जल-रूप चैतन्य में समाहित हो जायेंगी। चैतन्य से हमारे पृथक् अस्तित्व का जल से तरंग के समान भान भी नहीं रहेगा। कबीर कहते हैं कि हम अपने जीव को प्रभु के आनन्द समुद्र में; विशुद्ध चैतन्य में, तदाकार कर देंगे।

टिप्पणी—यह पद दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें कबीर के ज्ञानी और भक्त रूप का समन्वय तो है ही। अन्तिम पंक्ति में तो यह व्यंजना बहुत सघन हो गई है। इसके साथ ही विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों द्वारा मान्य मुक्ति और प्रलय के प्रतीयमान भेदों में भी समन्वय स्थापित हुआ है। 'अभूषणों' का स्वर्ण-रूप बनना 'तरंगों का जल में समाहित होना' 'पंचतत्त्वों का अपंचीकृत होकर अपने मूल कारण में समा जाना' आदि में कुछ सम्प्रदाय-जन्य प्रक्रियागत भेदों के मूल में रहते

वाले अभेद का (वेदान्त के तत्त्व का) कबीर ने ग्रहण किया है। अतः कबीर इन सभी प्रतिक्रियाओं 'कनक कुण्डल' एवं 'जल तरंग' न्यायों तथा सांख्य के अपंचीकरण एवं बौद्धों के शून्य में समाहित होने जैसे सिद्धान्तों का आश्रय लेकर वर्णन कर सके हैं; उनके परस्परिक भेद को कबीर ने आयातनः प्रतीयमात ही माना है। ज्ञानी भक्त और सिद्ध की यही मनःस्थिति होती है। यह पिण्ड का प्रलय, भेदों और उपाधियों को हटाने का कार्य स्वयं जीव ही करता है; क्योंकि ये सब उसी की सृष्टि है। यह व्यंजना भी है। कबीर ने अपनी मुक्ति के बहाने जीव-सामान्य की मुक्ति की प्रक्रिया का तात्त्विक निरूपण भी कर दिया है।

'उदाहरण' अलकार का भी प्रयोग है।

कबीरौ संत नदी गयौ बहि रे
ठाढ़ी माइ कराड़ै टेरै, है कोई ल्यावै गहि रे ॥टेक॥
बादल बांनीं रांम घन उनयां, बरिषै अंमृत धारा।
सखी नीर गंग भरि आई, पीवैं प्रांन हमारा ॥
जहां बहि लागे सनक सनंदन, रुद्र ध्यांन धरि बैठे।
सुयं प्रकाश आनंद बमेक मैं, घन कबीर ह्वै पैठे ॥ १५१ ॥

कबीर संत रूपी नदी में बह गया है। माया रूपी माता इस नदी के किनारे खड़ी हुई उसे पुकार रही है। विषय के आकर्षण-रूपी लोगों से अनुनय कर रही है कि वे कबीर को भक्ति, ज्ञान और साधना की इस नदी से निकाल कर उसके पास ले आवें। कबीर सोचते हैं कि गुरु की वाणी के बादल छाये हुए हैं और राम की कृपा एवं तज्जनित भक्ति-रूपी घटायें उमड़ी हैं। उन्हीं से महारस के अमृत की वर्षा हो रही है। ऐसे ही जल की गंगा से मेरे अन्तःकरण की भक्ति-भावना की वृत्ति तथा उस वृत्ति की अहंकारी जीवात्मा महारस का नीर भरकर लाई है और मेरे प्राण अर्थात् मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसी रस का पान कर रहा है। जिस भक्ति, रस की नदी में सनक सनंदन बह गए हैं और जिस रस में भगवान् शंकर ध्यानमग्न हो गए हैं, उसी स्वयं प्रकाश, आनन्द, विवेक एवं चैतन्य रूप रस में घन-रूप होकर कबीर भी प्रविष्ट हो गये हैं, अर्थात् उस रस का संयम कर रहे हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

अवधू कांमधेन गहि बांधी रे
भांडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आंधी रे ॥टेक॥
जौ ब्यावै तौ दूध न देई, ग्याभण अंमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरौं त्यूं दरवै ॥
तिहि धेन थैं इंछया पूगी पाकड़ि खूंटै बांधी रे।
ग्वाड़ा मांहैं आनंद उपनौं, खूंटै दोऊ बांधी रे ॥

साई माइ सास पुनि साईं, साईं याकी नारी।
कहैं कबीर परम पद पाया, संतो लेहु बिचारी ॥ १५२ ॥

रे अवधू, मैंने माया-रूपी इस कामधेनु को ज्ञान और वैराग्य से बाँध लिया है। यह अंधी है। इसे कुछ भी दिखाई नहीं देता है। यह सभी साधुओं के साधन रूप भाण्डों को तोड़ती फिरती है। अज्ञान-रूप यह माया जब विक्षेप-रूप बालक को जन्म देती है तो जीव को परमानन्द-रूप दूध का स्वाद लेने नहीं देती। पर जब यही ज्ञान से गर्भवती हो जाती है तो महारस-रूप अमृत की वर्षा करने लगती है। अगर मैं इस माया को जेठ भरकर पकड़ना चाहता हूँ, अपने वश में करना चाहता हूँ तो यह बिदक कर भाग जाती है, वश में नहीं रहती। अगर मैं इसको तुच्छ साधनाओं से घेर कर शक्ति हीन एवं सीमित करके बांधना चाहता हूँ तो यह फुदक जाती है। पर इस ज्ञान खूँटे पर बांधने से मेरी सम्पूर्ण प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति होती रहती है। उस अवस्था में जीव सत्य-संकल्प बन जाता है। कबीर कहते हैं कि जब मैंने इस माया को ज्ञान और भक्ति के खूँटों से बांध दिया तो मेरे शरीर और अन्तःकरण में परम आनन्द की उत्पत्ति हो गई है। इस माया का पिता वही भगवान् है, वही इसकी सास है और वही इसकी नारी है। माया का आश्रय विशुद्ध चैतन्य है। यह अज्ञान-रूप माय चैतन्यकृत ही है अतः यह चैतन्य ही इसका पिता है। पर ज्ञानी जीव इस माया पर उसी प्रकार नियन्त्रण करता है जैसे सास बहू पर, अतः यह सास है। अज्ञानी जीव को यह माया अपनी इच्छा के अनुकूल नचाती है; अतः वह जीव-चैतन्य इसकी नारी भी है। इस प्रकार चैतन्य के लिए यह माया तीनों रूपों में है। कबीर कहते हैं कि इस माया रूपी कामधेनु को बाँधकर हमने परम पद को प्राप्त कर लिया है। इस रहस्य पर 'संतो' आप भी विचार करें।

टिप्पणी—'सांगरूपक' और 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार। माया को कामधेनु कहना साभिप्राय है। अज्ञानी जीव की सम्पूर्ण विषय-वासनायें इसी कामधेनु से पूर्ण होती हैं और जीव के वश में होकर उसे सत्य-संकल्प भी यह बनाती है; अतः दोनों ही प्रकार से यह कामधेनु है। 'अवधू' को संबोधन भी अर्थ गर्भित है।

पाठभेद—'खूँटे दोऊ खाधोरे'। जब स्वरूप स्थिति का आनन्द जाग्रत हुआ। तब इस माया ने अपने ही आचरण और विक्षेप रूप दोनों खूँटों को खा लिया।

जगत गुरु अनहद कींगरी बाजै।
तहां दीरघ नार ल्यौ लागै ॥टेक॥
त्री अस्थांन अंतर मृगछाला (रिषि छाला), गगन मंडल सींगीं बाजैं।
तहुंआं एक दुकांन रच्यो है निराकार व्रत साजैं॥
गगन हीं भाठी सींगीं करि चूंगी, कनक कलस एक पावा।
तहँवा छुवै अंमृत रस नीझर, रस ही में रस चुवावा॥

अब तौ एक अनूपम बात भई, पवन पियाला साजा।
तीनि भवन मैं एकै जोगी, कहौ कहां बसै राजा ॥
बिन र जांनि परणऊं परसोतम, कहि कबीर रंगि राता।
यह दुनियां कांइ भ्रमि भुलानीं, मैं रांम रसांइन माता ॥ १५३ ॥

संसार के गुरु अर्थात् भगवान् अनहदनाद की किंगरी (बाजा) बजा रहे हैं। उसी दीर्घनाद में साधक जीव की लौ लग गई है। त्रिकुटी में मृगछाला अथवा नील गाय के चर्म का आसन जमा लेने पर गगन मंडल में शृंगीनाद होने लगता है और साधक उसी शब्द में लवलीन हो जाता है। उसी गगन-मंडल में साधक ने एक दुकान अर्थात् शराब की भट्टी रच ली है। वहाँ पर निराकार की भक्ति का व्रत कर रहा है। इसमें मस्ती लाने के लिए उसने आध्यात्मिक मदिरा तैयार की है। उसका रूपक बाँधते हुए कबीर कहते हैं। साधक ने इस गगन-मंडल को ही भट्टी तथा शृंगी अर्थात् नाद-श्रवण के ध्यान को रस टपकाने की नली बना लिया है। तन्मयता और आनन्द का स्वर्णकलश ही इस मदिरा के एकत्र होने का स्थान है। उस गगन-मण्डल से अमृत की वर्षा हो रही है। भक्ति के महारस में ही सामना का यह रस भी चूकर मिल रहा है। अब तो एक अनुपम बात और हो गई है कि इस आध्यात्मिक मदिरा के रस का पान करने के लिए प्राणवायु को प्याले में परिणत कर लिया गया है। तीनों भवनों में वही चैतन्य-रूप योगी विराजमान है फिर अहंकार-रूप राजा के लिए कहाँ स्थान है? कबीर कहते हैं कि पूर्ण जान-पहचान के बिना ही मैंने पुरुषोत्तम भगवान् से ब्याह कर लिया है और आत्मा उन्हीं के प्रेम में अनुरक्त हो गई है। यह सारा जगत् किस भ्रम में भूला हुआ है? मुझे भी क्या समझ रहा है? मैं तो भगवान् के प्रेम में मस्त हो रहा हूँ।

टिप्पणी—भक्ति और आध्यात्मिक आनन्द की साधिका के रूप में योग साधनाओं का वर्णन है।

रूपक अलंकार

ऐसा ग्यांन विचारि लै, लै लाइ लै ध्यांनां।
सुंनि मंडल मैं घर किया जैसैं रहै सिचांनां ॥ टेक ॥
उलटि पवन कह्यां राखिये, कोई मरम विचारै।
सांधै तीर पताल कूं, फिरि गगनहि मारै ॥
कंसा नाद बजाइले, धुंनि निमसिले कंसा।
कंसा फूटा पंडिता, धुंनि कहां निवासा ॥
प्यंड परें जीव कहां रहै, कोई मरम लखावै।
जीवत जिस घरि जाइये, ऊंधें मुषि नहीं आवै ॥

सतगुर मिलै त पाईये, ऐसी अकथ कहांणीं।
कहै कबीर संसा गया, मिले सारंगपांणीं ॥ १५४ ॥

रे जीव, भगवान् से साक्षात्कार कराने वाले ज्ञान का मनन करो। उसी में अपनी लौ लगाकर ध्यानस्थ हो जाओ। इस पर विचार करो कि किस प्रकार साधक शून्यमण्डल में अपना स्थान बनाकर अपने लक्ष्य पर बाज की तन्मयता से ध्यान लगाता है। प्राणवायु को विपरीत कर भी मुद्रा द्वारा ऊर्ध्वगामी करके उसका कुम्भक कहाँ करना चाहिए, उसे कहाँ रोकना चाहिए, साधना के इस मर्म पर विचार करो। अपनी तीर को पाताल की ओर साधकर गगन मण्डल में फिर उलट कर लक्ष्य भेदन करके अर्थात् मूलाधार चक्र के पास की कुण्डलिनी को जगाकर उसको सुषुम्ना मार्ग से गगन की ओर अर्थात् सहस्रार कमल की ओर ऊपर चढ़ाने के रहस्य पर विचार करो। झाँझ से नाद उत्पन्न करो और फिर देखो कि वह ध्वनि किस प्रकार पुनः उसी झाँझ में समाहित हो जाती है। जब झाँझ फूट जाती है तो वह ध्वनि कहाँ समाती है। इस तत्त्व का भी चिन्तन करो। ध्वनि के समा जाने का स्थान ही परम-तत्त्व है। इस शरीर के नष्ट होने पर जीव-चैतन्य कहाँ समा जाता है? इसके लिए भी वही मूल तत्त्व है। जीवित अवस्था में उस परम तत्त्व को प्राप्त करो ताकि औंधा मुँह करके पुनः गर्भ में आना पड़े। सद्गुरु के मिले बिना इस प्रकार की अकथ कहानी वाला यह रहस्य तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है। कबीर कहते हैं कि इस सद्गुरु के मिलने पर जीव के संशय और भ्रम मिट जाते हैं तथा सारंगपाणि भगवान् की प्राप्ति हो जाती है।

है कोई संत सहज सुख उपजै, जाकौ जप तप देउ दलाली।
एक बूंद भरि देइ रांम रस, ज्यूं भरि देइ कलाली ॥टेक॥
काया कलाली लांहनि करिहूँ, गुरू सबद गुड़ कीन्हां।
काम क्रोध मोह मद मंछर, काटि काटि कस दीन्हां ॥
भवन चतुरदस भाठी पुरई, ब्रह्म अगनि परजारी।
मूंदे मदन सहज धुनि उपजी, सुखमन पोतनहारी ॥
नीभर भरै अंमीं रस निकसै, तिहि मदिरा बल छाका।
कहै कबीर यहु बास बिकट अति, ग्यांन गुरु ले बांका ॥१५५॥

ऐसा कोई सन्त है जिसकी कृपा से परम सुख की प्राप्ति हो? जैसे कलाली (मदिरा बेचने वाली) मदिरा का प्याला भर देती है वैसे ही यह संत भक्ति, ज्ञान और ध्यान के समन्वित रूप के महारस की एक बूँद ही दे दे। कबीर कहते हैं कि मैं उसे इस रस की दलाली में ही जप-तप आदि की सम्पूर्ण कृच्छ् साधनायें दे दूँगा। मैं इस मदिरा का पान करना चाहता हूँ, इसकी भट्टी अपने अन्दर ही उतारने का इच्छुक हूँ। काया-रूपी इस कलश को संयम की लाक्षा से बन्द कर दूँगा। इसमें गुरु के

उपदेशों का गुड़ डालूँगा। काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि को काट-काटकर ईंधन के स्थान पर काम में लूँगा। सम्पूर्ण चौदह भवनों को भट्टी बनाकर ज्ञानरूपी अग्नि अथवा चण्डाग्नि से इसे प्रज्वलित करूँगा। कामदेव की डाट लगाकर इस मदिरा के कलश के छिद्रों को बन्द कर दूँगा। तब इस कलश में उबाल की ध्वनि के रूप में सहज ध्वनि या अनहदनाद सुनाई पड़ने लगेगा। अत्यधिक गर्म होने पर मदिरा-कलश को ठंडा रखने के लिए जल से बार-बार पोता जाता है। यह कार्य सुषुम्ना करती रहेगी। इस प्रकार इस महारस की भट्टी जब तैयार हो जायेगी तब रस के निर्झर गगन से चूने लगेंगे और अमृत रस टपकने लगेगा। मैं उसी मदिरा की शक्ति पर मस्त रहूँगा। इस मदिरा की गंध अत्यन्त विकट है, इसको ज्ञान-रूपी गुरु ही सहन कर पाता है अथवा उसी मदिरा से मेरा योगी मस्त और तृप्त हो गया।

टिप्पणी – महारस और मदिरा का रूपक है। कायायोग से प्राप्त आनन्द तो क्षणिक ही होता है। अतः ज्ञान ध्यान और भक्ति के महारस को प्राप्त करना ही कबीर के जीवन का लक्ष्य है। अनेक पदों की तरह इसमें भी उसी का वर्णन है। पंचमकार में मदिरा पान का भी अन्तर्भाव है। कबीर ने मदिरा-पान को प्रतीक बनाकर तथा इसे आध्यात्मिक मदिरा और महारस का अर्थ देकर इसको मुक्ति एवं भगवद् प्राप्ति का वास्तविक साधन बताया है। इसमें कायायोग के प्रतीकों को भक्ति का आवरण दे दिया गया है। प्रकारान्तर से मदिरापान के लौकिक रूप की उपादेयता का प्रत्याख्यान किया है।

अकथ कहांणी प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ॥टेक॥
भोमि बिनां अरु बीज बिन, तरबर एक भाई॥
अनंत फल प्रकासिया, गुर दीया बताई॥
मन थिर बैसि बिचारिया, रांमहि ल्यौ लाई॥
झूठी अनभै बिस्तरी, सब थोथी बाई॥
कहै कबीर सकति कछु नाहीं, गुर भया सहाई॥
आंवण जांणो मिटि गई, मन मनहि समाई ॥१५६॥

कबीर कहते हैं कि प्रेम की कथा अनिवर्चनीय है। वह शब्दातीत है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। भगवद्प्रेम का आनन्द गूँगे के शक्कर खाने के समान है। उसका वर्णन तो गूँगा नहीं कर पाता है, पर उसके आनंद में बैठा-बैठा मुस्करता रहता है। वह प्रेम का फल सामान्य फल से भिन्न है। यह स्वयंभू और स्वयं प्रकाश वस्तु है। भूमि और बीज के बिना ही उत्पन्न वृक्ष का यह फल है। इस वृक्ष पर प्रेम के अनन्त फल लगे हैं। इस फल का ज्ञान गुरु ही दे पाते हैं। मन को एकाग्र करके

इस प्रेम के स्वरूप पर ध्यान लगाने से राम में लौ लग जाती है। इस संसार का निर्भय होकर फैलने वाला विस्तार सब झूँठा और सारहीन प्रतीत होने लगता है। अथवा राम या प्रेम में लौ लग जाने से सारी झूँठी और थोथी अनुभूतियाँ विकीर्ण हो जाती हैं। कबीर कहते हैं कि ज्ञान और प्रेम के इस फल को प्राप्त करने की मुझ में कोई सामर्थ्य नहीं है। गुरु ने ही मुझ पर कृपा की है। इससे आवागमन समाप्त हो गया है और जीव-चैतन्य उस परम-चैतन्य में समा गया है।

टिप्पणी—रूपक और उदाहरण अलंकार।

संतौ सो अनभै पद गहिये।
कला अतीत आदि निधि निरमल, ताकूं सदा बिचारत रहिये ॥टेक॥
सो काजी जाकौं काल न व्यापै, सो पंडित पद बूझै।
सो ब्रह्मा जो ब्रह्म बिचारै, सो जोगी जग सूझै ॥
उवै न अस्त सूर नहीं ससिहर, ताकौ भाव भजन कर लीजै।
काया थै कछू दूरि बिचारै, तास गुरू मन धीजै ॥
जार्‌यो जरै न काट्यौ सूकै, उतपति परलै न आवै।
निराकार अषंड मंडल मैं, पाँचौं तत्त समावै ॥
लोचन अछित सबै अंधियारा, बिन लोचन जग सूझै।
पड़दा खालि मिलै हरि ताकूं, जो या अरथहि बूझै ॥
आदि अनंत उभै पख निरमल, द्रिष्टि न देख्या जाई।
ज्वाला उठी अकास प्रजल्यौ, सीतल अधिक समाई ॥
एक निगंध-बासनां प्रगटै, जग थैं रहै अकेला।
प्रांन पुरिस काया थैं बिछुरै, राखि लेहु गुरु चेला ॥
भागा भ्रम भया मन असथिर, निद्रा नेह नसांना।
घट की जोति जगत प्रकास्या, माया सोक बुझानां ॥
बंकनालि जे संमि कर राखै, तौ आवागमन न होई।
कहै कबीर धुनि लहरि-प्रगटी, सहजि मिलैगा सोई ॥१५७॥

हे संतो, परम-तत्त्व रूप उस अभय-पद अथवा अनुभूति पद को प्राप्त करो। वह अखण्ड पूर्ण निर्मल तथा आदि निधि है। ऐसे ही परम तत्त्व का निरन्तर ध्यान करते रहो। वास्तव में काजी वही है जो काल ग्रस्त न हो। पंडित वही है जो उस परम-पद को पहचानता है। ब्रह्मा वही है जो ब्रह्म चिन्तन में लीन है। वास्तविक योगी वही है जिसे जगत् का रहस्य ज्ञात है। उस परमतत्त्व का न कभी उदय होता है और न अन्त ही। वह तीनों कालों के समान है। वहाँ पर न सूर्य है और न चन्द्रमा ही। वह स्वयं-प्रकाश है। उसी का भाव-विभोर होकर भजन कीजिए। जो

सन्त इस शरीर से अतीत तत्त्व का चिंतन करता है; कबीर कहते हैं कि मेरा मन उसी गुरु में श्रद्धा धारण करके आश्वस्त होता है। वह तत्त्व न जलाने पर जलता है और न काटने पर सूखता है। उसकी न उत्पत्ति है और न प्रलय ही। उस निराकार अखण्ड में पाँचों तत्त्व समा जाते हैं। उस एक तत्त्व को न जानने से सांसारिक नेत्रों के रहते हुए भी सारा संसार वस्तुतः अंधा है, क्योंकि उसे वह परमसत्ता नहीं दिखाई देती है। वही एकमात्र सत्ता है और उसी का ज्ञान, ज्ञान है। उसके साक्षात्कार से सांसारिक नेत्रों के बिना भी सभी कुछ दिखाई पड़ता है। जो इस गम्भीर रहस्य को समझते हैं, उन्हें ही भगवान् माया का आवरण हटाकर मिलते हैं। इस परम-तत्त्व के आदि और अन्त दोनों ही पक्ष पूर्णतः निर्मल हैं। उसके इन चर्म चक्षुओं से दर्शन नहीं होते हैं। इस परम ज्योति के प्रकट होते ही यह माया-रूप संसार, कायायोग से प्राप्त आकाश आदि अवस्थायें—सभी कुछ भस्म हो जाते हैं और इससे जीव को आत्यन्तिक शान्ति एवं शीतलता का अनुभव होता है। उस अवस्था में संसार की गन्ध से मुक्त केवल एक भगवान् के स्वरूप-साक्षात्कार की वासना प्रकट रहती है। ऐसी स्थिति में जीव एवं जगत् से मुक्त केवल एक मात्र चैतन्य-तत्त्व रह जाता है; जब चैतन्य पुरुष शरीर से पृथक होता है, उस समय उसे न गुरु रख सकता है, न शिष्य ही। इस रहस्य का साक्षात्कार होने के बाद सम्पूर्ण भ्रम भाग जाते हैं। मन स्थिर हो जाता है और संसार की आसक्ति एवं निद्रा-रूप अज्ञान नष्ट हो जाते हैं, अन्तःकरण में ज्ञान की वह अपूर्व ज्योति जाग जाती है जिससे सम्पूर्ण जगत् ज्योतित हो उठता है। सारा जगत् उसी प्रकाश से प्रकाशवान् है। इस बोध के बाद सम्पूर्ण जगत् चित् रूप लगने लगता है। अज्ञान, मोह तथा तद्जनित शोक सब नष्ट हो जाते हैं। जो साधक सुषुम्ना में इड़ा और पिंगला को समाहित करके ब्रह्मनाड़ी या गगन पर चढ़ने के मार्ग को निरवरोध एवं सन्तुलित कर लेते हैं, उनका आवागमन ही ही छूट जाता है। कबीर कहते हैं कि जिनके अन्तःकरण में नाद की स्वर-लहरी प्रकट हो जाती, उनको भगवान् के सहज-स्वरूप का सहज ही साक्षात्कार हो जाता है।

टिप्पणी—'नैनं छिन्दन्ति' से प्रतिपादित तत्त्व का निर्वचन है।

विशेषोक्ति अलंकार।

जाइ पूछौ गोबिंद पढ़िया पंडिता, तेरां गुरू कौन चेला।
आपणें रूप कौं आपहि जांणें, आपै रहै अकेला ॥ टेक ॥
बांझ का पूत बाप बिना जाया, बिन पांऊं तरवरि चढ़िया।
अस बिन पाषर गज बिन गुड़िया, बिन षंडै संग्रामहि जुड़िया ॥
बीज बिन अंकुर पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया।
रूप बिन नारी पुहुप बिन परिमल, बिन नीरै सरवर भरिया ॥

देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा, बिनु पांषां भँवर बिलंबिया।
सूरा होइ सु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया॥
दीपक बिनु जोति जोति बिनु दीपक, हद बिन अनाहद सबद बागा।
चेतनां होइ सु चेति लीज्यौ, कबीर हरि के अंगि लागा॥ १५८॥

हे पढ़े-लिखे पंडितो, भगवान् से जाकर पूछते कि उनका गुरु कौन है और उनका चेला कौन है ? चैतन्य अपने स्वरूप का स्वयं ही ज्ञाता है। वह अकेला ही रहता है। गुरु और शिष्य की कल्पना तो द्वैत में है। अतः वहाँ न कोई गुरु है और न चेला ही। यह जीव-चैतन्य बाप-रहित बाँझ का पुत्र है अर्थात् एकाकी है। जीव माया कृत है और माया जड़ होने के कारण किसी को जन्म नहीं दे सकती है। अतः जीव बन्ध्या का पुत्र है। ईश्वर और जीव चैतन्य में अभेद है। अतः उनका आपस में पिता-पुत्र सम्बन्ध भी नहीं हो सकता है। अतः जीव परमार्थतः पिता रहित पर भावना के लिए पुत्र है। उसका पुत्रत्व केवल कल्पित है; पारमार्थिक नहीं। वैसे ही गुरुत्व और शिष्यत्व भी कल्पित है। यह जीव पैरों के बिना ही शरीर-रूपी वृक्ष पर चढ़ जाता है। बिना बख्तर के घोड़े तथा बिन हौदे के हाथी पर चढ़कर तलवार रहित रहकर युद्ध करने वाले योद्धा की तरह यह जीव भी इस जीवन संग्राम में अकेला साधनों के बिना ही जूझता है। यह जीव रूप विवर्त है अतः इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। यह बीज के बिना ही अंकुरण है; तने के बिना ही वृक्ष है और शाखाओं के बिना ही यह वृक्ष फल गया है। अर्थात् वासना का पारमार्थिक आधार न रहने पर भी इस शरीर में वासनायें हैं; उनका फैलाव है और वे वासना-रूप अंकुर कर्मफल में परिणत होते हैं। शुद्ध जीवात्मा रूप सुन्दरी रूप रहित है। पुष्प के बिना ही इसमें आनन्द रूप सुगन्ध है। शून्य शिखर का सरोवर अथवा सुगन्ध-सागर सांसारिक जल अर्थात् विषय-भोगों के बिना ही भरा हुआ है। इस शरीर का चैतन्य रूप देव बिना मन्दिर के और आकार के ही प्रतिष्ठित है। इस देव की पूजा योगादिक साधना रूप पत्रों के बिना ही होती है। पंखों से रहित अर्थात् वासनाओं से शून्य साधक मन इस आनन्द-रूप सुगन्ध के चारों ओर मँडरा रहा है। वास्तविक शूर वही है जो परमानन्द प्राप्त करता है। विषयों के कीट पतंग तो यहीं पर जलकर नष्ट हो जाते हैं। चैतन्य दीपक से प्रकाशित नहीं है, वह स्वयं-प्रकाश है। जगत् का दीपक इसके बिना प्रकाश से शून्य है। ज्ञान की इस अवस्था में अनहदनाद अपने आप सुनाई देने लगता है। जिसमें चेतना है, उसे इस ज्ञान का साक्षात्कार कर लेना चाहिए। कबीर तो भगवान् में अनुरक्त एवं लीन हो गया है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार है। प्रतीकों के द्वारा पारमार्थिक तत्त्व को स्पष्ट किया गया। बीच-बीच में उसको कार्य-कारण से परे कराने के लिए विभावना का प्रयोग भी है। 'गुरुडम' का खण्डन भी है।

पंडित होइ सु पदहि विचारै, मूरिख नांहिन बूझै।
बिन हाथनि पांइन बिन कांननि, बिन लोचन जग सूझै ॥ टेक ॥
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै, दह दिसिहीं फिर आवै ॥
बिनहिं तालां ताल बछावै, बिन मंदल षटताला।
बिनहिं सबद अनाहद बजै, तहां निरतत है गोपाला ॥
बिनां चोलनैं बिनां कंचुकी, बिनहिं संग संग होई।
दास कबीर औसर भल पेख्या, जांनैंगा जन कोई ॥ १५९ ॥

जो ज्ञानी और पण्डित है वही इस पद के अर्थ का मनन कर सकता है। अज्ञानी की तो यह समझ में भी नहीं आवेगा। हाथ, पैर, कान और नेत्र के बिना ही चैतन्य सारे कार्य करता है। उसे सम्पूर्ण जगत् बिना नेत्रों के ही दिखाई दे रहा है। वह मुख के बिना ही खाता है और पैरों के बिना ही चलता है। चैतन्य जीभ के बिना ही गुणगान करता है। चैतन्य कूटस्थ है, एक ही स्थान पर स्थिर रहता है। वह अपने स्थान अथवा अपनी अवस्था से भी विचलित नहीं होता है। पर तब भी दसों दिशाओं में घूम आता है। करतल के बिना ही वह ताली अथवा ताल बजाता है। मंदल बाजे के अभाव में भी षटताल (एक प्रकार की ताली) बजाता रहता है। वहाँ शब्द के बिना ही अनहदनाद बजता रहता है। साधक की इसी शुद्धचैतन्य की अवस्था से ही भगवान् नृत्य करते रहते हैं। चोले, कंचुकी और वाद्य-यन्त्र के बिना ही इस अवस्था से नाच-रंग होता रहता है। भक्त कबीर ने इस आनन्द की अवस्था का अनुभव किया है। उस आनन्द का अनुभव किसी भक्त को ही हो सकेगा।

टिप्पणी – ज्ञान चैतन्य का स्वरूप है। ज्ञाता वही हो सकता है। उसका ज्ञातृत्व किसी साधन के अधीन नहीं है। इसी को नेत्र आदि के बिना ही देखना कहा गया है। यहाँ विभावना अलंकार है। उस महारस की प्राप्ति में जो आनन्द आता है, वह शब्दातीत है, संगीत नृत्य आदि से उसकी तुलना नहीं पर उस आनन्द का संकेत करने के लिए संगीत आदि लौकिक जगत् की अनुभूतियों का सहारा भर लिया है। इन बिम्बों के द्वारा उस अनुभूति की व्यंजना हुई है। प्रस्तुत वस्तुओं के वर्णन से प्रस्तुत की व्यंजना है। कबीर के प्रतीक-विधान की यह भी एक विशेषता है।

हे कोई जगत गुर ग्यांनीं, उलटि बेद बूझै।
पांणी में अगनि जरै, अंधरे कौ सूझै ॥टेक॥
एकनि दादुर खाये पंच भवंगा।
गाह नाहर खायौ काटि काटि अंगा ॥

बकरी बिघर खायौं, हरनि खायौ चीता।
कागलि लगर फांदिया, बटेरैं बाज जीता।।
मूसै मंजार खायौ, स्यालि खायौ स्वांनां।
आदि कौं आदेस करत, कहै कबीर ग्यांनां ।। १६० ।।

है कोई संसार में ऐसा महान् ज्ञानी जो इस उल्टे वेद को समझता हो? पानी में अग्नि जल रही है। अन्धे को सब कुछ दीख रहा है। एक मेंढक ने पाँच सर्प खा लिए हैं। गाय सिंह के अंगों को काट-काट कर खा गई है। बकरी व्याध को तथा हरिणी चीते को खा गई है। कौए ने लगर नामक शिकारी चिड़िया के गले में फंदा डाल दिया है। कबूतर ने बाज को पराजित कर दिया है। चूहे ने बिल्ली निगल ली है। सियार कुत्ते को खा गया है। जो पहिले का है आदि है, उसको बाद में उत्पन्न हुआ आज्ञा देता है। कबीर इस ज्ञान के रहस्य का प्रतिपादन कर रहे हैं।

टिप्पणी—यह उलट वांसी है। इसमें संत-साहित्य के गृहीत प्रतीकों द्वारा तत्त्व वस्तु का उपदेश दिया है। आनन्द-घन शुद्ध-चैतन्य ही सबका आश्रय है; उसी पर संसार अध्यसित है। यह संसार दुःख रूप है; असत् है। विरुद्ध धर्म वाले एवं असत् होते हुए भी जीव-चैतन्य में सांसारिक दुःखों का आभास होता है। यही पानी में आग का जलना है। अज्ञानी को अथवा इन्द्रियों को जो जड़ हैं तथा जिनका धर्म ज्ञान प्राप्त करना नहीं है; जानने का भ्रम हो रहा है। अथवा नेत्र-विहीन चैतन्य को ही सब कुछ दीखता है। पाँचों इन्द्रियों पर मन का ही अधिकार है। काम-क्रोधादिक पाँचों भी मन के ही द्वारा नियन्त्रित हैं। मन ही मेंढक है और काम-क्रोधादिक ही पांच सर्प हैं अथवा विषय मेंढक है, इन्द्रियाँ सर्प हैं। सर्प का भोजन मेंढक है। पर यहाँ विषय-रूपी मेंढक ही इन्द्रियाँ-रूपी सर्प को खा रहा है, अर्थात् इन्द्रिय विषयों के वशीभूत हैं। अथवा साधक के मन-रूपी मेंढक ने काम-क्रोधादिक और उनकी विषय-वासना सहित इन्द्रियों को आत्मसात् कर लिया है। परमार्थतः जीव शुद्ध एवं अखण्ड चैतन्य है। माया का स्वामी है। माया उसी में लीन होती है। पर व्यवहार के लिए माया से शुद्ध चैतन्य ही व्यष्टि अहंकारों के साथ खण्ड-खण्ड में भासित होता है और माया के अधीन प्रतीत होता है। यही माया-रूपी गाय का जीव-रूपी सिंह को काट-काट कर खा जाना है। वासना ही बकरी और विषयी जीव ही व्याघ्र है। जीव वासना से ग्रसित हो जाता है, यही बकरी का व्याघ्र को खाना है। इच्छा-रूपी हिरणी से चित्त-रूपी चीता आक्रान्त हो जाता है। शिकारी अपनी शक्ति के विस्मृत हो जाने से स्वयं शिकार के फंदे में फँस जाता है। चैतन्य भी अपनी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता एवं सर्वज्ञता को भूलकर चित्त में ही अपने आपको सीमित समझ लेता है। यहाँ पर कौआ अज्ञानी चित्त तथा चैतन्य का आत्मबोध शिकारी है। सर्वव्यापी होते हुए भी व्यष्टि अहं में अपने आपको सीमित समझ लेना ही फंदे में पड़ना है। बाज के देखते ही कबूतर के होश गुम हो जाते हैं। बाज उसे बिना देखे ही झपट लेता है।

पर अगर अनेक कबूतर हों और बाज आते ही सब इधर उड़ने लगें तो कहाँ तक बाज उन्हें पकड़ पायेगा। यहीं उसकी पराजय होती है। वैसे ही ध्यान संकल्पों को नष्ट करता है। पर ध्यान लगते ही अनेक संकल्प भी उठने लगते हैं। यह भी सत्य है। संकल्पों का अभाव ही ध्यान है। पर अपने संकल्पों के उठने-बैठने से ध्यान ही नहीं लगता। संकल्प कबूतर है और ध्यान बाज। ध्यान के प्रारम्भ में अनेक संकल्पों का उठना जो मन का सहज स्वभाव है, ध्यान की पराजय है। मन चूहा है और काल बिल्ली। हमेशा बने रहने का भ्रम ही काल-रूप बिल्ली का खाना है। राम रूप बुद्ध चैतन्य ही कुत्ता है तथा अज्ञान जनित अहंभाव ही सियार। सियार कुत्ते को देखकर भाग जाता है। वैसे ही ज्ञान के उदय होते ही अज्ञान के भाग जाने का नियम है। पर जगत् में ज्ञान-स्वरूप चैतन्य व्यष्टि-अज्ञान से आवृत्त हो जाता है। यही सियार के द्वारा कुत्ते का खाया जाना है। जो जीव ज्ञान का मूल है, आदि है उसी को वासनामय अज्ञानी मन उपदेश देने का अहंकार रखता है और अपने अनुसार उसे भटका भी लेता है। उसी भटकने को वह अज्ञानी ज्ञान कहता है। अथवा कबीर ही इस सम्पूर्ण रहस्यमय ज्ञान का उद्घाटन कर रहे हैं। इससे 'व्यतिरेक' अलंकार भी ध्वनित है।

इन प्रतीकों का सिद्धिगत अर्थ भी सम्भव है। मूलाधार चक्र के सरोवर में चण्डाग्नि अथवा विषय जल में विरहाग्नि एवं ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो गई है। अब तक के विषयान्ध को ज्ञान हो गया है। साधक मेंढक ने वाम-क्रोधादिक के सर्प निगल लिए हैं। नरति अथवा ब्रह्माकार वृत्ति रूपी गाय अहंकार रूप सिंह को काट-काट कर खा गई है। तत्त्वान्वेषिणी बुद्धि ने जीव के विषयी रूप को नष्ट कर दिया है। आत्मा-रूपी हिरण ने चित्त-रूपी चीते को खा लिया है। अनहदनाद रूपी कौए ने चंचल मन-रूपी शिकारी चिड़िया को फाँस लिया है। सत्यसंकल्पों से कबूतर ने उद्वेग के बाज को वश में कर लिया है। साधक-मन-रूपी चूहे ने काल-रूपी बिल्ली मार ली है। अब तक के सियार-रूपी कायर मन ने साधना से दृढ़ होकर अज्ञान-रूपी कुत्ते को खा लिया है। ऊपर के प्रतीक-विधान की अपेक्षा इसमें कहीं-कहीं परम्परा से भिन्न प्रतीकार्थ लेने पड़ते हैं।

पाठ-भेद—तिवारी जी के पाठ में पंक्तियों के क्रम में भेद है। कहीं-कहीं साधारण पाठ भेद भी है।

ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या मैं रह्या उभेषै।
मूसा हसती सौं लड़ैं, कोई बिरला पेषै ॥टेक॥
मूसा पंठा बांबि मैं, लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचिरज भाई ॥
चींटी परबत ऊषण्यां, ले राल्या चौड़ै।
मुरगा मिनकी सूं लड़ै, झल पांणी दौड़ै ॥

सुरही चूंषै बछ तलि, बछा दूध उतार।
ऐसा नवल गुंणी भया, सारदूलहि मारै॥
भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सरि मारै।
कहे कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि बिचारै॥ १६१॥

मेरे सद्गुरु ने आश्चर्यजनक अनुभव की कथा कही, और मैं आश्चर्यचकित होकर उसे सुनता रहा। साधक-मन-रूपी चूहा अहंकारी मन-रूपी हाथी से लड़ता है; इस बात को विरला ही देख पाता है। इस साधक-मन-रूपी चूहे ने ध्यान की सूक्ष्म गुफा में प्रवेश किया तो संसार या विषय वासना-रूपी सर्पिणी उसके पीछे लगी। वह उस चूहे को निगल जाना चाहती थी अर्थात् साधना से च्युत करना चाहती थी। पर आश्चर्य यह है कि इस साधक मन ने उलटकर उस सर्पिणी को ही खा लिया, अर्थात् साधक-मन ने सम्पूर्ण विषय-वासनाओं को नष्ट कर दिया। वासनायें मन की तरंगें होती हैं और वे उसी में लीन हो जाती हैं। चूहे का सर्पिणी को निगल जाने का यही अर्थ है। सूक्ष्म साधिका अन्तर्वृत्ति-रूप चींटी ने संसार की सम्पूर्ण विषय-वासनाओं के पहाड़ को खोदकर रख दिया है। साधना की इस अवस्था में बोध-रूपी मुर्गा वासनामय मन-रूपी मेंढक से लड़ता है। सांसारिक विषयों की अग्नि भक्ति के महारस के आनन्द सागर में निमज्जित होकर बुझ जाती है। ज्ञान रूपी बछड़े के पीछे भक्ति भावना अथवा माया-रूपी गाय आनन्द-रूप दूध का पान करती है। आत्मबोध का यह बछड़ा अमृत बरसाता है। इस अमृत का रसास्वाद भक्ति-भावना ही करा सकती है। माया भी ज्ञानी के अधीन होकर उसको आनन्द प्रदान करने लगती है। यह नवीन साधक मन भी इतना शक्तिशाली हो गया है कि वह वासनाओं से उन्मत्त हिंस्र सिंह-रूपी मन को भी मार देता है। माया मोह-रूपी भील अब इस अज्ञान के जंगल में छिप रहा है और साधक-मन-रूपी खरगोश जो अब तक उसका शिकार था, मोह-रूपी भील के ज्ञान और साधना के बाण मार रहा है। साधना में संसार-दशा के सब व्यापार उलट गए हैं। जो शक्तिहीन प्रतीत होते थे, वे अब तथाकथित शक्तिशालियों को पराजित कर रहे हैं। यही अद्भुत कथा है। कबीर कहते हैं कि जो ज्ञानी इस पद का मर्म समझता है, उसको मैं अपना गुरु मानूँगा।

टिप्पणी—प्रतीक और उलटवाँसी की पद्धति में साधना का वर्णन है। कुछ प्रतीकों से कायायोग का भी वर्णन है। साधक-रूप चूहा सुषुम्ना के वंक नाल रूप विवर में प्रवेश करता है और कुन्डलिनी-रूपी सर्पिणी उसके पीछे लगी रहती है। अब तक साधक-चैतन्य जिस कुण्डली के धक्के से आगे बढ़ रहा था; यहाँ पहुँच कर वही उस कुण्डली-रूप शक्ति को आत्मसात् कर लेता है। यही सर्पिणी का निगल जाना है। बिन्दु का नाद में समा जाना ही मुर्गी और मेढ़की का संघर्ष है तथा मूलाधार की अग्नि का गगन के अमृतजल में समा जाना ही 'झल' का दामी की ओर दौड़ना है।

कबीर में यह कायायोग की साधना भी ज्ञानयोग में ही पर्यवसित होती है अतः इस कायायोग की साधना का फल भी गाय का बछड़े के तले दूध पीना ही है, जिसका व्यंग्यार्थ हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं।

अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहीं ब्यापै, देही जुरा न छीजै ॥टेक॥
उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं ब्यंब प्रकासै ॥
डाल गह्यांथैं मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बांबई उलटि शरप स्रप कौं लागी, धरण महा रस खावा ॥
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सझैं।
उलटै धनकि पारधी मार्यौ, यहु अचिरज कोई बूझै ॥
औंधा घड़ा न जलमैं डुबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यहु जग घिणकरि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया ॥
अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जांणैं सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई ॥
गांवणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेषि पेषनां पेषै, अनहद बेन बजावै ॥
कहणीं रहणीं निज तत जांणें, यहु सब अकथ कहाणीं।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणी ॥
बाझ पियालै अंमृत सोख्या, नदी नीर भरि राष्या।
कहे कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाष्या ॥ १६२ ॥

हे अवधू ! तुम जागते हुए मत सोओ, अर्थात् तुम्हें बोध होते हुए भी अज्ञान में नहीं फँसना चाहिए। इस बोध को बनाये रखो ताकि व्यक्ति न कालग्रस्त हो और न उसको वृद्धावस्था व्यापे। इस अवस्था में ऐसा प्रयास करो कि राग रूपी गंगा ब्रह्मोन्मुख होकर विषयों के संसार को सुखा दे और एक जीव-चैतन्य की भावना अनेक जीव भावों को अपने में समाहित कर ले। इसके परिणामस्वरूप वैशेषिक के नव-तत्त्वों के भाव को हटाकर उनमें अभेद-तत्त्व को देखने की चेष्टा करो। नवग्रह की दशा से अर्थात् सांसारिक वासनाओं के रोगों से ग्रसित तथाकथित रोगी ऊपर उठे। संसार अथवा उस राग के जल में शुद्ध-चैतन्य भगवान् के दर्शन करे। डाल अर्थात् सांसारिक विषयों में आसक्ति रखने अथवा कायायोग की साधनाओं में ही रमे रहने से मूल ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता है। उस मूल-तत्त्व तक पहुँचने पर ही महारस-रूपी फल की प्राप्ति होती है। सुरति अर्थात् ध्रुवास्मृति रूप विवर ने माया अर्थात् विषय भोग-जनित आनन्द-रूप सर्प को प्राप्त कर लिया है। आनन्द केवल

चैतन्य का स्वरूप होते हुए भी पहले विषय जनित ही प्रतीत होता था। पर अब विषयों की उपाधि में भी उसी महारस का अनुभव होने लगा है। यही महारस का धरणी अर्थात् जड़ माया को खा लेना है। जब व्यक्ति आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर देखता है, उसे बाहर अर्थात् चैतन्य से बाहर कुछ भी नहीं दिखाई देता है। क्योंकि वास्तव में चैतन्य से बाहर कुछ है ही नहीं। उलट कर धनुष ने शिकारी को ही मार दिया है। अर्थात् ज्ञान के उपदेशों से उत्पन्न चित्तवृत्ति ने सांसारिक मोह के साथ ही चैतन्य के साधक भाव को ही नष्ट कर दिया है। आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित साधना किसके लिए करे ? वह तो सिद्ध है ही। इस महान् आश्चर्य को ही कोई समझे कि उल्टा घड़ा जल में नहीं डूबता है, पर सीधा करने पर वह जल से परिपूर्ण हो जाता है। उसी प्रकार भगवान् से पराङ्मुख तथा अहंकारी जीव कभी आनन्द-समुद्र में नहीं डूबता है, पर भगवान् की ओर अभिमुख जीव को महारस का आनन्द प्राप्त होता है। जिस साधना से संसार घृणा करता है अथवा जिस राग को संसार बन्धन का हेतु मानकर घृणा करता है, उसी के प्रसाद से जगत् से मुक्ति मिलती है। आकाश से बरसे हुए पानी से धरती गीली हो जाती है, यह तो सब जानते हैं। लेकिन पृथ्वी की वर्षा से आकाश के भीग जाने की बात को कोई बिरला ज्ञानी ही समझ सकता है। चैतन्य के आनन्द से ही विषयों का सारा जड़ जगत् रसान्वित-सा प्रतीत होता है। यही आकाश से होने वाली वर्षा से पृथ्वी का अभिसिंचन है। पर साधना के परिपक्व होने पर तो विषयों की जड़ माया के माध्यम से भी उसी परम आनन्द की ही प्राप्ति होती है। अन्तःकरण उसी आनन्द से अभिसिंचित हो जाता है। यही धरती के जल से आकाश का भीगना है। गाने वाला अर्थात् परमानन्द प्राप्त चैतन्य तो स्वरूप में स्थित होकर चुप रहता है, पर जिसे इसकी प्राप्ति नहीं हुई है; वह जड़ निरन्तर गाता रहता है; सिद्धि का ढिंरोरा पीटता रहता है। सच्चा सिद्ध भगवान् का साक्षात्कार करके सर्वत्र उसी को व्याप्त देखता है। और उस आनन्द में अनहद नाद बजाता रहता है। ऐसे व्यक्ति की कथनी और करणी उसके आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठा कराने वाली है। यह अनुभूति शब्दातीत है। यही पुरुष का स्वरूप है कि मूल चैतन्य की ओर अभिमुख वृत्ति इस सम्पूर्ण प्रसार को अपने में विलीन कर लेती है। यह जीवात्मा-रूपी पत्नी अपने पति-परमेश्वर में अनुरक्त होकर आनन्द-रूप अमृत को अपने में व्याप्त कर लेती है। उसकी सभी इन्द्रियों की नदियाँ उसी महारस से भर जाती हैं। अर्थात् सब इन्द्रियों में भक्ति का महारस प्रवाहित होने लगता है। कबीर कहते हैं कि वे योगी विरले ही हैं जिन्होंने मूल तत्त्व में प्रतिष्ठित होने के महारस का पान किया है।

टिप्पणी —इस पद की बहुत-सी पंक्तियों का साधना-परक तथा शास्त्रीय परम्परा का अर्थ भी किया गया है। इसके प्रतीकों के अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद है। विश्वनाथ एवं विचारदास के द्वारा माने गए प्रतीकों में भी पर्याप्त मतभेद है।

पारसनाथ जी का पाठ कहीं-कहीं बहुत मामूली-सा भिन्न है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के द्वारा प्रतीकार्थों की दी गई तालिका निम्नलिखित है—

सांकेतिक शब्द	अभिप्राय		
	विश्वनाथ	विचारदास	शास्त्रीय परम्परा
१ उल्टी गंगा	संसारमुखी रागरूपी गंगा का ब्रह्म-मुख होना	ब्रह्माण्ड में चड़ाई हुई श्वास	इड़ा
२ समुद्र	संसार	सताप	संसार (भव)
३ शशि	एक जीवात्मा को मानना	इड़ा	इड़ा या नाभिके ऊर्ध्वभाग का सूर्य
४ सूर्य	नाना निरंजनादि ईश्वर न कों मानिवेको ज्ञान	पिंगला	पिंगला या तालु के अघोभाग का चन्द्र
५ नवग्रह	वैशेषिक के नौ पदार्थ	नवद्वार	
६ जल	राग	ब्रह्माण्ड	×
७ बिब	शुद्ध साहब का अंश	ब्रह्मज्योति	×
८ रोगिया	ग्रह-ग्रस्त संचारी	योगी	
९ शश	अहं ब्रह्म विचार	मन	संसारी
१० सिंह	'तें' (मूढ़)	जीवात्मा	मन
११ औंधा	साहब की ओर पीठ किया हुआ मनुष्य	बहिरंग वृत्ति	जीवात्मा
१२ सूधा घड़ा	साहब की ओर मुख किया हुआ मनुष्य-शरीर	अन्तरंग-वृत्ति	जगत्-मुख शरीर उद्बुद्ध कुण्डलीक शरीर
१३ गुफा	सुरति (जो जगत् मुख, ब्रह्म-मुख ईश्वर मुख और जीवात्मा-मुख है)	गगन-गुंफा	?
१४ उलटा बाण		श्वास	प्राणवायु
१५ पारधी	पार्थिव परम पुरुष	(वीर) मन	मन
१६ नटवर बाजी	निर्गुण ब्रह्म को देखना, नट की बाजी के समान धोखा है	(नटवर बाज) = अनहद नाद	×
१७ धरती	जड़ माया	पिण्डाण्ड	मूलाधार
१८ आकाश	ब्रह्म	ब्रह्माण्ड	शून्यचक्र
१९ प्याला	स्थूल-सूक्ष्मादि पंच शरीर	अन्यान्य साधन	इन्द्रिय ?
२० अमृत	साहब के प्रति प्रेम	निजानंदरूप अमृत	अमरवारुणी
२१ नदी	जगत्	आत्माकार वृत्ति	नाड़ी ?
२२ नीर	राग		श्वास ?
२३ राग-सुधारस	राग-प्रेम	आनंदामृत	सहजामृत

रांम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरषनाथि जांणीं ।
ना तिस रूप न छाया जाकैं, बिरध करै बिन पांणीं ।।टेक।।
बेलड़िया द्वै अणीं पहुंती, गगन पहुती सैली ।
सहज बेलि जब फूलण लागि, डाली कूपल मेल्ही ।।
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंब्या (बिलग्या) सतगुर बाही बेली ।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पांणी मेल्ही ।।
काटत बेली कूपल मेल्हीं, सींचताड़ी कुमिलांणीं ।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जांणीं ।।१६३।।

भक्ति-परक अर्थ —रे अवधू, भक्ति-रूपी लता का ज्ञान गोरखनाथ को ही हुआ है । न तो उस लता की कोई जाति है न कोई उसका रूप है और न उसकी छाया है । यह बेल द्वैत की ऊपरी सीमा पर पहुँच गई है अर्थात् भक्ति में द्वैत रहते हुए भी वह अद्वैत का स्पर्श करती है । कायायोग के क्षेत्र में भी यह भक्ति-भावना गगन या शून्य-तत्त्व तक पहुँच गई है, अर्थात् उसका साक्षात्कार कर रही है । यह सहज भक्ति की बेल जब फूलने लगी तो इसकी डालियों पर आनन्द एवं सिद्धि की कोंपल फूटने लगी । भक्ति की इस बाड़ी में मन-रूपी हाथी भी आनन्द-केलि का अनुभव करते हैं । इस बेल को सद्गुरु ने पैदा किया है । भक्ति की प्राप्ति के बाद पाँचों इन्द्रियाँ रूपी सखियाँ इसको अपने प्राण वायु से उल्लसित करती रहती हैं और इसको अपना विषय-रस समर्पित करके सींचती रहती हैं । जब इसे काटकर जगत् से असम्पृक्त करते हैं तब यह हरी-भरी हो जाती है और इसमें अनेक कोंपलें फूटने लगती हैं । पर जब इसको विषयों की आसक्ति से अभिसिंचित कर देते हैं तब यह भक्ति की बेल मुरझा जाती है कबीर कहते हैं कि कोई विरला योगी ही इस बेल के सहज स्वरूप का साक्षात्कार कर पाता है ।

माया-परक अर्थ —रे अवधूत, इस त्रिगुणात्मक माया के स्वरूप को गोरखनाथ ही समझ सके हैं । इस माया रूपी बेल की न कोई जाति है, न इसका कोई रूप है और न छाया ही । अर्थात् माया अपनी तरह की अकेली है, उसका कोई अपना पारमार्थिक रूप नहीं है । इस माया-बेल से आच्छादन और शीतलता भी नहीं मिलते हैं । यह बेल द्वैतभाव रूपी दो नोकों में विकसित होकर आकाश तक पहुँच गई है अर्थात् सब जगह व्याप्त हो गई है, अथवा अन्य में व्याप्त है । यह माया चैतन्य को व्याप्त कर नहीं पाती है तथा इसका अपना कोई पृथक् स्वरूप नहीं है, अतः असत् है । असत् होने के कारण इसकी व्याप्ति शून्य में ही मानी जानी चाहिए । अज्ञान रूपी यह माया जब सहज-रूप में पल्लवित होने लगी तो विक्षेप-रूप अनेक कोंपलों में प्रस्फुटित हो गई । इस बेल के विक्षेप से उत्पन्न विषय-रूप पत्ते और फलों से मन-रूपी हाथी आनद-केलि करता है । सद्गुरु ने सम्हाल कर इस बेल का वहन किया है ताकि यह उसे ही न उलझा ले । पाँचों इन्द्रियाँ अपने श्वास से इसे प्राणान्वित करती

है और विषय-रस का जल इसमें देती रहती हैं। अगर इस माया-रूप वेल को कर्म और साधना के द्वारा काटने का प्रयास किया जाता है तो यह अधिक फैलती है; कर्म एवं कायायोग की साधना से माया का जाल अधिक गहन हो जाता है। पर भक्ति और ज्ञान के रस से अभिसिंचित करने पर यह माया मुरझा जाती है। इसका जाल छिन्न-भिन्न हो जाता है। कबीर कहते हैं कि कोई विरला योगी ही इस माया के सहज स्वरूप का ज्ञाता है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

रांम राइ अविगत बिगति न जाणं,
कहि किम तोहि रूप बषाणं ।।टेक।।
प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पटन कि पांणीं।
प्रथमे चंद कि सूर प्रथमे प्रभू, प्रथमे कौंन बिनांणीं ।।
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभू, प्रथमे रकत कि रेतं।
प्रथमे पुरिष कि नारि प्रथमे प्रभु, प्रथमे बीज कि खेतं ।।
प्रथमे दिवस कि रैंणि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पाप कि पुन्यं।
कहै कबीर जहां बसहु निरंजन, तहाँ कुछ आहि कि सुन्यं ।।१६४।।

अविगत भगवान् राम के स्वरूप एवं उसकी माया का किसी को सम्यक् ज्ञान नहीं है। अतः कोई उनके स्वरूप का वर्णन कैसे कर सकता है? इस संसार के आदि और अन्त का कुछ भी पता नहीं है। पहले आकाश हुआ या पृथ्वी? पहले जल की उत्पत्ति हुई या वायु की? पहले सूर्य था या चन्द्रमा? विज्ञानी पहले कौन हुआ? पहले प्राण की उत्पत्ति हुई या शरीर की? पहले रक्त था, कि वीर्य? पुरुष पहले हुआ कि स्त्री? बीज पहले है या खेत? रात पहले है कि दिन? अर्थात् प्रकाश और अन्धकार में से कौन पहले है? पाप और पुण्य में से पहले किसकी स्थिति है? कबीर कहते हैं कि जो माया रहित ब्रह्म का स्थान है, वह सत्-रूप है अथवा शून्य-रूप, यह कहा नहीं जा सकता है। ये दोनों ही वाणी के विषय हैं पर परम-तत्त्व शब्दातीत है।

टिप्पणी—ऊपर कार्य-कारण एवं पूर्वापर का इत्थभूत यही रूप है ऐसा कह सकने का निषेध है। माया से उत्पन्न जगत स्वप्नवत् है, अतः उसका कोई निश्चित क्रम नहीं हो सकता है। कभी एक क्रम से और कभी दूसरे क्रम से जगत् की उत्पत्ति का उपनिषदों में वर्णन है। उसमें उत्पत्ति के एक क्रम में होने का निषेध ही अभिप्रेत है। उसी की छाया ऊपर के पद में स्पष्ट है।

अवधू सो जोगी गुर मेरा।
जो या पद का करै निबेरा ।।टेक।।
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाकै, अष्ट गगन मुखि बागा ।।

पैर बिन निरति करां बिन बाजै, जिभ्या हींणां गावै।
गावणहारे कैं रूप न रेषा, सतगुर होइ लखावै॥
पंषी का षोज मींन का मारग, कहै कबीर बिचारी।
अपरंपार पार परसोतम, वा मूरति की बलिहारी॥१६५॥

हे अवधू, जो योगी इस पद का गूढ़ार्थ स्पष्ट कर दे और इस तत्त्व का साक्षात्कार कर ले वही योगी मेरा गुरु है। व्यष्टि अथवा समष्टि-अज्ञान-रूप एक वृक्ष है जो जीवादिक की कल्पना का हेतु है। यह अज्ञान या मन रूपी वृक्ष चैतन्य पर अधिष्ठित है, पर उससे उत्पन्न नहीं होता। चैतन्य उसकी जड़ नहीं है, अतः यह माया का वृक्ष-मूल-रहित है। माया असत् है; वह केवल प्रतीत मात्र होती है। इस अज्ञान से ही जगत्-रूपी फल की उत्पत्ति है, पर वह फल फूल के बिना ही होता है। जगत् संकल्प-जन्य है, अतः इसे सत फूल का फल में परिणत होना नहीं कहा जा सकता है। यह अज्ञान आकार एवं स्वरूप से शून्य है अतः इस वृक्ष के कोई शाखायें नहीं हैं। फिर भी यह अज्ञान अपवर्ग सहित आठों लोकों में फैला हुआ है। इसके पैर नहीं हैं; फिर भी नृत्य करता है। यह हाथों के बिना ही ताली बजाता है और जीभ के अभाव में ही गाता है। तात्पर्य यह है कि यह अज्ञान जड़ है, इसमें किसी प्रकार की भी क्रिया की शक्ति नहीं है। तब भी चैतन्य के धर्मों के अध्यास से सब क्रियायें इसमें प्रतीत होने लगती हैं। यह अपने आपको चैतन्य मानने लगता है। जो वस्तुतः गाने वाला है, वह चैतन्य ही हो सकता है। उसी में यह शक्ति सम्भव है, पर उसके कोई रूप देख नहीं है, वह निराकार है। इससे उसमें भी गाने आदि की क्रियायें असम्भव हैं। अतः ये सब क्रियायें मिथ्या हैं, केवल भासित होती हैं। यह ज्ञान सद्गुरु ही दे सकता है। अतः कबीर विचारपूर्वक जीव को चेतावनी दे रहे हैं कि आत्मस्थिति को प्राप्त करना इस संसार से मीन के समान उल्टी दिशा में चलकर इससे पराङ्मुख होना है तथा पक्षी की तरह विहंगम मार्ग से चलना है, पर वही प्राप्तव्य है। पुरुषोत्तम भगवान् की अपार लीला है। अथवा अपरंपार से भी परे भगवान् पुरुषोत्तम है। कबीर इसी मूर्ति पर न्यौछावर है।

टिप्पणी—'विभावना' अलङ्कार। 'पंखी का खोज' से खेचरी आदि मुद्रायें तथा विहंगम मार्ग तथा 'मीन को मारग' से 'श्वास' को उल्टा चलाने का संकेत भी गृहीत है।

पाठान्तर—(अ) 'पो बिन पत्र करह बिन तुम्बा, बिनु जिह्वा गुण गावैं' बीजक में यह पाठ भी मिलता है। आत्मा में जगत् की वासना के अंकुर नहीं हैं; पर फिर भी यह अज्ञान पल्लवित होता है और आत्मा में वस्तुतः कर्म न रहते हुए भी जगत् रूपी तुम्बाफल इस अज्ञान में पैदा हुआ सा लगता है।

पाठान्तर—(ब) 'पंखी खोज मीन को मारग, कबीर कहै दोऊ भारी'। मीन की तरह उल्टा चलकर अर्थात् इस जगत् से पराङ्मुख होकर पक्षी (हंस) रूप शुद्ध

चैतन्य को प्राप्त कर जगत् से पराङ्मुख होना तथा परम तत्त्व को प्राप्त करना—ये दोनों ही कठिन कार्य हैं।

अब मैं जांणिबौ रे केवल राइ की कहांणी।
मंझा जोति रांम प्रकासै, गुर गमि बांणी ॥ टेक ॥
तरवर एक अनंत मूरति, सुरतां लेहु पिछांणीं।
साखा पेड़ फूल फल नांहीं, ताको अंमृत बांणी ॥
पुहुप बास भंवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया ॥
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जलहर सोष्या।
कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पेष्या ॥ १६६ ॥

अब मैंने केवल तत्त्व भगवान् राम की कहानी समझ ली है। उन्होंने मेरे अन्तःकरण में ज्ञान की ज्योति जगा दी हैं। उस तत्त्व का साक्षात्कार भी मुझे गुरु की वाणी से ही हो सका है। साधक का शरीर एक वृक्ष-रूप है जो उस परमतत्त्व की ही मूर्ति है। उसी में परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। उसमें परमतत्त्व की स्मृति प्राप्त करो एवं उसके स्वरूप को पहचान लो। इसके शाखा, पेड़, फल, फूल आदि कुछ भी नहीं है अर्थात् विक्षेप जनित प्रसार समाप्त हो गए हैं। इसकी वाणी में भगवान् के गुण-गान अथवा अनहद का अमृत व्याप्त है। इसके चक्र-रूपी पुष्पों की सुगन्ध में अनुरक्त होकर जीवात्मा रूपी भ्रमर निवास कर रहा है। अनाहद चक्र के कमल के बारह दलों को इस भ्रमर ने अपने हृदय में धारण कर लिया है। अर्थात् उनमें तन्मय हो गया है। सोलह दल वाले विशुद्ध नामक चक्र में साधक का प्राणवायु संचरित हो रहा है और सहस्र दल कमल वाले आकाश या शून्य में उस कमल के विकास-रूप आनन्द का फल प्रकट होने लगा है। सहज-समाधि के आनन्द-रस से यह वृक्ष अत्यधिक अभिसिंचित हो गया है। कुण्डलिनी के मूलाधर-चक्र तथा सहस्रार-चक्र—दोनों को सोख कर एकाकार कर दिया है। इससे परम आनन्द की प्रप्ति होने लगी है। कबीर कहते हैं कि मैं उस गुरु का शिष्य हूँ जिसने साधना की इस अवस्था पर पहुँचे हुए शरीर-रूपी वृक्ष का साक्षात्कार किया है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और विभावना अलङ्कार। 'गुरु ग्रन्थ साहब' में यह पद निम्न पाठ के साथ दिया गया है।

राजा रांम कवन रंगै,
जैसे परिमल पुहुप संगैं ॥ टेक ॥
पंचतत ले कीन्ह बंधांनें, चौरासी लष जीव समांनें ॥
बेगर बेगर राखि ले भाव, तामैं कीन्ह आपको ठांव ॥

जैसें पावक भंजन का बसेष, घट उनमान कीया परवेस ॥
कह्या चाहूं कछू कह्या न जाइ, जल जीव ह्वै जल नहीं बिगराइ ॥
सकल आतमां बरतै जे, छल बल कौं सब चीन्हि बसे ॥
चीन्हियत चीन्हियत ता चीन्हि लै से तिहि चीन्हिअत धूंका करले ॥
आपा पर सब एक समांन, तव हम पाया पद निरबांण ॥
कहै कबीर मनि भया संतोष, मिले भगवत गया दुख दोष ॥ १६७ ॥

भगवान् राम इस जगत् में कैसे रंगे हुए अर्थात् व्याप्त हैं ? जैसे फूल में सुगन्ध । चौरासी लाख योनियों के जीवों को समान रूप से ही उन्होंने पंच तत्त्व से बांध लिया है । भिन्न-भिन्न प्रकार के आकारों या भावों का निर्माण करके चैतन्य ने उनमें उनके अनुरूप ही अपना स्थान वैसे ही बना लिया है. जैसे अग्नि विशेष-विशेष बर्तनों के आकार के अनुरूप ही उनमें वैसे प्रवेश कर लेती है । अर्थात् अग्नि में भाजन का वैशिष्ट्य प्रतीत होने लगता है । वैसे ही राम (चैतन्य) ने भी अन्तःकरण में उनके अनुरूप ही प्रवेश कर रखा है उनमें अनुरूप ही वह प्रतीत होता है । चैतन्य के इस प्रकार शरीर में अनु-प्रवेश की अद्भुत बात को मैं कहना चाहता हूँ पर कह नहीं पाता हूँ । इन घड़ों में जीव जल रूप होकर प्रवेश करता है, पर उन घड़ों के संसर्ग में जल तदनुरूप विकृत नहीं होता है । अथवा जल का जीव होकर जीव जल से पृथक् नहीं रहता है । सम्पूर्ण शरीर में जो आत्मा विद्यमान है, वह शरीरों के छल बल को पहचान कर उनसे सम्पृक्त रहती हुई ही उनमें बसती है । जीवात्मायें क्रमशः उस आत्मा को ब्रह्म के रूप में पहचान लेती हैं । पर उस परमतत्त्व को वेगपूर्वक ज्ञान के मार्ग में आगे बढ़ने से ही पहचाना जा सकता है । अथवा वे जीवात्मायें (भेद बुद्धि सहित) उस परमतत्त्व को क्या करके, किस बल पर पहचानेगी जब अपने में तथा दूसरे में एक ही तत्त्व दृष्टिगत होने लगता है तभी हमें निर्वाण-रूप परम-पद की प्राप्ति होती है । कबीर कहते हैं कि इस ज्ञान से मुझे सन्तोष हो गया है । मुझे भगवान् की प्राप्ति हो गई है और मेरे सब दुःख और विकार नष्ट हो गये हैं ।

अंतर गति अनि अनि बांणी ।
गगन गुपत मधुकर मधु पीवत, सुगति सेस सिव जांणी ॥ टेक ॥
त्रिगुण त्रिबिधि तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलांनीं ॥
भागे भरम भोइन भए भारी, बिधि बिरंचि सुषि जांणीं ॥
बरन पवन अबरन बिधि पावक, अनल अमर मरै पांणीं ॥
रवि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुंनि थिति मांहीं ॥
संकट सकति सकल सुख खोये, उदधि मथित सब हारे ।
कहै कबीर अगम पूर पाटण प्रगटि पुरातन जारे ॥ १६८ ॥

इस शरीर के भीतर अनेक प्रकार के शब्द होते रहते हैं । जैसे—अनहद नाद, भेरी आदि के स्वर । अथवा इसके अन्तर्गत में भिन्न-भिन्न रूप हैं । शून्य-रूपी गुफा में अन्तर्हित भ्रमर-रूपी चैतन्य अमृतरस के मधु का पान करता है । इस सुख और सुन्दर स्थिति को केवल शेष और शिव ही जानते हैं । अज्ञानी का शरीर तीनों गुणों एवं तीनों प्रकार के तापों से व्यथित रहता है पर गुरु उसके शरीर के भीतर के तारों को उस समष्टि संगीत से मिला देता है । इसमें सम्पूर्ण प्रकार के भ्रम नष्ट जाते हैं तथा भौंहें भारी हो जाती हैं, अर्थात् त्रिकुटि में ज्योति के दर्शन होने हो लगते हैं । कायायोग से प्राप्त इस आनन्द को ब्रह्मादिक ही जान सकते हैं अथवा सारे भ्रम जो प्रमुख बने हुए थे और विधि-विरंची के सुखों का अनुभव कर रहे थे, भाग गये । पृथ्वी, वायु, जल, आकाश विधि, चैतन्य, अग्नि ये अमर हैं और प्राणी मरता है । रवि और शशि सम्पूर्ण घरों में अच्छी प्रकार से प्रकाशित हैं । शून्य में उस अनहद नाद की भी स्थिति है । पर सब देवताओं ने संकट की स्थिति में सम्पूर्ण शक्ति और सुखों को ही नष्ट किया । वे समुद्र का मन्थन करके भी हार ही गए । उन्हें वास्तविक अमृत की प्राप्ति नहीं हुई । कबीर कहते हैं कि इस शरीर-रूपी नगर में वह अगम तत्त्व तो तभी प्रकट हो सकता है जब जीव पुरातन पापों को अथवा इस पुरातन अज्ञान को जला देता है । अथवा कबीर कहते हैं कि आनन्द-लोक प्रकट होकर शरीर सुख के जगत् को जला देता है ।

टिप्पणी—कायायोग से परम-तत्त्व की वास्तविक प्राप्ति नहीं होती, इस व्यंजना का अर्थ भी कुछ पक्तियों का है । इस शरीर से रवि-शशि के प्रकाश देखने, शून्य में अनहद नाद के सुनने, कुण्डलिनी को जगाकर चक्रों के सागर का मन्थन करने आदि से भी उस परमतत्त्व का साक्षात्कार नही होता । यह तो पुरातन अज्ञान को जलाने पर ही होता है । यही इसका प्रतिपाद्य है ।

लाधा है कछू लाधा है, ताकी पारिख को लहै ।
अबरन एक सकल अबिनासी, घटि घटि आप रहै ॥ टेक ॥
तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिणंती ग्यांन न होई ।
नां सो भारी नां सो हलका, ताकी पारिख लखै न कोई ॥
जामैं हम सोई हम हीं मैं, नीर मिलें जल एक हूवा ।
यों जांणें तो कोई न मरिहै, बिन जांणें थैं बहुत मूवा ॥
दास कबीर प्रेम-रस पाया, पीवणहार न पाऊं ।
बिधनां बचन पिछांणत नाहीं कहु क्या काढ़ि बिखाऊं ॥ १६१ ॥

कबीर कहते हैं कि मुझे कुछ वस्तु मिल गई है, एक अनुपम वस्तु प्राप्त हो गई है । उसके पारस रूप की परख कोई भी नहीं कर पा रहा है । यह तत्त्व वर्ण-

रहित, एक, अखण्ड, एवं अविनाशी है तथा सम्पूर्ण अन्तःकरणों में सर्वत्र व्याप्त है। न इस तत्त्व का कोई तोल है। और न मोल ही। न उसको मापा जा सकता है। और न गिना जा सकता है। वह वृत्यात्मक ज्ञान का विषय भी नहीं है, अतः इस प्रकार अज्ञेय है। न उसे भारी कह सकते हैं और न हल्का ही। इस तत्त्व का न कोई वास्तविक साक्षात्कार कर पाता है और न उसको परख ही पाता है। जिस तत्त्व में हम हैं, अर्थात् जिस पर जीवों के अहं आधारित हैं वही तत्त्व हम सबमें व्याप्त है। जीव; उस चैतन्य की सत्ता से सत्तावान् है। जल में जल मिलकर एक हो जाता है; इस पारमार्थिक तत्त्व को जानने से कोई नहीं मरता है। क्योंकि उस समय मृत्यु ही मिथ्या प्रतीत होने लगती है। मृत्यु वस्तुतः कुछ है नहीं। अधिकांश जीवों को इसका अज्ञान ही है, अतः वे ही अनेक बार मरते हैं, ऐसा उन्हें भान होता है। सेवक कबीर को तो ज्ञान और भक्ति का महारस प्राप्त हो गया है। उस रस का पान करने वाला सुलभ नहीं है। स्वयं ब्रह्मा भी इस ज्ञान के शब्दों के तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। अतः इस अनुभूति को अन्तःकरण में से निकाल कर किस प्रकार किसी को साक्षात्कार कराऊँ ?

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ
भूलै भरम दुनीं कत बाहौ ।। टेक ।।
जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया ।
आतमरांम न चीन्हैं संतौ, क्यूं रमि लै रांम राया ।।
लागैं प्यास नीर सो पीवै, बिन लागैं नहीं पीवै ।
खोजैं तत मिलै अविनासी, बिन खोजै नहीं जीवै ।।
कहै कबीर कठिन यह करणीं, जैसी षंडे धारा ।
उलटीं चाल मिलै परब्रह्म कौं, सो सतगुरू हमारा ।। १७० ।।

रे जीव, भगवान् तो तुम्हारे हृदय में विराजमान हैं। तुम उन्हें अन्यत्र कहाँ ढूँढ़ रहे हो ? भ्रम में भूले हुए तुम संसार में कहाँ भटक रहे हो ? अनेक व्यक्ति संसार को उपदेश देने में ही अपनी इतिकर्तव्यता समझ बैठते हैं। इसी में अपनी शक्ति समाप्त कर लेते हैं। इस प्रकार इस ज्ञानोपदेश को वे अपनी उदर-पूर्ति का साधन बना लेते हैं। अथवा अन्य किसी प्रकार से अपने उदर की पूर्ति में संलग्न हो जाते हैं। रे सन्तो, ऐसे लोग अपनी आत्मा को तो पहचानते ही नहीं हैं, भगवान् राम में कैसे तन्मय हो सकते हैं ? उनको इस स्वरूप-साक्षात्कार की जिज्ञासा ही नहीं है। जिसे प्यास लगती है, वही पानी पीता है। जिसको प्यास ही नहीं लगी, वह कैसे पी सकता है ? तत्त्व के खोजने पर ही अविनाशी भगवान् का साक्षात्कार हो पाता है। ऐसा शोधक तो उसे बिना खोजे जी नहीं सकता है। कबीर कहते हैं कि यह भगवान् के साक्षात्कार का मार्ग अत्यन्त कठिन है; यह खाण्डे की धार पर चलना है।

इस संसार से पराङ्मुख होकर उल्टा चलता है, वही परब्रह्म को प्राप्त करता है। कबीर कहते हैं कि वही हमारा सद्गुरु है।

टिप्पणी—उदाहरण अलंकार।

रे मन बैठि कितै जिनि जासी।
हिरदै सरोवर है अविनासी।। टेक।।
काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।।
काया मधे कवलापति, काया मधै बैकुंठबासी।।
उलटि पवन षटचक्र निवासी, तीरथराज गंगतट बासी।।
गगन मंडल रवि ससि दोइ तारा, उलटी कूंची लागि किवारा।।
कहै कबीर भयो उजियारा, पंच मारि एक रह्यौ निनारा।। १७१।।

कबीर कहते हैं, 'रे मन, यहीं बैठ। इसी अन्तरंग की साधना में केन्द्रित हो, और कहीं मत जा। इसी हृदय-सरोवर में अविनाशी भगवान् का निवास है। इसी सरोवर में करोड़ों तीर्थ हैं। इस काया में ही काशी है। इसी शरीर में कमलापति और बैकुण्ठवासी भगवान् का स्थान है। अनेक कमल इसी शरीर में हैं; अतः यह शरीर ही कमलापति हो गया है। प्राणवायु के ऊर्ध्वगामी होने पर साधक जीव षटचक्रों का निवासी बन गया है। वह इड़ा-रूपी गंगा के तट पर रहने लगा है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के सम्मिलित-क्षेत्र त्रिकुटि में निवास करने के कारण यह साधक आध्यात्मिक तीर्थराज प्रयाग का वासी बन गया है। सहस्रार कमल के स्थान गगन के सूर्य-चन्द्र नामक दो ताले हैं। उनके प्राणवायु की उल्टी चाबी लग गई है और उसके किवाड़ बन्द हो गए हैं। अब साधक जीव इस गगन से नीचे नहीं उतर सकता है। प्राणवायु के ऊर्ध्वगति से चलने पर साधक जीव अपना स्थान गगन मंडल में बना लेता है। उस भवन के इड़ा, पिंगला के ताले लग गये हैं और प्राणवायु अपनी उल्टी गति से उनको ऐसा बन्द कर देती है कि वे किवाड़ फिर नहीं खुलते हैं। उसके बाद आत्मा वहीं पर आनन्द में तन्मय रहती है। साधक संसार के कीचड़ में फिर नहीं आता है। इसी की यहाँ पर प्रतीकात्मक ढंग से व्यंजना की गई है। कबीर कहते हैं कि इस अवस्था में ज्योति प्रकट हो जाती है। जीव इन्द्रियों के पाँचों विषयों, पाँचों तत्त्वों और काम-क्रोधादिक पाँच विकारों को नष्ट करके अकेला शुद्ध-चैतन्य के रूप में सबसे अलग अवस्थित रहता है।

रांम बिन जन्म मरन भयौ भारी।
साधिक सिध सूर अरु सुरपति, भ्रमत भ्रमत गये हारी।। टेक।।
ब्यंद भाव भ्रिग तत जंत्रक, सकल सुख सुखकारी।
स्रवत सुनि रवि ससि सिव सिव, पलक पुरिष पल नारी।।

अंतर गगन होत अंतर धुंनि, बिन सासनि है सोई।
घोरत सबद समंगल सब घटि, ब्यंदत ब्यंदै कोई॥
पार्णी पवन अवनि नभ पावक, तिहि संग सदा बसेरा।
कहै कबीर मन-मन करि बेध्या, बहुरि न कीया फेरा॥ १७२॥

भगवान् राम की भक्ति के बिना यह जन्म-मरण का चक्र अत्यन्त भारी हो गया है। साधक, सिद्ध, देवता और इन्द्र ये सभी इस चक्र में भटकते-भटकते थक गये हैं। शुक्र और रज से निर्मित यह शरीर तथा जीवन ही सब सुखों का साधन-प्रतीत होता है। शून्य (ब्रह्म रन्ध्र) में सूर्य नाड़ी, चन्द्र नाड़ी तथा सुषुम्ना प्रवाहित होती रहती है। इससे पल भर में यह चैतन्य पुरुष रूप में प्रतीत होता है और पल भर में ही नारी। इसके आभ्यन्तर गगन में आन्तरिक ध्वनि (अनहद नाद) होती रहती है। वह ध्वनि श्वास के आघातों के कारण नहीं है अर्थात् यह ध्वनि प्राणवायु से उत्पन्न नहीं होती है। यह अनहद नाद सम्पूर्ण घटों में घुमड़ता रहता है और उन्हें मंगलमय करता रहता है। पर इस ध्वनि का ज्ञान तथा वरण तो कोई विरला ही व्यक्ति धीरे-धीरे ही कर पाता है। शेष व्यक्ति तो पृथ्वी, जल आदि पाँच तत्त्वों के शरीर में आसक्त होकर ही रहते हैं। कबीर कहते हैं कि मेरा मन उस परम-मन अर्थात् परम-तत्त्व से अनुरक्त हो गया है; उसका आवागमन नहीं होता है।

टिप्पणी—भक्ति और कायायोग का सम्बन्ध है।

नर देही बहुरि न पाईये।
ताथैं हरषि-हरषि गुण गाईये॥ टेक॥
जे मन नहीं तजै बिकारा, तौ क्यूं तिरिये भौ पारा।
जब मन छाड़ै कुटलाई, तब आइ मिलै रांम राई॥
ज्यूं जामण त्यूं मरणां, पछितावा कछू न करणां।
जाणि मरै जे कोई, तौ बहुरि न मरणां होई॥
गुर बचनां मंझि समावै, तब रांम नांम ल्यौ लावै।
जब रांम नांम ल्यौ लागा, तब भ्रम गया भौ भागा॥
ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब सांई संगि बिराजै॥
होह संत जनन के संगी मन राचि रह्यौ हरि रंगी।
धरौ चरन कवल बिसवासा, ज्यूं होइ निरभै पद बासा॥
यहु काचा खेल न होई, जन षरतर खेलै कोई।
जब षरतर खेल मचावा, तब गगन मंडल मठ छावा॥

चित चंचल निहचल कीजै, तब रांम रसांइन पीजै।
जब राम रसांइन पीया, तब काल मिट्या जन जीया॥
यूं दास कबीरा गावै, तार्थें मन कौं मन समझावै।
मन हीं मन समझाया, तब सतगुरु मिलि सचुपाया॥ १७३॥

यह मानव शरीर पुनः नहीं मिलेगा। अतः प्रसन्न होकर भगवान् का गुणगान करो। जब मन अपने ही विकारों को नहीं छोड़ता है तो कोई इस संसार से पार कैसे हो सकता है। जब मन अपनी कुटिलता का परित्याग कर लेता है तब स्वयं भगवान् भक्त से आकर मिल लेते हैं अर्थात् वे स्वयं उस पर अनुग्रह करते हैं। जैसे जन्म है, वैसे ही मरण है। अतः मरने पर पश्चाताप करने की क्या आवश्यकता है? जब व्यक्ति गुरु के उपदेश में तन्मय हो जाता है, तब उसकी भगवान् से लौ लग जाती है। भगवान् में ध्यान लगने पर सम्पूर्ण भ्रम समाप्त हो जाते हैं और भय भाग जाते हैं अथवा जगत् का भ्रम समाप्त हो जाता है। जब इड़ा और पिंगला, सूर्य और चन्द्रमा का मिलन होता है, तब साधक में अनहदनाद बजने लगता है और साधक अनहदनाद सुनता हुआ भगवान् से सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। ऐसी अवस्था का व्यक्ति संतों और भक्तों का साथी बन जाता है और उसका मन भगवान् के प्रेम के रंग में रंगकर उल्लसित रहता है। रे जीव, भगवान् के चरण-कमलों में श्रद्धा करो, ताकि उन्हीं के चरणों में निर्भय निवास प्राप्त हो सके। भक्ति और साधना का खेल कोई कच्चा खेल नहीं है। इसको कोई ऊँचा और दृढ़ व्यक्ति ही खेल सकता है। इस प्रखरतर उत्तम खेल में जब भक्त मस्त हो जाता है तब वह साधक-भक्त गगन मण्डल में स्थान बना लेता है। चंचल चित्त को निश्चल करने पर ही राम-भक्ति के रसायन एवं महारस का पान हो सकता है। राम-रस के पीने पर काल की बाधा मिट जाती है और व्यक्ति अमर हो जाता है। इसी के सेवक कबीर राम-भक्ति का गुणगान करते हैं और व्यक्ति के मन को मन ही अर्थात् यह विवेक और यह निष्ठा ही आत्म-बोध देकर उसमें ईश्वर प्रेम जगाते हैं। जब मन में इस प्रकार निष्ठा जाग जाती है, तब सद्गुरु के उपदेशों में तन्मय होकर ही व्यक्ति को वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी— रूपक अलंकार।

अवधू अगनि जरै कै काठ।
पूछौं पंडित जोग संन्यासी, सतगुरु चीन्हैं बाट॥ टेक॥
अगनि पवन मैं पवन कवन मैं, सबद गगन के पवनां।
निराकार प्रभु आदि निरंजन कत रवते भवनां॥
उतपति जोति कवन अंधियारा, घन बादल का बरिषा।
प्रगट्यो बीज धरनि अति अधिकै, पारब्रह्म तहीं देखा॥

मरतां मरि-मरि मरि सकै, मरनां बूझि न मेरा।
द्वादस द्वादस सनमुख देखै, आपै आप अकेला॥
जे बांध्या ते छुछंद मुकुता, बांधनहारा बांध्या।
बांध्या मुकता-मुकता बांध्या, तिहि पारब्रह्म हरि लाधा॥
जे जाता ते कौंण पठाता, रहता ते किनि राख्या।
अमृत समांनां, बिष मैं जांनां, बिष मैं अमृत रस चाख्या॥
कहै कबीर बिचार बिचारी, तिल मैं मेर समांनां।
अनेक जनम का गुर-गुर करता, सतगुर तब भेटांनां॥ १७४॥

रे अवधूत, इस बात पर विचार करो कि अग्नि जलती है अथवा काठ। अर्थात् वासनाओं में शरीर जलता है अथवा चैतन्य। अग्नि स्वयं को कैसे जलायेगी और काठ स्वयं कैसे जल सकता है? वैसे ही जड़ शरीर से वासना का अनुभव नहीं होता है और चेतन का वासना से सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् परमार्थतः दोनों से सम्बन्ध न होने के कारण यह वासना में जलना ही मिथ्या है। पंडित, योगी और संन्यासी से यह रहस्य पूछो। वास्तव में इस रहस्य को सद्गुरु ही पहचानता है। अग्नि अपने कारण वायु में विलीन हो जाती है। पवन किसमें समाती है? यह शब्द गुण वाले आकाश में विलीन होती है। पर निराकार प्रभु जो माया से रहित है वे आदि तत्त्व किस भवन (तत्त्व) में रमते हैं? उनका कोई कारण तत्त्व नहीं है जिसमें वे लीन हों। वही अनादि और अनन्त तत्त्व है। इस परम-ज्योति के उदित होने पर अज्ञान का अन्धकार कहां रह सकता है? चाहे संशय आदि का गहरा अन्धकार है अथवा विषयों की वर्षा; किसी भी अवस्था में अन्धकार नहीं रह सकता है। जीवन-रूपी पृथ्वी में वासना के अनेक बीजों के उगने से कर्म-जंजाल फैल जाता है और इसी से जीव को अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का, परब्रह्म का ज्ञान नहीं हो पाता। सारा जगत् मर रहा है, पर वास्तव में वह मरना नहीं जानता है। जीवन्मृत होना कोई आसान नहीं है; यह अत्यन्त कठिन है। इस जीवन्मृत अवस्था को प्राप्त करने पर साधक बारह-बारह सूर्यों के जैसे परम प्रकाश के दर्शन आप अकेला ही करता रहता है। इस अवस्था में अद्वैत की अनुभूति जाग जाती है। माया ने जिस चैतन्य को बांधा था, अर्थात् जिसके बांधने की प्रतीति हुई थी, वह तो वास्तव में पूर्ण मुक्त है। ज्ञान की इस अवस्था में वह बांधने वाली माया ही इस जीव के वशीभूत हो जाती है। जब बांधा हुआ जीव मुक्त हो जाता है और माया बंध जाती है, उसी समय परब्रह्म रूप भगवान् के दर्शन हो जाते हैं। जो इस जगत् को छोड़कर जाता है उसे कौन भेजता है तथा जो यहां रह जाता है, उसे कौन रख लेता है? यह सब चैतन्य की प्रेरणा से होता है इसका साक्षात्कार भी उसे ही रहता है। माया हटती है और शुद्ध चैतन्य रहता है। यह सब भी चैतन्य प्रेरित ही है। इस ज्ञान से ही साधक आनन्द के अमृत में समाता है। उसे वितयों के विष का भी ज्ञान हो जाता है। ज्ञानी इस अवस्था में

भी; विषयों के विषैले अनुभव में भी; परमानन्द के अमृत का आनन्द ले लेते हैं। कबीर कहते हैं कि इस तत्त्व का चिन्तन करने से सूक्ष्म आत्म-तत्त्वों में 'मैं' और 'मेरा' समा गये हैं। मुझे अनेक जन्मों से तलाश करते-करते उपर्युक्त तत्त्व के उपदेष्टा सद्गुरु से भेंट हुई है।

टिप्पणी—प्रतीक, उदाहरण, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलङ्कारों का प्रयोग।

अवधू ऐसा ग्यान विचारं।
भेरै चढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं ॥ टेक ॥
ऊघट चले सु नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटांने, के बांधे के छूटे ॥
मंदिर पैसि चहुँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूखा।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा ॥
बिन नैंनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या धंधा ॥ १७५ ॥

रे अवधूत, इस ज्ञान का विचार करो कि लकड़ी पेड़ों एवं पत्तों से बनाए हुए बेड़े पर चढ़कर जो इस सागर को पार करना चाहते थे, वे तो मँझधार में ही डूब गये। पर जो बिना आधार के ही चले, वे दूसरी पार पहुँच गये। अर्थात् जिनमें इस शरीर की आसक्ति रही; वे भवसागर से पार नहीं हो सके और अनासक्त लोग मुक्त हो गए। जो शास्त्रानुमोदित बँधे-बँधाये मार्गों को छोड़कर साधना या शून्य के ऊबट मार्ग से चले, वे तो अपने गन्तव्य परम-पद को प्राप्त हो गए, पर जो इन्हीं सांसारिक मर्यादाओं से चले वे माया-मोह द्वारा लूट लिये गए। माया की एक रस्सी में सब लिपटे हुए हैं; चाहे बद्ध हैं अथवा मुक्त। जो आसक्ति के इस घर-रूपी मंदिर में प्रविष्ट है, वे सब विषय-वासनाओं से भीगे हुए हैं। पर जो इस शरीर रूपी मंदिर से बाहर हैं अर्थात् देहाध्यास से पृथक् और ऊपर हैं, उन्हें विषय-रस नहीं छू सका है। जिनको गुरु के उपदेश तथा ईश्वर-प्रेम के बाण लगे हैं, वे तो पूर्णतः सुखी हैं। पर जिन्हें वे बाण नहीं लगे, वे ही सांसारिक बाधाओं से ग्रसित हैं। इन बाहरी चक्षुओं से जो रहित हो गए हैं, अर्थात् विषयों से दूर हो गए हैं, अथवा जो शस्त्र के नेत्रों के बन्धन से मुक्त हैं उन्हें सब कुछ दिखाई देता है। वे शुद्ध चैतन्य के साक्षात्कार से सर्वज्ञ हो गए हैं पर विषयों का ही साक्षात्कार करने वाले बाहरी चक्षुओं के ही रहते हुए भी व्यक्ति अन्धा रहता है; उसे परम-तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता। कबीर कहते हैं कि अब हमें कुछ समझ आई है। अब हमें यह संसार अन्धा प्रतीत होता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति एवं रूपक अलङ्कार। इसमें उलटवांसी की पद्धति का प्रयोग है।

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' से भाव-साम्य द्रष्टव्य है।

जग धंधा रे जग धंधा, सब लोगनि (लोग न) जांणें अंधा ॥
लोभ मोह जेवड़ी लपटानीं बिनहीं गांठि गह्यो फंधा ॥ टेक ॥
ऊँचै टीबै मछ बसत है, ससा बसै जल मांहीं ॥
परबत ऊपरि लोक डूबि मूवा, नीर मूवा धूं कांहीं ॥
जलै नीर तिण षड़ सब उबरै, बैसंदर लै सींचं।
ऊपरि मूल फूल तिन भीतरि जिनि जान्यां तिनि नीकै ॥
कहै कबीर जांन हीं जांनैं, अनजांनत दुख भारी।
हारी बाट बटाऊ जीत्या, (चीत्या) जांनत की बलिहारी ॥ १७६ ॥

यह सारा संसार केवल प्रपंच है, धन्धा है, सब लोग जानते हैं कि यह जगत् अंधा है, ज्ञान-शून्य है। अथवा इसे सब लोग अंधा (अज्ञानमय) नहीं जानते हैं। सब मोह-माया की रस्सी में लिपटे हुए हैं। ये बिना गाँठ के ही माया की रस्सी में बंधे हुए हैं। माया कोई सत्‌रूप वस्तु नहीं है। अतः उसकी कोई वास्तविक गाँठ नहीं हो सकती है। जीव ने अपने अज्ञान से ही यह बन्धन समझ रखा है। अहंकार के ऊँचे टीले पर मन-रूपी मच्छ बसता है और वासनाओं के जल में यह संसार-रूपी जीव। जब पर्वत पर ही लोग डूब कर मर जाते हैं, फिर जल में डूबकर मरते हैं तो क्या आश्चर्य है? अर्थात् जब सूखे दम्भ में ही लोग डूबे रहते हैं तो फिर अगर विषयों के आनन्द अथवा सिद्धियों के सुख के जल में अर्थात् दोनों के आनन्दाभास में जीव अपने शुद्ध रूप को भूलकर डूब जाता है तो उसमें विशेष आश्चर्य की बात ही नहीं है। संसार रूपी नीर जलता है, पर तृण पूरा बच जाता है अर्थात् इस जल में विषयों की आग लगी है, पर उस सूक्ष्म-तत्त्व में प्रतिष्ठित जीव-चेतन या साधक जीव बच जाता है, चाहे विषयों की कितनी भी आग उस पर डालते रहो। इस शरीर और संसार-रूपी वृक्ष की मूल ऊपर है तथा इसके पुष्प अर्थात् वासनायें भीतर है। यह वासना का पुष्प अन्य पुष्पों की तरह बाहर प्रकट नहीं होता, बाहर दिखाई ही नहीं पड़ता हैं। यह वासना-रूप पुष्प कर्म-रूप फल के अन्तस्तल में छिपा रहता है। जिन्होंने संसार के इस रहस्य को समझ लिया है, वे ही अच्छे हैं। कबीर कहते हैं कि ज्ञानी ही इसे समझता है। अज्ञानी को तो महान् दुःख ही है। कबीर उसी ज्ञान की बलिहारी हैं जिसके प्रयास से संसार अथवा जन्म-मरण रूपी यह मार्ग पराजित हो गया है तथा जो अनन्त प्रतीत होता था, वह समाप्त हो गया है। अब उस पर चलने वाला पथिक-रूपी ज्ञानी जीत गया है। अर्थात् वही अवशिष्ट रह गया है।

टिप्पणी—सांगरूपक तथा रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

अवधू ब्रह्म मतै घर (भूलि) जाइ।
कालिह जु तेरी बंसरिया छीनीं कहा चरावै गाइ ॥ टेक ॥

तालि चुगैं बन तीतर लउवा, पर्बति चरैं सौरा मछा।
बन की हिरनीं कूवै बियानीं, ससा फिरैं अकासा ॥
ऊंट मारि मैं चारै लावा, हस्ती तरंडबा देई।
बंबूर की डरियां बनसी लैहूँ, सीयरा झूंकि झूंकि षाई ॥
आंब कै बौरें चरहल करहल, निबिया छोलि छोलि खाई।
मौरैं आगनि दाष फरी बेल, (दरीबाल) कहैं कबीर समझाई ॥१७७॥

हे अवधूत, तुम ब्रह्म के स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाओ। अगर कल तुम्हारी प्राण-रूपी बाँसुरी छिन जाये तो तुम अपनी इन्द्रियों-रूपी गायों को विषय-रूपी घास कैसे चराओगे ? मेरी इस साधना के रूप पर विचार करो। इसके परिणाम-स्वरूप संसार के विषयों के वन में चरने वाले तीतर और लवा रूपी मन के पक्षी अब गगन मण्डल के सागर में आनन्द के मुक्ता चुग रहें। कुण्डली-रूपी मछली शून्य शिखर पर चढ़ गई है। विषयों के वन की चंचल हिरणी रूपी अन्तःकरण की वृत्ति अब गगन कूप में घुस गई है और वहाँ उन्मनि अवस्था को पहुँच कर उसने आत्म-बोध रूपी बच्चे को जन्म दिया है। साधक-जीव-रूपी खरगोश आकाश की सैर कर रहा है। कर्मों के भार को वहन करने वाले अन्तःकरण-रूपी ऊँट को मार कर साधक ने जीव के लिए चारा बना दिया है। अर्थात् प्रारब्ध-कर्मों का अब ज्ञान-पूर्वक भोग हो रहा है। अहंकार के हाथी को अब मैंने साधक का बेड़ा दे दिया है, ताकि वह उस पर चढ़कर भवसागर से पार हो सके। मैंने प्राणवायु की बाँसुरी को सुषुम्ना के बंबूर पर चढ़ा दिया है और सुषुम्ना-मार्ग की अनेक ध्वनियों की गर्जना के साथ जीव-रूपी सियार सांसारिक अज्ञान को नष्ट कर रहा है। सुषुम्ना-मार्ग की साधना अथवा भक्ति के इस आम्र-वृक्ष के सिद्धियों-रूपी अनेक मधुर फल लगे हैं। हम तो साधना के कष्ट-रूपी कड़ुए फल निबोरी को छील-छील कर, अर्थात् उसकी कष्ट जनित कड़वाहट की उपेक्षा करके खा रहे हैं, अर्थात् उस कष्ट का भी आनन्द ले रहे हैं। कबीर समझाकर कह रहे हैं कि मेरे आँगन में तो साधना के महा-रस का आनन्द देने वाले द्राक्षा की बेल फलवती हो गई है। अवधूत, तुम भी इसी साधना का अवलंबन करो।

टिप्पणी—प्रतीकों से साधना का वर्णन है। उलटवाँसी के रूपकों का प्रयोग है।

कहा करौं कैसें तिरौ, भौजल अति भारी।
तुम्ह सरणागति केसवा, राखि राखि मुरारी ॥ टेक ॥
घर तजि बन खंडि जाइये खनि लइये कंदा।
विषै बिकार न छूटई, ऐसा मन गंदा ॥

विष विषिया कौ बांसनां, तजौं तजी नहीं जाई।
अनेक जतन करि सुरझिहौं, फुनि फुनि उरझाई ॥
जीव्रन अछित जोबन गया, कछू कीया न नीका।
यहु हीरा निरमोलिका, कौडी पर बीका।
कहै कबीर सुनि केसवा, तूं सकल बियापी।
तुम्ह समांनि दाता नहीं, हंम से नहीं पापी ॥ १७८ ॥

क्या करूँ ? किस प्रकार इस भवसागर से पार होऊँ ? संसार की वासनाओं का यह जल तो अत्यधिक विपुल है। हे प्रभु ! मैं तुम्हारी ही शरण में हूँ। तुम्हीं मेरी रक्षा करो। घर छोड़कर वन में जाने और कंद मूल-फल खाने से भी विषय-विकार दूर नहीं होते हैं। विषयों से यह मन अत्यन्त गंदा हो गया है। विषैले विषयों की यह भावना प्रयास करने पर भी समाप्त नहीं होती है। मैं अनेक प्रकार के प्रयासों से संसार के फंदों से छूटना चाहता हूँ; पर इन उलझनों से छूट नहीं पाता। प्राणों की शक्ति रहते-रहते ही अथवा जीव के सामने ही यौवन समाप्त हो गया और जीव कोई भी शुभ कर्म नहीं कर सका। यह जीवन अथवा जीव-रूपी अमूल्य हीरा विषय-वासनाओं की कोड़ी में बिक गया। अर्थात् ज्ञान और भक्ति के लिए प्राप्त अमूल्य जीवन विषय-वासनाओं में फँस गया है। अथवा विशुद्ध आनन्दस्वरूप जीव को विषयों से आनन्द प्राप्त होने का भ्रम जाग गया है। कबीर कहते हैं, "हे केशव, तुम मेरी प्रार्थना सुनो ! तुम सर्वव्यापी हो। तुम्हारे समान कोई दाता नहीं है और हमारे समान कोई पापी नहीं है। पर तब भी तुम तो समर्थ मुक्तिदाता हो। मुझे तो मुक्ति दे ही सकते हो।"

टिप्पणी—सगुण भक्तों की सी सहज, सरल विनती है। ऐसे पदों में सगुण और निर्गुण की भक्ति का भेद ही नहीं रह जाता। तिवारी जी ने कुछ भिन्न पाठ दिया है।

बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूं भव बंधन षूटै।
जुरा मरन दुख फेरि करंन सुख, जीव जनम थैं छूटै ॥ टेक ॥
संतगुरु चरन लागि यौं बिनऊँ, जीवनि कहां थै पाई।
जा कारनि हम उपजैं बिनसैं, क्यूं न कहौं समझाई ॥
आसा पास षंड नहीं पाड़े, यौं मन सुंनि न लूटै।
आपा पर आनन्द न बूझै, बिन अनभै क्यूं छूटै ॥
कह्यां न उपजै उपज्यां नहीं जांणैं, भाव अभाव बिहूनां।
उदै अस्त जहां मति बुधि नांहीं सहजि रांम ल्यौं लींनां ॥
ज्यूं (प्रतिबिंबहिं) बिंबहिं प्रतिबिंब समांनां, उदिक कुंभ बिगरांनां।
कहै कबीर जांनि भ्रम भागा, जीवहि जीव समांनां ॥ १७९ ॥

हे सद्गुरु, मुझ पर कृपा करो। इस व्यक्ति को सन्मार्ग पर लगाओ, ताकि सांसारिक बन्धन समाप्त हो। वृद्धावस्था, मृत्यु, दुःख, पुनः, सुख—यही सब काल का चक्र है। ऐसी कृपा करो कि जीव जन्म-मरण से छूट सके। सद्गुरु के चरणों में नत होकर मैं यह बताने के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ कि यह जीव कहाँ से आया। जो हमारी व्यष्टियों की उत्पत्ति एवं नाश के कारण हैं, उन्हें आप स्पष्ट करके समझा दें। जब तक व्यक्ति इस आशा के फंदों की तोड़कर फेंक नहीं देता है, अब तक शून्य में स्थिति का उस ज्योति-स्वरूप के आनन्द का अनुभव वह कैसे कर सकता है ? जो अपने स्वरूप तथा अपने से भिन्न तत्त्व को नहीं समझता वह आनन्द का साक्षात्कार नहीं करता है। अनुभव के विना व्यक्ति भय से मुक्त नहीं हो सकता है ? निर्गुण भगवान् के ज्ञान की यह मनः-स्थिति शब्दों के द्वारा उसके वर्णन मात्र से नहीं पैदा होती है। शब्दों के द्वारा क्षणिक रूप में अगर यह अवस्था जाग भी जाती है तब भी इसका न पूर्णतः साक्षात्कार हो सकता है और न ही इसमें निष्ठा जम सकती है। यह स्थिति और तत्त्व भाव और अभाव दोनों से परे है। न इस ज्ञानावस्था का उदय होता है और न अस्त ही। यहाँ मन और बुद्धि नहीं पहुँचती हैं। ऐसे सहज राम-तत्त्व में अपने ध्यान को लवलीन कर लो। सागर के जल से घड़े का जल घड़े की उपाधि के कारण ही भिन्न है। ज्योंही घड़े की उपाधि टूट जाती है, त्यों ही जल में जल समाकर एकाकार हो जाता है। उसी प्रकार माया की उपाधि नष्ट होने पर व्यष्टि-चैतन्य रूपी प्रतिबिम्ब परमात्मा-रूपी बिम्ब में समाहित हो जाता है। उस समय जीव की अद्वैतावस्था में प्रतिष्ठा हो जाती है। कबीर कहते हैं कि इस ज्ञान से भ्रम भाग जाता है और जीव परमात्मा में लीन हो जाता है।

टिप्पणी—'दृष्टांत' अलंकार।

सन्तो धोखा कासूं कहिये।
गुंण में निरगुंण निरगुंण में गुंण है, बाट छांड़ि क्यूं बहिये ।। टेक ।।
अजरा-अमर कथैं सब कोई, अलख न कथणां जाई।
ना तिस रूप-बरण नहीं जांकैं, घटि घटि रह्यो समाई ।।
प्यंड-ब्रह्मांड कथैं सब कोई, वाकैं आरि अरु अंत न होई।
प्यंड-ब्रह्मांड छाड़ि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई ।।१८०।।

हे संतो, ज्ञान के सम्बन्ध में जो भ्रम फैला हुआ है, उस धोखे की बात किससे कहूँ ? गुण में ही निर्गुण है। और निर्गुण में गुण है। अर्थात् सत्त्व, रज तम आदि में उस गुणातीत की सत्ता व्याप्त है। सब गुण उस गुणातीत में ही अधिष्ठित हैं अतः सब गुण उसी में हैं। भगवान् के निर्गुण रूप होने का अभिप्राय उसका अभाव रूप होना नहीं है। निर्गुण का तात्पर्य है—तीनों गुणों से अतीत। यह अतीतता भी भाव-रूप ही है; शून्य नहीं है। अतः व्यापक रूप में गुण ही है। यही निर्गुण में गुण

है। इस सीधे मार्ग को छोड़कर इधर-उधर भटकने से क्या लाभ है ? परम-तत्त्व को अजर और अमर सब कहते हैं; पर उसके अलख रूप को किसी ने नहीं जाना है। न उसका कोई रूप है न वर्ण ही। वह प्रत्येक कण-कण और अन्तःकरणों में समाया हुआ है। उस परम-तत्त्व का पिण्ड और ब्रह्मांड के रूप में तो सब वर्णन करते हैं, पर यह कोई नहीं सोचता है कि उसका न आदि है और न अन्त ही। पिण्ड व्यष्टि माया से तथा ब्रह्माण्ड समष्टि माया से उपहित चैतन्य ही है। वह परम-तत्त्व इन दोनों प्रकार की माया से अतीत है। जो उसको पिण्ड और ब्रह्माण्ड से अतीत बतलाता है, वही वास्तव में परम-तत्त्व का दर्शन करता है।

टिप्पणी—इसमें कबीर की निर्गुण राम-सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हुई है। उनकी दृष्टि से परमतत्त्व भावाभाव से परे का तत्त्व है। इस पद में कबीर ने गुण और निर्गुण में तात्त्विक भेद मानने तथा निर्गुण को अभाव या शून्य-रूप मानने का भी खण्डन किया है। इस प्रकार उस परम-तत्त्व के भक्ति के आलम्बन बनने में कोई बाधा नहीं है।

पषा पषी कै पेषणें, सब जगत भुलानां ॥
निरपष होइ हरि भजै, सो साध (सीध) सयांनां ॥ टेक ॥
ज्यूं षरसूं षर बंधिया, यूं बंधे सब लोई।
जाकै आतम द्रिष्टि है, साचा जन सोई ॥
एक एक जिनि जांणियां, तिनहीं सच पाया।
प्रेमी प्रीति ल्यौ लींन मन, ते बहुरि न आया ॥
पूरे की द्रिष्टि, पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछू समुझि न परई, या कछू बात अलेखै ॥ १८१ ॥

परम तत्त्व को वादों और पक्षों के आग्रह की दृष्टि से देखने में ही सारा जगत् भ्रमित हो रहा है। न वह द्वैत का विषय है और न अद्वैत का। द्वैत का निषेध करने के लिए ही अद्वैत कहा जाता है। पर उसका यह स्वरूप-लक्षण नहीं है जो भगवान् की भक्ति पक्ष-रहित होकर करता है; वही साधु अथवा सिद्ध वास्तव में सुबोध है। जैसे एक गधा दूसरे गधे से बँधा रहता है और इस अवस्था में उन दोनों की चाल स्वच्छंद नहीं रह पाती है, वैसे ही जगत् आपस की माया-ममता एवं पक्ष-धरता से बँधा हुआ है अतः वह असली सत्य का प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है। जो आत्मा का वास्तविक रूप में दर्शन करता है, वही वास्तव में सच्चा भक्त है। जिसने एक अद्वैत-तत्त्व को समझा है, उसी ने सत्य का साक्षात्कार किया है। जिन्होंने भगवान् के प्रेम में अपने मन को लवलीन कर दिया है, उनका पुनरागमन नहीं होता है। यह आत्मज्ञानी एवं आप्तकाम को जो स्वयं-पूर्ण है, अपनी पूर्ण दृष्टि से उस पूर्ण तत्त्व का साक्षात्कार है यह प्रेम एवं विशुद्ध अनुभूति से भगवान् के सहज रूप

में तन्मय हो जाने की अवस्था है। इसका शब्दों के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है। यह बात कुछ अलक्ष्य, अगम्य और शब्दातीत है पर यह अनुभूति गम्य अवश्य है।

टिप्पणी– आचार्य द्विवेदी जी ने इसे परम-प्रेमाश्रय भगवान् से सहज ही मिला रहना माना है। वे इसको अद्वैतवादियों के चैतन्य के ब्रह्म में लीन होने से भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार अद्वैतवादियों का लय ज्ञान की अवस्था है पर 'सहज' में लय, ज्ञान और प्रेम के समन्वय की अवस्था है। निस्सन्देह परम प्रेमाश्रय भगवान् के सहज रूप में लय बौद्धिक ज्ञान का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। पर अद्वैत की अवस्था शुष्क ज्ञान की नहीं, अनुभूति की ही अवस्था है। वहाँ पर ज्ञान और भक्ति का अभेद ही है। श्रीमद्भागवत की प्रार्थना जन्माद्यस्य' में व्यास ने जिस अवस्था का साक्षात्कार किया है, वह एक ही साथ ज्ञान, भक्ति और परमप्रेम के अद्वैत की अनुभूति है। इन अनुभूतियों में पारस्परिक अन्तर्विरोध ही नहीं है। हर दृष्टि से कबीर की अपेक्षा भागवतकार अनुभूति की उच्च भूमिका में है।

उदाहरण और विशेषोक्ति अलंकार।

अजहूँ न संक्या गई तुम्हारी ।
नांहि निसंक मिले बनबारी ।।टेक।।
बहुत गरब गरबे संन्यासी, ब्रह्मचरिज छूटी नहीं पासी ।।
सुद्र मलेछ बसें मन मांहीं, आतमरांम सु चीन्ह्यां नांहीं ।।
संक्या डांइणि बसै सरीरा, ता कारणि रांम रमै कबीरा ।।१८२।।

रे जीव, अभी तुम्हारे सन्देहों की निवृत्ति नहीं हुई है। इसी से संदेहातीत भगवान् की तुम्हें प्राप्ति नहीं हो रही है। संन्यासी अपने ज्ञान का बहुत अभिमान करता है पर इसी से स्पष्ट है कि उसको वास्तविक ज्ञान नहीं हुआ है। उसे सभी संन्यासियों के लिए विहित कर्मों की अर्थात् ब्रह्मोपपासना के तथाकथित कर्मों की असक्ति का बन्धन है। अथवा ब्रह्मचारियों की फाँसी भी नहीं छूटी है। उनके मन में अभी तक व्यक्ति को म्लेच्छ और शूद्र समझने की भावना है। अथवा उनके मन में शूद्रत्व और म्लेच्छत्त्व विद्यमान है। इसी से वे सर्वव्यापी अत्माराम को नहीं पहचान पा रहे हैं। शंका-रूपी डाइन इस शरीर में निवास करती है। संन्यासी भी इस डाइन से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सका है, इससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही कबीर इस शरीर की आसक्ति को त्याग कर राम में लवलीन हो गए हैं।

टिप्पणी—'संन्यास' के अहंकार से भी ऊपर उठना काम्य है। वह सहज रूप में देहासक्ति छोड़ देने तथा सहजभाव से राम में लीन होने से ही सम्भव है। यही प्रतिपाद्य है।

रूपक अलंकार है।

सब भूले हो पाखंडि रहे।
तेरा बिरला जन कोई राम कहै ॥ टेक ॥
होइ अरोगि बूंटी घसि लावै, गुर बिन जैसे भ्रमत फिरै॥
है हाजिर परतीति न आवै, सो कैसें परताप धरै॥
ज्यूं सुख त्यूं दुख द्रिढ़ मन राखै, एकादसी इकतार करै॥
द्वादसी भ्रमैं लष चौरासी, (प्रभ) बास आवै सदा मरै॥
मैं तैं तजै तजै अपमारग, चारि बरन उपरांति चढ़ै॥
ते नहीं डूबै पार तिरि लंघै, निरगुण अगुण (सगुण) संग करै॥
हो। मगन रांम रंगि राचै आवागमन मिटै धापै।
तिनह उजाह सोक नहीं ब्यापै, कहै कबीर करता आपै॥ १८३॥

सब लोग विभिन्न मतवादों एवं पाखंडों में भ्रमित होकर उस तत्त्व को भूले हुए हैं। हे भगवान्, तेरा कोई विरला ही भक्त तेरा सच्चा स्मरण करता है। अगर व्यक्ति जड़ी-बूटी घिसकर प्रयोग में लाता है तो उसे अवश्य ही आरोग्य की प्राप्ति होती है। पर लोग बिना गुरु के इधर-उधर बाह्याचरणों एवं पाखण्डों में भ्रमित होते रहते हैं। वे ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति की असली जड़ीबूटी का सेवन करते हैं जिससे उन्हें भवरोग से मुक्ति मिल सके। भगवान् सर्वव्यापी है, वह सब जगह हाजिर है, पर अज्ञानी व्यक्ति को उस पर विश्वास ही नहीं जमता है। ऐसी परिस्थिति में उसमें भगवान् का प्रताप एवं ऐश्वर्य कैसे जाग सकता है? सुख और दुःख में समान रूप से अपने मन को दृढ़ रखते हुए व्यक्ति को अपनी दसों इन्द्रियों एवं मन-सहित ग्यारहों को उस भगवान् में एकतान होकर लगा देना चाहिए अथवा अद्वैत में एक रस होकर लग जाना चाहिए। पर वह तो अपने द्वादस अंगों की पुष्टि में लगा रहता है अथवा द्वैत में फँसा रहता है। ऐसा जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ जन्म-मरण के चक्कर में फिरता रहता है। जो 'मैं' और 'तू' को तथा अन्य सब बन्धन के मार्गों को छोड़ देता है एवं जो चार वर्णों के भेद से ऊपर उठ जाता है; वह इस भव-सागर में डूबता नहीं है। वह इसे उलांघ कर उस पार चला जाता है। अर्थात् संसार की माया-मोह एवं विषय-वासनाओं से असम्पृक्त रहता हुआ वह जीव मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। वह निर्गुण एवं गुणातीत अथवा निर्गुण और सगुण के साथ एक हो जाता है। वह भगवान् में तन्मय होकर उसी रंग में रँग जाता है; उसी में पूर्णतया अनुरक्त हो जाता है। ऐसा भक्त आवागमन से छूट जाता है। ऐसे व्यक्तियों को दुःख-सुख ग्रसित नहीं करते। उनमें उनका विवेक भ्रष्ट नहीं होता है। कबीर कहते हैं कि वे स्वयं ब्रह्म रूप हो जाते हैं।

टिप्पणी—उदाहरण और रूपक अलंकार का प्रयोग।

तेरा जन एक आध है कोई ।
काम क्रोध अरु लोभ बिर्बजित, हरिपद चीन्हैं सोई ।।टेक।।
राजस तांमस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया ।
चौथे पद कौं जे जन चीन्हैं, तिनहि परम पद पाया ।।
असतुति निंद्या आसा छांड़ै, तजै मांन अभिमानां ।
लोहा कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवानां ।।
च्यंतै तो माधौ च्यंतामणि, हरिपद रमैं उदासा ।
त्रिस्ना अरु अभिमान रहित है, कहै कबीर सो दासा ।।१८४।।

हे भगवन् कोई एक-आध ही तेरा वास्तविक भक्त है। जो काम-क्रोध से मुक्त है, वही वास्तव में भगवान् के स्वरूप को पहचानता है, उसी को भगवान् से सच्ची प्रीति जागती है। रजोगुण, तमोगुण एवं सतोगुण—ये तीनों तेरी ही माया हैं। पर जो भक्त इन तीनों से ऊपर की तुरीय चतुर्थ अवस्था का साक्षात्कार करता है, उसी को परम-पद की प्राप्ति होती है। जो निन्दा-स्तुति एवं आशा-तृष्णा को छोड़ देता है, जिसे मानापमान का अभिमान नहीं रह जाता है, जिसकी लोहे और सोने के प्रति समान दृष्टि जाग जाती है, वह ईश्वर रूप हो जाता है। उसका व्यक्तित्व भगवान् में समा जाता है। अगर व्यक्ति को किसी का चिन्तन करना है तो वह केवल चिन्तामणि (जो चिन्तन करते ही सब कुछ देने वाले हैं) भगवान् का ही चिन्तन करे। अन्य देवताओं अथवा शून्यादि के ध्यान और चिन्तन से व्यक्ति परमपद को नहीं प्राप्त हो सकता है। जो सांसारिक विषयों से उदास होकर भगवान् के चरणों में अनुरक्त रहते हैं तथा तृष्णा और अभिमान से रहित हैं, कबीर कहते हैं कि वे ही भगवान् के सच्चे भक्त हैं।

हरि नांमैं बिन जाइ रे जाकौ ।
सोई दिन लेखै लाई रांम ताकौ ।।टेक।।
हरि नांम मैं जन जागै, ताकै गोब्यंद साथी आगै ।।
दीपक एक अभंगा, तामैं सुर नर पड़ैं पतंगा ।।
ऊंच नींच सम सरिया, तातैं जन कबीर निसतरिया ।।१८५।।

व्यक्ति का जो दिन भगवान् के नाम-स्मरण में व्यतीत होता है, भगवान् उस दिन को ही सार्थक बीता हुआ समझते हैं। जो राम-नाम के प्रति सजग रहते हैं, निरंतर उसी में तल्लीन रहते हैं, उनके लिए भगवान् रक्षक एवं साथी के रूप में हमेशा ही प्रस्तुत हैं। भगवान् की ज्योति का एक अखण्ड एवं अपूर्व दीपक है, उसमें भक्त नर एवं देवता पड़कर अपने आपको उस ज्योति में मिला देते हैं। ऊंच-नीच की भावना को इस संसार-सरिता के प्रवाह से केवल भक्त ही बच पाते हैं।

जब थैं आतम तत बिचारा।
तब निरबैर भया सबहिन थैं, कांम क्रोध गहि डारा ॥टेक॥
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी।
रांणां राव कवन सूं कहियेे, कवन बैद को रोगी ॥
इनमैं आप-आप सबहिन मैं, आप आपसूं खेलै।
नांनां भांति घड़ै सब भांड़े, रूप धरे धरि मेलै ॥
सोच विचारि सबै जग देख्या, निरगुण कोई न बतावै ॥
कहै कबीर गुणीं अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै ॥१८६॥

कबीर कहते हैं कि जब से मैंने आत्मतत्त्व का चिन्तन प्रारम्भ किया है और उसे समझा है, तभी से मैं सभी के प्रति निर्वैर हो गया हूँ। मेरी किसी से शत्रुता नहीं रही है। मैंने काम-क्रोध को एकत्र करके छोड़ दिया है। मुझे यह ज्ञान हो गया है कि व्यापक ब्रह्म-तत्त्व सर्वत्र एवं सब में एक ही है। वहाँ कौन पंडित है और कौन योगी है? इनका कोई अन्तर नहीं है। किसे राणा कहें और किसे राव? कौन वैद्य है और कौन रोगी? ये सब अन्तर मिथ्या हैं। इन सब में वही ब्रह्मतत्त्व विद्यमान है। उसी ने अनेक स्वरूप धारण किए हैं। यह जगत् उसी की लीला है। वह परमतत्त्व अपने आप से ही खेल रहा है। ईश्वर ने अनेक प्रकार के भाण्डे बनाकर रखे हैं; उन्हें पृथक्-पृथक् आकार देकर रख दिये हैं। पर इन सबमें एक ही तत्त्व है; केवल आकार मात्र का भेद है। मैंने सोच-विचार कर सम्पूर्ण जगत् ढूँढ़ लिया है। अनेक से उस परम-तत्त्व के बारे में पूछा है; पर उस निर्गुण तत्त्व का प्रतिपादन कोई नहीं कर पाया; क्योंकि वह शब्दातीत है। कबीर कहते हैं कि पंडित और ज्ञानी सब मिलकर उस परमशक्ति के यश और लीला का ही गुणगान करते हैं।

टिप्पणी—जगत् के प्रतीयमान भेद मिथ्या हैं। 'रोगी', 'वैद्य' आदि के भेद तो व्यवहार जगत् में रहते हैं, पर उनसे उत्पन्न ऊँच-नीच के भेदों का अहंकार अकाम्य है। यही अभेद-दर्शन है।

तूं माया रघुनाथ की, खेलण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर चिकारे (छिकारे) चुणि-चुणि मारे, कोई न छोड्या नेड़ै ॥टेक॥
मुनियर पीर डिगंबर मारे, जतन करता जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे, तूं र फिरै बलवंती ॥
बेद पढ़ंतां ब्रांह्मण मर्‍या, सेवा करता 'स्वामी'।
अरथ करतां मिसर पछाड्या, तूं र फिरै मैंमंती ॥
साषित कै तूं हरता करता, हरि भगतन कै चेरी।
दास कबीर रांम कै सरनै, ज्यूं लागी त्यूं तोरी ॥१८७॥

कबीर माया को सम्बोधित करके कह रहे हैं "रे माया, तुम भगवान् की माया हो और इस संसार में सबका शिकार करने में उद्यत हो। तुमने चुन-चुन कर चतुर एवं श्रेष्ठ व्यक्तियों को मारा है। तुमने अपने आस-पास किसी को नहीं रहने दिया। स्थायित्व का अहंकार रखने वाले सबको तुमने मार दिया है। तुमने मुनिश्रेष्ठ पीर, दिगम्बर योगी—सभी को मार दिया है। माया, तुम ही बलवती होकर इधर-उधर घूम रही हो। तुमने जंगल के जीवों को मार दिया है। तुमने वेद पढ़ते ब्राह्मण एवं सेवा करते हुए स्वामी अर्थात् साधु भी नहीं छोड़े हैं। पुराणों के गम्भीर अर्थ करते हुए मिश्र को भी तुमने पराजित कर दिया है। माया, तुम अत्यन्त उन्मत हो। शाक्त या हरि विमुख के यहाँ तो तुम कर्त्ता-धर्त्ता सब कुछ हो। पर भक्तों की तुम दासी हो। कबीर कहते हैं कि भक्त तो भगवान् की शरण में चला जाता है। इससे माया जैसी उसके लगीं थी जैसे उसने भक्त को बन्धन में डाला था, वैसी ही को भक्त ने तोड़कर अपने से हटा दिया है। अर्थात् भक्त माया से प्रभावित हुए बिना ही उससे मुक्त हो गया है।

टिप्पणी—माया का मानवीकरण। सांगरूपक अलंकार। शाक्त को सिद्धियों में विश्वास है। उसकी साधना का लक्ष्य भी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त करना ही है। सिद्धियाँ सब माया के कार्य हैं। पर भक्त भगवान् से पूर्ण तन्मय होना चाहता है और हो जाता है। वह मायातीत अवस्था है। अतः जैसे माया भगवान् के अधीन है, वैसे ही वह भक्त के अधीन है। भक्त अपने जीवन-व्यापार को चलाने भर के लिए अनासक्त भाव से माया का उपभोग करता है। शाक्त और सिद्धों के बाद एवं उनकी प्रतिक्रिया में जिस भक्ति-दर्शन की नींव सुदृढ़ हुई उसका आधार-तत्त्व उपर्युक्त ही है। यही कबीर का दर्शन है। इसी में कबीर का नयी चेतना देने वाला क्रान्तिकारी रूप अन्तर्हित है।

जग सूं प्रीति न कीजिये, संमझि मन मेरा।
स्वाद हेत लपटाइए, को निकसै सूरा ।।टेक।।
एक कनक अरु कामिनीं, जग में दोइ फंदा।
इनपैं जौ न बंधावई, ताका मैं बंदा ।।
देह धरें इन मांहि बास, कहु कैसें छूटै।
सीव भये ते ऊबरे, जीवन (जीव) ते लूटै ।।
एक-एक सूं मिलि रह्या, तिनहीं सचु पाया।
प्रेम-मगन लैलीन मन, सो बहुरि न आया ।।
कहै कबीर निहचल भया, निरभै पद पाया।
संसा ता दिन का मया, सतगुर समझाया ।।१८८।।

रे मन, तुम समझो। इस संसार में आसक्त मत होओ। सांसारिक विषयों के स्वाद में अनुरक्त होने पर ऐसा कौन शूरवीर है जो इस माया से छूट सकता है।

स्वर्ण और कामिनी—संसार में बन्धन के ये दो ही फंदे हैं। जो इन फंदों में नहीं बंधता है, उसका मैं दास हूँ। जितने भी देहधारी हैं, उसका मन इनमें फँसा रहता है। वे इनसे कैसे छूट सकते हैं ? केवल वे ही माया के बन्धन से बचते हैं जो शुद्ध-चैतन्य में प्रतिष्ठित होकर शिव-रूप हो जाते हैं। वे ही वास्तव में जीवन का रस भी लूट पाते हैं। जो उस एक परमतत्त्व में तन्मय हो जाता है; उसे ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है। जो भगवान् के प्रेम में लवलीन हो गए, उनका संसार में पुनरागमन नहीं होता। कबीर कहते हैं कि उनका मन निश्चल हो गया है और उन्होंने अभय पद की प्राप्ति कर ली है। जिस दिन उन्हें गुरु से प्रबोध मिल गया था; उसी दिन उनके सम्पूर्ण संशय निवृत्त हो गए थे।

रांम मोहि सतगुरु मिलै अनेक कलानिधि, परम तत सुखदाई।
कांम अगनि तन जरत रही है, हरि रसि छिरकि बुझाई ॥टेक॥
दरस परस तैं दुरमति नासी, दीन रटनि ल्यौ आई।
पाषंड भरंम कपाट खोलि कै, अनभै कथा सुनांई॥
यहु संसार गंभीर अधिक जल, को गहि लावै तीरा।
नाव जिहाज खेवइया साधू, उतरे दास कबीरा ॥१८६॥

हे भगवान् आपकी कृपा से मुझे अनेक कलाओं एवं ज्ञान के निधान परम तत्त्व का साक्षात्कार कराने एवं परम आनन्द देने वाले सद्गुरु की प्राप्ति हो गई है। मेरा शरीर काम की अग्नि में जल रहा था, उन्होंने भक्ति-रस छिड़क कर उसकी तपन बुझा दी। उसके दर्शन एवं चरण-स्पर्श से मेरी दुर्बुद्धि का नाश हो गया है। भगवान् के निरंतर नाम-स्मरण से मेरी लौ लग गई है। सद्गुरु ने मेरे हृदय के भ्रम एवं पाखण्ड के किवाड़ खोल दिए हैं तथा अभय अथवा अनुभूति प्रदान करने के लिए उन्होंने मुझे भागवत कथा का श्रवण कराया है। इस संसार में विषय-वासनाओं का गम्भीर जल भरा हुआ है; उस जल में डूबने से बचाकर मुझे तीर पर लाने वाला सदगुरु के अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? राम-नाम रूपी जहाज एवं साधु-संगत के खेवट के सहारे से ही यह भक्त कबीर भवसागर से पार उतरता है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

दिन दहुं चहुं के कारणैं, जैसैं सैंबल फूले।
झूठी सूं प्रीति लगाइ करि, साचे कूं भूले ॥टेक॥
सो रस गा सो परहर्‍या, बिड़राता प्यारे।
आसति कहूं न देखिहूं, बिन नांउ तुम्हारे॥
सांची सगाई रांम की, सुनि आतम मेरे।
नरक पड़े नर बापुड़े, गाहक जम तेरे॥

हंस उड़्या चित चालिया, सगपन कछू नांहि।
माटीं सूं माटी मेलि करि, पीछैं अनखांहीं॥
कहै कबीर जग अंधला, कोई जन सारा।
जिनि हरि मरम न जांणिया, तिनि किया पसारा॥ १९०॥

यह संसार सेमल के फूल की तरह केवल दस-पांच दिन के लिए फूला हुआ दिखाई देता है। ऐसे मिथ्या संसार से प्रेम करके विषयी-जन सत्य-रूप भगवान् को भूल जाते हैं। भगवान् रूपी प्रियजन की उपेक्षा करके व्यक्ति जो वास्तव में रसमय है, उसी को छोड़ता है। हे भगवान् तुम्हारे नाम के अतिरिक्त कहीं पर आसक्ति या प्रेम के उपयुक्त स्थान नहीं है। मेरे मन, तुम इस बात को ध्यानपूर्वक सुनो कि केवल राम का सम्बन्ध ही सच्चा सम्बन्ध है। बेचारे शेष व्यक्ति तो केवल यम के ग्राह्य हैं। वे उसी को प्राप्त होते हैं और नरक में पड़ते हैं। जब व्यक्ति के हंस-रूपी प्राण उसके शरीर को छोड़कर उड़ जाते हैं तो सगे सम्बन्धियों का सम्बन्ध कुछ भी नहीं रह जाता है। ये सम्बन्ध तो केवल जीवन-काल मात्र में रहने वाले एवं क्षणिक हैं। ये तथाकथित सगे-सम्बन्धी मरे हुए शरीर को मिट्टी में रहने वाले एवं क्षणिक हैं। ये मृत शरीर के लिए व्यथा का अनुभव करते हैं। यह व्यथा केवल परम्परा का निर्वाह मात्र है, सच्ची नहीं है। इन सम्बन्धों में सारा जगत् अन्धा हो रहा है। कोई-कोई व्यक्ति ही इन सम्बन्धों के मिथ्यात्त्व को समझता है; वास्तव में वही श्रेष्ठ व्यक्ति है। जो व्यक्ति भगवान् को वस्तुत: नहीं जानते हैं, उन्होंने ही जगत के सम्बन्धों का यह पसारा बना रखा है। अद्वैत-तत्त्व भगवान् के साक्षात्कार के बाद तो यह जगत् का प्रसार ही नहीं रहता है; फिर सम्बन्धों का प्रसार कैसे रह सकता है?

माधौ मैं ऐसा अपराधी।
तेरी भगति होत नहीं साधी॥टेक॥
कारनि कवनि आइ जग जनम्यां, जनमि कवन सचुपाया।
भौजल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया॥
पर-निंद्या परधन पर-दारा, पर-अपवादै सूरा।
ताथैं आवागमन होइ फुनि-फुनि, ता पर-संग त चूरा।
कांम-क्रोध-माया-मद-मंछर, ए संतति हंम मांहीं।
दया-धरम-ग्यांन-गुर-सेवा ए प्रभु सूपिनें नांहीं॥
तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत बछल भौ-हारी।
कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति हरौ हंमारी॥ १९१॥

हे भगवान् मैं ऐसा अपराधी हूँ कि मुझसे तुम्हारी भक्ति नहीं होती है। मैं भक्ति में अपना स्नेह और निष्ठा नहीं जमा पाया। पता नहीं मेरा जन्म इस संसार

में किस कर्म के परिणामस्वरूप हुआ है। मैंने जन्म प्राप्त करके भी किस सुख का अनुभव किया है? इस जन्म में भवसागर से पार उतरने वाले अथवा चरण चिन्तामणि भगवान् के चरणों का मैंने एक घड़ी भर भी ध्यान नहीं किया। दूसरों की निन्दा, दूसरे के धन एवं स्त्रियों के अपहरण तथा दूसरों को लाञ्छन लगाने में ही मैं अपनी शूरवीरता समझता रहा हूँ जिन विषयों की आसक्ति से मेरा बार-बार आवागमन होता है, उनका साथ अथवा वह प्रसंग मुझसे अब भी छूट नहीं पाया; उनमें चूर रहा। काम, क्रोध, माया, मोह, मद एवं मत्सर—इनकी हममें निरन्तर स्थिति रहती है। हे प्रभु! दया, धर्म, भावना, ज्ञान, गुरु की सेवा—ये सब तो मेरे पास स्वप्न में ही नहीं आते हैं। हे प्रभु! आप दयालु, कृपालु, दामोदर, भक्तों के प्रिय एवं सांसारिक विषयों के विष-रूपी जल को नष्ट करने वाले हैं। कबीर कहते हैं कि मेरी बुद्धि को आपकी भक्ति और ज्ञान में स्थिर करो तथा मेरे कष्टों को हरो।

टिप्पणी—यहाँ पर कबीर जीव-मात्र का प्रतिनिधित्व करते हुए, उसके पाप कर्म एवं पश्चात्ताप का वर्णन करते हैं। वे उसी की ओर से दया के प्रार्थी भी हैं। ऐसे पदों में कवि ने अपने जीवन की सच्ची घटनाओं का दर्शन कर लेना भ्रम ही है। 'दामोदर' जैसे सगुण सम्बोधन का प्रयोग सगुण-निगुण के मूलत अभेद की ओर भी संकेत है।

रांम राइ कासनि करौ पुकारा।
ऐसे तुम्ह साहिब जाननिहारा ॥टेक॥
इंद्री संबल निबल मैं माधौ, बहुत करैं बरियाई।
लैं धरि जांहि तहाँ दुख पइये, बुधि बल कछु न बसाई॥
मैं बपरौ का अलप मूंढ़ मति, कहा भयो जे लूटै।
मुनि-जन सती (जती) सिध अरु साधिक, तेऊ न आथैं (यापै) छूटैं॥
जोगी-जती-तपी-संन्यासी, अह निसि खोजैं काया।
मैं-मेरी करि बहुत बिगूते, बिषै-बाघ जग खाया॥
ऐक त छांड़ि जांहि घर घरनीं, तिन भी बहुत उपाया।
कहै कबीर कछु समझि न परई, विषम तुम्हारी माया॥ १९२॥

हे राजाराम, आप सर्वज्ञ हैं। सब की व्यथाओं को समझते हैं। अब मैं किसे अपनी व्यथा सुनाऊँ? हे माधव, इन्द्रियाँ अत्यन्त शक्तिशाली हैं और मैं दुर्बल हूँ। ये इन्द्रियाँ मुझे जबरन खींच कर ले जाती हैं और वहाँ पहुँचा देती हैं, जहाँ मुझे कष्ट का सामना करना पड़ता है। उनसे छूटने में मेरी बुद्धि और शारीरिक शक्ति असहाय हो जाती है। मैं बेचारा तो अल्पबुद्धि वाला एवं मूढ़मति हूँ। इन इन्द्रियों ने मुझे लूट लिया है तो क्या आश्चर्य है? मुनि, यती, सिद्ध और साधक—इन इन्द्रियों

के आकर्षण से कोई भी नहीं छूट पाया है। योगी, यती, तपस्वी, संन्यासी सभी रात-दिन अपने शारीरिक सुखों की खोज में हैं। 'अहं' और 'मम' के फंदों में पड़कर सभी नष्ट हो रहे हैं। इस जगत् को विषय-रूपी बाघ खा रहा है। एक वे हैं जिन्होंने अपने घर और गृहिणी को छोड़कर एकान्त वास कर लिया है, उन्होंने भी बहुत माया ही एकत्र की है। कबीर कहते हैं, "हे राम, कुछ भी समझ में नहीं आता है। यह तुम्हारी माया अत्यन्त विषम है।"

टिप्पणी—माया से मुक्ति भगवान का अनुग्रह एवं भक्ति ही दे पाते हैं। ये संन्यासादि की साधनायें तो इस दृष्टि से व्यर्थ ही हैं। यही व्यंजना है। इससे कबीर का विशुद्ध भक्तरूप स्पष्ट है।

रूपक का प्रयोग भी है।

माधौ चले बुनांवन माहा।
जग जींतैं जाइ जुलाहा ।।टेक।।
नव गज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे गंड बहतरि, पाट लगी अधिकाई ।।
तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सेर अढ़ाई।
अढाई मैं जे पाव घटै तो, करकस करै बजहाई।।
दिन की बैठि कसम सूं कीजै, अरज लगीं तहां ही।
भागी पुरिया घर ही छाड़ी, चले जुलाह रिसाई ।।
छोछीं नलीं कांमि नहीं आवै, लपटि रही उरझाई।
छांड़ि पसारा रांम कहि बौरे, कहै कबीर समझाई ।।१९३।।

यह जीव माया के द्वारा समष्टि अथवा व्यष्टि शरीर-रूपी वस्त्र बुनवाने में अर्थात जगत की सृष्टि में तन्मय होकर अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूप को भूल गया है। इस अज्ञान से उत्पन्न मन-रूपी जुलाहे ने अपने मोह के वस्त्र से सम्पूर्ण जीवों को वश में कर लिया है। प्रारम्भ में इस माया ने समष्टि-चैतन्य से व्यष्टि-चैतन्य को पृथक करने वाले अहं-रूप गजभर की एक सूत की पुड़िया ली। आवरण-रूप अज्ञान का प्रथम विकार या विक्षेप अहंकार ही है। उसी से आगे विभिन्न शरीरादिक की सृष्टि होती है। उसी अहं से बाद में माया ने शरीर के नव-द्वार-रूपी नौ गज तथा दस इन्द्रियां-रूप दस गज अर्थात कुल उन्नीस गज सूत निकालकर इस शरीर की रचना की है। इस शरीर के निर्माण में सप्त-धातु-रूप तथा बहत्तर नाड़ी-रूप गांठों का उपयोग हुआ है। इस पर वासना को बाहरी चमक और उसके आकर्षण की गहरी पाण (कलफ) लगी है। यह जगत और यह शरीर चैतन्य पर ही अधिष्ठित है। उसका सत-रूप इनमें अनुवर्तमान है। न कोई तौलने वाला इसे तराजू लेकर तौल सका है और न नापने वाला गजी इसे गज से नाप सका है। अतः यह अमेय है। पर यह

पहजन मूलतः ढाई सेर है। अगर यह अविद्या और चैतन्य का सामान्य योग मात्र होता तो दो ही कहलाता। पर इसमें विक्षेप रूप कार्य की नवीन जागृति से इसे ढाई कहा गया है। सांसारिक विषयों के कारणभूत विक्षेप में जहाँ थोड़ी भी कमी होने लगती है तभी कर्कशा माया उन विषयों की आकांक्षा बनाये रखने के लिए संघर्ष करती है। जाग्रतावस्था में यह शरीर अपने स्वामी जीव के साथ बैठकी करता है और अपनी इच्छाओं की प्रार्थना उसे सुनाकर उन्हें पूर्ण करने के लिए बाध्य कर देता है। अथवा दिन की जीविका अपने पति के साथ की, पर वहाँ पर इस माया का उच्चाटन ही रहा। यही जीवन का क्रम है। जब यह शरीर-रूपी पुड़िया संसार-रूपी घर को छोड़कर चली जाती है तो यह जीव-रूप जुलाहा भी इस शरीर से रुष्ट हो जाता है और इसका पीछा करता है। मृत शरीर-रूप खाली सूत की पुड़िया उस जुलाहे के किस काम की ? निर्जीव पंच तत्त्वों के विषय-भोग के लिए अनुपयोगी शरीर उलझे हुए सूत की तरह पड़ा रहता है। अतः कबीर जीव को समझाकर कहते कि इस संसार के पसारे से अनासक्त होकर भगवान् का स्मरण करो।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

विचारदास ने इन प्रतीकों के कुछ अन्य अर्थों का संकेत किया है। उनके पद का पाठ भी इससे कुछ भिन्न है। अतः वहाँ पर ये प्रतीकार्थ उपयुक्त ही हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

गज—वाणी; नो गज व्याकरण

दस गज—चार वेद तथा छः शास्त्र

उन्नीस गज—अट्ठारह पुराण तथा महाभारत

सात—जाग्रत, महाजाग्रत, बीज जाग्रत, स्वप्न जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अथवा पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, अहंकार तथा महत्तत्त्व।

गंड—पाँच-पाँच की संख्या इस प्रकार ७२ × ५ = ३६० नगरियाँ भी हैं।

बाजै जंत्र बजावै गुंनीं।

राम ठांम बिन भूली दुनी ॥टेक॥

रजगुन सतगुन तमगुन तीन, पंच तत लै साज्या बींन ॥

तीनि लोक पूरा पेखनां, नांच नचावै एकै जनां।

कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभुवननाथ रह्या भरपूरि ॥१६४॥

यह शरीर-रूपी यंत्र बज रहा है और गुणी अर्थात् जीव इसे बजा रहा है। पर राम-नाम में स्थिति न रहने के कारण सारा संसार अविद्या में ही भूला हुआ है। यह शरीर-रूपी वीणा रजोगुण, सतोगुण, तमोगुण इन तीन गुणों तथा पंच तत्त्वों से निर्मित है। इन तीनों लोकों एवं पूरे दृश्य-जगत् में वही एक चैतन्य तत्त्व सम्पूर्ण नाच नचा रहा है। कबीर कहते हैं कि इस अविद्या को दूर करो, ताकि शरीर-तन्त्री रे

स्वरों में मोहित न होकर अर्थात् विषय-वासनाओं में न फँसकर उस सर्वव्यापी तत्त्व त्रिभुवननाथ के दर्शन कर सके ।

जंत्री जंत्र अनूपम बाजैं ।
ताका सबद गगन मैं गाजै ।।टेक।।
सुर की नालि सुरति का तूंबा, सतगुर साज बनाया ।
सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मादिक, गुर बिन तिनहूँ न पाया ।।
जिभ्या तांति नासिका करहीं, माया का मैंण लगाया ।
गमां बतीस मोरणां पांचौ, नीका साज बनाया ।।
जंत्री जंत्र तजै नहीं बाजै, तब बाजै जब बावै ।
तहै कबीर होई जन साचा, जंत्री सूं प्रीति लगावै ।। १६५ ।।

साधक जीव इस शरीर-रूपी यंत्र को अनुपम ढंग से बजाकर अनहद नाद निकलता है । यह ध्वनि सहस्रार कमल के स्थान आकाश में गूँजती है । इस वीणा में सप्त स्वरों की नली तथा सुरति की तुम्बिका है । इसका निर्माण सद्गुरु ने किया है। सभी शरीरों की तंत्री से स्वर निकलते हैं; पर इन स्वरों को विश्व-संगीत से मिलाकर अनहद नाद के रूप में साधक ही परिणत कर पाता है और शरीर को अनहद नाद पैदा करने वाला तंत्र का रूप देने की क्षमता भी सद्गुरु में ही है । देव, नर, गन्धर्व, ब्राह्मादिक किसी को भी यह तंत्री बिना गुरु के प्राप्त नहीं हुई है । जीभ ही इनके तार हैं तथा नासिका ही खूँटी है । इनके तारों पर माया का मोम लगा हुआ है । बत्तीस दाँत ही इस वीणा के बत्तीस गामा है जो गमक पैदा करने के कारण हैं। पाँचों इन्द्रियाँ ही इन तारों को कसने वाली खूटियाँ हैं । इस प्रकार यह शरीर-रूपी बाजा बहुत ही सुन्दर बाना हुआ है । यह शरीर की तन्त्री उस समय नहीं बजती है जब जीव इसे छोड़ देता है । जब तक प्राण इसे ग्रहण किए रहता हैं, तभी तक यह शरीर रूप यंत्र बजता रहता है । कबीर कहते हैं कि वही व्यक्ति सच्चा है जो इस भक्ति और अनहद नाद के स्वरों को निकालने वाली तन्त्री से प्रेम करता है अर्थात् वही सच्चा साधक है जो इस शरीर की क्रियाओं को ही भक्तिमय तथा अनहद-नाद मय बना देता है ।

टिप्पणी—शरीर तथा तन्त्री का सांग-रूपक है । अनहद नाद का श्रवण भी तभी सार्थक है, जब उसमें विश्व-व्यापी चैतन्य के साथ रागात्मक सम्बन्ध की अनुभूति भी अन्तर्हित हो । इसमें कबीर भक्ति और अनहद नाद में समन्वय देखते हैं ।

अवधू नादैं ब्यंद गगन गाजैं, सबद अनाहद बोलै ।
अंतरि गति नहीं देखै नेड़ा, ढूंढ़त बन-बन डोलै ।।टेक।।

सालिगरांम तजौं सिव पूजौं, सिर ब्रह्मा का काटौं।
सायर फोडि नीर मुकलांऊं, कुंवा सिला दे पाटौं॥
चंद सूर दोइ तूंबा करिहूँ, चित चेतनि की डांडी।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी॥
परम तत आधारी मेरे, सिव नगरी घर मेरा।
कालहि षंडूं मीच बिहंडूं, बहुरि न करिहूं फेरा॥
जपौ न जाप हतौं नहीं गूगल, पुस्तक लेइ न पढ़ांऊं।
कहै कबीर परंम पद पाया, नहीं आंऊं नहीं जाऊं॥१६६॥

कबीर कहते हैं, "रे अवधूत, उस समष्टि-नाद का व्यष्टि-रूप इस पिण्ड के गगन में गरज रहा है और इस प्रकार अनहद-नाद हो रहा है। प्रत्येक शरीर में यह नाद हैं, पर जिनकी अन्तर्गति नहीं है, वे इस निकट के अनहद-नाद को नहीं सुन पाते हैं। अथवा अन्तर्गति के इस अनहद-नाद को निकट नहीं देखे जाते है। परमतत्त्व का अपने में ही दर्शन न कर सकने वाले साधक उस तत्त्व को वन-वन में विभिन्न साधनाओं में ढूंढ़ते फिरते हैं। मैं तो शालग्राम की पूजा छोड़कर अर्थात् सीमित तत्त्व की औपचारिक उपासना का त्याग करके शिव-रूप परम-तत्त्व का ध्यान करता हूं। ब्रह्मादिक जो मायाजनित देव, उनका सिर काट दूंगा अर्थात् उनको पृथक् अस्तित्व या अहं की भावना नष्ट कर दूंगा। मूलाधार-चक्र के सीमित सागर की सीमाओं को तोड़कर उसके आनन्द-रूप जल को विषय-वासनाओं से मुक्त कर दूंगा। अर्थात् उसी में मुक्त रूप से सर्वत्र फैला दूंगा। या उस मूलाधार-चक्र के जल का शून्य-शिखर के सरोवर जल से सम्मिलन करूंगा। अर्थात् विषयानन्द को साधनाजन्य आनन्द एवं आध्यात्मिक आह्लाद में सामाहित कर दूंगा। गगन कूप को खेचरी मुद्रा की शिला से ढक कर उसके अमृत को व्यर्थ नहीं जाने दूंगा; उसकी बूंदों को टपक-टपक कर चण्डाग्नि में भस्म नहीं होने दूंगा। अर्थात् उसकी शक्ति को विषय-वासनाओं में नष्ट नहीं होने दूंगा। उससे आध्यात्मिक आनन्द ही नहीं प्राप्त करता रहूँगा, अपितु उसका शाश्वत रसास्वाद भी करता रहूँगा। अनहद-नाद सुनने के लिए इड़ा-पिंगला के दो तूम्बे तथा चित्त में प्रतिबिम्बित चेतन को उस वीणा की डंडी बनाऊँगा। इस प्रकार सुषुम्ना की वीणा बजने लगेगी। उससे मैं अनहदनाद प्रकट करके तृष्णाओं को नष्ट करूंगा। परम-तत्त्व ही मेरे आधार हैं; मैंने शिव की नगरी में अपना वास कर लिया है। इस प्रकार मैं काल को नष्ट और मृत्यु को पराजित करूंगा। अब मेरा फिर से जन्म नहीं होगा। मैं न जपादिक करूंगा और न गूगल जलाऊंगा। मैं ग्रन्थों की वासना भी नष्ट कर दूंगा। उन्हें भी नहीं पढ़ूंगा। कबीर कहते हैं कि मुझे परमपद प्राप्त हो गया है और मेरा अब आवागमन छूट गया है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार । कायायोग के साधनों से आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति अथवा उन प्रतीकों के माध्यम से आध्यात्मिक साधना का वर्णन है ।

बाबा पेड़ छाड़ि सब डार्लीं लागे, मूंढे जंत्र अभागे ।
सोइ सोइ सब रैंणि बिहांणी, भोर भयौ तब जागे ।।टेक।।
देवलि जांऊं तौ देवी देखौं, तीरथि जांऊं त पाणीं ।
ओछी बुद्धि अगोचर बांणी, नहीं परंम गति जांणी ।।
साध पुकारैं समझत नांहीं, आंन जन्म के सूते ।
बांधे ज्यूं अरहट की टीडरि, आवत जात बिगूते ।।
गुर बिन इहि जग कौंन भरौसा, काकै संगि ह्वै रहिये ।
गनिका कै घरि बेटा जाया, पिता नांउ किस कहिये ।।
कहै कबीर महु चित्र बिरोध्या, बूझी अंमृत बांणी ।
खोजत खोजत सतगुर पाया, रहि गई आवण जाणीं ।।१९७।।

रे बाबा, यह सम्पूर्ण जगत् मूलतः ईश्वर को छोड़कर बाहरी साधनाओं तथा विषय-वासना-रूप शाखाओं में उलझा हुआ है । अभागे लोग इस शरीर में ही मोहित हो गए हैं । सोये हुए अर्थात् विषयों में लवलीन रहते हुए उन्होंने अज्ञानमय सम्पूर्ण जीवन-रूपी रात्रि व्यर्थ खो दी है । अब अज्ञानमय जीवन के अन्तकाल में ज्ञान रूपी सुबह में जागे हैं । इस अल्प समय में क्या भजन हो सकता है ? यह जीव परम-तत्त्व की प्राप्ति के सच्चे उपायों की ओर नहीं बढ़ता है । मंदिर में जाता हूं तो देवमूर्ति मिलती है तथा तीर्थों में पानी । ये वास्तविक तत्त्व के आच्छादक हैं । व्यक्ति उपाधि को ही तत्त्व का असली रूप मान बैठता है । इससे उपाधि उपहित का आवरण बन जाती है । जीव अपनी छोटी एवं संकुचित बुद्धि तथा असमर्थ वाणी से उस परम-तत्त्व को न पहचान पाता है और न उसका वर्णन कर सकता है । साधु उस तत्त्व को पुकार-पुकार कर कहता है, पर इस मन्द-बुद्धि जीव को समझ में नहीं आता । ये कई जन्मों से अज्ञान में सो रहे हैं । ये जीव रहट के पात्रों की तरह अविद्या से बंधे हुए हैं और आवागमन के इस चक्र में अपने स्वरूप को नष्ट कर रहे हैं अर्थात् भुला रहे हैं । गुरु के बिना इस संसार में किसका विश्वास किया जाय ? किसके साथ रहा जाय ? अनेक मत-वादों में पड़े हुए व्यक्तियों में किसी भी तत्त्व के प्रति, किसी भी साधना के प्रति अनन्यता नहीं होती है । यह वैसे ही हैं जैसे वेश्या का पुत्र किसको अपना पिता माने ? कबीर कहते हैं कि मैंने इस संसार का विरोध किया, अर्थात् इसमें आसक्त नहीं हुआ, इससे मुझे सद्गुरु की अमृतमय वाणी का बोध प्राप्त हुआ । खोजते-खोजते अन्त में मैंने सद्गुरु को प्राप्त कर ही लिया है और मेरी आवागमन से मुक्ति हो गई है ।

टिप्पणी—'रूकातिशयोक्ति' एवं 'उदाहरण' अलंकार

भूली मालिनी ।

गोब्यंद जागतो जगदेव, तूं करे किसकी सेव ।।टेक।।
भूली मालिण पाती तोड़ै, पाती पाती जीव ।।
जो मूरति कौं पाती तोड़ै, सो मूरति नरजीव ।।
टांचणहारै टांचिया, दै छाती ऊपरि पाव ।
जे तूं मूरति सकड़ है, तो घड़णहारे कौं खाव ।।
लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार ।
पूजि पुजारा ले गया, दे मूरति कै मुहि छार ।।
पाती ब्रह्मा पुहपे बिष्णु, फूल फल महादेव,
तीनि देवौं एक मूरति, करै किसकी सेव ।।
एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा ।
एक न भूला दास कबीरा, जाकै रांम अधारा ।।१९८।।

रे मालिन, तुम भ्रम में पड़ी हुई हो । गोविन्द ही प्रत्यक्ष एवं चेतन देवता है। तुम इस जड़ मूर्ति में किसकी सेवा कर रही हो ? मालिन अज्ञान के वशीभूत होकर पाती तोड़ती है । उसे यह ज्ञान नहीं है कि प्रत्येक पत्ती में जीव है । उनका तोड़ना हिंसा है । जिस पत्थर की मूर्ति के लिए वह पत्तियाँ तोड़ रही है; वह तो निर्जीव है। कम से कम व्यावहारिक दृष्टि में तो निर्जीव ही है । जिस मूर्तिकार ने इस पत्थर को टाँकी से काट-काटकर मूर्ति के रूप में बनाया है; उसने इस कार्य-काल में इस मूर्ति की छाती पर पैर रख कर ही कार्य किया है । मूर्ति, अगर तुम सच्ची और शक्ति-सम्पन्न ही होतीं तो उस छाती पर पैर रखने वाले को ही खा जातीं । इस मूर्ति पर लड्डू, नमक, लपसी आदि अनेक एवं अपार मिष्टान्न चढ़ते हैं । पुजारी इस मूर्ति की पूजा करके उस चढ़ावे को इस मूर्ति की आँखों में धूल झोंककर अपने घर ले जाता है । पत्ती ब्रह्मा, पुष्प विष्णु तथा फल-फूल महादेव हैं । इन तीनों में एक ही देव विराजमान है । किसको किस देव पर चढ़ाकर पूजा की जाय ? सर्वत्र एक ही तत्त्व विराजमान है । अतः कौन आराध्य है और कौन आराधना की सामग्री ? यह उपकरणों की पूजा व्यर्थ है, अज्ञान जनित है । पर इस अज्ञान जनित पूजा में एक या दो ही नहीं भूले हुए हैं, अपितु सारा संसार ही भ्रमित है । केवल एक कबीर इस अज्ञान में नहीं भटका है, क्योंकि उसने उस परमतत्त्व राम का आश्रय लिया है।

टिप्पणी—इसमें मूर्ति पूजा का विरोध एवं सच्ची उपासना की स्थापना है। हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा अद्वैत-दर्शन से सामंजस्य रखती है । अतः कबीर का यह उपर्युक्त खण्डन मूर्ति-पूजा के आवरण में, केवल बुतपरस्ती का खण्डन है ।

सेइ मन समझि समर्थ सरणांगता, जाकी आदि अंति मधि कोइ न पावै।
कोटि कारिज सरैं देह गँण सब जरैं नैंक जो नांव पतिब्रत आवै ।।टेक।।

आकार की ओट आकार नहीं ऊबरै, सिब बिरंचि अरु विष्णु तांई।
जास का सेवक तास कौं पाइहै, इष्ट कौं छांडि आगे न जांहीं॥
गुंणमई मूरति सेइ सब भेष मिली, निरगुण निज रूप बिश्रांम नांहीं।
अनेक जुग बंदिगी बिबिध प्रकार की, अंति गुण का गुणहीं समाहीं॥
पांच तत तीनिगुण जुगतिकरि सांनियां, अष्ट बिन होत नहीं क्रम काया।
पाप-पुन बीज-अंकूर जांमैं मरै, उपजि बिनसै जेती सर्ब माया॥
क्रितम करता कहैं परम-पद क्यूं लहैं, भूलि भ्रम मैं पड़्या लोक सारा।
कहै कबीर रांम रमिता भजै, कोई एक जन गए उतरि पारा॥१६६॥

रे मन, समर्थ भगवान् की शरण में जाकर उसकी सेवा कर। इसका न आदि है न मध्य है और न अन्त है। पातिव्रत्य-धर्म के समान आनंद भाव से भजने पर तुम्हारे करोडों कार्य सफल होंगे और देह-सम्बन्धी सारे गुण, अर्थात् विषय-वासनायें नष्ट हो जायेंगी। साकार की सेवा करने से जीव उपाधियों से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है, चाहे वह शिव, ब्रह्मा या विष्णु तक की भी पूजा करता हो। जो भगवान् के जिस स्वरूप की पूजा करता है, वह उसी स्वरूप को प्राप्त होता है। उसको छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकता है। आदर्श ही गंतव्य स्थल है। भगवान् की गुणमयी मूर्ति की पूजा करने से भक्त को सब प्रकार के वेशों की प्राप्ति हो सकती है; पर निर्गुण में अपने स्वरूप में उसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। अनेक युगों तक इस सगुण की सेवा करने पर भी भक्त इस सगुण में ही समाहित होता है। देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को ही प्राप्त होते हैं। शरीर के निर्माण के लिए पाँचों तत्त्वों तथा तीनों गुणों को युक्तिपूर्वक मिलाया गया है। इन आठों के बिना शरीर की उत्पत्ति का क्रम ही नहीं बैठता है। यह शरीर पाप-पुण्य के बीजांकुरों से जन्म लेता है और मरता है। जो कुछ भी पैदा होता है और मरता है वह सब माया है। जब व्यक्ति कृत्रिम को अर्थात् माया द्वारा कल्पित सगुण को ही कर्ता ईश्वर एवं अन्तिम तत्त्व मानता है, तब उसे इनसे अतीत एवं इनके आधारभूत परम तत्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है? सारा संसार इस सोपाधिक को ही परम-तत्त्व मानने के भ्रम में भूला हुआ है। कबीर कहते हैं कि सबमें रमने वाले राम को जो भजते हैं, ऐसे अनेक व्यक्ति इस भवसागर से पार उतरे हैं।

टिप्पणी—सगुणोपासना एवं निर्गुणोपासना तथा सोपाधिक और निरुपाधिक तत्त्व का निरूपण है। 'भूतानि यांति भूतेज्या…' से तुलना द्रष्टव्य है।

रांम राइ तेरी गति जांणी न जाई।
जो जस करिहै सो तस परहै, राजा रांम नियाई॥टेक॥
जैसी कहै करै जो तैसी, तौ तिरत न लागै बारा।
कहता कहि गया सुणता सुंणि गया, करणीं कठिन अपारा॥

सुरही तिण चरि अंमृत सरवैं, लेर भवंगहि पाई।
अनेक जतन करि निग्रह कीजै, विषै बिकार न जाई।
संत करै असंत की संगति, तासूं कहा बसाई।
कहे कबीर ताके भ्रम छूटै, जे रहे रांम ल्यौ लाई ॥२००॥

हे भगवान् राम, तेरा, माया किसी के समझ में नहीं आती है। पर जो जैसा करता है, उसे उसका वैसा ही फल मिलता है। भगवान् पूर्ण न्याय करने वाले हैं। जो व्यक्ति जैसे कहता हैं वैसा ही करता है अर्थात् जिसकी कथनी और करनी में भेद नहीं है उनको इस भवसागर से पार उतरने में देर नहीं लगती। संसार में प्रायः ऐसा ही देखा जाता है कि उपदेश देने वाला उपदेश दे जाता है और सुनने वाला सुन लेता है। पर उपदेश के अनुसार कार्य करना उपदेशक और श्रोता—दोनों ही को कठिन प्रतीत होता है। गाय घास खाकर अमृत-रूप दूध देती है; पर इस दूध के पीछे भी सर्प हो जाते हैं। साधना से प्राप्त शक्ति भी वासना के सर्प से विषैली हो जाती है। अनेक प्रकार के यत्नों से इस विषय-विकार का दमन करो, तब भी यह विकार नष्ट नहीं होता है। जो साधु-वेष धारण करके भी असंत व्यक्तियों की संगति करते हैं, उनका कोई क्या करे ? कबीर कहते हैं कि जो भगवान् राम में लवलीन जाते हैं, उन्हीं का अज्ञान नष्ट होता है।

टिप्पणी—उदाहरण अलंकार।

कथणीं बदणीं सब जंजाल।
भाव प्रगति अरू रांम निराल ॥टेक॥
कथै वदै सुणै सब कोई, कथैं न होई कीयें होइ॥
कुड़ी करणी रांम न पावैं, साच टिकै निज रूप दिखावैं।
घट मैं अग्नि घर जल अवास, चेति बुझाइ कबीरादास ॥२०१॥

कहना-सुनना सब जंजाल है; माया है। भगवान् राम का स्वरूप एवं भक्ति भाव—ये दोनों ही निराली वस्तु हैं। ये शब्दातीत हैं। कहते-सुनते तो सभी रहते हैं, पर कहने से क्या होता है ? भगवान् की प्राप्ति तो करणी से होती है, कथनी से नहीं दुष्कर्मों से भगवान् नहीं मिलते हैं। सत्य ही स्थायी है। सत्य कर्म ही टिकता है। उसी से आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। इस जीव के अन्तःकरण में वासनाओं की अग्नि है; पर जीव का अपना स्वरूप मूलतः आनन्द, रूपी जल में प्रतिष्ठित है। कबीर कहते हैं कि 'रे जीव, अपने स्वरूप को जानकर इन वासनाओं की अग्नि को बुझाओ। यह अग्नि अपने स्वरूप के अज्ञान मात्र से प्रतीत होता है, अतः अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से समाप्त हो जायेगी।'

टिप्पणी— रूपकातिशयोक्ति अलंकार। उस अमृत के पान के लिए जीव को

कायायोग करना चाहिए। पर कबीर का कथन है कि मेरे विचार में कामायोग की साधना मात्र से काम नहीं चलता। उनमें ज्ञान योग और भक्ति योग का मिश्रण अपेक्षित है।

राग आसावरी

ऐसी रे अवधू की वांणी।
ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणी ॥टेक॥
जब लग गगन जोति नहीं पलटै, अविनासी सूंचित नहीं चिहुटै॥
जब लग भंवर गुफा नहीं जानैं, तौं मेरा मन कैसे मानैं॥
जब लग त्रिकुटी संधि न जानैं, ससिहर कै घरि सूर न आनैं।
जब लग नाभि कंवल नहीं सोधै, तौ हीरैं हीरा कैसें बेधैं॥
सोलह कक्षा संपूरण छाजा, अनहद कें घरि बाजें बाजा।
सुषमन कै घरि भया अनंदा, उलटि कंवल भेटे गोव्यंदा॥
मन पवन जब परचा भया, ज्यूं नाले रांषी रसमइया।
कहै कबीर घटि लेहु बिचारी, औघट घाट सींचि ले क्यारी ॥२०२॥

अवधूत का यह कहना है कि ऊपर गगन-मण्डल में अमृत का कूप है और नीचे कुण्डली अथवा खेचरी-मुद्रा-रूप पनिहारिन है। जब तक शून्य-मण्डल का प्रकाश उलटकर अनुग्रहपूर्वक साधक-जीव की ओर अभिमुख न हो जाय, अर्थात् जीव को उस परम-प्रकाश का साक्षात्कार न करा दे, जब तक साधक का चित्त भी अविनाशी भगवान् में चिपक न जाय; जब तक जीव को उस शून्य गुफा के वास्तविक स्वरूप का—उससे उपलक्षित तत्त्व का ज्ञान नहीं होता है; कबीर कहते हैं कि तब तक कायायोग मात्र से मेरा मन कैसे संतुष्ट हो। जब तक त्रिकूटि की संधि पर दीखने वाले प्रदेश के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न हो, चन्द्रमा के घर में सूर्य का आगमन न हो, अर्थात् इला और पिंगला एक स्थान में न आ जाय: जब तक साधक नाभि कमल में स्थित चैतन्य के प्रकाश अथवा रस का अनुसंधान नहीं कर ले, तब तक जीवात्मा-रूपी हीरा उस पर परमात्मा-रूपी हीरे को कैसे बेध सकता है, अर्थात् उसमें कैसे विलीन हो सकता है? इस ज्ञान और रस का साक्षात्कार कायायोग की सम्पूर्ण सिद्धियों का भी दाता है। उस समय चन्द्रमा का प्रकाश अपनी सम्पूर्ण सोलह कलाओं के साथ व्याप्त हो जाता है और अनहद नाद बजने लगता है। उस समय सुषुम्ना में जाग्रत प्रकाश आनंद में परिणत हो जाता है। अधोमुख सहस्रार कमल उलटकर प्रकाशाभिमुख हो जाता है। यही उसका ज्योति-दर्शन है एवं यही ईश्वर का साक्षात्कार है। उस समय साधक को ध्यान-योग एवं प्राणयोग से प्राप्य अवस्थाओं से परिचय हो जाता है। उस समय ऐसी अनुभूति होती है जैसे शक्ति ने साधक को रस के

समीप ही ला दिया हो। कबीर कहते हैं कि अन्तःकरण में इस ज्ञान पर मनन कर लो और इसी से तुम्हें गगन-प्रदेश के औघट स्थान पर आनंद-जल में अवगाहन करने तथा उस जल से अपनी वृत्तियों रूपी क्यारियों के अभिसिंचन का भी अवसर मिलेगा।

टिप्पणी—ज्ञान और भक्ति के मिश्रण-रूप महारस के भोग से सम्पूर्ण योगों के आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। कायायोग प्रतीकों द्वारा इसी का वर्णन है।

मन का भ्रम मन हीं थैं भागा।
सहज रूप हरि खेलण लागा ॥टेक॥
मैं तै तैं मैं ए द्वै नाहीं, आपै अकल-सकल घट मांही॥
जब थैं इनमन उनमन जांनां, तब रूप न रेष तहां ले बांनां॥
तन मन मन तन एक समनां, इन अनभै माहैं मन मांनां॥
आतमलीन अषंडित रांमां, कहै कबीर हरि मांही समांना ॥२०३॥

कबीर कहते हैं कि मन की साधना से ही मन का भ्रम समाप्त हो गया है तथा जीव भगवान् के सहज रूप में क्रीड़ा करने लगा है। 'मैं' अर्थात् जीव ही 'तू' अर्थात् ब्रह्म है 'तू' अर्थात् ब्रह्म ही जीव है। ये दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं। यह प्रतीति दृढ़ हो गई है। वह माया-रहित अखण्ड परम-तत्त्व ही सम्पूर्ण अन्तःकरणों में (सब खण्डों) में तथा सर्वत्र ही व्याप्त है। जब से इस व्यष्टि-जीव ने उस समष्टि-चैतन्य का साक्षात्कार किया है अथवा जीव का अन्तःकरण 'उन्मन' अवस्था को पहुँचा है तब से जीव जहाँ न रूप है और न रेखा, अर्थात् जो आकार की मर्यादाओं से ऊपर है, वहाँ उठ कर मायातीत अवस्था में तन्मय हो गया है। अब शरीर उस चेतन में समा गया है और चेतन का प्रकाश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गया है। शरीर की उपाधि चैतन्य में समा गई है। अथवा तन मन में और मन तन में एकाकार होकर एक तत्त्व में समाहित हो गये हैं। इस अनुभूति रूप परमतत्त्व के साक्षात्कार की अवस्था में व्यष्टि-चेतन उस परम-चेतन में समाहित हो गया है। यही पूर्ण आत्म-तोष की अवस्था है। कबीर कहते हैं कि आत्मलीन होकर जीव अखण्ड परमात्मा-रूप राम और हरि में तन्मय हो जाता है। यही मेरी अवस्था हो गई है।

टिप्पणी—मन, 'उन्मन' आदि संत-सम्प्रदाय की पारिभाषिक शब्दावली के माध्यम से परम तत्त्व की प्राप्ति का वर्णन है।

आत्मां अनंदी जोगी।
पीवै महारस अंमृत भोगी ॥टेक॥
ब्रह्म अगनि काया परजारी, अजपा जाप उनमनीं तारी॥
त्रिकुट कोट मैं आसण मांडै, सहज समाधि विषै सब छांडै॥
त्रिवेंणी बिभूति करै मन मंजन, कबीर प्रभू अलख निरंजन ॥२०४॥

योगी आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहकर आनन्द लेता है। वह ज्ञान और भक्ति के समन्वय से उत्पन्न महारस का पान करने वाला तथा कायायोग एवं ध्यान योग से मिलने वाले अमृत का भोक्ता है। उसने ज्ञानाग्नि में अपनी शारीरिक वासनाओं को भस्मीभूत कर लिया है। वह अजपा में लवलीन रहता है। उसने जगत् से विमुख होकर मन को उन्मनि ताली में बन्द कर लिया है और इस प्रकार वह समाधिस्थ हो गया है। वह त्रिकुटि के दुर्ग में अपना आसन जमाये हुए ध्यान में, अवस्थित है। सहज समाधि से उसने सम्पूर्ण विषयों को छोड़ दिया है। वह इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना के मिलन-बिन्दु रूप त्रिवेणी में विभूति करता है अथवा अवगाहन करता है तथा सिद्धि एवं आनन्द की विभूति को अपने अन्तःकरण में रमाकर मन को वासनाओं से शुद्ध करता रहता है। अथवा मन में (अर्थात् उन्मनि अवस्था में) मज्जन करके अपने आपको शुद्ध करता है। कबीर भक्त एवं दास है तथा अलक्ष मायारहित निरंजन भगवान् उसके स्वामी हैं।

या जोगिया की जुगति जु बूझै।
रांम रमैं ताकौं त्रिभुवन सूझै ॥टेक॥
प्रगट कंथा गुपत अधारी, तामैं मूरति जीवनि-प्यारी ॥
है प्रभू नेरै खोजैं दूरि, ग्यांन गुफा मैं सींगी पूरि ॥
अमर-बेलि जो छिन छिन पीवै, कहै कबीर सो जुगि-जुगि जीवै ॥२०५॥

इस कायायोग की साधना करने वाले योगी की साधना के रहस्य को जो समझता है, अर्थात् वह भक्ति और ज्ञान से हल्की साधना है, ऐसा समझता है, वही परम-तत्त्व में रमता है। उसी को तीनों लोकों में व्याप्त तत्त्व का साक्षात्कार होता है। यह ज्ञान योगी प्रकट रूप में कंथा अर्थात् शरीर रूप ही है। पर इसका आधार जिसमें अवस्थित होकर वह तत्त्व की साधना करता है, गुप्त एवं अन्तर्निहित है। उसी मूल-तत्त्व में उसकी प्राण प्यारी मूर्ति विराजमान है। वह उसे प्रिय है। भगवान् जीव का अपना स्वरूप ही है अतः अत्यन्त नजदीक है, पर कायायोगी उसको दूर अन्य साधनाओं से ढूँढ़ने की चेष्टा करता है। जो ज्ञान शब्दातीत तत्त्व है, उसी ज्ञान की गुफा को योगी शृंगीनाद से भर देता है अर्थात् उस ज्ञान को शब्द देना चाहता है अथवा वहाँ पर अनहद-नाद को सुनना चाहता है। अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की अपेक्षा इस शृंगीनाद अथवा अनहद-नाद का श्रवण बहिरंग है। इस प्रकार यह काया योगी बहिरंग में ही उलझा रहता है। पर वह ज्ञान और भक्ति के मार्ग का योगी उस महारस की अमर-बेल के रस को क्षण-क्षण पीता रहता है और इस प्रकार इस रसायन से वह युग युगान्तर तक जीवित रहता है, अर्थात अमरता को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी— कंथा, शृंगी, अधारी— ये योगियों की साधना एवं वेश के बाहरी उपकरण हैं।

सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा ।
राति दिवस न करई निद्रा ॥टेक॥
मन मैं आसण मन मैं रहणां, मन का जप तप मन सूं कहणां ॥
मन मैं खपरा मन मैं सींगीं, 'अनहद बेन बजावै रंगी ।
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसै लंका ॥२०६॥

कबीर कहते हैं कि वही सच्चा योगी है जिसने कुण्डल आदि बाहरी मुद्राओं को धारण करने की अपेक्षा अपने मन में ही मुद्रा धारण की है, अर्थात् जिसने परम-तत्त्व की प्राप्ति के अनुरूप मन की अवस्थिति बना ली है । ऐसा योगी रात और दिन में कभी भी नहीं सोता है, अर्थात् अज्ञान में नहीं फँसता है । यह मन में ही आसन जमाता है और उसी में अवस्थित रहता है । उस परम-तत्त्व की प्राप्ति के लिए मन से जप-तप करता है । उस जप का उच्चारण भी मन से ही करता है । उसके मन में ही खप्पर है और मन में ही शृंगी है । यह महारस का रंगी रसिक अनहद की वीणा अपने मन में ही बजाता रहता है । कबीर कहते हैं कि वही योगी काम-क्रोधादिक पाँचों को लाकर तथा अज्ञान को भस्म करके इस शरीर या भय-रूपी लंका पर विजय प्राप्त करता है । उसे ही आत्मा-रूपी सीता सुन्दरी प्राप्त होती है ।

टिप्पणी—बाहरी उपकरणों मुद्रा, शृंगी आदि की तत्त्व-प्राप्ति का मूलतः साधन मानने का खण्डन किया गया है । इनके मूल प्रतीकार्थों को ग्रहण करके इनको आभ्यन्तर साधनों के रूप में अपनाने का संदेश दिया गया है 'मुद्रा' निम्नलिखित तीनों अर्थों में गृहीत शब्द था : (i) भू-स्पर्श आदि अंग-स्थिति रूप मुद्रा, (ii) कुण्डल आदि शरीर धारण करने वाली वस्तुएँ, (iii) मैथुन तथा बिन्दु-रक्षा के तान्त्रिक अनुष्ठानों के लिए स्वीकृत सह-साधिका नारी । कबीर इन तीनों को तत्त्व प्राप्ति का साधन नहीं मानते । ऐसी शृंगी और खपरा के बाह्य रूप भी तत्त्व-प्राप्ति के साधन नहीं । अतः कबीर इनको आध्यात्मिक अर्थ दे रहे हैं ।

बाबा जोगी एक अकेला ।
जाकै तीर्थ ब्रत न मेला ॥टेक॥
झोली पत्र बिभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै ॥
मांगी न खाइ न भूखा सोवै घर अंगनां फिरि आवै ॥
पाँच जनां की जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला ॥
कहै कबीर उन देसि सिधाये, बहुरि न इहि जगि मेला ॥२०७॥

बाबा, योगी तो एकाकी ही रहता है । वह तो अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है । उसके लिए न कोई तीर्थ है और न मेला ही । उसे झोली, पत्र, बटुआ, विभूति आदि बहिरंग साधनों की आवश्यकता नहीं है । वह तो ऐसे ही अनहद नाद की वीणा बजाता रहता है । वह माँग कर नहीं खाता है; पर भूखा भी नहीं सोता

है। अर्थात् वह संचित कर्मों से उधार लेकर एवं नवीन क्रियमाण कर्मों में फँस कर नूतन प्रारब्ध कर्मों का निर्माण नहीं करता है। यही उसका न माँगना है। पर वह अपने प्रारब्ध कर्मों का भोग के द्वारा क्षय करता रहता है। वह अपनी इन्द्रियों का अनावश्यक दमन भी नहीं करता है। यह भूखे न सोना है। वह इधर-उधर के अन्य घरों में भीख माँगते भी नहीं फिरता है। अपने ही घर आँगन में फिर आता है। अर्थात् क्रियमाण कर्मों के ऋणानुबंध नहीं पैदा करता है, अपने प्रारब्ध कर्मों को ही ज्ञान एवं वैराग्यभाव से भोग लेता है। अथवा यह योगी अन्य साधनाओं में भटक कर परमुखापेक्षी नहीं बनता है, अपितु अपने ही स्वरूप में रमता रहता है। वह अपनी पाँचों इन्द्रियों की जमात (साधु समूह) का नियंत्रण करता है; उन्हें ज्ञान एवं वैराग्य-पूर्ण भोगों से तृप्त करता है। अर्थात् पाँचों विकारों की मण्डली को नियन्त्रित करता है या विचलित कर देता है। ऐसे गुरु का ही कबीर चेला है। जो योगी इस साधना से उस देश को चले जाते हैं अर्थात् परम-तत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं, वे पुनः इस संसार की वासनाओं से मेल-मिलाप नहीं करते हैं।

टिप्पणी — इसमें भी बाह्य-साधना के प्रतीकों की आभ्यन्तर-साधना-परक अर्थ दिये गये हैं।

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ।
ज्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ ॥टेक॥
तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ।
मन करि निहचल आसंण निहचल, रसनां रस उपजाइ ॥
चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमें भसमैं चढ़ाइ।
जति पाषंड पांच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ ॥
हिरदै सींगी ग्यांन गुंणि बांधै, खोजि निरंजन साचा।
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिनां प्यंड काचा ॥२०८॥

रे योगी, इस शरीर-रूपी वीणा को ऐसे बजाओ कि भक्ति और ज्ञान के अमर संगीत में तन्मय होने से तुम्हारा जन्म-मरण ही छूट जाय। तत्त्व का साक्षात्कार करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को तांत का रूप दो, धर्म-परायण वृत्ति को इसकी डंडी एवं सात्त्विक वृत्ति को खूँटी बना लो। मन को निश्चल करके तथा स्थिर आसन पर बैठ कर अपनी जीभ से भगवान् की भक्ति का रस उत्पन्न कर लो। योगी के सर्वाङ्गीण वेश को धारण करने के लिए चित्त को ही वह बटुआ बना लो जिसमें योग साधना के सम्पूर्ण उपकरण रहते हैं। अपनी त्वचा को ही मेखला का रूप दे दो। अपने भस्मीभूत काम-क्रोधादिक की भस्म अपने शरीर में रमा लो। सम्पूर्ण प्रकार के वाह्याडम्बर के पाखण्डों को छोड़कर तथा अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश में करके उस परम-तत्त्व का अनुसंधान करो। ईश्वर के अनुराग में गीत गाते हुए हृदय-रूपी

शृंगी को ज्ञान की रस्सी से बाँधकर लटकाये रखो। अर्थात् ज्ञान नियन्त्रित भक्ति के संगीत से उस सत्य-स्वरूप एवं माया-रहित निरंजन तत्त्व को खोजो। कबीर कहते हैं कि निरंजन की शरणागति तथा उसे प्राप्त करने की युक्ति के अभाव में यह पिण्ड (शरीर) कच्चे घड़े के समान है; चाहे उसे कायायोग की कितनी ही बहिरंग साधनाओं से कंचन बना डालने का श्रम कोई वहन करता रहे।

टिप्पणी—सांगरूपकों का प्रयोग।

अवधू ऐसा ज्ञान विचारी।
ज्यूं बहुरि न ह्वै संसारी ॥टेक॥
च्यंत न सो ज चित बिन चितवै, बिन मनसा मन होई।
अजपा जपत सुंनि अभि अंतरि, यहु तत जानैं सोई॥
कहै कबीर स्वाद जब पाया, बंक नालि रस खाया।
अंमृत झरै ब्रह्म परकासै, तब ही मिलै रांम राया ॥२०९॥

रे अवधूत, तुम इस ज्ञान को धारण करो जिससे तुम्हें इस संसार में पुनः न आना पड़े। उस परम-तत्त्व का चिन्तन करो जो बिना चित्त के ही सम्पूर्ण विश्व की चिंता करता है तथा जिसका मन तृष्णा आदि के विक्षेपों से रहित है। अथवा चिंतन वही है जो चित्त रहित होकर किया जाता है और मन वस्तुतः वही है जो संकल्प-विकल्प रहित है। जो योगी अपने आभ्यन्तर एवं शून्य-मण्डल में, अपने मायारहित आत्म-स्वरूप में अवस्थित रह कर अपना जाप करता है, वही परम-तत्त्व को जानता है। कबीर कहते हैं कि जब व्यक्ति इस तत्त्व के साक्षात्कार का स्वाद एक बार चख लेता है तो वह आध्यात्मिकता की ब्रह्मनाल का रस पीने के लिए निरन्तर आतुर रहता है और उसका स्वाद लेता रहता है। जब ज्ञान का यह अमृत निरन्तर झरता रहता है और ब्रह्म ज्योति का प्रकाश होता रहता है, तभी यह मानना चाहिए कि भगवान् राम मिल गए हैं। कायायोग का ब्रह्मनाल से प्राप्त रस तथा कमलों से प्राप्त ज्योति माया के विषय-जगत् की ही वस्तुएँ हैं।

टिप्पणी—विभावना अलङ्कार।

गोब्यंदे तुम्हारै बन कंदलि, मेरो मन अहेरा खेलै॥
बपु बाड़ी अनंगु मृग, रचि रचि सर मेलै ॥टेक॥
चित तरउंवा पवन खेदा, सहज मूल बांधा।
ध्यांन धनक जोग करम, ग्यांन बांन सांधा॥
षट चक्र कंवल बेधा, जारि उजारा कीन्हां।
कांम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हां॥
गगन मंडल रोकि बारा, तहां दिवस न राती।
कहैं कबीर छांड़ि चले, बिछुरे सब साथी ॥२१०॥

रे गोविन्द, तुम्हारे इस कदली-वन में अर्थात् जगत् मेरा साधक-मन शिकार खेल रहा है। इस शिकार में यह शरीर ही वाड़ी है और काम ही इसमें घूमने वाला मृग है। यह साधक-मन गहरी रुचि के साथ इस काम-रूपी मृग पर बाण चला रहा है। चित्त की उपाधि-सहित चेतना ही यह राजपूत या पदाति है, जो इस सम्पूर्ण वन को जानता है। प्राणायाम की पवन ने सारे विकार-रूपी जानवरों को खदेड़कर एवं एक स्थान पर एकत्र करके उन्हें सहज स्वरूप की जड़ से बाँध दिया है। विकार-शून्य सहज-अवस्था की प्राप्ति ही इसका लक्ष्य है। इस शिकार के लिए साधक के ध्यान-रूपी धनुष लेकर योग-रूपी कर्म से उसे साध लिया है। उसने ज्ञान-रूपी बाण से उस लक्ष्य की ओर निशाना लगाया है। इस साधक शिकारी ने कुण्डली जगाकर षटकमल-चक्रों का भेदन कर लिया है और ज्ञानाग्नि जलाकर प्रकाश कर दिया है। हाँक लगा कर काम, क्रोध, मोह तथा लोभ आदि शिकार के जन्तु बनाये गये हैं। शून्य-मण्डल को रोककर ही शिकार का यह बाड़ा बनाया गया है। वहाँ पर न दिन है न रात, अर्थात् इस शिकार में रात-दिन का ज्ञान नहीं रहता है। कबीर कहते हैं कि इस शिकार में अर्थात् उस-अवस्था की प्राप्ति में अन्य साधनाओं तथा कर्मों में रत अन्य साधक अथवा साधक की ही वृत्तियाँ रूप उसके सब साथी बिछुड़ गये हैं, अर्थात् उस अवस्था तक वे ही नहीं पहुँचते हैं। वहाँ केवल ज्ञानी साधक ही पहुँच पाता है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

पाठान्तर—'रचि ही रचि मैले' का अर्थ है—काम-रूपी मृग को वासनाओं के विभिन्न रंगों से रँग देते हो।

साधन कंचू हरि न उतारै।
अनभै ह्वै तौ अर्थ बिचारै ॥टेक॥
बांणी सु रंग सोधि करि आंणीं, आणी नौ रंग धागा।
चंद सूर एकतरि कीया, सीवत बहु दिन लागा॥
पंच पदार्थ छोड़ि (खोड़ि) समांनां, हीरै मोती जड़िया।
कोटि बरस जूं कंचूं सींयां, सुर नर धंधै पड़िया॥
निस बासुर जे सोवै नाहीं, ता नरि काल न खाई।
कहै कबीर गुर परसादैं, सहजैं रह्या समाई ॥२११॥

साधना में व्यस्त ईश्वर प्राप्ति के साधनभूत शरीर रूपी कंचुकी नहीं उतारी जाती है। भक्त और साधक इसे धारण ही किये रहते हैं। जो भयरहित हैं, अथवा जिन्हें अनुभूति है वे ही इस गम्भीर अर्थ पर विचार कर सकते हैं। इस वस्त्र को बनाने के लिए खोज कर बहुत सुन्दर करघा तथा नौ रंग के धागे लाये गये हैं। अर्थात् गुरु के उपदेश के शब्द-रूप धागे नवद्वारों में आपूरित कर दिये गये हैं। चन्द्र और सूर्य नाड़ियों को एक स्थान पर, सुषुम्ना पर, लाया गया है। इस साधना-रूपी वस्त्र को बनाने में बहुत दिन व्यतीत हो गए हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषयों को साधना

के रस में समाहित कर दिया गया है। फिर साधना-रूपी वस्त्र को ज्ञान और भक्ति के हीरे-मोतियों से जड़ा गया है। जिस समय देवता और मनुष्य सांसारिक धन्धों में फँसे रहे, उस समय करोड़ों वर्षों में साधक ने इस कंचुकी को तैयार किया है। जो इस साधना कंचुकी को तैयार करने में रात-दिन में कभी भी नहीं सोता है अर्थात् अज्ञान-जनित कार्यों में नहीं फँसता है, वही व्यक्ति काल से ग्रसित नहीं होता है। कबीर कहते हैं कि गुरु की कृपा से वही सहज-स्वरूप में समा जाता है।

टिप्पणी—सांगरूपक। अन्तःकरण को भक्ति-भावना और ईश्वर-प्रेम के उपयुक्त बना लेना ही कंचुकी तैयार करना है। कंचुकी से ईश्वर में पतिभाव की व्यंजना भी हो जाती है।

जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्यावै।
मास बिहूंणां घरि मति आवै हौ कंता ॥टेक॥
उर बिन षुर बिन चंच बिन, बपु बिहूंनां सोई॥
सो स्यावज जिनि मारै कंता, जाकै रगत मास न होई।
पैली पार के पारधी, ताकी धुनहीं पिनच नहीं रे॥
ता बेलि को ढूक्यौ मृगलौ, ता मृग कै सीस नहीं रे।
मार्‌या मृग जीवता राख्या, यहु गुर ग्यांन सही रे॥
कहै कबीर स्वांमी तुम्हरे मिलन कौं बेली है पर पात नहीं रे ॥२१२॥

जीवात्मा अपने ही साधक-रूप को पति मानकर कह रही है। हे पति, मन-रूपी मृग को जीवित रहते हुए मत मारो और उस मरे हुए को भी घर मत लाओ। अर्थात् विषय-वासनाओं में फँसे हुए मन-मृग को जबरदस्ती कुचलो मत। जो नितान्त निर्जीव हो गया है, उस मन का भी क्या उपयोग है? पर तुम मांस रहित भी घर मत लौटना। अर्थात् भक्ति और ज्ञान के महारस से आप्लावित गो-मांस (इन्द्रियों के रस) को लेकर ही घर आना। वैराग्य की कुछ साधनाओं से मन को कुचलकर विषयों से पूर्णतया असम्पृक्त करना भी ठीक नहीं। वैसे यह सम्भव भी नहीं है। अतः विषयों को भक्तिमय बना देना ही काम्य है। इस कृच्छ साधना से कुचले हुए मन-रूपी मृग के न हृदय है, न खुर है, न मुख है; और न शरीर ही। मन का हृदय तो उसकी सरसता ही है; शेष 'खुर आदि' से व्यंजित आकार भी संकल्प-विकल्प एवं वासना रूप ही है। वे सब इस कृच्छ्र साधना से छिप गये हैं। ऐसे पशु की शिकार ही क्या करनी। अर्थात् विषयों से जबरदस्ती वंचित की गई इन्द्रियाँ मुरझाई-सी प्रतीत होती हैं; भक्ति और ज्ञान से विजित नहीं कहलाती हैं। पति, उस जन्तु को शिकार मत बना जिसमें न रक्त है और न मांस ही। अर्थात् उस साधना में तल्लीन मत होओ जिसमें केवल शून्य की शुष्कता है तथा ज्ञान और भक्ति का रस नहीं है। तुम प्रथम श्रेणी के शिकारी हो; तुम्हारे धनुष की प्रत्यंचा भी नहीं है। अर्थात् तुम कृच्छ्र

साधनाओं के बिना ही इन मन-रूपी मृग को अपने वश में कर लेते हो। इस वशीभूत मन-रूपी मृग ने सांसारिक माया-रूपी बेल के वासना-रूप पत्तों को नष्ट कर दिया है। विक्षेप-रहित माया पर साधक-मन का अधिकार हो गया है, उसको वह देख भर रहा है। इस साधक-मन-रूपी मृग के अब सिर नहीं हैं अर्थात् अहंकार एवं विषयों के ग्रहण करने का मुख भी नहीं रह गया है। गुरु ज्ञान की यही महिमा है कि इस मन-रूपी मृग को साधक ने मार भी दिया है और जीवित भी रखा है अर्थात् इसकी विषय भोग की आकांक्षा एवं उनमें लिप्त होने की भावना नष्ट हो गई है पर यह भक्ति और ज्ञान के अनुरूप विषयों को ग्रहण भी करता है। कबीर कहते हैं, "हे भगवान् आप से मिलने के लिए मेरे पास अब बेल मात्र है, पर उसके पत्ते नहीं हैं अर्थात् अब मेरी विक्षेपरहित मनस्थिति है। पत्ते रहने पर बेल के वृक्ष को परिवेष्ठित करने में कुछ व्यवधान रहता है; पर पत्तों के अभाव में पूर्ण परिवेष्ठन हो जाता है। वैसे ही विक्षेपरहित मन अपनी पूर्ण सरसता के सहित अपने प्रियतम से पूर्णतया आवद्ध हो जाता है; उसमें तन्मय हो जाता है। अर्थात् माया रहित जीव अपने पति परमेश्वर में पूर्णतः तदाकार हो जाता है।

टिप्पणी—'उलटवांसी' की पद्धति से कृच्छ्र साधनाओं का खण्डन एवं ज्ञान तथा भक्ति से महारस प्राप्त करने की प्रेरणा है। सांगरूपकों का निर्वाह है।

विषयाविनिवर्तन्ते..........परं दृष्ट्वानिवर्तते से तुलना कीजिए।

धीरौ मेरे मनवां तोहि धरि टांगौ।
तैं तौ कियौ मेरे खसम सूं षांगौं ॥टेक॥
प्रेम की जेवरिया तेरे गलि बांधूं, तहां लै जांउं जहां मेरौ माधौं॥
काया नगरी पैसि किया मैं बासा, हरि रस छाड़ि विषै रसि माता॥
कहै कबीर तन मन का ओरा, भाव भगति हरि सूं गठजोरा॥२१३॥

रे विषयी मन, तुम जरा धैर्य धारण करो। अभी मैं तुम्हें उल्टा टांगता हूँ अर्थात् तुम्हें विषयाभिमुख न रहने देकर आत्माभिमुख करता हूँ। 'पराञ्चिखानि' से मन का स्वभाव ही विषयाभिमुख रहता है अतः आत्माभिमुख करना उलटा टांगना ही है। तुमने मेरे पति भगवान् से झगड़ा किया है। उनसे लड़ाई मोल ली है। मैं तुम्हारे गले में प्रेम की रस्सी डालूंगा। तुम्हें वहीं ले जाऊंगा जहाँ मेरे माधव रहते हैं अर्थात् तुम्हारी वृत्तियों को भक्तिमय बनाऊंगा। जीव कह रहा है कि मैंने इस काया-रूपी नगरी में प्रविष्ट होकर भक्ति-रस को छोड़ दिया था, मैं विषय-रस में लिप्त हो गया था। पर अब मैंने तन-मन भगवान् को समर्पित कर दिये हैं और मेरी भाव-भक्ति का भगवान् से गठबन्धन हो गया है।

टिप्पणी—दाम्पत्य-भाव के आवरण में भक्ति-भावना का चित्रण है। 'रूपक अलंकार' का प्रयोग।

पारब्रह्म देख्या हो तत बाड़ीं फूलौ, फल लागा बडहूली।
सदा सदाफल दाख बिजौरा कौतिकहारी भूली ।।टेक।।
द्वादस कूंवा एक वनमाली, उलटा नीर चलावै।
सहजि सुषमनां कूल भरावै, दह दिसि बाड़ी प्यावै।।
ल्यौ की लेज पवन का ढींकू, मन मटका जू बनाया।
सत की पाटि सुरति का चाढा, सहज नीर मुकलाया।।
त्रिकुटी चढ्यौ पावडौ (पावरौ) ढार, अरध उरध की क्यारी।
चंद सूर दोऊ पांणति करिहैं, गुर मुषि बीज बिचारी।।
भरी छाबड़ी मन बैकुण्ठा, सांई सूर हिया रंगा।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि हंम एकै संगा ।।२१४।।

परब्रह्म के दर्शन से अन्तःकरण की बाड़ी तत्त्व-दर्शन में आनन्द एवं अन्य सिद्धियों के फलों से परिपूर्ण हो गई हैं। उसमें मोक्ष-रूपी बड़हल का फल लग गया है। उसमें चारों पुरुषार्थ एवं सत्य-संकल्प आदि के प्रतीक सदाफल, दाख, बिजौर जैसे फल हमेशा के लिए फल गए हैं। यह जीवात्मा इन ऐश्वर्य आदि विभिन्न सिद्धियों के फलों को फूला हुआ देखकर आश्चर्यचकित रह गई है। ज्ञान और भक्ति से ही कायायोग से मिलने वाली सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो गई हैं। बारह पंखड़ी वाले कमल कूप से अमृत जल निकालने के लिए साधक का चित्त एक वनमाली है। यह साधक का चित्त इस कूप से उलटा जल बहा रहा है; अर्थात् इसमें ऊपर से जल खिंचता है, नीचे से नहीं। इस साधना से चेतना का प्रवाह आनन्द की खोज में बहिर्मुख नहीं रहता अपितु अन्तर्मुखी एवं आत्मामुखी हो जाता है। अथवा गगन के अमृत का पान कुण्डलिनी नीचे करती है या खेचरी मुद्रा में जिह्वा रसपान नीचे से ही करती है। यही उलटा नीर बहना है। इस अमृत जल से सुषुम्ना के सारे तट सहज ही में भर जाते हैं। शरीर की बाड़ी इस जल से दसों दिशाओं में सर्वत्र अभिषिक्त हो जाती है। सभी इन्द्रियाँ इस आनन्द-जल से आप्लावित हो जाती हैं। ध्यान की रस्सी, प्राणायाम की ढींकुली, मन का घड़ा, सतोगुण की पाटी तथा सुरति की चाठ (कूप का किनारा)—जल निकालने के इन साधनों से साधक-रूपी वनमाली ने सहज आनन्द का जल पुष्कल मात्रा में बहा दिया है। त्रिकुटि में अवस्थित यह साधक अपने पैर से पुर ढरकाकर नाड़ियों अथवा इन्द्रियों-रूप ऊँची और नीची सब क्यारियों को सींचता है अथवा इस अमृत-जल को आध्यात्मिक आह्लाद अनुभव करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति रूप अथवा सुषुम्ना के ऊपरी भाग में अवस्थित कुण्ड-पाँवडी में ढरका देता है, जहाँ से वह जल इन्द्रियाँ अथवा नाड़ियाँ रूप ऊँची-नीची क्यारियों में चला जाता है। इससे वे भी इस आनन्द से आप्लावित हो जाती हैं। चन्द्र और सूर्य नामक नाड़ियाँ इस पानी को विभिन्न नालियों में काटकर और बंद करके चारों ओर फैलायेंगी। इन मार्गों से यह आनन्द-रूप जल अन्तःकरण में सर्वत्र

व्याप्त हो जायेगा। इस कायायोग, मुमुक्षत्व एवं ईश्वर के प्रति जाग्रत अनुराग से जनित सरसता में गुरु के मुख से निकले हुए उपदेश ही बीजों के रूप में विकीर्ण होकर भक्ति एवं तत्त्व-ज्ञान के रूप में पल्लवित होंगे। मन की छावड़ी अब आत्म-बोध के भाव, भक्ति, सिद्धि आदि के फलों से भर गई है। हृदय आनन्द से भरकर उछालें ले रहा है मानो बैकुण्ठ पहुँच गया है, या अपने स्वामी के प्रेम में रँग गया है। कबीर कहते हैं कि इस अवस्था में अब हम और भगवान् एक साथ ही रहने लगे हैं; हमारा तादात्म्य हो गया है।

टिप्पणी—कायायोग की सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्रेम एवं तत्त्व-दर्शन से प्राप्त हो जाती हैं। इसकी व्यंजना है। सांगरूपक का निर्वाह है। कहीं-कहीं अन्योक्ति एवं प्रतीकों की भी व्यंजना है।

रांम नांम रंग लागौ, कुरंग न होई।
हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥टेक॥
और सबै रंग इहि रंग थै छूटैं, हरि रंग लागा कदे न खूटै।
कहै कबीर मेरे रंग रांम राई, और पतंग रंग उड़ि जाई ॥२१५॥

भक्ति का रंग एक बार चढ़कर फिर फीका और भद्दा नहीं होता है। अन्य साधनाओं एवं विषयों के रंग भक्ति के रंग की समता नहीं कर पाते हैं। सम्पूर्ण अन्य रंग भक्ति के रंग से छूट जाते हैं पर जो एक बार भक्ति के रंग में रंग जाता है, उसका यह रंग कभी भी नहीं छूटता। कबीर कहते हैं कि भगवान् राम का रंग मुझ पर चढ़ गया है। यह स्थायी रंग है। अन्य सारे तो अस्थायी एवं कच्चे रंग हैं, वे सब उड़ जाते हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

कबीरा प्रेम की कूल ढरैं, हंमारे रांम बिनां न सरे।
बांधि लैं धोरा सींचि लै क्यारी ज्यूं तूं पेट भरें ॥टेक॥
काया बाड़ी मांहैं माली, टहल करै दिन राती।
कबहूँ न सोवै काज संवारे, पांणतिहारी माती ॥
सेझै कूवा स्वांति अति सीतल, कबहूं कुवाव नहीं रे।
भाग हंमारे हरि रखवाले, कोई उजाड़ नहीं रे ॥
गुर बीज जमाया किरखि निपाया, मन की आपदा खोई।
औरैं (बौर) स्यावढ़ कर षारिसा, सिला कर सब कोई ॥
जो घरि आया तो सब ल्याया, सबही काज संवारया।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, थकित भया मैं हारया ॥२१६॥

कबीर तो प्रेम के किनारे ढल गये हैं। अब राम के बिना उनका काम नहीं चलता है। रे जीव, तुम प्रेम-जल की नालियाँ बना लो तथा अपनी जीवन की क्यारियों को ईश्वर-प्रेम के जल से सींच लो। इस प्रकार तुम्हारे जीवन का निर्वाह हो जायेगा। यह शरीर ही बाड़ी है और साधक जीव ही इस प्रेम-बाड़ी की रखवाली करता है। यह रखवाला कभी भी सोता नहीं है। वह अपने काम की कभी उपेक्षा नहीं करता है। जल की नालियों को इधर-उधर मोड़कर क्यारियों में पानी देने वाली उसकी इन्द्रियाँ या बुद्धि अत्यन्त मस्त हैं। पर उन पर इस साधक ने सजग रहकर नियन्त्रण किया है। शरीर की इस बाड़ी को यह प्रेम-कूप के जल से सींच रहा है और उससे उसे अत्यन्त शान्ति और शीतलता का अनुभव हो रहा है। इसे विषयों के उत्ताप की लू नहीं लगेगी। यह बाड़ी फलों से परिपूर्ण रहेगी ही। अर्थात् इसमें प्रेम जनित आनन्द, ऐश्वर्य आदि प्रकट ही रहेंगे या अलग कमल-रूप पर शान्ति व शीतलता हैं, कभी कुवायु नहीं है। इस प्रेम की बाड़ी के रखवाले स्वयं भगवान् ही हैं यही हमारा पर सौभाग्य है। इसी से यह बाड़ी उजड़ती नहीं है। गुरु ने इसमें प्रेम का बीज बोया है। खेती को अच्छी प्रकार सम्पादित करके उन्होंने मन की सारी आपत्तियों को (संशयों को) नष्ट कर दिया है। साधक ने अपने मन के सम्पूर्ण संशयों को मिटाकर उसकी रखवाली भी कर ली है। बौरा या अन्यतम साधक-रूप स्वत्वाधिकारी इस पर अपना एकाधिपत्य कर लेता है और अन्य शिला करते हैं अर्थात् पड़ी हुई शिलाओं को एकत्र करके सभी साधक जीना चाहते हैं। अर्थात् बिना प्रयास के कर्मों से विमुख रहकर छोटी-मोटी सिद्धियों के सीधे-सीधे लाभों के लिए ही अन्य सब उत्सुक हैं। एक कबीर तो इस प्रेम बाड़ी को अपनी साधना से सींचता है। इसलिए जब खेती पकती है, तब वह अन्त में अन्न, फल, फूल आदि सभी कुछ घर लाता है। अर्थात् कबीर को तो भक्ति, ज्ञान एवं सिद्धियाँ—सभी कुछ प्राप्त होते हैं, जब कि अन्य साधकों को केवल सामान्य सिद्धियाँ मात्र ही। इससे कबीर के सब कार्य सिद्ध होते हैं। कबीर कहते हैं कि मैं प्रेम-साधना का उपदेश देते-देते थक गया हूँ, पर संसार को समझा नहीं सका। अतः उसके सामने हार गया हूँ।

टिप्पणी—सांगरूपक। रूपकातिशयोक्ति एवं प्रतीकों का प्रयोग है। 'सिला' शब्दों से जैन एवं हिन्दू साधकों की तरफ भी व्यंग्य है।

राजा राम बिनां तकती धो धो।
राम बिनां नर क्यूं छूटौगे, जम करै नग धो धो धो ॥टेक॥
मुद्रा पहर्यां जोग न होई, घूंघट काढ्यां सती न कोई ॥
माया कै संगि हिलि मिलि आया, फोकट साटै जनम गंवाया ॥
कहै कबीर जिनि पव हरि चीन्हां मलिन प्यंड थैं निरमल कीन्हां ॥२१७॥

भगवान् राम की कृपा के बिना व्यक्ति का शव धों-धों जलता है। राम की कृपा के बिना वह जन्ममरण से कैसे छूट सकता है? यमराज तो बड़ों-बड़ों को भी

जलाकर भस्म कर देता है। बाहरी कुण्डल आदि मुद्राओं के धारण करने से योगी की सिद्धि नहीं होती है। घूँघट निकालने भर से स्त्री सती नहीं कहला सकती है। अर्थात् बाहरी वेश धारण करने से नहीं अपितु सच्ची भावना से व्यक्ति भक्त और साधक होता है। जीव माया के साथ हिल-मिल जाता है औरइस प्रकार व्यर्थ में ही जीवन नष्ट करता है। कबीर कहते हैं कि उन्हें भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार है तथा जिनका उनके चरण कमलों में प्रेम है, उनके मलीन अन्तःकरण भी निर्मल हो जाते हैं।

है कोई रांम नांम बतावै।
बस्तु अगोचर मोहि लखावै ॥टेक॥
रांम नांम सब कोई बखांनैं, रांम नाम का मरम न जांनैं ॥
ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावैं तौ सुख पावं।
कहै कबीर कछू कहत न आवै, परचै बिनां मरम को पावै ॥२१८॥

कबीर कहते हैं, "कोई ऐसा संत है जो मुझे राम का रहस्य समझा दे; उस अगम्य तथा अगोचर परम-तत्त्व का साक्षात्कार करा दे। वैसे वाणी से तो सभी राम नाम की बातें करते हैं, पर राम नाम के वास्तविक रहस्य को कोई भी नहीं पहचानता है। ऊपर से बाहरी दिखावे में जो राम की बात करते हैं, वह मुझे अच्छी नहीं लगती। जो वास्तव में भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार करके उसके भक्ति-भाव में अनुरक्त रहता है वही आनन्द को प्राप्त करता है। कबीर कहते हैं कि भगवान् के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता है। वह शब्दातीत है। जिनको उसका ज्ञान है, उसी को इस रहस्यमय वस्तु का आनन्द प्राप्त होता है।

गोब्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नांहीं मुद्रा नहीं माया ॥टेक॥
समय नाहीं सिषर नाहीं, धरती नांहीं गगंनां।
रबि ससि दोउ एकै नांहीं, बहत नांहीं पवनां ॥
नाद नांही ब्यद नाहीं, काल नाहीं काया।
जब तें जल ब्यंब न होते, तब तूंहीं राम राया ॥
जप नांहीं तप नांहीं, जोग ध्यांन नहीं पूजा।
सिव नांहीं सकती नांहीं, देव नहीं दूजा ॥
रुग न जुग न स्यांम अथरबन, बेद नहीं ब्याकरनां।
तेरी गति तूंही जांनै, कबीरा तो सरनां ॥२१९॥

भगवान्, तुम संपूर्ण प्रकार की माया से अतीत हो, निरंजन हो। न तुम्हारा कोई रूप है, न रेख। तुम्हारी कोई मुद्रा अर्थात् शरीर या मन की मुद्रा अथवा चिह्न

भी नहीं है। तुम्हें प्राप्त करने की साधन रूप मुद्रा भी कोई नहीं है। माया तुम्हें व्यापती नहीं है। तुम्हारे शुद्ध स्वरूप में न समुद्र है, न शिखर ही है। उसमें न पृथ्वी है और न आकाश ही। उस समय शशि और रवि में से एक भी नहीं रहता है, पवन भी नहीं। उस अवस्था में नाद और बिन्दु का भी अभाव है। काल और शरीर भी उस अवस्था में नहीं रहते हैं। तब न जल रहता है और न उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब ही अर्थात् शुद्ध चैतन्य की अवस्था में जगत् और जगत् में पड़ने वाले चेतन के प्रतिबिम्ब का भी अभाव है। उस समय केवल वह अद्वैत-तत्त्व राम ही रहता है। प्रतिबिम्ब तो उपाधि के कारण कहलाता है, अतः उपाधि के अभाव में उस समय प्रतिबिम्ब नहीं होता। उस समय न जप है, न तप ही। जप करने वाला ही नहीं है तो फिर जप-तप कैसा ? विशुद्ध चैतन्य की स्थिति योग ध्यान, पूजा आदि भी नहीं रहते। शिव, शक्ति आदि के नाम से कोई दूसरा देवता भी वहाँ उस समय नहीं होता ऋक्, यजु, साम एवं अथर्व—ये वेद भी तब नहीं थे और शब्द का प्रतिपादन करने वाला व्याकरण भी नहीं। हे भगवान्, तुम सब प्रकार से अप्रमेय और अज्ञेय हो। तुम्हारे स्वरूप को तुम्हीं जानते हो। तुम स्वयं-प्रकाश हो एवं अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो। कबीर तो आपकी शरण में है। उसे आपके स्वरूप एवं सत्ता का भान होता है। पर वह उसका वर्णन नहीं कर पाता है; अतः वह आपकी महिमा से गद्गद् एवं आनंदित रहता है।

टिप्पणी—स्वगत, सजातीय एवं विजातीय—इन तीनों प्रकार के भेदों से रहित अद्वैत-तत्त्व का ज्ञान और भक्ति के मिश्रण वाली शैली में प्रतिपादन है। 'सदेव सोम्य अग्रे आसीत्' से तुलना कीजिए। कबीर इसमें 'सत्' भी नहीं कहना चाहते। यह भी निर्वचन हो जायेगा। परमतत्त्व 'नाद' और 'बिन्दु' से भी परे है। इसी सर्वातीत तत्त्व का प्रतिपादन है।

राम कै नांइ नींसांन बागा, ताका मरम न जानैं कोई।
भूख त्रिषा गुण वाकै नांहीं, घट घट अंतरि सोई ॥टेक॥
बेद बिबर्जित भेद बिबर्जित बिबर्जित पाप रु पुंन्यं।
ग्यांन बिबर्जित ध्यांन बिबर्जित, बिबर्जित अस्थूल सुंन्यं॥
भेष बिबर्जित भीख बिबर्जित, बिबर्जित ड्यंभक (कि) रूपं।
कहै कबीर तिहूँ लोक बिबर्जित, ऐसा तत्त अनूपं ॥२२०॥

राम-नाम का जो नगाड़ा बज रहा है, अर्थात् उसका जो उद्घोष हो रहा है, सर्वत्र उसका जो संगीत व्याप्त है, उसके वास्तविक रहस्य को कोई नहीं समझता है। वह घट-घट में विराजमान है, पर वह भूख, प्यास एवं सब गुणों से परे है। वे उस आध्यात्मिक संगीत के आनन्द को खंडित नहीं कर पाते हैं। उस आनन्द में तन्मय व्यक्ति को इनका भान नहीं होता है। वह वेदों से परे, अर्थात् उनके

अप्रतिपाद्य तथा सब भेदों से शून्य है। पाप, पुण्य, ज्ञान, ध्यान, स्थूल, शून्य, वेश, भीख, दम्भ आदि सभी से यह असम्पृक्त एवं परे है। कबीर हैं कि यह अनुपम तत्त्व तीनों लोकों से ऊपर एवं अतीत है।

रांम रांम रांम रमि रहिये।
साषित सेती भूलि न कहिये ॥टेक॥
का सुनहां कौं सुमृत सुनाये, का साषित पै हरि गुन गांये।
का कऊवा कौं कपूर खवांयें, का बिसहर कौं दूध पिलांये ॥
साषित सुनहां दोऊ भाई, वो नींदै वौ भौंकत जाई।
अंमृत ले ले नींब स्यंचाई, कहै कबीर वाकी बांनि न जाई ॥२२१॥

कबीर कहते हैं कि राम में निरन्तर रमे रहो, पर इस तत्त्व का उपदेश शाक्त या हरिविमुख को मत दो। वह इसका पात्र नहीं है। कुत्ते को स्मृति सुनाने में क्या लाभ है? वैसे ही शाक्त के समक्ष हरिगुण गान का क्या उपयोग है? कौए को कपूर खिलाने तथा सर्प को दूध पिलाने का क्या लाभ है? वे अपने स्वभाव को छोड़ेंगे नहीं। वे कपूर और दूध को भ्रष्ट करेंगे; उन्हें बींठ एवं विष में ही परिणत करेंगे। वैसे ही शाक्त या हरिविमुख भी भक्ति को विषय-भोग एवं दम्भ में परिणत कर देते हैं। हरिविमुख और कुत्ता दोनों भाई हैं। एक भक्तों की निंदा करता है और दूसरा उन पर भौंकता है। निम्ब के वृक्ष को चाहे अमृत से ही सींचा जाय, वह अपनी कड़वाहट नहीं छोड़ता है।

टिप्पणी — 'उदाहरण' अलंकार का प्रयोग। उपमा अलंकार व्यंजित है। तिवारी जी ने पाँचवीं पंक्ति नहीं दी है।

अब न बसूं इहिं गांइ गुसाईं।
तेरे नेवगी खरे सयांनें हो राम ॥टेक॥
नगर एक तहां जीव धरम हता, बसै जु पंच किसानां।
नैनूं निकटु श्रवनूं, रसनूं, इंद्री कह्या न मानैं हो रांम ॥
गांइ कु ठाकुर (कुठाकुर) खेत (कुनेपैं), नेपैं काइथ खरच न पारैं।
जोरि जेबरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारैं हो राम ॥
खोटौ महतौ बिकट बलाही, सिरकस दम का पारै।
बुरौ दिवांन दादि नहिं लागै, इक बांधै इक मारैं हो रांम ॥
धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी।
पांच किसानां भाजि गये हैं, जीव धर बांध्यौ पारी हो रांम ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधौ भेरा।
अब की बेर बकसि बंदे कौं, सब खत करौ नबेरा ॥२२२॥

हे भगवान्, मैं अब इस शरीर-रूपी तुम्हारे ग्राम में अधिक नहीं बसना चाहता हूँ। तुमने इस नगर में मन, इन्द्रिय आदि जिन कर्मचारियों को नियुक्त किया है, वे सब अत्यधिक चालाक हैं। इस नगर में अपने वास्तविक धर्म से च्युत जीव रूप जमींदार रहता है। यहाँ पर जीवधर नामक महत्ता है। पाँच इन्द्रियाँ ही उनके किसान हैं। नेत्र, नासिका, श्रवण, जिह्वा आदि ये सभी इन्द्रियाँ मेरा कहना नहीं मानती हैं। इस ग्राम का ठाकुर मन इस शरीर को नाप लेता है, अर्थात् अपने अधीन कर लेता है। इस ग्राम को कुठाकुर इस शरीर का कुमाप करता है। वह ऐसे कर्मों में शरीर को प्रवृत्त करता है कि कर्म-भोग के लेखा-जोखा रूप कायस्थ के लेन-देन का हिसाब कभी पूरा ही नहीं होता। संचित कर्मों से उधार लेने, प्रारब्धों के भोग करने एवं क्रियमाण कर्मों के नये संस्कार बनने का क्रम टूटता ही नहीं है। यह मन आशा, तृष्णा और वासना रूपी जेवड़ियों को जोड़ कर इतनी लम्बी बना लेता है कि अपने हिसाब की चुकती में सारे शरीर-रूपी खेत को ही नापकर अपने कब्जे में कर लेता है। पर तब भी कर्म-भोग का हिसाब चुकती नहीं होता। जीव कहता है कि इस प्रकार इन सबने मिलकर मुझे मार दिया है; अर्थात् मुझे बद्ध एवं दुःखी कर दिया है। इस गाँव का उधार देने वाला मेहता अर्थात् प्रारब्ध कर्म अत्यन्त दुष्ट है और क्रियमाण कर्म रूप बलाही (कर्मचारी) भी विकट है। उसके सामने विद्रोही हो जाने का दम कहाँ चल पाता है? इस नगर का बुद्धि-रूप दीवान भी व्यवस्थाओं के प्रति सहानुभूति रखता हुआ न्याय नहीं कर पाता है। पहले तो वह मुझे (जीव को) अज्ञान से बाँध लेता है और फिर अज्ञान का दण्ड भुगाता है। इस गाँव में रहते-रहते जब जीव की मृत्यु होती है तब धर्मराज के कर्मों का लेखा-जोखा माँगने पर बहुत बड़ी उधार बाकी निकलती है अर्थात् अनेक पाप-पुण्यों का भोग शेष रह जाता है। इन्द्रियाँ रूपी पाँचों किसान तो मृत्यु के समय भाग जाते हैं, पर यमराज इन कर्मों को भोगने के लिए जीव को बाँध लेते हैं। वास्तव में कर्म इन्द्रियों के किए होते हैं, पर उनके फल जीव को भोगने पड़ते हैं। कबीर कहते हैं, 'रे संतो! भगवान् का भजन करके इस भवसागर से पार उतरने के लिए बेड़ा बाँधो।' हे भगवान्, अब की बार तो मुझे अपने कर्मों के लिए क्षमा करो। अब मैं कर्मों की सम्पूर्ण खेती का निपटारा ही कर दूँगा, अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों से ही मुक्त हो जाऊँगा।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार और सभंगपद श्लेष हैं।

पाठान्तर—'नगर एक तहाँ जीवधार महत्ता।

ता भै थैं मन लागौ रांम तोही।
करौ कृपा जिनि बिसरौ मोही ॥टेक॥
जननीं जठर सह्या दुख भारी।
सो संक्या नहीं गई हमारी ॥

दिन दिन तन छीजै जरा जनावै।
केस गहें काल बिरदंग बजावै।
कहै कबीर करुणांमय आगैं।
तुम्हारी क्रिया बिना यहु बिपति न भागैं ॥२२३॥

हे राम, जन्म-मरण के भय से, यह मन तुम्हारे में अनुरक्त हो रहा है; अब मुझ पर कृपा करो। मेरी उपेक्षा मत करो। मुझे माता के गर्भ में आने में अत्यधिक कष्ट होता है। इसका भय मेरे हृदय में समा गया है, उससे मैं मुक्त नहीं हो पाता। दिन-प्रतिदिन यह शरीर क्षीण हो रहा है और वृद्धावस्था का भान होता जा रहा है। काल मेरे बाल पकड़कर बाजे बजा रहा है। कबीर कहते हैं कि अब मैं करुणामय भगवान् की शरण में हूँ। हे भगवन्, तुम्हारी कृपा के बिना इस संसार का दुःख दूर नहीं हो सकता है।

कब देखूं मेरे राम सनेही।
जा बिन दुख पावै मेरी देहीं ॥टेक॥
हूँ तेरा पंथ निहारूं स्वांमीं।
कब र मिलहुगे अंतरजांमीं ॥
जैसैं जल बिन मीन तलपै।
ऐसै हरि बिन मेरा जियरा कलपै ॥
निस दिन हरि बिन नींद न आवै।
दरस पियासी रांम क्यूं सचुपावैं ॥
कहै कबीर अब विलंब न कीजै।
अपनौं जांनि मोहि दरसन दीजै ॥२२४॥

जीवात्मा दाम्पत्य-विरह का अनुभव करती हुई कहती है, "मुझे अपने प्रिय राम के कब दर्शन होंगे? उनके बिना मेरा यह शरीर अत्यन्त कष्ट का अनुभव कर रहा है। हे स्वामी, मैं तुम्हारी बाट देख रही हूँ। हे अन्तर्यामी, मुझे आप कब मिलोगे अथवा मुझे रमण करते हुए अपनाओगे? जैसे जल के अभाव में मछली तड़पती है, उसी प्रकार हरि के बिना मेरा हृदय व्यथित हो रहा है। मुझे भगवान् के वियोग में रात-दिन नींद नहीं आती है। राम के दर्शनों की प्यासी जीवात्मा चैन का अनुभव कैसे कर सकती है? विरहिणी जीवात्मा के रूप में कबीर प्रार्थना करते हैं, 'हे भगवान्, अब आप विलम्ब मत कीजिए और मुझे अपना समझ कर शीघ्र ही दर्शन दीजिए।

टिप्पणी—पत्नी के रूप में ईश्वर के प्रेम का वर्णन है। इसका अन्तर्भाव भक्ति में ही है। उपमा अलंकार।

सो मेरे रांम कबैं घरि आवै ।
ता देखै मेरा जिय सुख पावै ॥टेक॥
बिरह अगिनि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूं होइ सिराई ।
निस बासुर मन रहै उदासा, जैसे चातिग नीर पियासा ॥
कहै कबीर अति आतुरताई, हमकौं बेगि मिलौ रांम राई ॥२२५॥

विरह की विकलता में जीवात्मा कह रही है कि वे मेरे पति राम, मेरे घर कब आयेंगे ' उनके दर्शन से मेरा हृदय आनन्द का अनुभव करता है । विरहाग्नि ने मेरा शरीर जला दिया है । राम के दर्शन के बिना उसे शीतलता नहीं मिल सकती है । रात-दिन उसके विरह में हृदय उदास रहता है, उनकी जल के अभाव में प्यासे चातक की सी अवस्था है । कबीर कहते हैं कि मुझे राम से मिलने की अत्यधिक विकलता है । हे राम, आप शीघ्र ही मुझसे मिलें ?

टिप्पणी—सगुण और साकार तथा अवतारी एवं शरीरधारी भगवान् की भक्ति के जैसे ही वर्णन से निर्गुण और निराकार की भक्ति ही व्यंजित है ।

मैं सासरे पीव गौंहनि आई ।
सांई संगि साध नहीं पूगी, गयौ जोबन सुपिनां की नांई ॥टेक॥
पंच जनां मिलि मंडप छायौ, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई ।
सखी सहेली मंगल गांवै, सुख दुख माथै हलदि चढ़ाई ॥
नांनां रंग भांवरि फेरी, गांठि जोरि बाबै पति ताई ।
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक कै रंगि धर्‌यौ सगौ भाई ॥
अपनैं पुरिष मुख कबहुं न देख्यौ, सती होत समझी समझाई ।
कहै कबीर हूँ सर रचि मरिहूं, तिरौं कंत लै तूर बजाई ॥२२६॥

जीवात्मा कह रही है कि अपने प्रियतम भगवान् के प्रणय का आनन्द लेने के लिए इस जगत् रूपी ससुराल में प्रिय के साथ गौने आई हूँ । जीव के जन्म धारण करने का प्रयोजन ईश्वर-प्राप्ति रूप मोक्ष ही है । यही ससुराल में गौने आना है । पर मोक्ष की यह आकांक्षा सबकी पूरी नहीं होती । जीवात्मा कह रही है कि पति के साथ आनन्द लेने की मेरी आकांक्षा तृप्त नहीं हुई है । यह जीवन-रूपी यौवन यों ही स्वप्न की तरह व्यतीत हो गया । सांसारिक पद्धति के विवाह के रूपक का निर्वाह करते हुए कबीर कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों ने इस विवाह मण्डप की रचना की थी और तीनों गुणों ने मिलकर इसका लगन लिखा । सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का मिश्रण ही जीवन-सृष्टि है यही लगन लिखना है । जीवन में व्यष्टि-जीव बारम्बार अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित होता रहता है । उस समय उसे आनन्द की अनुभूति होती रहती है । दो वृत्तियों की संधियों में जीव अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित होते

से आनंद का अनुभव करता है। यह जीव और ईश्वर का मिलन ही विवाह है और यही जीवन है। इसलिए यह सार्थक स्वरूप है। जीवन में यह आनन्द इन्द्रियों के माध्यम से अथवा उनकी छाया में ही होता है। यही मण्डप निर्माण का अर्थ है। वासना व तृष्णा रूपी सखियों ने ही मंगल-गान किया तथा उन्होंने ही सुख-दुःख की हल्दी दुल्हिन जीवात्मा के शरीर पर चढ़ाई है। अनेक प्रकार के राग-रंग ही इस विवाह के भाँवर हैं। संचित कर्म-रूपी बाबा ने ईश्वर-रूप पति की प्राप्ति के लिए ही जीवात्मा का गठबंधन किया था, अर्थात् यह जन्म दिया था। पर जीवन-रूप सम्पूर्ण सुहाग काल पति के वास्तविक सहवास के बिना ही व्यतीत हो गया। वस्तुतः यह ऐसा ही हुआ जैसे पति के साथ रहते हुए भी चौक में बैठते ही अर्थात् विवाह होते ही विधवा हो गई अथवा पति से मिलने वाले आनन्द के अभाव में तथा विवाह के उल्लास से प्रेरित होकर जीवात्मा ने अज्ञान या काम-रूपी सगे भाई का ही अपने पति के रूप से वरण कर लिया। उसी माया से जीव-भाव के साथ ही मोह और अज्ञान भी पैदा होता है, इसी से वह जीवात्मा का भाई है। भगवान् के तत्त्व का साक्षात्कार न होने अथवा उनकी प्रेमानुभूति न जागने पर ही जीवात्मा मोह और अज्ञान में फँसी रहती है। ईश्वर-रूप पति-प्रेम से वस्तुतः पूर्ण होने वाली आकांक्षा को जीवात्मा भ्रम से विषयों के सुख में पूर्ण करने लगती है। यही 'धरयो सगो भाई' है। अज्ञानी जीवात्मा ने ईश्वर-रूप अपने पति के वास्तविक दर्शन तो कभी नहीं किये। पर सच्ची भक्ति न होने पर भी अन्य साधनाओं में फँसी हुई जीवात्मा अपने आपको सती मानने का दम्भ भरती रही। जीवात्मा कहती है कि अब मुझे बोध हो गया है। अब मैं चिता रचकर अर्थात् पति-प्रेम का स्मरण करती हुई मरूँगी और तुरी बजाती हुई पति को साथ लेकर भवसागर से पार हो जाऊँगी। यहाँ ज्ञान और प्रेम की अग्नि में अपने अज्ञान को भस्म करना ही चिता रचकर मरना है तथा ईश्वर के साथ प्रणय एवं तन्मयता के अनुभव को तुरी बजाकर कंत के साथ तिरना कहा गया है।

टिप्पणी — रूपक तथा प्रतीकों का प्रयोग।

पाठान्तर—पाँचवीं पंक्ति में 'पतियाई'। छठी पंक्ति में चौके रांड भई संगि साँई। इसके अर्थ भी ऊपर दे दिये गये हैं।

धीरैं धीरैं खाइबौ अनत न जाइबौ।
रांम रांम रांम रमि रहिबौ ।।टेक।।
पहली खाई आई माई, पीछै खैहूं सगौ जवाई।
खाया देवर खाया जेठ, सब खाया सुसर का पेट ।।
खाया सब पटण का लोगा, कहै कबीर तब पाया जोग ।।२२७।।

कबीर कहते हैं कि शनैः-शनैः सम्पूर्ण माया को ज्ञान और प्रेम के द्वारा नष्ट करना है। अन्य किसी भी साधना में उलझने की आवश्यकता नहीं है। राम का नाम-स्मरण करते हुए उस परम-तत्त्व में रमते रहना है। यही वास्तव में कल्याण

का मार्ग है। मैं यही करूँगा। पहले मैंने मूला अविद्या रूप मातामही तथा तूला अविद्या रूप माता खाली है अर्थात् परोक्ष ज्ञान से इनको असत कर दिया है। फिर मैं माया से उत्पन्न विषय वासना-रूपी पुत्री के भोक्ता जीव-रूप जमाई को खाऊँगा, अर्थात् निदिध्यासन एवं भक्ति के द्वारा जीव के कर्त्ता एवं भोक्ता होने के अध्यास को समाप्त करूँगा। साधिका-जीवात्मा अहंकार-रूप जेठ तथा चंचल मन-रूपी देवर को भी खा जाती है। मूल अज्ञान रूपी श्वसुर के पेट से उत्पन्न होने वाले मोह, लोभ आदि सभी को जीवात्मा खा जाती है। इस शरीर-रूपी नगर में रहने वाले तृष्णा, लोभ, मद, मोह आदि सभी नगरवासी खा लिए जाते हैं, तभी इस जीवात्मा को योग की—पति-परमेश्वर से योग की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार। योग से योग-साधना तथा ईश्वर मिलन रूप योग—दोनों ही अर्थ अभीप्सित हैं।

मन मेरौ रहटा रसनां पुरइया, (पुबरिया)
हरि कौ नांउं लैं लै काति बहुरिया ।।टेक।।
चार खूंटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई ।।
सासू कहै काति बहू ऐसैं, बिन कातैं निसतरिबौं कैसैं ।।
कहै कबीर सूत भल काता, रहटां नहीं परम पद दाता ।।२२८।।

मेरा मन ही चरखा है और जीभ ही उसका सूत पूरने वाला तकुआ। रे आत्मा-रूपी बन्धु, तुम राम का नाम लेते हुए इस चरखे से भक्तिमय जीवन के सूत को कातो। अन्तःकरण चतुष्टय ही इस चरखे की चार खूँटियाँ हैं तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग ही इसके दो चमरख है। इस चरखे को सहजयोग के मार्ग पर चला दो। गुरु के उपदेश-श्रवण से जन्य बोधवृत्ति अथवा गुरु-रूप सास ही साधक जीव रूप बहू को चेतावनी दे रही है कि भक्ति और ज्ञान के इस चरखे को कातो, अर्थात् मनन, निदिध्यासन, निरन्तर के नाम-स्मरण एवं अनुराग के बिना इस जीवन में निस्तार नहीं है। उसी को परमतत्त्व-रूप पति की प्राप्ति सम्भव है। कबीर कहते हैं कि अगर तुम (आत्मा-रूपी बन्धु) इस ज्ञान एवं भक्ति-पूर्ण जीवन-सूत्र को अच्छी प्रकार कातो तो यह मन सामान्य चरखा नहीं अपितु परमपद को देने का साधन है इसका विश्वास हो जायेगा। अथवा कबीर कहते है कि मैंने यह जीवन सूत्र अच्छी प्रकार काता है। मुझे यह सामान्य चरखा नहीं अपितु परम पद का दाता ही प्रतीत हुआ।

टिप्पणी—सांगरूपक; अपह्नुति अलंकार।

पाठान्तर—चौथी पंक्ति, छौ माल तागा बरिस दिन कुकुरी, लोग बोलें भूत कातल बपुरी।

अब को घरी मेरो घर करसी ।
साध संगति ले मोकौं तिरसी ।।टेक।।
पहली को घाल्यौ भरमत डोल्यौ, सच कबहूं नहीं पायो ।
अब को धरनि धरी जा दिन थैं, सगलौ भरम गमायो ।।
पहली नारि सदा कुलवंती, सासू सुसरा मांनैं ।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय को मरम न जांनैं ।।
अब की धरनि धरी जा दिन थैं, पींय सूं बांन बन्यूं रे ।
कहै कबीर भाग बपुरी को, आइ रु रांम सुन्यूं रे ।।२२६।।

साधक जीव कह रहा है कि मैंने गुरु के उपदेश के बाद की बोधवृत्ति-रूप अथवा निवृत्ति-रूप जिस स्त्री को पत्नी के रूप में अब धरा है, वही मेरा घर बसायेगी; साधु संगति से मेरा उद्धार करेगी । मेरी (जीव की) पहली स्त्री तूला अविद्या प्रवृत्ति या आसक्ति थी । उसके मारे तो मैं इधर-उधर भटकता ही रहा और कभी भी सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाया । अब की बार मैंने इस गृहिणी को जिस दिन से अपनाया है, उसी दिन से मैंने अपना सम्पूर्ण भ्रम नष्ट कर लिया है । सांसारिक आसक्ति रूप पहली स्त्री थी तो बड़ी ही कुलीन । शुद्ध चैतन्य पर अधिष्ठित एवं सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त मूला अविद्या की ही यह तूला अविद्या पुत्री है । अत: बड़े कुल की पुत्री होने से कुलीन है । इससे उसे मर्यादा के निर्वाह का अहंकार था । वह माया-मोह रूप सास-ससुर का कहना मानती थी । वह अहंकार एवं वासनात्मक मन-रूपी जेठ तथा देवर की भी प्रिय थी । पर जीव-रूप अपने पति के कष्टों के रहस्य को नहीं समझती थी । पर अब की बार जिस दिन से मैंने बोध-वृत्ति-रूप इस नवीन गृहिणी को अपनाया है, उसी दिन से मुझ पति के साथ इसका सामंजस्य हो गया है । इसका सौभाग्य है कि भगवान् ने मेरी सुन ली । जीव मूलत: ज्ञान-स्वरूप एवं निसंग है । मूला अविद्या उसको उस दिशा में नहीं बढ़ने देती थी; पर जाग्रत बोधवृत्ति या निवृत्ति जीव के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा में सहायक होती है । यही दोनों का सामंजस्य है ।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार । ज्ञानोदय की अवस्था का सुन्दर चित्रण है ।

मेरी मति बौरीं रांम बिसारयौ, किहि विधि रहनि रहूं हो दयाल ।।
सेजै रहूं नैन नहीं देखौं, यहु दुख कासौं कहूं हो दयाल ।।टेक।।
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे ।
नणद सहेली गरब गहेली, देवर कै बिरह जरौं हो दयाल ।।
बाप सावकौं (सावनो) करै लराई ... सब मतिवाली ।
सगो भईया लै सलि चढ़िहूं, तब हूं ... पीयहि पियारी ।।

सोंचि बिचारि देखौ मन मांहीं, औसर आइ बन्यूं रे।
कहै कबीर सुनहू मति सुंदरि, राजा रांम रमूं रे ॥२३०॥

विषयों में पागल मेरी बुद्धि ने राम को भुला दिया है। हे दयालु भगवन्, मैं अपना जीवन कैसे व्यतीत करूँ? मैं निरन्तर अपने पति ईश्वर की शय्या पर ही रहती हूँ, अर्थात् ईश्वर और जीव का शाश्वत अभेद है, फिर भी उस ईश्वर रूप पति को नेत्रों से नहीं देख पाती। अज्ञान के कारण जीवात्मा वास्तव में उसका साक्षात्कार नहीं कर पाती है। पति के साथ निरन्तर उसी की सेज पर सोते हुए भी उसे न देख सकने की असह्य व्यथा किसे सुनाऊँ? मैं माया-रूपी सास से दुःखी हूँ तथा मूल अज्ञान-रूपी ससुर को प्रिय हूँ। वह निरन्तर मुझे अपनी ओर आकृष्ट करता रहता है। मूल अज्ञान से मुक्ति मिलते ही जीव ब्रह्मरूप हो जाता है। मैं अहंकार-रूपी जेठ के त्रास से निरन्तर डरती रहती हूँ। बुद्धि-रूप ननद मेरी सखि है। वह दुराग्रहों से ग्रस्त तथा अभिमानी है। वह मुझे (जीवात्मा को) सुपथ की सलाह नहीं दे पाती। हे दयाल प्रभु, मैं मन-रूपी देवर के विरह से व्यथित हूँ अर्थात् विषय-वासनाओं के लिए तृषित हूँ। संसारी जीवात्मा को जन्म देने वाला अहंकार-रूपी अनीश्वरवादी पिता निरन्तर झगड़ता रहता है। अहंकार अपने आपको ही सब कुछ मानता है और इस प्रकार ईश्वर की उपेक्षा करता है। अहंकार ही सब झगड़ों का मूल है। माया-रूपी माँ नित्य नये नशे में चूर रहती है। मैं तो सहज-बोध-रूप भाई के साथ चिता पर चढ़ूँगी। इसी से मैं अपने प्रियतम भगवन् की प्यारी बन सकूँगी। आत्म-बोध अथवा सहज-बोध का हेतु भी सत्त्व-प्रधान माया ही है, अतः वह अज्ञान जीवात्मा का भाई है। उस सहज-बोध से सम्पूर्ण सांसारिक अज्ञान नष्ट हो जायेंगे। मैं सोच-विचार कर देखती हूँ कि अब इस चिता पर चढ़ने का अवसर आ गया है। आत्मा या इस प्रकार जाग्रत विवेक रूपी सुन्दरी अपने आपको सम्बोधन करके कह रही है, 'रे सुन्दरी, अब तुम भगवान् राम के साथ रमो।'

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार। यहाँ अर्द्ध प्रबुद्ध जीवात्मा अपनी बद्ध अवस्था एवं मुक्त होने की विकलता का मर्मस्पर्शी एवं सांगोपांग वर्णन कर रही है। दाम्पत्य भाव का आवरण इस विरह वेदना का बिंब विधायक बन गया है।

अवधू ऐसा ग्यांन बिचारी।
तार्थं भई पुरिष थैं नारी ॥टेक॥
नां हूँ परनीं नां हूं क्वारी, पूत जन्यूं (जनौ) द्यौहारी।
काली मूंड को एक न छोड्यौ, अजहूँ अकन कुंवारी ॥
बाम्हन कै बम्हनेटी कहियौं, जोगी कै घरि चेली।
कलमां पढ़ि पढ़ि भई तुरकनीं, अजहूँ फिरौं अकेली ॥
पीहरि जांऊं न रहूँ सासुरै, पुरषहि अंगि न लांऊं।
कहै कबीर सुनहु रे संतो, अंगहि अंग न छुवांऊं ॥२३१॥

रे अवधूत, इस रहस्य पर विचार करो जिससे यह ज्ञान हो सके कि चैतन्य पुरुष से माया-रूपी नारी का जन्म कैसे हुआ है। माया कहती है कि वह न विवाहित है और न कुमारी ही। परमपुरुष से विवाहित होने का तात्पर्य है चैतन्य से माया का पूर्ण तादात्म्य हो जाना। उस अवस्था में माया रहेगी नहीं। अगर माया चैतन्य से पूर्णतः सम्पृक्त ही रहती तो कुमारी कहलाती है। ऐसा भी नहीं है। माया चैतन्य पर अधिष्ठित है। चैतन्य की सत्ता से सत्तावान् प्रतीत होती है। माया हमेशा अनेक पुत्रों को जन्म देती रहती है अर्थात् सब जीवों के जीवभाव का कारण है। यह चैतन्य-पुरुष के साथ सहवास का परिणाम है। इस इस माया-रूपी स्त्री ने एक भी अज्ञानी को नहीं छोड़ा है। सबने इसका भोग किया है। पर तब भी यह माया अखण्ड कुमारी ही है। कोई भी इसको भोग नहीं सका। 'भोगाः न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः।' माया असत् रूप है। असत् का भोग क्या? अतः जीव कभी माया का भोग कर ही नहीं पाता है। माया से प्राप्त होता हुआ प्रतीत होने वाला आनन्द चैतन्य का स्वयं का ही आनन्द है, अतः भोग केवल भ्रम है। पारमार्थिक दृष्टि से असत् माया कभी भी चैतन्य का स्पर्श नहीं कर पाती है, अतः वह कुमारी ही है। फिर भी, माया का प्रभाव सर्वव्यापी है। वह ब्राह्मण के यहाँ ब्राह्मणी है और योगी के यहाँ चेली है। कलमा पढ़-पढ़ कर माया ही तुर्कनी हुई है। ब्राह्मण योगी, तुर्क आदि के अहंकार तथा भेद—सब मायाजनित हैं, पर हैं मिथ्या ही। ब्राह्मण आदि से माया का सत्य सम्बन्ध नहीं होता। मेरा (जीवात्मा से) सम्बन्ध होता ही नहीं, अतः अकेली ही रहती हूँ। किसी से बद्ध नहीं हूँ। न पीहर जाती हूँ और न ससुराल ही। मेरा इहलोक और परलोक में आना-जाना नहीं है। माया में आना-जाना भी मिथ्या है। माया कहती है कि मैं चैतन्य-रूप परम-पुरुष को अपने अंगों से नहीं छुआती हूँ। माया चैतन्य को स्पर्श नहीं कर पाती है। चैतन्य के गुण उसमें कभी नहीं आते हैं। चैतन्य का माया में लिप्त होने का अभ्यास भर होता है। माया कहती है कि यह कबीर जो कह रहा है वही ठीक है 'रे संतो, मैं अपने अंगों से परम-पुरुष के अंग नहीं छुआती हूँ।' अर्थात् माया और चैतन्य एक दूसरे से परमार्थतः अलग ही रहते हैं।

टिप्पणी—मानवीकरण एवं रूपक अलंकार का प्रयोग। माया के संसारी तथा तात्त्विक रूप का सम्यक् प्रतिपादन है। तिवारी जी के पाठ में कहीं-कहीं कुछ भेद मिलता है।

मींठ-मींठी माया तजी न जाई,
अग्यांनीं पुरिष कौं भोलवि भोलबि खाई ॥टेक॥
निरगुंण सगुंण नारी, संसारि पियारी,
लषमणि त्यागी गोरषि निवारी ॥
कोड़ीं कुंजर मैं रही समाई,
तीनि लोक जीत्या माया किनहूँ न खाई ॥

कहै कबीर पर लेहु बिचारी,
संसारि आइ माया किनहूँ एक कही षारी ॥२३२॥

यह माया मधुर प्रतीत होती हैं अतः इससे छुटकारा नहीं होता। अज्ञानी पुरुष को यह माया भुलावे में डाल-डाल कर खाती है यह वासना एवं असत् रूप होने के कारक निर्गुण है तथा विश्व के सम्पूर्ण रूपों में परिणत होने से सगुण। इस प्रकार यह ऐसी ही निर्गुण और सगुण रूप विलक्षण नारी है। इसमें विरोधी तत्त्व है। इस माया का लक्ष्मण ने परित्याग किया और गोरखनाथ ने अपने हृदय से इसे हटा दिया। पर वैसे यह चींटी से लेकर हाथी तक में समाई हुई है। इस माया ने तीनों लोकों को जीत लिया है, पर इसको कोई भी नहीं खा सका। कबीर कहते हैं कि इस पद पर विचार कर लो। यह माया सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है। सबको यह मधुर ही लगती है। किसी एक बिरले ने ही इसे कड़वी कहा है।

मन कै मैलौ बाहरि ऊजलौ किसौ रे,
खांडे की धार जन कौ धरम इसौ रे ॥टेक॥
हिरदा कौ बिलाव नैन बग ध्यांनीं,
ऐसी भगति न होइ रे प्रांनी ॥
कपट की भगति करै जिन कोई,
अंत की बेर बहुत दुख होई ॥
छांड़ि कपट भजौ रांम राई,
कहै कबीर तिहूँ लोक बड़ाई ॥२३३॥

कबीर कहते हैं कि जिस व्यक्ति के भीतर वासनाओं का मैल भरा हुआ है, उसके बाह्य में उजले होने का क्या लाभ है? ईश्वर-प्रेम का यह मानव-धर्म तलवार की धार के समान है। जो व्यक्ति हृदय से बिल्ली की तरह है, अर्थात् विषय-वासनाओं से ग्रसित एवं हिंसक प्रकृति का है; उसके नेत्र ध्यानी बगुले की तरह धोखा तो त्रिकुटि ध्यान का देते हैं पर लगे रहते हैं अपने विषयों पर ही। ऐसे व्यक्ति से भक्ति नहीं होती है। कबीर चेतावनी देते हैं कि कपटपूर्ण भक्ति मत करो। अन्त में इससे अत्यन्त कष्ट झेलने पड़ेंगे। कबीर कहते हैं, 'रे जीव, कपट छोड़कर तुम राजा राम का भजन करो ताकि तीनों लोकों में तुम्हारा यश फैल सके।'

चोखौ बनज ब्योपार करीजै,
आइ नें दिसावरि रे रांम जपि लाहौ लीजै ॥टेक॥
जब लग देखौं हाट पसारा,
उठि मन बणियां रे, करिले बणज सवारा ॥
बेगे हो तुम्ह लाव लदांनां,
औघट घाटा रे चलनां दूरि पयांनां ॥

खरा न खोटा नां परखानां,
लाहे कारनि रे सब मूल हिरांनां ।।
सकल बुन्नीं में लोभ पियारा,
मूल ज राखै रे सोई बनिजारा ।।
देस भला परिलोक बिरांनां,
जन दोइचारिनरे पूछौ साध सयांना ।।
सायर तीर न वार न पारा,
कहि समझावै रे कबीर बणिजारा ।।२३४।।

अरे जीव, तुम अच्छा धर्मपूर्ण वाणिज्य व्यापार करो। इस इहलोक रूप विदेश में आकर भगवान् का स्मरण करते हुए लाभदायक व्यापार करो। रे मन रूपी वणिक्, जब तक इस जगत् और जीवन के बाजार का पसारा है; जब तक यह बाजार लगा हुआ है; जब तक जगत् और जीवन है; उसी समय में शीघ्र ही उठकर अपना वाणिज्य कर ले। प्रमाद में सोता मत रह। जगत् में जिसके प्रति जो कर्त्तव्य है, उसे पूरा कर जल्दी ही तुम्हें इस जीवन-बाजार से अपना सामान लादना है और औघट घाट पर पहुँचना है। उसके लिए पर्याप्त दूर भी चलना है। अर्थात् रे जीव सांसारिक कार्यों से जल्दी ही निवृत्त हो जाओ। तुम्हें अपने पारमार्थिक कल्याण के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ प्रयास करना है। साधना का यह मार्ग भी बँधी-बँधाई परम्पराओं के सीधे मार्ग की तरह नहीं, अपितु दुर्गम है। वह स्थान भी शेष जगत् से विलक्षण है अतः औघट घाट है। यह संसार की वासनाओं से अत्यन्त दूर भी है। तुमने इस जगत् में खरे खोटे की परख नहीं रखी सांसारिक लाभों के लिए तुमने अपने मूल चैतन्य-स्वरूप को ही भुला दिया है। यह व्यापार में मूल गँवाना ही हुआ। सारा संसार लोभी है। इससे वह अपना मूल भी खो देता है। सच्चा बनियाँ वही है जो मूल की रक्षा कर ले। वही जीव सफलतापूर्वक जी रहा है जो अपने शुद्ध-चैतन्य स्वरूप को अक्षुण्ण रख लेता है। अपना देश ही अच्छा है; विदेश तो विदेश ही है। जीव के लिए अपने मूल स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना ही श्रेयस्कर है। उसके लिए जगत् तो विराना देश ही है। इस जगत् में दो चार ही भक्त हैं। सयाने साधुओं से पूछकर देखो, उनका यही मत है। इस भवसागर के तीर का कही भी आदि-अंत नहीं है। यह बात कबीर इस जीव-रूपी बनिये को समझाकर कह रहे हैं। भक्त ही इस संसार समुद्र से बच सकता है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

जौ मैं ग्यांन विचारा न पाया।
तौ मैं यौंही जन्म गँवाया ।।टेक।।
यहु संसार हाट करि जाँनूं, सब कोउ बणिजण आया।

चेति सकै सो चेतौ रे भाई मूरखि मूल गंवाया ॥
थाके नैंन बैंन भी थाकै, थाकी सुन्दर काया।
जांमण मरण ए द्वै थाके, एक न थाकी माया ॥
चेति-चेति मेरे मन चंचल, जब लग घट मैं सासा।
भगति जाव पर भाव न जाइयो, हरि के चरन निवासा ॥
जे जन जांनि जपैं जग-जीवन, तिनका ग्यांन न नासा।
कहै कबीर वै कबहूं न हारैं, जानि जे ढारै पासा ॥२३५॥

कबीर कहते हैं कि अगर मैं भगवद्भजन के रहस्य को नहीं समझा सका, तो मैंने अपना जीवन व्यर्थ ही खोया। जितना ही व्यक्ति को यह ज्ञान रहता है व्यक्ति का उतना ही जीवन सार्थक है। मुझे इस संसार को हाट समझना चाहिए। सब लोग यहाँ पर कर्म का व्यापार करने आये हैं रे जीव, सावधान हो सको तो हो जाओ, मूर्ख लोगों ने इस संसार में आकर अपना मूल ही खो दिया है। इस कर्म व्यापार में उनके नेत्र, वाणी और सुन्दर काया--सब थक गये हैं। उसके जन्म-मरण भी थक गये हैं अर्थात् जीव जन्म लेते और मरते भी थक गया है पर यह माया नहीं थकी है। वह वैसे ही क्रियाशील है रे चंचल मन, जब तक इस शरीर में प्राण हैं, तभी तक तुम सावधान हो जाओ। चाहे औपचारिक भक्ति चली जाय पर भक्ति के मूल में रहने वाले भाव की रक्षा करो, ताकि भगवान् के चरणों में निवास रहे। जो व्यक्ति संसार के प्राण भगवान् के स्वरूप को समझकर भजता है, उसका ज्ञान और विवेक नष्ट नहीं होता है। कबीर कहते हैं कि जो ज्ञानपूर्वक जीवन के पाशे डालते हैं, अर्थात् इस जीवन का खेल खेलते हैं और जीवन के पाशों को ढरका नहीं देते, अर्थात् जीवन से पराङ्मुख नहीं होते, उनकी इस जीवन में कभी पराजय नहीं होती है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

लावौ बाबा आगि जलावौ घरा रे।
ता कारनि मन धंधैं परा रे ॥टेक॥
इक डांइनि मेरे मन मैं बसै रे, नित उठि मेरे जीय को डसै रे।
या डाइन्य के लरिका पांच रे, निसि दिन मोहि नचांवै नाच रे ॥
कहै कबीर हूँ ताकौ दास, डांइनि कै संगि रहै उदास ॥२३६॥

रे बाबा, इस विषय-वासनाओं के घर शरीर या जगत् को ज्ञानाग्नि में जला कर भस्म कर दो अर्थात् वासना और आसक्ति को भस्म कर दो। इस आसक्ति-रूप घर के कारण ही यह मन अनेक प्रकार के झंझटों में पड़ा हुआ है। वासना-रूपी एक डाइन मेरे मन में वसी हुई है। नित्य-प्रति वह मेरे अन्तःकरण को ग्रसित करती

रहती है। इस डाइन के काम, क्रोधादिक पाँच लड़के हैं जो मुझे रात-दिन नचाते रहते हैं। कबीर कहते हैं कि मैं उस व्यक्ति का दास हूँ जो इस माया-रूपी डाइन से उदास एवं अप्रभावित रह सकता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और सांगरूपक अलंकार।

बंदे तोहि बंदिगी सौं कांम, हरि बिन जांनि और हरांम।
दूरि चलणां कूंच बेगा, इहां नहीं मूकांम ।।टेक।। ।।
इहां नही कोई यार दोस्त, गांठि गरथ न दांम।
एक एकं संगि न चलणां, बीचि नहीं बिश्रांम ।।
संसार सागर विषम तिरणां, सुमरि लै हरि नांम।
कहै कबीर तहाँ जाइ रहणां नगर बसत निधांन ।।२३७।।

रे मानव, तुम्हें तो केवल भक्ति से काम है। भगवान् की भक्ति के अतिरिक्त अन्य सब चीजों को हराम ही समझो। तुम्हें अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए इस संसार से बहुत दूर जाना है। इसलिए यहाँ से शीघ्र ही रवाना हो जाओ। इस संसार में तुम्हारा टिका रहना ठीक नहीं। तुम्हारे लिए यह स्थान नहीं है। इस संसार में तुम्हारा कोई मित्र भी नहीं है। क्योंकि यह माया का स्थान है। यहाँ तो अज्ञानादिक ही हैं। माया और अज्ञानादिक का शुद्ध चैतन्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ पर खर्च करने के लिए जो दाम चाहिए, वे भी तुम्हारी गाँठ में नहीं हैं। अर्थात् तुमने अपने पूरे पुण्यों का क्षय कर दिया है। इस यात्रा में तुम्हें अकेले ही चलना है; एक को एक के संग नहीं। बीच में बिश्राम भी नहीं कर सकते हो। विश्राम तो अन्य जन्म ग्रहण करना है। उससे तो संसार-चक्र में फिर घूमना पड़ता है। मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग मंजिलों में बँटा हुआ नहीं होता। इस संसार-रूपी सागर से पार होना बहुत कठिन है अतः तुम भगवान् का स्मरण करो। कबीर कहते हैं कि तुम्हें तो वहाँ जाकर रहना है जहाँ पर अन्तिम नगरी अर्थात् न उजड़ने वाली नगरी बसती है। मुक्त पुरुषों का वही स्थान है जहाँ से फिर वापिस नहीं लौटना पड़ता है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

झूठा लोग कहैं घर मेरा।
जा घर मांहै बोलै डोलै, सोई नहीं तन तेरा ।।टेक।।
बहुत बंध्या परिवार कुटुम्ब मैं, कोई नहीं किस केरा।
जीवत आँषि मूंदि किन देखौ, संसार अंध अँधेरा ।।
बस्ती मैं थैं मारि चलाया, जंगलि किया बसेरा।
घर कौं खरच खबरि नहीं भेजी, आप न कीया फेरा ।।
हस्ती घोड़ा बैल बांहणी, संग्रह किया घणेरा।
भीतरि बीबी हरम महल में, साल मिया का डेरा ।।

बाजी की बाजीगर जांनै क बांजीगर का चेरा।
चेरा कबहूँ उझकि न देखै, चेरा अधिक चितेरा ॥
नौ मन सूत उरझि नहीं सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा।
कहै कबीर एक रांम भजहु रे, बहुरि न ह्वैगा फेरा ॥२३८॥

रे जीव, लोग झूठ ही कहते हैं कि यह घर मेरा है। जिस शरीर-रूपी घर में यह जीव बोलता है और क्रियाशील है, वह शरीर भी तुम्हारा नहीं है। यह भी एक दिन चला जायेगा। तुम परिवार और कुटुम्ब की आसक्ति में बहुत बँधे हुए हो। पर यह नहीं जानते कि कोई किसी का नहीं है रे मानव, तुम एक बार जीते ही आँख मूँद कर झूठ-मूठ ही मर कर देखो। तुम्हें सब जगह अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देगा। यह ज्ञान हो जायेगा कि कोई भी किसी का नहीं है। तुम जीवन्मृत होकर देखो; ये सम्बन्ध मिथ्या प्रतीत होंगे। यह जगत् अज्ञान से अन्धा ही लगेगा व्यक्ति को मरने पर बस्ती में से खदेड़ दिया जाता है और उसे जंगल में वास करना पड़ता है वहाँ से यह मृत व्यक्ति घर को न खर्च भेजता है और न खबर ही। न वहाँ से स्वयं फिर लौट पाता है हाथी, घोड़ा, बैल और बैली—कितने धन का संग्रह किया था उसने; पर सब व्यर्थ। भीतर बीवी तथा महल में रखैल सुन्दर स्त्री रहती है, पर मृत मियाँ का अब वहाँ स्थान नहीं। उसे भीतर के महलों से निकाल कर बाहर के परकोटे या साल (सामान्य प्रकार के चारों ओर से बन्द कमरे में) डेरा दे दिया जाता है। यह जगत् केवल एक खेल है। इसे या तो ईश्वर रूप बाजीगर समझता है अथवा उसका चेला ही जो स्वयं तत्त्वज्ञ है। यह चेला संसार-रूपी खेल को कभी भी अत्यधिक आश्चर्य एवं आसक्ति से नहीं देखता है। यह चेला भी बहुत बड़ा चित्रकार है। अन्य सब व्यक्तियों के लिए यह जगत् एक रहस्य है। उनके लिये नौ मन सूत उलझा हुआ है। अर्थात् यह जीवन पाँचों इन्द्रियों तथा अन्तःकरण चतुष्टय—इन नौ के विषयों एवं वासनाओं का अथवा पाँचों तत्त्वों, तीनों गुणों तथा प्रतिबिम्ब इन नौ के मिश्रण के रहस्य का उलझाव है। जीवन का यह रहस्य सामान्य व्यक्ति से नहीं सुलझता है। उसके लिए जन्म-जन्म में यह रहस्य उलझता ही जाता है। अतः हे जीव, तुम भगवान् का भजन करो, ताकि तुम्हारा पुनर्जन्म न हो और न इस उलझन में पड़ो।

टिप्पणी— रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार। तिवारी जी ने कुछ भिन्न पाठ दिया है।

हावड़ि धावड़ि छनम गवावै।
कबहूँ न रांम चरन चित लावै ॥टेक॥
जहां जहां दांम तहां मन धावै, अंगुरी गिनतां रैनि बिहावै ॥
तृया का बरन देखि सुख पावै, साध की संगति कबहूँ न आवै ॥
सरग के पंथि जात सब लाई, सिर धरि पोट न पहुँच्या कोई।
कहै कबीर हरि कहा उबारै, अपणे पाय आप जो मारै ॥२३९॥

यह जीव विषय-वासनाओं की दौड़ धूप में ही जन्म व्यतीत कर देता है। वह कभी भी भगवान् के चरणों में चित्त नहीं लगाता है। जहाँ-जहाँ उसे धन दिखाई देता है, वहाँ-वहाँ उसका मन दौड़ता है। धन के लोभ की विकलता में वह अँगुलियों पर गिन-गिन कर रात व्यतीत करता है। स्त्री का मुख देखकर यह काम-ग्रस्त जीव अत्यधिक सुख का अनुभव करता है। साधु-संगति में वह कभी नहीं जाता है। स्वर्ग के मार्ग पर सब जाना चाहते हैं; पर सिर पर पाप-कर्म की पोटली रखकर कोई भी वहाँ नहीं पहुँच सका है। कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार लेता है, अर्थात् जान-बूझ कर असत् कर्मों में फँस जाता है, उसका भगवान् भी कैसे उद्धार करे। उद्धार के लिए जीव को अपनी कामना एवं प्रयास भी आवश्यक है।

प्राणी काहे कै लोभ लागि, रतन जनम खोयौ।
बहुरि हीरा हाथि न आवै, राम बिनां रोयौ ।।टेक।।
जल बूंद थैं ज्यनि प्यंड बांध्या, अग्नि कुंड रहाया।
दस मास माता उदरि राख्या, बहुरि लागी माया।।
एक पल जीवन की आश नांहीं, जम निहारे सासा।।
बाजीगर संसार कबीरा, जांनि ढारौ पासा।।२४०।।

रे प्राणी, लोभ में वशीभूप होकर तुमने रत्न-रूपी बहुमूल्य जन्म खो दिया है। यह हीरा-रूपी मानव-जीवन फिर नहीं मिलेगा। राम की भक्ति के बिना तुम पछता रहे हो। जल की बूंद को पिण्ड में बाँध दिया अर्थात् भगवान् ने कृपा करके रज और वीर्य की बूंद से यह तुम्हारा इतना बड़ा शरीर पैदा कर दिया है। उस कोमल वस्तु को, गर्भ को, उदर को अग्नि में भी सुरक्षित रखा। दस महीने तक ईश्वर उस गर्भ की पेट में रक्षा करते रहे बाद में ऐसे कृपालु भगवान् से भी उदासीन होकर तुम माया में लिप्त हो गये। तुमने यह नहीं सोचा कि इस जीवन की एक पल-भर के लिए आशा नहीं है। यम निरन्तर इसके श्वास गिनते रहते हैं। श्वास समाप्त होते ही यम इस शरीर को तुरन्त ले जायेंगे। कबीर कहते हैं कि यह जादूगर संसार है। इसमें जो सोच-समझ कर पाशा नहीं डालता है अर्थात् विवेकपूर्ण कार्य नहीं करता, वह उलझन में फँस ही जाता है।

टिप्पणी—'रूपक' का प्रयोग।

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ।
जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ ।।टेक।।
जो जारैं तौ होई भसम तन, रहत कृमि ह्वै जाई।
काचैं कुंभ उदिक भरि राख्यौ, तिनकी कौन बड़ाई।।
ज्यूं माषी मधु सचि करि, जोरि जोरि धन कीनो।
मूये पीछैं लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनो।।

ज्यूं घर नारी संग देखि करि, तब लग संग सुहेलौ।
मरघट घाट खैंचि करि राखे, वह देखहु हंस अकेलौ॥
रांम न रमहु मदन कहा भूले, परत अंधेरैं कूवा।
कहै कबीर सोई आप बंधायौ, ज्यूं नलनी का सूवा॥२४१॥

रे जीव, तुम धन, दौलत, साधन और सिद्धि के अहंकार में क्या फूले-फूले फिर रहे हो ? इनके कारण जन्म-मरण से मुक्त नहीं हुए हो। फिर उन दिनों को क्यों भूल गये हो, जब गर्भ में दस महीने तक उल्टे मुँह लटके रहे। इस शरीर का क्या अभिमान करते हो ? जलने पर यह भस्म हो जाता है (तुच्छता की व्यंजना)। अगर पड़ा रहता है तो कीड़ों में परिणत होता है (घृणित होने की व्यंजना) कच्चे घड़े में जो जल भर कर रख लेते हैं, वे क्या प्रशंसा के पात्र हैं ? जल से यह कच्चा घड़ा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। वैसे ही क्षणभंगुर शरीर को वासना के जल से भरने वाले भी प्रशंसनीय नहीं हैं। उससे यह कच्चे घड़े की तरह एक क्षण में ही नष्ट हो जायेगा। मधुमक्खी मधु इकट्ठा करती है पर उसका उपभोग कोई दूसरा ही करता है और उसी के कारण वह मारी जाती है। मानव भी धन एकत्र करता है। उसके प्रलोभन में वह नष्ट होता है और उस धन का भोग भी नहीं कर पाता है। मरने पर 'लो लो, बाहर निकालो,' 'प्रेत को इतनी देर क्यों रहने दिया' की आवाजें लगने लगती हैं। देहरी तक सुन्दर नारियाँ इस शव के साथ चलती हैं और उससे थोड़ी दूर आगे तक हितैषी एवं मित्र। श्मशान घाट तक ही कुटुम्बी लोग भी जाते हैं। आगे तो यह जीव अकेला ही जाता है, अतः हे जीव, काम-वासना में क्या भूले हो ? यह तो अँधेरे कुँए में गिरना है। भगवान् राम की भक्ति में क्यों नहीं रमते हो ? कबीर कहते हैं कि यह जीव तो स्वयं अपने आप ही माया और अज्ञान में नलिनी के तोते के समान बँधा हुआ है। यह अज्ञान जीवकृत है; उसके मिटाये ही मिटेगा। यही व्यंजना है।

टिप्पणी—रूपक, उपमा और दृष्टान्त अलंकार। बाँस की नली पर बैठने वाला तोता नली के उलट जाने से गिरने के भय के कारण उस नली को छोड़ता नहीं है; पर समझता यह है कि नली ने उसे पकड़ रखा है। वैसे ही जीव ने माया मोह को पकड़ रखा है; पर अज्ञान-वश समझता है कि माया-मोह ने उसे जकड़ रखा है। 'ज्यूं नलनी का सूवा' में यही व्यंजना है।

जाइ रे बिन हीं दिन देहा।
करि लै बौरी रांम सनेहा॥टेक॥
बालापन गयौ जोबन जासी, जुरा मरण भौ संकट आसी।
पलटे केस नैंन जल छाया, मूरखि चेति बुढापा आया॥
रांम कहत लज्या क्यूं कीजै, पल पल आउ घटै तन छीजै।
लज्या कहै हूं जम की दासी, एकै हाथि मुदिगर दूजै हाथ पासी॥
कहै कबीर तिनहुं सब हार्‌या, रांम नाम जिनि मनहु बिसार्‌या॥२४२॥

कबीर चेतावनी दे रहे हैं, 'रे जीव, दिन-प्रति-दिन यह आयु क्षीण हो रही है। री पागल जीवात्मा, भगवान् राम से प्रेम कर ले। तुम्हारा बचपन तो नष्ट हो ही गया है और यौवन भी चला जायेगा। वृद्धावस्था, मृत्यु एवं भव-भय आयेंगे। तुम्हारे बाल सफेद हो गए हैं, नेत्रों में बुढ़ापे का जल छा गया है। रे मूर्ख अब भी चेत। तुम्हें वृद्धावस्था ने घेर लिया। राम-नाम का स्मरण करने में लज्जा का अनुभव क्यों कर रहे हो? क्षण-क्षण में यह आयु कम हो रही है। यह राम-नाम के स्मरण से पराङ्मुख करने वाली लज्जा कह रही है कि मैं तो यम की दासी हूँ। मेरे एक हाथ में मुगदर है और दूसरे में फंदा। जो राम-नाम का स्मरण नहीं करते हैं, उनको इन्हीं से दण्डित करती हूँ। कबीर कहते हैं कि जिन्होंने राम-नाम भुला दिया है, वे सब यमराज के समक्ष पराजित हुए हैं।'

टिप्पणी—मानवीकरण। 'नाम-स्मरण में लज्जा' को यम की दासी कहाता व्यंगर्भित है। नाम-स्मरण' से मृत्यु पर विजय हो जाती है' की व्यंजना भी है।

मेरी मेरी करतां जनम गयौ।
जनम गयौ परि हरि न कह्यौ ॥टेक॥
बारह बरस बालापन खोयो, बीस बरस कछू तप न कीयौ।
तीस बरस कै रांम न सुमिर्यौ, फिरि पछितानौ बिरध भयौ॥
सूकै सरवर पालि बंधावै, लुणै खेत हठि बाड़ि करै।
आयो चोर तुरंग मुसि ले गयो मोरी राखत मुगध फिरै॥
सीस चरन कर कंपन लागे, नैंन नीर असराल बहै।
जिभ्या बचन सूध नहीं निकसै, तब सुकरित की बात कहै॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, धन संच्यो कछु संगि न गयौ।
आई तलब गोपाल राइ की मैंड़ी मंदिर छाड़ चल्यौ॥२४३॥

अहंभाव एवं अपने-पराये की भवना में ही मानव का यह सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ चला गया है। इस जीव ने जीवन तो सम्पूर्ण खो दिया पर भगवान् का नाम नहीं लिया। प्रारंभ के बारह वर्ष बचपन में बिता दिया। किशोर एवं युवा अवस्था के बीस वर्षों में भी यह किसी प्रकार की तपस्या नहीं कर पाया। इससे प्रौढ़ावस्था के तीस वर्ष भी राम का भजन नहीं हुआ। फिर जब वृद्ध हो गया तब पछताने लगा। जीवन खोकर चेतना भी क्या? यह तो सूखे हुए तालाब के चारों ओर मेंड़ बाँधना है; काटे हुए खेत के चारों ओर बाड़ लगाना है। कालरूपी चोर घोड़ा तो छीन कर ले ही गया है, अब तो मूर्ख या मुग्ध व्यक्ति उसकी खाली रास पकड़े घूम रहा है और इस भ्रम में है कि घोड़ा उसके अधिकार में है। अज्ञानी जीव इस शरीर के सारभूत अंश के समाप्त होने पर भी मृतप्राय शरीर को सचेतन शरीर समझ कर वहन कर रहा है। ईश्वर की भावना ही जीवन की सार्थकता है, वही सार है; वही घोड़ा है। उसको तो माया-मोह और अज्ञान ने छीन ही लिया है। अब तो सिर-पैर हाथ—सभी अंग काँपने लगे हैं और नेत्रों से व्यर्थ ही अजस्र अश्रुधारा बहती रहती

है । जीभ से सीधे वचन नहीं निकलते हैं । सम्पूर्ण शक्तियों के नष्ट हो जाने के बाद पुण्यों की बात करता है । कबीर कहते हैं 'रे संतो ! सुनो, इस जीव ने व्यर्थ ही धन का संचय किया । वह धन उसके साथ नहीं जा सका । ज्यों ही भगवान् का बुलावा आया, त्यों उसे मैड़ी, मंदिर, महल आदि को छोड़ कर जाना पड़ा ।'

टिप्पणी—रूपक दृष्टान्त और निदर्शना अलंकार ।

जाहि जाती नांव न लीया ।
फिरि पछितावैगो रे जीया ।।टेक।।
धंधा करत चरन कर घाटे, आउ घटी तन खींना ।
विषै बिकार बहुत रुचि मांनीं, माया मोह चित दीन्हां ।।
जागि जागि नर काहे सोवै, सोइ कब जगैगा ।
जब घर भीतरि चोर पड़ैंगे, तब अंचलि किस कै लगैगा ।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, करि ल्यो जे कछु करणां ।
लख चौरासी जोनि फिरौंगे, बिनां रांम की सरनां ।।२४४।।

रे मानव, जीवन को व्यर्थ जाते हुए देख कर भी अगर तुमने भगवान् का नाम-स्मरण नहीं किया तो तुम्हें बाद में पछताना ही पड़ेगा । संसार के इन धंधों में फँसे हुए तुम्हारे हाथ पाँव में टाकर (निशान) पड़ गये हैं । आयु घटती जा रही है और शरीर क्षीण हो गया है । जीव, तुमने विषय-विकार में बहुत रस लिया है और माया-मोह में मन लगाया है । रे जीव अब तो जाग इस, अज्ञान निद्रा में क्यों सो रहा है ? सो-सो कर कब जगेगा ? जब इस शरीर-रूपी घर में यमराज-रूपी चोर चुपचाप घुसेगा तो तब तुम किसका सहारा लोगे ? कौन-सी सुन्दरी के आँचल की शरण में जाओगे ? कबीर कहते हैं कि जो कुछ भी भगवान् का नाम-स्मरण आदि उचित कार्य है, उन्हें कर लो । भगवान् राम की शरण गए बिना तो चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भटकते ही रहोगे ।

माया मोहि मोहि हित कीन्हां ।
ताथैं मेरौ ग्यांन ध्यांन हरि लीन्हां ।।टेक।।
संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीवन सुपित समांन ।
सांच करि नरि गांठि बांध्यौ, छाड़ि परम निधांन ।।
नैंन नेह पतंग हुसैल, पसू न पेखै आगि ।
काल पासि जु मुगध बांध्या, कनक कांमिनीं लागि ।।
करि बिचार बिकार परहरि, तिरण तारण सोइ ।
कहै कबीर रघुनाथ भजि नर, दूजा नांहीं कोइ ।।२४५।।

जीव कहता है कि माया ने मोहित करके मुझे प्रेम के बन्धन में डाल दिया अथवा माया ने मुग्ध हो होकर प्रेम या क्षेम किया है। और इस प्रकार उसने मेरा सारा आत्म-बोध एवं ईश्वर का ध्यान ही हर लिया। यह संसार और जीवन स्वप्नवत् है। परमप्रेम के आगार भगवान् को छोड़कर मनुष्य ने धन संचित करके उसकी गाँठ बाँध ली है। उसी में आसक्त हो गया हूँ। मेरे नेत्र स्नेह से परिपूर्ण होकर पतंग की तरह प्रसन्न होते हैं और वासनाओं के दीपक में जाकर जलते हैं। पशु अज्ञानी है, वह आग की भीषणता नहीं देखता है, उसी में जल मरता है। यह अज्ञानी जीव भी उसी प्रकार कनक और कामिनी के प्रेम से काल के पाश में बँध जाता है। रे जीव, विचार करके इन विकारों का त्याग करो। यह दृढ़ धारणा बनाओ कि वह भगवान् ही इस संसार से उद्धार करने वाला है। कबीर कहते हैं, 'रे मानव, तुम भगवान् राम का भजन करो। इस जगत् में दूसरा कोई है ही नहीं, जिसका आश्रय लिया जा सके।'

टिप्पणी—उपमा और उदाहरण अलंकार।

ऐसा तेरा झूठा मीठा लागा।
तायें साचे सूं मन भागा ।।टेक।।
झूठे के घरि झूठा आया, झूठा खांन पकाया।
झूठी सहनक झूठां बाह्या, झूठें झूठा खाया ।।
झूठा ऊठण झूठा बैठण, झूठी सबै सगाई।
झूठे के घरि (रंगि) झूठा राता, साचे को न पत्याई ।।
कहै कबीर अलह का पंगुरा, साचे सूं मन लावौ।
झूठे केरी संगति त्यागौ, मन वांछित फल पावौ ।।२४६।।

हे भगवान्, तुम्हारी यह झूठी माया अत्यन्त मधुर लगती है। इससे मन सत्य एवं परमतत्त्व से पराङ्मुख हो गया है। इस संसार में जीव का आगमन मिथ्या के घर आना है। क्योंकि यह संसार भी मिथ्या है और जीव-भाव भी मिथ्या है। विषय-वासनाओं का भोग भी झूठा खाना-पकाना ही है बाणादिक चलाना एवं उनका सहन—ये दोनों ही मिथ्या हैं। मिथ्या ही मिथ्या का भोग कर रहा है। पारमार्थिक रूप से मिथ्या जीव-भाव वाला जीव इन असत् भोगों को भोगने का मिथ्या अहंकार मात्र वहन कर रहा है। यह उठना-बैठना एवं अन्य सम्बन्ध आदि सब परमार्थतः झूठे ही हैं। इस संसार का अनुराग मिथ्या का मिथ्या के घर में अनुरक्त होना ही है। पर इस संसार में सत्य-तत्त्व पर किसको विश्वास है? कबीर कहते हैं, 'रे परम तत्त्व के अंश जीव! तुम परम-तत्त्व-रूप सत्य में अपना मन लगाओ और इस मिथ्या संसार के प्रति आसक्ति छोड़ दो। इसी से तुम्हें मन वांछित फल की प्राप्ति होगी।''

टिप्पणी—जगत्, जीव-भाव, विषय-वासना आदि सबको मिथ्या कहने में कबीर ने मायावाद का प्रश्रय लिया है।

कौंण कौंण गया राम कौंण कौंण न जासी।
पड़सी काया गढ़ (घट) माटी थासी ॥टेक॥
इन्द्र सरीखे गये नर कोड़ी, पांचौं पांडौं सरिषी जोड़ी।
ध्रू अबिचल नहीं रहसी तारा, चंद सूर की आइसी बारा॥
कहै कबीर जग देखि संसारा, पड़सी घट रहसी निरकारा ॥२४७॥

हे राम, इस जगत् से कितने महान् लोग चले गये हैं ! कौन नहीं जायेगा ? शरीर-रूपी यह गढ़ या घर गिर कर मिट्टी हो जायेगा। इन्द्र के समान करोड़ों व्यक्ति चले गए हैं। पाँचों पांडवों जैसे वीरों की जोड़ी भी चली गई। यह ध्रुव तारा भी सदा नहीं रहेगा। चन्द्र और सूर्य के जाने का भी अवसर आयेगा। कबीर कहते हैं, 'रे मानव, इस नाशवान जगत् को देख। यह शरीर गिरेगा, और समाप्त हो जायेगा। पर वह निराकार परमतत्त्व रहेगा। वही शाश्वत-सत्य है।'

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार।

तार्थं सेविये नारांइणां।
प्रभू मेरो दीनदयाल दया करणां ॥टेक॥
जौ तुम्ह पंडित आगम जांणौं, बिद्या ब्याकरणां।
तंत मंत सब ओषदि जाड़ौं, अंति तऊ मरणां॥
राज पाट स्यंघासण आसण, बहु सुन्दरि रमणां।
चन्दन चीर कपूर बिराजत, अंति तऊ मरणां॥
जोगी जती तपी संन्यासी, बहु तीरथ भरमणां।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, अंति तऊ मरणां॥
सोचि बिचारि सबै जग देख्या, कहूँ न ऊबरणां।
कहै कबीर सरणाई आयौ, मेटि जामन मरणां ॥२४८॥

रे मानव, संसार मरणशील है; यही सोचकर तुम्हें भगवान् नारायण की सेवा करनी चाहिए। मेरे प्रभु, दीनदयाल हैं; दया करने वाले हैं। अगर तुम पंडित हो, शास्त्री-ज्ञानी हो, व्याकरण-विद्या जानते हो, तंत्र-मंत्र एवं सम्पूर्ण औषध का तुम्हें ज्ञान है; तब भी तुम्हें अन्त में मरना ही है। तुम्हारे राज-पाट है, तुम सिंहासन पर विराजते हो, अनेक सुन्दरियों में रमण करते हो, चन्दन और कपूर से चर्चित हो; तब भी तुम्हें अन्त में मरना ही पड़ेगा। चाहे कोई योगी है, यति है, तपस्वी या संन्यासी है, वह अनेक तीर्थों में भ्रमण किया हुआ है; लुंचित, मुंडित, मौनी, या जटाधारी है—किसी भी प्रकार का साधु है। पर अन्त में मृत्यु उन सबकी भी अवश्यम्भावी

है। कबीर कहते हैं कि मैंने यही सोच-समझ कर सारा संसार ढूँढ लिया है। पर व्यक्ति मृत्यु से कहीं भी नहीं बच सकता है। अतः हे भगवान्, मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूँ। मुझे जन्म-मरण से मुक्त करो।

पांडे न करसि बाद बिबादं।
या देही बिन सबद न स्वादं ॥टेक॥
अंड ब्रह्मंड खंड भी माटी, माटी नौनिधि काया।
माटी खोजत सतगुर भेट्या, तिन कछू अलख लखाया॥
जीवत माटी मूवा भी माटी, देखो ग्यान बिचारी।
अंति कालि माटी मैं बासा, लेटै पांव पसारी॥
माटी का चित्र पवन का थंभा, व्यंद संजोगि उपाया।
भांनैं घड़ै संवारै सोई, यहु गोव्यंद की माया॥
माटी का मंदिर ग्यान का दीपक, पवन बाति उजियारा।
तिहि उजियारै सब जग सूझै, कबीर ग्यांन बिचारा॥२४९॥

कबीर कहते हैं, "अरे पाण्डे, तुम वाद-विवाद मत करो। यह शरीर स्वाद-ज्ञान और शब्द-ज्ञान—दोनों से रहित है। यह तो जड़ है। वास्तव में इसे ये ज्ञान नहीं हो सकते; यह व्यष्टि शरीर, यह समष्टि जगत् और तो और इस विश्व का प्रत्येक अंश ही—सभी कुछ मिट्टी ही है। सब जड़ ही है। नवनिधि वाला यह शरीर भी मिट्टी से निर्मित है इसी जड़ एवं मिट्टी के संसार में अर्थात् तुच्छ एवं असत् जगत् में ढूँढते-ढूँढते, अथवा विभिन्न साधनाओं में भटकते-भटकते मेरी सद्गुरु से भेंट हो गई है। इसी से मुझे उस अलख तत्त्व के कुछ दर्शन होने लगे हैं। रे मानव, कुछ मनन करके देखो यह शरीर जीवित अवस्था में भी मिट्टी है और मरने पर भी मिट्टी ही है वास्तव में शरीर जड़ है, वह कभी चेतन हो नहीं सकता है। उसका चेतन से सम्बन्ध ही नहीं हो सकता है। उसमें चेतनता केवल प्रतिभासित होती है। अतः वह तथा कथित जीवित अवस्था में भी वस्तुतः मिट्टी ही है। इस शरीर का पर्यवसान भी मिट्टी में ही होता है। जीव लम्बे पाँव पसार कर मृत्यु शय्या पर लेट जाता है। उस समय अन्त में शरीर को मिट्टी बनाकर मिट्टी में ही रहना है। शरीर मृत अवस्था में तो मिट्टी ही है। यह शरीर मिट्टी का ही पुतला है और प्राणवायु का आधार लिये खड़ा है। इसे बिन्दु के संयोग से ही उत्पन्न किया जाता है। भगवान् ही शरीर-रूपी घड़ों को तोड़ता है, बनाता है और सँभालता है अथवा टूटे हुए घड़ों को वह भगवान् ही सँवारकर ठीक करता है। बिखरे हुए तत्त्वों को, बिखरी हुई मिट्टी को एकत्र करके उसको शरीर के रूप में भगवान् ही सँवार पाते हैं, यह भगवान् की ही अमोघ शक्ति है। यह पंचभूतों का ही शरीर है। इसमें चेतन का दीपक जल रहा है। प्राणवायु-रूपी बत्ती से इस चैतन्य का प्रकाश बाहर फैल रहा है। अर्थात् प्राण के

आवागमन से ही यह शरीर चेतन प्रतीत होता है। इसी ज्ञान-दीपक के प्रकाश से ही सम्पूर्ण संसार का ज्ञान होता है। कबीर कहते हैं कि मानव को शरीर-सम्बन्धी यह रहस्य समझ लेना चाहिए।

टिप्पणी— रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

मेरी जिभ्या बिस्न, नैन नारांइन, हिरदै जपौं गोबिंदा।
जंम दुबार जब लेखा मांग्या, तब का कहिसि मुकंदा ॥टेक॥
तूं ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना।
तैं सब मांगे भूपति राजा, मोरे रांम धियाना।
पूरब जनम हम ब्रांह्मन होते, ओछै करम तप हींनां।
रांमदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कींन्हां।
नौंमी नेम दसमीं करि संजम, एकादसी जागरणां।
द्वांदसी दांन पुंनि की बेलां, स्रब पाप ष्यौ करणां॥
भौ बूड़त कछू उपाइ करींजै, ज्यूं तिरि लंघै तीरा।
रांम नांम लिखि भेरा बांधौ, कहै उपदेस कबीरा ॥२५०॥

कबीर कहते हैं कि मेरी जीभ विष्णु का, नेत्र नारायण का तथा हृदय गोविन्द का जप करते हैं। पर, हे जीव, तुम से यम के द्वार पर जब हिसाब माँगा जायेगा तब तुम भगवान् को क्या जवाब दोगे? अथवा क्या तुम उस समय अपने मुख से मुकुन्द कह पाओगे? तुम तो ब्राह्मण हो और मैं काशी का जुलाहा हूँ। पर तुम मेरे ज्ञान को नहीं समझते हो। सब लोगों को भगवान् से पृथ्वी के आधिपत्य एवं राज्य की आकांक्षा है। पर मुझे तो भगवान् राम का ध्यान ही चाहिए। पूर्वजन्म में हम भी ब्राह्मण थे। हमारे ओछे कर्म थे और हम तप से क्षीण थे। भगवान् राम की सेवा में हमसे भूल रही। अतः भगवान् ने हमें पकड़ कर जुलाहा बना दिया। नवमी के दिन नियमादिक का पालन, दशमी को संयम, एकादशी को जागरण, द्वादशी को दान-पुण्य की बेला बनाना और इस प्रकार सब पापों का क्षय करना। इनसे पुण्य-संचय का अहंकार वहन करते हो पर ये पाप-क्षय के पूर्ण एवं सफल साधन नहीं हैं, अतः इस भवसागर में डूबने से बचने के लिए कोई और उपाय करना चाहिए जिससे इस भव सागर से तैर कर उस पार लग सको। भक्ति ही वह साधना है। अतः राम-नाम का स्मरण करते हुए बेड़े को बांधो, जिससे इस भवसागर को पार कर सको। कबीर का यही उपदेश है। उसका भक्ति की उच्चता में ही विश्वास है।

टिप्पणी—इसमें उच्च जाति में पैदा होने से नहीं, कर्मों से ही उच्च होता है। भक्ति ही उच्चतम कर्म है। यही व्यंजना है इसमें कबीर के ब्राह्मण कुल में जन्म लेने तथा बाद में जुलाहे के घर में पालन-पोषण प्राप्त करने की घटना का भी संकेत है

पुण्यों से ब्राह्मण-शरीर और सेवा-पूजा में कमी होने से हीन जन्म मिलता है, इस भारतीय धारणा की स्वीकृति भी है।

कहु पांडे सुचि कवन ठांव।
जिहि घरि भोजन बैठि खाऊं ।।टेक।।
माता जूठी पिता पनि जूठा, जूठे फल चित लागे।
जूठा आंवन जूंठा जांनां चेतहु क्यूं न अभागे ।।
अंन जूठा पांनी पुनि जूठा, जूठे बैठि पकाया।
जूठी कड़छी अन्न परोस्या, जूठे जूठा खाया ।।
चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी की बी कारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे जे हरि भजि तजहिं बिकारा ।।२५१।।

रे पाण्डे, कौन-सा स्थान पवित्र है, अर्थात् जूठा नहीं है, जहाँ पर बैठकर मैं भोजन करूँ? संसार का कोई भी स्थान, कोई भी वस्तु और कोई भी व्यक्ति नितान्त नवीन एवं अछूता नहीं है। सभी कुछ माया से उच्छिष्ट एवं भुक्त है। जीव भी शुद्ध चैतन्य नहीं है; वह भी माया से आवृत्त है। माया शुद्ध-चैतन्य पर ही आश्रित है और उसी को विषय बनाती है। जीव विषयों से भुक्त ही है। माता और पिता—दोनों ही जूठे हैं वे भी माया से लिप्त हैं। वे पहली बार ही माता-पिता नहीं बने हैं, अतः जूठे हैं। मानव का मन भी विषय-रूपी जूठे फलों में लगा हुआ है। विषयों का भोग तो आदिकाल से हो ही रहा है। उन्हीं विषयों के संस्कार मन में हैं, उन्हीं का भोग मन करता है अतः वे विषय अभुक्त नहीं, जूठे ही हैं। आना-जाना भी कई बार हो चुका है, अतः वह भी जूठा है। यह आना-जाना मिथ्या ही है। अतः हे अभागे जीव, अब भी चेत कर। अन्न और पानी सब जूठे हैं और इनको पकाने वाले भी जूठे हैं। जूठी कड़छी से यह अन्न परोसा गया है। खाने वाला भी जूठा है और जिस गोबर से इस चौके की जूठ उतारी गई है; वह गोबर भी जूठा ही है। इस चौके में जो कारा दी गई है, वह भी जूठी है, सम्पूर्ण जगत् में जूठ का ही अधिकार है। कबीर कहते हैं कि वे व्यक्ति पवित्र हैं जो भगवान् का भजन करके अपने हृदय के सम्पूर्ण विकारों को छोड़ देते हैं। उनका विषयों से स्पर्श नहीं होता, अतः वे जूठ से बच जाते हैं। भक्त जो आनन्द जगत् में भी लेता प्रतीत होता है; वह आनन्द भी भगवान् के स्वरूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित होने से अपने स्वरूप एवं भगवान् के स्वरूप का ही लीला-विलास है अतः जूठा नहीं। जूठा अपने स्वरूप से भिन्न ही हो सकता है, अपना स्वरूप नहीं। अतः अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित भक्त ही जूठे से परे होने के कारण पवित्र है।

टिप्पणी—'सर्वं उच्छिष्ठम्' की भावना को जागकर जगत् के प्रति वैराग्य या बाहरी चौके चूल्हे में पवित्रता नहीं, अपितु भक्ति तथा उसमें पूत अन्तःकरण ही वस्तुतः पवित्र है, वैराग्य के साथ इस भावना को जगाना ही इस पद का उद्देश्य है।

हरि बिन झूठे सब ब्यौहार।
केते कोऊ करौ गंबार ॥टेक॥
झूठा जप-तप झूठा ग्यांन रांम रांम राम बिन झूठा ध्यांन।
बिधि नखेद पूजा आचार, सब दरिया मैं बार न पार॥
इंद्री स्वारथ मन के स्वाद, जहाँ साच तहाँ मांडै बाद।
दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ, भर्म कर्म सब दिये बहाइ ॥१५२॥

भगवान् की भक्ति के बिना ये सारे सांसारिक व्यवहार झूठे हैं। भक्तिभाव के बिना ये व्यवहार जीव को उसके प्राप्तव्य की प्राप्ति नहीं करा पाते हैं, अतः झूठे ही हैं। चाहे अज्ञानी व्यक्ति उनमें कितना ही आसक्त है। सारा जप-तप झूठा है, सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान भी झूठा है। भगवान् की भक्ति से रहित सारे ज्ञान भी झूठे हैं। सम्पूर्ण ज्ञान का आधार भगवान् है। वही सब में ज्ञेय है। ऐसा न जानने पर सारा ज्ञान वस्तुतः अज्ञान ही है। विधि-निषेध तथा पूजा-आचार के अहंकार के सब इस भव सागर में डूबे हुए हैं। इनका कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं है। जहाँ सत्य की उपासना होनी चाहिए; वहाँ पर व्यक्तियों ने इन्द्रियों के विषयों एवं मन के स्वाद के लिए अनेक वादों और पूजा-पद्धतियों का विकास कर लिया है। इसी से भक्त कबीर ने इन सब भ्रमों को नष्ट करके भगवान् में अपना ध्यान लगा लिया है।

चेत नि (चेतनि) देखै रे जग-धंधा।
रांम नांम का मरम न जांनैं, माया कै रसि अंधा ॥टेक॥
जनमता ही रू कहा ले आयो, मरत कहा ले जासी।
जैसे तरवर बसत पंखेरू, दिवह चारि के बासी॥
आपा थापि अवर कौ निंदै, जनमत हीं जड़ काटी।
हरि की भगति बिनां यहु देही धवलोटै ही फाटी॥
कांम क्रोध, मोह मद मछर, पर अपवाद न सुणियें।
कहै कबीर साध की संगति, रांम नांम गुण भणिये ॥२५३॥

यह जीवन संसार के धन्धों को ही देखता है, उसमें ही आसक्त है। या, रे जीव, तू जागकर क्यों नहीं देखता है कि यह संसार जाल है। यह राम-नाम की अमोघ शक्ति को नहीं पहचानता है और माया के सुखों में अंधा हो रहा है। जन्म लेते समय यह जीव अपने साथ कौन-से वैभव लाया था और मरते हुए अपने साथ

इनमें से क्या ले जायेगा ? जैसे पक्षी चार दिन का मेहमान होकर पेड़ पर बसता है वैसे ही यह जीव भी इस संसार में केवल चार दिन का मेहमान है। आपा-धापी एवं अहंकार में यह जीव दूसरों की निंदा करता है। इसने जन्म लेते ही अपने ही मूल-तत्त्व परमात्मा से अपने आपको भिन्न मान लिया है। इस प्रकार इसने अपने जीवन का मूलसत्य ही खो दिया है। हरि की भक्ति के बिना यह शरीर विषय-वासनाओं में इधर-उधर हिलते-डुलते ही विदीर्ण हो गया है। अत: कबीर चेतावनी देते हैं, 'रे जीव, काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर में अपने आपको मत फँसने दो और दूसरों की निंदा भी मत सुनो' कबीर कहते हैं कि साधुओं की संगति करो तथा राम-नाम के गुणगान करो, ताकि इस संसार के मिथ्यातत्त्व में विश्वास जम जाय और इसके प्रति आसक्ति समाप्त हो जाय।''

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

रे जम नांहि नवै (नाहिन वै) व्यौपारी।
जे भरैं जगाति तुम्हारी ।।टेक।।
बसुधा छाड़ि बनिज हम कीन्हों, लाद्यो हरि को नांऊं।
रांम नांम की गूंनि भराऊं हरि कै टांडै जाऊं।।
जिनकै तुम्ह अगिवानी कहियत, सो पूंजी हंम पासा।
अबै तुम्हारौ कछु बल नांहीं, कहै कबीरा दासा ।।२५४।।

कबीर कहते हैं, ''रे यम, हम कोई नये व्यापारी नहीं हैं जो तुम्हारी चुंगी भरें। अथवा हम वे नये व्यापारी नहीं हैं जो तुम्हारी चुंगी भरें।'' अज्ञानी के कर्म पाप-पुण्य वाले होते हैं। इससे ऐसे जीवों पर यमराज का दण्ड धरने का अधिकार रहता है। यही चुंगी भरना है। मुक्त जीव कहता है कि हमने संसार की आसक्ति छोड़कर जन्म का व्यापार किया है। इसमें हमें हरि-नाम की प्राप्ति हुई है। हमने राम-नाम से अपनी जन्म-रूपी बोरी भर ली है। अब वाणिज्य के लिए हम भगवान् के टांडे के साथ हो लिये हैं। अर्थात् हमने अपने सम्पूर्ण कार्यों को ईश्वर के अर्पित कर दिया है। हे यमराज, इस प्रकार हमारा वाणिज्य तुम्हारी चुंगी से मुक्त है। जिस पूंजी के आधार पर, यमराज, तुम व्यक्तियों का स्वागत करते हो, वह ईश्वर-भक्ति रूपी पूंजी हमारे पास है। भक्त कबीर कहते हैं, ''यमराज, हमारे पर अब तुम्हारा कोई वश नहीं रहा है।''

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

मींयां तुम्ह हौं बोल्यां बणि नहीं आवै।
हम मसकीन खुदाई बंदे, तुम्हारा जस मनि भावै ।।टेक।।

अलह अवलि दीन का साहिब, जोर नहीं फुरमाया।
मुरिसद पीर तुम्हारै है को, कहो कहां थैं आया॥
रोजा करैं निवाज गुजारैं, कलमैं भिसत न होई।
सतरि काबे इक दिल भींतरि, जे करि जानैं कोई॥
खसमपिछांनि तरस करि जिय मैं, माल मनीं करि फीकी।
आपा जांनि सांई कूं जांनैं, तब ह्वै भिस्त सरीकी॥
मांटी एक भेष धरि नांनां, सब मैं ब्रह्म समानां।
कहै कबीर भिस्त छिटकाई, दोजग ही मन माना॥२५५॥

मियाँ, तुमसे कुछ कहते नहीं बनता। हम असहाय दीन और दु:खी तो खुदा के बंदे हैं, सेवक हैं। तुम्हारा मन जैसे चाहे वैसे हमें समझो। भगवान् तो सर्वप्रथम दीन व्यक्तियों के स्वामी हैं अथवा अल्लाह ही दीन-धर्म का सर्वप्रथम मालिक है। उन्होंने दूसरों पर, दीन व्यक्तियों पर; अत्याचार करने एवं जोर जमाने की आज्ञा नहीं दी है। ऐसा जोर-जबरन का सीधा मार्ग बताने वाले तुम्हारे गुरु और पीर कौन हैं? वे कहाँ से आये हैं? सबके मूल स्थान भगवान् से वे नहीं आये क्या, जो ऐसे जबरदस्ती का उपदेश देते हैं। रोजा रखने, नमाज पढ़ने और कलमा से स्वर्ग नहीं मिलता है। अगर कोई ठीक समझाने की चेष्टा करे तो समझ सकता है। कि अनेक काबे तो व्यक्ति के एक हृदय में ही हैं। अपने पति भगवान् को पहचान कर, हृदय में सबके प्रति करुणा का भाव जगाकर, वैभव के प्रति आसक्ति कम करके अथवा वैभव से जागे हुए अहंकार को फीका करके, अपने स्वरूप को पहचान कर एवं भगवान का साक्षात्कार करके ही स्वर्ग के आनन्द में शामिल हो सकते हैं, अर्थात् इन कर्मों से ही वास्तव में स्वर्ग का आनन्द लिया जा सकता है; जीवों पर जोर-जुल्म करने और नमाज आदि की बाहरी उपासनाओं से नहीं। मिट्टी एक ही है और सब बर्तन उसी के विभिन्न आकार हैं। इसी प्रकार सब रूपों में ब्रह्म समाया हुआ है। कबीर कहते हैं कि इसी विवेक को धारण करके मैंने स्वर्ग की आसक्ति छोड़ दी है और नरक से ही मन को आश्वस्त कर लिया है, अर्थात् इनमें मेरी भेद-बुद्धि नहीं रही। साधक नरक में भी ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। स्वर्ग और नरक दोनों में उसका वह आनन्द-स्वरूप ही विद्यमान है; अथवा कबीर कहते हैं, "रे मियां इस प्रकार जोर-जुल्म एवं बाहरी आडम्बरों में विश्वास करके तो तुमने वास्तव में स्वर्ग छोड़कर नरक में ही अपना मन लगा लिया है; इससे तो तुम्हें नरक ही मिलेगा।

अलह ल्यौं लांयें काहे न रहिये।
अह निहि केवल रांम नांम कहिये॥टेक॥
गुरमुखि कलमां ग्यांन मुखि छुरी, हुई हलाल पंचू पुरी॥

मन मसीति मैं किनहूं न जांनां, पंच पीर मालिक (मालिम) भगवांनां ।।
कहै कबीर मैं हरि गुंन गाऊँ, हिंदू तुरक दोऊ समझाऊं ।।२५६।।

कबीर कहते हैं, "रे भाई, भगवान् में लौ लगाकर क्यों नहीं रहते? रात-दिन केवल राम-नाम का स्मरण करते रहो। गुरु के मुख से तत्त्वोपदेश रूप कलमा सुन कर तथा ज्ञान-रूपी छुरी से पाँचों इन्द्रियों की इस पुरी रूपी शरीर को मैंने हलाल कर दिया है, अर्थात् इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्ति छोड़कर मैंने शरीर को ईश्वरार्पित कर दिया है। इस मन-रूपी मस्जिद के अन्दर प्रवेश करके किसी ने नहीं देखा है। वहाँ पर पंच पीरों के भी स्वामी एवं स्वयं भगवान् का निवास-स्थान है।" कबीर कहते हैं कि मैं उपासना के बाह्य ढोंगों को छोड़कर भगवान् के गुण-गान में ही लीन एवं अनुरक्त हूँ तथा हिन्दू-मुसलमान—दोनों को यही ज्ञान देता हूँ।

टिप्पणी—'कलमा' में अद्वैत ज्ञान है, अतः उसका सच्चा उपदेश प्राणिमात्र के प्रति समबुद्धि एवं प्रेम-भावना है। उसका सन्देश इन्द्रियों कर स्वाद नहीं, अपितु उनके विषयों के प्रति वैराग्य है। ऊपर की पंक्ति में कबीर यही व्यंजना करना चाहते हैं।

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, नां परि परेसांनी मांहि।
महल (सहर) माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूं नांहि ।।टेक।।
पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरू दरवेस।
कहाँ थे तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नेस ।।
कुरांना कतेबां अस पढ़ि, फिकरि या नहीं जाइ।
टुक दम करारी जे करै, हाजिरां सूर खुदाइ ।।
दरोगां बकि-बकि हूंहि खुसियाँ, बे-अकलि बकहि पुमांहि।
हक साच खालिक म्यानें, सो कछु सच सूरति मांहि ।।
अलह पाक तूंनापाक क्यूँ, अब दूसरा नाहीं कोई।
कबीर करम करीम का, करनीं करै जानै सोई ।।२५७।।

रे हृदय, अपने आप को खोज तथा अपने स्वरूप में ही दिल हरने वाले अपने प्रियतम को भी खोज। अन्य परेशानी में मत पड़। महल, धन, वैभव, प्रियजन, पत्नी—कोई भी सहायक नहीं है। तुमने गुरु, चेला, काजी, मुल्ला और फकीर—ये सब भेद कैसे और कहाँ से कर लिये हैं? यह सब विवेकशून्य बातें हैं। तुम्हारी सब बुद्धि नष्ट हो गई है। तुमने कुरान तथा अन्य किताबें इतनी पढ़ीं पर इनसे तुम्हारी सांसारिक चिंताओं की निवृत्ति नहीं हुई। जो अपने प्राणों पर थोड़ा नियन्त्रण करता है, उसी को ईश्वरीय आह्लाद का साक्षात्कार होता है। मिथ्या बातों को अर्थात् शास्त्र के वचनों को बक बक कर व्यक्ति प्रसन्न होता है। अज्ञानी व्यक्ति ही ऐसे बकते

हैं, प्रमत्त हो जाते हैं और इन पर गर्व करते हैं। इस जगत् में वस्तुतः केवल एक परम-तत्त्व वह सृष्टिकर्त्ता ही सत्य है। इन विभिन्न सूरतों में जो कुछ भी सत्य है, वह वही तत्त्व है। जब संसार में और कोई दूसरा है ही नहीं तो खुदा पाक है और तुम नापाक कैसे हो ? तुम भी तो ईश्वर के ही रूप हो। यह कबीर अर्थात् सभी प्राणी उस ईश्वर की सृष्टि है। जो सृष्टि करता है; वही उस सृष्टि के वास्तविक स्वरूप को पहचानता है। अथवा कबीर कहते हैं कि यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी दयालु भगवान् की है। उसका वास्तविक रहस्य वही समझ सकता है जो उस ईश्वर की उपासना करता है।

टिप्पणी—"सचु-साचु खलक खालिक स्याने सैल सुरति माहि"

अलह रांम जीऊं तेरे नांई।
बंदे ऊपरि मिहर करौं मेरे सांई ॥टेक॥
क्या ले माटी भुंइ सूं मारैं, क्या जल देह न्हवायें।
जोर करै मसकीन संतावै, गुन हीं रहैं छिपायें॥
क्या उजू जप मंजन कीयें, क्या मसीति सिर नांयें।
रोजा करें निमाज गुजारें, क्या हज काबै जांयें॥
ब्रांह्मंण ग्यारसि करै चौबींसौ काजी माह रमजांन।
ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि मांहि समांन॥
जौर खुदाइ मसीति बसत हैं, और मुलिक किस केरा।
तीरथ मूरति रांम निवासा, दुहु मैं किनहूं न हेरा॥
पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकांमा।
दिल ही खोजि दिलै दिल भींतरि, इहां रांम रहिमांनां॥
जेती औरति मरदां कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा।
कबीर पंगुड़ा अलह रांम का, हरि गुर पीर हमारा ॥२५८॥

हे अल्लाह ! हे राम ! मैं तुम्हारे ही नाम-स्मरण पर जी रहा हूँ। मेरे स्वामी, इस व्यक्ति पर तुम कृपा करो। जो जोर-जुल्म करता है, निर्बल व्यक्तियों पर अत्याचार करता है तथा अवगुणों को पूजा-पाठ के पाखण्डों से छिपाना चाहता है; उस व्यक्ति का गंगा अथवा अन्य किसी तीर्थ की मिट्टी लेकर अपने मिट्टी रूप शरीर पर मलने एवं उसके तीर्थ-जल से स्नान कराने से क्या लाभ है ? कबीर ऐसे ही व्यक्ति से कहते हैं, "रे अबोध, तुम्हारे बजू, मंजन और जप का क्या लाभ है ? मसजिद में सिर झुकाने से भी क्या होगा ? रोजा रखने, नमाज पढ़ने तथा हज एवं काबे जाने—केवल इन सबका भी क्या उपयोग है। ब्राह्मण चौबीसों एकादशियों को व्रत

रखता है। मुसलमान मुहर्रम मनाता है। पर इनका क्या उपयोग है? रमजान के महीनों को छोड़कर शेष ग्यारह महीनों को उसने अलग क्यों कर लिया? सभी महीने समान हैं। उस एक महीने में धार्मिक कृत्यों में समा जाने का पाखण्ड रचते हो और ग्यारह महीनों से धर्म की उपेक्षा करते हो। विशेष दिनों और मासों को शेष दिनों और मासों से अलग करने में ब्राह्मण और काजी दोनों ही एक समान हैं। अगर खुदा केवल मस्जिद में ही है तो शेष सारा संसार किसका है? वहाँ कौन है? तीर्थ और मूर्ति में राम का निवास है, पर उसके दर्शन तो वहाँ पर किसी ने नहीं किये। हिन्दुओं की दृष्टि में पूर्व दिशा में भगवान् का निवास है और मुसलमानों के मत में पश्चिम में अल्लाह ने अपना स्थान बना लिया है। इस प्रकार मुसलमान और हिन्दू-दोनों ही भगवान् को सर्वव्यापी नहीं मानते। रे मानव, तुम अपने हृदय को ही ढूँढो। वहीं पर तुम्हें राम और रहीम दोनों मिल जायेंगे। जितने स्त्री और पुरुष हैं; उन सबमें भगवान् का ही रूप विद्यमान है। "कबीर तो अल्लाह और राम दोनों का ही दास है: उन्हीं पर आश्रित है। हरि उसके गुरु और पीर दोनों ही हैं। उसने इन दोनों में अभेद के ही दर्शन किये हैं।

मैं बड़ मैं बड़ मैं बड़ माटी।
मण दस नाज टका दस गांठी ।।टेक।।
मैं बाबा का जौध कहाऊं, अपणीं मारीं गींद चलाउं।
इनि अहंकार घणें घर घाले, नाचत कूदत जमपुरि चाले ।।
कहै कबीर करता की बाजी, एक पलक मैं राज बिराजी ।।२५९।।

व्यक्ति को यह अहंकार हो जाता है कि 'मैं बड़ा हूँ' मैं बड़ा हूँ, पर यह बड़प्पन तुच्छ है; मिट्टी है। दस मन अनाज एवं गाँठ में दस रुपये होने के इस बड़प्पन का आधार कितना तुच्छ है! मैं बाबा का योद्धा हूँ अर्थात् गाँठ के मालिक का कृपा पात्र हूँ। यही सोचकर अपनी मारी हुई गेंद चला रहा हूँ अर्थात् मैं अपनी मनमानी करता हूँ। अपने शासन चलाने का मुझे अहंकार हो गया है। यह अहंकार अधिकांश व्यक्तियों के पीछे पड़ा हुआ है। इस अहंकार ने अनेक व्यक्तियों को वश में किया है और उन्हें नष्ट किया है। वे सभी अहंकारी नाचते-कूदते यमपुर चले गये हैं अर्थात् इन अज्ञानियों को यह चेतना भी नहीं जाग सकी कि वे अपने अहंकार से नरक जा रहे हैं। कबीर कहते हैं कि बाजी पड़ती है तो एक क्षण में ही वह सब उलट-पुलट कर देता है। उस समय यम का वश नहीं चलता।

काहे बीहो मेरे साथी, हूँ हाथी हरि केरा।
चौरासी लख जाके मुख मैं, सो च्यंत करैगा मेरा ।।टेक।।
कहौ कौन षिवै कहो कौंन गाजै, कहाँ थैं पांणी निसरै।
ऐसी कला अनंत हैं जाकै सो हंम कौं क्यूं बिसरै ।।

जिनि ब्रह्मांड रच्यौं बहु रचना, बाब बरन ससि सूरा।
पाइक पंच पुहमि जाकै प्रकटै, सो क्यूं कहिये दूरा॥
नैन नासिका जिनि हरि सिरजे, दसन बसन बिधि काया।
साधू जन कौं सो क्यूं विसरै, ऐसा है रांम राया॥
को काहू का मरम न जांनैं, में सरनांगति तेरी।
कहै कबीर बाप रांम राया, हुरमति राखहु मेरी॥२६०॥

कबीर माया-मोह को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, 'मेरे साथी, मैं क्यों डरूं? मैं तो भगवान् का साथी हूँ। उनकी प्रेरणा पर चलता हूँ। उनकी सवारी हूँ। मेरे कार्यों के माध्यम से उनकी ही इच्छा अभिव्यक्त हो रही है। चौरासी लाख योनियाँ जिसमें अन्तर्हित है, अर्थात् सम्पूर्ण जन्म-मरण का नाटक जिसकी सत्ता तथा जिसके आधार पर चल रहा है; वही भगवान् मेरी भी चिंता करेगा। कहो, इस बिजली में कौन चमकता है, यह गर्जना कौन करता है? यह जल की वर्षा कहां से होती है? यह सब उसी भगवान् की अपार शक्ति है। जिसकी ऐसी अनन्त शक्ति है वह मुझे अपने ही साथी को कैसे भूलेगा? जिसने इस ब्रह्माण्ड में अनेक रचनायें की हैं, अथवा जिसने इस ब्रह्माण्ड के अनेक कलाओं के साथ रचा है जिसने वायु, वरुण, चन्द्रमा और सूर्य को बनाया है, जिससे पाँचों अग्नि एवं यह पृथ्वी प्रकट हुए हैं; वह तो नितान्त सर्वव्यापी है, सबकी नियन्ता है। उसे दूर कैसे कहा जाय? जिस भगवान् ने नेत्र, नासिका, दांत, वस्त्र, शरीर आदि सब बनाये हैं, ताकि प्राणी को जीवन-यापन में किसी भी प्रकार की असुविधा न हो; इस प्रकार जिसने प्राणिमात्र का हर प्रकार से ध्यान रखा है; वह साधु भक्तों को कैसे भुला सकता है? भगवान् राजाराम तो ऐसे ही उदार हैं। कोई भी किसी का रहस्य नहीं समझता है। मैं तो भगवान् की शरण में हूँ। कबीर कहते हैं, 'हे पिता राजा राम, इस माया के उलझनों में मेरी इज्जत की रक्षा करो, ताकि मैं आपका होकर इसके चक्कर में न फंस जाऊं।"

टिप्पणी— भगवान् की शरणागति एवं उनके प्रति पूर्ण समर्पण-भाव का चित्रण है।

राग सोरठि

हरि कौ नांव न लेह गंवारा।
क्या सोचै बारंबारा॥टेक॥
पंच चोर गढ वंझा, गढ लूटें दिवस र संझा॥
जौ गढपति मुहकम होई, तौ लूटि न सकै कोई॥
अंधियारै दीपक चहिये, तब बस्त अगोचर लहिये॥

जब बस्त अगोचर पाई, तब दीपक रह्यौ समाई ।।
जौ दरसन देख्या चहिये, तौ दरपन मंजत रहिये ।।
जब दरसन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ।।
का पढ़िये का गुनियें, का वेद पुराना सुनियें ।।
पढ़े गुनें मति होई, मैं सहजै पाया सोई ।।
कहै कबीर मैं जांनां, मैं जांनां मन पतियानां ।।
पतियानां जौ न पतीजै, तौ अंधै कूं का कीजै (कहिये) ।।२६१।।

रे अज्ञानी, भगवान् का नाम क्यों नहीं लेता है ? बारम्बार इन सांसारिक चिंताओं में क्यों पड़ता है ? इसी शरीर-रूपी दुर्ग में काम-क्रोधादिक पाँच चोर हैं, और वे रात-दिन इस दुर्ग को लूट रहे हैं, अर्थात् जीव की शुद्ध चैतन्य की स्मृति एवं अपने स्वरूप में स्थित रहने की क्षमता को नष्ट कर रहे हैं। अगर दुर्गपति जीव-चैतन्य मजबूत है, अर्थात् अपने स्वरूप में दृढ़ रहे तो इस अन्तःकरण रूपी दुर्ग को कौन लूट सकता है ? अविद्या के अन्धकार को दूर करने के लिए बोध रूप या 'अहं ब्रह्मास्मि' की वृत्ति का दीपक चाहिए। उसी वृत्ति से अगोचर परमतत्त्व की उपलब्धि होती है। इस परमतत्त्व के साक्षात्कार में यह वृत्ति-रूप दीपक भी उसी तत्त्व में समाहित हो जाता है, अर्थात् परमतत्त्व के प्रकाश में जड़ वृत्तियां तथा उनमें प्रतिबिम्बित प्रकाश—दोनों ही समा जाते हैं। अगर किसी को उस तत्त्व का साक्षात्कार करना है तो अपने अन्तःकरण-रूपी दर्पण को स्वच्छ करे। जब तक इस दर्पण पर विषय-वासनाओं की काई लगी रहती है, तब तक उस तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता। पढ़ने और मनन करने तथा वेद-पुराण सुनने से क्या होता है ? क्या पढ़ने-पढ़ाने और मनन से वह ब्रह्माकार वृत्ति जागती है ? जब तक पढ़ने का और उसके द्वारा जाग्रत मतवादों का अहंकार है जब तक परम-तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं, उसका साक्षात्कार सहज भाव से होता है। कबीर कहते हैं कि मुझे तो वह तत्त्व सहज में ही प्राप्त हो गया है। मैंने उस तत्त्व को जान लिया है और उस तत्त्व में मेरी निष्ठा जम गई है। उस तत्त्व का ज्ञान होने तथा उसके प्रति श्रद्धा जागने पर भी जिसकी निष्ठा उस तत्त्व में नहीं जमी रहती है, उस अज्ञानी का क्या किया जाय ? या उसको क्या कहा जाय ?

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

अंधे हरि बिन को तेरा।
कवन सूं कहत मेरी मेरा ।।टेक।।
तजि कुलाक्रम अभिमांनां, झूठे भरमि कहा भुलांनां ।।
झूठे तन की कहा बड़ाई, जे निमष मांही जरि जाई ।।
जब लग मनहि बिकारा, तब लगि नहीं छुटै संसारा ।।

जब मन निरमल करि जांनां, तब निरमल मांहि समानां ॥
ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई ॥
जब पाप पुंनि भ्रम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी ॥
कहै कबीर हरि ऐसा, जहाँ जैसा तहाँ तैसा ॥
भूलै भरमि परै जिनि कोई, राजा रांम करै सो होई ॥२६२॥

रे अज्ञानी, भगवान को छोड़कर तेरा कौन है ? इस जगत् में तुम किसको अपना कह रहे हो ? इस कुल के कर्म तथा कुलीन के अहंकार तो छोड़ दो। इस मिथ्या भ्रम में कहाँ भूले हुए हो ? इस मिथ्या शरीर की क्या प्रशंसा करनी ? यह तो एक क्षण में ही नष्ट होने वाला है। जब तक मानव के मन में विकार है, तब तक इस संसार से मुक्ति नहीं है। जब व्यक्ति अपने अन्तःकरण को विषय-वासनाओं एवं अज्ञान से निर्मल कर लेता है; तब वह शुद्ध एवं निर्मल तत्त्व में समा जाता है। वही ज्ञानाग्नि है और वही ब्रह्म तत्त्व है। भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। जब पाप-पुण्य का भ्रम जल जायेगा, तब भगवान का प्रकाशमात्र अवशिष्ट रह जायेगा और वही विकीर्ण होता रहेगा। कबीर कहते हैं कि भगवान् का स्वरूप ही यह है कि जहाँ उसके लिए जैसा भाव या वासना है; अर्थात् वात्सल्य दाम्पत्य आदि जैसे भाव हैं भगवान् वहाँ पर वैसे ही स्वरूप को धारण कर लेते हैं। पर फिर भी भगवान् हैं अविकृत ही। भगवान् जैसे हैं तैसे ही हैं। उनका प्रतिपादन शब्दों के द्वारा भी नहीं किया जा सकता है। किसी को भी किसी भी भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। भगवान् राम जैसा करते हैं, वैसा ही होता है। जीव को इसी में दृढ़ विश्वास रखना चाहिए।

टिप्पणी—इसमें प्रधानतः ज्ञान और भक्ति का ही प्रतिपादन है। इस पर विज्ञानवाद अथवा भूततथतावाद का प्रभाव भी प्रतीत होता है। दो-एक पंक्तियों में सांसारिक नैरात्म्यवाद की ओर भी संकेत-सा है।

मन रे सर्‌यौ न एकौ काजा।
ताथैं भज्यौ न जगपति राजा ॥टेक॥
वेद पुरांन सुमृत गुन पढ़ि पढ़ि, पढ़ि गुन मरम न पावा।
संध्या गाइत्री अरु षट करमां तिन थैं दूरि बतावा ॥
बनखंडि जाई बहुत तप कीन्हां, कंद मूल खनि खावा।
ब्रह्म गियांनी अधिक धियानीं जंम कै पटैं लिखावा ॥
रोजा किया निमाज गुजारी, बंग दे लोग सुनावा।
हिरदै कपट मिलै क्यूं सांई, क्या हज काबै जावा ॥
पहर्‌यौ काल-सकल जग ऊपरि, मांहि लिखे सब ग्यांनी।
कहै कबीर ते भये षालसै, रांम भगति जिनि जांनी ॥२६३॥

रे अज्ञानी मन, तुमने संसार के स्वामी भगवान् का भजन नहीं किया, इससे तुम्हारा एक भी काम सिद्ध नहीं हुआ। तुम वेद, पुराण एवं स्मृति-समूहों को पढ़ते रहे एवं उनका मनन करते रहे, पर उस परमतत्त्व का रहस्य नहीं समझ सके। संध्या, गायत्री और छलों, कर्मों से परे का भी वह तत्त्व है। यह उनके द्वारा प्राप्त नहीं है। तुम घर छोड़कर वन में चले गए, बहुत-सा तप भी तुमने किया। तुम कंद-मूल-फल खोदकर खाते रहे और अनेक प्रकार से ध्यान भी किये। पर इन सब बाह्य उपचारों से केवल पाप-पुण्य की ही वृद्धि होती रही। इस प्रकार केवल यमराज का प्रभुत्व ही तुम पर बढ़ता रहा। तुमने रोजा रखे, नामाज भी पढ़ी, बांग देकर लोगों को भी अपनी प्रार्थना सुनाते रहे। पर इनका कुछ भी परिणाम नहीं हुआ। जब हृदय ही कपट से भरा हुआ है तो भगवान् कैसे मिल सकते हैं? कपटपूर्ण व्यक्ति के हज और काबे जाने से क्या लाभ है? सारे संसार पर काल का प्रभाव छाया हुआ है। जगत् की सारी भूमि यमराज के पट्टे में आ गई है। अथवा सम्पूर्ण जगत् पर काल ने प्रहार कर रखा है। उसमें ज्ञानी भी अर्थात् बौद्धिक ज्ञान वाले एवं ज्ञान के अहंकारी भी सम्मिलित कर लिये गए हैं। कबीर कहते हैं कि राम के भक्तों की जमीन सरकारी अधिकार की है। उस पर यमराज की चुंगी लागू नहीं है अर्थात् यमराज के प्रभाव से केवल राम-भक्त ही मुक्त रह सकते हैं।

टिप्पणी—रूपक और मानवीकरण अलंकार।

मन रे जब तैं राम कह्यौ।
पीछे कहिबे कौ कछू न रह्यौ ॥टेक॥
का जोग जगि तप दांनां, जौ तैं रांम नांम नहीं जांनां॥
कांम क्रोध दोऊ भारे, तार्थं गुरु प्रसादि सब जारे॥
कहै कबीर भ्रम नासी, राजा रांम मिले अबिनासी॥२६७॥

रे मन, जब से तुमने राम-नाम कहना शुरू कर दिया है, तब से अन्य कुछ भी कहने के लिए नहीं रह गया है। उसी में सब कुछ कहा गया है। भगवान् राम का नाम न जानने पर अर्थात् ईश्वर के महत्त्व का हृदय से साक्षात्कार किये बिना जप-तप और दान सब व्यर्थ हैं। काम और क्रोध अत्यन्त प्रबल होते हैं। इसीलिए उनको मैंने गुरु की कृपा से जला दिया है। कबीर कहते हैं कि मैंने माया के भ्रम को नष्ट कर दिया है और अब मुझे अविनाशी भगवान् राम की प्राप्ति हो गई है।

रांम राइ सो गति भई हंमारी।
मो पै छूटत नहीं संसारी ॥टेक॥
ज्यूं पंखी उड़ि जाइ आकासा, आस रही मन मांही।
छूटी न आस टूट्यौ नहीं फंधा, उडिबौ लागौ कांहीं॥

जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछु बनि आवै।
कुंजर ज्यूं कसतूरी का मृग, आपै आप बंधावै॥
कहैं कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी।
इत भैभीत डरौं जम दूतनि, आये सरनि तुम्हारी॥२६५॥

हे भगवान्, मुझसे संसार का मोह छूटता नहीं है, मेरी भी आकाश में उड़ने वाले पक्षी की सी अवस्था हो गई है। पक्षी अत्यन्त ऊँचे आकाश में उड़ता है पर भोजन-वासना के कारण पृथ्वी से बँधा रहता है। उसके मन की यह वासना जाती नहीं है। इसी कारण वह बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता है, उसका आकाश में उड़ने से क्या लाभ ? वैसे ही सांसारिक वासनाओं में बँधे हुए जीव के साधनाओं में ऊपर उठने से क्या लाभ ? जैसे हाथी हथिनी के मोह में स्वयं ही बँधता है, जैसे ही कस्तूरी का मृग सुगन्ध की वासना से स्वयं ही बँधकर इधर-उधर भटकता रहता है वैसे ही जीवन भी अपनी ही वासनाओं के मोह में फँस जाता है और अपने ही आनन्दस्वरूप को खोजता हुआ भटकता रहता है। हे मुरारी, मेरी सुनो। सांसारिक वासनाओं पर मेरा कोई वश नहीं है। मैं यमदूतों से भयभीत हूँ और तुम्हारी शरण में आया हूँ।

टिप्पणी—उदाहरण और उपमा अलंकार।

रांम राइ तूं ऐसा अनभूति अनूपम, तेरी अनभै थै निस्तरिये।
जे तुम्ह कृपा करौ जगजीवन, तौ कतहूं भूल न परिये॥टेक॥
हरि-पद दुरलभ अगम अगोचर, कथिया गुर गमि बिचारा।
जा कारंनि हम ढूंढ़ते फिरते, आथि भर्यो संसारा॥
प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जंम दुख द्वारा।
प्रगटे बिस्वनाथ जगजीवन, मैं पाये शरत बिचारा॥
देखियत एक अनेक भाई है, लेखत जात्य अजाती।
बिह कौ देव तजि ढूंडत फिरते, मंडम पूजा पाती॥
कहै कबीर करुणांमय किया मेरी गलियां बहु बिस्तारा।
रांम का नांव परंम पद पाया, छूटै बिघन बिकारा॥२६६॥

रे भगवान् आप साक्षात्, अनुभूतिस्वरूप अनादि, अनुपम एवं अद्वितीय हो। आपके अभय पद के साक्षात्कार अथवा आपकी अनुभूति से ही व्यक्ति भवसागर से पार हो सकता है। हे जगत् के प्राण, तुम अगर कृपा करते रहो तो मैं कहीं पर भी माया में भूलकर भटक नहीं सकता हूँ। भगवान् का स्वरूप अत्यन्त दुर्लभ, अगम्य एवं इन्द्रियों से अगोचर है। गुरु ने अपनी अनुभूति से प्राप्त विचारों में इसी प्रकार कहा है। जिस परमतत्त्व को हम ढूंढ़ते फिरते हैं, वह तो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। गुरु के उपदेश से वह ज्योति प्रकट हो गई है और उसके कपाट खुल गये हैं; उसका

आवरण दूर हो गया है । इस ज्योति से दुःख का द्वार रूपी यम नष्ट हो गया है । अब विश्वासरूप जगत् के प्राण प्रकट हो गये हैं । उनको मैंने विवेक और चिन्तन करते हुए प्राप्त किया है । वही एक तत्त्व अनेक भावों में देखा जाता है । वह अजन्मा हुआ सा वर्णित है । परमश्रेष्ठ देव को हम मंडम, पूजा, पत्रादिक में ही ढूँढ़ते रहें । कबीर कहते हैं कि करुणामय देव ने अनुग्रह करने में देरी की । उसने अनेक सम्प्रदायों के विस्तार में मुझे भुलाये रखा । अथवा हे भगवान् तुमने मेरे मार्गों का बहुत विस्तार किया है, मुझे साधना के अनेक मार्ग दिखाये हैं । पर अन्त में राम-नाम के स्मरण से ही परमपद की प्राप्ति हुई और इससे सभी विकार-रूपी विघ्न समाप्त हो गए ।

रांम रह्द को ऐसा बैरागी ।
हरि भजि मगन रहै बिष त्यागी ।।टेक।।
ब्रह्मा एक जिनि सिर्ष्टि उपाई, नांम कुलाल धरारा ।
बहु बिधि भांडे उनहीं घड़िया, प्रभु का अंत (पार) न पाया ।।
तरबर एक नांनां बिधि फलिया, ताकै मूल न साखा ।
भौजलि भूलि रह्या रे प्राणी, सो फल कबै न चाखा ।।
कहै कबीर गुर बचन हेत करि, और न दुनियां आथी ।
माटी का तंन मांटी मिलिहै, सबद गुरू का साथी ।।२६७।।

हे भगवान् ऐसा वैरागी कौन है, जो विषयों को छोड़कर भगवान् के भजन में मग्न रहे । भगवान् अज्ञेय हैं । ब्रह्मा ने सृष्टि बनाई और अपने को कुलाल की उपमा से विभूषित किया । ये अनेक शरीर-रूपी बर्तन उसी ने बनाये हैं । पर वह भी प्रभु के रहस्य को नहीं जान सका । माया-रूपी एक वृक्ष में अनेक प्रकार की विषय वासनाओं के फल लगे हैं । इस वृक्ष के न मूल है और न शाखा ही । अर्थात् माया असत् रूप है अतः इसका विस्तार भी केवल प्रतीत ही होता है; वह वास्तविक नहीं है । यह प्राणी संसार के विषयों के जल से भूला हुआ है अतः भक्ति और मोक्ष के जल को कभी चख ही नहीं पाया । कबीर कहते हैं कि गुरु के उपदेशों पर विश्वास करो । शेष संसार तो निरर्थक है । यह मिट्टी का शरीर मिट्टी में ही मिल जायेगा । केवल गुरु का उपदेश तथा उससे प्रतिपादित तत्त्व ही व्यक्ति के वास्तविक साथी हैं ।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार, 'प्रजापति' ब्रह्मा और कुम्भाकार—दोनों का नाम है, उसी का संकेत है ।

नैंक निहारि हो माया बीनती करै ।
दीन बचन बोलै कर जोरै, फुनि-फुनि पाइ परै ।।टेक।।
कनक लेहु जेहु जेता मनि भावै, कांमनि लेहु मन हरनीं ।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारी, राज लेहु सब धरनीं ।।

अठि सिधि लेहु तुम्ह हरि के जनां, नवैं निधि है तुम्ह आगें।
सुर नर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहै न मांगें॥
ते पापणी सबै संघारे, काकौ काज संवार्‌यौ।
जिनि-जिनि संग कियौ है तेरौ, को वेसासि न मार्‌यौ॥
दास कबीर राम कैं सरनैं, छाडी झूठी माया।
गुर प्रसाद साध की संगति, तहा परम पद पाया॥२६८॥

माया भक्तों से प्रार्थना कर रही है, 'हे भक्तो, कुछ मेरी ओर भी दृष्टिपात करो। वह हाथ जोड़कर बार-बार दीन बचन बोल रही है।' रे भक्त तुम्हें जितना सोना चाहिए उतना सोना लो। मन को हरण करने वाली सुन्दर नारी भी तैयार है। विद्वान् पुत्र लो। सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य ले लो। आठों सिद्धि एवं नव निधि तुम्हारे समक्ष है। जिन वैभवों और सिद्धियों को देवता, मनुष्य एवं सम्पूर्ण पृथ्वी के राजा माँगने पर भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं; वे सब तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत हैं। भक्त माया को उत्तर दे रहा है, "री, पापिन, तुमने सबका संहार किया है। तुमने किसका हित किया है? जिन-जिन लोगों ने तेरी संगति की है, उन सबको तुमने विश्वासघात करके नष्ट कर दिया है।" भक्त कबीर तो भगवान् की शरण में है। उसने झूँठी माया का त्याग ही कर दिया है। गुरु की कृपा से उसने सत्संग किया है और इस प्रकार उसने परमपद प्राप्त कर लिया है।

टिप्पणी—प्रश्नोत्तर शैली में माया और भक्त के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण है। इसमें उपनिषद् की विचारधारा की स्पष्ट झलक है।

तुम्ह घरि जाहु हंमारी बहनां।
विष लागें तुम्हारे नैंना॥टेक॥
अंजन छाडि निरंजन राते, ना किस ही का बेनां।
बलि जांउ ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक माइ एक बहनां॥
राती खांड़ी देखि कबीरा, देखि हमारा सिंगारौ।
सरग लोक थैं हम चलि आई, करन कबीर भरतारौ॥
सर्ग लोक मैं क्या दुख पड़िया, तुम्ह आईं कलि माँहीं।
जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहूँ पतीजौ नाँहीं॥
तहां जाहु जहाँ पाट पटंबर, अगर चंदन घसि लीनां।
जाइ हमारे कहा करौगी, हम तौ जाति कमीनां॥
जिनि हंम साजे साजि निवाजे, बांधे काचै धागें।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, पांणीं, आगि न लागें॥

साहिब मेरा लेखा माँगै, लेखा क्यूं करि दीजै।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, तौर पांहण नीर न भीजै॥
जाकी मैं मछी सो मेरा मछा, सो मेरा रखवालू।
टुक एक तुम्हारैं हाथ लगाऊँ, तौ राजा रांम रिसालू॥
जाति जुलाहा नाम्म कबीरा, बनि बनि फिरौ उदासी।
आसि पासि तुम्ह फिरि फिरि बैसो, एक माउ एक मासी॥२६६॥

कबीर वासना-रूपी माया को सम्बोधित करके कह रहे हैं "रे बहिन, तुम अपने घर जाओ। तुम्हारे नेत्रों में कामवासना का विष लगा हुआ है! मैंने तो सांसारिक माया का परित्याग कर दिया है तथा माया से रहित निरंजन एवं परमतत्त्व में अनुरक्त हो गया हूँ। अब मुझे तो किसी से कुछ लेना-देना नहीं है। मैं तो उस पर बलिहारी हूँ जिसने तुझे मेरे पास भेजा है। तुम मेरी माँ और बहिन हो।" माया ने कहा, 'रे' कबीर, देख मैं तुझ पर अनुरक्त एवं सजी हुई खड़ी हूँ। तुम मेरे शृंगार को देखो तो सही। मैं स्वर्गलोक से कबीर को अपने पति के रूप में वरण करने आई हूँ।" कबीर कहते हैं, "वहाँ स्वर्गलोक में कौन-सी विपत्ति आ गई कि तुम्हें यहाँ मर्त्यलोक में आना पड़ा। मैं तो जाति का जुलाहा हूँ। मेरा नाम कबीर है। अब भी तुम्हें मेरी तुच्छता पर विश्वास नहीं हुआ। अथवा जुलाहा अर्थात् सामान्य व्यक्ति होने पर ही तुम पर विश्वास नहीं करता हूँ। तुम उनके पास जाओ; जो रेशमी वस्त्र धारण करते हैं और अगर तथा चन्दन का घिसकर लेप करते हैं। माया हमारे यहाँ आकर क्या करोगी? हम तो छोटी जाति के हैं। जिस भगवान् ने मुझे यह रूप दिया है और मेरे रूप को इस प्रकार सजाया है; कि उस पर तुम इस प्रकार आसक्त हो गई हो; उसी भगवान् ने मुझे ईश्वर-प्रेम के कच्चे धागे से भी बाँध दिया है। उस कच्चे धागे की मैं रखवाली करता हूँ। उसको कहीं माया या विषयों का झटका न लग जाय। तुम चाहे कितना भी यत्न करो; पर पानी में आग नहीं लग सकती। भक्त-हृदय वासना की अग्नि से दग्ध नहीं हो सकता। मेरा स्वामी, जब मुझसे मेरे कार्यों का लेखा माँगेगा, तब वह हिसाब मैं किस प्रकार दे पाऊँगा? अतः तुम कितना ही प्रयत्न करो, पत्थर जल से भीगेगा नहीं। मैं भगवान् की मछली हूँ, वही मेरा मच्छ है, पति है। वही मेरा रक्षक भी है। अगर माया, मैं तुम्हें रंच भी स्पर्श कर लूँ तो राजाराम मुझसे रुष्ट हो जायेंगे। मैं तो जाति का जुलाहा हूँ। मेरा नाम कबीर है। मैं वन-वन में अर्थात् जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विषयों से उदासीन होकर घूम रहा हूँ। तुम मेरे आस-पास आकर बैठो। तुम मेरी माता और मौसी दोनों हो।"

टिप्पणी—संवाद शैली में माया के आकर्षण एवं भक्त का माया से असम्पृक्त रहने का वर्णन है। इसमें छोटे से कथानक का आवरण भी है। माया को माता, मौसी, बहिन आदि कहने से उसके आसक्ति एवं वासनामय रूप को हटाकर उसके

स्नेहमय तथा सात्विकता उत्पन्न करने वाले रूप का भक्त द्वारा ग्रहण वर्णित है। जीवभाव का कारण माया है; अतः वह माता है। पर जीव मूलतः चैतन्य है, वह जड़ माया से उत्पन्न नहीं होता है इससे माया का जीव के लिए विमातृत्व ही है। माता रूप में माया जीव को भक्ति और मोक्ष की ओर उन्मुख करती है और विमातारूप में उसको वासना में फँसाने वाली है।

इस पद में माया को बहिन, माँ और मौसी तीन रूपों में भक्त ने देखा है। माया अपने आपको भक्त के समक्ष भोग्या एवं पत्नी के रूप में प्रकट करना चाहती है। वह बहिन इसलिए है कि माया और जीव—दोनों का ही आदि कारण, अर्थात् पिता ब्रह्म है। दूसरे जहाँ विषयासक्ति माया का परिणाम है, वहाँ आत्मबोध और भक्ति भी उसी का रूप है। भक्ति की उद्भाविका माया भक्त की बहिन है। भक्त माया को बहिन की पवित्र भावना से देखना चाहता है। जीव-भाव की हेतु माया है; अतः माया माता है। पर आत्म-बोध वाले जीव को वस्तुतः माया से अपना जन्म नहीं प्रतीत होता है। जैसे ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि परमार्थतः माया से जीव का जन्म नहीं हुआ। जीव के पिता परमात्मा के साहचर्य से माया जगत को उत्पन्न करती है; अतः उसे इस कारण से भी वह मौसी रूप प्रतीत होती हैं। भक्त जीव को भोग्या रूप में माया की इच्छा नहीं। पर पवित्र भावनाओं को जन्म देने तथा संरक्षण करने वाली के रूप में तो माया उसे चाहिए। इसी से माता, मौसी और बहिन के रूप में भी माया की कल्पना है।

रूपकातिशयोक्ति, निर्दशना एवं उदाहरण अलंकार और प्रतीकों का प्रयोग है।

ताकौ रे कहा कीजै भाई,
तजि अंमृत विषै सूं ल्यो लाई ।।टेक।।
बिष संग्रहि कहा सुख पाया,
रंचक सुख कौं जनम गँवाया ।।
मन बरजैं चित कह्यौ न करई,
सकति सनेह दीपक में परई ।।
कहति कबीर मोहि भगति उमाहा,
कृत करणीं जाति भया जुलाहा ।।२७०।।

उस व्यक्ति को कैसे समझाया जाय तो भक्ति-रूपी अमृत को छोड़कर विषय-रूपी विष में आसक्त रहता है। जीव को विषयों के संग्रह से क्या सुख मिल सकता है? इस तुच्छ सुख के लिए व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन को नष्ट कर लेता है। भक्ति और मोक्ष जीवन के वास्तविक प्राप्तव्य हैं, उनके लिए विषयी जीव चेष्टा नहीं करता है। बुद्धि रोकती है पर आसक्त चित्त मानता नहीं है। वह अपने स्नेह की शक्ति में पागल होकर विषय-रूपी दीपक में पड़ जाता है। कबीर कहते हैं कि मुझे भक्ति का

उत्साह जाग गया है । मैं जाति से जुलाहा हूँ तो क्या है ? मैं भक्ति से जीवन में कृत-कार्य हो गया हूँ ।

रे, सुख इब मोहि बिष भरी लागा ।

इनि सुख डहके मोटे-मोटे छत्रपति राजा ॥टेक॥

उपजै बिनसै जाइ बिलाई, संपति काहू कैं संगि न जाई ॥

धन जोबन गरब्यौ संसारा, यहु तन जरि बरि ह्वै है छारा ।

चरन कवल मन राखि ले धीरा, रांम रमत सुख कहै कबीरा ॥२७१॥

भक्त और तपस्वी जीवात्मा अपने आपको सम्बोधित करके कह रही है, 'रे जीव, अब मुझे सांसारिक सुख विष की तरह प्रतीत होते हैं । बड़े-बड़े छत्रपति राजा भी इस विषय-सुख में भटक गए हैं । यह सांसारिक वैभव उत्पन्न होता है और बाद में नष्ट होकर इसी माया में विलीन हो जाता है । यह सम्पत्ति किसी के साथ नहीं जाती है । पर यह जगत् धन और यौवन के अहंकार में भूला हुआ है । यह यौवन पूर्ण शरीर जल कर भस्म हो जायेगा । अतः इस मन को भगवान् के चरण-कमलों में स्थिर करके उद्वेगों से मुक्त करो ।'' कबीर कहते हैं कि राम के अनुरक्त होने में ही जीवन का वास्तविक आनन्द है ।

इब न रहूं माटी के घर मैं ।

इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि मैं ॥टेक॥

छिनहर घर अरु झिरहर टाटी, घन गरजत कंपै मेरी छाती ॥

दसवैं द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयौ भारी ॥

चहूँ दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया ॥

कहै कबीर सुनहु रे लोई, भांनण घड़ण संवारण सोई ॥२७२॥

कबीर कहते हैं कि अब मैं इस मिट्टी के घर में अर्थात् शरीर में (मिट्टी से तुच्छता एवं क्षणिकता की व्यंजना) में आसक्त नहीं रहूँगा । अब तो मैं भगवान् से जाकर तदाकार हो जाऊँगा । यह वासनाओं का भंडार शरीर-रूपी घर अत्यन्त जीर्ण है और विषयों की आसक्ति से निर्मित इसके ऊपर का छप्पर भी सूराखों से पूर्ण एवं टूटा हुआ है । मृत्यु-रूपी वर्षा के जल को अब यह रोक नहीं पाता है । काल के बादल जब गरजते हैं तो मेरा हृदय कांपता है । गुरु-कृपा से दशम द्वार की ताली लग गई है; प्राण उसमें आबद्ध हो गए हैं । अतः दूर आना-जाना अर्थात् शरीर की रक्षा के प्रयास एवं साधनायें—भी दुर्वह हो गया है । इस अवस्था में उन साधनाओं की इच्छा भी नहीं रहती है । वैसे भी इस शरीर की रक्षा के लिए चारों ओर मन,

बुद्धि, चित्त और अहंकार रूपी चार पहरेदार बैठे रहते हैं उनके जागते हुए भी काल-रूपी चोर इस शरीर-रूपी नगरी को नष्ट-भ्रष्ट कर ही देता है। कबीर कहते हैं, "रे लोगो, रे लोई, सुनो। नष्ट करने वाला एवं बनाने और सँवारने वाला वह भगवान् ही है। उसके ध्यान से ही सब कुछ हो सकता है।"

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और रूपक अलंकार।

लोई कबीर का शिष्य था, ऐसी किंवदन्ती है। इस प्रकार इस पद में चरित-मूलक संकेत भी है।

कबीर बिगर्यौ रांम दुहाई,
तुम्ह जिनि बिगरौ मेरे भाई ॥टेक॥
चंदन कै ढिग बिरष जु भैला, बिगरि बिगरि सो चंदन ह्वैला॥
पारस कौ जे लोह छिवैला, बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला॥
गंगा मैं जे नीर मिलैला, बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला॥
कहै कबीर जे रांम कहैला, बिगरि बिगरि सो रांमहि ह्वैला॥२७३॥

कबीर कहते हैं "राम दुहाई; मैं तो भक्ति और ज्ञान की साधना से बिगड़ गया हूँ अर्थात् संसार के उपयुक्त नहीं रहा हूँ। पर मेरे भाई, तुम्हें अगर यह मार्ग प्रिय नहीं है तो तुम तो बिगड़ने से बचो। संसार में पगे रहो। यह तो जीवन का नियम ही है कि चन्दन के वृक्ष के पास जो वृक्ष रहेगा उसमें धीरे-धीरे परिवर्तन होगा ही; और वह बिगड़ कर चन्दन हो ही जायेगा। सत्संगति व्यक्ति को संत बना देती है। पारस पत्थर को जो लोहा छुएगा वही परिवर्तित होकर कंचन बन जायेगा। साक्षात्कृत गुरु के सम्पर्क से अज्ञानी जीव को ज्ञान जाग जाता है। नालों का भी जो पानी गंगा से मिलेगा, वह बदलते-बदलते पूर्णतः गंगाजल बन ही जायेगा। उसी प्रकार मनुष्य की वासनायें भी भक्ति में मिल कर भक्ति ही हो जायेंगी। जो राम-नाम का जप करेगा; धीरे-धीरे वह जीव अज्ञान से मुक्त होकर राम-रूप हो ही जायेगा। यही शाश्वत नियम है।'

टिप्पणी—'बिगरि' में लक्षणा और व्यंग्य है। तद्गुण अलंकार है। इसमें जीव के 'पारख' तत्त्व के साक्षात्कार से 'पारख' रूप हो जाने की व्यंजना है।

रांम राइ भई बिकल मति मेरी,
कै यहु दुनी दिवानी तेरी ॥टेक॥
जे पूजा हरि नाहीं भावै सो पूजनहार चढ़ावै।
जिहि पूजा हरि भल मांनैं, सो पूजनहार न जानैं॥
भाव-प्रेम की पूजा, ताथैं भयौ देव थैं दूजा॥

का कीजै बहुत पसारा, पूजीजै पूजनहारा ।।
कहै कबीर मैं गावा, मैं गावा आप लखावा ।।
जो इहि पद मांहि समांना, सो पूजनहार सयांना ।।२७४।।

कबीर कहते हैं 'हे भगवान्, मेरी बुद्धि ही खराब हो गई है या तुम्हारी दुनियाँ ही पागल है। भगवान् को जो पूजा प्रिय नहीं है; वही उपकरणों और ढोंगों की पूजा व्यक्ति करता है। जिस पूजा से भगवान् प्रसन्न होते हैं; उस पूजा का ज्ञान इस पूजने वाले को नहीं। भाव और प्रेम की पूजा करने के लिए ही जीव ब्रह्म से पृथक् हुआ है। यही पूजा उन्हें प्रिय है। पूजा के लिए इतने उपकरणों के प्रसार की क्या आवश्यकता है? पूजने वालों को ही पूजना चाहिए अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूप की पूजा करनी चाहिए, उसके प्रति भक्ति-भाव रखना चाहिए। कबीर कहते हैं कि मैंने इस पूजा के रहस्य को गाकर स्पष्ट कर दिया है मेरे गाने से ही मुझे आत्म स्वरूप का साक्षात्कार हो गया है। जो इस पद के भाव में समा जाता है; वही बुद्धिमान एवं विवेकी पूजने वाला है।

टिप्पणी—कबीर को महत्ता ध्वनित होने से इसमें व्यतिरेक की व्यंजना है।

रांम राइ भई बिगूचनि भारी,
भले इन ग्यांनियन थै संसारी ।।टेक।।
इक तप तीरथ औगांहैं, इक मांनि महातम चांहैं ।।
इक मैं मेरी मैं बीझैं, इक अहंमेव मैं रीझैं ।।
इक कथि कथि भरम लगांवें, संमिता सी बस्त न पावें ।।
कहै कबीर का कीजै, हरि सूझै सो अंजन दीजै ।।२७५।।

कबीर कहते हैं 'हे भगवान्, बड़ा भारी विकार जाग गया है। बड़ी भारी बर्बादी हो गई है। इन ढोंगी, वेषधारी ज्ञानियों से तथाकथित संसारी व्यक्ति ही अच्छे हैं। इन ज्ञानियों में कोई तो तप-तीर्थ आदि के चक्कर एवं अहंकार में हैं, वे तीर्थों के जाल में अवगाहन करते हैं तो दूसरों को मान-महत्ता की आकांक्षा है। एक 'मैं' और 'ममता' के भाव में ही बँधे हुए हैं तो दूसरे 'अहमेव' 'मैं ही हूँ' की अहंकार-जनित प्रसन्नता में डूबे हुए हैं। एक ज्ञानी अनेक प्रकार के सिद्धान्तों का वर्णन करके अपने आप को भ्रम में फँसाए हुए हैं। पर 'संवित्' सी आत्म-बोध जैसे वस्तु की प्राप्ति उन्हें भी नहीं हुई है। कबीर कहते हैं कि तथाकथित ज्ञान के पचड़ों का क्या उपयोग है? इससे समत्व रूप तत्त्व वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। उस ज्ञानार्जन का प्रयोग करो जिससे भगवान् का साक्षात्कार हो।

टिप्पणी—गृहस्थ होते हुए भी जो सच्चे ज्ञानी हैं उनकी प्रशंसा है तथा ज्ञान के अहंकार एवं ढोंग की भर्त्सना है। इसमें तत्कालीन जीवन की भी एक झलक है।

काया मं जस कौन गुनां,
घट भीतरि है मलनां ।।टेक।।
जौ तूं हिरदै सुध मन ग्यांनीं, तौ कहा बिरोलै पांनी।
तूंबी अठसठि तीरथ न्हाई, कड़वापन तऊ न जाई ॥
कहै कबीर बिचारी, भवसागर तारि मुरारी ।।२७६।।

कबीर विषयी एवं पूजा के बाहरी ढोंगों में फँसे हुए व्यक्ति को सम्बोधित करके कहते हैं 'रे विषयी जीव, जब तेरे अन्तःकरण में वासनाओं के मल भरे हुए हैं तो तेरे शरीर को मल-मल कर साफ करने का क्या उपयोग है। अगर तुम हृदय से शुद्ध हो विवेकपूर्ण मन वाले हो तो इन तीर्थों के जल को क्यों बिलोते फिरते हो? उससे क्या लाभ है? तुंबी जल में तैरती हुई उधर-उधर अनेक तीर्थों में स्नान कर लेती है, पर इससे उसका कड़ुवापन नहीं जाता है। उसी प्रकार तीर्थ-स्थान से मानव की वासना का कड़ुवापन समाप्त नहीं होता है। वह कड़ुवापन तो केवल भगवद्भक्ति से ही दूर हो सकता है। कबीर कहते हैं कि इन बातों का विचार करके मैं भगवान् से ही उद्धार करने की प्रार्थना करता हूँ।

पाठान्तर—ह्रिदै मुख ग्यांनी झूठें कहा विलोवसीपांनी। तिवारी

कैसे तूं हरि कौ दास कहायौ,
करि बहु भेष र जनम गंवायौ ।।टेक।।
सुध बुध होइ भज्यौ नहि सांई, काछ्यौ ड्यंभ उदर कै तांई ॥
हिरदै कपट हरि सूं नहीं सांचौ, कहा भयो जे अनहद नाच्यौ ॥
झूठे फोकट कलू मंझारा, रांम कहैं ते दास नियारा ॥
भगति नारदी मगन सरीरा, इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा ।।२७७।।

रे वेषधारी साधु, तुम भगवान् के भक्त कैसे कहलाते हो? तुमने तो अनेक भेषों में अपना जन्म ही खोया है। तुमने कभी भी दत्त-चित्त या शुद्ध-बुद्ध होकर अर्थात् मायारहित होकर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए भगवान् का भजन नहीं किया है। तुम तो पेट के लिए अनेक दम्भ तथा पाखण्डपूर्ण वेष ही बनाते रहे हो। तुम्हारे हृदय में कपट ही रहा है। तुमने कभी भी भगवान् से सच्चा प्रेम नहीं किया है। भक्ति के दिखावे में बेहद नाचते रहने से क्या लाभ है? अथवा अनहद नाद के श्रवण में मस्त होने से क्या होता है? इस झूठे एवं निरर्थक कलियुग में जो राम नाम कहते हैं, उन्हीं भक्तों का निस्तार होता है। कबीर कहते हैं कि अन्तःकरण को नारदीय भक्ति में अर्थात् अहेतुकी तथा प्रेमाभक्ति में तन्मय करके इस भवसागर से पार हो जाओ।

रांम राइ इहि सेवा भल मांनैं,
जैं कोई रांम नांम तत जांनै ।।टेक।।
रे नर कहा पषालैं काया, सो तन चीन्हि जहां थैं आया ।।
कहा बिभूति जटा पट बाँधैं, का जल पैंसि हुतासन साधैं ।।
रांम रांम दोई अखिर सारा, कहै कबीर तिहूँ लोक पियारा ।।२७८।।

जिसको राम-नाम के तत्त्व का ज्ञान है और जो भगवान् की ज्ञानपूर्वक उपासना करता है, उसी की सेवा को भगवान् अच्छा समझते हैं और स्वीकार करते हैं। रे मानव, इस शरीर को क्या धो रहा है ? उस मूल परमतत्त्व को पहचानने की चेष्टा क्यों नहीं करता है; जहाँ से तुम्हारा जन्म हुआ। भस्म रमाने, जटा रखने तथा विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करने का क्या उपयोग है ? तीर्थजल में अवगाहन तथा अग्नि की साधना का भी कोई उपयोग नहीं है। रकार और मकार अर्थात् 'राम' ये दो अक्षर ही मूल सार हैं; इनके स्मरण में ही जीवन की सार्थकता है। कबीर कहते हैं कि राम-नाम ही तीनों लोकों में वास्तव में प्रिय वस्तु है। वही सुन्दर एवं मंगलमय है।

टिप्पणी—ज्ञानलक्षणा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। कबीर की इसी मान्यता को यहाँ अभिव्यक्ति मिली है।

इहि बिधि रांम सूं ल्यौ लाइ।
चरन पाषैं निरति करि, जिभ्या बिनां गुंण गाइ ।।टेक।।
जहाँ स्वांति बूंद न सीप साइर, सहजि मोती होइ।
उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अंबर धोइ ।।
जहाँ धरनि बरषै गगन भीजै, चंद सूरज मेंलि।
दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, नरत हंसा केलि ।।
एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैंठे, उदै भई बनराइ ।।
जहां बिछट्यौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैंठौ जाइ।
जन कबीर बटाऊवा जिनि मारग लियौ चाइ ।।२७९।।

कबीर कहते हैं 'रे साधक, भगवान् राम के चरण-कमलों में नृत्य करते हुए तथा जिह्वा के बिना ही उनका गुणगान करते हुए अर्थात् भगवान् को आत्मसमर्पण करने में आनन्द का अनुभव तथा अन्तःकरण से उनके गुणों का साक्षात्कार करते हुए राम में अपना मन तन्मय कर लो। तभी तुम्हें मन-वाणी से अतीत अवस्था का आनन्द प्राप्त होगा। तभी तुम्हें स्वांति-बूँद, सीप और सागर के बिना ही उत्पन्न हुआ मोती अर्थात् कार्य-कारण सम्बन्धों से अतीत सहज अनुभूति रूप मोती प्राप्त

होगा। उन मोतियों अर्थात् विभिन्न प्रकार की समाधियों में परमानन्द-रूप जल भरा हुआ है। ये मोती प्राण-रूप पवन के शून्य शिखर में धोकर शुद्ध किये गए हैं अर्थात् यह अनुभूति प्राण-साधना के द्वारा वासना जनित विकारों से शुद्ध की गई है। धरती बरसने लगती है और आकाश भीगने लगता है। चन्द्रमा और सूर्य का मिलन हो जाता है अर्थात् इस अवस्था में मूल चैतन्य के आनन्द रूपी-जल की वर्षा से यह शून्य भीगता है अर्थात् जगत भी आनन्दित होता है अथवा कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होकर सहस्रबार कमल पर पहुँचने से शून्य गगन-मण्डल अमृत की वर्षा से अभिसिंचित हो जाता है। इस अवस्था में चन्द्र और सूर्य नाड़ी मिलकर तदाकार होने लगती है और ज्ञानी जीव या शुद्ध-बुद्ध आत्मा आनन्द की क्रीड़ा में मग्न हो जाता है। इस शरीर-रूपी वृक्ष में सुषुम्ना-मार्ग से ऊपर की ओर चलने वाली साधना-रूपी नदी का प्रवाह बहने लगता है और सहस्रार-रूपी स्वर्ण-कलश में आध्यात्मिक आनन्द आपूरित हो जाता है। इस समय साधक का हृदय आनन्द से भर जाता है। सद्वृत्तियों से परिपूर्ण अन्तःकरण रूपी वनराजि इस आनन्द से हरी-भरी हो जाती है और पाँचों इन्द्रियाँ और पंचप्राण रूपी तोते यहाँ आकर बैठ जाते हैं अर्थात् इन्द्रियाँ और प्राण बाह्य विषयों से विमुख होकर इस साधना के आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। कबीर कहते हैं कि मैं अब तक भगवान् से बिछुड़ा हुआ था, अब उसी भगवान् में मैं इसी साधना के बल पर तन्मय हो गया हूँ। अब मेरी अवस्थिति शून्य-गगन में हो गई है। यह भक्त कबीर परमपद के मार्ग का पथिक है और उसको अपना अभीप्सित मार्ग मिल गया है अथवा उसने चाव से (उत्साहपूर्वक) यह मार्ग लिया है।

टिप्पणी—रूपक एवं प्रतीकों का प्रयोग है। कबीर आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए भी कभी-कभी 'सूर्य-चन्द्र' के मिलन आदि क्रियाओं का प्रयोग करते हैं। कायायोग की सिद्धियों के वर्णन एवं उनकी वास्तविकता में न कहीं उनका अभिप्राय होता है और न उन्हें वे अपने आप में प्राप्तव्य प्रतीत होती हैं। फिर भी कबीर आनन्द दशा की अभिव्यक्ति के लिए कायायोग की कुछ अवस्थाओं का वर्णन करते हैं, उनके कुछ प्रतीकों का उपयोग करते हैं। यह ऐसा ही एक स्थल है। ऊपर के अर्थ में इसीलिए कायायोग के प्रतीकों का उपयोग किया गया है।

ताथ मोहि नाचिवौं न आवै,
मेरो मन मंदला न बजावै॥
ऊभर था ते सूभर भरिया, त्रिष्णां गागरि फूटी।
हरि चिंतत मेरौ मंदला भींनौ, भरम भोयन गयौ छूटी॥
ब्रह्म अगनि मै जरी जु ममिता, षाषंड अरू अभिमानां।
काम चोलनां भया पुराना मोपै होइ न आना॥

जे बहु रूप किये ते कीये, अब बहु रूप न होई।
थाकी सौंज संग के बिछुरे, रांम नांम मसि धोई।।
जे थे सचल सचल ह्वै थाके, करते बाद बिबादं।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, भया रांम परसादं।।१७०।।

कबीर कहते हैं कि भगवान् की अनुकम्पा से मुझे पूर्ण-तत्त्व की प्राप्ति हो गई है। इसी से मुझे अब माया-मोह में नाचना नहीं आता। मेरा मन-रूपी वाद्य अब विषय-वासनाओं से नहीं बजता है। अब तक जो मेरा मन भक्ति के जल से पूरा भरा हुआ नहीं था, रिक्त था वह अब उसी जल से परिपूर्ण हो गया है। तृष्णा-रूपी घट अब फूट गया है। राम-भजन करने से विषयों की ओर बढ़ने वाला मेरा मन-रूपी मंदल अब भीग गया है, इससे धीमा पड़ गया है। उसका भ्रम का भोयन (आटा जो जो वाद्ययंत्र पर लगाया जाता है) अब छूट गया है अर्थात् भ्रमरूपी आटा उस मंदल से छूट गया है अर्थात् मेरा भ्रम-विकार समाप्त हो गया है। ज्ञान की अग्नि में मेरी ममता, पाखण्ड और अभिमान जल गये हैं। मेरे काम-वासना का वस्त्र पुराना पड़ गया है; उसको मैंने त्याग दिया है। अब इसके बाद मेरे पास अन्य कोई नवीन वस्त्र धारण करने के लिए नहीं है। अर्थात् काम का त्याग करने के बाद मैंने अन्य किसी प्रकार की वासना को प्रश्रम ही नहीं दिया। अब तक मैंने इच्छाओं के वशीभूत होकर जो अनेक रूप धारण कर लिए सो कर लिए, पर अब भक्ति जागने पर मुझे अन्य रूप नहीं धारण करने हैं। कर्म-भोग की सम्पूर्ण सामग्री समाप्त हो गई है तथा वासना-रूपी मेरे सारे साथी बिछुड़ गये हैं। प्रारब्ध और संचित कर्म भक्तिपूर्वक साधे गये योग एवं ज्ञान से नष्ट हो गये हैं तथा अब क्रियमाण कर्मों के संस्कार नहीं बन रहे हैं। राम-नाम ने मेरी वासना की कालिमा धो दी है। जो वासनायें अब तक चंचल थीं और जो आपस में झगड़ती रहती थीं वे अब भक्ति में स्थिर होने से शक्तिहीन हो गई हैं। कबीर कहते हैं कि मुझे पूर्णतत्त्व का साक्षात्कार हो गया है तथा राम का अनुग्रह भी मिल गया है। इसी से उपर्युक्त सब बातें सम्भव हो सकी हैं।

टिप्पणी—ज्ञान और भक्ति का समन्वय ही जीवन की सार्थकता है। उससे जीवन के सामान्य क्रिया-कलापों को भी नवीन अर्थ प्राप्त हो जाता है। यही कबीर का दर्शन है।

इब क्या कीजै ग्यान बिचारा,
निज निरखत गत ब्यौहारा।।टेक।।
जाचिग दाता इक पाया, धन दिया जाइ न खाया।
कोई ले भरि सकै न मूका, औरनि पैं जानां चूका।।
तिस बाझ न जीया जाई, वो मिलै त धालै खाई।
वो जीवन भला कहाई, बिन मूंवां जीवन नांहीं।।

घसि चंदन बनखंडि बारा, बिन नैंननि रूप निहारा।
तिहि पूत बाप इक जाया, बिन ठाहर नगर बसाया ॥
जो जीवन ही मरि जानैं, तौ पंच सैयल सुख मांनै।
कहै कबीर सो पाया, प्रभु भेटन आप गँवाया ॥२८१॥

अब ज्ञान और चिंतन का क्या उपयोग रह गया है ? अब तो आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होने से सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार ही समाप्त हो गये हैं। इस जीव रूपी याचक को भगवान्-रूपी दाता मिल गया है और उसने भक्ति एवं आनन्द-रूपी धन दे दिया है। यह धन भोगने पर भी समाप्त नहीं होगा। कबीर की दृष्टि में भक्ति किसी अन्य वस्तु के लिए साधन नहीं है, जो साध्य को प्राप्त कराके समाप्त हो जाता है। भक्ति स्वयं साध्य ही है। भक्ति अहेतुकी होती है। प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। वह अपने ही स्वरूप की रागात्मक अनुभूति है। अतः वह भोग रूप होने पर भी क्षय को प्राप्त नहीं होती है। इस भक्ति-रूपी धन की कोई मुट्ठी भी नहीं भर सकता अर्थात् इसको कोई अंश छीना भी नहीं जा सकता है। जो किसी से भक्ति-रूपी धन प्राप्त करता है, उसको तो यह ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है पर जिससे लेता है, उसकी भक्ति कम नहीं होती है। अथवा वह प्रेम है जो एक बार भरपूर लिये जाने के बाद छोड़ा नहीं जा सकता है। भक्ति का रंग जब एक वार चढ़ जाता है तो छूटता नहीं। इस ऐश्वर्य के प्राप्त होने पर अन्यों के पास याचना करने जाना छूट जाता है। भक्ति रूपी आनन्द की प्राप्ति के बाद अन्य साधनाओं के पास जाने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इस भक्ति-रूपी आनन्द के बिना अब जीवन भी दूभर हो गया है। यह मिले तब ही परोसकर खाने की इच्छा होती है। अर्थात् इसी आनन्द में बनी रहने की आकांक्षा है। जब आत्मदर्शन मिलता है तब हमारे माया-ग्रसित रूप को खा डालता है। यह भक्ति का जीवन ही अच्छा कहलाता है। इस जीवन की प्राप्ति ही वासनाओं से हीन होने अर्थात् उनकी ओर से मर जाने से होती है। वास्तव में जब तक व्यक्ति विषय-वासनाओं की तरफ से नहीं मर जाता है अर्थात् उनकी आसक्ति का परित्याग नहीं कर देता है, तब तक वह वास्तव में जीवित नहीं है। जीवन की सार्थकता तो भक्ति में है। अतः भक्ति में जीना ही जीना है। जब व्यक्ति चन्दन घिसकर तथा वनखण्ड को जलाकर भगवान् को समर्पित कर देता है तब उसका बिना नेत्रों के भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। अर्थात् जो विषय-वासनाओं में आसक्ति को सूक्ष्म करते-करते उनको भक्ति-भाव में परिणत कर लेता है, उनमें भक्ति की सुगन्ध जगा लेता है एवं इसके साथ ही आशा-तृष्णा के वन-खण्ड को भी ज्ञान और वैराग्य की अग्नि से जला देता है. उसको अन्य साधना रूपी नेत्रों के बिना सहज भक्ति-भाव से ही भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है। ऐसे भक्त पत्र को ही भगवान् पिता ने वास्तव में जन्म दिया है अर्थात् ऐसे पुत्र का ही जीवन सार्थक है। ऐसा ही पुत्र बिना ठहरे हुए स्वयं नगर बसा लेता है अर्थात् सांसारिक विषयों

लिप्त हुए बिना ही संसार के व्यवहारों को चलाता रहता है अथवा इस भक्त जीवात्मा रूपी पुत्र ने अनासक्त भाव एवं ज्ञान-बोध रूपी पिता को जन्म दे दिया है जिससे इसका संसार में अनासक्त होकर रहना सम्भव हो सका है। जो जीवित अवस्था में विषय-वासनाओं की आसक्ति का परित्याग कर सकता है, उसी की पाँचों इन्द्रियाँ आनन्द का अनुभव करती हैं। कबीर कहते हैं कि मैंने भक्ति-भाव से ही उस परमतत्त्व को प्राप्त कर लिया है। भगवान् से मिलकर मैंने अपना पृथक् जीवभाव ही समाप्त कर दिया है।

टिप्पणी—विभावना, विरोधाभास अलंकार एवं प्रतीक योजना। 'पंचशैल' एक पर्वत विशेष है जो पौराणिक धारणा में सुख का स्थान है। यहाँ पर यह पंच तत्त्वों का प्रतीक भी माना जा सकता है। पंच तत्त्व—१. धर्म, २. दया, ३. शील, ४. विचार और सत्य।

बाप और पूत का रूपक--१ ईश्वर और जीव का सम्बन्ध, २. ज्ञान और भक्तिभाव का सम्बन्ध। यहाँ पर उलटबाँसी की प्रक्रिया में कबीर ने भक्तिभाव से ज्ञान-बोध के जन्म का भी संकेत किया है। यहाँ पहले की तरह दूसरा अर्थ भी ग्राह्य है।

अब मैं पायौ राजा रांम सनेही,
जा बिनु दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥
बेद पुरान कहता जाकी साखी, तीरथि ब्रति न छूटै जंम की पासी ॥
जाथैं जनम लहत नर आगैं, पाप पुनि दोऊ भ्रम लागे ॥
कहै कबीर सोई तत जागा, मन भया मगन प्रेम सर लागा ॥२८२।

कबीर कहते हैं कि अब मुझे मेरे प्रेमी भगवान् की प्राप्ति हो गई है। उसके बिना मेरा अन्तकरण दुःखी रहता है। वह परम आनन्द-स्वरूप एवं परम प्रेमास्पद है; अत: उसके वियोग में दुःख अवश्यम्भावी है। वेद, पुराण आदि इस बात के साक्षी हैं कि तीर्थ-व्रत आदि से यम का फंदा नहीं छूटता है। भक्ति ही इससे मुक्ति दिला सकती है। पार और पुण्य दोनों ही पुनर्जन्म के कारण हैं। भक्ति जागने पर पाप-पुण्य दोनों ही भ्रम प्रतीत होने लगते हैं। उनमें से किसी के साथ भी आसक्ति नहीं रहती है, अतः वे जन्म-स्मरण के हेतु भी नहीं बनते। कबीर में यही तत्त्वज्ञान जाग गया है। कबीर को भगवान् का प्रेमबाण लग गया है और उसका मन भक्ति में तन्मय हो गया है अथवा कबीर का मन प्रेमसरोवर में मंजन करता हुआ उसी में मग्न हो गया है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

बिरहिनी फिरै है नाथ अधीरा,
उपजी बिनां कछू समझि न परई, बांझ न जांनैं पीरा ॥टेक॥
या बड़ बिथा सोई भल जांनैं रांम बिरह सर मारी।
कै सो जांनैं जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी ॥

> संग की बिछुरी मिलन न पावें सोच करै अरु काहै।
> जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै रांम कं चाहै॥
> दीन भई बूझैं, सखियन कौं, कोई मोहि राम मिलावै।
> दास कबीर मीन ज्यूं तलपै, मिलै भलै सचुपावै॥२८३॥

हे भगवान्, यह विरहिणी आपके प्रेम में अत्यन्त अधीर हो गई है। तत्त्वज्ञान की उपलब्धि अथवा विरह-व्यथा की जागृति के बिना कुछ भी समझ में नहीं आता है। आपके अनुग्रह एवं प्रेम की प्रेरणा से जिसके हृदय में प्रेम की पीड़ा नहीं आ पाई है, वह विरहिणी-आत्मा की वेदना को समझ ही नहीं पाती है। जैसे प्रसव पीड़ा को बाँझ नहीं समझती है, वैसे ही अज्ञानी इस विररिणी जीवात्मा की प्रेम-पीड़ा नहीं समझती है। जीवात्मा की इस विरह व्यथा को वही अच्छी प्रकार समझ सकता है, जिसको स्वयं भगवान् राम के विरह का बाण लग चुका है। प्रेम पीड़ा की अनुभूति या तो उसे होती है, या उसे ज्ञात होती है जिसने यह पीड़ा उत्पन्न की है, अर्थात् जिसने यह प्रेम-पीड़ा दी है अथवा उसको जिसमें यह उत्पन्न हुई है। हे भगवान्, यह जीवात्मा आपसे बिछुड़ गई है और अब आपसे मिल नहीं पा रही है; इसी से वह गहरी चिंता में है। इसके सिवाय और उपाय ही क्या है? यह आपसे मिलने का यत्न कर रही है; उसके लिए युक्ति सोच रही है। यह जीवात्मा प्रियतम राम को ही निरन्तर रटती रहती है और उसी में पूर्णतः अनुरक्त है। भगवान् रूपी पति के न मिलने के कारण यह जीवात्मा दीन होकर अन्य भक्त आत्माओं रूपी सखियों से मिलन का उपाय पूछती रहती है। उनसे अनुनय करती है कि मुझे कोई राम से मिला दे। भक्त कबीर कहते हैं कि यह जीवात्मा मछली की तरह भगवान् रूपी जल के लिए तड़फ रही है। उनके मिलने पर ही इसे सच्चा सुख मिल सकता है।

टिप्पणी—रूपक, निदर्शना और उपमा अलंकार। कबीर की प्रेमानुभूति प्रधानतः भक्ति ही है, पर वह रहस्यवाद एवं भक्ति का अपूर्व समन्वय भी कहा जा सकता है। पदों को रहस्यवाद-परक अथवा भक्तिपरक के भेदों में बाँटना भी कठिन है। यह पद भी ऐसी ही समन्वित प्रेमानुभूति का विप्रलम्भ रूप है। प्रेम-पीड़ा देने वाला या तो स्वयं भगवान् है या गुरु है। कबीर प्रेम के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त मानते प्रतीत होते हैं क्योंकि प्रेम स्वयं प्रेम की पीड़ा का अनुभव करके ही प्रिय में यह पीड़ा जगा पाता है अन्यथा नहीं। प्रेमी प्रिय की पीड़ा इसीलिए जानता है।

> जा तनि बेदन जानैगा जन सोई,
> सारा भरम (मरम) न जांनै रांम कोई॥टेक॥
> चषि बिन दिवस जिसो है संझा,
> व्यावर पीर न जांनै बंझा।
> सूझै करक न लागै कारी,
> बैद बिधाता करि मोहि सारी।

कहै कबीर यहु दुख कासनि कहिये,
अपनें तन की आप ही सहिये ॥२८४॥

जिसके हृदय में ईश्वर-प्रेम की अनुभूति एवं पीड़ा है, उसी को वास्तव में भगवान् का साक्षात्कार है। भगवान् प्रेमस्वरूप है। प्रेम का साक्षात्कार प्रेम से ही हो पाता है। हे राम, प्रेम के इस सादे रहस्य को अथवा पीड़ा को कोई भी नहीं जानता है अथवा शेष संसार तो सारा भ्रम में है। राम का ज्ञान तो किसी-किसी को है। नेत्रहीन के लिए तो जैसा दिन है, वैसे ही सन्ध्या काल है। वंध्या स्त्री प्रसव की पीड़ा नहीं समझ सकती है। विरहिणी को अपने प्रेम की पीड़ा का साक्षात्कार होता है; और वह उसे बुरी नहीं लगती है। विरहिणी जीवात्मा भगवान् से प्रार्थना कर रही है "हे भगवान् रूपी वैद्य, मेरी व्यथा को ठीक करो" कबीर कहते हैं कि इस प्रेम-पीड़ा की बात किससे कहूँ? अतः अपने शरीर की पीड़ा के स्वयं सहने में ही कल्याण है।

टिप्पणी—दृष्टान्त अलंकार।

जन की पीर हो राजा रांम भल जांनै,
कहूँ काहि को मांनै ॥टेक॥
नैन का दुख बैंन जानै, बैंन का देख श्रवनां।
प्यंड का दुख प्रांन जांनै, प्रांन का दुख मरनां॥
आस का दुख प्यास जानैं, प्यास का दुख नीर।
भगति का दुख रांम जानैं, कहै दास कबीर ॥२८५॥

भक्त हृदय की पीड़ा भगवान् ही अच्छी प्रकार जानते हैं। उस पीड़ा की बात भक्त किससे कहे और कौन विश्वास करे? नेत्रों का दुःख वचन जानते हैं और वचनों की व्यथा कान। अर्थात् प्रियतम को न देख सकने की व्यथा वाणी में अभिव्यक्त होती है और उस व्यथा को ग्रहण करके कान दुःखी होते हैं। इस शरीर की व्यथा को प्राण समझते हैं क्योंकि वे ही शरीर की पीड़ा में व्यथित होते हैं। प्राणों की व्यथा का ज्ञान मृत्यु में हो पाता है। प्राणों की व्यथा की अन्तिम परिणति ही मृत्यु है। आशा में कितनी व्यथा निहित है, उसे इस आशा की पूर्ति का प्यासा जन ही अनुभव करता है। प्यासे व्यक्ति की व्यथा जल समझता है। जल ही उस प्यास की उष्णता को स्पर्श करता हुआ शांत करता है। उस स्पर्श में व्यथा एवं उष्णता का साक्षात्कार हो जाता है उसी प्रकार भक्ति से उत्पन्न व्यथा का ज्ञान राम को ही है। इसका साक्षात्कार भगवान ही कर पाता है क्योंकि यह व्यथा भगवान ने ही दी है। और वे ही उस व्यथा को दूर कर पाते हैं। जो करुणा से द्रवित होकर व्यथा को दूर करता है, उसे पहले व्यथा का अनुभूतिमय साक्षात्कार होता है तभी वह द्रवित होकर व्यथा दूर करने के लिए सचेष्ट भी होता है। कबीर का यही मत है।

टिप्पणी—निदर्शना अलंकार। लाक्षणिक एवं रहस्यात्मक शैली का उपयोग है। भावानुभूति का प्रत्यक्ष बुद्धि से नहीं अपितु अनुभूति से गम्य होने का वर्णन है।

तुम्ह बिन रांम कवन सों कहिये,
लागी चोट बहुत दुख सहिये ॥टेक॥
बेध्यौ जीव बिरह कै भालै, राति दिबस मेरे उर सालै,
को जांने मेरे तन की पीरा, सतगुर सबद बहि गयौ सरीरा॥
तुम्ह से बैद न हमसे रोगी, उपजी बिथा कैसे जीवैं बियोगी।
निस वासुरि मोहि चितवत जाई, अजहूँ न आई मिले रांमराई।
कहत कबीर हमकौं दुख भारी, बिन दरसन क्यूं जीवहि मुरारी ॥२८६॥

हे राम, तुम्हें छोड़कर मैं अपने मन की व्यथा किससे कहूँ? मुझे जो प्रेम-विरह की गहरी चोट लगी है, उससे अत्यधिक वेदना का अनुभव करना पड़ रहा है। मेरा जीव ईश्वर-प्रेम के भाले से बिंध गया है। यह व्यथा रात-दिन हृदय में चुभती रहती है। मेरे अन्तःकरण की व्यथा को कोई नहीं जानता। सद्गुरु का शब्द-बाण मेरे हृदय में चुभ गया है। उसी से प्रेम की पीर जाग गई है। रे भगवान् तुम्हारे समान कोई वैद्य नहीं है और मेरे समान कोई रोगी नहीं। उत्कट प्रेम-व्यथा जाग उठी है; इसमें वियोगी व्यक्ति कैसे जीवित रह सकेगा? हे भगवान, रात-दिन मैं आपकी बाट देख रहा हूँ। पर अभी आप मुझसे आकर नहीं मिले हैं; आपने मुझ पर अनुग्रह नहीं किया है। कबीर कहते हैं कि मुझे गहरा दुःख है। हे मुरारी आपके दर्शनों के बिना कैसे जीवित रह सकूँगा?

टिप्पणी—भक्ति का वियोग वर्णन है। रूपक अलंकार।

तेरा हरि नांमै जुलाहा,
मेरे रांम-रमण का लाहा ॥टेक॥
दससै सूत्र की पुरिया पूरी, चंद सूरि दोइ साखी।
अनत नांव गिनि लई मंजूरी, हिरदा कवल मैं राखी॥
सुरति सुमृति दोइ खूंटी कीन्हीं, आरंभ कीया बमेकी।
ग्यान तत की नली भराई, बुनत आतमां पेषी॥
अबिनासी धन लई मजूरी, पूरी थापनि पाई।
रन बन सोधि सोधि सब आये निकटै दिया बताई॥
मन सूधा कौ कूच कियौ है, ग्यान बिथरनीं पाई।
जीव की गांठि गुढी सब भागी, जहां की तहां ल्यौ लाई॥

वेठि बेगारि बुराई थाकी, अनभै पद परकासा।
दास कबीर बुनत सच पाया, दुख संसा सब नासा ॥२८७॥

हे भगवान्, मैं तेरे नामरूपी वस्त्र का बुनने वाला जुलाहा हूँ। मुझे तो इसमें भगवान् के प्रेम में रमण करने का आनन्द और लाभ मिल रहा है। मैंने हजार सूत्रों की पुड़िया भर ली है। अर्थात् अन्तःकरण की सहस्रों भावनायें ही इस नाम-स्मरण से आपूरित हो गई हैं और इस वस्त्र की उपादान बन गई हैं। चन्द्र और सूर्य इसके दोनों साक्षी हैं। इन सूत्रों को आपस में उलझने न देकर अलग-अलग बनाये रखने के लिए इड़ा और पिंगला नामक दोनों नाड़ियों को दो डडों (गोड़ों) का रूप दिया गया है। कायायोग और प्राणायाम से अन्तःकरण की वृत्तियाँ संयमित एवं व्यवस्थित हो जाती हैं। इस वस्त्र बुनने का पारिश्रमिक भी मैंने अनन्त नाम-स्मरण ही लिया है। इस अमूल्य निधि को मैंने अपने हृदय कमल में ही रखा है। इस हरि-स्मरण रूपी वस्त्र के लिए मैंने सुरति और स्मृति की दो खूँटियाँ बना ली हैं। इस प्रकार मैंने विवेक रूपी वस्त्र बुनना प्रारम्भ कर दिया है। मैंने ज्ञान-तत्त्व से नली भर ली है और इस प्रकार बुने हुए प्रेम के वस्त्र में से मैं अपनी ही आत्मा का साक्षात्कार कर रहा हूँ। इससे राग की सघनता अपने निषेध आत्मस्वरूप एवं भगवान् के ऐक्य तथा उनके रागात्मक स्वरूप के दर्शन — इनकी एक साथ ही व्यंजना है। अविनाशी भगवान् की प्राप्ति-रूप धन ही मुझे बुनाई की मजूरी में मिला है। इस प्रकार मैं पूर्णतः आत्मस्थित हो गया हूँ। अन्य साधक इस आत्म तत्त्व को इधर-उधर सब जगह के अनेक साधनाओं-रूपी अरण्यों और वनों में ढूँढ़ते रहे। मैंने इस तत्त्व का निकट ही अर्थात् अपने उन साधनों के स्वरूप में ही सहज रूप से निर्देश कर दिया। मैंने शुद्ध अन्तःकरण से इस प्रेम एवं नाम-स्मरण के वस्त्र की कूँची की है अर्थात् विषय-वासनाओं एवं दिखावों के ऊपरी मैल को साफ कर दिया है। इसके सभी सूतों को अलग-अलग रखने के लिए मैंने ज्ञान-रूपी विथरनी (अलग-अलग रखने वाला औजार) का उपयोग किया है। इस विवेक से जीव के मन की गाँठ और ममता की घुंडियाँ सब समाप्त हो गई हैं। अहंकार की गाँठों तथा ममता की घुंडियों से मुक्त होकर जीव की लौ यथास्थान लग गई है। माया के कार्यों में जो बैठे ठाले की बेगार थी; वह भी समाप्त हो गई। हरि-स्मरण से जीव को अभय-पद प्रकाशित हो गया है। कबीर कहते हैं कि इस हरि-स्मरण के वस्त्र को बुनते-बुनते ही उसे परम सत्य का साक्षात्कार हो गया है और उसके लिए दुःख-रूप संसार का नाश हो गया है।

टिप्पणी — रूपकातिशयोक्ति अलंकार। साधना के प्रतीकों का प्रयोग। हरि-स्मरण में ज्ञान और योग दोनों का योग भी है।

भाई रे सकहु तो तनि बुनि लेहु रे,
पीछै रांमहि दोसा न देहु रे ॥टेक॥
करगहि एक बिनांनी, ता भींतरि पंच परांनी ॥

तामैं एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै बिनासी ॥
जे तूं चौसठि बरियां धावा, नहीं होइ पंच सूं मिलावा ॥
जे तैं पांसै छसैं तांणी, तौ तूं सुख सूं रहे परांणीं ॥
पहली तणियां ताणां, पीछैं बुणियां बांणां ॥
ताणि बुणि मुरतब कीन्हां, तब रांम राइ पूरा दीन्हां ॥
राति भरत भई संझा, तारुणीं त्रिया मन बंधा ॥
कहै कबीर बिचारी, अब छोछी नली हंमारी ॥२८८॥

कबीर संसारी जीवों को चेतावनी दे रहे हैं 'रे भाई, अगर सम्भव हो तो हरिस्मरण रूपी वस्त्र को बुन लो इस शरीर रूपी करघे पर यह आत्मा ही बुनने वाला है। फिर इस शरीर के क्षीण हो जाने पर भगवान् को दोष मत देना। अथवा यह मानव-शरीर रूपी करघा विज्ञानमय और विवेकी है। यह सामान्य जड़ करघों से भिन्न है। इसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ये पांच प्राणी हैं। इनमें से एक अर्थात् प्रतिबिम्बित चैतन्य या साक्षी उदासीन है। इसको संसारी जीव ने अनेक विषय-वासनाओं में भटकाकर नष्ट कर दिया है अर्थात् शुद्ध चैतन्य को वासनाओं में लिप्त कर दिया है। अगर तुम चौसठ बार प्राणायाम करोगे तो मन, बुद्धि, अहंकार आदि पाँचों से तुम्हारा मिश्रण नहीं होगा? अथवा तुम दिन रात चौसठ घड़ी भी भागते रहो तब भी उक्त पाँचों एकाकार नहीं होंगे। अगर तुम पाँच सौ छ सौ ताना तानोगे तो सुख से रहोगे। अर्थात् अगर तुम पहले पाँचों कर्मेन्द्रियों को हरि-स्मरण में लगाने अथवा पाँचों प्राणों को उसी साधन की ओर उन्मुख करने रूप ताना तानोगे तथा बाद में मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ईश्वरोन्मुख करने अथवा षट्चक्रों में पंच प्राणों का संचार रूप बाना बुनोगे तो तुम्हें परम आनन्द की प्राप्ति होगी। यही क्रम है, पहले ताना तनाना चाहिए तथा बाद में बाना। अर्थात् पहले इन्द्रियों के विषयों को वश में करना चाहिए बाद में वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख। इस प्रकार जब ताने-बाने का अनुकूल स्वरूप बन जायेगा तब कहीं भगवान् इनके पूरे दाम देंगे। अर्थात् ताने-बाने से हरि-स्मरण रूप वस्त्र बुनने पर स्वयं राम ही पूर्ण तत्व के दर्शन रूप मजूरी देंगे। सामान्य व्यक्तियों को तो करघे से सम्बन्ध रखने वाले औजारों को भरने में ही अर्थात् इस वस्त्र के बुनने की पूजा-पाठ आदि प्रारम्भिक तैयारी में ही सायंकाल हो जाता है; उनके जीवन की सन्ध्या आ जाती है। उसके बाद वे अज्ञान-ग्रसित होकर रात्रि के अन्धकार में तृष्णा-रूपी तरुण स्त्री के मोह-पाश में फँस जाते हैं। कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि हमारी तो वस्त्र बुनने की नली के तमाम धागे ही हरि-स्मरण के वस्त्र में लग गये हैं। उनमें से एक भी शेष नहीं रहा अर्थात् कोई भी वासना एवं प्रारब्ध शेष नहीं रह गये हैं, सब ही हरि-स्मरण में लग कर समाप्त हो गये हैं। कबीर कहते हैं कि इसी से अब हमारा पुनर्जन्म नहीं होगा।

टिप्पणी—रूपक और व्यतिरेक अलंकार। इसमें प्रयुक्त करघे चौसठ आदि प्रतीकों के अर्थ व्याख्या में ही स्पष्ट कर दिये गये हैं।

वे क्यूं कासी तजें मुरारी,
तेरी सेवा चोर भये बनवारी ॥टेक॥
जोगी जती तपी संन्यासी, मठ देवल बसि परसैं कासी।
तीन बार जे नित प्रति न्हावैं, काया भींतरि खबरि न पांवैं ॥
देवल देवल फेरी देहीं नांव निरंजन कबहुं न लेहीं।
चरन बिरद कासी कौं न देहूं, कहै कबीर भल नरकहि जैहूं ॥२८९॥

हे मुरारी, जिन लोगों ने भगवान् की सेवा में चोरी की है, वे काशीवास कैसे छोड़ सकते हैं? अर्थात् सच्ची भक्ति के अभाव में व्यक्ति भयभीत होकर बाहरी उपकरणों से चिपटता ही है। योगी, यति, तपस्वी, संन्यासी—सब मठों और देवालयों में रहते हुए काशीवास का स्पर्श करते हैं अर्थात् उनको मठों आदि से आसक्ति है, काशीवास के प्रति सच्ची आस्था नहीं, उसका तो केवल बहाना मात्र है। वे नित्य-प्रति तीन बार स्नान करते हैं; पर काया के भीतर के मलों का खयाल भी नहीं करते हैं अथवा अन्तःकरण में विराजमान परम-तत्त्व की ओर ये ध्यान भी नहीं देते हैं। मंदिर-मंदिर में घूमते रहते हैं, पर निरंजन भगवान् का नाम भी नहीं लेते हैं। कबीर कहते हैं कि मोक्ष और स्वर्ग की प्राप्ति भगवान् के चरणों की सेवा और कृपा से ही सम्भव है। यह भगवान् के चरणों का यश मैं काशी को नहीं दूंगा; चाहे मुझे नरक में ही जाना पड़े। मुक्ति का श्रेय भगवान् को ही है, काशी को नहीं।

टिप्पणी—काशीवास की रूढ़िवद्ध धारणा का खण्डन।

तब काहे भूलौ बनजारे,
अब आयौ चाहै संगि हमारे ॥टेक॥
जब हम बनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे बनजी खारी।
जब हम बनजी परमल कसतूरी, तब तुम्ह काहे बनजी कूरी ॥
अंमृत छाड़ि हलाहल खाया, लाभ लाभ करि मूल गंवाया।
कहै कबीर हम बनज्या सोई, जाथैं आवागमन न होई ॥२९०॥

भक्त और ज्ञानी सन्त के रूप में कबीर अज्ञानी साधक से कह रहे हैं, 'रे साधक-रूपी बनजारे, अब तुम हमारे साथ आना चाहते हो, पर उस समय तुम व्यर्थ की साधनाओं में क्यों भटकते रहे? जब हम यम-नियम रूप लौंग सुपारी का व्यापार करते थे, उस समय तुम विषय-वासना-रूप क्षार के वाणिज्य में उलझे रहे। जब हम ज्ञान और भक्ति-रूप एवं अन्य सुगन्धित वस्तुओं का व्यापार करते थे, तब तुम कूड़ा वस्तुओं या कारी नामक घास-फूस के व्यापार में फँसे रहे अर्थात् व्यर्थ की

साधनाओं में उलझे रहे। तुमने भक्त-रूपी अमृत छोड़कर विषय-वासना के विष का पान किया है। तुमने सांसारिक लाभ की आकांक्षा में अपने शुद्धस्वरूप के मूल को ही खो दिया। कबीर कहते हैं कि हम तो उसी भगवद्-प्रेम के व्यापार में लगे रहे जिससे संसार का आवागमन ही छूट जाय। पर तुम इस भक्ति के व्यापार की ओर उन्मुख नहीं हुए।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

परम गुर देखौ रिदै बिचारी,
कछू करौ सहाइ हंमारी ।।टेक।।
लबा नाजि तंति एक संमि करि, जंत्र एक भल साजा।
सति असति कछू नहीं जानूं, जैसें बजावा तैसे बाजा।।
चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा।
इनके गुनह हमह काहि पकरौ, का अपराध हमारा।।
सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जांनां।
ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन मांनां ।।२६१।।

हे परमगुरु, आप अपने हृदय में विचार करके देखो तथा मेरी सहायता करो। भगवान् ने अनेक अंग-रूपी तुम्बा, डंडा और ताँत एकत्र करके यह शरीर रूपी अच्छा वाद्ययंत्र तैयार किया है। इससे निकलने वाली रागिनी मधुर है या कटु, इस शरीर से होने वाले कार्य सत् हैं अथवा असत्, यह मैं नहीं जानता। इस शरीर रूपी बाजे को जैसे वह बजाता है, वैसे ही यह बजता है; अर्थात् इस शरीर के सब कार्य उसी स्रष्टा की प्रेरणा से होते हैं। अतः इस शरीर के सभी कार्य सत् एवं मंगलमय ही हैं। इसमें काम-क्रोधादिक जो चोर हैं, वे भी हे भगवान्, तुम्हारे ही हैं। वे तुम्हारी आज्ञा से ही तुम्हारे इस शरीर-रूपी नगर को नष्ट-भ्रष्ट करते हैं। जीव कहता "हे भगवान्, इन चोरों के अपराध का दण्ड मुझे क्यों देते हो? इसमें जीव का क्या अपराध है?" असंगभाव एवं अकर्त्तापन को पहुँचा हुआ जीव भोक्ता भी नहीं रहता। उसका पाप-कर्मों के भोगों से भी कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। कबीर के हृदय में तो यह विश्वास सुदृढ़ जम गया है कि जो कुछ भगवान् और गुरु हैं, वही हम हैं। जब हमने अपने और पराये का भेद नहीं समझा तो भेद कैसा? जैसे जल में जल का प्रवेश होने के बाद वही जल वापिस नहीं निकल सकता है, वैसे ही जीवात्मा के परमात्मा में मिलन के बाद वे दोनों एकाकार हो जाते हैं। जीवात्मा उस परम तत्त्व से कभी पृथक् नहीं हो सकती है। कबीर कहते हैं कि हमारी जीवात्मा भी परमतत्त्व से पूर्णतः तदाकार हो गई है।

टिप्पणी—रूपक और उपमा अलंकार।

जीव के निर्लिप्त भाव, अकर्त्तापन, समर्पण एवं परमतत्त्व में विलय का सुन्दर तथा भावमय चित्रण है।

मन रे आइर कहां गयौ ।
ताथैं मोहि बैराग भयौ ।।टेक।।
पंच तत ले काया कीन्हीं, तत कहा ले कीन्हां ।
करमौं के बसि जीव कहत हैं, जीव करम किनि दीन्हां ।।
आकास गगन पाताल गगन, दसौं दिसा गगन रहाई ले ।
आंनंद मूल सदा परसोत्तम, घट बिनसै गगन न जाई ले ।
हरि मैं तन हैं तन मैं हरि है, है पुंनि नांहीं सोई ।
कहै कबीर हरि नांम न छाडूँ, सहजै होइ सो होई ।।२६२।।

रे मन, तुम आकर भी कहाँ चले गये ? एक बार ईश्वराभिमुख हुई मनःस्थिति अथवा कायायोग से प्राप्त अवस्था भी स्थिर नहीं रह सकी । कहाँ चली गई ? यह सोचकर कि मन अस्थिर है और वही मूल-तत्त्व नहीं है, मुझे इस मन से वैराग्य हो गया है । पंच तत्त्वों से इस शरीर का निर्माण हुआ है । पर इन पंच तत्त्वों को कहाँ से निर्मित किया गया है ? उनका मूलभूत कारण क्या है ? उस मूलभूत तत्त्व पर विचार करना चाहिए जीव कर्मों के वशीभूत है । पर इन जीवों को कर्मों के वशीभूत किसने किया है ? जीव को कर्म-समुदाय किसने दिए हैं ? वे सब उसके स्वनिर्मित हैं । आकाश के मूल में गगन-चैतन्य है और पाताल में भी वही चैतन्य है । दशों दिशाओं में वही गगन-चैतन्य तत्त्व विराजमान है । पुरुषोत्तम भगवान् ही शाश्वत आनन्द के मूल स्थान हैं । घर नष्ट हो जाते हैं पर उनका आकाश नष्ट नहीं होता । वैसे ही शरीर नाशवान् है, पर मूल चेतन तत्त्व तो शाश्वत है । शरीर भगवान् में है अर्थात् शरीर का अधिष्ठान भगवान् है एवं शरीर में भगवान् ही व्याप्त है, क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त कुछ है नहीं, अतः शरीर वस्तुतः भगवान् ही है । या फिर वह शरीर भी वास्तव में है नहीं । कबीर कहते हैं कि भगवान् का नाम-स्मरण नहीं छोड़ूँगा । उससे सहज रूप में जो जैसा होगा वैसा हो जायेगा । जो तत्त्व जैसा है, वह तत्त्व सहज रूप में वैसा ही है । उसके बारे में वाणी से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है । वह सहज भाव से ही प्राप्य भी है ।

पाठान्तर—छठी पंक्ति में 'सरब निरतर सोई रे' पाठ है ।

हमारै कौन सहै सिरि भारा ।
सिर की सोभा सिरजनहारा ।।टेक।।
टेढी पाग बड जूरा, जरि भए भसम कौ कूरा ।।
अनहद कींगुरी बाजी, ढब काल द्रिष्टि मैं भागी ।
कहै कबीर रांम राया, हरि [illegible] क्यौं मूंड मुंडाया ।।२६३।।

पाग आदि का सिर पर भार कौन सहे ? भगवान् के समक्ष नतमस्तक होने में ही सिर की शोभा है; पगड़ी धारण करने में नहीं। बड़प्पन के अहंकार को व्यक्त करने वाली टेढ़ी पगड़ी और बड़े-बड़े बाल जल कर भस्म का ढेर हो जाते हैं। जब अनहद नाद का बाजा बजने लगता है तो काल की दृष्टि का भय भी भाग जाता है। कबीर कहते हैं कि भगवान् राजाराम के प्रेम में अनुरक्त होकर मैंने अपना मूँड़ ही मुँड़ा लिया है अर्थात् अपने आपको भगवान् पर बलिदान करने के लिए हर प्रकार से तैयार कर लिया है।

टिप्पणी—'मूँड़ मुड़ाने' से सिर पर बाल तक न रखने के भाव से अपने अन्तरंग तक के समर्पण की व्यंजना है। फिर पाग जैसे बहिरंग साधनों के प्रति ममता का तो प्रश्न ही क्या है ?

कारनि कौंन संवारै देहा।
यहु तनि जरि बरि ह्वै है षेहा ॥टेक॥
चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरत काठ कै संगा।
बहुत जतन करि देह मुट्याई, अगिन दहै कै जम्बुक खाई ॥
जा सिरि रचि रचि बांधत पागा, ता सिरि चंच संवारत कागा।
कहि कबीर तब झूठा भाई, केवल रांम रह्यौ ल्यो लाई ॥२९४॥

इस देह को किसलिए सजाया और संवारा जाय ? यह शरीर तो जल भुनकर भस्म हो ही जायेगा। जिस शरीर को सुगन्धित एवं शीतल पदार्थों तथा चन्दन से चर्चित किया गया था, वह शरीर चिता में काठ के साथ जल रहा है। बहुत यत्नपूर्वक जिस शरीर को पुष्ट और मोटा किया जाता है; उसी को अग्नि जलाती है या गीदड़ खाते हैं। जिस शरीर पर सजा-सजा कर पाग बाँधी गई, मरने पर उसी शिर को कौओं ने चोंच लारकर सुशोभित किया। कबीर कहते हैं कि यह शरीर झूठा और नाशवान है अतः इसके प्रति आसक्ति छोड़कर केवल राम में ही अपना ध्यान लगाये रहो।

धन धंधा ब्योहार सब, माया मिथ्यावाद।
पांणीं नीर हलूर ज्यूं, हरि नांव बिना अपवाद ॥टेक॥
इक रांम नांम निज साचा। चित चेति चतुर घट काचा ॥
इस भरमि न भूलसि भोली। बिधना की गति है औली ॥
जीवते कूं मारन धावै। मरते कौं बेगि जिलावै ॥
जाकै हुंहि जम से बैरी। सो क्यूं सोवै नींद घनेरी ॥
जिहि जागत नींद उपावैं। तिहि सोवत क्यूं न जगावैं ॥
जलजंत न देखिसि प्रांनी (पानी)। सब दीसै झूठ निदांनीं ॥

तन देवल ज्यूं धज आछै। पड़िया पछितावै पाछै।
जीवत ही कछू कीजै। हरि रांम रसाइन पीजै ॥
रांम नांम निज सार है। माया लागि न खोई ॥
अंति कालि सिरि पोटली। ले जात न देख्या कोई ॥
कोई ले जात न देख्या। बलि बिक्रम भोज ग्रस्टा ॥
काहू के संगि न राखी। दीसै बीसल की साखी ॥
जब हंस पवन ल्यौ खेलै। पसर्‌यौ हाटिक जब मेलै ॥
मानिख जनम अवतारा। नां ह्वै है बारंबारा ॥
कबहूँ ह्वै किसा बिहांनां। तर पंखी जेम उडानां ॥
सब आप आप कूं जाई। को काहू मिलै न भाई ॥
मूरखि मनिखा जनम गंवाया। बर कौडी ज्यूं डहकाया ॥
जिहि तन धन जगत-भुलाया। जग राख्यौ परिहरि माया ॥
जल अंजुरी जीवन जैसा। ताका है किसा भरोसा ॥
कहै कबीर जग धंधा। काहै न चेतहु अंधा ॥२६५॥

कबीर कहते हैं कि यह धन तथा संसार के धन्धे अर्थात् व्यवहार—सब केवल मायारूप और असत् हैं। ये सब हिल्लोल से पानी में उठने वाली जल की लहर के समान क्षणिक हैं। भगवान् की प्राप्ति के बिना ये सब केवल निंदा के हेतु हैं। अथवा भगवान् के नाम के बिना अर्थात् उनकी सत्ता के अभाव में ये असत् हैं। व्यवहार का चैतन्य पर अध्यारोप होता है और फिर तत्त्वतः उसका अपवाद अर्थात् निषेध हो जाता है। 'अपवाद' से कबीर इसी का संकेत कर रहे हैं। केवल राम नाम ही मूल सत्य तत्त्व है। रे चतुर, अपने मन में विचार करके देखो। यह शरीर कच्चे घड़े के समान है। रे मुग्धा जीवात्मा, इस शरीर के भ्रम में मत भूलो। विधाता की गति अत्यन्त रहस्यमय एवं गुप्त है। भगवान् की माया विचित्र है। यह जीवित को मारने के लिए उद्यत रहती है और मरते हुए को शीघ्र ही जीवित कर देती है। जिस अज्ञानी जीव का यमराज के समान शक्तिशाली शत्रु है, वह गहरी नींद में कैसे सो सकता है ? उसे तो हर क्षण मृत्यु का भय ही बना रहता है। जो जागते हुए भी अज्ञान और मोह की नींद में सोया हुआ है, प्रभु उसको मोह-निद्रा से क्यों नहीं जगाते हो, ताकि वह निवृत्ति और भक्ति की ओर अग्रसर हो। गुरुज्ञान से कुछ प्रबुद्ध व्यक्ति भी मोह-निद्रा में सोने लगता है। वह भगवान् के अनुग्रह से ही सच्चे ज्ञान और भक्ति की ओर उन्मुख हो सकता है। प्राणी जल में छिपे हुए भयानक जन्तुओं को नहीं देख पाता है। पर वे तो उस प्राणी को खा जाते हैं। वैसे ही विषयानंद में छिपे हुए नाश को व्यक्ति देख नहीं पाता है; पर विषयों का अदृष्ट

नाशक रूप प्राणी को नहीं बख्शता है। पर अन्त में यह सब झूठा ही दिखाई पड़ने लगता है। जैसे जल के जीव पानी को नहीं देखते अर्थात् पानी का व्यवधान उसको दूर की वस्तुओं को देखने से रोकता नहीं, वैसे ही ज्ञानी की तत्त्व-दृष्टि व्यवहार-जगत् के व्यवधान के कारण अवरुद्ध नहीं होता। यह शरीर देवालय की तरह ध्वजा सहित सुशोभित रहता है अर्थात् अपने गौरव के अहंकार को फहराता रहता है। इस अहंकारपूर्ण शरीर को कोई स्थिर नहीं रख पाता है। भक्ति से विरत उस शरीर के पड़ने पर केवल पछतावा मात्र ही शेष रहता है। अतः व्यक्ति को जीवित रहते हुए ही कुछ करना चाहिए। उसे राम-रूपी रसायन का पान करना चाहिए। राम-नाम का स्मरण ही वास्तव में तत्त्व-वस्तु है। अतः मनुष्य को माया में फँस कर अपना जीवन नहीं खोना चाहिए। सांसारिक वैभव एकत्र करने वालों को भी हमने अन्तकाल में उस धन की गठरी को अपने सिर पर ले जाते हुए नहीं देखा है। बलि, विक्रम, भोज जैसे राजाओं का भी इस वैभव के साथ नहीं दिया। इसमें वीसलदेव की भी साक्षी है। जब जीव प्राणायाम के द्वारा शून्य तत्त्व में लौ लगकर क्रीड़ा करने लगता है तभी उसकी व्याप्त आनन्द-रूपी स्वर्ण की प्राप्ति हो जातीं है। अथवा जीव हवा के झोंके की तरह खेल जाता है, तब इस पसरे हुए बाजार के जगत को छोड़ जाता है। मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता है। ये प्राण स्थिर नहीं हैं। कभी भी ये समाप्त हुई कहानी बनकर ऐसे चले जायेंगे जैसे तरु छोड़कर पक्षी उड़ जाता हैं। संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने रास्ते अकेला ही जायेगा। कोई किसी से उस परलोक के रास्ते में नहीं मिल सकेगा। यह जानकर भी मूर्ख व्यक्ति अपना जन्म गवाँ देता है; कौड़ी के मूल्य में ही जीवन खो देता है। वासनाओं का मूल्य कौड़ी है; तुच्छ है और ईश्वर-प्रेम के लिए प्राप्त जीवन अमूल्य हीरा है। वासनाओं में जीवन बिता देना ही उसे कौड़ी के बदले खोना है। जिस शरीर, धन आदि की माया में संसार भूला हुआ है; और जगत् जिसकी रक्षा में लीन है, उसी माया का परित्याग करो। यह जीवन जल की अंजलि के समान क्षण-स्थायी है। इसका क्या विश्वास है ? कबीर कहते हैं कि यह संसार माया में अंधा हो रहा है। रे अज्ञानी, तुम क्यों जागते हो ?

टिप्पणी— रूपक और उपमा अलंकार।

रे चित चेति च्यंति लै ताही।
जा च्यंतत आपा पर नांही ।।टेक।।
हरि हिरदै एक ग्यांन उपाया, ताथैं छूटि गई सब माया।।
जहां नाद न ब्यंद दिबस नहीं राती, नहीं नरनारि नहीं कुल जाती।।
कहै कबीर सरब सुख दाता, अविगत अलख अभेद विधाता ।।२९६।।

रे चित, तुम सावधान होकर उस भगवान् का ध्यान करो जिसके चिन्तन से अपने और पराये का भेद नष्ट हो जाता है। भगवान ने हृदय में वह ज्ञान उत्पन्न

कर दिया है जिससे सम्पूर्ण माया-मोह का बन्धन छूट गया है। उस परमतत्त्व के साक्षात्कार की अवस्था में न नाद है और न विन्दु ही। वहाँ पर नर, नारी, कुल एवं जाति का किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। वही सम अवस्था है। कबीर कहते हैं कि उसी सम अवस्था में विराजमान अविगत, अलख एवं अभेद रूप भगवान ही सम्पूर्ण प्रकार के सुखों का देने वाला हैं। उसी का ध्यान सच्ची साधना है।

टिप्पणी—'परम तत्त्व' के साक्षात्कार की अवस्था में नाद और बिन्दु के भी न होने की बात कह कर कबीर ने परमतत्त्व को कायायोग से प्राप्त अवस्था से भी अतीत कह दिया है।

सरवर तटि हंसणीं तिसाई।
जुगति बिनां हरि जल पिया न जाई ॥टेक॥
पीया चाहै तो लै खग सारी, उड़ि न सकै दोऊ पर भारी ॥
कुंभ लीयैं ठाढी पनिहारी, गुन बिन नींर भरै कैसैं नारी ॥
कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिलै रांम राई ॥२६७॥

यह महान् आश्चर्य है कि परमात्मा-रूपी आनन्द-सरोवर के तट पर भी यह जीवात्मा रूपी हंसिनी प्यासी ही है। उसे परम आनन्द की अनुभूति नहीं होती है। परमतत्त्व तो नित्य आनन्द-स्वरूप है और जीवात्मा उसी का स्वरूप है; अतः वह उस आनन्द-सरोवर में निरन्तर निमग्न ही रहती है। ऐसी अवस्था में भी उसे सांसारिक दुःख व्यापते हैं; यही आश्चर्य है। पर साधना और ज्ञान की युक्ति के विना भक्ति का अमृत जल भी नहीं पिया जा सकता है। रे जीव, अगर तुम इस जल का पान करना चाहते हो तो अपने अन्तःकरण रूपी पक्षी को ठीक कर लो। उस पक्षी को आनन्द-सागर की ओर ले जाओ। द्वैत-भाव तथा अज्ञान एवं संसय के कारण इस अन्तःकरण रूपी पक्षी के दोनों पंख भारी हो गये हैं। वह ज्ञान और भक्ति के आकाश में नहीं उड़ सकता है। कुण्डली रूपी पनिहारिन साधना रूपी घट लिये खड़ी है; पर भगवान् के नाम-स्मरण रूप रस्सी के अभाव में वह अमृत जल भी नहीं भर सकती है। कबीर कहते हैं कि भगवत्प्रेम के लिए गुरु ने एक उपाय बता दिया है और उसी से भगवान् राम मुझे सहज एवं स्वाभाविक रूप में प्राप्त हो गए हैं।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार एवं प्रतीकों का प्रयोग है। गगन अथवा शून्य अवस्था एवं अमृत-कुण्ड के जल का पान भी ज्ञान और भक्ति द्वारा ही सम्भव है; केवल कायायोग की साधनाओं से नहीं। कबीर की इसी मान्यता का यहाँ प्रतिपादन है।

भरथरी भूप भया बैरागी।
बिरह बियोग बनि बनि ढंढै, वाकी सुरति साहिब सौं लागी ॥टेक॥

हसती घोड़ा गाँव गढ़ गूडर, कनड़ापा इक आगी।
जोगी हवा जांणि जग जाता, सहर उजीणीं त्यागी॥
छत्र सिंघासण चंवर ढुलंता राग रंग बहु आगी।
सेज रमैंणी रंभा होती, तासौं प्रीति न लागी।
सूर बीर गाढा पग रोप्या, इह बिधि माया त्यागी।
सब सुख छाडि भज्या इक साहिब, गुर गोरख ल्यौ लागी॥
मनसा बाचा हरि हरि भाखै, गंध्रप सुत बड भागी।
कहै कबीर कुदर भजि करता, अमर भणै अणरागी॥२९८॥

राजा भर्तृहरि ने वैराग्य धारण कर लिया और भगवान् का यह विरही ईश्वर को वन वन ढूँढ़ता रहा। उसका मन भगवान् में लग गया था। हाथी, घोड़ा, ग्राम, दुर्ग छोटी गढिया—इन सबके लिए कृष्णपाद अग्निस्वरूप थे। सारा संसार जानता है कि भर्तृहरि उन्हीं के कहने पर योगी हो गये थे और उन्होंने उज्जैन जैसी नगरी का परित्याग कर दिया था। उनके पास छत्र, सिंहासन, चारों ओर डोलते हुए चंवर, आगे होते हुए अनेक प्रकार के राग-रंग तथा शय्या पर रंभा जैसी सुन्दरी रमणियाँ थीं। उन सबसे राजा ने प्रेम नहीं किया। उनके आकर्षण ने कुछ भी नहीं किया। इस शूरवीर ने उनके आकर्षण के सामने अपने गहरे पैर गाड़ दिये; टस से मस नहीं हुआ और इस प्रकार उसने माया का परित्याग ही कर दिया। सम्पूर्ण सांसारिक सुखों को छोड़कर राजा ने एक भगवान् का ही भजन किया और गुरु गोरखनाथ में ही अपनी लौ लगा दी। मन और वाणी दोनों से ही वह निरन्तर हरि का भोजन करने लगा। यह बड़ा भाग्यशाली गंधर्व सुत था। कबीर कहते हैं कि ईश्वर का भजन करके ही यह विरक्त राजा अमर कहलाये।

राग केदारौ

सार सुख पाइये रे।
रंगि रमहु आतमारांम ॥टेक॥
बनहि बसे क कीजिये, जे मन नहीं तजै बिकार।
घर बन तत समि जिनि किया, ते बिरला संसार॥
का जटा भसम लेपन किये, कहा गुफा मैं बास।
मन जीत्यां जग जीतिये, जौ बिषिया रहै उदास।
सहज भाइ जे उपजै, ताका किसा मांन अभिमान।
आपा पर समि चीनियें, तब मिलै आतमांरांम॥
कहै कबीर कृपा भई, गुर ग्यांन कह्या समझाइ।
हिरदै श्री हरि भेटियै, जे मन अनतै नहीं जाइ॥२९९॥

रे जीव, सम्पूर्ण सुखों के सारभूत तत्त्व को ही प्राप्त करो। अपने आतमाराम के प्रेम में रँग कर उसी में रम जाओ। अगर मन के विकार नहीं छूटते हैं तो वन में बसने का भी क्या उपयोग है? ऐसे व्यक्ति संसार में विरले ही हैं, जिन्होंने अपनी त्याग-भावना से घर को ही वन के समान कर लिया है। जटाजूट बढ़ाने, भस्म लगाने, गुफा में वास करने से कुछ भी लाभ नहीं है। मन जीतने पर ही संसार पर विजय प्राप्त होती है। जो विषयों से उदासीन रहते हैं तथा जिनको सहज की अनुभूति जाग जाती है; उनको किसी प्रकार के मान एवं मर्यादा की इच्छा नहीं रहती है। वे अहंकार से मुक्त हो जाते हैं। जब व्यक्ति अपने और पराये को समान समझने लगता है तभी उसे अपने आतमस्वरूप के दर्शन होते हैं। सारा विश्व आत्म-रूप ही है। उसमें अपना और पराया कुछ है नहीं यह देखना ही आत्म-साक्षात्कार है। कबीर कहते हैं कि हम पर तो गुरु की कृपा हो गई है उन्होंने हमें आत्म-ज्ञान समझा दिया है। अगर मन इधर-उधर न भटके तो हृदय में ही भगवान् के दर्शन हो जाते हैं।

टिप्पणी—कबीर में औपनिषदिक ज्ञान का प्रभाव जगह-जगह दिखाई पड़ता है। उपनिषद् और गीता से अनेक स्थानों पर अत्यधिक भाव-साम्य है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः' से भाव साम्य द्रष्टव्य है।

तिवारी जी के पाठ में दो पंक्तियाँ भिन्न हैं।

है हरि भजन कौ परवांन।
नींच पांवै ऊंच पदवी, बाजते नींसान ॥टेक॥
भजन कौ परताप ऐसो, तिरे जल पाषान।
अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात बिवांन॥
नव लख तारा चलै मंडल, चलै ससिहर भांन।
दास धू कौं अटल पदवी, रांम को दीवांन॥
निगम जाकी साखि बोलैं, कहैं संत सुजांन।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ राखि लेहु भगवांन ॥३००॥

यह भगवान् के भजन का ही प्रभाव है कि नीच व्यक्ति भी सबके सामने डंके की चोट उच्च पदवी को प्राप्त कर लेता है। भगवान् के भजन का ऐसा प्रभाव है कि पत्थर भी पानी में तैरने लगते हैं। अधम भील एवं निम्न जाति की गणिका भी भगवान् के विमान पर चढ़ कर वैकुण्ठ चले गए। नौ लाख तारों का समूह, चन्द्रमा और सूर्य सब निरन्तर गतिशील हैं, पर भक्त ध्रुव की पदवी अटल है। वह निरन्तर स्थिर रहता है। वह भगवान् राम का मुसाहिब या सेवक है। जिसकी भक्ति की वेद भी साक्षी देते हैं और संत एवं सज्जन व्यक्ति उसका गुणगान करते रहते हैं। कबीर

कहते हैं, 'हे भगवन्, यह दास तुम्हारी शरण में आ गया है। उसको अपनी शरण में रख लो।'

चलौ सखी जाइये तहां।
जहां गयें पांइयें परमांनन्द ॥टेक॥
यहू मन आमन धमनां, (दूमनां) मेरो तन छीजत नित जाइ।
च्यंतामणि चित्त चोरियौ, ताथैं कछु न सुहाइ॥
सुंनि सखी सुपनैं की गति ऐसी, हरि आए हम पास।
सोवत ही जगाइया, जागत भए उदास॥
चलु सखी बिलम न कीजिये, जब लग सांस सरीर।
मिलि रहिये जगनाथ सूं, यूं कहै दास कबीर॥३०१॥

कबीर अन्तःकरण की वैराग्य-वृत्ति बुद्धि एवं विवेक-वृत्ति को सम्बोधन करके कह रही है, 'हे सखि, इस संसार को छोड़कर चलो वहाँ चलें जहाँ पर जाने से परमानन्द की प्राप्ति होती है। यह मन तो निरन्तर आने-जाने और घूमने वाला है; अस्थिर है। अथवा यह मन कभी अनुकूल एवं खुश रहता है तथा कभी प्रतिकूल एवं नाराज। यह शरीर निरन्तर क्षीण हो रहा है। पर चिन्तामणि भगवान् ने मेरा मन चुरा लिया है। इससे संसार की कोई वस्तु मुझे सुहाती नहीं हैं। रे सखि, सुनो, स्वप्न में कुछ ऐसा हुआ कि भगवान् मेरे पास आ गए, उन्होंने मुझे सोते हुए से जगा लिया। पर जागते ही हृदय अत्यन्त उदास हो गया। इस स्वप्नवत् जगत् में अचानक भगवत्प्रेम जाग गया और पति-रूप भगवान् समीप आये हुए से लगे। भगवान् के इस प्रकार आगमन से अज्ञान की निद्रा तो समाप्त हो गई। पर साथ ही यह भी बोध जाग गया कि मैं प्रियतम भगवान् से बिछुड़ कर इस माया-मोह वाले जगत् में कब से भटक रही हूँ। ऐसे ज्ञान-रूपी जागरण ने भगवान् से बिछुड़े रहने की व्यथा तथा उनसे मिलने की तीव्र आकांक्षा जगा दी, इससे मेरा मन उदास हो गया है और इस जगत् के प्रति भी मैं उदासीन हो गई हूँ। इस प्रकार जीवात्मा में मिलने की तीव्र आकांक्षा जाग उठी और वह अपने आपको सम्बोधित करके कहने लगी, 'रे सखि, जब तक इस शरीर में प्राण हैं तब तक शीघ्रता कर लो; देर मत करो। भगवान् के मिलन के लिए चल पड़ो।'' कबीर कहते हैं कि प्राण रहते हुए भी भगवान् से मिल कर तदाकार हो जावें; इसी में कल्याण है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और सांगरूपक अलंकार। स्वप्न आदि की दार्शनिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक का सुन्दर प्रयोग है। स्वप्न और जागरण के रूपक में कवि ने लौकिक स्तर के दाम्पत्य प्रेम के बिम्बों द्वारा अलौकिक एवं रहस्यवादी प्रेम तथा ज्ञान एवं भक्ति की समन्वित अनुभूति की हृदयस्पर्शी एवं सशक्त व्यंजना की है।

मेरे तन मन लागी चोट सठौरी ।।
बिसरे ग्यान बुधि सब नाठी, भई बिकल मति बौरी ।।टेक।।
देह बिदेह गलित गुन तीनूं, चलत अचल भइ ठौरी ।
इत उत जित कित द्वादस चितवत, यहु भई गुपत ठगौरी ।।
सोई पै जांनै पीर हमारी, जिहि सरीर यहु ब्यौरी ।
जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरौ, सुंनि संमानो त्यौरी ।।३०२।।

कबीर कहते हैं कि मेरे शरीर एवं मन पर प्रभु-प्रेम एवं गुरु के उपदेश की गहरी चोट यथास्थान लग गई है। इससे मेरे समस्त ज्ञान-विज्ञान एवं बुद्धि-विवेक नष्ट हो गये हैं। बुद्धि भी व्याकुल होकर पागल-सी हो गई है। इससे मुझे अपनी देह का ज्ञान नहीं रहा तथा तीनों गुण भी समाप्त हो गये हैं। अर्थात् उनका व्यवस्थित कार्य भी नहीं चलता है। जो अवयव चलते रहते थे वे सब अलग हो गये हैं। ईश्वर प्रेम और ज्ञान में अवधूत व्यक्ति की सांसारिक विषयों में आसक्ति नहीं रहती है। इससे वे संसार के व्यवहार में पटु न रहकर पागल एवं मूर्ख से रह जाते हैं। शरीर के बारहों अंगों की (पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, मन एवं बुद्धि) क्रियायें अस्त-व्यस्त हो गई हैं। अथवा मैं इधर-उधर चारों ओर दशों दिशाओं में अपनी ओर तथा अपने को आहत करने वालों की ओर इस द्वादश की ओर देख रहा हूँ। यह चोट एक छिपा हुआ जादू बन गई है। इस चोट की व्यथा वही समझा सकता है जिसके शरीर को स्वयं यह भोगनी पड़ी है। बेचारा कबीर प्रभु-प्रेम के जादू से ठगा गया है। उसकी समस्त चित्तवृत्तियाँ शून्य में समा गई हैं। अब वे संसार में नहीं रमतीं।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

मेरी अंखियाँ जाना सुजांन भई ।
देवर भरम सुसर संग तजि करि, हरि पीव तहां गई ।।टेक।।
बालपनै के करम हमारे, काटे जांनि दई ।
बांह पकरि करि कृपा कीन्हीं, आप समीप लई ।।
पानीं की बंद थैं जिनि प्यंड साज्या, ता संगि अधिक करई ।
दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई ।।३०३।।

भगवान् के प्रेम में अनुरक्त जीवात्मा कह रही है कि मेरी आँखें प्रभु-दर्शन के प्रभाव से विवेकी एवं सुविज्ञ हो गई हैं। अब मैं अपने-पराये को पहचानने लगी हूँ। मत-रूपी देवर तथा भ्रम-रूपी श्वसुर का साथ जोड़कर अथवा मन-रूपी देवर के द्वारा उत्पादित भ्रमों तथा अज्ञान रूपी श्वसुर के संग से मुक्त होकर मैं (जीवात्मा) अपने पति भगवान् के स्थान पर पहुँच गई हूँ। भगवान् ने अज्ञानावस्था या अबोध बालपन में किये हुए मेरे कर्मों के दोषों को तथा उनके बन्धनों को जान-बूझ कर

समाप्त कर दिया है। उन्होंने ही मेरी भुजा पकड़ कर मुझे अपने समीप कर लिया है। यह मुझ पर अनुग्रह है; यह मुझे प्रेम से अपनाना है। जिस भगवान् ने एक पानी की बूंद (शुक्र) से इस शरीर का निर्माण कर दिया; अब मैं अधिक से अधिक उसी के साथ रहने लगी हूं। कबीर कहते हैं कि भगवान् के प्रति मेरा प्रेम अब एक क्षण के लिए भी कम नहीं हो रहा है और दिन-प्रति-दिन यह प्रीति बढ़ती ही जा रही है।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। दाम्पत्य-प्रेम एवं सतीत्व के बिम्बों से रहस्यवादी प्रेम, भक्ति एवं ज्ञान दशा का चित्रण है।

हो बलैयां ल्यूं कब देखोंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारनि, ऐसी ब्यापैं मोहि ॥टेक॥
नैन हमारे तुम्ह कूं चाहैं, रती न मानैं हारि।
बिरह अगिन तन अधिक जरावै ऐसी लेहु बिचारि ॥
सुनहु हमारी दादि गुसांई, अब जिन करहु बधीर।
तुम्ह धीरज मैं आतु स्वामीं, काचै भांडैं नीर ॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर।
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर ॥३०४॥

हे भगवान्, मैं आप पर बलिहारी हूँ, मुझे आपके दर्शन कब होंगे? मैं रात-दिन तुम्हारे दर्शनों के लिए विकल हूँ। मुझे गहरी विरह-वेदना है। मेरे नेत्र तुम्हें ही देखना चाहते हैं और इसमें एक रत्ती भर भी किसी से हार नहीं मानना चाहते हैं। विरहाग्नि मेरे शरीर को अत्यधिक तप्त कर रही है। इसका आप विचार कर लें। हे स्वामी, मेरी प्रार्थना सुन लीजिए। अब आप मुझे अत्यधिक अधीर न करें। हे भगवान्, आप तो धैर्य-स्वरूप हैं और मैं आतुर हूँ। ये प्राण कच्चे घड़े के जल के समान हैं। चाहे जब शरीर-रूपी घट फूट सकता है और प्राणरूपी जल इसमें से बह कर निकल सकता है। हे माधव, मैं तुमसे बहुत दिनों से (जन्म-जन्मान्तर से) बिछुड़ी हुई हूँ। अब मेरे मन में धैर्य नहीं रह गया है। जीव-भाव के प्रतिनिधि के रूप में कबीर कहते हैं कि मैं अत्यन्त आर्त हूँ अतः शरीर में प्राण रहते हुए आप मुझ पर अनुग्रह करें और मुझसे मिलें।

टिप्पणी—रूपक तथा उपमा अलंकार। प्रभु प्रेम के विरह का बिम्ब-विधायक एवं मर्मस्पर्शी चित्रण है। कबीर ने 'प्राण रहते ही मिलो' इस शरीर से भगवान् के दर्शन हों' जैसी कल्पनायें अनेक स्थानों पर की हैं। ये कबीर के दर्शन के तत्त्व नहीं अपितु विरह-व्यथा की तीव्रता तथा मिलन की आतुरता के व्यंजक मात्र हैं।

वे दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ ॥टेक॥

हौं जांनूं जे हिल-मिल खेलूं, तन मन प्रांन समाइ।
या कांमनां करौ परपूरन, समरथ हौ रांम राइ॥
मांहि उदासी माधौ चाहै, चितवन रैंनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊं तब खाइ॥
यहु अरदास दास की सुंनिये, तन की तपति बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे सांई, मिलि करि मंगल गाइ॥३०५॥

जीवात्मा प्रभु-मिलन की आतुरता में कह रही है, "री सखि, वह शुभ दिन कब होगा, जब मुझे अपने जीवन की सफलता प्राप्त होगी ? जिस भगवान् के मिलन के लिए मैंने यह मानव-शरीर धारण किया है, उनसे अंग से अंग मिलाकर कब मिलना होगा ? अर्थात् पति-परमेश्वर में पूर्ण तन्मय होने का अवसर कब होगा ? मेरे मन की यह तीव्र आकांक्षा है कि मैं भगवान् के साथ हिल-मिलकर खेलूँ और अपने तन-मन तथा प्राणों को पति-रूप भगवान् में समाहित कर दूँ। राजाराम आप पूर्ण समर्थ हैं। आप मेरी यह कामना पूर्ण कीजिए। विरह-व्यथा से मेरा हृदय अन्तर में अत्यन्त उदास है; चितामग्न है। वह संसार से भी उदासीन हो गया है। संसार माया-जाल है, वह ब्रह्म-ज्ञान तथा ईश्वर-प्रेम में बाधक हैं। संसार की ओर अभिमुख होना तो लौकिक प्रेम में भी बाधक ही होता हैं। मैं तो माधव को चाहती हूँ, पति परमेश्वर से ही मिलना चाहती हूँ। मैं तो उनकी बाट देखते हुए सारी रात ही व्यतीत कर देती हूँ। मेरी शय्या अपने पति के अभाव में मुझे सिंह के समान प्रतीत होती है। जब मैं उस पर सोती हूँ तो वह सेज मुझे काटती है। हे भगवान्, आप यह प्रार्थना अवश्य सुन लीजिए तथा मेरे हृदय की ज्वाला शांत कर दीजिए। कबीर कहते हैं कि अगर मुझे भगवान् मिला जायँ तो मैं उनके साथ मिलकर प्रेम में आनन्द और मंगल के गान गाऊँ।"

टिप्पणी—जीवात्मा का ब्रह्म से तदाकार हो जाना यही ज्ञान की दृष्टि से जीवन का परम पुरुषार्थ है। पर भक्त और रहस्यवादी इस तादात्म्य की रागात्मक अनुभूति में भी तन्मय होना चाहता है। कबीर में इन तीनों का समन्वय है। दाम्पत्य-भाव का रूपक इस अनुभूति को व्यक्त करने का सबसे अधिक सफल एवं सशक्त माध्यम है। कबीर ने इसी से इसका सहारा लिया है। वैसे ऊपर के पद में जो विर-हिणी का बिम्ब-विधान है, आध्यात्मिक विरह की व्यंजना के लिए उसके संश्लिष्ट बिम्ब का ग्रहण ही पर्याप्त है। पर उसके अनेक अंग उपांगों की भी पृथक व्यंजनायें हैं। इससे सांगरूपक का निर्वाह भी है।

'हौं जांनू ………प्राण समाई" में ज्ञान से जीवात्मा और परमात्मा के पूर्ण तादात्म्य की तथा प्रेम से पति परमेश्वर के विभिन्न गुणों में तन्मय होकर रसास्वाद लेने की व्यंजना है 'रैंन विहाई' में प्रेमी की प्रतीक्षा के साथ ही 'रैंन' का अज्ञानमय जीवन एवं संसार होना भी व्यंजित है। उस अज्ञान से एक बार क्षणिक निवृत्ति

तथा जागृति मिलने पर ज्ञानी फिर सोना नहीं चाहता। कहीं अज्ञान निद्रा फिर न आ जाय, इसी 'चितवत् रैनि विहाई' कहा है।

"सेज..........तब खाई" में लौकिक बिम्ब विधान तो है ही। इसके साथ ही शय्या माया रूप है और पति-परमेश्वर के बिना वह भक्त और ज्ञानी को ग्रसित कर लेती है, इसकी भी व्यंजना है।

"या कांमना.........राम राई" में पति-परमेश्वर से प्रेम तथा ब्रह्म से तादात्म्य भी भगवान् ही उत्पन्न करते हैं।" यह व्यंजना है। यं एष: वृणुते तेनैव लभ्यः"। लौकिक प्रेम के प्रतीकों से आध्यात्मिक विप्रलम्भ का वर्णन है।

'रूपक' का निर्वाह।

बाल्हा आव हमारे ग्रेह रे।
तुम बिन दुखिया देख रे ॥टेक॥
सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं कहै अंदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे॥
आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूं कांमी कौं काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे॥
है कोई ऐसा परउपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइ रे ॥३०६॥

जीवात्मा वियोगिनी पति के रूप में अपने पति भगवान् को बुला रही है। 'हे पतिदेव, तुम हमारे घर आओ। अर्थात् मुझ पर अनुग्रह करके मुझसे तदाकार हो जाओ। 'समद समाना बूंद' में जैसी अनुभूति की ओर संकेत है। हे पति-परमेश्वर, तुम्हारे वियोग में यह शरीर अत्यन्त दु:खी है। सब लोग मुझे तुम्हारी पत्नी बताते हैं; पर मुझे तो इसका दु:ख है कि जब तक मैं अपने पति के आलिंगन में आबद्ध एवं उससे तदाकार होकर एक शय्या पर सोऊँ तब तक मुझे अपने पति के स्नेह का विश्वास कैसे हो? यह कैसा प्रेम है? जीवात्मा और परमात्मा में अभेद है। यह स्वीकृत तथ्य है और गुरु के उपदेश से जीवात्मा में यह बोध जागा भी है। पर यह बोध अपनी पूर्णता को प्रगाढ़ प्रेम से ही पहुँच सकता है। इसी की व्यंजना ऊपर की पंक्तियों में है। शुद्ध चैतन्य में प्रतिष्ठित होना तथा पति-परमेश्वर से रागात्मक अभेद ही एक शैय्या पर शयन है। जीवात्मा कहती है कि मुझ अपने पति भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी अच्छा नहीं लगता है अर्थात् अन्य किसी की भी उपासना अभीप्सित नहीं है। भगवान् के विरह में मुझे नींद भी नहीं आती है अर्थात् अज्ञान-जनित विषयों के आनन्द की भी लिप्सा भी नहीं रह है। मुझे घर और वन में अर्थात् संसार के विषयों एवं भेषमात्र के वैराग्य में इनमें से किसी में भी आनन्द का अनुभव नहीं होता है। जैसे कामी को अपनी वासना की तृप्ति तथा प्यासे को जैसे जल

प्रिय प्रतीत होता है वैसे ही मुझे अपना प्रियतम तथा उसका मिलन ही प्रिय है। क्या कोई ऐसा उपकारी है जो मेरी यह व्यथा भगवान् को सुना दे। कबीर की भगवान् को बिना देखे बहुत ही बुरी दशा हो गई है। पति-परमेश्वर को बिना देखे कबीर के प्राण अत्यन्त व्याकुल हैं, मानो वे निकल रहे हैं।

टिप्पणी—रूपक उपमा और अलंकार। प्रतीक विधान एवं लक्षण का भी पर्याप्त प्रयोग है।

माधौ कब करिहौ दया।
कांम क्रोध अहंकार ब्यापै, नाँ छूटे माया ।।टेक।।
उतपति ब्यंद भयौ जा दिन थैं, कबहु सांच नहीं पायौ।
पंच चोर संगि लाइ दिए हैं, इन संग जनम गंवायौ ।।
तन मन डस्यौ भुजंग भांमिनीं, लहरी वार न पारा।
गुर गारडू मिल्यौ नहीं कबहूँ, पसर्‌यौ विष विकरारा ।।
कहै कबीर यहु कासूं कहिये, यह दुख कोइ न जानैं।
देहु दीदार बिकार दूरि करि, तब मेरा मन मांनैं ।।३०७।।

हे भगवान्, आप मुझ पर कब दया करोगे ? मुझे काम, क्रोध और अहंकार ने घेर रखा है। मुझसे माया-मोह छूटता नहीं है। जिस दिन से मेरी बिन्दु से उत्पत्ति हुई है; उस दिन से मुझे कभी भी सत्य-तत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है। काम-क्रोधादिक पाँच चोर मेरे साथ लगे हुए हैं। इनके साथ मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ ही खो दिया है। कामिनी-रूपी सर्पिणी ने मेरे शरीर और मन को डस लिया है काम रूपी विष की लहर का कोई आदि और अन्त नहीं है, उस विष को उतारने वाला कोई गुरु या गुरु रूपी गारुड़ी अब तक नहीं मिल पाया है। इससे यह भयानक विष मेरे सारे शरीर में फैल गया है। काम का विष ज्ञान अथवा भक्ति से ही दूर हो सकता है। कबीर कहते हैं कि जीवात्मा अपना दुःख किससे निवेदित करे। इसके इस दुःख को कोई भी नहीं समझता है। हे भगवान्, सांसारिक विकारों पर विषय दूर करके अब मुझे आप दर्शन दें। तब ही मेरा मन शान्ति और आनन्द का अनुभव कर सकेगा।

टिप्पणी—रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार। यह विनय भक्ति का वर्णन है।

मैं जन भूलौ तूं समझाइ।
चित्त चंचल रहै न अटक्यौ, विषैं बन कूं जाइ ।।टेक।।
संसार सागर मांहि भूल्यौ, थक्यौ करत उपाइ।
मोहणी माया बाघणी थैं, राखि लैं रांम राइ ।।

गोपाल सुनि एक बीनती, सुमति तिन ठहराइ।
कहै कबीर सुनि यहु कांम रिप है, मारै सबकूं ढाइ॥३०८॥

हे भगवान्, मैं तो इस माया मोह में भटककर अपने स्वरूप को भूला हुआ हूँ। तुम मुझे विवेक दो। यह मेरा चंचल चित्त कहीं भी, किसी भी उपासना में, स्थिर नहीं रहता है और हमेशा विषय-रूपी वन की ओर ही जाता रहता है। मैं इस संसार रूपी सागर में भटक गया हूँ। उद्धार की चेष्टा करते हुए मैं थक गया हूँ। हे राजा राम, मोहिनी माया-रूपी बाघिन से मेरी रक्षा कर लो। हे गोपाल, तुम मेरी एक प्रार्थना सुन लं। इस अन्तःकरण में सद्-बुद्धि को स्थिर कर दो। कबीर कहते हैं कि यह काम-रूपी शत्रु सब जीवों को नष्ट कर रहा है। उसी से बचने की आवश्यकता है।

टिप्पणी—विनय भक्ति का पद है। रूपक और 'परिकर' अलंकार का प्रयोग है।

भगति बिन भौजलि डूबत है रे।
बोहिथ छाड़ि बैसि करि डूंडै, बहुतक दुख सहै रे॥टेक॥
बार-बार जम पैं डहकावैं, हरि को ह्वै न रहै रे।
चेरी के बालक की नाईं, कासूं बात कहै रे॥
नलिनीं के सुवटा की नांईं, जग सूं राचि रहै रे।
बंसा अगनि बंस कुल निकसै, आपहि आप दहै रे॥
यहु संसार धार में डूबे, अघफर थाकि रहै रे।
खेवट बिनां कवन भौ तारे, कैसैं पार रहै रे॥
दास कबीर कहै समझावैं, हरि की कथा जीवै रे।
रांम कौ नांव अधिक रस मीठौं, बारंबार पीवै रे॥३०९॥

कबीर कहते हैं कि जीव भक्ति के बिना इस भवसागर में डूबता ही है। जो भक्ति के जहाज को छोड़कर विषय-वासना-रूपी लकड़ी के गठीले टुकड़ों अथवा ठूंठे पर बैठकर भवसागर पार करना चाहते हैं, वे ही बहुत दुःख पाते हैं। उन्हें अन्त में डूबना ही पड़ता है। वासना एकांगी एवं अशक्त वस्तु है अत. वह लकड़ी का टुकड़ा ही है। पर भक्ति विशाल जहाज है। उसमें सारी वासनाओं एवं उपासनाओं का अन्तर्भाव है। वासनाओं से ग्रस्त व्यक्ति बार-बार इस संसार में जन्म लेकर नष्ट होते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ईश्वर के भक्त बनकर नहीं रह सकते हैं। उनमें भगवान् के प्रति अनन्यता नहीं होती है। वे अनेक साधनाओं में भटकते हैं। इसलिए दासी के पुत्र की तरह किसी को भी अपना पिता नहीं कह सकते हैं। काठ की नली पर क्रीड़ा करने वाले तोते की तरह इस माया के जगत् में ही आसक्त रहते हैं वे जैसे वाड़वाग्नि बाँसों के समूह से निकलती है और उन्हीं बांसों को जला देती है वैसे ही यह कामाग्नि प्राणी

में ही उत्पन्न होती है और उन्हीं को भस्म कर देती है। जीव आधे रास्ते में थककर इस भवसागर में ही डूब जाता है, उसकी मुक्ति नहीं हो पाती है और उसको पुनः जन्म लेना पड़ता है। व्यक्ति भगवान् के अनुग्रह अथवा गुरु-रूपी खेवट के बिना इस भव-सागर से पार कैसे हो सकता है? कबीर समझाकर कहते हैं कि भगवान् के गुणगान से ही वास्तव में जीवन सार्थक हो सकता है। व्यक्ति उसी के सहारे जीता है। नाम-स्मरण का रस अत्यन्त मीठा होता है, उसको बार-बार पीना चाहिए।

टिप्पणी—दृष्टान्त और रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

चलत कत टेढ़ौ टेढ़ौ रे।
नऊं दुवार नरक धरि मूंदे, तू दुरगंधि को बैढौ रे ॥टेक॥
जे जारैं तौ होइ भसम तन, रहि त किरम जल खाई ॥
सूकर स्वाँन काग कौ भखिन, तामैं कहा भलाई ॥
फूटे नैंन हिरदै नहीं सूझै, मति एकै नहीं जांनी।
माया मोह ममिता सूँ बांध्यौ, बूडि मूवौ बिन पांनी ॥
बारू के घरवा मैं बैठो, चेतन नहीं अयांनां।
कहै कबीर एक रांम भगति बिन, बूडे बहुत सयांनां ॥२१०॥

रे मानव, अपने इस शरीर पर अहंकार करके क्या टेढ़ा-मेढ़ा चल रहा है? तुम्हारी इन्द्रियों के नव द्वार मल से आपूरित हैं और तुम स्वयं ही नरक के ढेर हो। यह शरीर जलने पर भस्म हो जायेगा और जो शेष बचेगा, उसको जल और कीड़े खायेंगे। अथवा शरीर जलाया जाता है तो भस्म हो जाता है, रहने दिया जाता है तो कीड़े खाते हैं और बहाया जाता है तो जल खा जाता है। यह शरीर तो सूअर कुत्ते और कौओं का भोजन है। इसमें सुन्दर क्या है? इसके प्रति क्या आसक्ति और इस पर क्या गर्व? रे मानव, तुम्हारे बाहरी नेत्र भी फूट गये हैं और तुम्हें हृदय में भी ज्ञान नहीं है अन्यथा तो तुम मलायतन एवं मल के स्रोत इस शरीर पर क्या गर्व करते? रे मानव, तुम्हें कोई सद्बुद्धि भी नहीं मिली। तुम माया-मोह और ममता में ही बंधे रहे। अतः तुम इस संसार, सागर में बिना पानी के ही डूब गये। वस्तुतः यह संसार असत् है। इसमें विषय-जल भी परमार्थतः है नहीं। जीव तो मिथ्या विषयों में ही डूबा हुआ है। यही बिना जल के भवसागर में डूबना है। रे प्राणी, यह शरीर बालू का महल है; तुम इसी में बैठे हो। इस बात के लिए सावधान नहीं होते हो कि यह शरीर क्षण-स्थायी है। इसका अभिमान ही क्या करना? कबीर कहते हैं कि केवल ज्ञान एवं राम भक्ति के बिना अनेक चतुर लोग भी इस भवसागर में डूब रहे हैं।

टिप्पणी—देहासक्ति हटाने के लिए शरीर की नश्वरता तथा अपावनता का

वर्णन है। वैराग्य कबीर के जीवन-दर्शन का प्रमुख तत्त्व है। 'विभावना' और 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार का प्रयोग है। तिवारी जी ने इस पद में दो पंक्तियाँ और दी हैं।

अरे परदेसी पीव पिछांनि।
कहा भयौ तोकौं समझि न परई, लागो कैसी बांनि ॥टेक॥
भोमि बिडाणी मैं कहा रातौ, कहा कियो कहि मोहि।
लाहै कारनि मूल गमावै, समझावत हूँ तोहि॥
निस दिन तौहि क्यूँ नींद परत है, चितवत नांही ताहि।
जम से बैरी सिर परि ठाढे, परहथि कहाँ बिकाइ॥
झूठे परपंच मैं कहा लागौ, ऊठै नांहीं चालि।
कहै कबीर कछू बिलम न कीजै, कौने देखी कालिह ॥३११॥

रे जीव, परमात्मा-रूपी उस परदेशी प्रियतम को पहचान। वह जगत् से अतीत है अतः परदेशी ही है। अथवा अपने मूल स्थान ब्रह्म से बिछुड़कर जगत् रूप परदेश में आने के कारण, हे परदेशी जीवात्मा, अपने प्रियतम को पहचान। तुम्हें क्या हो गया है ? तुम्हें विवेक क्यों नहीं जागता है ? तुम्हारी सांसारिक विषयों में फँसे रहने की कैसी आदत पड़ गई है ? तुम पराई एवं अपने ही स्वरूप को नष्ट करने वाली इस माया में क्यों आसक्त हो गये हो ? मुझे बताओ, तुमने यह क्या किया है ? सांसारिक विषयों के सुख-रूपी लाभ के भ्रम में तुम अपने मूल एवं शुद्ध आनन्द स्वरूप को ही खो रहे हो। यह बात मैं तुम्हें बार-बार समझा कर कहता हूँ। तुम्हें रात-दिन नींद क्यों आती रहती है अर्थात् तुम सर्वदा अज्ञान के विषयों में ही क्यों उलझे रहते हो ? उस परमतत्त्व की ओर क्यों नहीं देखते हो ? यमराज के समान बलवान शत्रु तुम्हारे सिर पर खड़ा हुआ है, ऐसी अवस्था में अपनों को छोड़कर दूसरे के हाथ में मत बिक जाओ। अर्थात् तुम भगवान् को भूलकर माया के अधीन मत बनो। जीव और ब्रह्म दोनों ही सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप हैं और माया असत्, जड़ और दुःख स्वरूप है। अतः भगवान् जीव के लिए अपना है और माया पराई है। अतः हे जीव, तुम संसार के इस झूठे प्रपंच में क्यों फँसे हुए हो ? यहाँ से उठकर चल क्यों नहीं देते, अर्थात् संसार से विमुख होकर भगवान् की भक्ति में क्यों नहीं लग जाते हो ? कबीर कहते हैं, 'रे मानव, ईश्वर भक्ति में विलम्ब मत करो। कल तो अनिश्चित ही है। कल किसने देखा है ?'

भयौ रे मन पाँहुनडौ दिन चारि।
आजिक कालिहक माँहि चलैगो, ले किन हाथ संवारि ॥टेक॥
सौंज पराई जिनि अपणावै, ऐसी सुणि किन लेह।

यहु संसार इसौ रे प्रांणी, जैसो धूंवरि मेह ॥
तन धन जोबन अंजुरी कौ पानीं जात न लागै बार।
सैंबल के फूलन पर फूल्यौ, गरब्यो कहा गँवार॥
खोटी साटै खरा न लीया, कछू न जांनीं साटि।
कहै कबीर कछू बनिज न कीयौ, आयौ थौ इति हाटि ॥३१२॥

रे मन, तुम चार दिन के मेहमान हो। आज-कल में ही इस जीव को संसार से विदा हो जाना है। फिर तुम अपने हाथ को बुरे कर्मों से क्यों नहीं हटा लेते हो? पराई वस्तुओं को, पराई सम्पत्ति को हथियाने की चेष्टा मत करो। रे मन, मेरी यह सलाह तुम क्यों नहीं सुनते? यह संसार तो धूम की वर्षा के समान केवल धोखा ही है। इससे तो केवल कष्ट ही होता है। इसमें वर्षा की शीतलता कहाँ है? यह शरीर, धन और यौवन केवल अंजलि के जल के समान है जो जल धीरे-धीरे रिसकर समाप्त हो जाता है। इस संसार का वैभव केवल सेंवल के फूल के समान धोखा है। रे अज्ञानी, रे गँवार, इस पर क्यों अभिमान करता है। तुमने अब तक विषय-वासना-सी खोटी वस्तुओं का ही संग्रह किया है। ज्ञान और भक्ति जैसी खरी वस्तुओं से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा। तुमने जीवन में लोभ और मोह रूप खोटे सिक्के ही एकत्र किये। अथवा तुमने खोटा बदला किया है या खोटे के बदले में खरे सिक्के नहीं लिये। ज्ञान और भक्ति की अच्छी मुद्रायें नहीं कमा पाये जिनसे मुक्ति और आनन्द का क्रय कर पाते। तुम्हें यह ज्ञान भी नहीं हुआ कि क्या खरीदना चाहिए और किन वस्तुओं का परस्पर में विनिमय करना है। अपनी श्रद्धा, प्रेम और त्याग से गुरु और भगवान् की कृपा खरीदनी थी; संतों से परस्पर सद्भावनाओं का आदान-प्रदान करना था। तुम तो सांसारिक लोगों से वैर, घृणा एवं आसक्ति मोल लेते रहे और परस्पर में राग-द्वेष का ही विनिमय करते रहे। यही कारण है कि भगवान की इस अनुकम्पा एवं अमोघ शक्ति वाले इस अमूल्य मानव के जीवन के बदले में तुमने विषय-जनित दुःख ले लिए हैं। कबीर कहते हैं कि इस संसार-रूपी हाट पर आकर तुम कोई लाभ का व्यापार नहीं कर पाये।

टिप्पणी—रूपक और उपमा अलंकार।

मन रे रांम नांमहि जांनि।
थरहरी थूंनी पर्यो मंदिर सूतौ खूंटी तानि ॥टेक॥
सैन तेरी कोई न समझै, जीभ पकरी आंनि।
पांच गज दोवटी मांगी, चूंन लीयें सांनि॥

बैसंदर पांषर हांडी, चल्यौ लादि पलांनि।
भाई बंध बोलाई बहु रे, काज कीनौ आंनि॥
कहै कबीर या मैं झूठ नांहीं, छाडि जिय की बांनि।
रांम नांम निसंक भजि रे, न करि कुल की कांनि॥३१३॥

रे जीव, तुम रामनाम से अपना सम्बन्ध जोड़ो। इस शरीर-रूपी मन्दिर का प्राण-रूपी आधार-स्तम्भ हिलने लगा है। यह शरीर गिरने ही वाला है। तुम ऐसे निश्चिन्त होकर खूँटी तानकर क्यों सो रहे हो? जीव, अब तुम्हारा अंतकाल आ गया है। उस समय की अवस्था को कल्पना में देखो। यमराज ने तुम्हारी जीभ पकड़ ली है। उससे वचन नहीं निकलते हैं और तुम्हारे इशारों को कोई भी नहीं समझता है। तुम्हारी शव यात्रा की तैयारी हो रही है। पाँच गज कफन माँगा जा रहा है और पिंडदान के लिए आटा सान लिया गया है। छेददार हँडिया में शवदाह के लिए आग रख ली गई है। तुम अपने पाप-पुण्यों को लादकर परलोक की यात्रा के लिए प्रयाण कर रहे हो। भाई-बन्धु बुला लिये गए हैं और उन लोगों ने आकर अन्त्येष्टि क्रिया तथा कारज सम्पन्न कर दिये हैं। अपनी होने वाली इस अवस्था पर [illegible] कर कबीर कहते हैं कि इसमें कुछ भी झूठ नहीं है। अतः हे जीव, विषय-वासना में उलझे रहने की अपनी आदत छोड़ दे और निश्चिन्त होकर भगवान् का भजन कर। रे जीव, कुल की मिथ्या मान-मर्यादा के अहंकार में मत फँस।

प्राणींलाल औसर चल्यौ रे बजाइ।
[illegible]ठी एक मठिया (मटिया) मुठि एक कठिया, संग काहू कै न जाइ॥टेक॥
[illegible]हली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लग सागी माइ।
मड़हट लूं सब लोग कुटंबी, हंस अकेली जाइ॥
कहां वै लोग कहां पुर पटण, बहुरि न मिलबौ आइ।
कहै कबीर जगनाथ भजहु रे, जन्म अकारथ जाइ॥३१४॥

कबीर जीवन की नश्वरता एवं सगे-सम्बन्धियों के साहचर्य की क्षणिकता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए जीव को भजन की प्रेरणा देते हैं तथा उसके [illegible] उसकी परलोक-यात्रा का चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। यह सुन्दरी प्राणी अपनी [illegible] निकालकर अथवा अपना जीवन-रूपी दाव खेल कर अब जा रहा है। एक मुट्ठी मिट्टी (शरीर) तथा एक मुट्ठी काठी (हड्डियाँ) किसी के साथ नहीं जाती हैं अथवा जीव [illegible] मरने पर उसकी एक मुट्ठी में एक पिण्ड है और एक पिण्ड उसकी काठी (जनाजे) [illegible] रख दिया गया है। यह उनके लिए भोजन तथा रास्ते के पाथेय की कल्पना है [illegible] भी उसके साथ जाने वाले नहीं हैं। परलोकयात्रा के लिए ये पिण्ड पाथेय नहीं अपितु उसके किये हुए पाप-पुण्य ही उसके लिए पाथेय हैं। कोई भी सम्बन्धी इसके [illegible]

नहीं जायेगा । देहरी तक की पत्नी अपनी है और दरवाजे तक माँ । देहरी तक पत्नी रोती हुई साथ जाती है और दरवाजे तक माँ । श्मशानघाट तक सब कुटुम्बी लोग जाते हैं । पर आगे की परलोकयात्रा में तो यह जीव अकेला ही जाता है । ये सब सगे-सम्बन्धी व्यक्ति तथा नगर, बाजार आदि इसके साथ कहाँ रह पाते हैं ? सब यहीं रह जाते हैं । इन सबसे फिर मिलना नहीं हो पाता है । तब भी जीव अपने जीवनकाल में इनके प्रति कितना आसक्त रहा ? इनको ही अपना चिरसाथी मानता रहा । कबीर कहते हैं कि यही सोचकर भगवान् का भजन करो । उसके बिना यह जन्म व्यर्थ ही जा रहा है ।

राम गति पार न पावै कोई
च्यंतामणि प्रभु निकटि छाडि करि भ्रंमि भ्रंमि मति बुधि खोई ॥टेक॥
तीरथ बरत जपै तप करि करि, बहुत भांति हरि सोधै ।
सकति सुहाग कहौ क्यूं पावै, अछता कंत बिरोधै ॥
नारी पुरिष बसैं इक संगा, दिन दिन जाइ अबोलै ।
तजि अभिमान मिलै नहीं पीव कूं, ढूंढ़त बन बन डोलै ॥
कहै कबीर हरि अकथ कथा है, बिरला कोई जांनै ।
प्रेम प्रीति बेधी अंतर गति, कहूँ काहि को मांनें ॥३१५॥

राम की माया का अन्त या रहस्य किसी को नहीं मिला। लोग अपने सबसे सन्निकट की वस्तु, अपने ही स्वरूप से अभिन्न प्रभु-रूपी चिंतामणि को छोड़कर इधर-उधर साधनाओं एवं सिद्धियों में भटकते रहे हैं । उसी में उन्होंने अपना विवेक भी खो दिया है । तीर्थ-व्रत जप आदि तप करके लोगों ने बहुत प्रकार से भगवान् को खोजा पर उन्हें भगवान् की प्राप्ति नहीं हुई । भगवान् तो ज्ञान और प्रेम से ही मिलता है । आत्मा-सुन्दरी को पति-मिलन का सौभाग्य तथा तद्जनित आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है, जब वह अपने पति परमात्मा से विरोध ही करती रहती है और प्रेम और भक्ति का मार्ग छोड़कर पति-प्रेम की अनन्यता के लिए घातक वासना का मार्ग अपनाती है । जो स्त्री और पुरुष साथ-साथ रहते हैं, पर आपस में बिन बोले ही दिन गुजारते हैं, उनके जीवन में आनन्द कहाँ ? वैसे ही जो जीवात्मा अपने पति परमात्मा के साथ निरंतर रहते हुए भी उससे प्रेम नहीं करती; अपने पति परमात्मा से विमुख रहती है; उस आत्मा-सुन्दरी को प्रेमानन्द और परमानन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? यह जीवात्मा-रूपी नारी अपना अहंकार त्याग कर, अर्थात् अपनी पृथकता की भावना छोड़कर अपने पति-परमात्मा में अपने अस्तित्व को नहीं मिला पाती है; इसी से उसे अपने जीवन का प्राप्तव्य नहीं मिलता और वह व्यर्थ ही उसके लिए वन-वन भटकती फिरती है । कबीर कहते हैं कि भगवान् के प्रेम की कथा शब्दातीत है । इसके [illegible] जो

जीवात्मा अन्दर-ही-अन्दर भगवान् के प्रेमबाण से बिद्ध हो गई है; उसे भला सांसारिक सुख क्या आकृष्ट कर सकते हैं ?

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और निदर्शना अलंकार। जीवात्मा और परमात्मा के साथ रहने का तात्पर्य दोनों के चैतन्य-स्वरूप तथा परमार्थतः अभिन्न होना है।

रांम बिनां संसार धंध कुहेरा।
सिरि प्रगट्या जम का पेरा ।।टेक।।
देव पूजि-पूजि हिंदू मूये, तुरक मूये हज जाई।
जटा बांधि-बांधि योगी मूये, इनमें किनहूँ न पाई ।।
कवि कवीनें कविता मूये कापड़ी केदारौं जाई।
केस लूंचिलूंचि मूये बरतिया, इनमें किनहूँ न पाई ।।
धन संचते राजा मूये, अरु ले कंचन भारी।
बेद पढ़ें पढ़ि पंडित मूये, रूप भूल मूई नारी ।।
जे नर जोग जुगति करि जांनैं, खोजै आप सरीरा।
तिनकूंमुकति का संसा नाहीं, कहत जुलाह कबीरा ।।३१६।।

भगवान् राम और उनकी भक्ति के बिना यह जगत् अज्ञान एवं संशय-रूपी धुंध तथा कुहरे से ढका हुआ है। राम की सत्ता से व्यतिरिक्त जगत् केवल अज्ञ और अचित् है। भक्ति से शून्य सारी सारी साधनायें अज्ञान, संशय एवं दिग्भ्रम में डालने वाली ही होती हैं। इन साधनाओं के अज्ञान में मानव के सिर पर निरंतर यमराज का आरा चलता रहता है। सभी साधक सम्प्रदायों के अहंकार में डूबे हुए हैं। देवताओं की पूजा करते-करते हिन्दू मर जाता है और हज-कावे जाता हुआ मुसलमान। जटा-जूट के फंदे में फँसा हुआ योगी भी काल का ही ग्रास बनता है। इनमें से किसी को भी भगवान् का साक्षात्कार नहीं हो पाता है। कविता करने के अहंकार में रचना करते हुए कवि मरते हैं। केदारनाथ जाकर कार्पटिक साधु मर गये हैं। केश-लुञ्चन करता हुआ जैन ब्रती साधु, धन-संचय करता हुआ एवं बहुत-से स्वर्ण के साथ राजा, वेद पढ़-पढ़ कर पंडित, तथा रूप के अहंकार में नारी—ये सभी अपनी अहं-भावनाओं एवं आसक्तियों में नष्ट हो जाते हैं। इनमें से किसी को भी भगवान् की प्राप्ति नहीं होती है। पर जिन व्यक्तियों को भगवान् से मिलने के योग और युक्ति का ज्ञान है, वे परमतत्त्व को अपने शरीर में ही खोजते हैं। जुलाहा कबीर कहता है कि ऐसे लोगों को मुक्ति प्राप्त होती है; इसमें सन्देह नहीं है।

टिप्पणी—'जुलाहा' शब्द के द्वारा व्यंग्य है। इतनी बात तो जुलाहा भी जानता है।

कहूँ रे जे कहिबे की होइ।
नां को जानैं नां को मानैं, ताथैं अचिरज मोहि ॥टेक॥
अपनें अपनें रंग के राजा, मांनत नांहीं कोई।
अति अभिमांन लोभ के घाले, चले अपनपो खोई॥
मैं मेरी करि यहु तन खोयो, समझत नहीं गंवार।
भौजलि अधफर थाकि रहे हैं, बुड़े बहुत अपार॥
मोहि आग्या दई दयाल दया करि काहू कूं समझाइ।
कहै कबीर मै कहि हार्यो, अब मोहि दोस न लाइ॥३१७॥

कबीर कहते हैं कि मैं तो उन बातों को कहता रहता हूँ जो कहने योग्य हैं। पर मुझे बहुत आश्चर्य है कि उन बातों को न तो कोई समझता है और न उन पर कोई विश्वास करता है। सभी लोग अत्यधिक अहंकार एवं लोभ के वशीभूत हैं। इसलिए उन्होंने अपनत्व खो दिया है, अर्थात् वे अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को भूल गए हैं। ये अज्ञानी समझते नहीं हैं! इन्होंने 'मैं' और 'ममता' में ही अपना सारा शरीर नष्ट कर दिया है। ये लोग भवसागर की यात्रा के आधे रास्ते में ही थक गये हैं और बहुत-से तो इस भवसागर में डूब भी चुके हैं, अर्थात् कुछ तो मामूली सिद्धियाँ प्राप्त होते ही अहंकार-ग्रस्त होकर साधनाओं को अधूरी ही छोड़ बैठते हैं और कुछ वासनाओं के वशीभूत होकर माया में लिप्त हो जाते हैं। यही उनका भवसागर में डूबना है। मुझे दयालु भगवान् ने अनुग्रहपूर्वक आज्ञा दी है कि मैं इस भवसागर में डूबते हुए लोगों में से किसी को तो विवेक दे दूँ। पर मैं इनको समझा-समझा कर हार गया हूँ। कोई भी इस तरफ ध्यान नहीं देता है। अतः ये अज्ञानी लोग बाद में मुझे दोष न दें।

टिप्पणी—'रूपक' तथा 'व्यतिरेक' अलंकार की ध्वनि, कबीर को ज्ञानोपदेश की प्रेरणा भगवान् की मंगल-विधायिनी शक्ति से प्राप्त होती है। इस भक्त दृष्टि के साथ ही इस पद में कबीर को गर्वोक्ति की छाया भी है। ये दोनों तत्त्व ही कबीर के व्यक्तित्व की विशेषताएँ हैं।

एक कोस बन मिलांन न मेला।
बहु तक भांति करै फुरमाइस, है असवार अकेला ॥टेक॥
जोरत कटक जु घेरत सब गढ़, करतब झेली झेला।
जोरि कटक गढ़ तोरि पातिसाह, खेलि चल्यौ एक खेला॥
कूंच मुकांम जोग के घर मैं, कछ एक दिवस खटांनां।
आसन राखि बिभूति सखि दे, फुनि ले मटी (कठी) उड़ांनां॥
या जोगी की जुगति जु जांनैं, सो सतगुर का चेला।
कहैं कबीर उन गर की कृपा थैं, तिनि सब भरम पछेला॥३१८॥

कबीर चेतावनी देते हैं कि माया-मोह में फँसा हुआ यह जीवन एक कोष का बीहड़ जंगल है। इसमें जीवात्मा का किसी साधक या ईश्वर-भक्त जीवात्मा से मेल-मिलाप ही कठिन है। जीवात्मा-रूपी यह घुड़सवार अपनी जीवन-यात्रा में अकेला ही है। वह इस संसार-रूपी भयावने वन से निकलने के लिए अनेक उपाय और अनेक प्रकार की प्रार्थनायें करता है। कामादिक ने जीव के विरुद्ध पूरी सेना एकत्र कर उसको शरीर-रूपी गढ़ में ही घेर लिया है। ऐसे जीव का काम ही अनेक प्रकार के कष्टों को झलते रहना हो गया है। पर अन्त में इस शरीर-रूपी गढ़ के जीव-रूप बादशाह ने भी कामादिक के विरुद्ध अपनी साधनाओं की सेना एकत्र कर ली। साधक-जीव ने शरीर रूपी गढ़ का बन्धन ही तोड़ दिया और वह काम-क्रोधादिक से जूझने का खेल सा कर वहाँ से चल दिया, अर्थात् उसने देहाध्यास तथा विषयों के प्रति आसक्ति ही छोड़ दी। इस प्रकार जीवात्मा ने मोक्ष की ओर कूँच किया। इस यात्रा में कुछ दिन उसने कायायोग में बिताये। उसके बाद आसन पर अपने शरीर की विभूति को साक्षी-रूप छोड़कर इस साधक ने अपने शरीर की मिट्टी भी उड़ा दी, अर्थात् कायायोग के साधन इस शरीर को भी छोड़ दिया। इस प्रकार कायायोग से ऊपर भक्ति और ज्ञान-योग में उठकर वह मोक्ष की ओर चला पड़ा। जो इस योग के मार्ग और युक्ति को समझता है, वही सद्गुरु का वास्तविक शिष्य है। कबीर कहते हैं कि उसी गुरु की कृपा से ऐसे योगी सांसारिक एवं साधना सम्बन्धी सम्पूर्ण भ्रमों को छोड़कर परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

टिप्पणी—यह जीवन-संग्राम का सुन्दर रूपक है। कायायोग अन्तिम साधन नहीं, अपितु भक्ति और ज्ञान के लिए ही वह प्रथम सोपानरूप है। इन तीनों का समन्वय ही क़बीर की विशेषता है। यह इस पद में भी व्यंजित है।

राग मारू

मन रे रांम सुमिरि, रांम सुमिरि, रांम सुमिरि भाई।
रांम नांम सुमिरन बिनां, बूड़त है अधिकाई ॥टेक॥
दारा सुत ग्रेह नेह, संपति अधिकाई।
यामैं कछु नांहि तेरौ, काल अवधि आई ॥
अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हां।
तेऊ उतरि पारि गये, रांम नाम लीन्हां ॥
स्वांन सूकर काग कीन्हौं, तऊ लाज न आई।
रांम नांम अंमृत छाड़ि, काहे विष खाई ॥
तजि भरम करम विधि नखेद, रांम नांम लेही।
जन कबीर गुर प्रसादि, राँम करि सनेही ॥३१९॥

रे भाई, राम नाम का जप करो। इसके बिना इस भवसागर में और अधिक डूबते चले जाओगे; माया में अधिक-से-अधिक लिप्त जाओगे। स्त्री, पुत्र, घर एवं

इनके प्रति स्नेह तथा अतुल सम्पत्ति—इन सब में तेरा कुछ भी नहीं है। ये सब तो माया है, इनका चैतन्य से, क्या सम्बन्ध ? रे जीव, तुम्हारी मृत्यु की अवधि निकट आती जा रही है। अजामिल और गणिका से पतित कर्म किये, पर राम-नाम के प्रभाव से उनका भी उद्धार हो गया। रे जीव, तुम कुत्ते, सूअर, कौए आदि की अनेक योनियों में भटक आये हो, तब भी तुम्हें लज्जा का अनुभव नहीं होता। तुम भक्ति-रूपी अमृत को छोड़कर विषय-रूपी विष का ही भोजन कर रहे हो। तुम भ्रम, कर्म एवं विधि-निषेधों के मोह को छोड़ दो और भगवान् राम का नाम लो। भक्त कबीर उद्बोधन कर रहे हैं, "रे मानव, गुरु की कृपा का आश्रय लो और उस प्रसाद से भगवान् के भक्त बनो। भक्त कबीर भी गुरु की कृपा से ही भगवान् राम का भक्त बना है।"

टिप्पणी—रूपक अलंकार। यहाँ पौराणिक आख्यानों की परम्परागत व्यंजना का उपयोग है। संत-साहित्य में इनसे नये अर्थों की भी व्यंजना की गई है। कबीर ने भी कई स्थानों पर इस नवीन व्यंजना का उपयोग किया है।

रांम नांम हिरदै धरि, निरमोलिक हीरा।
सोभा तिहूँ लोक, तिमर जाय त्रिबधि पीरा।।टेक।।
त्रिसनां नैं लोभ लहरि, कांम क्रोध नीरा।
मद मछर कछ मछ, हरषि (हरखि) सोक तीरा।।
कांमनी अरू कनक भँवर, बोये बहु बोरा।
जन कबीर नवका हरि, खेवट गुरु कोरा (कीरा) ।।३२०।।

कबीर कहते हैं कि राम-नाम अमूल्य हीरा है, इसको हृदय में धारण करो। यही वास्तव में तीनों लोकों का, प्राणिमात्र का, सौन्दर्य है। इसी से अज्ञान के अन्धकार तथा त्रिविध पीड़ा का नाश होता है। काम और क्रोध-रूपी जल में तृष्णा एवं लोभ की लहर उठती रहती है। इस भव-जल में मद-मत्सर रूपी मच्छ और कच्छ हैं। इस भवसागर के दुःख और सुख-रूप दो किनारे हैं और इसमें कामिनी और कञ्चन की भँवरें पड़ रही हैं। इन्हीं भँवरों में पड़कर अधिकांश जीव इस भवसागर में डूब गए हैं। पर इस भवसागर से पार भी उतारा जा सकता है। भक्त कबीर कहते हैं कि इससे पार उतरने के लिए हरि स्वयं ही या उनकी स्मरण ही नौका है और केवल गुरु ही अथवा शुकदेव उस नौका का खेवट हैं। अथवा पार उतरने की इच्छा वाला व्यक्ति कबीर है, हरि नौका है तथा गुरु उसका खेवट है। या भक्त कबीर पार उतरने की इच्छा वाला व्यक्ति है, भगवान् का नाम नौका है तथा गुरु ही इस नौका को खेने वाला मल्लाह है।

टिप्पणी— सांगरूपक अलंकार। 'जन कबीर' भक्तों के लिए उपलक्षण हैं। इसमें व्यतिरेक की ध्वनि भी है। सामान्य 'हीरा' वक्षस्थल पर धारण किया जाता है

और हरि हीरा हृदय में, पत्थर-रूप हीरा कुछ मनुष्यों के शरीर की बाहरी शोभा का साधन है। वह भी केवल भ्रम ही है। पर 'हरि-हीरा' सम्पूर्ण प्राणिमात्र के जीवन का परम पुरषार्थ तथा जीवन की कृतार्थता है। सारे जगत् की सत्ता और शोभा इसी में है। इस सारी व्यंजना के साथ इस पद में भी व्यतिरेक की ध्वनि है।

चलि मेरी सखी हो, वोलगन रांम राया।
जन तक काल बिनासै सो काया ॥टेक॥
जब लग लोभ मोह की दासी, तीरथ ब्रत न छूटै जंम की पासी।
आवैंगे जम के घालैंगे बांटी, यहु तन जरि बरि होइगौ माटी॥
कहै कबीर जे जन हरि रंगि रांता, पायौ राजा रांम परम पद दाता ॥३२१॥

अरी अन्तःकरण की वृत्ति, तुम चलकर राम के प्रेम में या सेवा में मग्न हो जाओ। यह काल चाहे जब तुम्हें नष्ट कर देगा। तुम जब तक लोभ-मोह की दासी हो और तर्थ-व्रत आदि का मोह तुमसे नहीं छूटता है, तब तक यम के बन्धन में ही रहोगे। यमदूत आयेंगे और तुम्हें कुचल कर धर देंगे। तुम्हारा यह शरीर जल कर मिट्टी हो जायेगा। कबीर कहते हैं कि जो राम के प्रेम में रंगे हुए हैं उन्होंने परम पद देने वाले भगवान् राम को प्राप्त किया है।

टिप्पणी—यहाँ अन्तःकरण की वृत्ति सम्पूर्ण जीव के लिए उपलक्षण है।

राग टोडी

तूं पाक परमांनंदे।
पीर पैकंबर पनह तुम्हारी, मैं गरीब क्या गंदे ॥टेक॥
तुम्ह दरिया सबही दिल भीतरि, परमांनंद पियारे।
नैक नजरि हम ऊपरि नांहीं, क्या कमिबखत हमारे॥
हिकमति करैं हलाल बिचारैं, आप कहावैं मोटे।
चाकरी चोर निवालै हाजिर, सांईं सेती खोटे॥
दांइम दूवा करद बजावैं, मैं क्या करूं भिखारी।
कहै कबीर मैं बंदा तेरा, खालिक पनह तुम्हारी ॥३२२॥

हे भगवान् तुम पवित्र एवं परमानन्द-स्वरूप हो। पीर और पैगम्बर सब तुम्हारी शरण में हैं। मुझ गरीब भिक्षुक की तो गिनती ही क्या है? हे प्रिय, हे परमानन्द, तुम सम्पूर्ण हृदयों में नदी के समान प्रवाहित होकर उन्हें सरस करते रहते हो; क्योंकि सम्पूर्ण आनन्द एवं सरसता भगवान् का ही स्वरूप है। पर विरही जीव को विशेष कृपा की आकांक्षा हैं; अतः वह कहता है कि मुझ पर तो साधारण सी कृपा-दृष्टि भी आपने नहीं की है। यह हमारा कैसा अभाग्य है? जो वैद्य स्वयं चिकित्सा

करता है, पर हृदय में पशु-हिंसा का संकल्प रखता है और फिर भी बड़ा कहलाता है अथवा लोग युक्तियाँ सोचते हैं और हलाल का संकल्प करते हैं, फिर भी बड़े कहलाते हैं। व्यक्ति भगवान् की सेवा से चोर है पर भोजन के अवसर पर हमेशा तैयार रहता है। ऐसे व्यक्ति भगवान् के प्रति अविश्वासी हैं। वे भगवान् से खोटे हैं। इस जगत् की विचित्र अवस्था है। इसमें कुचरित्र व्यक्ति जीवन में आनन्द मना रहे हैं वे सदा दुआएँ करते हैं, पर छुरी बजाते रहते हैं। मैं भगवान् में आस्था रखने वाला दरिद्र एवं भिखारी हूँ। पर मैं क्या कर नकता हूँ, क्या जोर हैं? कबीर कहते हैं कि मैं तेरा सेवक हूँ। तुमने तो सम्पूर्ण विश्व को ही शरण दे रखी है। मुझ पर भी अनुग्रह करो।

अब हम जगत गौंहन तैं भागे।
जग की देखि गति रांमहि ढुंरि लागे ।।टेक।।
अयांन पनैं थैं बहु बौरानें, संमझि परी तब फिरि पछितानें ।।
लोग कहौ जाकै जो मनि भावै, लहैं भुवंगम कौन डसावै ।।
कबीर बिचार इहै डर डरिये, कहै का हो इहां नै मरिये ।।३२३।।

कबीर कहते हैं कि अब हम जगत् के साथ से भाग रहे हैं। संसार की बन्धन में डालने वाली प्रकृति को देखकर हम भगवान् की ओर झुक रहे हैं। अबोध अवस्था में ही हम संसार के मद-मोह से अत्यन्त पागल बने रहे। पर जब ज्ञान हुआ तब हम अपने किये हुए पर पछताने लगे हैं। ज्ञान हो जाने पर जगत् से विमुख होने तथा आध्यात्मिक साधनाओं में लग जाने की हमारी वृत्ति के सम्बन्ध में लोग अपने मन को जो अच्छा लगा वही कहते रहे। पर एक बार तत्त्व-ज्ञान होने के बाद अथवा सर्पत्व का ज्ञान होने पर विषय-वासनाओं के सर्प से कैसे डसावे? कबीर संसार की इस डसाने वाली प्रवृत्ति का विचार करके भयभीत है। किसी के कहने से क्या होता है? संसार के विषयों में फँसकर मरना नहीं चाहिए।

टिप्पणी—'रूपक' अलंकार।

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी।
सबद अनाहद च्यंतन करी ।।टेक।।
पहली खोजौ पंचे बाइ, बाइ ब्यंद ले गगन समाइ ।।
गगन जोति तहां त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवनां मेलौ बंधि ।।
मन थिर होइ त कवल प्रकासै, कवला मांहि निरंजन बासै ।।
सतगुर संपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तो कहा बतावै ।।
सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसण दिढ निद्रा पुनि साधि ।।
पुहप पत्र जहां हीरा मणीं, कहै कबीर तहां त्रिभुवन धणीं ।। ३२४।।

कबीर कहते हैं, रे जीव, भगवान् का गहरा ध्यान धरो और अनहद शब्द का चिन्तन कर। पहले पंच प्राणों के स्वरूप का अनुसंधान करो। उसी प्राणवायु और बिन्दु अर्थात् सूक्ष्म शरीर को अपने साथ लेकर शून्य मण्डल में समाहित कर दो, त्रिकुटी की संधि पर ही गगन की ज्योति में सुषुम्ना से ऊपर की ओर चढ़ने वाली प्राणवायु इड़ा और पिंगला को एक—दूसरे से मिलाकर बाँध दो। इससे मन को स्थिरता मिलती है और सहस्रार कमल प्रकाशित हो जाता है। उसी कमल में भगवान् निरंजन का निवास है। सद्गुरु इस कमल के संपुट खोलकर वहीं शिष्य को निरंजन भगवान के दर्शन करा देते हैं। पर जिसमें गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं है; जो निगुरा है, उसे निरंजन का दर्शन कैसे कराया जाय? अथवा जो स्वयं ही निगुरा है, वह क्या बता सकता है? अतः हे साधक, गुरु में श्रद्धा धारण करके सहज स्वरूप का साक्षात्कार करो तथा सहज स्वरूप प्राप्त करके सम्पूर्ण सांसारिक उपाधियों से मुक्त हो जाओ। आसनों की साधना को दृढ़ करके अज्ञान-रूपी निद्रा पर अपना अधिकार जमा लो। त्रिकुटी से ऊपर सहस्रार-कमल है, वहीं पर शून्य-सरोवर में उन कमल पत्रों पर आनन्द-रूप हीरामणि है और वहीं पर त्रिभुवनपति का निवास है। उसी तत्त्व में ध्यान-मग्न हो जाओ।

टिप्पणी—यहाँ कायायोग के प्रतीकों द्वारा ज्ञान और प्रेम की आध्यात्मिक साधनों का वर्णन है।

इहि बिधि सेविये श्री नरहरी।
मन की दुबिध्या मन परहरी ।।टेक।।
जहां नहीं जहां (तदां) कहां कछु जांणि, जहां नहीं तहां लेहु पछांणि।
नांहीं देखि न जइये भागि, जहा नहीं तहां रहिये लागि।।
मन मंजन करि दसवैं द्वारि, गंगा जमुना संधि बिचारि।
नादहि ब्यंद कि ब्यंदहि नाद, नादहि ब्यंद मिलै गोब्यंद।।
देवी न देवा पूजा नहीं जाप, भाइ न बंध माइ नहीं बाप।
गुणातीत अस निरगुण आप, भ्रम जेवड़ी जग कीयौ सांप।।
तन नांहीं कब जब मन नांहि, मन परतीत ब्रह्म मन मांहि।
परहरि बकुला ग्रहि गुन डार, निरखि देखि निधि बार न पार।।
कहै कबीर गुर परम गियांन, सुंनि मंडल में धरौ धियांन।
प्यंड परें जीव जैहे (जैसेव) जहां, जीवत ही ले राखौ तहां।।३२५।।

कबीर कहते हैं कि भगवान् नरहरि की इस प्रकार सेवा करनी चाहिए कि मन की दुविधाओं को मन स्वयं ही परित्याग कर दे। जहाँ पर संसार ही नहीं है वहाँ पर कुछ जान लो। जहां पर कुछ नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है वहीं पर भी (उसको) पहचान लो अर्थात् वहाँ पर जो कुछ भी तत्त्व-वस्तु है; उसको पहचानो। उसी तत्त्व में ही वास्तव में जगत् भी

है; पर उस तत्त्व को उसी सहज रूप में पहचानने का प्रयत्न करो। जहाँ शून्य प्रतीत होता है; वहाँ पर भी परमतत्त्व ही है। उस परमतत्त्व को उस शून्य में भी पहचाने का प्रयत्न करो, क्योंकि वहाँ वह तत्त्व अन्य आरोपों से मुक्त होने के कारण अपने शुद्ध स्वरूप में ज्ञात हो सकता है। शून्य को देखकर घबड़ाहट से भागने का प्रयत्न मत करो; पर शून्य में विराजमान परमतत्त्व में अपना मन रमाओ। दशम द्वार अर्थात् ब्रह्म-रन्ध्र में मन का मज्जन करो अर्थात् उसे सांसारिक आसक्तियों से रहित एवं शुद्ध करो। वहाँ पर इड़ा और पिंगला की सन्धि पर ध्यान एकाग्र करो। इस प्रकार ध्यान करो कि नाद-रूप परमतत्त्व ही सृष्टि-तत्त्व-रूप बिन्दु है अथवा बिन्दु ही नाद है। इसमें से कौन-सा तत्त्व-नाद अथवा बिन्दु है—यथार्थ एवं मूल वस्तु है? यह भी ध्यान करो कि ये नाद और बिन्दु दोनों गोविन्द में ही समाहित हैं। उनका मिलन ही गोविन्द है। न देवी है न देवता; अतः न पूजा है, न जप। अद्वैत तत्त्व में प्रतिष्ठा होने पर वास्तव में ये सब सत्य नहीं हैं, कल्पित हैं। वस्तुतः न भाई है, न बन्धु और न माँ है और न बाप। जैसे गुणों से परे का निर्गुण आत्म-तत्त्व स्वयं ही सब कुछ है वैसे ही उसने भ्रम की रस्सी को जग रूप संसार बना दिया है। जब संकल्प-विकल्पात्मक मन का लय हो जाता है; तब शरीर भी नहीं रहता और उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता। स्वरूप की निष्ठा जागने पर ब्रह्म के प्रकाश में मन का दर्शन होने लगता है। तुम त्रिगुणात्मक को छोड़कर गुणों की मूल डाल को पकड़ो। तब अच्छी प्रकार देखो कि उस अनन्त निधि का कहीं बार पार नहीं है। अर्थात् सुषुम्ना से ऊपर गुणमयी डाल को पकड़ कर लो। वहाँ त्रिकुटि में ध्यान लगाकर देखने से तुम्हें अनन्त प्रकाश के दर्शन होंगे। परम ज्ञानी गुरु का उपदेश है कि शून्य मण्डल में अपना ध्यान एकाग्र कर लो। पिण्ड को छोड़कर जहाँ जीव जाता है, अर्थात् उपाधि के समाप्त होने पर व्यष्टि चैतन्य जिस परमचैतन्य में लवलीन होता है जीवित अवस्था में ही अर्थात् शरीर धारण की अवस्था में ही जीव चैतन्य की उसी परमचैतन्य में प्रतिष्ठा बनाये रखो। क्योंकि उपाधि तो मूलतः मिथ्या ही है; अतः व्यष्टि और समष्टि का भेद भी मिथ्या है। चैतन्य हमेशा अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है; अतः शरीर धारण की अवस्था में भी उस मूल एवं शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने की चेतना सम्भव है। यही प्रतिष्ठा भगवान् की भक्ति का मूल उपाय है।

टिप्पणी—कायायोग की प्रतिक्रियाओं का भक्ति, उपासना और ज्ञान के साधन के रूप में वर्णन है। इसलिए उन्हीं प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

अलह अलख निरंजन देव।
किहि बिधि करौं तुम्हारी सेव ।।टेक।।
बिस्न सोई जाको बिस्तार, सोई कृस्न जिनि कीयौ संसार
गोब्यंद ते ब्रह्मंडहि गहै, सोई रांम जे जुगि जुगि रहै।।

अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोलै सोई खुदाई।
लख चौरासी रब परवरै, सोई करीम जे एती करै॥
गोरख सोई ग्यांन गमि गहै, महादेव सोई मन की लहै।
सिध सोई जो साधै इती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती॥
सिध साधू पैकंबर हूवा, जपै सु एक भेष है जूवा।
अपरंपार का नांउ अनंत, कहै कबीर सोई भगवंत ॥३२६॥

हे अल्लाह, हे अलभ्य, हे अलक्ष्य, हे माया-रहित भगवान् ! मैं आपकी सेवा किस प्रकार करूँ ? आपके माया से अतीत होने के कारण जीवन की सभी क्रियायें जो माया में ही रहती हैं, आपकी सेवा कहलाने में असमर्थ हैं। अतः आपके स्वरूप का ध्यान ही सेवा है। विष्णु आदि कोई पृथक् देवता नहीं है। विष्णु वही तत्त्व है जो सर्वत्र विस्तृत है। कृष्ण वही है जिसने सारे संसार की सृष्टि की है। गोविन्द (अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी) वही है जो ब्राह्मण को ज्ञान से ग्रहण करता है। राम-तत्त्व वही है जो युग-युगांतर तक व्याप्त रहता है। अल्लाह वही है जिसने यह सारा समुदाय और धर्म-सम्प्रदाय उत्पन्न किया है। जो इस शरीर के दशों द्वारों को खोलकर ज्ञान देता है, वही वास्तव में खुदा है। जो चौरासी लाख योनियों का पालन-पोषण करता है; वही वास्तव में रब (ईश्वर) है। इतनी उदारता दिखाने वाला ही वास्तव में करीम (स्रष्टा और दयालु) है। गोरख वही है जो ज्ञान से प्राप्य तत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है। महादेव मन की बात को अन्तर्यामी होकर ग्रहण करती है। इतने तत्त्वों की साधना करने वाला ही वास्तव में सिद्ध है। नाथ वस्तुतः वही है जो त्रिभुवन को अपने नियन्त्रण में रखता है अथवा त्रिभुवन में संयत रहता है। उस एक परमतत्त्व के ही विभिन्न कार्यों के कारण विभिन्न नाम हैं। सिद्ध साधक या पैगम्बर जो भी हुए हैं वे सभी एक तत्त्व का जप करते हैं। ये भेद तो बाहरी आडम्बर मात्र है। अपार तत्त्व के अनन्त नाम हैं। वस्तुतः सब नाम उसी के हैं, क्योंकि सभी नाम मूलतः सत् के ही बोधक हैं। कबीर कहते हैं कि अनेक नामों में व्यक्त अथवा अनेक नामों से व्यक्त अर्थात् व्यंजित तत्त्व ही भगवान् है।

टिप्पणी—विभिन्न सम्प्रदायों में भगवान् के लिए प्रयुक्त होने वाले नामों के मूल में रहने वाली भावना का उद्घाटन किया गया है। वे भगवान् के विभिन्न गुणों के बोधक शब्द हैं; इस प्रकार वे इन गुणों की उपाधि से उसी एक तत्त्व के व्यंजक हैं। प्रत्येक शब्द के द्वारा उसी एक तत्त्व की उपासना ही वास्तव में उपासना है, शेष केवल साम्प्रदायिक आडम्बर मात्र। इस प्रकार दार्शनिक आधार पर कबीर ने सब सम्प्रदायों के उपास्य एवं उपासना में तत्त्वतः अभेद स्थापित किया है। उपासना एवं दर्शन के क्षेत्र में कबीर द्वारा स्थापित समन्वय का यह आधारभूत तत्त्व है।

तहां जौ रांम नांम ल्यौ लागै ।
तौ जुरा मरण छूटै भ्रम भागै ।।टेक।।

अगम निगम गढ़ रचिले अवास, तहुवां जोति करै परकास ।
चमकै बिजुरी तार अनंत, तहां प्रभू बैठे कवलाकंत ।।
अखंढ मंडल मंडित मंड, त्रि अस्नान करै त्रीखंड ।
अगम अगोचर अभिअंतरा, ताकौ पार न पावै धरणींधरा ।।
अरध उरध विचि लाइले अकास, तहुवां जोति करै परकास ।
टार्‌यौ टरै न आवै जाइ, सहज सुंनि मैं रह्यौ समाइ ।।
अबरन बरन स्यांम नहीं पीत, हउमैं गाइन गावै गीत ।
अनहद सबद उठै झणकार, तहां प्रभु बैठे समरथ सार ।।
कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मैं लिया निवास ।
द्वादस दल अभिअंतरि म्यंत, तहां प्रभू पाइसि करिलै च्यंत ।।
अमलिन मलिन घांम नहीं छांहां, दिवस न राति नहीं है ताहां ।
तहाँ न ऊगै सूर न चंद, आदि निरंजन करै अनन्द ।।
ब्रह्मंडे सो प्यंडे जांनि, मांनसरोवर करि असनान ।
सोहं हंसा ताकौ जाप, ताहि न लिपैं पुन्य न पाप ।।
काया मांहैं जांनैं मोई, जो बोलै सो आपै होई ।
जोति माँहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्रांणीं तिरै ।।३२७।।

सहस्रवार कमल में अथवा वहाँ (जिसका स्वरूप आगे वर्णित है) विराजमान राम-रूप परम ज्योति में ध्यान लगाने से जरा-मरण का वन्धन छूट जाता है और संसार का मूल भ्रम भी समाप्त हो जाता है। अरे जीव, जो दुर्गम है एवं जहाँ पहुँचने पर गति समाप्त हो जाती है और जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता है ऐसे शून्य-शिखर रूपी गढ़ में अपना निवास स्थान बना लो। वहीं पर ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश हो रहा है वहाँ पर कुण्डली-रूपी बिजली भी चमकती है और अनन्त तारे भी खिले हुए हैं। अर्थात् आपाततः प्रतीयमान विरोधों का वहाँ सामंजस्य है। ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश सामान्य एवं अव्यक्त-रूप भी है और उसकी वहाँ पर व्यक्त तथा विशेष के रूप में भी प्रतीति होती है। वहीं पर भगवान् कमलाकांत बैठे हुए हैं। वहीं पर प्रकाश के अखण्ड मण्डलों में मंडित परम-ब्रह्म की ज्योति के दर्शन होते हैं। इस ज्योति में यह सम्पूर्ण त्रिभुवन तीन बार स्नान कर रहा है अर्थात् तीनों कालों में इसके त्रिगुण रूप में निमज्जित रहता है। यह अगम्य और अगोचर प्रकाश गुहानिहित एवं आभ्यन्तर तत्त्व है। शेषनाग भी इसकी अनन्यता का भेद नहीं पा सके हैं। अधस्

और ऊर्ध्व, अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड के मध्य में व्याप्त गगन-तत्त्व का ध्यान करो। वहीं पर ज्योति का प्रकाश भी है। सहज-शुन्य में प्रतिष्ठित रहने वाला वह चैतन्य-स्वरूप तत्त्व टस से मस नहीं होता है और उसका आवागमन भी नहीं होता है। न उसे अबर कहा जा सकता है और न बर ही। अथवा वह वर्ण से अतीत वर्णवाला है। वह न काला है और न पीला ही। वह स्वयं ही गायन है और स्वयं ही गीत गाता है। वहाँ पर अनाहत नाद की झंकार होती रहती है। वहीं पर समर्थ एवं सारभूत तत्त्व भगवान् विराजमान हैं। सुषुम्ना-शिखर के विकसित पुष्प पर दीपक का प्रकाश है। अथवा कदली पुष्प के समान हृदय-कमल में भी वही ज्योति प्रकाशित है। हे मित्र, हृदय में स्थित अनाहत चक्र के बारह पंखड़ी वाले कमल के भीतरी भाग पर अपना ध्यान केन्द्रित करो और उसी का चिन्तन करो। वहीं पर तुम्हें भगवान् की प्राप्ति हो जायेगी। यह न अमलिन कहा जा सकता है और न मलिन ही। वहां पर न धूप है न छाँह। वह पर रात-दिवस भी नहीं है। वहां सूर्य और चन्द्रमा का उदय भी नहीं होता है; संसार की इन सब वस्तुओं, प्रमेयों और वाचों से परे का वह तत्त्व है। वह आदि, मायारहित एवं आनन्द-स्वरूप है जो कुछ ब्रह्माण्ड है वही पिण्ड है। इस अभेद ज्ञान से व्यक्ति मुक्तावस्था-रूपा मानसरोवर में स्नान करता रहता है। 'सोऽहं' अर्थात् जीवन-ईश्वर के अभेद द्वारा व्यंजित चैतन्य का ध्यान करने वाला पाप-पुण्य में लिप्त नहीं होता। शरीर के उसी परम-तत्त्व को विराजमान समझो। जो शरीर में बोल रहा है वही अपना तथा आत्मा का स्वरूप है। कबीर कहते हैं कि जिस व्यक्ति का इस ज्योति में मन स्थिर रहता है, वह इस भवसागर से पार हो जाता है।

टिप्पणी — रूपकातिशयोक्ति अलंकार तथा प्रतीकों का प्रयोग। उन प्रतीकों के माध्यम से परम तत्त्व की अनुभूति-दशा की व्यंजना है।

पाठान्तर— 'हाहु गाई न गावै गीत' पाठ भी मिलता है।

एक अचंभा ऐसा भया।
करणीं थैं कारण मिट गया ॥टेक॥
करणी किया करम का नास, पावक माँहि पुहुप प्रकास।
पुहुप माँहि पावक प्रजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै॥
प्रगटी बास वासना धोइ, कुइ प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ।
उपजी च्यंत मिटि गई, भौ भ्रम भागा ऐसी भई॥
उलटी गंगा मेर कूं चली, धरती उलटि अकासहि मिली।
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कौं गहै ॥३२८॥

शाब्दिक अर्थ—एक आश्चर्य ऐसा हो गया कि करणी से कारण मिट गया है। करणी ने कर्म का नाश कर दिया है। अग्नि में पुष्प का विकास हो गया है। पुष्प में अग्नि प्रज्ज्वलित है। पाप-पुण्य दोनों के भ्रम टल गये हैं। सुगन्ध प्रकट हो गई है और उसने वासना को धो दिया है। कुल प्रकट हो गया है और उसने कुल को खो दिया है, समाप्त कर दिया है। चिन्तन प्रकट हो गया है और चिन्ता मिट गई है। ऐसा हो गया है कि भव-भ्रम भाग गया है। उलट कर गंगा सुमेरु की ओर चल दी है। धरणी उलट कर आकाश से मिल गई है। दास कबीर ऐसा तत्त्व कहते हैं कि चन्द्रमा उलट कर राहु को ग्रसता है।

ज्ञान एवं भक्तिपरक अर्थ—एक ऐसा आश्चर्य घटित हो गया है कि कार्य से कारण का नाश हो गया, अर्थात् साधना ने अज्ञान-रूपी कारण को नष्ट कर दिया है। ज्ञान और भक्ति की साधना से जीव में कर्मों की कर्तृत्व भावना तथा उनके प्रति रहने वाली आसक्ति ही समाप्त हो गई है। विषयों की अग्नि में ही भक्ति और अनासक्ति का आनन्द रूपी पुष्प विकसित हो गया है। इस पुष्प में ज्ञानाग्नि तथा प्रेमाग्नि भी प्रज्ज्वलित है। इसमें पाप-पुण्य दोनों ही भ्रम-रूप होकर टल गये हैं। भक्ति की सुवास प्रकट होने पर विषय की वासना-रूप दुर्गंध भाग गई है। पूर्ण का ज्ञान उदित हो गया है और उससे काल संसार का बन्धन छूट गया है। चिन्तामणि भगवान् का बोध जाग गया है और सांसारिक चिन्तायें समाप्त हो गई हैं। इससे ऐसा आश्चर्य हो गया है कि संसार रूप अज्ञान भाग गया है। इन्द्रियों के प्रवाह की गंगा विषयों से पराङ्मुख होकर सुमेरु (हिमालय, उद्गम स्थान रूप चैतन्य) इन्द्रियों का मूलभूत कारण की ओर अभिमुख हो गई हैं। सांसारिक विषय-वासनाओं की प्रवृत्ति उलट कर ज्ञान और भक्ति में समाहित हो गई हैं। भक्त कबीर उस रहस्य का उद्घाटन कर रहे हैं, जहाँ पर चन्द्रमा उलट कर राहु को ही ग्रस लेता है, अर्थात् चैतन्य अपने को ही आवृत्त करने वाले वृत्ति रूप अज्ञान को ग्रस लेता है।

कायायोगपरक अर्थ—साधना से जन्म-मरण का मूलभूत कारण ही समाप्त हो गया है और कर्म भी मिट गये हैं। मूलाधार चक्र की चण्डाग्नि से सहस्रार कमल विकसित हो गया। इस कमल में निरंजन रूपी परम-तत्त्व अग्निवत प्रज्ज्वलित हो गया है। इससे पाप और पुण्य का भ्रम समाप्त हो गया है। इस कमल में से निकली हुई अद्भुत सुगन्ध ने सांसारिक वासनाओं का कलमष धो डाला है, अर्थात् इस कमल में ज्योति-दर्शन के बाद विषय-वासनाओं की आसक्ति ही नहीं रह जाती है अब पूर्ण तत्त्व का प्रकाश हो गया है और संसार मिट गया है अथवा साधकों के कुल का अभिमान जाग गया है और सांसारिक कुलों का अहं मिट गया है। साधना से प्राप्य ज्ञान-रूपी चिन्तामणि के प्राप्त होने पर सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल गई है और भ्रम भी भाग गया है। सहस्रार रूपी सुमेरु से सुषुम्ना मार्ग होकर चलने वाली प्राण-धारा उलटकर सहस्रार कमल की ओर उन्मुख हो गई है। कुण्डली शक्ति रूपी

धरती उलटकर शून्य-गगन-तत्त्व में समाहित हो रही हैं। सहस्रार-कमल में उदित चन्द्रमा का अमृत विषयों के विष-रूप राहु को आत्मसात् कर रहा है। कबीर ने ऐसे ही कायायोग के रहस्य को स्पष्ट किया है।

टिप्पणी—उलटबाँसी की शैली एवं प्रतीकों का प्रयोग। उसकी कुछ पंक्तियों के श्लिष्ट प्रयोग से कायायोग और ज्ञानयोग दोनों का अर्थ निकलता है पर दोनों का प्राप्य भ्रम-नाश, ज्ञान तथा ईश्वर-प्रेम ही है।

है हजूरि क्या दूर बतावै।
दुंदर बांधें सुंदर पाँवै ॥टेक॥
सो मुलनां जो मन सूं लरै, अह निसि काल चक्र सूं भिरै।
काल-चक्र का मरदै मांन, तां मुलनां कूं सदा सलांम ॥
काजी सो जो काया बिचारै, अहनिसि ब्रह्म अगनि प्रजारै।
सुप्नै बिंद न देई झरनां, ता काजी कूं जुरा न मरणां ॥
सो सुलितांन जु द्वै सुर तांनैं, बाहरि जाता भीतरि आनैं।
गगन मंडल मैं लसकर करै, सो सुलितांन छत्र सिरि धरै ॥
जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू रांम नाम उच्चरै।
मुसलमांन कहै एक खुदाइ कबीरा कौ स्वांमी घटि घटि रह्यौ समाइ ॥३२९॥

रे मुल्ला, भगवान् सर्वव्यापी है पर तुम उसको दूर सातवें आसमान पर बताते हो। जब अपने सम्प्रदाय की भावना मे उद्भूत अहंकार एवं द्वन्द्वों पर नियन्त्रण करोगे तभी तुम्हें सुन्दर आत्म-तत्त्व की प्राप्ति होगी। असली मुल्ला वही है जो अपने मन से लड़ता है और रात-दिन जन्ममरण के काल-चक्र से जूझता रहता है। जो इस काल-चक्र का मान-मर्दन कर देता है वही मुल्ला सदा वन्दनीय है। वास्तविक काजी वही है जो अपने शरीर में विद्यामान चैतन्य-तत्त्व का चिन्तन करता रहता है और इस प्रकार रात-दिन ज्ञान की अग्नि से ही प्रज्वलित रहता है। जो काजी स्वप्न में भी अपना बिन्दु-पात नहीं होने देता है, उसकी न वृद्धावस्था आती है और न वह मरता ही है। वास्तविक सुल्तान वही है जो अपने श्वास-प्रश्वास रूपी दो सुरों को नियन्त्रित रखता है और बाहर आते हुए प्राणों को पूरक एवं कुम्भक द्वारा भीतर ले जाता है; इस प्रकार नाद को ऊर्ध्वगति देते हुए युद्ध करता है। वही सुल्तान अपने सिर पर छत्र धारण कर सकता है जो शून्य-मण्डल में जाकर अपना डेरा डाल लेता है। इन मूल तत्त्वों पर साम्प्रदायिक अहंकार वाला व्यक्ति ध्यान नहीं दे पाता है। यही कारण है कि योगी 'गोरख' 'गोरख' जपता है और हिन्दू राम-नाम का उच्चारण करता रहता है। मुसलमान कहता है कि एकमात्र खुदा ही है। कबीर कहते हैं कि सभी सम्प्रदायों में भेद-बुद्धि है अतः वे अपने ईश्वर को एक विशेष रूप से सीमित

समझते हैं। पर वास्तव में भगवान् सब अन्तःकरणों में समाया हुआ एक ही तत्त्व है।

टिप्पणी—विभिन्न शब्दों के व्युत्पत्तिपरक अर्थ देकर मूल धर्म-भावना के उद्‌बोधन का प्रयास है।

आऊंगा न जाऊंगा, मारूंगा न जीऊंगा।
गुर के सबद में रमि रमि रहूंगा ।।टेक।।
आप कटोरा आपैं थारी, आपैं पुरिखा आपैं नारी ।।
आप सदाफल आपैं नींबू, आपैं मुसलमान आपैं हिंदू ।।
आपैं मछ कछ आपैं जाल, आपैं झींवर आपैं काल ।।
कहै कबीर हम नांहीं रे नांहीं, नां हम जीवन न मुवले माँहीं ।।३३०।।

कबीर शुद्ध चैतन्य का प्रतिनिधित्व करते हुए कहते हैं कि न मैं आऊँगा और न जाऊँगा। मेरे जन्म और मृत्यु दोनों ही नहीं होंगे। मैं गुरु के उपदेश द्वारा प्रतिपादित परम-तत्त्व में ही रमा रहूँगा। शुद्ध चैतन्य सर्वव्यापी एवं सर्वदा रहने वाला तत्त्व है। अतः उसका न आने का प्रश्न है और न जाने का; न जन्म का और न मरण का। उसमें कोई गति नहीं है। जड़ माया चैतन्य के बिना गतिशील नहीं हो सकती है। जड़ में गति, जन्म और मृत्यु की धारणा ही कैसे हो ? अतः जन्मादिक, अर्थात् लोक-परलोक में जाना केवल प्रतीति मात्र है। आत्म-तत्त्व ही सब कुछ है। वही थाली है और वही कटोरा है। सब साधन भी आत्म-तत्त्व ही है तथा पुरुष और नारी रूप साधक भी आत्म-तत्त्व ही है। आत्म-तत्त्व अथवा ईश्वर ही सदाफल और नींबू है। हिन्दू और मुसलमान भी वही साधक आत्म-तत्त्व है। आत्म-तत्त्व ही मच्छ-कच्छ और जल है। उसको पकड़ने वाला और मारने वाला भी वही ईश्वर है। कबीर कहते हैं कि हमारा कोई अपना जीव के रूप में पृथक् अस्तित्व नहीं है। जीव की पृथक सत्ता केवला मिथ्या प्रतीत मात्र है। पर वह माया के संसर्ग के पृथक् लगता है। कबीर कहते हैं कि न हम (जीव) जीवित कहे जा सकते है और न मरे हुए ही। शुद्ध तत्त्व के लिए इन दोनों ही शब्दों का व्यवहार अनुपयुक्त है। अथवा मन तथा इन्द्रिय-व्यापार से असम्पृक्त एवं असंग होने के कारण हम (साधक भक्त) सामान्य व्यवहार में जीवित नहीं हैं। पर संसार का व्यवहार करते प्रतीत होते हैं अतः मरे हुए भी नहीं हैं। इसी से न हम जीवित हैं न मरे हुओं मे हैं।

हम सब माँहि सकल हम माँहीं।
हम थैं और दूसरा नाहीं ।।टेक।।
तीनि लोक में हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा ।।

खट दरसन कहियत हम भेखा, हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा॥
हमहीं आप कबीर कहावा, हमहीं अपनां आप लखावा॥३३१॥

चैतन्यपरक अर्थ—कबीर कहते हैं कि 'हम' पद से व्यंग्य चैतन्य ही सब में है और 'सर्व शब्द' से अभिहित जगत् इस चैतन्य में है अर्थात् वह उस चैतन्य पर आरोपित है। अतः हम सब में है और सब हम में हैं। चैतन्य की सत्ता से ही यह जगत् सत्तावान् है अतः हम से चैतन्य से भिन्न दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं। सम्पूर्ण तीनों लोकों में हम ही अर्थात् चैतन्य ही व्याप्त हैं। सर्वत्र हमारा ही पसारा है। यह आवागमन का सारा खेल केवल हमारी (चैतन्य की) लीला मात्र है। छओं दर्शनों में हमारे (चैतन्य के) ही विभिन्न रूपों का वर्णन है। हम अर्थात् चैतन्य सबसे परे का तत्त्व है, हमारा न कोई रूप है और न रेखा ही। हम स्वयं ही कबीर एवं महान् कहलाते हैं। हम स्वयं ही अपने स्वरूप का साक्षात्कार करते है। इस साक्षात्कार के ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों हम (चैतन्य) ही हैं।

अहंभावपरक अर्थ—माया आवरण और विक्षेप रूप है। यह विक्षेप ही 'अहंभाव' में साकार होता है। इसी से जगत् और जीव की पृथक् सत्ता है। 'हमपद' से लक्षणा से 'अहंकार' अर्थ हो जाता है। सम्पूर्ण जड़ एवं चैतन्य जगत् में 'अहंता' ही व्याप्त हैं और सकल जगत् भी अहं में ही है। माया जो 'अहं' रूप है, उससे पर जगत् इस 'अहं' का ही मूर्तिमान रूप है। तीनों लोकों में इस 'अहं' का ही प्रसार है। सम्पूर्ण आवागमन का अहं-विशिष्ट जीव-चैतव्य से ही सम्बन्ध है। अतः यह उसी का खेल है। छओं दर्शनों में 'अहं' के ही विभिन्न रूपों और वेशों का ही वर्ण है। इनमें भेद 'अहं' जनित ही हैं। सारे रूप माया के ही हैं अतः अहं से परे किसी रूप या रेखा की कल्पना नहीं की जा सकती है। सब रूपों और रेखाओं का अपना एक पृथक् व्यक्तित्व एवं अहं है। अतः सब कुछ 'अहं' में ही व्याप्त है। 'अहंभाव' स्वयं ही कबीर नाम से अभिहित होता है। सारे नाम और रूप अहंभाव में ही हैं। 'अहं' भाव को जगत् में अपना ही स्वरूप सर्वत्र दिखाई देता है।

टिप्पणी—'अद्वैत-तत्त्व' के औपनिषदिक सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

सो धन मेरे हरि का नांउ।
गांठि न बांध्यौ बेचि न खांउं॥टेक॥
नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बारी, भगति करौं मैं सरन तुम्हारी॥
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जांनौं दूजा॥
नांउ मेरे बांधव नाँउ मेरें भाई अंत की बिरियाँ नांव सहाई॥
नांउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसें रंक मिठाई॥३३२॥

कबीर कहते हैं कि हरि-स्मरण ही मेरा वह धन है जिसे मैं न गाँठ में बांधता हूँ और न उसे बेचकर खाता हूँ। अर्थात् सामान्य धन की तरह किसी अन्य उपयोग

वस्तु को खरीदने के लिए इसके संचय या छिपाने की आवश्यकता नहीं है। यह स्वयं ही अपना साध्य है। अतः मैं इसे बेचकर अर्थात् इसके बदले में भगवान् से धर्मार्थ-काम-मोक्ष की भी कामना भी नहीं करता हूँ। 'प्रेमः पुरुषार्थो महान्'। हरि-स्मरण के अतिरिक्त मेरे पास कुछ और है भी नहीं। न मेरे खेती है और न कोई बाड़ी है। न मेरे पास अन्य साधनाओं से प्राप्त शक्ति है और न सांसारिक ऐश्वर्य ही। भक्त की इनमें आस्था भी नहीं होती है। कबीर कहते हैं, "हे भगवान्, मैं तुम्हारी भक्ति में ही लीन हूँ और तुम्हारी शरण में हूँ। आपका नाम-स्मरण ही मेरे लिए सेवा-पूजा है, हे भगवान्, तुम्हारे अतिरिक्त मैं किसी को नहीं जानता हूँ। तुम्हारे अतिरिक्त कोई जानने योग्य ही नहीं है। वैसे परमार्थतः भगवान् के अतिरिक्त कुछ है नहीं। जानूँ भी किसे ? न मेरे बन्धु हैं, न भाई। मेरे अन्तकाल में भी मुझे आपका ही सहारा है। हरि-स्मरण मेरे लिए निर्धन का धन है।" जब निर्धन को कोई धन मिल जाता है तो वह अत्यधिक प्रसन्न होकर उसकी सुरक्षा करता है। वैसे ही भक्त हरि-स्मरण के धन से आनन्दित होकर उसको अपने हृदय में छिपा लेता है। कबीर कहते हैं कि नाम-स्मरण मेरे लिए ऐसे ही है जैसे रंक एवं भूखे भिखारी को मिठाई मिल गई हो।

टिप्पणी— यहाँ भक्त के सहजशील का चित्रण है। 'उपमा' के सहज प्रयोग से हर्ष, कृतार्थता आदि कई भावों की व्यंजना हुई है। 'व्यतिरेक' की भी व्यंजना है। दार्शनिक निष्ठाओं और भक्ति की भी व्यंजना है। इस प्रकार अलंकार-ध्वनि से भाव-ध्वनि है।

अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं।
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ॥टेक॥
जरै सरीर अंग नहि मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तौरौं॥
च्यंतामणि क्यूं पाइए ठाली (तोली), मन दे रांम लियौ निरमोली॥
ब्रह्मा खोजत जनम गंवायौ, सोइ रांम घट भीतरि पायौ॥
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ बिसवासा ॥३३३॥

कबीर कहते हैं कि अब मैंने भगवान् को अपना बना लिया है। प्रेम-भक्ति से मेरा मन भीग गया है। भक्ति के विरह में चाहे मेरा शरीर जलने लगे पर मैं इस जलन से अपना अंग नहीं मोड़ूँगा। भले ही प्राण चले जावें पर मैं भगवान् से स्नेह नहीं तोड़ूँगा। हरि-रूपी चिंतामणि ऐसे ही बिना परिश्रम के मुफ्त में कैसे मिल सकती है ? या चिंतामणि तोलकर कैसे मिल सकती है ? अमूल्य तत्त्व राम को अपना मन देकर ही खरीदा जा सकता है। भगवान् का साक्षात्कार अहं और मन के समर्पण पर ही संभव है। जिस भगवान् को बाहर खोजते-खोजते मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन बिता दिया; उसी राम को मैंने अपने अन्तःकरण में ही प्राप्त कर लिया। क्योंकि वह तो आत्म-स्वरूप ही है। कबीर कहते हैं कि भक्ति से सम्पूर्ण

प्रकार की सांसारिक आशायें छूट गई हैं और राम के मिलने से जीवन में ईश्वर के प्रति प्रेम और-निष्ठा दृढ़ हो गई है।

लोग कहैं गोबरधनधारी।
ताकौ मोंहि अचंभौ भारी ॥टेक॥
अष्ठ कुली परबत जाके पग की रैंनां, सातौं सायर अंजन नैंनां॥
ऐ उपमां हरि किती एक ओपै, अनेक मेर नख ऊपरि रोपै॥
धरनि अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहै न साखी॥
सिब बिरंचि नारद जस गांवै, कहैं कबीर बाको पार न पावैं ॥३३४॥

कबीर कहते हैं कि लोग भगवान् को गोवर्द्धनधारी कहकर उसकी सामर्थ्य की प्रशंसा करते हैं। उनकी बुद्धि पर मुझे आश्चर्य है। सम्पूर्ण अष्टकुल के पर्वत उस ईश्वर के पैर की धूल मात्र हैं और सातों समुद्र उसके नेत्रों का अंजन हैं। ऐसे शक्तिशाली भागवान् के लिए गोवर्द्धनधारी की उपमा कितनी और कैसे अनुरूप हो सकती है? भगवान् ने एक गोवर्द्धन क्या अनेक सुमेरु पर्वत अपने नाखून पर उठा रखे हैं। यह मोह से ग्रसित एवं मुग्ध सगुण उपासक उस शक्तिमान् भगवान् का गुणगान नहीं करता है जिसने सम्पूर्ण धरती और आकाश को ही निराधार टिका रखा है। कबीर कहते हैं कि शिव, ब्रह्मा और नारद उस सर्वशक्तिमान का यशोगान करते हैं पर उसकी शक्ति का पार वे भी नहीं पा सकते हैं।

टिप्पणी—यहाँ असीम तत्त्व का ससीम एवं सगुण बिम्बों से प्रतिपादन है। असीम को ससीम ही मानने की सगुण भक्तों की धारणा का यहाँ प्रत्याख्यान किया गया है।

रांम निरंजन न्यारा रे।
अंजन सकल पसारा रे ॥टेक॥
अंजन उपति वो उंकार, अजग मांड्या सब बिस्तार॥
अंजन ब्रह्म संकर इंद, अंजन कोपी संगि गोव्यंद॥
अंजन बांणीं, अंजन बेद, अंजन कीया नांनां भेद॥
अंजन विद्या पाठ पुरांन, अंजन फोकट कथहि गियांन॥
अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव॥
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावैं॥
अंजन कहौं कहां लग केता, दांन पुंनि तप तीरथ जेता॥
कहै कबीर कोइ बिरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागैं ॥३३५॥

राम निरंजन है अर्थात् मायारहित तत्त्व है। वह सम्पूर्ण जगत् से परे एवं भिन्न है। यह सारा जगत् केवल माया का प्रसार है। ओंकार की उत्पत्ति भी माया

से ही है माया ने ही इन विभिन्न नाम-रूपों में विस्तार किया है। ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र तथा गोपियों के साथ रहने वाला कृष्ण-सभी कुछ माया ही है। वाणी और वेद माया ही हैं। समष्टि-माया के प्रश्रय मे ही ईश्वर ब्रह्म मे भिन्न प्रतीत होता है। ब्रह्मादिक देव उसी माया-विशिष्ट ईश्वर के रूप हैं। वाणी और वेद ब्रह्मा का निश्वास है। इसी से ये सब माया कहे गये हैं। नाना-नाम-रूपों के भेद माया के ही किये हुए हैं। माया ही विद्या, पाठ और पुराण है। यह व्यर्थ का वाचिक ज्ञान भी माया ही है। पूजा करने के साधन पत्रादिक तथा पूज्य देव – दोनों ही माया है। इस विश्व में माया ही माया की सेवा कर रही है। सेव्य-सेवक-भाव भी माया में ही है। माया ही नाचती है और माया ही गाती है। माया ही अनन्त भेषों में अपने आपको प्रदर्शित करती है। माया के बारे में कहाँ तक कहूँ और उसके कितने रूपों का वर्णन करूँ? दान-पुण्य, तप-तीर्थ आदि जितने जो कुछ हैं वे सब माया ही हैं। कबीर कहते हैं कि किसी विरले व्यक्ति को ही यह बोध जागता है और वही माया का परित्याग करके माया-रहित निरंजन तत्त्व में लीन होता है।

टिप्पणी— जो कुछ भी अभिधेय है वह सब माया है। उससे अतीत एवं केवल अनुभूति गम्य ही निरंजन तत्त्व है। इसी दर्शन का ऊपर प्रतिपादन है।

अंजन अलप निरंजन सार।
यहै चीन्हि नर करहु बिचार ॥टेक॥
अंजन उतपति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई।
अंजन आवै अंजनि जाइ निरंजन सब घटि रह्यो समाइ ॥
जोग ध्यांन तप सबै बिकार, कहै कबीर मेरे रांम अधार ॥३३६॥

कबीर कहते हैं कि माया अल्प एवं मिथ्या है तथा निरंजन भूमा एवं सार तत्त्व है। रे मानव, उस विवेक के साथ चिंतन करो। लोग माया से उत्पन्न होते हैं और उसी में व्यवहार करते हैं। पर निरंजन अवस्था में अवस्थित हुए बिना मुक्ति नहीं हो सकता है। यह आवागमन तो माया का ही है। निरंजन सम्पूर्ण अन्तःकरणों में एवं सर्वत्र ही निश्चल एवं कूटस्थ रूप से अवस्थित है। जोग, ध्यान, तप आदि सब माया के ही विकार हैं। कबीर कहते हैं कि मेरे लिए अर्थात् भक्त के लिए तो केवल राम ही आधार हैं, अर्थात् उस परमतत्त्व की अनुभूति ही एक मात्र साधन और साध्य हैं।

एक निरंजन अलह मेरा।
हिंदू तुरक कहूँ नहीं नेरा ॥टेक॥
राखूं व्रत न मुहरम जांनां, तिसही सुमिरूं जो रहै निदांनां।
पूजा करूं न निमाज गुजारूं एक निराकार हिरदै नमसकारूं ॥
नां हज जांऊ न तीरथ पूजां, एक पिछांण्या तौ क्या दूजा ॥
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूं मन लागा ॥३३७॥

कबीर कहते हैं कि एकमात्र, मायारहित, निरंजन, अल्लाह एवं अलख तत्त्व में ही निष्ठा है। हिन्दू और मुसलमान दोनों में से कोई भी मेरे नजदीक नहीं है, अर्थात् मुझे किसी भी साम्प्रदायिक मान्यता का आग्रह नहीं है। उसके द्वारा कल्पित एवं सीमित ईश्वर-रूप में मेरी श्रद्धा नहीं है। न मैं व्रत रखता हूँ और न मेरा मुहर्रम में विश्वास है। मैं उसी तत्त्व का स्मरण करता हूँ जो सम्पूर्ण माया के लुप्त हो जाने के बाद अन्त में अवशिष्ट रह जाता है। इसलिए न मैं देवताओं की पूजा करता हूँ और न नमाज पढ़ता हूँ। केवल निराकार भगवान् को ही हृदय से नमस्कार करता हूँ। न मैं हज जाता हूँ और न तीर्थ पूजा करता हूँ। जब मैंने सहज प्रेम से उस एक परमतत्त्व को पहचान लिया तो दूरी साधनाओं की क्या आवश्यकता है ? कबीर कहते हैं कि मेरे सारे भ्रम नष्ट हो गए हैं और एकमात्र तत्त्व निरंजन में मेरा हृदय रम गया है।

टिप्पणी—राम, अल्लाह आदि सब शब्द सम्प्रदाय-विशेष के अनुसार एक अर्थ देते हैं। पर ये सब सम्प्रदायों के द्वारा मान्य तथा उन सबसे परे के एक परमतत्त्व के द्योतक भी हैं; यही उनका लक्ष्यार्थ है। कबीर शब्दों के अभिधेयार्थ एवं लक्ष्यार्थ—दोनों से परिचित हैं। इन शब्दों के द्वारा लक्ष्य भगवान् के स्वरूप में ही कबीर की निष्ठा है।

पाठान्तर—'न माह रमजान' न मैं रमजान के रोजे रखता हूँ।

तहां मुझ गरीब की को गुदरावै।
मजलसि दूरि महल को पावै ॥टेक॥
सतरि सहस सलार हैं जाकै, आसी लाख पैकंबर ताकै।
सेख जु कहिय सहस अठ्यासी, छपन कोड़ि खेलिबे खासी ॥
कोड़ि तेतीसूं अरू खिलखांनां, चौरासी लख फिरैं दिवांनां ॥
बाबा आदम पैं नजरि दिलाई, नबी भिस्त घनेरी पाई ॥
तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी, देत जबाब होत बजगारी ॥
जन कबीर तेरी पनह समांनां, भिस्त नजीक राखि रहिमांनां ॥३३८॥

असहाय एवं दीन परन्तु भगवान् के अनुग्रह के आकांक्षी भक्त के प्रतिनिधि के रूप में कबीर कहते हैं कि मुझ गरीब को उस भगवान तक कौन पहुँचावे ? उसकी मजलिस बहुत दूर है। वह सामान्य व्यक्ति की पहुँच से दूर है। उसमें कोई कैसे स्थान पा सकता है ? उस खुदा के सत्तर हजार सेनापति हैं अस्सी लाख पैगम्बर हैं, अठासी हजार शेख हैं, एवं छप्पन करोड़ खेलने खिलाने वाले खवास तथा सेवक हैं। इसके अतिरिक्त तैंतीस करोड़ अन्य प्रजा भी है। उसके चौरासी लाख मंत्री हैं। इन सबमें से बाबा आदम पर खुदा की जरा-सी कृपा-दृष्टि पड़ी और पैगम्बर ने उसको बहुत बड़ा स्वर्ग प्रदान कर दिया। हे भगवान्, तुम मालिक हो, पूर्ण ऐश्वर्यशाली और सर्व-

शक्तिमान हो; मैं फिर भिखारी क्यों हूँ ? फिर आप भिखारी को जवाब ही दे दें, यह भी उचित नहीं है। भक्त कबीर अपनी शरण में आ गया है। हे कृपालु ! आप उसे स्वर्ग के अर्थात् अपने ही नजदीक रखें।

जौं जाचौं तौ केवल रांम।
आंन देव सूं नांहीं कांम ।।टेक।।
जाकैं सूरिज कोटि करैं परकास, कोटि महादेव गिरि कबिलास ।।
ब्रह्मा कोटि बेद ऊचरैं, दुर्गा कोटि जाकै मरदन करैं ।।
कोटि चंद्रमा गहैं चिराक, सुर तेतीसूं जीमैं पाक ।।
नौग्रह कोटि ठाढ़ें दरबार, धरमराइ पौली प्रतिहार ।।
कोटि कुबेर जाकें भरै भंडार, लछमीं कोटि करैं सिंगार ।।
कोटि पाप पुनि ब्यौहरैं, इंद्र कोटि जाकी सेवा करैं ।।
जगि कोटि जाकै दरबार, गंध्रप कोटि करैं जैकार ।।
विद्या कोटि सबै गुंण कहैं, पारब्रह्म कौ पार न लहैं ।।
बासिग कोटि सेज बिसतरैं, पवन कोटि चौबारै फिरैं ।।
कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावली अठारह भारा ।।
असंखि कोटि जाकै जमावली, रांवण सेन्यां जाथै चली ।।
सहसबांह के हरे परांण, जरजोधन घाल्यौ खैमांन ।।
बावन कोटि जाके कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल ।।
लट छूटी खेलैं बिकराल, अंनत कला नटवर गोपाल ।।
कंद्रप कोटि जाकें लांवन करैं, घट घट भीतरि मनसा हरैं ।।
दास कबीर भजि सारंगपानि, देहु अभै पद मांगौं दांनि ।।३३९।।

कबीर कहते हैं, कि मुझे केवल राम से याचना करनी है। अन्य देवों से मुझे कुछ भी काम नहीं है। राम ही अनन्त शक्ति वाले वे देव हैं जिनकी आज्ञा से करोड़ों सूर्य प्रकाश करते हैं। जिनके कैलास में अनेक महादेव हैं, जिनकी प्रेरणा से करोड़ों ब्रह्मा वेद का पाठ करते हैं, जिनकी आज्ञा से करोड़ों दुर्गा दुष्टों का दमन करती हैं, जिनके समक्ष करोड़ों चन्द्रमा दीपक लिये हुए हैं, तेंतीस करोड़ देवता जिनकी कृपा से प्रसाद प्राप्त करते हैं, करोड़ों नवग्रह जिनके दरबार में खड़े रहते हैं, जिनके दरवाजे पर धर्मराज प्रतिहारी का काम करते हैं, करोड़ों कुबेर जिनका भण्डार भरते रहते हैं; जिनके लिए करोड़ों लक्ष्मी शृंगार करती हैं; करोड़ों पाप-पुण्य जिनके संकेत पर होते रहते हैं, करोड़ों इन्द्र जिनकी सेवा में प्रस्तुत रहते हैं, जिनके दरबार में करोड़ों यज्ञ होते रहते हैं तथा करोड़ों गन्धर्व जिनका जय-जयकार करते रहते है, करोड़ों विद्याधर

जिनका गुणगान करते रहते हैं, उस परमब्रह्म का किसी ने भी पार नहीं पाया है। उनके लिए करोड़ों शेषनागों ने सेज बिछाई है और करोड़ों पवन उनके महल में हवा कर रहे हैं। करोड़ों समुद्र उनके यहाँ पानी भरने वाले हैं, उनकी रोमावली का वजन अठारह भार है। जिनके यमराजों की पंक्ति असंख्य करोड़ है जिनसे रावण की सेना भी पराजित हो गई है; जिसने सहस्रबाहु के प्राण हर लिये और दुर्योधन का मान-मर्दन कर दिया है वही भगवान् राम हैं। उस भगवान् के बावन करोड़ कोतवाल हैं और नगर-नगर में उनके क्षेत्रपाल हैं, जो बालों की लट बिखेरकर भयंकर नृत्य करते हैं। वह राम ही अनन्त कला से पूर्ण नटवर गोपाल हैं। उनका सौन्दर्य-प्रसाधन स्वयं करोड़ों कामदेव करते हैं और उसी से घट-घट में रहने वाली इच्छाओं को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। दास कबीर अपने आपको संबोधन करके कह रहे हैं, "रे कबीर, तुम भगवान् शारंगपाणि का भजन करो। हे भगवन् तुम मुझे अभय पद दो। मैं तुमसे यही दान, यही भीख माँग रहा हूँ।"

टिप्पणी—यह सगुण भक्तों की सी प्रार्थना है। इसमें वैसा ही बिम्ब-विधान है। भगवान् की अनन्त शक्तिमत्ता में ही इसका मूल अभिप्राय है। तिवारी जी के पाठ में कुछ पंक्तियों का क्रम भिन्न है।

मन न डिगै तार्थें तन न डराई।
केवल रांम रहे ल्यौ लाई ।।टेक।।
अति अथाह जल गहर गंभीर, बांधि जंजीर जलि बोरे हैं कबीर ॥
जल की तरंग उठि कटि हैं जंजीर, हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर ॥
कहै कबीर मेरे संग न साथ, जल थल मैं राखै जगनाथ ।।३४०।।

कबीर विरक्त एवं ईश्वर-प्रेमी जीवात्मा के रूप में कहते हैं कि मेरा मन विषय वासनाओं की तरफ डिगता नहीं है, इससे मेरे शरीर को भी उनकी तरफ से कोई भय नहीं है। मैंने केवल राम में अपनी लौ लगा रखी है। यह संसार रूपी जल अत्यन्त गहरा और गम्भीर है। कबीर को माया द्वारा कर्मों की शृंखला में बाँधकर डुबो दिया गया था। पर उसमें ही ईश्वर-प्रेमी तथा उनके अनुग्रह की तरंगें उठीं और कर्म-बन्धन की वह जंजीर टूट गई। कबीर उस लहर से हरि-स्मरण के तट पर जा कर बैठ गये। कबीर कहते हैं कि इस संसार में मेरा ईश्वर भक्त एवं ईश्वर प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति और साधना का संग-साथ नहीं है जिस पर मैं भरोसा करूँ। जल-थल में मेरी रक्षा करने वाले तो केवल भगवान् ही हैं।

टिप्पणी—रूपक अलंकार।

पाठान्तर—मन न डिगै तार्थें तन न ढराई

"मन के विषय-वासनाओं की तरफ आकृष्ट न होने के कारण शरीर भी विषयों की ओर नहीं ढुलकता है, उनमें प्रवृत्त नहीं होता है।" वासनाओं का मूल

नियामक मन ही है; अतः तन पर जबरन नियन्त्रण करने की आवश्यकता नहीं है। तन तो मन का अनुगामी है। यह पाठ कुछ अधिक संगत है।

भलैं नींदौ भलैं नींदौ भलै नींदौ लोग।
तन मन रांम पियारे जोग ॥टेक॥
मैं बोरी मेरे रांम भरतार, ता कारंनि रचि करौं स्यंगार॥
जैसे धुबिया रज मल धोवै, हरत-परत सब निंदक खोवै॥
न्यंदक मेरे माई बाप, जनम जनम के काटे पाप॥
न्यंदक मेरे प्रांन अधर, बिन बेगारि चलावै भार॥
कहै कबीर न्यंदक बलिहारी, आप रहै जन पार उतारी ॥३४१॥

ईश्वर के प्रति दाम्पत्य भाव में तन्मय आत्मा सुन्दरी कह रही है कि चाहे भले ही लोग मेरी निंदा करते रहें, पर मेरा शरीर और मन तो प्रिय राम के ही प्रेम-योग में है, उन्हीं में अनुरक्त है। वे मेरे पति हैं और मैं उनके पीछे पागल हूँ। मैं उनके लिए ही श्रृंगार करती हूँ। विभिन्न प्रकार की प्रेम साधनाओं में प्रवृत्त होना ही जीवात्मा का पति-मिलन के लिए श्रृंगार है। जैसे धोबी मैल-मिट्टी धोता है, वैसे ही शिव की परमात्मा या की तपस्या में रत व्यक्तियों का रजोवृण उनका निंदक नष्ट कर देता है। निंदा सहन करने वाला क्रोध न करके अपने ही दोषों के प्रति जागरूक हो जाता है। दोषों को दोष समझना भी दोष निगुत्ति है। दूसरे, सहिष्णु होना तथा मानापमान के प्रति सजग न होना भी दोषों के कलमष से मुक्ति है। तीसरे निंदक अगर भक्त या ज्ञानी की निंदा करता है तो उसके दोष अपने पर ही लेता है। इन सब कारणों से निंदक भक्त के मल धोने का कार्य करता है। निंदक मेरे लिए माता-पिता के समान हितकारी है। वह जन्म-जन्मान्तर के पापों से मुझे मुक्ति दिलाने में सहायक होता है। वह निंदक मेरे प्राणों का आधार है। वह मेरे अन्तःकरण को ही निर्मल कर दें, निंदा द्वारा ही सही। मुझे अपने प्रियतम की बार-बार याद दिलाकर एवं इस प्रकार उनके प्रति मेरी अनन्य निष्ठा को दृढ़ बनाकर ये निंदक मेरा हित साधन कर रहे हैं, अतः ये मुझे अपने प्राणों के समान प्रिय है। ये बिना कुछ लिये ही मुझे अवज्ञा का भार वहन करने में सहिष्णु बनाते हैं। आत्मा सुन्दरी के रूप में कबीर कहते हैं कि मैं निंदक पर बलिहारी हूँ। वे स्वयं तो भवसागर में रह जाते हैं, क्योंकि निंदा पाप कर्म है, एवं बन्धन का हेतु है; पर ये निंदक भक्त का तो उद्धार कराके ही मानते हैं।

टिप्पणी—रूपक, उपमा और व्याजस्तुति अलंकार।

पाठान्तर—'हरत परत सब निंदक खोवै' हरते-पड़ते जिस किसी भी तरह से निंदक सब मलों को खो देता है।

जौं मैं बौरा तौ रांम तौरा ।
लोग मरम का जांनै मोरा ।।टेक।।
माला तिलक पहरि मनमानां, लोगनि रांम खिलौनां जांनां ।।
थोरी भगति बहुत अहंकारा, ऐसे भगता मिलै अपारा ।।
लोग कहैं कबीर बौराना, कबीरा कौ मरम रांम भल जांनां ।।३४२।।

ईश्वर भक्त कह रहा है, "हे राम, जो मैं पागल हो रहा हूँ, वह तो तुम्हारे प्रेम में ही पागल हूँ । अथवा पागल भी तुम्हारा ही हूँ । लोग मेरे इस रहस्य को तो जानते नहीं हैं और मुझे जगत् एक सामान्य संसारी पागल समझ बैठा है । लोगों को भक्ति का सच्चा मर्म भी ज्ञात नहीं है । ईश्वर का वास्तविक प्रेमी संसार की क्रियाओं में चतुर नहीं रहता वह पागल-सा ही रहता है । यह मर्म सच्चा भक्त ही जानता है। पर औपचारिक भक्त तो मूर्ति को माला और तिलक पहनाकर ही भक्ति समझ बैठता है । उसने राम को खिलौना समझ लिया है । खिलौना जैसे व्यक्ति की विभिन्न वासनाओं एवं विभिन्न प्रकार के अहम की तृप्ति का साधन मात्र होता है, वैसे ही यह बाह्य पूजा करने वाला भक्त भगवान् की मूर्ति को अपनी कुछ वासनाओं की तृप्ति का साधन भर मान बैठता है । हे राम, लोगों ने मुझे खिलौना समझ लिया है मेरा प्रेम-विभोर रूप उनके मनोरंजन का साधन बन गया है । लोगों में भक्ति भावना तो बहुत अल्प है पर उसका अहंकार अधिक है । ऐसे भक्त हमें असंख्य मिले हैं । लोग कहते हैं कि कबीर पागल हो गया है । पर कबीर के वास्तविक ईश्वर-प्रेम का रहस्य राम ही अच्छी प्रकार जानते हैं ।

टिप्पणी—सच्चे भक्त एवं बाह्याडम्बर वाले उपासक का अच्छा चित्र है।

हरिजन हंस दसा लिये डोलै ।
निर्मल नांव चवै (चुनै) जस बोलै ।।टेक।।
मांन सरोवर तट के बांसी, रांम चरन चित आंन उदासी ।।
मुकताहल बिनु चंच न लांवै, मौंनि गहै कै हरि गुन गांवै ।।
कऊवा कुबुधि निकट नहीं आवै, सो हंसा निज दरसन पावै ।।
कहै कबीर सोई जन तेरा, खीर नीर का करै निबेरा ।।३४३।।

भक्त हंस की सी दशा में घूमते रहते हैं अर्थात् वे शुद्ध-चित्त, विवेकी एवं संसार से विरक्त होकर जगत् में व्यवहार करते हैं । भगवान् राम के नाम का वे ऐसे उच्चारण करते रहते हैं जैसे मानो वे दो अक्षर उनके मुख से सहज ही स्रवित हो रहे हैं । ये मुक्त आत्मायें मानसरोवर (साधना क्षेत्र के शून्य-शिखर का तालाब) के तट पर रहती हैं अर्थात् वे निरन्तर ज्ञान और भक्ति का आनन्द लेती रहती हैं। उनका राम के चरणों में ही हृदय लगा हुआ है और अन्य सारी जागतिक वस्तुओं से

उनका हृदय उदासीन हो गया है। ये हंस भक्ति और ज्ञान के आनन्द-रूपी जल के अतिरिक्त कहीं भी अपनी चोंच नहीं डुबाते हैं अर्थात् ये वासनाओं के जल का स्पर्श भी नहीं करते। या तो वे मौन ही रहते हैं या भगवान् के गुणगान करते रहते हैं। ये न सांसारिक विषयों पर चिंतन करते हैं और न उनके सम्बन्ध में चर्चा करते हैं। कुबुद्धि रूपी कौआ इन मुक्तात्माओं रूपी हंसों के नजदीक भी नहीं आता है। ऐसे हंस-रूपी विवेकी जीवों को ही अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो पाता है। कबीर कहते हैं कि जो नीर-क्षीर का विवेक कर पाता है अर्थात् जो सांसारिक विषयों के जल से आध्यात्मिक साधना के क्षीर को पृथक् कर सकता है वही भगवान के प्रिय एवं भक्त हैं।

टिप्पणी — सागरूपक।

'हंस' से संन्यासी की 'हंस' अवस्था का संकेत भी है।

सति रांम सतगुर की सेवा।
पूजह रांम निरंजन देवा ॥टेक॥
जल कं मंजन्ये जो गति होई, मींनां नित ही न्हावै ॥
जैसा मींनां तैसा नरा, फिर फिर जोनीं आवै ॥
मन मैं मैला तीरथि न्हांवै, तिनि बैकुंठ न जांनां ॥
पाखंड करि-करि जगत भुलांनां, नांहिन रांम अयांनां ॥
हिरदै कठोर मरै बनारसि, नरक न बंच्या जाई ॥
हरि कौ दास मरै जे मगहरि, सेन्यां सकल तिराई ॥
पाठ पुरांन बेद नहीं सुमृत, तहां बसै निरकारा ॥
कहै कबीर एक ही ध्यावो, बावलिया संसारा ॥३४४॥

कबीर कहते हैं कि राम तथा सद्गुरु की सेवा ही वास्तव में सत्य एवं सार वस्तु है। अतः हे साधक, तुम राम के निरंजन स्वरूप की पूजा करो; बाहरी औपचारिकताओं से मोक्ष नहीं मिलता है। जल में स्नान करने से ही अगर सद्गति प्राप्त हो जाती है तो मछली निरन्तर नहाती ही रहती है। जीव की दृष्टि से जैसी मछली है वैसा ही मनुष्य है। वे सब बार-बार विभिन्न योनियों में आते हैं। जिनके मन में मैल भरा हुआ है और तीर्थ स्नान करते रहते हैं, उनका बैकुण्ठ से परिचय भी नहीं हो सकता है। सारा जगत् सेवा-पूजा के विभिन्न पाखण्डों में भूला हुआ है। ऐसे अज्ञानी व्यक्तियों को राम नहीं मिल सकता है। जिनका हृदय भक्ति-रस के लिए अग्रहणशील तथा कठोर है, पर जो काशीवास में मरते हैं, अथवा जो हृदय कठोर करके काशी में मरते हैं, ('काशी करोत' लेते हैं पाठ भी है) वे लोग नरक से नहीं बच सकते है। पर भगवान् के भक्त अगर मगहर में भी मरते हैं तब भी उनकी पूरी सेना की सेना भी भवसागर से तर जाती है। स्तोत्र-पाठ, पुराण-वाचन, वेदाध्ययन और स्मृति

परायण —इनमें से एक भी उस निराकार तत्त्व तक पहुँचाने के साधन नहीं है। निराकार इन सबसे परे का तत्त्व है। यह जगत् तो बहुत से साधनों एवं देवताओं की पूजा में पागल है। पर कबीर कहते हैं कि मंगल के अभिलाषी को उस एक परमतत्त्व का ही ध्यान करना चाहिए।

क्या ह्वै तेरे न्हाई धोईं।
आतम रांम न चीन्हां सोई ॥टेक॥
क्या घट ऊपरि मंजन कीयैं, भीतरी मैलि अपारा।
रांम नांम बिन नरक न छूटै, जे धोवै सौ बारा॥
का नट भेष भगवां बस्तर, भसम लगावै लोई।
ज्यूं दादुर सुरसरि जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई॥
परहरि कांम रांम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि कौ नांव अभै पद दाता, कहै कबीर कोरी ॥३४५॥

कबीर भक्तिरहित बाह्य पूजा-पाठ का खंडन करते हुए कहते हैं, "रे साधक, जब तुमने अपने आतम-चैतन्य को नहीं पहचाना है तो तुम्हारे नहाने-धोने से क्या लाभ है? जब अन्तःकरण में विषय-वासनाओं का अपार मल भरा हुआ है तो ऊपर से शरीर को धोने का क्या उपयोग है? लोग भगवा वस्त्र धारण करते हैं और भस्म लगाते हैं। पर इस प्रकार नट की तरह विभिन्न वेश धारण करने से क्या लाभ है? जैसे मेंढ़क गंगा में रहता है, पर भगवद्भजन के बिना उसकी मुक्ति नहीं होती, वैसे ही मनुष्य को भी भगवद्भजन के बिना केवल गंगा-स्नान से मुक्ति नहीं हो सकती है। अतः रे पागल, काम-वासना को छोड़कर राम-नाम का स्मरण कर। रे भाई, तुम मेरी यह शिक्षा मान लो। कोरी कबीर कहता है अथवा कबीर कोरी अर्थात् खारी कहता है कि भगवान् का नाम ही अभय पद का देने वाला है।

टिप्पणी—'उपमा' अलंकार।

'कोरी' का अर्थ 'कोली' लेने में व्यंजना भी है। अभिजात वर्ग के उसे तुच्छ समझते हैं पर वह महान् सत्य प्रकट करने वाला है।

पांणी थै प्रकट भई चतुराई।
गुर प्रसादि परम निधि पाई ॥टेक॥
इक पांणीं पांणी कूं धोवैं, इक पांणी पांणी कूं मोहै॥
पांणी ऊँचा पांणी नींचा, ता पांणी का लीजै खींचा।
इक पांणीं थैं प्यंड उपाया, दास कबीर रांम गुण गाया ॥३४६॥

प्रभु रूप जल से ही समस्त सांसारिक ज्ञान प्रवाह की उत्पत्ति हुई है। इस परम ज्ञान को मैंने गुरु की कृपा से प्राप्त किया है। भक्ति-रूपी जल विषय-वासना के

जल की मलीनता को नष्ट कर देता है। नीचे स्तर का जल उच्च स्तर के जल को अपनी ओर खींचता है। तभी माया-रूपी जल जीवात्मा-रूपी जल को मोहित कर लेता है, अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। जल ही ऊपर है और जल ही नीचे है। परमतत्त्व भी आनन्द रूप है तथा जीव-चैतन्य भी आनन्द रूप। परमतत्त्व संसार से ऊपर है तथा जीवात्मा नीचे संसार में ही। इस प्रकार ऊपर और नीचे दोनों ही तरफ जल ही है। रे मानव, इसी ऊपर और नीचे में व्याप्त आनन्द तत्त्व रूप जल से अपने आपको अभिसिञ्चित करो। अथवा साधन या ज्ञान के जल से ही व्यक्ति का उत्थान होता है और उसी के दूसरे रूप से पतन। पानी की एक बूंद मात्र से ही अर्थात् वीर्य के एक बिन्दु से इस शरीर की रचना हो गई है। पानी की इस महत्ता का ध्यान करके कबीर राम का गुणगान करते हैं।

टिप्पणी --एक ही शब्द के विभिन्न प्रतीकार्थों का प्रयोग है। 'यमक अलङ्कार'

भजि गोब्यंद भूलि जिनि जाहु।
मनिखा जनम कौ एही लाहु ।।टेक।।
गुरु सेवा करि भगति कमाई, जौ तैं मनिषा देही पाई ।।
या देही कूं लौचैं देवा, सो देही करि हरि की सेवा ।।
जब लग जुरा रोग नहीं आया, जब लग काल ग्रसैं नहि काया ।।
जब लग हींण पड़ै नहीं बांणी, तब लग भजि मन सारंगपांणी ।।
अब नहीं भजसि भजसि कब भाई, आवंगा अंत भज्यौं नहीं जाई ।।
जे कछु करौ सोई तत सार, फिरि पछितावोगे वार न पार ।।
सेवग सो जो लागै सेवा, तिनही पाया निरंजन देवा ।।
गुर मिलि जिनि के खुले कपाट, बहुरि न आवै जोनीं बाट ।।
यहु तेरा औसर यहु तेरो बार, घट ही भींतरि सोचि बिचारि ।।
कहै कबीर जीति भावै हारि, बहु बिधि कह्यौ पुकारि पुकारि ।।३४७।।

कबीर मानव को चेतावनी दे रहे हैं, रे मानव, भगवान् का भजन करो। इसे मत भूलो। मानव जन्म का यही लाभ है। जब तुम्हें मानव देह प्राप्त हो गई तो इसमें गुरु की सेवा करो और भक्ति का उपार्जन करो। जिस मानव शरीर के देवता भी अभिलाषी हैं, वह तुम्हें प्राप्त है। उस शरीर से भगवान् की सेवा करो। जब तक तुम्हें वृद्धावस्था की व्याधि नहीं लगती है, इस शरीर को काल नहीं ग्रसता है और तुम्हारी वाणी क्षीण नहीं होती है; उससे पहले ही शारंगपाणि भगवान् का भजन कर लो। शरीर के स्वस्थ रहते ही अगर तुम भगवान् का भजन नहीं कर पाओगे तो फिर कब भजोगे ? अन्तकाल आने पर तो तुम से भजन होग नहीं। इस समय जो कुछ भी कर लोगे उसी में सार है। वही तुम्हारी मूल कमाई है। अब भजन नहीं कर पाओगे तो तुम्हें बाद में पछताना पड़ेगा और उस पाश्चात्ताप की

कोई सीमा नहीं रहेगी। सच्चा सेवक वही है जो झट सेवा में लग जाय। ऐसे ही लोगों ने निरंजन भगवान् को प्राप्त किया है। सद्गुरु के साक्षात्कार से जिनके हृदय कपाट खुल गये हैं, जिन्हें ज्ञान हो गया है; वे इस जन्म-मरण के चक्कर में पुनः नहीं फँसेंगे। रे जीव, तुम्हें मानव-शरीर मिला है; अतः भजन का यही उपयुक्त अवसर है। चौरासी लाख योनियों में यही तुम्हारी बारी आई है जब तुम्हें मोक्ष प्राप्त करना है। इस बात को तुम अपने अन्तःकरण में अच्छी तरह समझ लो। कबीर कहते हैं कि चाहे जीवन के इस दाँव को भजन के द्वारा जीत लो तथा मोक्ष प्राप्त कर लो और चाहे इस भजन की उपेक्षा के कारण हार जाओ। यह तुम्हारे ऊपर है। मैंने तुम्हें बहुत तरह पे पुकार-पुकार कर कह दिया हैं, जीवन के लिए चेतावनी दे दी है।

ऐ रे ग्यांन बिचारि रे मनां।
हरि किन सुमिरै दुख भंजनां ॥टेक॥
जब लग मैं मैं मेरी करै, तब लग काज एक नहीं सरै ॥
जब यहु मैं मेरी मिटि जाइ, तब हरि काज संवारै आइ ॥
जब लग स्यंघ रहै बन मांहि, तब लग यहु बन फूलै नांहि ॥
उलटि स्याल स्यंघ कूं खाइ, तब यहु फूलै सब बनराइ ॥
जीत्या डूबै हार्‌या तिरै, गुरु प्रसाद जीवत ही मरै ॥
दास कबीर कहै समझाइ, केवल रांम रहौ ल्यौ लाइ ॥३४८॥

रे मन, तुम विवेक धारण करो। अब तुम दुःखों को नष्ट करने वाले भगवान के भजन में क्यों नहीं लग जाते हो? जब तक तुम 'अहंभाव, और 'मेरी मेरी' में लगे रहोगे, तब तक तुम्हारा एक भी कार्य सिद्ध नहीं होगा। जब यह 'मैं' और 'मेरी' मिट जायेंगे तभी भगवान तुम्हारे सब काम पूरे कर देंगे अर्थात् तुम्हें परमपद की प्राप्ति हो जाएगी। सम्पूर्ण कार्यों की सफलता भगवान् की इच्छा पर ही निर्भर है। जो ईश्वर चाहते हैं वही कार्य होता है; उसी कार्य में सफलता मिलती है। किसी भी कार्य की सफलता के लिए जीव के 'अहंभाव' एवं 'कर्त्तापन्' का त्याग तथा ईश्वरार्पण बुद्धि आवश्यक है। जब तक 'मैं' और 'ममता' है तब तक न मोक्ष प्राप्त होती है और न भक्ति ही। जब तक अन्तःकरण रूपी इस वन में अहंकार रूपी सिंह का निवास है तब तक यह वन भक्ति-भावना के फूलों से परिपूर्ण नहीं होगा। जब गुरु के उपदेश से जाग्रत ज्ञान वाला जीवात्मा रूपी सियार उलट कर वासनाओं में ग्रस्त इस अहं रूप सिंह को खा जायेगा तभी यह अन्तःकरण-रूपी वनराजि ज्ञान और भक्ति के फूलों से भर जायेगी। उस अवस्था में आज तक जिस अहंकार ने जीवात्मा को जीत रखा था अब वह अहंकार डूब जायेगा। जीवात्मा अब तक इस अहंकार से पराजित थी, अतः उस अहंकार के हारने से जीवात्मा इस भवसागर से तिर जायेगी। जीवात्मा का अहंकार जब जीतता है तब आत्मा भवसागर में डूबी रहती है और जब अहंकार

भगवान् की भक्ति एवं ज्ञान के समक्ष हारता है; उस समय जीवात्मा भवसागर से तिर जाती है, 'हे साधक, उस समय गुरु की कृपा से व्यक्ति जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।'' भक्त कबीर समझाकर कहते हैं, इसीलिए हे जीव, निरन्तर भगवान् राम में अपनी लौ लगाये रहो। यही कल्याण का मार्ग है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार तथा प्रतीकों का प्रयोग।

जागि रे जीव जागि रे।
चोरन कौ डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहरै लागि रे ॥टेक॥
ररा करि टोप ममां करि बखतर, ग्यान रतन करि षाग रे।
ऐसैं जौ अजराइल मारै, मस्तकि आवैं भाग रे॥
ऐसी जागणीं जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे॥
कहै कबीर जाग्या ही चहिये, क्या ग्रिह क्या बैराग रे॥३४९॥

रे जीव, जागो। इस जीवन के पीछे काम-क्रोध आदि अनेक चोर लगे हुए हैं अतः तुम जागकर पहरा दो ताकि जीवन की सद्वृत्तियां रूपी धन की रक्षा हो सके। इसके लिए रकार का टोप बनाओ तथा मकार का कवच। ज्ञान की श्रेष्ठ तलवार लेकर कभी भी जीर्ण न होने वाले इस अज्ञान पर ऐसा वार करो कि अहंकार-रूपी उसका मस्तक तुम्हारे हाथ में आ जाय; अहंकार पर तुम्हारा अधिकार हो जाय और तुम्हें इस अविद्या के श्रेष्ठ अंश भक्ति आदि की प्राप्ति हो सके। ऐसे में अगर तुम यमदूत (मृत्यु) को मारोगे, तो तुम्हारे भाग्य में उसका मस्तक आ जायेगा अथवा तुम्हारे सिर पर भाग्य आयेगा। या अगर ऐसे ज्ञानी भेष में तुम्हें यमदूत (मृत्यु) मारेंगे तभी तुम्हें भाग्यशीलता की प्राप्ति होगी। इस प्रकार अगर कोई आत्मा सुन्दरी जागती रहती है तो भगवान् उस पर अपने प्रेम और सौभाग्य की कृपा करते हैं। कबीर कहते हैं कि चाहे व्यक्ति गृहस्थ है अथवा विरक्त। इस प्रकार तो सभी को जागते रहना चाहिए।

टिप्पणी—रूपक अलंकार। शांकर वेदान्त की दृष्टि से भक्ति संवादी भ्रम है क्योंकि उससे वस्तु अर्थात् परम-तत्त्व की प्राप्ति हो तो जाती है पर है वह भ्रम ही। इसलिए उसको अविद्या का श्रेष्ठ अंश माना जाता है।

जागहु रे नर सोवहु कहा।
जम बटपारैं रूंधे पहा ॥टेक॥
जागि चेति कछू करौ उपाइ, मोटा बैरी है जंमराइ॥
सेत काग आये बन मांहि, अजहूं रे नर चेतै नांहि॥
कहै कबीर तबै नर जागै, जंम का डंड मूंड मैं लागै॥३५०॥

रे मानव, अब जागो। इस अज्ञान-निद्रा में क्या सो रहे हो? यम रूपी लुटेरे

ने तुम्हारे जीवन मार्ग को घेर रखा है। वह चाहे जब तुम्हें लूट लेगा। जागकर तथा सावधान होकर अपने जीवन के संरक्षण का कुछ उपाय करो। यमराज तुम्हारा बहुत बड़ा शत्रु है। तुम्हारे इस जीवन-रूपी वन में श्वेत काग आ गये हैं जो नाश के सूचक हैं। मानव अब भी तुम सावधान क्यों नहीं होते हो? कबीर कहते हैं कि मानव तब जागता है जब यमराज उसके सिर पर डंडा मारने लगता है, अर्थात् जब उसका अन्त काल आ जाता है। पर उस समय जागने से क्या लाभ है?

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

जाग्या रे नर नींद नसाई।
चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ।।टेक।।
सोवत सोवत बहुत दिन बीते, जन जाग्यां तसकर गये रीतै।
जन जागे का ऐसे सहि नांण, विष से लागै बेद पुरांण।।
कहै कबीर अब सोवौं नांहि, रांम रतन पाया घट मांहि ।।३५१।।

रे मानव, अज्ञान की नींद नष्ट करके अब जाग जाओ और विवेक धारण करो। चित्त को अज्ञान से सावधान करते ही तुम्हें भगवान्-रूपी चिंतामणि की प्राप्ति होगी। तुम्हें इस अज्ञान-निद्रा में सोते हुए बहुत समय अर्थात् अनेक जन्म बीत गये हैं। मानव के जागते ही उसके जीवन के काम-क्रोधादिक तस्कर खाली हाथ ही भाग जाते हैं। ज्ञानी का यही स्वरूप है कि उसे वेद पुराण भी विष के समान लगने लगते हैं, क्योंकि वे सब यज्ञादिक के प्रतिपादक होने के कारण माया से ही सम्बन्ध रखते हैं। कबीर कहते हैं कि अब मैं तो अज्ञान के वशीभूत होकर सोऊँगा नहीं; मुझे तो राम रूपी रत्न की प्राप्ति हो गई है। सोने पर, अर्थात् अज्ञान एवं माया-मोह के जरा भी वशीभूत होने पर, काम-क्रोधादिक तस्करों द्वारा भक्ति रूपी रत्न के छिन जाने की सम्भावना है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।
तीसरी पंक्ति पर 'अविद्यावत् विषयाणि सर्वशास्त्राणि' का स्पष्ट प्रभाव है।

संतनि एक अहेरा लाधा।
मिर्गनि खेत सबनि का खाघा ।।टेक।।
या जंगल में पांचौ मिरगा, एई खेत सबनि का चरिगा।।
पारघीपनौं जे साधै कोई, अघ खाधा सा राखै सोई।।
कहै कबीर जो पंचौं मारै, आप तिरै और कूं तारै ।।३५२।।

कबीर कहते हैं कि सन्तों को एक शिकार मिल गई है। काम-क्रोधादिक एवं विषय-वासना ही यह शिकार है। विषय वासनायें तथा काम-क्रोधादिक रूप मृगों ने सब लोगों के जीवन रूपी खेत को चर लिया है; उनका ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और आनन्द सब कुछ नष्ट कर दिया है। इस संसार रूपी जगत में पाँचों इन्द्रियों के

विषय अथवा काम-क्रोधादिक रूप पाँच मृग हैं। उन्होंने सम्पूर्ण प्राणियों के जीवन-रूपी खेत को चर लिया है। जो कोई ज्ञानी साधना के द्वारा इन मृगों के लिए शिकारी का रूप धारण करता है, वह इन मृगों से आधे खाये हुए जीवन-रूप खेत की रक्षा कर लेता है अर्थात् शेष जीवन को विषय-वासनाओं की आसक्ति एवं काम-क्रोधादिक से मुक्त रख सकता है। कबीर कहते हैं कि जो पाँचों इन्द्रियों की वासनाओं तथा काम-क्रोधादिक पाँचों को मार डालता है वह स्वयं भी भवसागर से पार हो जाता है और अन्य लोगों का भी उद्धार कर देता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और सांगरूपक अलंकार सन्त लोग अपने उपदेशों तथा सत्संकल्प – दोनों से जगत् का उद्धार करते हैं। ऊपर के 'उद्धार' में दोनों ही भाव अन्तर्भुक्त हैं।

हरि कौ बिलोवनौं बिलोइ मेरी माई।
ऐसें बिलोइ जैसें तत न जाई ॥टेक॥
तन करि मटुकी मनहि बिलोइ, ता मटकी मैं पवन (सबद) समोइ (संजोइ)
इला प्यंगुला सुषुमन नारी, बेगि बिलोइ ठाढी छछिहारी ॥
कहैं कबीर गुजरी बौरांनी, मटुकीं फूटीं जोति समांनीं ॥३५३॥

कबीर अपनी जीवात्मा को सम्बोधित करके कह रहे हैं, 'हे सखि, तुम इस जीवन-रूपी बिलोवने को भगवान् का समझकर उन्हीं के लिए बिलो (मट्ठा चला) अर्थात् भक्ति के लिए यह जीवन भगवान् द्वारा प्रदत्त हुआ है और उसकी सब क्रियायें उन्हीं के द्वारा प्रेरित हैं, इस ईश्वरार्पण बुद्धि से जीवन-यापन कर। इस बिलोवने को ऐसे बिलो जिससे जीवन से प्राप्त होने वाला ज्ञान और भक्ति का महारस रूपी तत्त्व भी नष्ट न हो। इस शरीर को मटकी तथा मन को दही बना। उस मटकी में प्राणायाम रूपी जल समोले, ताकि वासनाओं का उद्वेग कम हो और तद्जनित उष्णता भी न रहे। दही में जल दही की उष्णता कम करने के लिए भी मिलाया जाता है। जैसे दही में मिलाया हुआ जल घी को दही से पृथक् करने में सहायक होता है, वैसे ही प्राणायाम के प्रभाव से मन की वासनाओं से प्राप्त आनन्द तत्त्व वासनाओं से पृथक् हो जाता है। उस आनन्द से वासनाओं का खट्टापन दूर हो जाता है और उसमें प्रेम की स्निग्धता प्रमुख हो जाती है। अथवा इस वासनामय मन में गुरु ने उपदेशों के शब्द समोओ या उनका सम्यक् योग करो ताकि वासनामय मन रूपी दही के बिलोने में रासायनिक क्रिया हो ज्ञान और प्रेम की आन्तरिक ऊष्मा जागे तथा वासनाओं में व्याप्त आनन्द, प्रेम और ज्ञान रूपी घी वासनाओं के मट्ठे से पृथक् हो सके इस प्रकार वह वासनाओं के खट्टेपन को अपने से दूर कर सके। इस जीवन रूपी बिलोवने से भक्ति-रूपी महारस की प्राप्ति के लिए इसे जल्दी-जल्दी इसी प्रकार बिलो

छाछ लेने वाली इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना रूपी नारियाँ प्रतीक्षा कर रही हैं। काया-योग की इन साधिकाओं को तत्त्व-रूप महारस तो नहीं मिलता। वह तो चैतन्य के साक्षात्कार या ईश्वर-प्रेम का विषय है। पर वे इस महारस के स्पर्श से स्निग्ध एवं शीतल साधना-रस से आप्लावित अवश्य हो जाती हैं। तब मट्ठे में दही की उष्णता नहीं रहती, अपितु शीतलता आ जाती है वैसे ही प्रेम-रस की इस छाछ से काया-योग में अहंकार की उष्णता नहीं रहती अपितु भक्ति की शीतलता आ जाती है। कबीर कहते हैं कि जीवात्मा रूपी गूजरी आश्चर्यचकित रह गई जब हरि के बिलोवन की समाप्ति पर अर्थात् महारस की प्राप्ति के अवसर पर यह तन-रूपी मटकी फूट गई और चैतन्य रूपी इसकी ज्योति उस महान् ज्योति में समा कर एकाकार हो गई। इस मटकी और बिलोवने का अब क्या उपयोग था? मुक्त होने पर फिर तो बिलोना नहीं था, अतः उस मटकी को फूटना ही था।

टिप्पणी— सांगरूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार। इसमें प्रधानतः ज्ञान एवं भक्ति के महारस की प्राप्ति का वर्णन है। पर इड़ा आदि के छाछ से तृप्ति द्वारा कबीर ने यह भी दिखा दिया कि इस महारस की साधना से कायायोग की सिद्धि तथा तृप्ति भी स्वतः ही मिल जाती है। इसके साथ ही इस भक्ति का पर्यवसान भी ज्ञान से प्राप्य अद्वैत अवस्था में होता है। यह 'मटकी फूटी ज्योति समानी' से स्पष्ट है।' इससे ज्ञान और भक्ति का अभेद भी स्पष्ट है।

आसण पवन कियें दिढ रहु रे।
मन का मैल छाडि दै बौरे ॥टेक॥
क्या सींगी मुद्रा चमकांये, क्या विभूति सब अंगि लगायें।
सो हिंदू सो मुसलमांन, जिसका दुरस रहै ईमांन॥
सो ब्रह्मा जौ कथें ब्रह्म गियांन, काजी सो जांनैं रहिमांन।
कहै कबीर कछू आंन न कीजै, रांम नांम जपि लाहा लीजै॥३५४॥

कबीर जीव से सम्बोधित करके कह रहे हैं, "रे पागल, मन का मैल छोड़ दे। इन बाहरी वेशभूषा और क्रिया-कलापों के मोह का त्याग कर। अपने प्राणों पर नियन्त्रण रख तथा आसन पर दृढ़तापूर्वक जमा रह। अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित रह अथवा सच्चे स्वरूप की प्राप्ति के साधनभूत आसन पर दृढ़ रह। सींगी मुद्रा आदि बाहरी उपकरणों के सजाने तथा अंग पर भस्म लगाने से क्या होगा। अपने वास्तविक धर्म में, ज्ञान और भक्ति में या अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रह। सच्चा हिन्दू और सच्चा मुसलमान वही है जिसका ईमान ठीक ठिकाने है, जो दुरुस्त है। वही ब्राह्मण है जो ब्रह्म-ज्ञान की बात करता है। वही काजी है जो भगवान के दयालु स्वरूप को पहचानता है। कबीर कहते हैं कि ऐसी स्थिति में अपने सहज धर्म में प्रतिष्ठित रहने पर पूजा और साधना के बाहरी उपकरणों की आवश्

कता नहीं रहती । और कुछ भी मत करो; केवल राम-नाम का जप करके जीवन का लाभ प्राप्त करो । उसे सार्थक बनाओ ।

टिप्पणी—दृष्टांत अलंकार ।

पाठान्तर—तिवारी जी ने 'काजी' 'रहिमान' के स्थान पर 'सो जोगी जो धरै उनमानी ध्यान' पाठ दिया है । यह भी संगत अर्थ दे देता है ।

तुलना कीजिए :—"To engage in, your duty is the true Nmaskar,············and abiding in God in the only Asan."—महर्षि रमण :—Maharah's Gospel. P. 5.

ताथैं कहिये लोकाचार ।
वेद कतेब कथैं ब्यौहार ॥टेक॥
जारि बारि करि आवैं देहा' मूंवां पीछैं प्रीति सनेहा ॥
जीवत पित्रहि मारहि डंगा, मूंवां पित्र ले घालै गंगा ।
जीवत पित्र कूं न अन्न ख्वांवै, मूंवां पाखै प्यंड भरांवै ॥
जीवत पित्र कूं बोलैं अपराध, मुंवां पीछै देहि सराध ।
कहि कबीर मोहि अचिरज आवै, कऊवा खाइ पित्र क्यूं पावै ॥३५५॥

कबीर कहते हैं कि वेद और कुरान जगत् के व्यवहार का वर्णन करते हैं । इसी से उनकी बातों को लोकाचार ही कहना चाहिए । व्यक्ति अपने सम्बधियों के मृत शरीर को जलाकर आ जाता है और उसके बाद उनके प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति करता है । यह तो मरने के बाद का प्रेम और स्नेह है जिसका जीवित अवस्था में अभाव था । पुत्र जीवित पिता को लट्ठ से मारता है और मरने पर उसकी भस्म को पवित्र गंगा में पहुँचता है । वह जीवित पिता को तो अन्न भी खाने के लिए नहीं देता है और मरने पर परलोक एवं जन्म-जन्मान्तर में पिता की बुभुक्षा शान्त करने के लिए उसको पिण्डदान करता है जीते जी पिता को कटु शब्द कहता रहता है और मरने पर श्राद्ध (श्रद्धा की अभिव्यक्ति रूप कर्म) करता है यह सब सच्ची धर्म-बुद्धि से रहित दम्भ मात्र है । कबीर कहते हैं कि मुझे तो इनके अन्धविश्वासों पर आश्चर्य होता है । कौए जिस श्राद्ध के अन्न को खाते हैं उसे पितृ-गुण कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

टिप्पणी—सच्ची भावना से रहित पाखण्ड और दम्भ का खण्डन है । वैदिक विधि के मूल में रहने वाले धर्म-तत्त्व का अगर व्यक्ति साक्षात्कार नहीं कर पाता तो उसकी विधियाँ भी लोकाचार की तरह बहिरंग ही हैं । पर कबीर भी वेदों में उनके प्रतिपादित धर्म-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाये, इसलिए उनकी बुद्धि सर्वत्र वेदों के खण्डन में ही थी ।

बाप रांम सुनि बीनती मेरी ।
तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं चोरी ।।टेक।।
पहले कांम मुगध मति कीया, ता भै कंपै मेरा जीया ।।
रांम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा लीजै ।
कहै कबीर बाप रांम राया, अबहूँ सरनि तुम्हारी आया ।।३५६।।

कबीर कहते हैं, 'हे पिता मेरी प्रार्थना सुनो । चाहे अन्य लोगों से मैं अपने अपराधों को छिपाऊँ पर तुम्हारे समक्ष तो सब प्रकट ही हैं । पहले तो मैंने मूढ़मति होकर कार्य किये और अब उन्हीं के फल से भयभीत होकर मेरा कलेजा काँपता है। रे राजा राम, आप मेरी विनती सुनिये । पहले आप मेरे अपराधों को क्षमा करने का वचन दीजिए तथा उसके बाद मेरे किये गये कर्मों का ब्यौरा लीजिए । हे पिता, अब मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूँ ।''

टिप्पणी—प्रपत्ति एवं शरणागति की सहज भाव से अभिव्यक्ति है । पिता पुत्र के सम्बन्ध से इस भाव की सहजता बढ़ गई है ।

अजहूं बीच कैसें दरसन तोरा ।
बिन दरपन मन मांनैं क्यूं मोरा ।।टेक।।
हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजांनां, दुह मैं दोष कहौ किन रांमां ।।
तुम्ह कहियत त्रिभवन-पति राजा, मन बंछित सब पुरवन काजा ।
कहै कबीर हरि दरस दिखावौ, हमहि बुलावौ कै तुम्ह चलि आवौ ।।३५७।।

हे भगवान्, अब भी तुझमें और मुझमें अन्तर है । मुझमें इस अन्तर की चेतना एवं भेद की बुद्धि है । फिर मुझे तुम्हारे दर्शन कैसे हो सकते हैं ? पर आपके दर्शनों के बिना भी मेरा हृदय विकल है । मैं कुसेवक हूँ । क्या आप इस बात से अपरिचित हैं ? हे राम दोनों में दोष है, यह किसने कहा ? हे राम यह क्यों नहीं कहते हो कि दोनों में दोष है ? पर आप तो त्रिभुवनपति हैं और मन की सम्पूर्ण अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं । मेरे दोषी होने पर भी आप मेरी सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं । कबीर प्रार्थना करते हैं, हे भगवान्, आप मुझे दर्शन दें । या तो मुझे अपने पास बुला लें या आप स्वयं ही मेरे पास यहाँ चले आएँ । अर्थात् या तो मुझ में अद्वैत-भावना जगाकर अपने आप में मुझे लवलीन कर लें अथवा ऐसा अनुग्रह हैं कि मुझे जगत् और जीवन में सर्वत्र आपका सामीप्य और प्रेम-अनुभूति होती रहे ।

पाठान्तर—तिवारी जी के पाठ में एकाध शब्द का अभाव है ।

क्यूं लीजै गढ़ बंका भाई।
दोवर कोट अरु तेवड़ खाई ॥टेक॥
कांम किवाड़ दुख सुख दरबांनी, पाप पुंनि दरवाजा।
क्रोध प्रधांन लोभ बड़ दूंदर, मन मैंबासी राजा॥
स्वाद सनाह टोप ममिता का, कुबुधि कमांण चढ़ाई।
त्रिसना तीर रहे तन भींतरि, सुबुधि हांथि नहीं आई॥
प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ग्यांन चलाया।
ब्रह्म अग्नि ले दिया पलीता, एकै चोट डहाया॥
सत संतोष ले लरनैं लागे, तोरे दस दरवाजा॥
साध सगति अरु गुर की कृपा थैं, पकर्‌यौ गढ़ कौ राजा॥
भगवंत मीर सकति सुमिरण की, काटि काल की पासी।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि, राज दियौ अविनासी ॥३५८॥

रे भाई इस दुर्गम किले (शरीर) को कैसे जीता जा सकता है? इसकी दो प्राचीर (स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर अथवा अन्नमय एवं प्राणमय कोष की) तथा तीन खाइयाँ (मनोमय, विज्ञानमय, एवं आनन्दमय कोष की) हैं। इस प्रकार यह पाँच आवरण वाला है। इस शरीर की वृत्तियों के बहिर्गमन तथा विषयों का आकर्षण अर्थात् उनका शरीर में प्रवेश – दोनों ही काम अर्थात् इच्छा से नियन्त्रित होते हैं। जिनके लिए इच्छा जागती है, किवाड़ खुलते हैं और उनका ही प्रवेश होता है; अतः इसके काम रूपी किवाड़ हैं, और सुख-दुख ही इसमें पहरेदार हैं। क्योंकि वृत्तियाँ सुखात्मक एवं दुःखात्मक होती हैं इससे सुख-दुःख के आदेश से ही वृत्तियों के आने-जाने की कल्पना है। यही उनकी पहरेदारी है ये वृत्तियाँ पाप-पुण्य रूप हैं; उनके दो पृथक् पृथक् मार्ग हैं। इसी से पाप और पुण्य ही इसके दरवाजे हैं। अधिकांशतः मानव के मनोनुकूल नहीं होता है; अतः उसे क्रोध ही अधिक आता रहता है। शरीर पर उसी का प्रभुत्व हो जाता है। इस प्रकार क्रोध ही इस दुर्ग में प्रधान है। लोभ अपनी तृप्ति के लिए अत्यधिक द्वन्द्व मचाने वाला है। इस शरीर-रूपी दुर्ग का स्वामी और राजा अहंकारी मन है। राजा ने निम्नलिखित अस्त्र-शस्त्र धारण कर रखे हैं। स्वाद ही इसका कवच है। जीव इन्द्रियों के स्वाद से इतना वशीभूत रहता है कि हित की बात उसके अन्तःकरण तक पहुँचती भी नहीं; उपदेश का तीर स्वाद के कवच से टकराकर लौट जाता है; अन्तःकरण के मर्म को नहीं छेद पाता है। इसने ममता का तिरस्त्राण पहन रखा है। मानव का अहं, उसका व्यक्तित्व अपनों की ममता से —उनके प्रति राग-द्वेष से —इतना घिर जाता है, इतना ढक जाता है कि उस पर ज्ञान और प्रेम का प्रहार ही नहीं हो पाता है। वह सांसारिक ममता के कारण ज्ञानी और भक्त का अहं नहीं बन पाता है। 'अहं' जीव का शिरोभाग

है; अतः ममता 'शिरस्त्राण' है। मन-रूपी राजा ने कुबुद्धि का धनुष चढ़ा रखा है। इस शरीर रूपी तूणीर में तृष्णा के ही तीर हैं। इस दुर्ग में सुबुद्धि तो कहीं मिलती भी नहीं है। अथवा सुबुद्धि कहीं भी नहीं मिल पाई; उपदेशों से सुबुद्धि हस्तगत नहीं हो सकी। इस दुर्ग को जीतने का उपाय निम्नलिखित है। मैंने अर्थात् ज्ञानी एवं भक्त ने इसी उपाय से इस दुर्ग को जीत लिया है। सुरति रूपी नाल (तोप की नाल) में ईश्वर-प्रेम की बत्ती (तोप की बारूद में आग लगाने की) से ज्ञानाग्नि लगाकर मैंने आत्म-बोध का गोला चलाया और एक ही प्रहार में इस दुर्ग को गिरा दिया। स्वरूप-स्थिति के कारण देहाध्यास छूट जाता है। यह अध्यास ही शरीर की जड़ है; अतः अध्यास के नष्ट होने पर इस शरीर-रूपी किले की जड़ समाप्त हो जाती है। आसक्ति और वासना के समाप्त होने पर वस्तुत; शरीर रहता नहीं; केवल दीखता भर है। सत्य-निष्ठा एवं सन्तोष की सेना के साथ दुर्ग के झूठ, कपट, लोभ आदि भीतरी शत्रुओं से मैंने लड़ना प्रारम्भ किया और उसके दसों दरवाजे (दसों इन्द्रियों) तोड़ दिये। इससे जीव,चैतन्य की केवल इन्द्रियों के माध्यम से अभिव्यक्ति की सीमायें समाप्त हो गई हैं। अब जीव को अपने सर्वव्यापी चैतन्यत्व का भान होने लगा है। साधु-संगति तथा गुरु की कृपा के सहारे से मैंने अहंकारी दुर्गपति मन को भी अपने वश में कर लिया, उस पर ज्ञान और प्रेम का अधिकार हो गया है। भाग्यवत कर्मों की भीड़ अथवा उनके पक्षधर होने तथा नाम-स्मरण की शक्ति से मैंने काल का बन्धन भी तोड़ दिया। इस भगवान् के दास कबीर ने इस शरीर-रूपी गढ़ पर आक्रमण किया है और इसने शरीर-रूपी दुर्ग पर अपना अधिकार जमा लिया है। अविनाशी भगवान् ने उसको इसका राज्य दे दिया है। अथवा उसने इसका कभी भी नष्ट न होने वाला राज्य अर्थात् अनन्त जीवन प्राप्त कर लिया है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार। विषयी जीवन एवं ज्ञान और भक्तिमय साधना का जीवन—इसमें दोनों का ही वर्णन है। अन्तिम पंक्ति में 'दियौ' के स्थान पर 'लियौ' पाठ भी है। इस दृष्टि से भी ऊपर अर्थ दे दिया गया है।

रैनि गई मति दिन भी जाइ।
भंवर उड़े बग बैठे आइ ॥टेक॥
कांचै करवै रहै न पानीं, हंस उड़्या काया कुमिलांनीं॥
थरहर थरहर कंपै जीव, नां जांनू का करिहै पीव॥
कऊवा उड़ावत मेरी बहियाँ पिरांनीं, कहै कबीर मेरी कथा सिरांनीं ॥३५६॥

कबीर जीवात्मा रूपी पत्नी की परमात्मा रूपी पति से मिलन के पूर्व की मनःस्थिति का वर्णन कर रहे हैं। यह उस विवाहित की मनःस्थिति है जिसका अभी पति से समागम नहीं हुआ है। वह उसकी प्रतीक्षा कर रही है। जीवात्मा कहती है कि यौवन रूपी रात्रि तो पति के प्रति उत्कट प्रेम होते हुए भी उसके वास्तविक स्वरूप के अज्ञान में ही व्यतीत हो गई। अब बोधपूर्ण दिन अर्थात् वृद्धावस्था भी पति मिलन के बिना ही न चली जाय। यौवन की उद्दाम अभिलाषाओं तथा काले

घुंघराले बालों के प्रतीक भौंरें तो उड़ गये हैं, जिनके भँवरों में मैं अपने प्रियतम को उलझाये रखती। अब तो ज्ञान-रूपी दिन में उठने वाली सात्त्विक प्रेम की भावना एवं वृद्धावस्था के द्योतक श्वेत केशों के प्रतीक बगुले बैठे हुए हैं। बोध-सहित सात्त्विक प्रेम में मैं पति से मिलने के लिए उत्सुक हूँ। पर देरी के कारण हृदय विकल है; यह शरीर कच्ची मिट्टी के बर्तन के समान है। कब तक टिकेगा ? बोध रूप हंस के उड़ जाने अर्थात् शिथिल हो जाने पर पति-मिलन को आकांक्षा रूप शरीर कुम्हला जायेगा (प्रेम की विकलता के कारण यह आशंका मात्र है। एक बार का जागा हुआ बोध समाप्त नहीं होता; न मिलन की आकांक्षा ही कुम्हलाती है)। पति समागम की कल्पना से कुछ भयमिश्रित आनन्द के कारण मेरा हृदय थर-थर काँप रहा है। पता नहीं पति के मिलन पर क्या होगा ? पति के आगमन की प्रतीक्षा में कौए उड़ाते-उड़ाते मेरी बाहें भी दर्द करने लगी हैं। अथवा सांसारिक वासना-रूपी कौए कहीं इस पवित्र शरीर को कलुषित न कर दें, इस भावना से उन कौओं को भगाते-भगाते मेरी कायायोग की साधना एवं संशय की भुजाओं में भी पीड़ा होने लगी है। कबीर कहते हैं कि इस लम्बी प्रतीक्षा में मेरी प्रेम-कथा अर्थात् प्रेम की विकलता भी शिथिल पड़ रही है। (यह भी मिलनेच्छा की उत्पादकता के कारण जागी हुई आशंका मात्र है, वास्तविक शिथिलता की स्वीकृति नहीं।

टिप्पणी—सरल रूपकों के द्वारा की गई गहरी एवं हृदयस्पर्शी सुन्दर भाव-व्यंजना वाले ऐसे पद कबीर के कवित्व के उत्कृष्ट प्रमाण हैं ये उत्तम काव्य के अर्थात् रस ध्वनि के भी सुन्दर उदाहरण हैं कान्तासक्ति के इस भक्ति-पद में भक्ति एवं लौकिक प्रेम—दोनों की रसावस्था की अनुभूति है। यह रस का पंचामृत है। यह पद कबीर को अपने तथा जीव-सामान्य के साधना-रूपी जीवन का यौवन से लेकर वृद्धावस्था तक का लेखा-जोखा भी है। इसमें रहस्यवाद, ज्ञान और भक्ति के कबीर के अथवा कबीर द्वारा मान्य साधक जीवन के क्रमिक विकास तथा उनके पारस्परिक समन्वय की सुन्दर व्यंजना है। कायायोग भी इसमें सहयोगी है; इसका भी संकेत है।

'रैनि गई तथा भँवर उड़'—ये दोनों रहस्यवादी एवं यौवन के वेसुध प्रेम एवं उस समय की मनःस्थिति का स्मरण दिला रहे हैं। यह साधना का भी यौवन है। उस समय भगवान् के प्रति प्रेम एवं विरह की उत्कटता थी और ज्ञान की परिपक्वावस्था के अभाव में विकलता अधिक रहती है। फिर ज्ञान से जाग्रत अद्वैत-निष्ठा प्रेम की स्निग्धता को बढ़ाती है, पर उसमें विकलता कम रहती है।

'दिन' और 'बक'—ज्ञान-मिश्रित भक्ति एवं साधना के परिपक्व अवस्था के प्रतीक हैं।

काहे कूं भीति बनाऊं टाटी।
का जानूं कहा परिहै माटी ।।टेक।।

काहे कू मंदिर महल चिणाऊँ, मूंवा पीछै घड़ी एक रहण न पाऊं।
काहे कूं छाऊं ऊंच उंचेरा, साढ़े तीन हाथ घर मेरा॥
कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तेती भुंइ लीजै॥३६०॥

कबीर जीवन की क्षणिकता के आश्वस्त तथा विरक्त व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते हुए कहते हैं कि मैं दीवार और अटारी किसलिए उठाऊँ ? पता नहीं इस शरीर की मिट्टी कहाँ गिरेगी ? मन्दिर और महल किसलिए चुनाऊँ ? मरने के बाद तो एक क्षण भी यह शरीर उस मन्दिर और महल में रह नहीं सकता। ऊँची-ऊँची छतें किसलिए डालूँ ? मेरा यह शरीर तो केवल साढ़े तीन हाथ का ही है। कबीर कहते हैं कि मनुष्य को इस शरीर की ममता और अभिमान में फँसकर एवं इसको अमर मानकर बहुत लम्बे-चौड़े महल नहीं बनाने चाहिए। जितना शरीर लम्बा-चौड़ा है, बस उतनी ही जमीन घेरनी चाहिए। मरने पर भी तो उतना ही स्थान घेरता है।

टिप्पणी—जीवन की क्षणभंगुरता को ध्यान में रखते हुए अपरिग्रह का उपदेश है।

बार बार हरि का गुण गावै।
गुर गमि भेद सहर का पावै॥टेक॥
आदित करै भगति आरंभ, काया मंदिर मनसा थंभ॥
अकंड अहनिसि सुरष्या जाइ, अनहद बेन सहज में पाइ॥
सोमवार ससि अमृत झरै, चाखत बेगि तपै (तबै) निसतरै॥
बांणी रोक्यां रहै दुवार, मन मतिवाला पीवनहार॥
मंगलवार ल्यौ मांहींत, पंच लोक की छाड़ौ रीत।
घर छाड़ै जिनि बाहिर जाइ, नहीं तर खरौ रिसावै राइ॥
बुधवार करै बुधि प्रकास, हिरदा कँवल में हरि का बास।
गुर गमि दोऊ एक समि करै, ऊरध पंकज थैं सूधा धरै॥
ब्रिसपति बिषिया देइ बहाव, तीनि देव एकै संगि लाइ।
तीनि नदी तहाँ त्रिकुटी माँहि, कसमल धोवै अहनिसि न्हांहि।
सुक्र सुधा ले इहि व्रत चढ़ै, अह निसि आप सूँ लड़ै।
सुरषी पंच राखिये सबै, तौ दूजी द्रिष्टि न पैसे कबै॥
थावर थिर करि घट मैं सोइ, जोति दीवटी मेल्है जोइ।
बाहरि भीतरि भया प्रकास, तहाँ भया सकल करम का नास॥
जब लग घट मैं दूजी आंण, तब लग महलि न पावै जांण।
रमिता रांम सूं लागे रंग, कहै कबीर ते निर्मल अंग॥३६१॥

कबीर कहते हैं कि हमेशा भगवान् का गुणगान करो, ताकि गुरु के द्वारा ही प्राप्त कराये जाने वाले शहर अर्थात् परमतत्त्व को पहुँच सको अथवा उस रहस्य से भगवान् हरि को प्राप्त कर सको। रविवार को भक्ति प्रारम्भ करो तथा शरीर रूपी मन्दिर को प्रेम-संकल्प रूपी खम्भे का आधार प्रदान करो। इससे रात-दिन अखण्ड सुरलहरी हृदय में प्रवेश करती रहेगी अथवा रात-दिन वह अखण्ड आत्म-स्थिति सुरक्षित रह सकेगी तथा अनहदनाद भी सहज ही सुनाई देता रहेगा। सोमवार को सहस्रार के चन्द्रमा से अमृत झरता है। उसने चखने मात्र से मूलाधार चक्र को अथवा शरीर की पतन से शीघ्र ही मुक्ति मिलेगी। जीभ इस अमृत के द्वार पर लगी रहती है और इस रस में, मतवाला मन इसको पीता रहता है। मंगलवार को असलीयता में, तत्त्व में, लवलीन रहो तथा काम-क्रोधादिक पाँचों लोकों की रीति छोड़ दो। घर छोड़कर बाहर मत जाओ अर्थात् गृहस्थ के कर्त्तव्यों और धर्म से विमुख मत बनो अन्यथा राजाराम निश्चय ही रुष्ट हो जायेंगे। बुधवार के दिन बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश करो तथा हृदय-कमल में भगवान् का निवास है, यह ध्यान भी करो। गुरु के द्वारा दिए गए इस ज्ञान से दोनों को अर्थात् ज्ञान एवं प्रेमयोग को समान भाव से ग्रहण करना चाहिए अथवा इड़ा-पिंगला को सम करके, उनको सुषुम्ना में समाहित कर दे। सामान्य पुरुष में सहस्रदल कमल अधोमुखी रहता है; उसे आज के दिन साधना के द्वारा साधक को ऊर्ध्वमुखी कर लेना चाहिए। बृहस्पतिवार को विषयों को बहा दे तथा तीनों देवताओं को एक ब्रह्म में लीन समझे। त्रिकुटि स्थान की इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की नदियों में रात-दिन अपने कलमषों तथा विषय राग को धोता रहे। शुक्रवार को साधना का अमृत लेकर यह व्रत धारण करे कि रात-दिन अपने मन की कुवासनाओं से जूझता रहूँगा। अपनी पाँचों इन्द्रियों को भगवान् के अनुराग में रगी रखे तो कभी भी व्यक्ति में द्वैत की दृष्टि का प्रवेश ही न हो। शनिचर (अर्थात् धीरे-धीरे चलने वाला) को अपना हृदय स्थिर करे तथा अन्तःकरण में उसी परम ज्योति को प्रेम एवं ज्ञानवृत्तियों के दीपधार में रखकर प्रज्वलित करो। उस ज्योति से ज्योंही बाहर-भीतर दोनों में प्रकाश होगा त्यों ही सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जायेगा। जब तक अन्तःकरण में द्वैत की भावना है तब तक अपने स्वरूप में स्थिति नहीं हो सकती है; यही निश्चय समझो। राम में रमण करते हुए मन पर उसी का रंग चढ़ जाता है। कबीर कहते हैं कि ऐसे ही व्यक्तियों का अन्तःकरण निर्मल होता है।

टिप्पणी—सप्ताह भर के व्रतों का नवीन साधन-परक एवं आध्यात्मिक अर्थ दिया गया है।

रांम भजै सो जांनिये, जाके आतुर नांही।
सत संतोष लीयैं रहै, धीरज मन मांही ।।टेक।।
जन कौं कांम क्रोध ब्यापै नहीं, त्रिष्णां न जरावै।
प्रफुलित आनंद में, गोब्यंद गंण गावै।।

जन कौ पर निंद्या भावै नहीं, अरु असति न भावै।
काल कलपनां मेटि करि, चरनूं चित राखै॥
जन समद्रिष्टी सीतल सदा, दुबिधा नहीं आनै।
कहै कबीर ता दास सूं मेरा मन मांनें॥३६२॥

राम भजन करने वाला वही माना जाता है जिसमें विषयों के प्रति आतुरता नहीं होती। वह निरंतर सत्य और सन्तोष धारण किए रहता है और मन में ईश्वर-भक्ति की दृढ़ता एवं जगत् के सुख-दुःखात्मक व्यवहार में धैर्य रखता है। भक्त को काम-क्रोधादिक व्याप्त नहीं करते और तृष्णा उसे जलाती नहीं। वह भक्ति के महारस में प्रफुल्लित रहता है और गोविन्द का गुणगान करता रहता है। भक्त को परनिंदा अच्छी नहीं लगती है। वह कभी असत्य भाषण भी नहीं करता है। वह काल के प्रभावों को नष्ट करके भगवान् के चरणों में चित्त लगाये रहता है। वह भक्त सुख-दुःखादिक के द्वन्द्वों के प्रति सम-दृष्टि हो जाता है और इससे वह निरंतर शीतलता का ही अनुभव करता रहता है। उसके हृदय में किसी प्रकार की द्विविधा नहीं रहती है। कबीर कहते हैं कि उसी दास के लिए मेरे हृदय में श्रद्धा और प्रेम का भाव जागता है।

माधौ सो न मिलै जासौं मिलि रहियै।
ता कारनि बर (नर) कहु दुख सहियै॥टेक॥
छत्रधार देखत ढहि जाइ, अधिक गरब थैं खाक मिलाइ॥
अगम अगोचर लखीं न जाइ, जहां का सहज फिरि तहां समाइ॥
कहै कबीर झूठे अभिमान, सो हम तुम्ह एक समान॥३६३॥

हे माधव, वह तत्त्व नहीं मिलता जिससे मिलकर तदाकार रहने की इच्छा रहती है। उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को चाहे कितने ही कष्ट उठाने पड़ें उससे तदाकार रहने की इच्छा रहती ही है। सांसारिक वैभव का अभिमान करने वाला छत्रधारी देखते ही देखते नष्ट हो जाता है। अधिक अभिमान से व्यक्ति मिट्टी में ही मिल जाता है। उसे वह अगम्य और अगोचर तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता है जिसमें आत्मा का सहज रूप संसार से विमुख होकर समाहित हो जाता है। व्यक्ति को अपने बड़प्पन और पृथक्ता का मिथ्या ही अभिमान है। वास्तव में जो कुछ हम हैं तत्त्वतः तुम भी वही हो।

टिप्पणी—व्यक्ति, व्यक्ति की समानता तथा जीव और ब्रह्म, की एकता प्रतिपादित है।

अहो मेरे गोब्यंदा तुम्हारा जोर।
काजी बकिबौ हस्ती तोर॥टेक॥

बांधि भुजा भलैं करि (भैंसाकरि) डारयौ, हस्ती कोपि मूंड में मार्यो ॥
भाग्यौं हस्ती चीसां मारी, व मूरति की में बलिहारी ॥
महावत तोकूं मारौं साटी, इसहि मराऊं धालौं काटी ॥
हस्ती न तोरै धरै धियांन, वाकै हिरदै बसै भगवांन ॥
कहा अपराध संत हौ कीन्हां, बांधि पोट कुंजर कूं दीन्हां ॥
कुंजर पोट बहु बंदन करै, अजहूं न सूझै कांजी अंधरैं ॥
तीनि बेरि पतियारा लीन्हां, मन कठोर अजहूं न पतीनां ॥
कहैं कबीर हमारै गोब्यंद, चौथे पद मैं जन का ज्यंद ॥३६४॥

हे भगवान्, तुम्हारी शक्ति अपरमित है। काजी ने बकवास किया। मुझे मारने का हाथी को आदेश दे दिया। पर भगवान् हाथी तो तुम्हारा था। वह तुम्हारी प्रेरणा के बिना कैसे कार्य करता? काजी के कहने पर भले ही सिकन्दर लोदी ने मेरे हाथों को बाँधकर मुझे इकट्ठा करके, मेरा पिण्डा बनाकर मुझे हाथी के समक्ष डाल दिया हाथी ने क्रोध करके सिर पर चोट भी मारी; पर वह वेदना के स्वरों के साथ उल्टा ही भागा। मैं भगवान् की उस मूर्ति का बलिहारी हूँ जिसके डर से हाथी भाग खड़ा हुआ। काजी ने कहा, 'रे महावत, तुम्हें कोड़े लगाऊँगा। इस हाथी को मरवा दूँगा और कटवा कर डलवा दूँगा।' पर हाथी ने भगवान् का ध्यान छोड़ा ही नहीं। उसके हृदय में तो भगवान् बसे हुए थे। कबीर सोचते हैं, हे भगवान्, सन्त होकर कबीर ने क्या अपराध किया कि उसे बाँधकर हाथी के समक्ष डाल दिया गया।" भगवान् की कृपा से हाथी को ज्ञान हो गया था। वह बार-बार उस गठरी को (कबीर के बँधे हुए शरीर को) प्रणाम करने लगा। पर तब भी अज्ञानी और अंधे काजी की समझ में नहीं आया। तीन बार उसने हाथी की इस प्रकार परीक्षा ली; पर तब भी कठोर-हृदय काजी के मन में भगवान् की असीम शक्ति के प्रति विश्वास नहीं जाम सका। कबीर कहते हैं, "हे मेरे स्वामी, चौथी परीक्षा में मैं आपकी कृपा से सामान्य मानव से अपूर्व तेजवाला प्राणी बन गया। तब तो वे लोग मुझे पीर ही मानने लगे।"

टिप्पणी—सिकन्दर लोदी ने कबीर को हाथी के पैर के नीचे डलवा दिया था। इस जनश्रुति की ओर ध्यान दिलाने के कारण इस पद का विशिष्ट चरितमूलक महत्त्व है।

कुसल खेम अरु सही सलांमति, ए दोइ काकौं दीन्हां रे।
आवत जांत दुहूँधा (दूहूंधा) लूटे, सर्ब तत हरि लीन्हां रे ॥टेक॥
माया मोह मद मैं पीया, मुगध कहैं यहु मेरी रे।
दिवस चारि भलै मन रंजै, यहु नाहीं किसी केरी रे ॥

सुर नर मुनि जन पीर अवलिया, मीरां पैदा कीन्हां रे।
कोटिक भये कहां लूं बरनूं, सबनि पयानां दीन्हां रे॥
धरती पवन अकास जाइगा, चंद जाइगा सूरा रे।
हम नांहीं तुम्ह नांहीं रे भाई, रहे रांम भरपूरा रे॥
कुसलहि कुसल करत जग खींना, पड़े काल भौ पासी रे।
कहै कबीर सबै जग बिनस्या, रहै रांम अविनासी रे॥३६५॥

कुशल-क्षेमपूर्वक तथा सही सलामत रहना यह जगत् में किसी का भी भाग्य नहीं है। भगवान् ने ये किसको दिये हैं? इस संसार में आते-जाते दोनों ही अवसरों पर व्यक्ति लुटता है। आते समय अपने शुद्ध चैतन्य-स्वरूप को भूल जाता है और अन्त में भक्ति के लिए प्राप्त अमूल्य जीवन-निधि को व्यर्थ खोकर चला जाता है। माया जीव के सम्पूर्ण तत्त्व को हर लेती है। यह जीव माया-मोह की शराब पिये हुए है। उससे मूर्ख होकर मानव यही कहता है कि यह धन-वैभव मेरा है। चार दिन के लिए व्यक्ति भले ही अपना मन प्रसन्न कर ले। पर यह माया किसी की नहीं है। देवता, मानव, मुनि, भक्त, औलिया, श्रेष्ठजन आदि भगवान् ने अनेक व्यक्ति पैदा किये। ऐसे करोड़ों पैदा हुए उनका कहाँ तक वर्णन करूँ? पर सभी इस संसार से प्रयाण कर गये। यह संसार नश्वर है। धरती, पवन, आकाश आदि ये सब चले जायेंगे। चन्द्रमा और सूर्य भी जायेंगे न हम रहेंगे और न ये भाई पुत्रादिक रहेंगे। हमारी तुम्हारी वास्तविक सत्ता नहीं है वास्तव में तो राम ही सर्वत्र रमे हुए हैं; उन्हीं की सत्ता है। कुशल मानते और सांसारिक वैभवों की आकांक्षा करते-करते और उनको भोगते-भोगते सारा संसार क्षीण होता जा रहा है। जीव अपने शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप को भूलता जा रहा है। उसके गले में काल की फांसी पड़ रही है। कबीर कहते हैं कि सारे संसार के नष्ट होने पर केवल अविनाशी भगवान् ही शेष रहते हैं।

मन बनजारा जागि न सोई।
लाहे कारनि मूल न खोई॥टेक॥
लाहा देखि कहा गरवांना, गरब न कीजै मूरिख अयांनां।
जिन धन संच्या सो पछितांनां, साथी चलि गये हम भी जांनां॥
निसि अंधियारो जागहु बंदे, छिटकन लागे सबही संधे।
किसका बधू किसकी जोई, चल्या अकेला संगि न कोई॥
ढरि गए मन्दिर टूटे बंसा, सूके सरवर उड़ि गये हंसा॥
पंच पदारथ भरिहै खेहा, जरि बरि जायगी कंचन देहा॥
कहत कबीर सुनहु रे लोई, रांम नांम बिन और न कोई॥३६६॥

रे मन रूपी बनजारे, अब तुम एक बार जागकर अज्ञान की नींद में सोओ मत; अब तो जागे रहो। इन सांसारिक लाभों के लिए अपनी आत्मा के मूल आनन्द-स्वरूप को मत गँवाओ। सांसारिक सुखों के लाभ को देखकर तुम्हें क्या अभिमान हो गया है? अरे अज्ञानी, मूर्ख इस पर तुम अभिमान मत करो। जिन लोगों ने इस धन का संचय किया था वे सब लोग अन्त में पछताये ही हैं। हमारे सब साथी मृत्यु के ग्रास होकर इस संसार से चले गये हैं। हमें भी एक दिन जाना है। रे बंदे, यह जीवन अज्ञान की अँधेरी रात हैं। इसमें संगी-साथी बिछुड़ते जा रहे हैं। इस संसार में कौन किसका भाई है और कौन किसकी स्त्री है? जीव को अकेला ही जाना पड़ता है। कोई किसी के साथ नहीं जाता। सारे महल ढह गये हैं और उनके बाँस भी टूट गये हैं। सारे तालाब सूख गये हैं और उन पर रहने वाले हंस भी उड़ गये हैं। अर्थात् संसार के भोग-क्षेत्र (शरीर) एवं उनके उपकरण सभी नष्ट होते हैं। भोग-विलास के तालाब सूख जाते हैं; शरीर की विषय-रस लेने की क्षमता भी क्षीण हो जाती है और उनकी भोग करने वाली जीवात्मायें चली जाती हैं। वैभव के प्रतीक पाँचों पदार्थ धूल में मिल जाते हैं और सोने की सी देह जलकर भस्म हो जाती है। कबीर कहते हैं कि, "रे लोगो सुनो। राम नाम के स्मरण को छोड़कर इस संसार में अन्य कोई सहारा नहीं है।"

टिप्पणी—सांगरूपक और रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग।

मन पतंग चेते नहीं जल अंजुरी समांन।
विषिया लागि बिगूचिये, दाझिये निदांन ।।टेक।।
काहे नैंन अनंदियै, सूझत नहीं आगि।
जनम अमोलिक खोइये, सांपनि संगि लागि ।।
कहै कबीर चित चंचला, गुर ग्यांन कह्यौ समझाइ।
भगति हींन नजर ई (जरई) जरै, भावैं तहां जाइ ।।३६७।।

कबीर कहते हैं कि यह मन-रूपी पतंग सावधान नहीं होता है। वह इस बात का विचार नहीं करता है कि यह जीवन केवल अंजलि का जल है जो क्षण भर में ही रिस कर समाप्त हो जाता है। यह मन विषयों में आसक्त होकर नष्ट हो रहा है। इसका अन्त जलने में ही है। नेत्रों पर क्या आनन्दित होना, क्या गर्व करना जब इनको विषयों की अग्नि दिखाई नहीं देती है। वासना-रूपी सर्पिणी के साथ लग कर इस जीव ने अपना अमूल्य आनन्द तत्त्व ही खो दिया है। कबीर कहते हैं कि यह चित्त चंचल बिजली है। यह बात गुरु के ज्ञान ने पर्याप्त समझाकर बता दी है। भक्तिहीन दृष्टि को ताप का ही अनुभव होता है चाहे वह कहीं भी चली जाय, किसी भी विषय पर पड़े।

टिप्पणी—रूपक अलंकार ।

पाठान्तर—'काहे नैन उनदियै' ये नेत्र विषयों में निद्रालु कैसे हो गये हैं, इन्हें विषयों की आग नहीं दिखाई दे रही है ?

स्वादि पतंग जरै जर जाइ ।
अनहद सौं मेरौ चित न रहाइ ।।टेक।।
माया कै मदि चेति न देख्या, दुबिध्या मांहि एक नहीं पेख्या ।।
भेष अनेक किया बहु कीन्हां, अकल पुरुष एक नहीं चीन्हां ।।
केते एक मूये मरहिंगे केते, केतेक मुगध अजहुँ नहीं चेते ।।
तन्त मन्त सब औषद माया, केवल राम कबीर दिढाया ।।३६८।।

कबीर कहते हैं कि विषय-स्वाद में लगा हुआ यह मेरा मन-रूपी पतंग बार-बार जलता है । अनहद नाद के सुख में मेरा चित्त लगता ही नहीं है । माया के नशे में यह जीव सावधान होकर असली तत्त्व को नहीं समझता है । अज्ञान जनित द्विविधा तथा द्वैत-भावना में पकड़कर मैं अद्वैततत्त्व के दर्शन नहीं कर पाया । जीव ने माया में पकड़कर अनेक वेप धारण किये हैं और आगे करेगा । इन जन्मों के चक्कर काटते हुए वह उस एक एवं अखंड चैतन्य-पुरुष को कभी नहीं देख सका है । इस संसार-चक्र में कितने ही मर गये हैं और कितने ही मर रहे हैं पर इतना देखकर भी कितने ही मूर्ख अब भी सावधान नहीं हो रहे हैं । तन्त्र-यन्त्र, औषध आदि सभी केवल माया है, नश्वर है । इसी से कबीर ने अपना मन भगवान् राम की भक्ति में ही दृढ़ कर लिया है ।

एक सुहागनि जगत प्यारी ।
सकल जीव जन्त की नारी ।।टेक।।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै ।।
रखवाले का होइ बिनास, उतहि नरक इत भोग बिलास ।।
सुहागनि गलि सोहै हार, सन्तनि बिख बिलसै संसार ।।
पीछैं लागी फिरैं पचि हारी, सन्त की ठठकी फिरै बिचारी ।।
सन्त भजै वा पाछी पड़ै, गुर के सबदूं मार्‌यौ डरै ।।
साषत कै यहु प्यड परांइनि, हमारी द्रिष्ठि परै जैसे डांइनि ।।
अब हम इसका पाया भेव, होय कृपाल मिले गुरदेव ।।
कहै कबीर इब बाहरि परी, संसारी कै अचल (आंचलि) टरी ।।३६९।।

कबीर कहते हैं कि यह माया रूपी सुन्दरी जगत् की प्यारी है । वह सम्पूर्ण जीव-जन्तुओं की प्रेयसी है । जब इस माया का एक पति मर जाता है तो यह उसके लिए रोती नहीं है । उसका दूसरा कोई जीव रखवाला बन जाता है । जीव माया

से चिपका रहता है; पर इसको जीव से कोई आसक्ति नहीं है। वह एक के नष्ट होने पर दूसरे के आधिपत्य में आ जाती है। इसके रखवाले का भी नाश ही होता है। उसे परलोक में नरक ही भोगना पड़ता है, चाहे यहाँ पर वह भोग-विलास ही करता रहा हो अथवा उसके (पति के) नरक में पड़े रहने पर भी मह माया सुन्दरी तो यहाँ भोग-विलास में ही रमी रहती है। इस सुहागिन के गले में सुन्दर एवं आकर्षक वासना-रूपी विजय का हार पड़ा हुआ है पर संतों के लिए तो यह आकर्षक नहीं अपितु विष हैं। संसार इस माया को भोगता रहता है। संतों के पीछे यह स्वयं लगी फिरती है पर उनको मोहित करने में यह प्रयत्न करके भी हार जाती है। यह विचारी माया संतों के डर से ठिठकी हुई इधर-उधर भागती फिरती है। संत लोग इससे दूर भागते फिरते हैं और माया उनके पीछे पड़ी रहती है। पर यह गुरु के उपदेश से मारी हुई संतों से डरता भी रहती है। उनको छूती नहीं। शाक्त या हरिविमुख के शरीर को तो यह अत्यन्त प्रिय प्रतीत होती है; उसके शरीर की यह आसक्ति है, या उसके लिए तो यह पिंड (भोग के उपयुक्त शरीर) अन्तिम प्राप्य है। अथवा शाक्त के लिए यह परायण पिंड है अर्थात् यह वह नारी शरीर है जिसके द्वारा वह वामाचार की साधना करता है पर हमारी अर्थात् भक्तों की इस पर डाइन की तरह दृष्टि पड़ती है। जब कृपालु गुरु से मेरा साक्षात्कार हुआ तब मुझे इस माया सुन्दरी का रहस्य भी समझ में आ गया। कबीर कहते हैं कि यह माया मुझसे तो बाहर, दूर पड़ी हुई है, मुझे नहीं स्पर्श कर पाती है। यह विषयी व्यक्तियों के लिए अचल है उनमें आंचल में ही चली गई है। यह उनको कभी नहीं छोड़ती पर मेरे लिए तो टल गई है।

टिप्पणी—सांगरूपक और 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

पारोसनि मांगै कंत हमारा।
पीव क्यूं बौरी मिलहि उधारा ॥टेक॥
मासा मांगै रती न देऊं, घटे मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊं॥
राखि परोसनि लरिका मोर, जे कछु पाऊं सु आधा तोर॥
बन बन ढूंढ़ों नैन भरि जोऊं, पीव न मिलै तौ बिलखि करि रोऊं॥
कहै कबीर यहु सहल हमारा, बिरली सुहागिन कन्त पियारा ॥३७०॥

कबीर भक्त ज्ञानी एवं साधक जीवात्मा के रूप में कह रहे हैं, "हे माया, रूप पड़ोसिन! तुम मुझसे मेरा परमात्मा रूपी पति माँगती हो, पर पागल, पति कहीं उधार नहीं मिलता है। उसे तो अपने प्रेम से प्राप्त किया जाता है और निरन्तर अपने पास ही रखा जाता है। तुम माशा भर माँगो तो मैं तुम्हें उसका रत्ती भर भी नहीं दूँगी। अगर पति और प्रेम के उधार देने से मेरे प्रेमी के हृदय में मेरे प्रति रहने वाले प्रेम तथा उसके प्रति मेरे हृदय में कमी हो जायेगी तो उस कमी की पूर्ति कहाँ से लूँगी री। विद्या-रूप पड़ोसिन, तुम अपने सात्विक रूप से मेरे विवेक-रूप पुत्र की

रखवाली करो, उसको क्षीण मत होने दो अथवा मेरे कर्मों तथा उनके बन्धनों को अपने पास रख लो। उसके बाद परमेश्वर-रूप पति से जो कुछ अर्थात् आनन्द भक्ति आदि जो कुछ मुझे मिलेगा उसमें से आधा तुम्हें दे दूँगी। मैं वन-वन में अर्थात् सर्वत्र एवं विभिन्न साधनाओं में अपने पति को ढूँढ़ रही हूँ। नेत्रों की पूरी सामर्थ्य से उन्हें देख रही हूँ। अथवा मिलने पर नेत्र भर कर उन्हें निरखूँगी और न मिले तो बिलख-बिलख कर रोऊँगी। कबीर कहते हैं कि जीवात्मा-रूपी पत्नी का स्वभाव है। अपने पति परमेश्वर के सहजभाव से प्रेम करना पर फिर भी विरली सुहागिन जीवात्मा को ही अपना परमात्मा-रूप पति वास्तव में प्रिय लगता है।

टिप्पणी—प्रतीकों एवं सांगरूपक अलंकार का प्रयोग।

पड़ोसिन—माया का जीव के साथ साहचर्य है, पर वह पराई है। जीव से उसका कोई पारमार्थिक सच्चा सम्बन्ध नहीं है। अतः वह पड़ोसिन है।

कन्त उधार मांगना—प्रियतम ईश्वर को कुछ देर के लिए अपने हृदय से अलग रखने की माया के द्वारा जीवात्मा को दी गई प्रेरणा। अथवा जीवात्मा का माया या विषय-वासनाओं में आनन्द लेना।

माशा माँगना और रत्ती न देना—माया का जीवात्मा को बहुत देर तक ईश्वर से पृथक् रखने तथा विषयों में अनुरक्त रखने का प्रयास रत्ती न देना है तथा जीवात्मा का एक क्षण के लिए भी ईश्वर से दूर न होने एवं विषयों में आसक्त न होने का संकल्प, माशा माँगना है।

घटै ···· लेऊ—माया के प्रभाव से प्रियतम को क्षण भर के लिए ही भूलना, अन्य माया-ग्रसित जीवों को प्रेमास्पद मानना उनको प्रेमोपदेश करने अहंकार और अपने ही प्रेमी होने का दम्भ—ये सब जीवात्मा की अनन्यता, निरभिमानता एवं समर्पण-बुद्धि रूप प्रेम को कम करते हैं तथा अनुग्रह-रूप ईश्वर-प्रेम को घटाते हैं। लौकिक प्रेम की तरह आध्यात्मिक प्रेम की अन्य किसी भी वस्तु से क्षति-पूर्ति सम्भव नहीं। उसका कोई भी अंश दूसरे से नहीं लिया जा सकता है, वह तो पूर्ण रूप से आत्मा अथवा परमात्मा से ही प्रेरित होता है।

राखि········मेरा—विवेक और कर्म दोनों जीवात्मा के प्रयास से जन्य हैं अतः पुत्रवत् हैं। सात्त्विकी माया अथवा विद्या से विवेक का संरक्षण होता है। अविद्या ही सांसारिक कर्मों का आधार है। भक्ति के परिपाक के द्वारा विवेक एवं सांसारिक कर्म—दोनों के अहंकार को जीवात्मा के लिए छोड़ना आवश्यक है। वे दोनों माया को ही सौंपे जा सकते हैं।

जे·······तेरा—जीवचैतन्य एवं माया का मेल है। उसकी सब प्राप्त वस्तुओं का दोनों से सम्बन्ध है। स्वयं प्रियतम रूप ईश्वर की प्राप्ति तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठा है। शेष सबका, ईश्वरदत्त वस्तुओं का माया और चैतन्य-दोनों से सम्बन्ध है। भक्ति के उल्लास आदि की वृत्यात्मक अनुभूति का अन्तःकरण (माया) और चैतन्य दोनों से सम्बन्ध है। अतः 'आधा तेरा' (माया का) कहा गया है।

'पीव मिलै तो बिलखि करि रोऊँ' यह पाठ भी संगत है। जब या अगर पति मिलेंगे तो मैं विलख-विलख कर अपनी विरह-कथा निवेदित करूँगी।

रांम चरन जाकै हिरदैं बसत है, ता जन कौ मन क्यूं डोलै ॥
मानौं आठ सिध्य नव निधि ताकै, हरषि हरषि जस बोलै ॥टेक॥
जहाँ जहाँ जाइ तहां सच पावै, माया ताहि न झोलै ॥
बारंबार बरजि बिषिया तैं, ले नर जौ मन तोलै ॥
ऐसो जे उपजै या जीय कै, कुटिल गांठि सब खोलै ॥
कहै कबीर जब मन परचौ भयौ, रहे रांम के बोलै ॥३७१॥

कबीर कहते हैं कि जिसका मन राम के चरणों में लगा हुआ है, उसका मन डांवाडोल कैसे रह सकता है ? अष्टसिद्धि तथा नवनिधि उस पर प्रसन्न होकर न्यौछावर हो जाती है और निरन्तर उसका यशगान करती रहती हैं। वह व्यक्ति जहाँ-जहाँ जाता है, अर्थात् जिन-जिन साधनाओं में प्रवृत्त होता है, वहीं-वहीं उसको सत्य-तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। माया उसको जला नहीं सकती है। बारंबार विषयों से विमुख होकर ऐसा व्यक्ति अपना मन ईश्वर के ध्यान में लवलीन करके संयमित कर लेता है। जिसमें ऐसी श्रद्धा और निष्ठा उत्पन्न हो जाती है, वह मन की वासना, अहंकार आदि सभी जटिल गुत्थियों को खोल लेता है। कबीर कहते हैं कि जब मन का इस प्रेम-तत्त्व से परिचय हो जाता है तब वह राम के आदेशानुसार ही रहता है।

टिप्पणी— भक्त का मन पूर्णतः संयमित हो जाता है तथा सभी वासनाओं से उसकी भक्ति एवं प्रेम ही दृढ़ होते हैं।

जंगल मैं का सोवनां, औघट है धाटा ॥
स्यंघ बाघ गज प्रचलै, अरु लंबी बाटा ॥टेक॥
निस बासुरि पेड़ा पै, जमदांनीं लूटैं।
सूर धीर साचै मतै, सोई जन छूटैं ॥
चालि चालि मन माहिरा, पुर पटण गहिए।
मिलिये त्रिभुवन नाथ सूं, निरमै होइ रहिए ॥
अमर नहीं संसार मैं, बिनसै नर देही।
कहै कबीर बेसास सूं, भजि रांम सनेही ॥३७२॥

जीवन के महारण्य एवं उससे पार होने के ायों का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि अज्ञानमय तथा साधना से हीन जीवन जंगल में सोने के समान है। इसी

जंगल में इस जीवन-सरिता के अवघट घाट हैं अथवा शुद्ध-चैतन्य के प्रभाव में डूबने लेने के साधन रूप घाट अवघट हैं, ऊबड़-खाबड़ हैं। इस जीवन के महारण्य में हिंसा विषय-लोलुपता एवं अहंकार के सिंह, बाघ और हाथी घूम रहे हैं। यह जीवन मार्ग है भी लम्बा। इस जीवन में कामादिक के द्वारा रात-दिन डकैती पड़ती रहती है। यहाँ जीव की पुण्य, विवेक एवं ईश्वर-प्रेम की निधि छिनती ही रहती है। यमराज के दूतों की सेना भी जीव के प्राणों को लूटती रहती है। जो शूरवीर धैर्यशाली एवं सत्यनिष्ठ है, वे ही इस लूट के चक्कर से छूट पाते हैं। अतः, रे कुशल मन, या मांझी रूप मन साधना के मार्ग पर ऐसे अग्रसर होता रह अथवा जीवन-रूप नौका को इस तरह खेता रह कि अन्त में ज्ञान और भक्ति के नगर पहुँच सके। वहाँ जाकर त्रिभुवननाथ से मिलना और सम्पूर्ण सांसारिक भयों से मुक्त होकर जीवन व्यतीत करना। इस संसार में कोई भी अमर नहीं है। यह नर-शरीर नष्ट होता ही है। कबीर कहते हैं कि इसीलिए इसी विश्वास से अथवा भगवान् में विश्वास दृढ़ करके उनका ही भजन करता रहा।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

राग ललित

राम ऐसो ही जांनि जपौ नरहरी
माधव मधसूदन बनवारी ॥टेक॥
अनुदिन ग्यान कथै घरियार, धूवां धौलहर है संसार॥
जैसें नदी नाव कहि संग, ऐसें हीं माता-पिता-सुत अंग।
सेवहि यल ढुलमल फल कीर जल बुदबुदा ऐसो आहि सरीर॥
जिभ्या रांम नांम अभ्यास, कहत कबीर तजि गरभ बास॥३०॥

कबीर कहते हैं कि माधव, मधुसूदन और बनवारी, नृसिंह राम ही है ऐसा समझ कर ही मैं उनका भजन करता हूँ। ये उसी परम-तत्त्व के विभिन्न नाममात्र हैं, इन्हें बुद्धि अपेक्षित हैं। बजने वाला घड़ियाल अर्थात् जाता हुआ समय प्रतिदिन हर क्षण ज्ञान दे रहा है। यह बता रहा है कि यह संसार धुएँ का महल है; क्षणिक एवं नश्वर है। नदी-नाव संयोग की तरह ही इस जगत् में माता-पिता एवं पुत्र का संयोग भी मिलन है। जैसे नदी में चलती हुई नाव में विभिन्न स्थानों के व्यक्ति एकत्र हो जाते और उनके अस्थायी सम्बन्ध भी हो जाते हैं, वैसे हो इस समय धारा में बहती हुई जगती में माता-पिता पुत्र आदि के अस्थायी सम्बन्ध हैं, यह सारा सम्बन्ध आकस्मिक एवं क्षणिक है ये सारे सम्बन्ध एवं यह सारा संसार जीव के लिए उसी प्रकार मिथ्या नीरस एवं भ्रम है जैसे तोते के लिए सेमर का फल। अज्ञानवश ही यह संसार आकर्षक लगता है जैसे फल का लोभी तोता ढुलक जाने वाली नलिका पर बैठने

उसके लुढ़क जाने से ऊपर को पैर करके लटक जाता है और फिर गिरने के भय से अपनी पकड़ को छोड़ता नहीं है। वह स्वयं ही उस नलिका को पकड़े हुए है। उसी के छोड़ने पर वह छूट सकती है। पर वह समझता है कि नलिका ने उसे पकड़ रखा है। वैसे ही विषय-रस के लोभों ने माया को स्वयं पकड़ रखा है। उसको छोड़ने पर उसे अज्ञात अतल में गिर जाने का भय है अत: वह माया को छोड़ता नहीं है। जीव स्वयं ही उससे बँधा हुआ है। विषय के मोह के बन्धन का दु:ख झेल रहा है। पर समझाता यह है कि विषयों ने उसे बाँध रखा है। यह संसार जल के बुद्‌बुदे के समान है। यह आपात रमणीय एवं क्षण स्थायी है। अत: कबीर कहते हैं कि जिह्वा पर राम नाम रखे रहने का अभ्यास बनाये रखो ताकि गर्भवास से मुक्ति मिल सके।

टिप्पणी—सम्पूर्ण देवताओं में वही परमतत्त्व विराजमान है। यह अभेद बुद्धि ही भारतीय दृष्टि है। कबीर की उपासना के सम्बन्ध में यही भारतीय दृष्टि है। 'नर' और 'हरि' को अलग-अलग करके भी अर्थ सम्भव है।

'ग्यान कथँ धरियार' में लक्षणा और मानवीकरण है। अन्यत्र 'उपमा' और 'रूपक' अलंकार भी।

रसनां रांम गुन रमि रस (रमि) पीजै।
गुन अतीत निरमोलिक लीजै ।।टेक।।
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई, जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई।
विष तजि रांम न जपसि अभागे, का बूड़े लालच के लागे ।।
ते सब तिरे राम रस स्वादी, कट कबीर बूड़े बकबादी ।।३७४।।

री जीभ, भगवान् राम के गुणों में तन्मय होकर भक्ति रस का पान करो। गुणों से अतीत एवं अमूल्य परमतत्त्व को ग्रहण करो। रे भाई निर्गुण ब्रह्म का गुणगान करो जो निर्गुण ब्रह्म का गुणगान करता हैं, उसको सद्‌बुद्धि; ज्ञान और निष्ठा प्राप्त हो जाते हैं। रे अभागे जीव, विषयों के प्रति आसक्ति छोड़कर भगवान् का भजन कर। विषय-सुख के जाल में पड़कर भवसागर में क्यों डूबता है? जो भगवान् की भक्ति के रसिक हैं, वे सब भव-सागर से पार हो जाते हैं। कबीर कहते हैं कि जो व्यर्थ ही ज्ञान की बकवास करता रहता है; वह भवसागर में डूब ही जाता है।

निवरक सुत ल्यौ कोरा।
रांम मोहि मारि कलि बिस बोरा ।।टेक।।
उन देस जाइबो रे बाबू, देखिबो रे लोग किन किन खेबू लो ।।
उड़ि कागा रे उन देस जाइबा, जासूं मेरा मन चित लागा लो ।।
हाट ढूंढ़ि ले, पटनपुर ढूंढ़ि ले नहीं गांव कै गोरा लो ।।
जलबिन हंस निसह बिन रबू कबीर को स्वांमी पाइपरिकैं मनैबू लो ।।३७५।।

जीवात्मा विषयों में फँस जाने से जाग्रत व्यथा में कह रही हैं 'अरे' तुम निर-रक सुत (अर्थात् ईश्वरप्रेम) को गोद में लो। हे राम, अलग न होने वाले और साहसी बालक की तरह मुझे गोद लो। कलि ने मार कर, अर्थात् अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप एवं प्रियतम ईश्वर के प्रेम से वंचित करने के लिए जबरन, विषय-वासनाओं में डुबा दिया है। उस देश में जाना है और वहाँ पर देखना है कि कलि ने किन-किन को खा लिया है अथवा लोग वहाँ क्या-क्या खाते हैं। रे काग, उड़कर उनके देश जाओ जिनसे मेरा मन लगा हुआ है। जो मेरे प्रियतम हैं, उन्हें तुम हाट पर ढूँढो, नगर में ढूँढो। उन्हें ग्राम या शहर के किनारे ही ढूँढ़ कर मत चले आना। उन्हें मेरे पास लाना है। कलि को वे ही देखेंगे। मेरी जैसी सभी कलि से ग्रस्त जीवात्माओं का वे ही उद्धार करेंगे। प्रियतम के बिना मेरी वही अवस्था है जो जल के बिना हंस की तथा सूर्य के बिना रात की होती है। जीवात्मा के रूप में कबीर कहते हैं कि मैं अपने पति को पैरों में पड़कर इस उद्धार के लिए मना लूँगी।

टिप्पणी—सिद्धों और सन्तों के साहित्य में 'काग' अज्ञानी चित्त का प्रतीक है। पर यहाँ कबीर ने इसमें अज्ञानी चित्त के साथ ही प्रेम का सन्देश ले जाने वाली वृत्ति का अर्थ भी सन्निविष्ट कर दिया है। यह 'लोक-साहित्य' का प्रभाव है। इसमें सभी जीवात्माओं की मुक्ति की कामना व्यक्त हुई है। इसमें 'रूपक' और 'उपमा' का प्रयोग है।

राग बसन्त

सो जोगी जाकै सहज भाइ।
अकल प्रीति की भीख खाइ ॥टेक॥
सबद अनाहद सींगी नाद, काम क्रोध बिषिया न बाद॥
मन मुद्रा जाकै गुरु कौ ग्यांन, त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यान॥
मनहीं करन कौं करै सनांन, गुर कौ सबद ले ले धरै धियांन॥
काया कासी खोजै बास, तहां जोति सरूप भयौ परकास॥
ग्यांन मेषली सहज भइ, बंक नालि कौ रस खाइ॥
जोग मूल कौ देइ बंद, कहि कबीर थिर होइ कंद॥३७६॥

कबीर उस सच्चे योगी का स्वरूप बता रहे है जो बाह्य साधनाओं की अपेक्षा अभ्यन्तर उपासना का प्रश्रय लेता है। वे कहते हैं कि वही वास्तविक योगी है जो सहजभाव में स्थित है तथा जो भगवान् की अखण्ड प्रीति की ही भिक्षा करता रहता है; अर्थात् जो ईश्वर-प्रेम ही माँगता है और उसी भोजन पर जीवन-यापन करता है वही योगी है, जो अनाहत नाद की ही शृंगीनाद सुनता रहता है और काम क्रोधादिक विषयों एवं वाद-विवाद में नहीं फँसता है। गुरु के द्वारा दिये गए ज्ञान का चिन्ह ही उसके मन को स्थिर करने वाली मुद्रा है। वह अपनी त्रिकुटि के दुर्ग में परम-तत्त्व

का ही ध्यान करता रहता है। वह अपने मन को शुद्ध करने वाला स्नान ही करता है। इसके लिए वह गुरु के शब्द पर ही निरन्तर ध्यान लगाये रहता है। बाहरी काशीवास तथा दम्भ को छोड़कर वह अपनी काया-रूपी काशी में वास करता है, अर्थात् वह अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति बनाकर अपनी काया में विराजमान शिवतत्त्व की उपासना करता है। वहीं पर उसको परम ज्योति-स्वरूप भगवान् प्रकाशित होते हैं। वह योगी मुञ्ज आदि की बाहरी मेखला को ब्रह्मचर्य का साधन न मानकर सहजभाव में स्थित रहता हुआ ज्ञान को ही मेखला बना लेता है। वह सुषुम्ना की बंकनाल का अमृत रस पीता है। उसके लिए कुण्डलिनी के सोते रहने पर भी अमृत क्षरित होता रहता है। इसके लिए योगी प्राणों की अग्नि से कुण्डलिनी को सीधा करके उसे सुषुम्ना में प्रविष्ट करा देता है और मूलबन्ध लगा देता है। यह अमृत का क्षरण (क्षय) रोकने के लिए योग के द्वारा मूलबन्ध दे देता है। कबीर कहते हैं, इससे क्षरण शील मधुर एवं तरल अमृत मिसरी की तरह सघन होकर स्थिर हो जाता है और योगी के शरीर को अमरत्व प्रदान कर देता है।

टिप्पणी—शरीर में ही सब तीर्थों को मानने की तान्त्रिक साधान का स्पष्ट प्रभाव है।

मेरौ हार हिरांनौं मैं लजाऊं।
सास दुरासनि (दुराचनि) पीव डराऊं ॥टेक॥
हार गुह्यौ मेरौ रांभ ताग, बिचि बिचि मान्यक एक लाग ॥
रतन प्रवाले परम जोति, ता अंतरि अंतरि लागे मोति।
पंच सखी मिलि हैं सुजांन, चलहु त जईये त्रिवेणी न्हान ॥
न्हाइ धोइ कैं तिलक दीन्ह, नां जानूं हार किनहूं लीन्ह।
हार हिरांनौ जन बिमन कीन्ह, मेरौ आहि परोसनि हार लीन्ह ॥
तीनि लोक की जांनै पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर ॥३७७॥

आत्मा-सुन्दरी के रूप में कबीर कह रहे हैं कि शुद्ध चित्तवृत्ति अथवा ईश्वरोन्मुखी वृत्ति-रूप मेरा हार खो गया है। इससे मैं पति के समक्ष जाने में लज्जित हूँ। मुझे क्रुद्ध होने वाली तथा बुरा-भला कहने वाली बोध-वृत्ति-रूप सास की कठोरता तथा परमात्मा-रूप पति का डर है। मेरा हार राम के प्रेम के धागे में पिरोया हुआ था। इसके बीच-बीच में प्रीति और समर्पण के एक-एक माणिक्य लगे हुए थे। उनके इधर-उधर भक्ति की परमज्योति से प्रकाशित विभिन्न भावनाओं के मूंगा आदि रत्न चमक रहे थे। उनसे थोड़े-थोड़े अन्तर पर ज्ञान के मोती लगे हुए थे। जीवात्मा कह रही है कि मैं ऐसा ही हार पहने हुए थी। मेरी पाँचों इन्द्रियों एवं उनकी वासना-रूपी सखियों ने मुझसे कहा, "चलो, त्रिगुण-रूपी त्रिवेणी में स्नान करें। नहा-धोकर अर्थात् त्रिगुणात्मक माया से प्रभावित होकर जब हमने विषय-सुख

एवं शृङ्गार का तिलक लगाया तो मुझे प्रतीत हुआ कि हार किसी ने ले लिया है। मेरा हार खो जाने से मैं विवश हो गई। कुबुद्धि-रूप पड़ोसिन ने ही मेरा हार ले लिया था। कबीर कहते हैं कि सब देवों के शिरोमणि भगवान् तीनों लोकों की व्यथा समझते हैं। वे शुद्ध अन्तःकरण की वृत्ति-रूप मेरा हार मुझे पुनः दिलाकर मेरी व्यथा हरेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

टिप्पणी—'सांगरूपक' तथा साधना के प्रतीकों का प्रयोग है। भगवान् के प्रेम-स्वरूप एवं माहात्म्य के ज्ञान की वृत्ति ही ईश्वर-प्रेम की जननी है अतः वह सास है। जीव की शोभा ही ईश्वर-प्रेम है अतः उसे हार कहा गया। इस हार की संरचना का अर्थगर्भित वर्णन है। राम ही इस प्रेम-हार का मूल है; अतः राम के तागे में गुथा हुआ है। माणिक्य सबसे अधिक मूल्यवान् रत्न है। प्रेम-हार में वह समर्पण रूप ही हैं। उल्लास आदि भावनायें मूँगा आदि रत्न हैं और पति का स्वरूप-ज्ञान ही उसके मोती हैं यह स्वरूप-चेतना प्रेम-व्यापार में थोड़ी-थोड़ी देर से होती है; अतः हार में मोती थोड़े-थोड़े अन्तर से लगे हुए हैं। त्रिगुणात्मक माया तथा विषय-वासना ईश्वर को भुलाती है। उसमें स्नान का यही प्रभाव है। सुबुद्धि और कुबुद्धि—दोनों अन्तःकरण में ही रहती हैं; अतः पड़ोसिन हैं। कुबुद्धि या विषय-बुद्धि से ईश्वर-प्रेम ओझल होता है; अतः हार चुराने की कल्पना है।

नहीं छाड़ौं बारा रांम नांम।
मोहि और पढ़न सूं कौन कांम ॥टेक॥
प्रहलाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयैं बहुत बाल॥
मोहि कहा पढ़ावै आलजाल, मेरी पाटी मैं लिखि दे श्रीगोपाल॥
तब संनामुरका (संठै भरकै) कह्यौ जाइ, प्रहिलाद बँधायौ बेगि आइ॥
तूं राम कहन की छाड़ि बांनि बेगि छुड़ाऊं मेरौ कह्यौ मांनि॥
मोहि कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार॥
बांधि मारि भावै देह जारि, जे हूँ रांम छाड़ी तौ मेरे गुरहि गारि॥
तब काढ़ि खड़ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि बताइ॥
खम्भा मैं प्रगट्यौ गिलारि हरनाकस मार्‌यो नख बिदारि॥
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रकट कियौ भगति भेव॥
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद ऊबार्‌यौ अनेक बार॥३७८॥

प्रह्लाद अनेक बाल-सखाओं के साथ पाठशाला में पढ़ने के लिए गये। वहाँ पर उन्होंने गुरु से कहा, "बाबा, मैं राम-नाम नहीं छोड़ूँगा मुझे और कुछ पढ़ने से क्या मतलब हैं? मुझे इधर-उधर की व्यर्थ की बातें क्यों पढ़ाते हो? मेरी स्लेट पर तो 'श्री गोपाल' लिख दो।" उस समय सब लड़कों ने जाकर अथवा छड़ी मारकर गुरु ने उसके पिता से शिकायत की। पिता ने उसको शीघ्र ही बाँध कर

बुलवा लिया और प्रह्लाद से कहा, "तुम राम का नाम लेने की आदत छोड़ दो। तुम मेरा कहना मान लो। तुम्हें शीघ्र ही मुक्त कर दूँगा।" प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "मुझे बार-बार क्या डरा रहे हो ? मेरे रक्षक तो वे भगवान् है जिन्होंने जल, थल, पर्वत श्रेणी और पहाड़ बनाये हैं। मुझे चाहे बाँध कर मार दो और चाहे मेरी देह जला डालो। अगर मैं राम-नाम को छोड़ूँ तो मेरे सच्चे गुरु का अपमान होगा।" तब तलवार निकाल कर क्रोध से साथ पिता ने कहा तुम्हें बचाने वाले को मुझे दिखाओ। उसी समय खम्भे से भगवान् मुरारि प्रकट हुए और उन्होंने हिरण्यकशिपु को नाखूनों से विदीर्ण करके मार दिया। महापुरुष, परमात्मा एवं सम्पूर्ण देवताओं के देव ही भक्तों के कल्याण के लिए नृसिंह रूप में प्रकट हुए। कबीर कहते हैं कि उनकी शक्ति का कोई पार नहीं पा सका है। भगवान् ने अनेक बार प्रह्लाद के प्राणों की रक्षा की है।

टिप्पणी—इस आख्यान का आश्रय लेने ने कबीर भी परम्परावादी अर्थ में गृहीत अवतार में विश्वास करने वाले सगुण भक्त प्रतीत होते हैं। पर उनके मूल जीवन दर्शन को ध्यान में रखते हुए भगवान् की भक्त-वत्सलता एवं अनन्त शक्ति की व्यंजना भर में ही कबीर का तात्पर्य मानना चाहिए। यह संवाद शैली का सुन्दर प्रयोग है।

हरि कौ नाउं तत त्रिलोक सार।
लैलीन भये जे उतरे पार ॥टेक॥
इक जंगम इक जटाधार, इक अंगि बिभूति करै अपार ॥
इक मुनिकर इक मनहूँ लीन, ऐ होत जग जात खीन ॥
इक आराधै सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधै जीव ॥
इक कुलदेव्यां कौ जपहि जांप, त्रिभुवनपति भूले त्रिबिध ताप।
अंनहि छाड़ि इक पीवहि दूध, हरि न मिलै बिन हिरदै सूध ॥
कहै कबीर ऐसैं बिचार, राम बिना को उतरे पार ॥३७९॥

भगवान् का नाम ही सम्पूर्ण त्रिलोक में सार वस्तु है। जो इसमें लवलीन हुए वे सब भवसागर से पार हो गये। पर साधुओं ने तो अनेक वेश बनाये हैं। एक जंगम है तो दूसरा जटाधारी है। एक अपने शरीर से अपार विभूति लगा लेता है तो दूसरा मुनि अपने मन में ही लीन रहता है। इस प्रकार होते-होते सारा संसार इन्हीं औपचारिक साधनाओं में क्षीण हो रहा है, अर्थात् उसकी भगवद्-निष्ठा क्षीण हो रही है। एक शक्ति और शिव की उपासना करता है; तो दूसरा पर्दे के भीतर जीव की हिंसा करता है। एक अपनी कुल-देवियों का जप करता है और त्रिविध ताप में भगवान् त्रिभुवनपति को भूल जाता है। कुछ अन्न छोड़कर दूध पीते हैं। पर भगवान् तब तक नहीं मिलते हैं, जब तक व्यक्ति के हृदय में भगवान् का सच्चा ध्यान एवं विवेक नहीं है। कबीर कहते हैं कि व्यक्ति को यह निश्चय समझ लेना चाहिए कि राम की भक्ति के बिना कोई भी व्यक्ति भवसागर पार नहीं कर सकता है।

हरि बोलि सूवा बार बार।
तेरी ढिग मींनी कछू करि पुकार ॥टेक॥
अंजन मंजन तजि बिकार, सतगुरु समजायौ तत सार॥
साध संगति मिलि करि बसंत, भौ बंध न छूटें जुग जुगंत॥
कहै कबीर मन भया अनंद, अनंत कला भेटे गोब्यंद ॥३८०॥

कबीर जीव को तोते के रूप में सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं, "रे तोता, तुम बार-बार भगवान् का स्मरण करते रहो। तुम्हारे नजदीक ही काल-रूप बिल्ली कुछ बोल रही है अतः भगवान् से कुछ पुकार करते रहो; प्रार्थना करते ही रहो। अंजन-मंजन आदि बाहरी सजावटों तथा विकारों का परित्याग कर दो। तुम्हें सद्गुरु ने जो सार तत्त्व समझाया है, उसी पर ध्यान केन्द्रित रखो। साधु-संगति में बस कर इस वसंत का आनन्द जो, अर्थात् उल्लास से जीवन व्यतीत करो। अन्यथा तुम्हारे भव-बन्धन युग-युगान्तर तक भी नहीं छूटेंगे। कबीर कहते हैं कि इससे अनन्त कला वाले भगवान् से मिलने पर तुम्हें अपार आनन्द की प्राप्ति होगी।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार।

बनमाली जांनैं बन की आदि।
रांम नांम बिन जनम बादि ॥टेक॥
फूल जु फूजे रुति बसंत, जामैं मोहि रहे सब जीव-जंत॥
फूलनि मैं जैसें रहत बास, यूं घटि घटि गोंविंद हरि निवास॥
कहै कबीर मनि भयो अनंद, जगजीवन मिलियौ परमानंद ॥३८१॥

ईश्वर-रूपी वनमाली ही इस जगत्-रूपी वन के आदि रहस्य को जानते है। संसार का प्रारम्भ कब से और कैसे हुआ ये अगम्य प्रश्न हैं। इनमें पड़ना व्यर्थ है। इस जगत् से छुटकारा कैसे हो, यही विचारणीय है। और वह हरि-स्मरण से ही सम्भव है। हरि-स्मरण के बिना यह जन्म व्यर्थ है। ऋतु-वसंत-रूपी इस संसार में आकर्षक भोगों के रूप में जो फूल फूले हुए हैं; सम्पूर्ण जीव-जन्हीं उन्हीं की वासना-रूप गन्ध से मोहित है अथवा जीवन के यौवन-रूपी वसन्त में जाग्रत वासना-रूपी फूलों में जीव उलझा हुआ है। पर मनुष्य को यह समझना चाहिए कि जैसे फूल में सुगन्ध सर्वव्यापी है और वही उसका सार तत्त्व है, वैसे ही सब अन्तःकरणों में भगवान् विराजमान् है। वही सत् स्वरूप हैं। इन विषय-रूप फूलों में जो सुगन्ध है, वह भगवान् का ही आनन्द रूप है। कबीर कहते है कि इस बुद्धि से जगत् के प्राण परमान्द रूप भगवान् की प्राप्ति होते ही अर्थात् सम्पूर्ण अन्तःकरणों में विराजमान भगवान् के दर्शन तथा इन विषयों में उसी भगवान् के आनन्द एवं प्रेम की बुद्धि जागते ही तेरा मन परम उल्लास से भर जायेगा। वह आनन्द विषय-रूप फूलों के

भोग से नहीं मिल सकता है। अथवा कबीर कहते हैं कि मुझे इस प्रकार जगत्-जीवन भगवान् का साक्षात्कार हो गया है और अब मेरा मन आनन्द से भर गया है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' और सांगरूपक अलंकार।

मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज।
मूल घटैं सिर बधैं ब्याज ॥टेक॥
नाइक एक बनिजारे पांच, बैल पचीस कौ संग साथ ॥
नव बहियाँ दस गौंनि आहि, कसनि बहतरि लागे ताहि ॥
सात सूत मिलि बनिज कीन्ह, करम पयादौ संग लीन्ह ॥
तीन जगाती करत रारि, चल्यौ है बनिजवा बनज झारि ॥
बनिज खटानौं पूँजि टूटि, टांडो दह दिसि गयौ फूटि ॥
कहै कबीर यहु जनम बाद, सहजि समानूं रही लादि (भरम भाज)॥३८२॥

कबीर सांसारिक विषयों की ओर से कहते हैं। मैं जिस वस्तु का वाणिज्य करता हूँ, उसका क्या उपयोग है ? अर्थात् जिस प्रकार मैं शुद्ध आत्मतत्त्व के आनन्द अथवा पुण्य की पूँजी से विषय-वासनाओं को खरीदता हूँ, अर्थात् विषयों का जीवन व्यतीत करता हूँ, उससे कोई लाभ नहीं है। भगवान् उससे प्रसन्न नहीं हो सकते हैं। इस व्यापार में शुद्ध आत्म-तत्त्व एवं ईश्वर-प्रेम-रूपी मूल धन का क्षय हो रहा है, अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व का आवरण हो रहा है और बंधन के हेतु कर्म-रूपी ब्याज की वृद्धि हो रही है। इस वाणिज्य का साक्षी-रूपी एक नायक है तथा जीवात्मा चित्त, बुद्धि, मन और अहंकार रूपी पाँच बनजारे हैं जो विषय-भोगों को खरीदते हैं। यह विषय-भोगों का भार शरीर ही वहन करता है। शरीर (स्थूल एवं सूक्ष्म) के उपकरण-तत्त्वों के पाँच-पाँच कार्य हैं। ये पच्चीस ही शरीर की प्रकृति हैं। वे ही विषयों का बोझ लादने वाले पच्चीस बैल हैं। इन बैलों पर नवद्वार रूपी नौ बहियाँ तथा दस इन्द्रियाँ-रूपी गूनी (बोरे) लदे हुए हैं। ये वासना-रूप विषय दस इन्द्रियों में ही रहते हैं अतः ये बोरी हैं और इनकी अभिव्यक्ति नौ द्वारों से होती है। इन विषयों के संकेत इन्हीं द्वारों से मिलते हैं अतः ये बहियाँ हैं। इनको शरीर की बहत्तर नाड़ियों के रस्सों से बाँधा गया है। सप्त-धातु रूप सातों पुत्रों ने मिलकर व्यापार प्रारम्भ किया है और भाग्य-रूपी प्यादे सैनिक को अपने साथ लिया है। वही उनका मार्ग दर्शक एवं रक्षक है। विषय-भोग कर्माधीन हैं तथा सप्त धातुओं की शक्ति से ही वे गृहीत होते हैं। ये सप्त धातुएँ शरीर के अंश हैं, अतः पुत्र हैं। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण रूपी ये जगात (कर) लेने वाले इस जीवन-रूपी वाणिज्य की सामग्री पर अपना-अपना अधिकार जमाने के लिए लड़ाई कर रहे हैं। उस पर इतनी जगात लग गई है कि इस जीव-रूप व्यापारी को सम्पूर्ण जीवन-रूपी वाणिज्य-सामग्री ही इन तीनों गुणों को समर्पित करनी पड़ी है। इस प्रकार सम्पूर्ण वाणिज्य, अर्थात् बिक्री की वस्तु ही समस्त हो गई। जीव ने आत्मा के आनन्द-तत्त्व एवं पुण्य से भोगों का

यह जीवन इसलिये लिया था कि इन भोगों को बेचकर, व्यय करके त्रिगुणातीत भक्ति या आत्मबोध लेगा पर सारा जीवन एवं सब भोग तो त्रिगुणों की जगात् में ही समाप्त हो गये; भक्ति या आत्म-बोध कहाँ से लें ? अब तो शरीर की प्राण-रूपी पूँजी भी कम पड़ गई है। यह व्यापारियों का टाँड़ा दस दिशाओं अर्थात् इन्द्रियों के द्वार से निकलकर टूट गया है। मन आदि की विषय-भोग की सामर्थ्य भी क्षीण एवं विशृंखल हो गई है। अब तो केवल वासना भर, व्यापार की आकांक्षा भर, रह गई है। कबीर कहते हैं कि यह जीवन व्यर्थ ही जा रहा है। अगर सहज तत्त्व में ही समा जाऊं तो यह वासना-रूपी वाणिज्य की लाद अगले जन्म तक घसीट कर न ले जानी पड़े। यह यहीं रह जाय। अथवा सम्पूर्ण भ्रम ही भाग जाय।

टिप्पणी—साङ्गरूपक अलङ्कार।

पच्चीस प्रकृति—(i) आकाश—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय।

(ii) वायु—चलन, प्रसारण, संकोचन, बलन, धावन।

(iii) अग्नि—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन।

(iv) जल—लार, रक्त, पसीना, मूत्र, शुक्र।

(v) पृथ्वी—अस्थि, चर्म, माँस, नाड़ी, रोम।

सप्तधातु—रस, रक्त, मांस, वसा मज्जा, अस्थि और शुक्र।

माधौ दारुन दुख सह्यो न जाइ।
मेरी चपल बुधि तातैं कहा बसाइ ॥टेक॥
तन मन भीतरि बसै मदन चोर, जिनि ग्यांन रतन हरि लीन्ह मोर।
मैं अनाथ प्रभू कहूँ काहि, अनेक बिगूचे मैं को आहि॥
सनक सनंदन सिव सुकादि, आपण कवलापति भये ब्रह्मादि॥
जोगी संगम जती जटाधर, अपनैं औसरि सब गये हैं हारि॥
कहै कबीर रहु संग साथ, अभिअंतरि हरि सू कहौ बात॥
मन ग्यांन जांनि कैं करि बिचार, रांम रमत भौ तिरिबौ पार ॥३८३॥

विषय-वासना एवं काम का व्यापक प्रभाव प्रकट करते हुए कबीर कहते हैं, "हे माधव, काम के द्वारा दी गई दारुण व्यथा मुझे असह्य प्रतीत होती है। मेरी चंचल बुद्धि मुझे विषयों की ओर आकृष्ट करती रहती है। उस पर मेरा कोई वश नहीं है। मेरे शरीर में काम-रूपी चोर घुस गया है। उसने मेरे आत्म-बोध और विवेक-रूपी रत्न का अपहरण कर लिया है। हे प्रभु मैं अनाथ हूँ। मैं अपनी व्यथा किससे कहूँ ? इस काम ने अनेक महान् पुरुषों को नष्ट कर दिया है। मेरी तो बात ही क्या है ? सनक सनंदन शिव, शुकदेव, स्वयं विष्णु, ब्रह्मादि जैसे देवता जोगी जंगम जटाधर आदि साधु—सभी अपने-अपने अवसरों पर इस काम के समक्ष हार गये हैं। कबीर कहते हैं कि मैं भगवान् के संग-साथ में रहता हूँ अतः मैं अपने आभ्यंतर की

बात, काम के द्वारा दी गई असह्य पीड़ा तक अपनी विवशता की बात—ये सब भगवान् से निवेदित करूँगा । मन में यह बात समझकर तथा अच्छी प्रकार विचार करके भगवान् में रमण करते हुए ही जीव भवसागर से पार हो सकता है । अपने अन्तर की यह कामना भगवान् के समक्ष अवश्य प्रकट करूँगा ।

तिवारी ने कुछ पंक्तियों में भिन्न पाठ दिया है ।

टिप्पणी—काम का व्यापक अर्थ लिया गया है ।

उकरी डर क्यूं न करै गुहारि ।
तूं बिन पंचाननि श्री मुरारि ।।टेक।।
तन भींतरि बसै मदन चोर, तिनि सरबस लीनौं छोरि मोर ।।
मांगैं देइ न बिनै मांन, ताकि मारै रिदा मैं कांम बांन ।।
मैं किहि गुहराऊँ आप लागि, उकरी डर बडे बड़े गये हैं भागि ।।
ब्रह्मा बिणु अरु सुर मयंक, किहि किहि नहीं लावा कलंक ।।
जप तप संजम सुंचि ध्यांन, बंदि परे सब सहित ग्यांनि, ।।
कहि कबीर ऊबरे द्वै तीनि, जा परि गोबिन्द कृपा कीन्ह (कीनि) ।।३८४।।

कबीर अपने आपको सम्बोधित करके कह रहे हैं, "रे जीव तुम काम-रूपी उस हाथी से डर कर भगवान् को क्यों नहीं पुकारते हो ? तुम सिंह-रूपी मुरारि के आश्रय से रहित हो ।" मेरे शरीर में मदन-रूपी चोर बसता है । उसने मेरी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को छीन लिया है । माँगने पर यह आत्म बोध-रूप मेरी वस्तु वापस नहीं देता है और अनुनय-विनय भी नहीं मानता है । इस पर भी यह काम तान तान कर मेरे हृदय में बाण मारता है । रे काम, मैं अपनी रक्षा के लिए किसे पुकारूँ ? तुम्हारे डर से बड़े-बड़े भाग खड़े हुए हैं ? ब्रह्मा, विष्णु, चंद्रदेव—तुमने किस-किसको कलंक नहीं लगा दिया है ? जप, तप, संयम, पवित्रता, ध्यान और ज्ञान वाले सभी व्यक्ति इस अस्त्र समक्ष के परास्त हो गये हैं । कबीर कहते हैं कि इसके प्रभाव से केवल वे दो-चार ही बच पाये हैं जिन पर भगवान् ने अनुग्रह किया है ।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार ।

ऐसौ देखि चरित मन मोह्यौ मोर ।
तायैं निस बासुरि गुन रमौं तोर ।।टेक।।
इक पढ़हि पाठ इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास ।।
इक जोग जुगुति तन हूहि खींन, ऐसैं रांम नांम संगि रहैं न लीन ।।
इक हूँहि दीन एक देहि दांन, इक करैं कलापी सुरा पांन ।।
इक तंत मंत ओषध प्रबांन, इक सकल सिध राखै अपांन ।।
इक तीर्थ व्रत करि काया जोति, ऐसैं रांम नांम सूं करै न प्रीति ।।

इक धोम घोटि नन हूँहि स्यांम, यूं मुकति नहीं बिन रांम नांम ॥
सतगुर तत्त कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै बिसतार ॥
जुरा मरणथैं भये धीर, रांम कृपा भई कहि कबीर ॥३८५॥

कबीर कहते हैं कि, "रे भगवान्, भक्तों पर अनुग्रह करने वाले तुम्हारे चरित्र पर मेरा मन मोहित हो गया है। इसमे मैं हे भगवान्, रात-दिन तुम्हारे ही गुणों में रमा हुआ हूँ। इस संसार में लोग पाखण्डों में फँसे हुए हैं। कोई वेद-पाठ में भूला हुआ है, कोई उदासी हो गया है, कोई निरन्तर नग्न रहता है और कोई योग की युक्तियों से अपने शरीर को क्षीण कर लेता है। ऐसे व्यक्ति राम-नाम में लवनीन नहीं रहते हैं। कोई दीन फकीर हो जाता है और कोई दानी। कोई जटा-जूट रखने वाला साधु मदिरा-पान में मस्त रहता है कोई तंत्र-मंत्र और औषध ज्ञान की साधना करता है; तो कोई सम्पूर्ण प्रकार से सिद्ध होने के अहंकार-सहित अपान वायु पर नियन्त्रण करता है। कोई तीर्थ-व्रत करके अपने शरीर को जीत लेता है : ऐसे सभी बाह्याचारों में विश्वास करने वाले भगवान् के नाम-स्मरण में प्रीति नहीं रखते हैं। कोई धूम में घुट-घुट कर अपना शरीर काला कर लेता है। पर नाम के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। सद्गुरु ने चिन्तन के बाद ही इस तत्त्व का प्रतिपादन किया है। मैंने गुरु के उपदेश से निर्भय अवस्था या अनुराग का हृदय में विस्तार करके मूलतत्त्व को ग्रहण करा दिया है। अब मैं वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्त हो गया हूँ और इस प्रकार मुझे धैर्य मिल गया है। कबीर कहते हैं कि अब मुझ पर भगवान् राम की कृपा हो गई है।

सब मदिमाते कोई न जाग।
ताथैं संग ही चोर घर मुसन लाग ॥टेक॥
पंडित माते पढ़ि पुरांन, जोगी माते धरि धियांन ॥
संन्यासी माते अहंमेव, तपा जु माते तप कै भेव ॥
जागे सुक उधव अकूर, हणवंत जागे लै लंगूर ॥
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नांमां जैदेव ॥
ए अभिमान सब मन के कांम, ए अभिमांन नहीं रहों ठाम ॥
आतमां राम कौ मन विश्राम, कहि कबीर भजि रांम नांम ॥३८६॥

कबीर कहते हैं कि सारा जीव-जगत् अज्ञान और मोह में मदहोश होकर सो रहा है। कोई भी ज्ञान एवं विवेक की अवस्था में नहीं है। इसी से साथ में लगे हुए कामादिक चोर जीव के घर को लूट रहे हैं। उसके ईश्वर-प्रेम एवं विवेक को नष्ट कर रहे हैं तथा विशुद्ध आत्मस्वरूप को तिरोहित कर रहे हैं। पंडित पुराण पढ़कर उस ज्ञान के तथा योगी ध्यान-योग के अहंकार में मदहोश है। संन्यासी 'अहमेव' की भावना के अहंकार में अपने वास्तविक स्वरूप को भूले हुए हैं। तप के भ्रम में तपस्वी भूला हुआ है। शुकदेव, उद्धव, अक्रूर और जामवंत सहित हनुमान, ईश्वर-प्रेम में

अनुरक्त होकर ही इस माया की निद्रा से जागे थे। शंकर को भी भगवान् के चरणों की सेवा से ही बोध हुआ था। कलियुग में नामदेव और जयदेव को भी ज्ञान हुआ। पुराणों के ज्ञान आदि से जाग्रत उपर्युक्त सभी अभिमान केवल मन के विलास हैं। इन अहंकारों से जीव की आत्म-स्वरूप में स्थिति नहीं होती है। मन का वास्तविक विश्राम आत्माराम, राम ही है। वहाँ पर आत्मा अपनी सम्पूर्ण चंचलता सहित अपने कारण शुद्ध चैतन्य में विलीन हो जाता है। यह ज्ञान और प्रेम से ही सम्भव है। इसी से कबीर कहते हैं, "रे जीव, उसी राम-नाम का स्मरण करो।"

पाठान्तर —'गुरु ग्रन्थ साहब' तथा तिवारी जी वाली पुस्तक में एकाध पंक्तियाँ अधिक हैं और कुछ पंक्तियों में मामूली-सा पाठभेद भी है।

चलि चलि रे भंवरा कंवल पास।
तेरी भंवरी बोलै अति उदास ।।टेक।।
तैं अनेक पुहुप कौ लियौ भोग, सुख न भयौ तब बढ़यौ है रोग ।।
हौं ज कहत तोसूं बार बार, मैं सब बन सोध्यौ डार डार ।।
दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यौ है भूल ।।
या बनासपती मैं लागैगी आगि, तब तूं जैहौं कहां भागि ।।
पहुप पुरांने गए सूख, तब भँवरहि लागी अधिक भूख ।।
उड़यो न जाइ बल गयो है छूटि, तब भंवरी रूंनी सीस कूटि ।।
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भंवरी ले चली सिर चढ़ाइ ।।
कहै कबीर मन कौ सुभाव, रांम भगति बिन जम कौ डाव ।।३८७।।

विवेक-बुद्धि-रूपी भ्रमरी संसार की विषय-वासनाओं से दुःखी एवं उदास हो कर कह रही हैं, 'रे मन-रूपी भ्रमर, तुम भगवान्-रूपी कमल के पास चलो। उन्हीं में अनुरक्त रहो। तुमने अनेक विषय-रूपी पुष्पों का आस्वाद किया है। उससे तुम्हें सुख नहीं मिला, अपितु मोह-रूप रोग की ही वृद्धि हुई है। यह मैंने तुमसे बार बार कहा है। इस संसार-रूपी वन की डाल-डाल पर मैंने आनन्द खोजा, लेकिन व्यर्थ ही। ये विषय-रूपी सुन्दर रंग के फूल केवल चार दिन के ही हैं। इनमें शाश्वत आनन्द नहीं है। उन्हें देखकर ईश्वर-प्रेम तथा अपने आनन्द-स्वरूप इस हरी-भरी वनस्पति (जगत्) में जब काल की अग्नि लगेगी तब तुम कहाँ भागकर जाओगे ? परम-प्रेमास्पद भगवान के अतिरिक्त तो कोई और स्थान है नहीं। पर यह मन भ्रमर के समझ में नहीं आई। जब जरावस्था में विषयों के पुष्प सूख गये अर्थात् मन में विषय-भोग की क्षमता नहीं रही, तब मन की वासना-रूपी भूख अधिक तीव्र होकर जाग उठी। उस समय मन रूपी भ्रमर की शक्ति तो क्षीण हो चुकी थी और उससे विषय-रूपी फूलों तक उड़ कर जाया नहीं जाता था। ऐसी अवस्था को देखकर बुद्धि रूपी भ्रमरी सिर कूट-कूट कर पश्चात्ताप में रोई। विषयों की ज्वाला अथवा संसार-रूपी गड्ढे की ओर देखकर जब मधुपराज (मन) भयभीत हो गया तो उससे सद्बुद्धि-रूप भ्रमरी का आश्रय लिया

तब विवेक बुद्धि-रूपी भ्रमरी उसे अपने सिर पर चढ़ाकर भगवान् के पास ले गई। विवेक के आश्रय से ही ईश्वर-भक्ति जागती है। कबीर कहते हैं कि यह मन का स्वभाव है कि भगवान् की भक्ति के बिना उसमें यमराज का भय ही बना रहता है।

टिप्पणी—'रूपकातिशयोक्ति' और 'सांगरूपक' अलंकार।

वासनात्मक मन से विवेक एवं भक्ति का अन्तर्द्वन्द्व जीव में चलता ही रहता है। पहले वासनात्मक मन विवक एवं भक्ति की बात नहीं मानता; पर अन्त में वह उनके समक्ष समर्पण कर देता है; यही जीवन की सार्थकता है। तब वासना भक्ति बन जाती है।

पाठा तर —'पुहुप पुराने गए सूक'।

अवध रांम सबै करम करिहूँ।
सहज समाधि न जम थैं डरिहूँ ।।टेक।।
कुभरा ह्वै करि बासन धरिहूँ, धोबी ह्वै मल धोऊं।
चमरा ह्वै करि रंगौ अघौरी, जाति पांति कुल खोऊं॥
तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौं, पाप पुंनि दोऊ पीरौं।
पंच बैल जब सूध चलाऊं, राम जेवरिया जोरूं॥
छत्री ह्वै करि खड़ग सँभालूं, जोग जुगति दोउ साजूं।
नऊवा ह्वै करि मन कूं मूंड़ूं बाढ़ी ह्वै क्रम बाड़ूं॥
अवध ह्वै करि यहु तन धूतौं, बधिक ह्वै मन मारूं।
बनिजारा ह्वै तन कूं बनिजूं, जूवारी ह्वै जम हारूं॥
तन करि नवका मन करि खेवट, रसना कर ऊबा डारूं॥
कहि कबीर भौसागर तरिहूं, आप तिरूं बप तारूं ।।३८८।।

हे अवधपति राम, मैं सब कर्म करता हुआ भी सहज समाधि में रहूँगा, अर्थात् सभी कर्मों को भक्ति एवं ज्ञान की साधना में परिणत करता हुआ अपने सहज आत्म-स्वरूप को प्राप्त करूँगा। यही मेरी आकांशा एवं संकल्प है। इस कारण यमराज से कभी नहीं डरूँगा। कुम्हार होकर मैं सद्वृत्तियों के कलश बनाऊँगा। धोबी होकर अपने अन्तःकरण के मल धोऊँगा। चमार के रूप में अपनी चमड़ी को जो अब तक ईश्वर-राग से रहित होने के कारण श्वेत (रंगहीन) है, उसे भगवान् के रग से रंगूँगा और इस प्रकार जाति-पाँति और कुल के अहंकार के धब्बों को मिटा दूँगा। तेली के रूप में मैं अपने शरीर को ही कोल्हू बनाकर तथा अपने पाप-पुण्यों को पेर कर उसमें से भक्ति का स्नेह निकालूँगा। मैं अपनी पाँचों इन्द्रिय-रूपी बैलों को भगवान् के प्रेम की रस्सी से बाँधकर सीधे भक्ति के मार्ग पर चलाऊँगा। क्षत्रिय होकर मैं विवेक की तलवार सम्हालूँगा एवं योग और ज्ञान--दोनों को सिद्ध करूँगा। नाई के रूप में अपने मन की समस्त वासनाओ को मूँड़ दूँगा। पौधों को काटने वाला माली बनकर कर्म-

रूपी सारे झाड़-झंखाड़ काट डालूँगा, ताकि मन-रूपी खेत, भक्ति और ज्ञान के बीज बोने के लायक हो सकें। अवधू के रूप में मैं इस वासना के मलपूर्ण शरीर को धुन कर साफ करूँगा। बधिक के रूप में इस वासनामय मन को ही मार दूँगा। व्यापारी बन कर ज्ञान एवं भक्ति-रूपी तत्त्व-वस्तु का व्यापार करूँगा। सांसारिक ऐश्वर्य तथा भोगों के विनिमय में भक्ति तथा आत्मबोध ही खरीदूँगा तथा दूसरों को वे ही वस्तुयें विक्रय में दूँगा। जुआरी के रूप में काल को ही बाजी पर लगाकर हार जाऊँगा। मैं अपने शरीर को नौका, मन को खेवट तथा जीव को पतवार बनाकर इस भवसागर से पार हो जाऊँगा। स्वयं भी तिरूँगा और अपने पूर्वजों का भी उद्धार कर दूँगा।'

टिप्पणी—सभी जातियों के व्यक्ति अपने व्यावसायिक कर्मों को आध्यात्मिक रूप देकर परमपद प्राप्त कर सकते हैं। यही समन्वय एवं तत्त्व की दृष्टि है। इसमें सभी जातियों के कर्मों का साधना-परक अर्थ किया गया है।

पाठान्तर—बासन धरि हूँ=कुम्हार शब्द के साथ होने से इस पाठ के अर्थ में कुछ खींचतान अवश्य है। परएक सुन्दर अर्थ की व्यंजना भी है। राजस्थान में वासन धरना एक प्रथा का द्योतक है। उसके मूल की भावना का प्रतीक यह मुहावरा है। सूतक (जन्मगत) आशौच की शुद्धि में 'कलश धरना' एवं मृतक आशौच की शुद्धि में 'वासन धरना'—इन दोनों मुहावरों का अर्थ कभी-कभी 'वासन धरना' में अन्तर्हित रहता है। यहाँ पर भी ऐसा ही है। यहाँ मोह की मृत्यु तथा विवेक के जन्म के आशौच की शुद्धि का प्रतीक 'वासना धरना' बन गया है।

राग माली गौंडी

पंडित मन रंजिता, भगति हेत ल्यौ लाइ रे।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे ॥टेक॥
दांम छै पणि कांम नांहीं, ग्यांन छै पणि धंध रे।
श्रवण छै पणि सुरति नांहीं, नैन छै पणि अंध रे ॥
जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे ॥
कहै कबीर हरि भगति बांछूं, जगत गुर गोब्यंद रे ॥ ३८८ ॥

कबीर चेतावनी दे रहे हैं, 'रे विषयों में अनुरक्त मन वाले पण्डित, तुम भगवान् की भक्ति में अपना मन लगाओ। रे मानव, प्रेमपूर्वक भगवान् का भजन करो। अन्य सब बातों को जाने दो। तुम्हारे पास धन और शक्ति है; पर उसके उपयोग के लिए शुभ कार्यों का अभाव है। तुम्हें बौद्धिक ज्ञान तो है, पर तुम जगत् धन्धों में फँसे हुए हो। तुम्हें श्रवण-शक्ति प्राप्त है, पर तुम में भगवान् की स्मृति नहीं जाग सकी है जिससे तुम उनके गुणगान के शब्द सुन पाते। तुम नेत्रों के होने पर भी अंधे हो। जिन भगवान् की नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है तथा जिनके

चरणों से गंगा की धारा बही है; कबीर कहते हैं कि उन्हीं भगवान् की भक्ति मांगूं, वे गोविंद ही सम्पूर्ण जगत् के गुरु हैं।

टिप्पणी—'नाभि-कमल' से ब्रह्मा को तथा चरणों से गंगा को जन्म देने वाले विष्णु की भक्ति के इस पद का तथा अन्य ऐसे पदों का कबीर के निराकर उपासक एवं निर्गुण भक्त रूप से अन्तर्विरोध है। अतः इनमें अर्थवाद मानना अधिक समीचीन है। केवल भगवान् की शक्ति, करुणा आदि गुणों की व्यंजना में ही इन पदों का तात्पर्य है; न कि इनमें वर्णित घटनाओं की सत्यता के विश्वास में। कबीर की भगवान् के दयालुता आदि गुणों में आस्था है; अतः वे इस दृष्टि से सगुणोपासक भी हैं; पर वे तुलसी, सूर आदि की तरह साकार एवं सगुण ब्रह्म के उपासक नहीं।

विष्णु ध्यांन सनान करि रे, बाहरि अंग न धोइ रे।
साच बिन सीझसि नहीं, कांई ग्यान दृष्टैं जाइ रे ।।टेक।।
जंजाल मांहैं जीव राखै, सुधि नहीं सरीर रे।
अभिअंतरि भेंदै नहीं, कांई बाहरि न्हावै नीर रे ।।
निहकर्म नदी ग्यांन जल, सुंनि मंडल मांहि रे।
औधूत जोगी आतमां, कांई ऐणैं संजामि न्हाहि रे।
इला प्यंगुला सुषमनां, पछिम गंगा बालि रे।
कहै कबीर कुसमल झड़ै, कांई मांहिलौ अंग पषालि रे ।। ३९० ।।

कबीर आभ्यन्तर उपासना की प्रेरणा देते हुए कहते हैं, "रे जीव, विष्णु के ध्यान में स्नान करो। इस बाहरी जल में अपने बाहरी अंगों को धोने से क्या लाभ है? सत्य-निष्ठा के अभाव में तपस्या या सिद्धि नहीं। भगवान् के प्रति सत्यनिष्ठा के बिना भगवद्-प्राप्ति नहीं होती है। तुम परोक्ष-ज्ञान की दृष्टि से क्या देखते हो! क्यों? तुम स्वयं ज्ञान-दृष्टि से देख लो न। जो व्यक्ति विषयों के जंजाल में अपने जीव को फँसाये रखता है, उसे अपने शरीर में भगवान् की सत्ता की सुधि भी नहीं जाती है। बाहर के जल में कोई चाहे जितना स्नान करता रहे, उसके आभ्यन्तर में पवित्रता भिदती नहीं है। गगन-मण्डल में ज्ञान के जल से परिपूर्ण निष्कर्म-रूप नदी है। रे अवधूत, रे योग में संलग्न आत्मन्, तुम इस जगत् के छिछले जल में क्यों नहाते हो? उसी सयम की निष्कर्म-रूप नदी में क्यों नहीं स्नान करते हो? इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के समन्वय वाली पश्चिम दिशा की गगा में स्नान करो। कबीर कहते हैं कि वहाँ ज्ञान का अमृत एवं प्रेम के पत्र झड़ रहे हैं या वहाँ पर सब कल्मष झड़ जाते हैं, इसमें तुम अपने शरीर के भीतरी अंगों को क्यों नहीं धोते हो?

टिप्पणी—रूपक अलंकार

भजि नारदादि सुकादि बंदित, चरन पंकज भांमिनीं।
भजि भजिसि भूषन पिया (पीय) मनोहर देव देव सिरोवनीं ।।टेक।।

बुधि नाभ चंदन चचता, तन दा मंदिह भीतहा ।
रांम जिस नैन बांनी, सुजान सुंद सुन्दा ॥
बहु पाप पबत छेदणां, भौ ताप दुति नवाणां ।
कहै कबीर गोब्यंद भजि, पमानन्द बंडत काणां ॥ ३९१ ॥

री आत्मा सुन्दरी; नारद, सुखदेव आदि के द्वारा बन्दना किये गये चरण-कमलों का भजन कर। रे जीव, तुम अपने हृदय के आभूषण प्रिय, मनोहर और देव देवों के शिरोमणि को भजो। चन्दन से चर्चित बुद्धि-रूपी नाभि तथा शरीर एवं हृदय-रूपी मन्दिर में विराजमान आत्मा-रूपी राम सुशोभित हो रहे हैं। उनके नेत्र, वाणी सभी कुछ अत्यधिक सुन्दर हैं। ऐसे भगवान् का वहीं पर हृदय में ही ध्यान कर। वे ही सम्पूर्ण पापों के पर्वत तथा सांसारिक दुःखों एवं पापों को नष्ट करने वाले हैं। कबीर कहते हैं कि वन्दना करने पर परमानन्द देने वाले एवं उसके कारणभूत परमानन्द भगवान् का भजन करो।

राग कल्याण

ऐसैं मन लाइ लै रांम रसनां (सनां)।
कपट भगति कीजै कौंन गुनां ॥टेक॥
ज्यूं मृग नादैं बंध्यौ जाइ, प्यंड परैं वाकौ ध्यांन न जाइ ॥
ज्यूं जल मीन हेत करि जांनि प्रांन तजै बिसरै नहीं बांनि ॥
भ्रिगी कीट रहै ल्यौ लाइ, ह्वै लैलीन भ्रिग ह्वै जाइ ॥
रांम नांम निज अमृत सार, सुमिरि सुमिरि जन उतरे पार ॥
कहै कबीर दासनि कौ दास, अब नहीं छाड़ौं हरि के चरन निवास ॥ ३९२ ॥

रे जीव, भगवान् राम की भक्ति के रहस्यवाद में अपना मन ऐसा तन्मय कर लो कि राम से तदाकार ही हो जाओ। इस दिखावटी कपट की भक्ति का क्या उपयोग है? मृग नाद में अनुरक्त होकर बाणों से विद्ध होता रहता है, उसका शरीर भी गिर जाता है। पर मृग का शरीर की तरफ ध्यान ही नहीं जाता। मछली जल से प्रेम करके अपने प्राण छोड़ देती है, पर वह जल से प्रेम का अपना स्वभाव नहीं छोड़ती है। कीट भ्रमर में ध्यान लगाये रहता है और उसी में लीन होकर भ्रमर ही बन जाता है। रे मानव, इन्हीं आदर्शों को समक्ष रखकर भगवान् राम का भजन करो। राम नाम ही वास्तव में अपना अमृत-स्वरूप एवं सारतत्त्व है। उसी का स्मरण करके भक्त भवसागर से पार हो गये हैं। कबीर कहते हैं कि मैं तो भक्तों का भी भक्त हूँ। अब मैं भगवान् के चरणों में निवास करना नहीं छोड़ूँगा।

टिप्पणी—दृष्टांत अलंकार।

पाठान्तर—रामनाम निज अमृत सार मुँह है बांध्या मानैं गंवार।

राग सारंग

यहे ठग ठगत सकल जग डोलैं ।
गवन करैं तब मुखह, न बोलैं ।।टेक।।
तूं मेरौ पुरिषा हौं तेरि नारी, तुम्हें चलतैं पाथर थैं भारी ।।
बालपनां के मींत हमारे, हमहि छाड़ि कत चले हो निनारे ।।
हम सूं प्रीति न करि री बौरी, तुम्ह से केते लागे (लाये) ढौरी ।।
हम काहू संगि गये न आये, तुम्ह से गढ़ हम बहुत बसाये ।।
माटी की देही पवन सरीरा, ता ठग सूं जन डरै कबीरा ।। ३१३।।

यह जीवरूपी ठग सम्पूर्ण संसार के शरीरों को ठगता हुआ घूमता है । यह शरीर का आश्रय लेकर भोगों को भोगता है और फिर उसे छोड़कर चला जाता है। जाते समय तो यह शरीर से मुँह से भी नहीं बोलता है । उस समय यह काया उससे कहती है कि तुम मेरे पुरुष हो और मैं तेरी स्त्री हूँ । तुम्हारे छोड़कर चले जाने पर मैं पत्थर के समान जड़ और भारी हो जाता हूँ । तुम तो हमारे बालकपन के ही मित्र हो । हमें छोड़कर कहाँ अकेले में जा रहे हो ? जीव उत्तर दे रहा है, 'रे पागल हम से प्रेम मत कर । हम में आसक्ति पैदा मत कर । तुम्हारे जैसे पता नहीं कितने शरीर किनारा कर गये हैं, हम से ढरक गये हैं । अथवा तुम्हारे जैसे पता नहीं कितनों ने हम से लगन लगाई है । हम किसी भी शरीर के साथ नहीं आये हैं । हमने पता नहीं तुम्हारे जैसे (काया जैसे) कितने दुर्ग बनाये और मिटाये हैं । जीव तो जन्म और मृत्यु से परे है । शरीर ही बनता और बिगड़ता है । यह मिट्टी का शरीर है तथा वायु के प्राण हैं । भोगों के लिए यह अनेक योनियों में अनेक शरीर धारण करता है और उन्हें छोड़ देता है । अतः यह भक्त कबीर उस ठग जीव से बहुत भयभीत है । कभी अचानक यह उसकी माटी की देह को छोड़कर न चला जाय जिससे मानव शरीर धारण करने से प्रयोजन की सिद्धि ही न हो पावे । अतः कबीर सलाह देते हैं कि निरन्तर भगवान् का भजन करते ही रहना चाहिए ।

टिप्पणी— देह की नश्वरता, जीव के अनेक योनियों में भटकने तथा शरीर द्वारा जीव को आसक्ति में डालने के माया के प्रयासों का विपरीत लक्षणा से अच्छा चित्रण है ।

रूपक अलंकार ।

धनि सो घरी महूरत्य दिनां ।
जब ग्रिह आये हरि के जनां ।।टेक।।
दरसन देखत यहु फल भया, नैंनां पटल दूरि ह्वै गया ।।
सब्द, सुनत संसा सब छूटा, श्रवन, कपाट बजर था तूटा ।।

परसत घाट फेरि करि घड़्या, काया करम सकल झड़ि पड़्या ॥
कहै कबीर संत भल माया, सकल सिरोमनि घट मैं पाया ॥ ३६४ ॥

वह घड़ी, वह मूहूर्त्त और वह दिन धन्य है जब घर पर भगवान् के भक्त आयें। उनके दर्शन मिलते ही यह महान् फल प्राप्त हो गया कि नेत्रों के अज्ञान का पर्दा हट गया। भक्तों के द्वारा ज्ञान का उपदेश सुनते ही सारा संशय दूर हो गया। कानों पर लगे हुए बज्र के किवाड़ भी टूट गये। उन शब्दों ने इस अन्तःकरण रूपी घट का स्पर्श करके उसका फिर से नूतन निर्माण कर दिया। उसकी विषय भोगों के प्रति आसक्ति समाप्त हो गई। अतः ज्ञान के कारण हृदय के सम्पूर्ण पाप-पुण्य झड़कर उससे अलग हो गए। कबीर कहते हैं कि मुझे सत बहुत प्रिय प्रतीत हुआ। उसकी संगति के प्रभाव से मुझे मेरे अन्तःकरण में ही सम्पूर्ण विश्व के शिरोमणि भगवान् का साक्षात्कार हो गया।

राग मल्हार

जतन बिन मृगनि खेत उजार।
टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥टेक॥
अपने अपने रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे ॥
अति अभिमान बदत नहीं काहू, बहुत लोग पचि हारे ॥
बुधि मेरी किरषी, गुर मेरौ बिझुका आखिर दोइ रखवारे।
कहै कबीर अब खान न देहूं, बरियां भली संभारे ॥ ३६५ ॥

साधना के अभाव में काम-क्रोधादिक अथवा इन्द्रियों के विषयों रूपी मृगों ने जीवन अथवा भक्ति-भावना रूपी खेत को उजाड़ दिया है। विवेक, वैराग्य एवं ईश्वर-प्रेम से रहित यम-नियम के कर्मों से इन इन्द्रियों अथवा काम-क्रोधादिक मृगों को रात-दिन हटाने पर भी ये हटते नहीं और कृच्छ्र साधनाओं से भगाने पर भी भागते नहीं हैं। ये काम-क्रोधादिक अथवा इन्द्रियों के विषय अपने-अपने आनन्द के लोभ में फँसे हुए हैं। इन सबके काम और आकर्षक भी एक दूसरे से पृथक्-पृथक हैं। इन सब में अपना-अपना गहरा अहंभाव है। इस अहंकार में वे एक-दूसरे को कुछ समझते ही नहीं हैं। अपने-अपने विषयों के लिए इतने आतुर हैं कि दूसरों को अपने विषयों को ग्रहण करने का अवसर देना ही नहीं चाहते हैं। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय अथवा काम-क्रोधादिक में से प्रत्येक इस जीव को अपने-अपने विषयों की ओर खींचते हैं और दूसरों को अपने विषयों का भोग करने का अवसर नहीं देना चाहते हैं। इनमें पारस्परिक समन्वय स्थापित करने की अनेकों ने चेष्टा की पर व्यर्थ ही। ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधनाओं से यह सम्भव ही नहीं। इन मृगों से मेरे जीवन-रूपी खेत की रक्षा करने के लिए विवेक ही गोफिया (पत्थर फेंक कर अथवा उसकी आवाज से पशुओं को भगाने का अस्त्र (है तथा गुरु ही वह पुतला है जिससे भयभीत होकर काम-क्रोधादिक एवं वासना रूपी मृग भाग जाते हैं। 'राम' के दो अक्षर ही जीवन

की सार्थकता एवं भक्ति-भावना के संरक्षक हैं कबीर कहते हैं कि मैं इस जीवन-रूपी खेत को खाने नही दूंगा, इसे काम-क्रोधादिक से नष्ट नहीं होने दूंगा। मैंने अपने खेत की संयम एवं सात्त्विक बुद्धि रूपी बाड़ ठीक कर ली है अथवा अवसर रहते ही मैंने खेत सम्हाल लिया है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार।

हरि गुन सुमरि रे नर प्रांणी।
जतन करत पतन ह्वै जैहै, भावैं जांण म जांणीं ॥टेक॥
छीलर नीर रहै घूं कैसैं, को सुपिनैं सच पावै।
सूकित (सूकिक) पांन परत तरवर थैं, उलटि न तरवरि आवै।
जल थल जीव डहके इन माया, कोई जन उबर न आवै।
रांम अधार कहत हैं जुगि जुगि, दास कबीरा गावै ॥ ३८६ ॥

रे प्राणी, तुम भगवान् के गुणों का स्मरण करो। तुम्हारे अनेक प्रयत्न करने पर भी इस शरीर का नाश होगा ही। तुम चाहे इसे समझो अथवा न समझो; यह जीवन तो क्षणिक है ही। छिछले पोखरे में पानी कब तक रहेगा ? वह तो सूखेगा ही। जीव का शरीर भी सीमित है। वह अल्प शक्ति वाला है, उसमें प्राण कब तक रहेंगे ? स्वप्न में प्राप्त हुआ ऐश्वर्य जाग्रत अवस्था का सत्य कैसे हो सकता है? यह जीवन स्वप्नवत् है उसके विषय पारमार्थिक आनन्द कैसे दे सकते हैं ? जो पत्ता सूख कर वृक्ष से गिर गया है, वह उलट कर वापिस उस पेड़ के कैसे लग सकता है? वैसे ही जीर्ण होकर नष्ट हुआ शरीर पुनः कैसे जीवित हो सकता है ? सम्पूर्ण जल-थल के जीव माया में भटके हुए हैं अथवा इस माया ने जल-थल के सब जीवों को भटका दिया है। इस माया के प्रभाव से कोई नहीं बच पाया है। युग-युगान्तर से राम ही इस जीवन का आधार माना जाता रहा है। अर्थात् युग-युगान्तर तक माया के प्रभाव से वंचित रहने के लिए राम का नाम-स्मरण ही आधार है अथवा युग-युगान्तर तक, जन्म-जन्मान्तर तक इस जीव-चैतन्य की शाश्वतता का आधार राम अर्थात् ब्रह्म-चैतन्य है। ब्रह्म-चैतन्य के रूप में ही यह शाश्वत है। इस बात को कबीर गा-गा कर कह रहे हैं।

टिप्पणी—निदर्शना अलंकार।

जपि जपि रे जीयरा गोब्यंदो, हित चित परमांनंदो रे।
बिरही जन कौ बालहौ, सब सुख आंनंदकंदो रे ॥टेक॥
धन धन झीखत धन गयौ, सो धन मिल्यौं न आये रे।
ज्यूं बन फली मालती, जन्म अबिरथा जाये रे ॥
प्रांणी प्रीति न कीजिये, इहि झूठै संसारो रे।

धूंवां केरा धौंलहर, जात न लागै बारो रौ ।।
माटी केरा पूतला काहे गरब कराये रे ।
दिवस चारि कौ पेखनौं फिरि माटी मिलि जाये रे ।।
कांमीं रांम न भावई, भावैं विषै बिकारो ।
लोह नाव पाहन भरी, बूड़त नांहीं बारो रे ।।
नां नन मूवा न मरि सक्या, नां हरि भजि उतर्‌या पारो ।
कबीरा कंचन गहि रह्यौ, कांच गहै संसारो ।। ३८७ ।।

रे जीव, तुम गोविन्द का भजन करो । जो हितकारी 'चैतन्य-स्वरूप' एवं परमानन्द स्वरूप है उनमें अपनी प्रीति और चित्त लगाओ । भगवान् विरही भक्तों को प्रिय तथा सब प्रकार के सुख एवं आनन्द देने वाले हैं, वे आनन्द के मूल हैं । सांसारिक धन के लिए झींकते हुए यह जीवन-रूपी धन अथवा जीवन का धन अर्थात् ज्ञान व प्रेम जो जीवन की सार्थकता है, वह चला गया और सांसारिक धन भी कभी नहीं मिल पाया । निर्जन वन में फूली हुई मालती का जन्म व्यर्थ ही जाता है । वह अपनी सुगन्ध से किसी को भी कृतार्थ नहीं कर पाती है । वैसे ही भक्तिहीन व्यक्ति का धन दूसरों के कल्याण में न लगने के कारण व्यर्थ ही है । रे—प्राणी, इन झूठे सांसारिक प्राणियों से प्रेम मत करो, इन के मोह में मत फँसो । ये विषयों में संलग्न हैं तथा इनके सम्बन्ध मिथ्या एवं नश्वर हैं यह जगत् धूम के महल के समान केवल प्रतिभासिक सत्ता वाला है । इस महल के उड़ जाने में थोड़ी देर भी नहीं लगती है । यह शरीर मिट्टी का पुतला है; इसको नष्ट होने में देर भी नहीं लगती है । इस पर क्या अभिमान करना ? यह तो चार दिन तमाशा देखने की भर की शोभा है । फिर तो इस शरीर को मिट्टी में मिल ही जाना है । कामी व्यक्ति को राम भक्ति अच्छी नहीं लगती; उसको तो केवल विषय विकार ही प्रिय हैं । विषयी मानव का जीवन पापी कर्म-रूपी पत्थरों से भरी हुई मोह एवं अज्ञान-रूपी लोहे की नौका है । उसे भवसागर में डूबते देर नहीं लगती है । इस विषय जीव का वासनामय मन न कभी मरा है और न मर सकेगा । यह जीव भगवान् का भजन करके भवसागर से पार नहीं हो सका । कबीर कहते हैं कि मैंने तो भक्तिरूपी स्वर्ण ले रखा है । यह संसार ही अर्थात् विषयी पुरुष ही विषय रूपी तुच्छ शीशा लेकर उसमें अनुरक्त हैं ।

टिप्पणी—सांगरूपक और उपमा अलंकार का प्रयोग । तुलना कीजिए— 'धुआँ कैसे धौलहर, देख न भूलि रे ।'—विनयपत्रिका ।

न कछु रे न कछू रांम बिनां ।
सरीर धरें की इहै परंमगति, साध संगति रहनां ।।टेक।।
मंदिर रचत मास दस लागे, बिनसत एक छिनां ।
झूठे सुख के कारनि प्रांनी, परिपंच करत घनां ।

तात मात सुत लोग कुटम्ब मैं, फूल्यो फिरत मनां।
कहै कबीर रांम भजि बौरें, छाड़ि सकल भ्रमनां ॥ ३६८॥

भगवान् की भक्ति के बिना जीवन निस्सार है। शरीर धारण करने की सार्थकता परम आनन्द तत्त्व में तन्मय रहना ही है। इसके लिए व्यक्ति को निरन्तर साधु संगति में रहना चाहिए। इस शरीर-रूपी मन्दिर को बनते तो दस महीने लगे पर नष्ट एक क्षण में ही हो गया। यह जीव मिथ्या सांसारिक सुखों के लिए अनेक प्रकार प्रपञ्च रचना रहता है। यह माता, पिता, पुत्र तथा कुटुम्ब के लोगों के स्नेह और अभिमान में ही फूला फिरता है। इसलिए कबीर चेतावनी देते हैं "रे पागल, तुम भगवान् राम का भजन करो और सम्पूर्ण प्रकार के मोहों से मुक्त हो जाओ।"

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज, टका दल गंठिया, टेढ़ौ टेढ़ौ जात ॥टेक॥
कहा लै आयो यहु घर कोऊ कहा कोऊ लै जात।
दिवस चारि की है पतिसाही ज्यूं बनि हरियल पात ॥
राजा भयौ गांव सौ पाये, टका लाख दस भ्रात (ब्रात्य)।
रावन होत लंक कौ छत्रपति, पल मैं गई बिसात (गए विविलात) ॥
मात पिता लोक सुत बनिता, अंत न चले संगात ॥
कहै कबीर रांम भजि बौरे, जनम अकारथ जात ॥ ३६६ ॥

रे मानव थोड़े से तथा क्षणिक सांसारिक ऐश्वर्य पर क्या अभिमान करते हो ? तुम्हारे पास दस मन अनाज है और तुम्हारी गाँठ में थोड़ा सा धन है। बस इसी पर टेढ़े-मेढ़े चलने लगे हो। यह सांसारिक वैभव क्या कोई अपने साथ ला पाया है और क्या कोई अपने साथ ले जा सकता है ? न तो पूर्व-जन्म में संचित धन के साथ व्यक्ति जन्म ले सकता है और न इस जन्म का धन दूसरे जन्म में साथ ले जा सकता है। संसार के वैभव और शक्ति तो केवल चार दिन की बादशाहत है जैसे वन के पत्ते चार दिन के लिए हरे रहते हैं, फिर सूख जाते हैं, वैसे ही यह वैभव चार दिन के लिए आकर्षक प्रतीत होता है; और उसके बाद में नष्ट हो जाता है। राजा बन गया, सौ ग्राम प्राप्त हो गये, दस लाख रुपये मिल गये, और दस कुटुम्बी लोगों का समूह तुम्हारे साथ भी हो गया। पर इससे क्या हुआ ? रावण लंका का राजा था। पर एक क्षण में ही उसकी सम्पूर्ण हैसियत और शक्ति नष्ट हो गई। वह एक क्षण में ही विलीन हो गया। माता पिता, लोक, सुत, स्त्री—इनमें से अन्त में कोई भी साथ नहीं जाता है। कबीर कहते हैं, "परे पागल जीव, तुम्हारा जन्म व्यर्थ ही जा रहा है। अतः राम का भजन कर।"

टिप्पणी—दृष्टान्त और उपमा अलंकार का प्रयोग।

पाठान्तर—गुरु ग्रन्थ साहब में दो पंक्ति और हैं :—

हरि के संति सदा थिरु जहु जो हरि हरिनाम जपात।
जिन कद क्रिया करत है गोबिन्द ते सतसंगि मिलात।।
पल में गई विहात।

नर पछिताहुगे अंधा।
चेति देखि नर जमपुरी जैहै, क्यूँ बिसरौ गोब्यंदा ।।टेक।।
गरभ कुंडि नल जब तूं बसता, उरध ध्यान ल्यौ लाया।
उरध ध्यांन मृत मंडलि आया, नरहरि नांव भुलाया।।
बाल बिनोद छहूं रस भीनां, छिन छिन मोह बियापै।
बिष अमृत पहिचांनन लागौ पांच भांति रस चाखै।।
तरण देज परत्रिय मुख जोवै, सर अपसर नहीं जांनैं।
अति उद्मादि महामद मातौ, पाप पुंनि न पिछांनैं।।
प्यंडर केस कुसुम भये धौंला, सेत पलटि गई बांनीं।
गया क्रोध मन भया जु पावस, कांम पियास मंदांनीं।।
तूटी गांठि दया धरम उपज्या काया कँवल कुमिलांना।
मरती बेर बिसूरन लागौ, फिरि पीछै पछितांनां।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, धन माया कछू संगि न गया।
आई तलब गोपाल राइ की, धरती सैंन भया ।। ४०० ।।

रे अन्धे मानव, तुम विषय वासनाओं में फँसकर पछताओगे। सावधान होकर देखो। तुम्हें यमपुर जाना ही पड़ेगा। तुम गोविन्द को क्यों भूल रहे हो? जब तुम गर्भ-कुण्ड में थे तब तुम ऊपर की ओर भगवान् का ध्यान करते रहते थे; उसी में तल्लीन रहते थे। ईश्वर के ध्यान के प्रभाव से जब मृत्यु-लोक में आ गये तो तुमने नृसिह का नाम भुला दिया। अथवा नर, तुमने हरि का नाम भुला दिया। बाल्य-काल में बाल्य क्रीड़ाओं का आनन्द लेते हुए तुम भोजन के छओं रसों के स्वाद में संलग्न रहे। तुम्हें क्षण-क्षण करके मोह ने व्याप्त कर लिया। जब कुछ बड़े हुए तब तुम्हें मधुर और कटु का ज्ञान हो गया। उस समय तुम केवल जिह्वा नहीं पांचो इन्द्रियों के रस को चखने लगे। युवावस्था के तेज को प्राप्त करके तुम स्त्री या पर स्त्री का मुख देखने लगे। इसमें तुमने अवसर कुअवसर का भी ध्यान नहीं रखा। उस समय तुम अत्यन्त उच्छृङ्खल होकर महान् मद में उन्मत हो गये। तुमने पाप और पुण्य का भी ध्यान नहीं रखा। प्रौढ़ अवस्था और जरा आई। धीरे-धीरे केश भूरे होकर पुष्पों की तरह एकदम सफेद हो गये और जवान भी पलट गई। उसकी

मधुरता समाप्त हो गई हर बात पर आने वाला क्रोध समाप्त हो गया। शक्ति नहीं रही। दैन्य आ गया। हृदय निरन्तर अपनी असामर्थ्य की भावना से अपने ही ऊपर जागने वाली दया (कृपा) की पावस ऋतु से गीला रहने लगा। काम की प्यास भी मंद पड़ गई। जब पास का पैसा समाप्त हो गया तब मन में दया-धर्म की बात जागने लगी, जो व्यर्थ थी। जब देने को कुछ रहा ही न तो फिर दया-धर्म कैसा? अवचेतन में स्वयं अपने आपको दया का पात्र समझने वाला वृद्ध चेतन स्तर पर दया-धर्म की बात करने लगता है। उनको सिद्धान्ततः ठीक मानने लगता है। इसी अवस्था का संकेत है। अथवा व्यक्ति की अपनी ही अहङ्कार की गाठें टूट गईं और स्वयं के प्रति ही अपने मन में करुणा का भाव जाग गया। इस वृद्धावस्था में काया-रूपी कमल भी मुरझा गया। मरते समय मानव पाश्चात्ताप की वेदना से दुःखी हुआ; अपने अतीत पर पछताने लगा। पर इससे क्या हुआ? कबीर कहते हैं 'रे संतो, सुनो। जिस सांसारिक ऐश्वर्य में मानव जीवन भर आसक्त रहा, वह उसके साथ नहीं जा सका। जब राजा राम की ओर से मृत्यु की आज्ञा हुई उसी समय इस जीव को सम्पूर्ण ऐश्वर्य होते हुए भी धरती पर सो जाना पड़ा।'

लोका मति के भोरा रे।
जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रांमहि कहा निहोरा रे ॥टेक॥
तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, यूं ढुरि मिल्या जुलाहा ॥
रांम भगति परि जाकौ हित चित, ताकौ अचिरज काहा।
गुरु प्रसाद साध की संगति, जग जीतै जाइ जुलाहा ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, भ्रंमि परे जिन कोई।
जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै रांम सति होई ॥ ४०१ ॥

कबीर कहते हैं कि लोग भोली बुद्धि वाले हैं। अगर कबीर काशी मरणान्मुक्ति' की निष्ठा से काशी में प्राण छोड़े तो फिर राम से मुक्ति के लिए अनुरोध ही क्यों करे? पर वह इस विश्वास से बँधा हुआ नहीं है। उस समय अन्धविश्वासों में फँसे हुए थे, पर अब हम उनसे मुक्त हो गये हैं। अन्धविश्वासों से मुक्ति तथा ईश्वर प्रेम मानव-जन्म का यही लाभ है। जैसे जल एक बार जल में प्रविष्ट होकर नहीं निकलता है वैसे ही इस जुलाहे का जीव-चैतन्य भक्ति की द्रवणशीलता से ब्रह्म-चैतन्य में मिल गया है। अब वह ब्रह्म से पृथक होने वाला नहीं है। जिसके चित्त और स्नेह में राम की भक्ति व्याप्त हो गई है; उसके लिए ऐसी अद्वैत-स्थिति को प्राप्त हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है गुरु की कृपा तथा साधु-संगति के प्रभाव से यह सामान्य जाति का जुलाहा मुक्त हो रहा है। इस प्रकार उसने जगत् को पराजित कर दिया है। ऐसी गति जगत् के किसी भी सामान्य व्यक्ति को नहीं मिली है।

कबीर कहते हैं, 'रे संतो, सुनो। कोई भी किसी भी प्रकार के भ्रम में न रहे अगर भगवान् की सत्यनिष्ठा हृदय में है तो जैसी काशी वैसा ही मगहर और मरुस्थल है। कहीं भी मरने पर मुक्ति मिल सकती है और काशी में मरने पर भी मुक्ति न मिले। ये दोनों ही सत्य हैं।'

टिप्पणी—व्यतिरेक अलंकार। अन्धविश्वास का खण्डन। कबीर के 'मगहर वास की किंवदन्ती का कारण भी इसमें प्रतीत होता है। इस प्रकार इस पद से कबीर के जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै।
तेज पुंज तहाँ प्रांन उतारै ॥टेक॥
पाती पंच पहुप करि पूजा, देव निरंजन औरन दूजा।
तनमन सीस समरपन कीन्हा, प्रगट जोति तहां आतम लीनां॥
दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा, परंम पुरिख तहाँ देव अनन्ता।
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ॥ ४०२ ॥

यह आरती तीनों लोकों का उद्धार करने वाली है। इसमें तेजपुञ्ज भगवान् की आरती प्राण उतारते हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषय-रूपी पत्तियों एवं वासना-रूप पुष्प को समर्पित करके इस देव की पूजा होती है। यह देव मायारहित निरंजन परम ब्रह्म ही है: अन्य कोई दूसरा नहीं। इस पूजा में शरीर, मन और शिव अर्थात् अपने स्थूल संकल्प, वासना और अहंभाव—सब कुछ भगवान् को समर्पित करना पड़ता है। इस आरती के द्वारा जीव व्यापक एवं सहस्रार कमल में प्रकट ब्रह्म ज्योति में अपनी आत्मा को लवलीन कर देता है। इस आरती में ज्ञान ही दीपक है और सुनने वाला अनहद नाद ही घंटा है। वहाँ परम पुरुष भगवान् ही अनन्त देव हैं। इस देव के परम प्रकाश से ही विश्व प्रकाशित है। ऐसे भगवान् के समक्ष आत्म-समर्पण करते हुए कबीर कहते हैं, 'हे भगवान् में आपका दास हूँ।'

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार। आरती के बाह्य उपकरणों के आध्यात्मिक अर्थों की कल्पना से सम्पूर्ण आरती ही आध्यात्मिक साधना एवं भक्ति में परिणत हो गई है।

रमैंणी

तू सकल गहगरा (गहरा), सफ सफा दिलदार दीदार ।।
तेरी कुदरति किनहूँ न जानीं, पीर मुरीद काजी मुसलमानीं ।।
देवी देव सुर नर गण गंध्रप, ब्रह्मा देव महेसुर ।।
तेरी कुदरति तिनहूं न जांनी ।।टेक।।

हे भगवान्, तुम सर्वशक्तिमान हो। तुम्हारा स्वरूप परम प्रेमास्पद, स्वच्छ एवं उज्ज्वल है। किसी ने भी तुम्हारी माया नहीं समझी है। पीर, जिज्ञासु, काजी, मुसलमान, देवी, देव, सुर, नर, गन्धर्व, ब्रह्मा, महेश्वर आदि ये—तथाकथित देवता और ज्ञानी भी, हे भगवान्। तेरी माया नहीं समझ सके हैं।

एकपदी रमैंणी (१)

काजी सो जो काया बिचारें, तेल दीप मैं बाती जारै ।।
तेल दीप मैं बाती रहै, जोति चीह्नि जे काजी कहै ।।
मुलनां बंग देइ सुर जांनीं, आप मुसला बैठा तांनीं ।।
आपुन मैं जे करै निवाजा, सो मुलनां सरबत्तरि गाजा ।।
सेष सहज मैं महल उठावा, चंद सूर बिचि तारी लावा ।।
अर्ध उर्ध बिचि आनि उतारा, सोई सेष तिहूँ लोक पियारा ।।
जंगम जोग बिचारै जहूँवां, जीव सीब करि एकै ठऊवां ।।
चित चेतानि करि पूजा लावा, तेतौ जंगम नांउं कहावा ।।
जोगी भसम करै भौ मारी, सहज गहै बिचार बिचारी ।।
अनभै घट परचा सू बोलै, सो जोगी निहचल कदे न डोलैं ।।
जैन जीव का करहु उबारा, कौंण जीव का करहु उधारा ।।
कहां बसैं चौरासी का देव, लही मुकति जे जांनो भैव ।।

**भगता तिरण मतैं संसारी, तिरण तत दे लेहु बिचारी ॥
प्रीति जांनि रांम जे कहै, दास नांउ सो भगता लहै ॥
पंडति चारि वेद गुंण गावा, आदि अंति करि पूत कहावा ॥
उतपति परलै कहौ बिचारी, संसा घालौ सबै निवारी ॥
अरधक उरधक ये संन्यासी, ते सब लागि रहैं अबिनासी ॥
अजरावर कौं डिढ करि गहै, सो संन्यासी उन्मन रहै ॥
जिहि धर चाल रची ब्रह्मंडा, पृथमीं मारि करी नव खंडा ॥
अविगत पुरिस की गति लखी न जाइ, दास कबीर रहे ल्यो लाइ ॥ १-१ ॥**

काजी वही है जो शरीर में स्थित चैतन्य का चिन्तन करता है। वह ईश्वर प्रेम के स्नेह (तेल में) ज्ञान की बत्ती जलाता है। तेल में बत्ती रहते ही अर्थात् प्राण रहते ही जो परम-ज्योति को पहचान लेता है वही वास्तव में काजी कहलाता है। मौलबी कुरान की 'सुरा' को समझकर वांग देता है और मुसल्ला पसार कर नमाज पढ़ने बैठने जाता है। पर जो अपने शरीर के भीतर नमाज पढ़ता है अर्थात् शरीर में व्याप्त परम ज्योति की आराधना करता है, वही मुल्ला सर्वत्र गरजता रहता है। शेख वस्तुत: वही है जो सहज अवस्था में स्थान बना लेता है, चन्द्र और सूर्य नाड़ी को एकत्र करके सुषुम्ना में प्रविष्ट करा देता है तथा प्राणवायु की नाली लगा देता है। वह अधोवर्ती तथा ऊर्ध्ववर्ती कमलों के बीच वाले अनाहत चक्र में स्थिति भगवान् के समीप अपने आपको अवस्थित करता है। यही शेख वास्तव में तीनों लोकों का प्रिय है। जंगम साधु वही है जो योग का चिन्तन करता है; उस स्थान पर ध्यान केन्द्रित करता है जहाँ पर जीव और शिवत्व का अभेद है। जो चित्त को परम चैतन्य में अवस्थित करके पूजा करते हैं, वे ही वास्तव में जंगम नाम के अधिकारी हैं। योगी वास्तव में वही है जो संसार को अर्थात् उसकी आसक्ति को भस्म कर लेता है तथा चिन्तनपूर्वक सहज तत्त्व का ग्रहण करता है। वह अभय तत्त्व से अपने अन्तःकरण में ही परिचयपूर्वक बात करता रहता है। उसी का मनन और निदिध्यासन करता रहता है। ऐसे योगी का निश्चत कभी भी डिगता नहीं है। जैन, तुम अहिंसा द्वारा जीव की रक्षा करने का दम्भ भरते हो, पर यह तो विचार करो कि तुम किस जीव का उद्धार कर रहे हो। उस जीव का स्वरूप तो पहचानो। वह चौरासी लाख योनियों का स्वामी कहाँ रहता है? इस रहस्य को समझने पर ही तुम्हें मुक्ति मिल सकती है। भक्त इस संसार से तिरने का संकल्प करता है, पर वह पहले यह तो समझ ले कि तात्त्विक रूप से तिरना क्या है? उसका रहस्य क्या है? प्रेम का स्वरूप समझकर जो राम का स्मरण करता है, वही भक्त भगवान का दास कहला सकता है। पंडित चारों वेदों का गुणगान करता है और विश्व के आदि एवं

अन्त रूप का ब्रह्म का पुत्र कहलाता है। पर, हे पंडित, आदि और अन्त के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करके उसका वर्णन तो करो। वास्तव में एक अविकारी तत्त्व ही मूल सत्य है। आदि और अन्त का कथन तो केवल माया के अन्दर है। इतना समझ कर सम्पूर्ण भ्रम और संयम को नष्ट करो। ऊँची-नीची सभी स्थितियों को पहुँचे हुए संन्यासी वास्तव में उस अविनाशी तत्त्व में ही अनुरक्त रहते हैं। जिसने उस अजर और अमर तत्त्व को दृढ़तापूर्वक पूर्ण निष्ठा से ग्रहण कर लिया है, वह संन्यासी उन्मत्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है और परमतत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। जिसने धरा को गति प्रदान की, ब्रह्माण्ड की सृष्टि की और पृथ्वी को नवखण्डों में विभाजित कर दिया, उस अविगत पुरुष की माया किसी से जानी नहीं गई है। भक्त कबीर उस अगम्य तत्त्व में अपनी लौ लगाये हुए हैं।

टिप्पणी—विभिन्न धर्मावलम्बियों एवं साधकों को बाहरी पाखण्ड छोड़कर उसके मूल्य रहस्य को समझते हुए परमतत्त्व में प्रतिष्ठित होने का उपदेश है इसमें धार्मिक कृत्यों तथा कायायोग से भक्ति और ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित है।

सतपदी रमैणी (२)

कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा, जग भुलांन सो किनहुँ न चीन्हा ॥
संत रज सम थैं कीन्हीं माया, आपण मांझै आप छिपाया ॥
ते तो आहि अनंद सरूपा गुन पल्लव विस्तार अनूपा ॥
साखा तन थैं कुसम गियांनां, फल सो आंछा रांम का नांमां ॥
सदा अचेत चेत जीव पंखी, हरि तरवर करि वास ॥
झूठे जगि जिनि भूलसि जियरे, कहन सुनन की आस ॥२-१॥

परमार्थतः सत्य-सृष्टि के रूप में नहीं केवल कहने-सुनने भर के लिए ही जिस जग की रचना हुई है, उसके वास्तविक स्वरूप को किसी ने नहीं पहचाना। पर सम्पूर्ण जीव उसी में भ्रमित है। सतोगुण रजोगुण और तमोगुण के इस माया-मोह की सृष्टि हुई है। यह चैतन्य-तत्त्व अपने आप में ही छिपा है, अर्थात् उसके अपने वास्तविक स्वरूप को अपनी ही माया से आवृत्त कर लिया है। वह तत्त्व स्वयं तो आनन्द-स्वरूप है। भक्ति-रूपी वृक्ष इसी तत्त्व का विस्तार है। भगवान् के गुण ही इस वृक्ष के पल्लव हैं। उनका प्रेम ही शाखाओं में परिणत हो गया है और उसके ज्ञान-रूपी पुष्प लगा है। राम का नाम ही अर्थात् राम का प्रेममय साक्षात्कार ही उसके उत्तम फल हैं। रे निरन्तर अज्ञान में अचेत रहने वाले जीव रूपी पक्षी, जाग और हरि रूपी इस वृक्ष की शरण में चला जा। रे जीव, इस मिथ्या संसार के मोह में अपने आप को मत भूल। इस जगत में जागी हुई आशायें तो केवल कहने-सुनने भर की हैं; मिथ्या हैं। हरिनाम के उच्चारण एवं श्रवण से ही वास्तविक उद्धार की आशा है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार। जगत् के मिथ्यात्व के प्रतिपादन के साथ ही ज्ञान और भक्ति का समन्वित सन्देश है।

सूक बिरख यहु जगत उपाया, समझि न परे विषय तेरी माया॥
साखा तीन पत्र जुग चारी, फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी॥
स्वाद अनेक कथ्या नहीं जांहीं, किया चरित्र सो इनमैं नहीं॥
तेतौ आहि निनार निरंजना, आदि अनादि न आंन॥
कहन सुनन कौं कीन्ह जग, आपै आप भुलांन॥२-२॥

हे भगवन्, आपने निस्तत्त्व एवं नीरस जगत्-रूप वृक्ष को उत्पन्न किया है। इस जगत् की न कोई अपनी सत्ता है और न इसमें अपना आनन्द है, अतः यह 'सूखा' अर्थात् निस्तत्त्व एवं नीरस है। हे प्रभु, आपकी माया विचित्र है, समझ में नहीं आती है। त्रिगुण रूपी इसकी तीन शाखायें हैं, चार गुण ही इसके पत्ते हैं और पाप-पुण्य ही दो फल हैं। ये इस वृक्ष पर पर्याप्त मात्रा में लगे हुए हैं। इन फलों के विषय-भोग रूप अनेक स्वाद हैं जिनका वर्णन भी नहीं किया जा सकता है। विषय-भोग माया में ही सम्भव है, उसी के स्वरूप हैं। माया अनिवर्चनीय है अतः विषय-भोग भी अनिवर्चनीय है। जिसने इन सबको बनाया है, वह इनमें लिप्त नहीं है। वह इनसे पृथक् एवं निरंजन माया-रहित तत्त्व है। आदि और अनादि नाम से जिसे अभिहित किया जाता है; वह यही निरंजन तत्त्व है, कोई दूसरा नहीं अथवा आदि अनादि तथा इनसे भिन्न—इनमें से किसी भी नाम से इसे अभिहित नहीं किया जा सकता है। नाम-रूप सब मिथ्या है और ब्रह्म वाणी का विषय नहीं है अतः आदि, अनादि शब्द भी उस ब्रह्म की ओर संकेत भर करते हैं। ये उनके तटस्थ लक्षण के घटक शब्द हैं; स्वरूप-लक्षण के नहीं। उसने केवल कहने-सुनने के लिए जगत् की सृष्टि की है अर्थात् जगत् एवं जगत् की सृष्टि करना यह सब कोई पारमार्थिक सत्य नहीं है केवल कथन मात्र है। सृष्टि कुछ हुई ही नहीं; वह तो विवर्त मात्र है। ब्रह्म स्वयं अपनी माया में ही भूले हुए हैं अर्थात् भूलने की लीला कर रहे हैं, उसी में आनन्द ले रहे हैं। यही जगत् है।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार। यहाँ पर जगत् की सृष्टि की ज्ञानपरक एवं भक्तिपरक—दोनों प्रकार की व्याख्यायें हैं। जीव इन दोनों की समन्वित दृष्टि से संसार को देखे, यही उपदेश है। पारसनाथ तिवारी ने 'सूक' के स्थान पर 'सुख' पाठ उचित समझा है। 'सूक' का अर्थ प्रसंगानुकूल उन्हें नहीं प्रतीत हुआ। ऊपर के अर्थ से यह तो स्पष्ट हो गया है कि अर्थ के प्रसंग-विरुद्ध होने का तर्क तो ठीक नहीं है। 'सुख' पाठ से भी एक और अर्थ ध्वनित होता है। यह जगत् ईश्वर की आनन्दाभिव्यक्ति है। अतः इसका 'हेतु' और 'स्वरूप' दोनों ही 'सुख' रूप अर्थात् आनन्दरूप हैं। इस प्रकार 'सूक', 'सुख' दोनों पाठों को एक साथ ही सोचने पर

विरोधाभास का सुन्दर चमत्कार व्यंजित होता है और 'समुझि............माया' का अर्थ अधिक गहराई से हृदय में बैठकर अनुभूत होने लगता है। भक्त के लिए जगत् आनन्दरूप तथा ज्ञानी के लिए विवर्तरूप है। पर ज्ञानी-भक्त के लिए इन दोनों का अपूर्व मिलन है।

जिनि नटवै नटसरी साजी, जो खेलै सो दीसै बाजी।
मो बपरा थैं जोगति ढीठी, सिव बिरंचि नारद नहीं दीठी ॥
आदि अंति जे लीन भये हैं, सहजैं जांनि संतोखि रहे हैं ॥
सहजैं रांम नांम ल्यौ लाई, रांम नांम कहि भगति दिढाई ॥
रांम नांम जाका मन मांनां, तिन तौ निज सरूप पहिचांनां ॥
निज सरूप निरंजनां, निराकार अपरंपार अपार।
रांम नांम ल्यौ लाइसि जियरे, जिनि भलै बिस्तार ॥२-३॥

जिस नट ने अर्थात् ईश्वर ने यह संसाररूपी नाट्यशाला एवं जीवनरूपी नाटक रचे हैं; वही इसे खेल की बाजी के रूप में देखता है। मुझ बेचारे अज्ञानी पर तो उसने योग की पट्टी बाँध दी है, अतः मुझे नारद ब्रह्मा आदि की भक्ति और जगत् को ईश्वर की लीला के रूप में देखने की दृष्टि नहीं मिली है। वे तो सम्पूर्ण भूतों के आदि एवं अन्त रूप भगवान् में लीन रहते हैं तथा भगवान् के सहज स्वरूप का ज्ञान करके उसमें सन्तोष का अनुभव करते हैं। वे सहज में ही राम नाम में अपना ध्यान लगा लेते हैं और निरन्तर राम के नाम-स्मरण से अपनी भक्ति को दृढ़ करते रहते हैं। जिनका मन राम-नाम में तन्मय हो जाता है, उन्हें अपने सहज रूप का साक्षात्कार हो जाता है। कबीर कहते हैं कि भगवान् का स्वरूप तो निरंजन माया रहित है। वह निराकार, अज्ञेय और असीम है। अतः हे जीव, तुम राम-नाम में अपनी लौ लगाओ और इस जगत् के पसारे में भ्रमित मत होओ।

करि बिसतार जग धंधै लाया, अंध काया थैं पुरिष उपाया ॥
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा, ताकूं तैसा कीन्ह उपावा ॥
तेतौ माया मोह भुलांनां, खसम रांम सो किनहूं न जांनां ॥
जिनि जांण्यां ते निरमल अंगा, नहीं जांण्यां ते भये भुअंगा ॥
ता मुखि बिष आवै बिष, जाई, ते बिष ही बिष में रहा समाई ॥
माता जगत भूत सुधि नांहीं, भ्रंमि भूले नर आवैं जाहीं ॥
जानि बूझि चेते नहीं अन्धा, करम जठर करम के फंधा ॥
करम का बाध्या जीयरा, अहनिसि लागै जाइ।
मनसा, देही पाइ करि हरि बिसरैं तौ फिर पीछैं पछिताइ ॥२-४॥

भगवान् ने यह माया का पसारा रचकर जगत् को कर्म-जाल में फँसा दिया है। ज्ञान-हीन जड़ शरीर से इस चेतन पुरुष अर्थात् जीव की उत्पत्ति की है। इन जीवों में जिनकी जैसी वासना है उनको वैसी ही चीजें रुचिकर हैं। उनके लिए भगवान् ने वैसे ही साधन जुटा दिये हैं। ये जीवात्मयें तो माया-मोह में भूली हुई हैं। अपने राम जैसे पति को इन जीवात्माओं में से किसी ने नहीं पहचाना है, उससे प्रेम नहीं किया है। जिन जीवों में भगवान् का प्रेम जागा है उनका अन्तःकरण पूर्णतः निर्मल हो गया है। पर जो भगवान् को अपने एकमात्र पति रूप में नहीं देख सकी हैं वे तो विषय-वासनाओं की भुजंग हो गई हैं। उनके मुख से तो निरन्तर वासना का विष ही निकलता है और जो कुछ उनके मुख में जाता है वह भी विष ही बन जाता है। अर्थात् उनकी आकांक्षाएँ वासना से विषैली है और उनके सम्पूर्ण भोग और कार्य वासना के विषय में परिणत होते हैं। यह सारा जगत् वासना के विषय से उन्मत्त है। इन प्राणियों को अपना होश नहीं है। मनुष्य भ्रम से अपने स्वरूप को भूला हुआ आवागमन कर रहा है। ऐसा ही अन्धा प्राणी जानबूझ कर अज्ञान में पड़ा हुआ है। इसी से वह कर्म की जठराग्नि में जलता है तथा कर्म के फन्दे में फँसा हुआ है। कर्म के बन्धनों से बँधा हुआ यह जीव रात-दिन आवागमन के चक्कर में घूमता है। अपनी अभोग्नित मनुष्य देह को प्राप्त करके जो भगवान् को भूल जाता है वह अन्त में पछताता है।

टिप्पणी—'भृजंग' शब्द का प्रयोग अर्थगर्भित है। यह 'विषयी' का परम्परागत गृहीत प्रतीक है। फिर इसमें सांगरूपक का निर्वाह भी है।

तौ करि त्राहि चेति जा चन्धा, तजि परिकीरति भजि चरन गोब्यंदा॥
उदर कूप तजौ ग्रभ बासा, रे जीव रांम नांम अभ्यासा॥
जगि जीवन जैसें लहरि तरंगा, खिन सुख कूं भूलसि बहु संगा॥
भगति कौ हीन जीवन कछु नांहीं, उतपति परलै बहुरि समाहीं॥
भगति हीन अस जीवनां, जन्म मरन बहु काल॥
आश्रय अनेक करसि रे जियरा रांम बिना कोई न करै प्रतिपाल॥२-५॥

रे चन्दे, कर्म बन्धनों से छूटने के लिए भगवान् के समक्ष 'त्राहि-त्राहि' करते हुए चेत जाओ। दूसरों का गुणगान छोड़कर भगवान् के चरणों का ध्यान करो। उदर-रूपी कुएँ में, गर्भ में, जो तुम्हें बार-बार आना पड़ता है, उससे मुक्त होने की चेष्टा करो और भगवान् के स्मरण का अभ्यास करो। यह संसार का जीवन तो केवल जल की उस तरंग के समान है जो उठती है और दूसरे किनारे पर चली जाती है। अर्थात् जीवन जन्म के किनारे से प्रारम्भ होकर मृत्यु के किनारे तक पहुँच जाता है। इसके क्षणिक सुख के लिए तुम बहुत-सी साधु-संगति की उपेक्षा क्यों करते हो? भक्ति-हीन व्यक्ति का वास्तव में कोई जीवन ही नहीं है। वह तो उत्पन्न होकर नष्ट ही होता है, यही उसके जीवन का क्रम है। भक्तिहीन का ऐसा ही जीवन है कि वह अनेक

बार जन्म लेता है और मरता है। रे जीव, तुम अनेक आश्रयों में वास करो अथवा अनेक योनियों के पड़ाव डालो, पर अन्त में भगवान् की भक्ति से बिना तुम्हारी कोई भी रक्षा नहीं करेगा।

टिप्पणी—चन्ध प्रकाश की तीक्ष्णता सहन न कर सकने के कारण अस्पष्ट दृष्टि वाला होता है। इससे ज्ञान और भक्ति के प्रकाश न सह सकने वाला मोहान्ध व्यंजित है।

सोई उपाव करि यहु दुख जाई, ए सब परिहरि विषै सगाई॥
माया मोह जरै जग आगी, ता संगि जरसि कवन रस लागी॥
त्राहि त्राहि करि हरी पुकारा, साध संगति मिलि करहु बिचारा॥
रे रे जीवन नहीं विश्रांमां, सब दुख खंडन रांम को नांमां॥
रांम नांम संसार मैं सारा, रांम नांम भौ तारन हारा॥
सुम्रित बेद सबै सुनै, नहीं आवै कृत काज।
नहीं जैसें कुंडिल बनित मुख, मुख सोभित बिन राज॥ २-६॥

रे जीव, इन सब विषयों से अपना सम्बन्ध छोड़कर उसके उपाय में लगो जिससे तुम्हारा यह सांसारिक दुःख समाप्त हो सके। यह सारा संसार तो माया-मोह की आग में जल रहा है। उसके साथ तुम किस रस में डूबकर किस लोभ अथवा आकर्षण से जलना चाहते हो। 'त्राहि-त्राहि' करके भगवान् को पुकारो तथा साधुओं की संगति में बैठकर उस परम-तत्त्व का चिन्तन करो। रे जीव, तुम्हें कहीं अन्यत्र सुख-शान्ति नहीं मिलेगी। भगवान् का नाम ही सम्पूर्ण दुःख को मेटने वाला है। राम-नाम ही संसार में सार वस्तु है और यही भवसागर से पार करने का साधन है।

टिप्पणी—मानवीकरण।

अब गहि रांम नांम अबिनासी, हरि तजि जिनि कतहूं कै जासी॥
जहां जाइ तहां तहां पतंगा, अब जिनि जरसि समझि विष संगा॥
चोखा रांम नांम मनि लीन्हां भ्रिंगी कीट भ्यंन नहीं कीन्हां॥
भौसागर अति बार न पारा, ता तिरबे का करहु बिचारा॥
मनि भावैं अति लहरि बिकारा, नहीं गमि सूझै वार न पारा॥
भौसागर अथाह जल, तामैं बौहित रांम अधार।
कहै कबीर हम हरि सरन, तब गोपद खुर बिस्तार॥ २-७॥

लोग वेद, स्मृति आदि सभी शास्त्र सुनते हैं पर भगवान् राम के नाम-स्मरण के अभाव में वह उसी प्रकार उपयोगी नहीं हैं जैसे कुण्डल-सहित भी नारी का मुख

सौभाग्य-चिह्न के अभाव में सुशोभित नहीं होता है । अतः हे जीव, तुम अविनाशी भगवान् राम का मान-स्मरण करो; हरि का आश्रय मत छोड़ो । उसे छोड़कर कहाँ जाओगे ? संसार में जहाँ-जहाँ तुम जाओगे वहाँ-वहाँ पर तुमको वासनाओं का पतंगा बनकर जलना पड़ेगा । तुम विषयों की आसक्ति को विष समझकर उसमें मत जलो। जो राम-नाम रूपी श्रेष्ठ मणि धारण कर लेते हैं, उनको भगवान् भृंगकीट न्याय से अपने आपसे भिन्न नहीं करते हैं । अर्थात् जैसे कीट भृंग के द्वारा भृंग ही बना लिया जाता है, वैसे ही भक्त को भी भगवान् अपने ही समान कर लेते हैं । इस भवसागर की कोई सीमा नहीं है । इससे पार होने का कोई उपाय सोचना चाहिए । मन में विकारों की लहर अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होती है अतः उसे भव से पार होने का उपाय भी नहीं सूझता है । इस भवसागर में विषयों का अथाह जल है । इसी से राम नाम रूपी नौका का आश्रय लो । कबीर कहते हैं कि हमने तो भगवान् की शरण ले ली है; इससे हमें तो यह भव का विस्तार केवल गोपद के समान ही प्रतीत होता है ।

टिप्पणी—सांगरूपक अलंकार ।

बड़ी अष्टपदी रमैणी (३)

एक विनांनी रच्या बिनांन, सब अयांन जो आपै जांन ॥
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खानि बिस्तार उपाया ॥
पंच तत ले कीन्ह बंधानं, पाप पुंनि मांन अभिमांनं ॥
अहंकार कीन्हें माया मोहू, संपति बिपति दीन्हीं सब काहू ॥
भले रे पोच अकुल कुलवंता, गुणी निरगुणीं धनं नीधनवंता ॥
भूख पियास अनहित कीन्हां, हेत मोर तोर करि लीन्हां ॥
पंच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे करम जो आहि अबंधू ॥
अवर जीव जंत जे आहीं, संकुट सोच बियापै ताहीं ॥
निंद्या अस्तुति मांन अभिमांना, इनि झूठै जीव हत्या गियांना ॥
बहु बिधि करि संसार भुलावा, झूठै दोजगिसाच लुकावा ॥
माया मोह धन जोबना, इनि बंधे सब लोइ ।
झूठ झूठ बियापिया कबीर, अलख न लखई कोइ ॥ ३-१ ॥

एक विवेकी एवं विज्ञानघन भगवान् ने यह विविधतापूर्ण तथा विज्ञानमय जगत् रचा है । जो जीव केवल अपने आप को ही जानता है, सम्पूर्ण विश्व एवं उसके रचयिता के चैतन्य का जिसे ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी है । भगवान् ने सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से यह सृष्टि रची है और इसका चारों ओर विस्तार कर दिया

है अथवा इस सृष्टि का अण्डज आदि चार विभागों में विस्तार किया है। पाँच तत्वों से इसको बाँध दिया। पाप-पुण्य, मान-अभिमान, अहंकार, माया-मोह आदि सभी इन पाँचों तत्त्वों तथा उनकी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं। भगवान् ने सबको कर्मानुसार सम्पत्ति और विपत्ति भी प्रदान कर दी। भले-बुरे, कुलीन-अकुलीन, गुणी-अगुणी धनी-निर्धन, भूख-प्यास, हित-अहित, स्नेह के आधार पर मेरा-तेरा आदि के जोड़ों की भगवान् ने सृष्टि की है इन्द्रियों के पाँचों स्वादों को बन्धन का हेतु बनाया गया और उस बन्धन में शाश्वत बन्धन-रहित जीव ही बँध गया। जितने भी निम्न जीव हैं उन सबको संकट और चिन्ता व्याप्त कर लेते हैं। निन्दा-स्तुति, मान, अहंकार—ये सब यद्यपि झूठे हैं पर इन्होंने जीव के ज्ञान-स्वरूप को नष्ट कर दिया हैं; अर्थात् उसे तिरोहित कर लिया है। यह जीव संसार के अनेक प्रकार के माया के प्रपंचों में अपने को भूल गया है। ये सांसारिक बन्धन है तो झूठे ही; पर इन्होंने सत्य-स्वरूप को छिपा लिया है। माया-मोह और धन-यौवन ने सब लोगों को बाँध रखा है। मिथ्या ही मिथ्या ने जीव को व्याप्त कर रखा है। वह अलक्ष्य भगवान् के दर्शन नहीं कर पाता है।

टिप्पणी—'हंस-देह' के 'धैर्य, शील, विचार, दया और सत्य' से क्रमशः आकाशादि पाँच तत्त्व उत्पन्न हुए। ये बन्धन के हेतु बन गये। जीव में इनसे अहंकार जाग गया। कबीर-पंथ में ब्रह्म सच्चिदानंद तक को बन्धन में माना गया है। इसी सिद्धान्त का ऊपर संकेत है।

झूठनि झूठ साच करि जांनां, झूठनि मैं सब साच लुकानां ॥
धंध बंध कीन्ह बहुतेरा, क्रम बिर्बाजित रहै न मेरा ॥
षट दरसन आश्रम षट कीन्हां, षट रस (खाटि) राम काम रस लीन्हां ॥
चारि बेद छह सास्त्र बखानैं, विद्या अनंत कथैं को जांनैं ॥
तप तीरथ कीन्हें ब्रत पूजा, धरम नेम दान पुंन्य दूजा ॥
और अगम कीन्हैं ब्यौहारा, नहीं गमि सूझै वार न पारा ॥
लीला करि करि भेख फिरावा, ओट बहुत कछू कहत न आवा ॥
गहन ब्यंद कछू नहीं सूझै, आपन गोप भयौ आगम बूझै ॥
भलि पर्‌यो जीव अधिक डराई, रजनी अंध कूप ह्वै आई ॥
माया मोह उनवैं भरपूरी, दादुर दांमिनि पवनां पूरी ॥
तरिपै बरिषै अखंड धारा, रैंनि भांमिनि भया अंधियारा ॥
तिहि बिवोग तजि भए अनाथा, परे निकुंज न पावैं पंथा ॥
बेद न आहि कहूँ को मानैं, जानि बूझि मैं भया अयानैं ॥
नट बहु रूप खेलै सब जांनैं, कला केर गुन ठाकुर मांनैं ॥

ओ खेल सब ही घट मांहीं, दूसर कै लेखै कछु नांहीं ॥
जाके गुम सोई पैं जांनै, और को जानैं पार अयानैं ॥
भले रे पोच औसर जब आवा, करि सनमांन पूर जन जावा ॥
दांन पुन्य हम दिहूँ निरासा, कब लग रहूं नटारंभ काछा ॥
फिरत फिरत सब चरन तुरांनें, हरि चरित अगम कथै को जानैं ॥
गण गंध्रप मुनि अंत व पावा, रह्यौ अलख जग धंधे लावा ॥
इहि बाजी सिव बिरंचि भुलांनां, और बपुरा को क्यंचित जानां ॥
त्राहि त्राहि हम कीन्ह पुकारा, राखि राखि साईं इहि बारा ॥
कोटि ब्रह्मंड गहि दीन्ह फिराई, फल कर कीट जनम बहुताई ॥
ईस्वर जोग खरा जब लीन्हां, टर्‌यो ध्यांन पत खंड न कीन्हां ॥
सिध साधिक उनथैं कहु कोई, मन चित अस्थिर कहुँ कैसे होई ॥
लीला अगम कथै को पारा बसहु समींप रहौ निनारा ॥

खग खोज पीछै नहीं, तूं तत अपरंपार ।
बिन परचै का जांनियें, सब झूठे अहंकार ॥ ३-२ ॥

जीव ने पूर्ण मिथ्या को, झूठ के भी झूठ इस जगत् को सत्य समझ लिया है। इस मिथ्या-माया में ही वह सम्पूर्ण सत्य तत्त्व छिप गया है । जीव ने अनेक प्रकार के कर्मों के अपने ऊपर बन्धन डाल रखे हैं । वह परम-तत्त्व तो कर्मों से ऊपर है अतः वह इस कर्म-बन्धन वाले जीव के समीप नहीं है । छह दर्शनों तथा छह आश्रमों की कल्पना की गई है; पर जीव तो छह रसों के स्वाद में तथा काम में रस ही लेता रहा है । उस परमतत्त्व का चारों वेदों तथा छहों शास्त्रों ने बखान किया है । उन्होंने अनन्त विद्यायें कही हैं, पर उस परमतत्त्व को कौन जान पाया है ? जीव ने तप तीर्थ, व्रत, पूजा, धर्म, नियम पुण्य तथा अन्य कितनी ही साधनायें कीं । वह शास्त्र के आचरण करता रहा, पर इनसे उस परम-तत्त्व तक उसकी पहुँच नहीं हो सकी; उसके आदि और अन्त को, उसके रहस्य को जीव नहीं समझ पाया । भगवान् अपनी लीला से जीव को अनेक योनियों में घुमाते हैं । यह लीला माया के गहरे परदे में छिपी हुई है, अतः इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है । बिन्दु तत्त्व अत्यन्त गहन है । वह तनिक भी नहीं दिखाई पड़ता है। यह जीव-तत्त्व स्वयं ही अज्ञान के कारण ओझल है और शास्त्रों से वह उसे जानना चाहता है । अज्ञान में भूला हुआ जीव द्वैत-भावना के कारण अत्यधिक भयभीत है । अज्ञान की रात्रि अन्धे कुएँ की तरह बनती जा रही है । माया-मोह की गहरी घटायें उमड़ आई हैं । संशयों के मेंढकों की टर्र-टर्र, विषयासक्ति की चपला की चमक एवं वासना के अंधड़ की आवाज से जीवन का सम्पूर्ण वातावरण भरा हुआ है । इसमें भय की गर्जना एवं विपत्तियों की अखण्ड

वर्षा हो रही है । मोह की रात्रि अत्यधिक भयावनी हो गई है और चारों तरफ अज्ञान का गहरा अन्धकार छाया हुआ है । भगवान् से वियुक्त होकर, उन्हें छोड़कर, जीव अनाथ हो गया है । उन्हें खोजने के लिए वह संसार के वन-खण्डों में भटक गया है। जीव स्वयं ज्ञान नहीं है और किसी का कहा हुआ वह मानता नहीं है । इस प्रकार वह जान-बूझ कर अज्ञानी हो गया है । नट अनेक रूपों में क्रीड़ा करता है और उसके बारे मे सब कुछ जानता है । कलाकार के गुणों का उनका सहृदय स्वामी ही सम्मान कर पाता है । नट की तरह ही भगवान् भी सम्पूर्ण हृदयों में क्रीड़ा कर रहे हैं; पर इसको कोई दूसरा देख नहीं पाता है । वे ही जानते हैं । जिसके गुण होते हैं वही उनको समझता है, दूसरा अज्ञानी कैसे समझ सकता है ? चाहे भला चाहे बुरा, अवसर आने पर यमराज सबका पूरा सम्मान कर पाते हैं । दान-पुण्य भी हमारी निराशा के ही हेतु हैं । पता नहीं, कब तक यह जीवन की नटविद्या का खेल-खेलना पड़ेगा । जीवन के वन में भटकते-भटकते हमारे पैर टूट गये हैं । हरि का चरित तो अगम्य है, उसका कौन वर्णन कर सकता है ? गण, गन्धर्व, मुनि आदि कोई भी भगवान् की माया का पार नहीं पा सके हैं । हरि ने अलक्ष्य रहकर सबको अपने-अपने धन्धों में लगा रखा है । भगवान् की माया में तो शिव और ब्रह्मा भी भूले हुए हैं और बेचारों को इसका किंचित्मात्र भी ज्ञान नहीं है । सब जीव 'त्राहि'-'त्राहि' करके पुकार रहे हैं, "हे स्वामी, इस बार तो रक्षा करो ।" आपने मुझे करोड़ों ब्रह्माण्डों में घुमा दिया है । अनेक जन्मों तक आपने मुझे फल के जीवों की तरह माया में बन्द रखा है । अब मैंने ईश्वर की उपासना का योग धारण कर लिया है । इनमें मेरा न ध्यान टूटा है और न तप खण्डित हुआ है । सिद्ध और साधकों ने जो कुछ कहीं बताया है; उससे मन स्थिर कैसे हो ? आपकी लीला तो अगम्य है । उसका कोई पूर्णतया वर्णन कर ही नहीं पाता है । कोई नहीं बता पाता है कि आप समीप हैं अथवा दूर ? कबीर अपने को ही सेबोधन करते हुए कहते हैं, हे जोव, भगवान् की खोज में पीछे मत रह, हे भगवन् तुम अपार हो जब तक तुम्हारा साक्षात्कार नहीं हो जाता है, तब तक तुम्हारे बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है । ऐसे ही कहने वाले तो झूठे अहंकारी मात्र हैं ।

अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई ।।
सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा ।।
बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई, सकल अतीत घट रह्यौ समाई ।।
आदि अंति ताहि नहीं मधे, (मथे) कथ्यौ न जाई आहि अकथे ।।
अपरंपार उपजै नहीं बिनसै, जुगति न जांनियैं कथिये कैसैं ।।
जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ ।
कहत सुनत सुख उपजै, अरु परमारथ होइ ।।३-३।।

भगवान् अलक्ष्य एवं मायारहित है । उसको कोई देख नहीं पाता है । अपार एवं निराकार तत्त्व वही है । वह न शून्य है न स्थूल । न उसका कोई रूप है और न रेखा ही । वह न अदृष्ट है और न दृष्ट ही । परम-तत्त्व न छिपा हुआ है और न प्रकट ही । न उसे वर्णमाला ही कहा जा सकता है और न अवर्ण ही । सबसे अतीत होते हुए भी यह तत्त्व घट-घट में समाया हुआ है । उसके आदि, मध्य और अन्त भी नहीं है, क्योंकि वह देश-काल से परे है । या 'आदि' और 'अन्त' इस तत्त्व के स्वरूप को मथित नहीं करते, उसे विकृत नहीं करते । वह तत्त्व वाणी के द्वारा कहा नहीं जा सकता है, वह वाणी से अतीत है; अकथ्य है । वह अपरम्पार है । न उसकी उत्पत्ति होती है और न विनाश ही । वह किसी भी युक्ति या प्रमाण का विषय नहीं है । उसके बारे में कैसे कहा जाय ? वह अभिधा का विषय नहीं है, अतः शब्दों के द्वारा जैसा भी कहो, वैसा ही वह नहीं है । वह तो जैसा है तैसा ही है । वह तो 'यथा तथा' है । पर फिर भी उसके बारे में कहने और सुनने से आनन्द की अनुभूति होती हैं तथा उसके गुण-वर्णन से परमार्थ की सिद्धि भी हो जाती है ।

टिप्पणी—इसमें 'परमतत्त्व' के पारमार्थिक स्वरूप की स्वानुभूति जगाने का प्रयास है ।

जांनसि नहीं कस कथसि अयांनां, हम निरगुन तुम्ह सरगुन जांनां॥
मति करि हींन कवन गुन आंही, लालचि लागि आसिरै रहाई॥
गुंन अरु ग्यांन दोऊ हम हींनां, जैसी कुछ बुधि (बदि) बिचार तस कीन्हां॥
हम मसकीन (मतिहीन) कछू जुगति न आवै, ते तुम्ह दरवौ तौ पूरि जन पावैं॥
तुम्हारे चरन कवल मन राता, गुन निरगुन के तुम्ह निज दाता॥
जहुवां प्रगटि बजावहु जैसा, जस अनभै कथिया तिनि तैसा॥
बाजैं तंत्र नाद धुनि होई, जे बजावै सो औरै कोई॥
बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहूं न पेखा॥
आप आप थैं जानियैं, है पर नाहीं सोइ।
कबीर सुपिनैं केर धंन, ज्यूं, जागत हाथि न होइ॥ ३-४॥

कबीर कहते हैं, "रे अज्ञानी, तुम उस परमतत्त्व के स्वरूप को पहचानते तो हो नहीं, फिर उसका वर्णन कैसे करते हो ? मैंने उसको निर्गुणा समझा है और तुमने उसको सगुण के रूप में ही जाना है कौन सा ठीक है, पता नहीं । तुम तो विवेकहीन हो । तुममें ऐसा कौन-सा गुण है; जिससे तुम उस परमतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को समझ सको । तुम तो माया-मोह और लोभ-लालच के आश्रित हो; उनके बन्धनों में आबद्ध हो । हम भी (साधक एवं ज्ञानी के अहंकार वाले) परमतत्त्व के साक्षात्कार के उपयुक्त विवेक, वैराग्य; गुरु-भक्ति एवं साधुभाव के गुणों तथा बोध से शून्य हैं। फिर भी हमें जैसी सद्गुरु की कृपा से बुद्धि मिली है; अथवा जैसा कुछ विधि-विधान

है, उसी के अनुरूप परमतत्त्व के स्वरूप पर हमने विचार किया है। हम (जीव मात्र ही) अकिंचन हैं मतिहीन हैं। हमें भगवान् के स्वरूप को समझने की युक्ति नहीं आती है ईश्वर के अनुग्रह के लिए प्रार्थना करते हुए कबीर कहते हैं, "हे भगवान्, जब आप इस जन पर अनुग्रह करेंगे तभी वह आपके पूर्ण स्वरूप को जान सकेगा और प्राप्त कर सकेगा। आपके चरणों में ही मन अनुरक्त है। तुम सगुण हो या निर्गुण व्यक्ति को यह ज्ञान देने वाले तुम स्वयं ही हो जहां तुम जिस प्रकार प्रगट होकर अपने आपको जिस रूप में अभिव्यक्त कर देते हो, शब्दों में गुंजित कर देते हो, जिन्होंने अभय तत्त्व का जैसे वर्णन कर दिया है, उनके लिए तुम वैसे ही हो। अर्थात् जिसे तुम सगुण या निर्गुण रूप में जैसे प्रतिभासित होते हो, उसके लिए तुम वैसे ही हो। यह शरीर की तंत्री बजती है। उसमें नाद उत्पन्न होता है। पर इस तंत्री को बजाने वाला दूसरा ही है। बाजीगर या नट नाचता है, संसार उसका तमाशा देखता है। अर्थात् व्यक्ति जगत् में भिन्न-भिन्न वेश धारण करके क्रिया-कलाप करता है और दूसरे लोग उसे देखते हैं। पर नाचने वाले को जो नाचता है और देखने वाले को जो दिखाता है, उसे कोई नहीं देख पाता है। हर व्यक्ति उसे अपनी वासना के अनुसार समझता है, पर वह वास्तव में वैसा नहीं है। कबीर कहते हैं कि व्यक्ति की वासना से समझा हुआ भगवान् का स्वरूप तो स्वप्न के धन के समान है जो जागने पर वैसा ही हाथ नहीं लगता है। वैसे ही वासना के स्वप्न में देखे हुए परमतत्त्व को स्वरूप की वासना से रहित शुद्ध अन्तःकरण की जाग्रत अवस्था में उसी रूप में उपलब्धि नहीं होती है, उसी रूप में उस तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता है।

टिप्पणी—'तत्तथा' के सिद्धान्त के आवरण में भगवान् के 'अवाङ् मनसगोचर' के स्वरूप का प्रतिपादन है।

जिनि यहु सुपिनां फुर करि जांनां, और सबै दुख याद न आंनां॥
ग्यांनहीन चेतै नहीं सुता, मैं जाग्या विषहर भैंभूता॥
पारधी बांन रहै सर सांधै, विषम बांन मारैं विष बांधें॥
काल अहेड़ी संझ सकारा, सावज ससा सकल संसारा॥
दावानल अनि जरैं विकारा, माया मोह रोकि ले जारा॥
पवन सहाइ लोभ अति भइया, जम चरचा चहुँदिसि फिरि गइया॥
जम के चर चहुं दिसि फिरि लागे, हंस पंखेरूवा अब कहां जाइबे॥
केस गहैं कर निस दिन रहई, जब धरि ऐंचे तब धरि चहई॥
कठनि पासि कछू चलै न उपाई, जम दुवारि सीझे जब जाई॥
सोई त्रास सुनि रांम न गावै, मृगत्रिष्णां झूठी दिन धावै॥
मृत काल किनहूँ नहीं देखा, दुख कौं सुख करि सबही लेखा॥

सुख कर मूल न चीन्हसि अभागो, चीन्हैं बिनां रहै दुख लागी ॥
नीब काट रस नींब पियारा, यूं विष कूं अंमृत कहै संसारा ॥
विष अंमृत एकै करि सांनां, जिन्ह्या तिनहीं सुख मांनां ॥
अछित राज दिन दिनहि सिराई, अंमृत परहरि करि विष खाई ॥
जांनि अजांनि जिन्है बिष खावा, परे लहरि पुकारैं धावा ॥
विष के खांयें का गुंन होई, जा बेदन जानैं परि सोई ॥
मुरछि मुरछि जीव जरिहै आसा, कांजी अलप बहु खीर बिनासा ॥
तिल सुख कारनि दुख अस मेरू, चौरासी लख लीया फेरू ॥
अलप सुख दुख आहि अनंता, मब मैंगल भूल्यौ मैमंता ॥
दीपक जोति रहै इक संगा, नैन नेह मांनूं परै पतंगा ॥
सुख बिश्राम किनहूं नहीं पावा, परिहरि साच झूठ दिन धावा ॥
लालच लागे जनम सिरावा, अंति काल दिन आइ तुरावा ॥
जव लग है यहु निज तन सोई, तब लग चेति न देखै कोई ॥
जब निज चलि करि किया पयांनां, भयौ अकाज फिरि पछितांनां ॥

मृगत्रिष्णां दिन दिन ऐसी, अब मोहि कछू न सोहाइ ।
अनेक जतन करिये, टारिये, करम पासि नहीं जाइ ॥ ३-५ ॥

जो अज्ञानी इस संसार-स्वप्न को सत्य समझते हैं, उन्हें इससे उत्पन्न होने वाले दुःखों का ध्यान नहीं रहता है । रे विवेकहीन जीव, तुम जानते नहीं हो । इस अज्ञान की नींद में सो रहे हो । पर मैं तो विषय-भोग-रूप विषधर सर्प से भयभीत होकर जाग गया हूँ । इस संसार में मोह-रूपी व्याध विष में बुझे हुए वासना-रूपी भीषण वाण मार रहा है । मृगया का पूरा रूपक बाँधते हुए कबीर कहते हैं कि शाम-सवेरे अर्थात् निरन्तर ही काल शिकारी बना हुआ है और यह संसार ही मृगया के योग्य पशु एवं खरगोश रूप है । यहाँ विषय-विकारों का दावानल सुलग रहा है । माया और मोह ने इन विकारों को एकत्रित करके प्रज्ज्वलित कर दिया है । अगर विषयों के साथ मोह और आसक्ति का सम्बन्ध न हो तो वे दाहक ही न हों । विषयों के प्रति लोभ, उनके साथ चिपके रहने की भावना, इस अग्नि को और भी अधिक प्रज्ज्वलित करने में हवा का कार्य कर रही है । इस संसार-रूपी वन में सर्वत्र यम के शिकार की चर्चा और भय व्याप गये हैं । इन जीव-रूपी पशुओं को घेरने के लिए दुःख-संताप आदि यम के दूत चारों ओर फिरने लगे हैं । यह जीव-रूपी पशु अब कहाँ निकल कर बच सकता है । मृत्यु रात-दिन जीव के बालों को पकड़े ही रहती है जब उसे अपने पाश में पकड़ना चाहेगी तभी उसे खींच कर पकड़ लेगी । यम के पाश अत्यन्त कठोर है; उसके समक्ष किसी का वश नहीं चलता है । हर प्राण को यम के द्वार पर

पहुँच कर यातना भोगनी पड़ती है। इस प्रकार की महान् यातना की बात सुनकर भी जीव राम का गुणगान नहीं करता है और झूठी मृग-तृष्णा एवं विषयों की ओर भागता रहता है। जीव का मृत्यु की ओर ध्यान नहीं है। वह सांसारिक विषयों को जो मूलतः दुख-रूप हैं, सुख-रूप ही माने हुए हैं। कबीर चेतावनी दे रहे हैं कि 'रे मूर्ख जीव, तुम सम्पूर्ण सुखों के मूल भगवान् राम को तो पहचानते नहीं हो। उनको न पहचान कर राम के प्रति अनुराग न रखकर ही तुम वैषयिक दुःखों में पड़े हुए हो। जैसे नीम के कीड़े को नीम का रस ही प्रिय लगता है वैसे ही विषयी संसार के विषयों के विष को अमृत कहता है। उनको प्राप्त करने के लिए आतुर है। मोहग्रस्त संसार ने अमृत और विष को एक साथ मिला लिया है अर्थात् भगवान् के आनन्द-स्वरूप पर ही विषयों के सुख अध्यस्त हैं। विषयों का सुख भी वास्तव्य में चैतन्य के आनन्द-स्वरूप की ही अनुभूति। पर जीव उसे विषय-जनित मानता है, यही दोनों का एकीकरण है अथवा बाह्याचरण में लिप्त उपासक भक्ति को भी विषयों में लिप्त करके दोनों को एकाकार कर लेता है। वास्तव में जिन विवेकी पुरुषों ने भगवान् के आनन्द-स्वरूप व उसके प्रेम को विषयों से पृथक करके समझ लिया है, वे ही वस्तुतः उस आनन्द का स्वाद ले पाते हैं। यह विषयों का राज्य जगत् दिन-प्रतिदिन क्षीण ही होता है, पर फिर भी जीव ईश्वर-प्रेम के अमृत को छोड़कर स्वभाववश विषयों का विष ही खाता है। जिन जीवों ने चाहे जानकर अथवा अनजाने में ही विषयों का विष खाया है, वे भवसागर की लहरों में पड़े पुकारते रहते हैं। विषयों में अनुरक्त होने में क्या गुण हैं? जो ज्ञान-शून्य हैं, वे ही विषयों में पड़ते हैं। बारम्बार कुम्हला-कुम्हला कर शनैः-शनैः जीव विषयों की आशा में झुलसता रहता है। वासनाओं के क्षार की काँजी यद्यपि जीव के आनन्द-स्वरूप की तुलना में अत्यन्त स्वल्प है, कणमात्र ही हैं, पर जीव के आनन्दरूप क्षीर को फाड़कर दुःख में परिणत करने में पूर्णतः समर्थ है। वासना-जनित दुःखों के कारण जीव अपने आनन्द-स्वरूप को भूल कर अपने आपको दुःखी मानने लगता है। वह तिल मात्र के वैषयिक सुख की मृगतृष्णा में दुःखों के सुमेरु को अपना लेता है और इस प्रकार उसकी चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है। इस संसार में अल्प सुख हैं तथा अनन्त दुःख हैं; पर फिर भी मन-रूपी मस्त हाथी इन विषयों में भूला हुआ है। वासना के दीपक की एक ज्योति जीव के साथ लगी हुई है, उसके नेत्र (इन्द्रियों के लिए उपलक्षण) स्नेह से आकृष्ट होकर विषयों की लौ में पंतगे की तरह गिरकर भस्म होते हैं। जो जीव आत्म-स्वरूप एवं ईश्वर-प्रेम रूप सत्य को छोड़कर विषय-वासना-रूप मिथ्या एवं भ्रांति की ओर दौड़े हैं, उन्हें कभी भी सुख और शान्ति का अनुभव नहीं हो सका है। विषयों के लालच में उन्होंने अपना सारा जीवन ही नष्ट कर दिया। अन्त काल आने पर उन जीवों को यहाँ से भागना पड़ा। जब तक यह जीव इस शरीर की आसक्ति में सोया रहता है तब तक तो कोई इस शरीर एवं विषय-वासनाओं के दुःखात्मक स्वरूप को जागकर देख नहीं पाता है ताकि विषयों की

आसक्ति छोड़कर ईश्वर-प्रेम में रम सके। जब जीव इस शरीर को छोड़कर प्रयाण कर गया है। तब भी ईश्वर-प्रेम से विमुख रहने के कारण उसका अकाज ही हुआ जीवन व्यर्थ हो गया। उसे यह प्रतीत भी होता है, पर फिर भी इसके पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता है। कबीर ईश्वर-प्रेम एवं विरह-भावना की प्रारम्भिक जागृति वाले जीव का प्रतिनिधित्व करते हुए कहते हैं कि विषय-वासनाओं की मृगतृष्णा दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। मुझे अब इस जीवन में कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। मैंने प्रारब्धों के पाश को तोड़ने के लिए अनेक प्रयत्न किए हैं; पर वे पाश ज्ञान और प्रेम से शून्य साधनाओं से टूट नहीं सके हैं।

रे रे मन बुधिवंत भंडारा, आप आप ही करहु बिचारा॥
कवन सयांन कौन बौराई, किहि दुख पाइये किहि दुख खाई॥
कवन हरिष को विषमै जांनां, को अनहित को हित हरि मांनां॥
कवन सार को आहि असारा, को अनहित को आहि पियारा॥
कवन साच कवन है झूठा, कवन करूँ को लागै मीठा॥
किहि जरियै किहि करियै अनंदा, कवन मुकति को गल के फंदा॥
रे रे मन मोहि ब्यौरि कहि, हौं तत पूछौं तोहि।
संसै सूल सबै भई, समझाई कहि मोहि॥ ३-६॥

"रे मन, तुम बुद्धिमान हो, ज्ञान के भण्डार हो। तुम स्वयं अपने आप ही विचार करो। संसार के विषयों में जो अनुरक्त है, और जो विषयों से विमुख होकर ईश्वर से प्रेम करता है; उनमें से कौन सयाना है, और कौन पागल है? कौन-से कर्म दुःख के हेतु हैं और किनसे दुःख की निवृत्ति होती है? किसमें हर्ष है और किसमें विषाद? किसे अहित समझें और किसे हित मानें? कौन वस्तु सार रूप है और कौन निस्सार है? कौन प्रेम-शून्य है तथा कौन प्रिय है? सत्य क्या है और झूठ क्या है? जीवन की कौन सी अनुभूति कड़वी है और कौन सी मधुर? कौन वस्तुतः दुःखों में जल रहा है और कौन मौज कर रहा है? मुक्ति का साधन क्या है और गले का फन्दा क्या है? जीवन के मूल-तत्त्व एवं प्रयोजन के इन प्रश्नों पर तुम स्वयं ही विचार करके एक निष्कर्ष पर पहुंचो। रे मन, मैं तुम से तत्त्व की बात पूछ रहा हूं। संशय मेरे लिए शूल हो गए हैं। तुम मुझे समझाकर ब्यौरेवार बताओ।"

सुंनि हंसा मैं कहूँ बिचारी, त्रिजुग जोनि सबै अंधियारी॥
मनिषा जनम उत्तिम जौ पावा, जांन्यूं रांम तौ सयांन कहावा॥
नहीं चेतै तौ जनम गंमावा, पप्पर्यौ बिहांन तब फिरि पछतावा॥
सुख कर मूल भगति जौ जांनैं, और सबै दुख या विन आंनैं॥

अंमृत केवल रांम पियारा, और सबै विष के भंडारा ॥
हरिख आइ जौ रमियें रांमां, और सबैं बिसमा के कांमां ॥
सार आहि संगति निरवांनां, और सबै असार करि जांनां ॥
अनहित आहि सकल संसारा, हित करि जांनियैं रांम पियारा ॥
साच सोई जे थिरह रहाई, उपजै बिनसे झूठ ह्वै जाई ॥
मीठा सो जो सहजैं पावा, अति अलेस थैं करू कहावा ॥
नां जरिये नां कीजै मैं मेरा, तहां अनंद जहां राम निहोरा ॥
मुकति सो ज आपा पर जांनैं, सो पद कहां जु भरमि भुलानैं ॥
प्रांननांथ जग जीवनां, दुरलभ रांम पियार ।
सुत सरीर धन प्रग्रह कबीर, जीयरे तर्वर पंख बसियार ॥ ३-७ ॥

ऊपर के प्रश्नों के उत्तर देते हुए जीव का अपना ही स्वरूप गुरु (सद्गुरु या पारख गुरु) के रूप में अपने को ही सम्बोधित करता हुआ कहता है—"हे हंस (शुद्ध चैतन्य) सुनो, मैं तुम्हें विचार करके कहता हूं। इस त्रिलोकी में सब योनियां अन्धकारमय हैं। अगर किसी को मिल सके तो मानव जन्म ही इन सब योनियों में उत्तम है। अगर मैं राम को परमतत्त्व समझूं तो बुद्धिमान कहलाऊँगा। अगर जीव इस भ्रम एवं अज्ञान से नहीं जागता है तो अपना जन्म ही खो देता है। जीवन अज्ञान की रात्रि है। कुछ ज्ञान का पूर्वाभास ही उसका विहान है, उषाकाल है। वही उस रात्रि का अन्त है। अतः जब जीवन का अन्त आया तब उसके व्यर्थ ही चले जाने का पश्चात्ताप हुआ। भक्ति को ही जो सम्पूर्ण सुखों का मूल समझने लगता है; वह दुःखों की मूल विषय-वासनाओं को अपने ध्यान में भी नहीं लाता है। राम का प्रिय होना ही केवल अमृत रूप है; बाकी सब विषय-वासना तो विष के भण्डार हैं। राम में रमना ही वास्तव में हर्ष है, शेष तो विवाद के हेतु कार्य ही हैं। निवृत्तिपरायण की संगति ही सार वस्तु है। शेष तो निस्सार वस्तु है। सारा संसार एवं उसके विषय अमङ्गलकारक हैं, राम के प्रेम को अथवा राम के प्रेमी को ही मङ्गल समझना चाहिए। सत्य वही है जो स्थिर रहता है, वही परमतत्त्व है। जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, वह तो मिथ्या है, झूठ है। मधुर वही है जो सहज भाव से प्राप्त हो जाता है। अपने स्वरूप में स्थिति तथा 'सहज' की प्राप्ति ही वास्तव में सहज है, अतः वही मधुर है। जिसके प्राप्त करने में क्लेश भोगने पड़ते हैं, वही कड़वा है। सांसारिक विषय-भोगों के लिए कष्ट झेलने पड़ते हैं। उनकी प्राप्ति का साधन तथा उनकी प्राप्ति दोनों ही कड़वी हैं। जिसमें 'मैं' और 'मेरा' की भावना नहीं जागती है, उसे जलना नहीं पड़ता। अहंकार ममता एवं रागद्वेष ही वस्तुतः ताप के हेतु हैं। जहां राम के निहोरे हैं अर्थात् उन्हें प्रसन्न करने की भावना है, वहां आनन्द है। मुक्ति वही है जिस अवस्था में व्यक्ति अपने स्वरूप की तथा पर स्वरूप को

पहचानता है। उसका विवेक, उसका पारख (परख) जाग जाता है। जो भ्रम में भुलाने वाला है उसे पद की (अवस्था या कविता के पद) संज्ञा कैसे दी जा सकती है। कबीर पंथ में 'ब्रह्मपद' आदि अवस्थाओं को ही परम प्राप्तव्य मान लेने को भ्रम कहा गया है। यहाँ पद से उसी का संकेत है। दुर्लभ रामभक्ति ही प्राणनाथ है, संसार का जीवन है, जीवन की कृतकार्यता है। वही जीवन को स्थिरता प्रदान करने वाला है। पुत्र, शरीर, धन, परिग्रह, अथवा परिजनों के लिए जीना तो केवल पक्षी का वृक्ष पर थोड़ी देर का बसेरा मात्र है, क्षणिक है एवं महान् उद्देश्य से हीन है।

रे रे जीय अपनां दुख न संभारा, जिंहि दुख व्याप्या सब संसारा॥
माया मोह भूले सब लोई, क्यंचित लोभ मांनिक दीयौ खोई॥
मैं मेरी करि बहुत बिगूता, जननीं उदर जनम का सूता॥
बहुतें रूप भेष बहु कीन्हां, जुरा मरन क्रोध तन खींनां॥
उपजै बिनसै जोनि फिराई, सुख कर मूल न पावै चाही॥
दुख संताप कलेस बहु पावै, सो न मिलै जै जरत बुझावैं॥
जिहि हित जीव राखि है भाई, सो अनहित ह्वै जाइ बिलाई॥
मोर तोर करि जरे अपारा, मृग त्रिष्णां झूठी संसारा॥
माया मोह झूठ रह्यौ लागी, का भयौ इहां का ह्वै है आगी॥
कछु कछु चेति देखि जीव अबही, मनिषा जनम न पावै कबही॥
सार आहि जे संग पियारा, जब चेतै तब ही उजियारा॥
त्रिजुग जोनि जे आहि अचेता, मनिषा जनम भयौ चित चेता॥
आतमां मुरछि मुरछि जारि जाई, पिछले दुख कहता न सिराई॥
सोई त्रास जे जांनैं हंसा तौ अजहूं न जीव करै संतोसा॥
भौसागर अति वार न पारा, ता तिरिबे का कहु बिचारा॥
जा जल की आदि अंति नहीं जानियें ताको डर काहे न मानियें॥
को बोहिथ को खेवट आही, जिहि तरिये सो लीजै चाही॥
समझि विचारि जीव जब देख्या, यहु संसार सुपन करि लेख्या॥
भई बुधि कछू ग्यांन निहारा, आप आप ही किया बिचारा॥
आपण मैं जे रह्यौ समाई, नेडै दूरि कथ्यौ नहीं जाई॥
ताके चीन्हें परचौ पावा, भई समझि तासूं मन लावा॥

भाव भगति हित बोहिथा, सतगुर खेवणहार।
अलप उदिक तब जांणिये, जब गोपदखुर बिस्तार॥ ३०८॥

रे जीव, तुमने अपने दुःख की ओर ध्यान नहीं दिया। वासनाओं से जनित इस दुःख ने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है। सब जीव माया-मोह में अपने आनन्द स्वरूप को भूले हुए हैं। विषयों के किंचित् तुच्छ लाभ के लिए जीव ने अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा तथा ईश्वर-प्रेम जैसे माणिक्य को गवाँ दिया है; वह उन्हें भूल गया है। यह मैं' और 'मेरा' की भावना से अत्यधिक उलझन में पड़ गया है। जन्म से अर्थात् शुद्ध चैतन्य (हंस) से पृथक् होने के समय से ही यह जीव माता के गर्भ में सो रहा है; इसने बहुत से रूप; और बहुत से वेष, धारण किये हैं। वृद्धावस्था मृत्यु तथा क्रोध से इसके शरीर क्षीण होते रहे हैं। वह जन्म लेता है, नष्ट होता है, अनेक योनियों में भटकता है; पर आनन्द के मूल स्रोत अपने शुद्ध स्वरूप अथवा ईश्वर-प्रेम की ओर उन्मुख नहीं होता है। इसे अनेक दुःखों व क्लेशों का सामना करना पड़ रहा है; पर अभी उस गुरु से साक्षात्कार नहीं हुआ है अथवा वह ज्ञान और प्रेम नहीं मिल पाया है जो इसकी दुःखों की अग्नि बुझाकर इसे शीतल कर दे। रे भाई, जिन विषयों को मंगल समझकर इस जीव ने उनसे प्रेम किया है, उनके लिए जिया है, वे ही अमंगलमय होकर नष्ट होते रहे हैं। 'अपने' और 'पराये' के रागद्वेष में फँस कर यह अपार संतापों में जलता ही रहा है। यह मृग तृष्णा रूपी झूठे संसार के पीछे भटकता ही रहा है; झूठे माया-मोह में ही फँसा रहा है। यहाँ इस लोक में क्या हुआ और आगे क्या होगा, इसकी इसे बिल्कुल भी चिन्ता नहीं है। रे जीव, अब भी तू कुछ जाग कर देख। तुम्हें यह मानव शरीर फिर कभी नहीं मिलेगा। जीवन का सार इसी में है कि प्रिय राम मेरे साथ हैं, यह अनुभूति सजग बनी रहे। उस प्रिय के साथ रहने के लिए जब व्यक्ति चेत जाय, जब उसमे आकांक्षा जाग जाए; तभी ज्ञान और प्रेम का प्रकाश हो जायेगा। तीनों लोकों की विभिन्न योनियों का जीव अज्ञान में अचेत पड़ा हुआ ही घूमता रहा है। उसे मानव योनि में ही कुछ बोध हुआ। आत्मा शनैः-शनैः बेहोश रहकर विषयों की अग्नि मे जलती रही है यह जीव अनेक जन्मों के पिछले दुःखों का वर्णन नहीं कर पाता है अगर जीव उन्हीं दुःखों के प्रति सजग हो जाय तो वह अपनी वर्तमान परिस्थिति मे सन्तोष न करे और उस मूलतत्त्व को प्राप्त करने के लिए आतुर हो जाय। रे जीव, यह भवसागर असीम है। इससे पार होने का उपाय सोचो। जिस भवजल का आदि और अन्त ज्ञात नहीं है; उससे भयभीत क्यों नहीं होना चाहिए। इसके लिए कौन-सा पोत है और कौन-सा खेवट है, इसका विचार करके उन्ही का आश्रम लेना चाहिए। इस जीव ने जब समझकर तथा विचार करके देखा तब उसे यह संसार स्वप्नवत ही प्रतीत हुआ कुछ सद्बुद्धि तथा कुछ बोध जागा उसने अपने आप ही इस पर विचार किया, उसे प्रतिभासित हुआ कि जो तत्त्व उसमें व्याप्त है अथवा अपने आप ही व्याप्त है; वही वस्तुतः तत्त्व है दूसरा कुछ है नहीं उस तत्त्व को न समीप कहा कहा जा सकता है और न दूर ही। उस तत्त्व के पहचानने से ही आत्म-बोध जागा, विवेक हो गया और उसी मे मन लग गया उस समय जीव को ज्ञान हुआ कि इस भवसागर के लिए भाव-भक्ति एवं प्रेम ही नौका है तथा सद्गुरु ही

इस नौका के खेने वाले हैं। इस आस्था के दृढ़ होने पर जब यह भवजल ईश्वर-कृपा से गोपद-खुर के समान बन जाय तब इसको अल्प ही समझो, तब यह दुर्लंघ्य नहीं रहता है।

दुपदी रमैणी (५)

भया दयाल बिषहर जरि जागा, गहगहान प्रेम बहु लागा ॥
भया अनंद जीव भयै उल्हासा, मिले रांम मानि पूगी आसा ॥
मास असाढ़ रवि धरनि जरावै, जरत जरत जल आइ बुझावै ॥
रुति सुभाइ जिमीं सब जागी, अंमृत धार होइ झर लागी ॥
जिमीं माहि उठी हरियाई, बिरहनि पीव मिले जन जाई ॥
मन कांमनि कै भये उछाहा, कारनि कौंन बिसारी नाहा ॥
खेल तुम्हारा मरन भया मोरा, चौरासी लख कीन्हां फेरा ॥
सेवग सुत जे होइ अनिआई, गुन औगुन सब तुम्हि समाई ॥
अपने औगुन कहुं न पारा, इहै अभाग जे तुम्ह न संभारा ॥
दरबो नहीं कांइ तुम्ह नाहा, तुम्ह बिछुरे मैं बहुं दुख चाहा ॥
मेघ न बरिखै जांहि उदासा, तऊ न सारंग सागर आसा ॥
जलहर भर्‌यौ ताहि नहीं भावै, कै मरि जाइ कै उहै पिरावै ॥
मिलहु रांम मनि पुरवहु आसा, तुम्ह बिछुर्‌यां मैं सकल निरासा ॥
मैं रंक निरांसो जब निध्य पाई, रांम नांम जीव जाग्या जाई ॥
नलिनी कै ज्यूं नीर अधारा, खिन बिछुर्‌यां थैं रवि प्रजारा ॥
रांम बिनां जीव बहुत दुख पावै, मन पतंग जगि अधिक जरावै ॥
माघ मास रुति कवलि तुसारा, भयौ बसंत तब बाग संभारा ॥
अपनै रंगि सब कोइ राता, मधुकर बास लेहि मैमंता ॥
बन (बन) कोकिला नाद गहगहांना, रुति बसंत सब कै मनि मानां ॥
बिरहन्य रजनी जुग प्रति भइया, बिन पीव मिलें कलप टलि गइया ॥
आतमां चेति समझि जीव जाई, ताजो झूठ रांम निधि पाई ॥
भया दयाल निति बाजहिं बाजा, सहजैं रांम नांम मन राजा ॥
जरत जरत जल पाइया, सुख सागर कर मूल ।
गुर प्रसादि कबीर कहि, भागी संसै सूल ॥ ४-१ ॥

भगवान् जीव पर दयालु हो गये; इससे विषय-रूपी सर्प भस्म हो गया और जीव जाग गया। अब जीव अत्यधिक प्रेम में अवगाहन करने लगा है। आनन्द हो गया है और जीव उल्लसित हो गये हैं। उन्हें भगवान् राम की प्राप्ति हो गई।

उससे उनके मन की सम्पूर्ण आशाएँ पूर्ण हो गईं। वैषयिक सुख की आकांक्षा वाले अथवा ज्ञान-विरह के आषाढ़ मास में वासना की उष्णता अथवा मिलन की तीव्र आकांक्षा के सूर्य ने जीव के चैतन्य रूपी धारा को अत्यधिक संतृप्त कर दिया था। उसी में जलते-जलते भगवान की कृपा एवं प्रेम के जल ने आकर उस ज्वाला को बुझा दिया। प्रेम की सुन्दर वर्षा-ऋतु में सम्पूर्ण पृथ्वी अथवा जीवात्मा प्रेमोल्लास में जाग उठी तथा प्रेमामृत की धारा झड़ी लगाकर बरसने लगी। इससे जीव के अन्तःकरण की धारा हरी-भरी हो गई; उसमें उल्लास के अंकुर फूटने लगे विरहिणी जीवात्मा को मानो उसके प्रियतम भगवान राम मिल ही गये हैं। मन ही मन उत्सव-सा होने लगा। जीवात्मा परमात्मा से कहने लगी—'हे प्रियतम, आप किस कारण मुझे भूल गये हैं? यह सृष्टि-खेल तो तुम्हारा है; पर इस खेल में मैं तो मर ली। मुझे तो चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ा। सेवक और पुत्र से यदि कुछ अनुचित भी बन पड़ता है तो वह भी स्वामी का ही है। उसके गुण-अवगुण तो सब आप में ही समाहित हैं; वे तो आपके ही हैं। उनका यश-अपयश भी आपका ही है। हे भगवान अपने अवगुणों का मैं वर्णन नहीं कर पा रहा हूँ। मेरा सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है कि आपने मुझे नहीं संभाला। हे स्वामी, आप मुझ पर द्रवित क्यों नहीं होते हैं? आपसे बिछुड़ कर मैं अनन्त दुःख भोगता रहा हूँ। आपके प्रेम के बादल मुझ पर बरस नहीं रहे हैं। वे उदासीन रहकर चले जाते हैं। पर फिर भी मेरा चित्त-रूपी चातक अपनी प्यास बुझाने के लिए संसार के वैषयिक समुद्र के जल से आशा नहीं करता है; उसका प्रश्रय नहीं लेता है। सांसारिक सुखों से भरा हुआ यह संसार-समुद्र उसे अच्छा नहीं लगता है। वह चित्तरूपी चातक या तो प्यास में मर जायेगा या आप उसे प्रेम की स्वाँति बूँद पिलावें, हे प्रियतम राम, आप मिलें और मेरी मन की आशाओं को पूर्ण करें। तुमसे बिछुड़ा रहकर मैं अत्यन्त निराशाग्रस्त हूँ। मुझ निराश रंक को जब प्रेम की अमूल्य निधि प्राप्त हो गई तब मेरे अन्तःकरण में रामनाम का सतत् स्मरण जाग गया। कमलिनी का प्राणाधार जल ही है। अगर वह क्षण भर भी पानी से विलग हो जाती है तो सूर्य का ताप उसे जला देता है। वैसे ही जीवात्मा अपने प्राणाधार राम के प्रेम से वंचित होकर अत्यधिक दुःख का अनुभव करती है। वासनाओं में उद्दीप्त मन रूपी सूर्य अधिक तीक्ष्ण होकर आत्मा रूपी कमलिनी को जलाने लगता है। मोह-रूपी माघ महीने की जड़ता एवं ईश्वर-प्रेम की विस्मृतिरूप शीतलता ने जीवात्मारूपी कमलिनी पर तुषारापात किया पर प्रेम की पुनः जागृति की उष्णता ने जीवन-वन को फिर सँभाल लिया। अन्तःकरण की प्रत्येक भावना अपने-अपने अनुरूप प्रेम में अनुरक्त हो गई। मनरूपी मधुकर प्रेम की गन्ध में मस्त हो गया। चित्तवृत्ति रूपी कोयल मधुर संगीत में—मधुर नाद में अवगाहन करने लगी। इस प्रकार प्रेम की यह बसन्त ऋतु शरीर की सम्पूर्ण वृत्तियों के मन में समा गई, उसने सबके हृदयों को उल्लसित कर दिया। जीवात्मा-रूपी

विरहिणी को एक-एक रात युगों के समान हो गई थी । उसको अपने प्रियतम से मिले हुए अनेक कल्प बीत गये थे । अब आत्मा को बोध हुआ है; जीव के रहस्य समझ में आया है । वह अब इस जगत के खेल को मिथ्या समझने लगी है और उसे भगवान राम के प्रेम की अमूल्य निधि प्राप्त हो गई है । अब भगवान उस पर दयालु हो गये हैं अब उसके अन्तःकरण में निरन्तर प्रेम-संगीत चल रहा है; उसे अनहदनाद सुनाई पड़ रहा है । सहज-स्वरूप राम सहज ही में उसके हृदय के राजा हो गए हैं । विषय-वासनाओं एवं विरह में जलते-जलते जीवात्मा को प्रेमजल के सम्पूर्ण सुखों के सागर के मूल-प्रेमजल की प्राप्ति हो गई है । कबीर कहते हैं कि गुरु की कृपा से एवं मोहजनित सम्पूर्ण संशयों के शूल नष्ट हो गये हैं ।

टिप्पणी—सांगरूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार ।

राम नाम निज पाया सारा, अबिरथा झूठ सकल संसारा ॥
हरि उतंग मैं जाति पतंगा, जंबकु केहरि कै ज्यूं संगा ॥
क्यंचिति ह्वै सपनैं निधि पाई, नहीं सो ता कौं धरौ लुकाई ॥
हिरदैं न समाइ जानियै नहि पारा, लागै लोभ न ओर हकारा ॥
सुमिरत हूं अपनैं उनमानां, क्यंचित जोग रांम मैं जानां ॥
मुखां साध का जानियै असाधा, क्यंचित जोग रांम मैं लाधा ॥
कुबजि होइ अंमृत फल बंछयां, पहुँचा तन मन पूगी इंछयां ॥
नियर थैं दूरि-दूरि थैं नियरा, रामचरित न जानियैं जियरा ॥
सीत थैं अगनि फुनि होई, रबि थैं ससि ससि थैं रबि सोई ॥
सीत थैं अगिन परजरई, जल थैं निधि निधि थैं थल करई ॥
बज थैं तिण खिण भीतर होई, तिण थैं कुलिस करैं फूनि सोई ॥
गिरबर छार-छार गिरि होई, अविगति गति जानैं नहीं कोई ॥ १-२॥

कबीर कहते हैं कि मुझे अपने मूलभूत सारतत्त्व रामनाम की प्राप्ति हो गई है । यह भी ज्ञान हो गया है कि यह सारा संसार मिथ्या है और व्यर्थ है । भगवान् उच्च हैं और मैं निम्न गति वाला हूं । मरा और भगवान् का साथ वैसे ही है जैसे गीदड़ और सिंह का साथ है । आत्म-बोध-रूप सिंह वासना-युक्त मन-रूप गीदड़ को खा जाता है और अकेला ही रह जाता है । वैसे ही अकेले भगवान् रह जाते हैं । अकिंचन को जैसे स्वप्न में निधि मिल जाती है; वैसे ही मुझे राम-नाम की निधि मिल गई है । स्वप्न की निधि अपार होती है; यही बात हरि भक्ति के लिए भी है । इस अपार शोभा को में छुपाकर नहीं रखूँगा । भक्ति का आनन्द मरे हृदय में समाता ही नहीं है और इसकी कोई सीमा ही नहीं है । इस आनन्द का मुझे ऐसा प्रलोभन हो गया है कि मैं इसमें भागी होने के लिए किसी दूसरे को पुकारता भी नहीं हूं । मैं अपने हिसाब से राम का स्मरण करता रहता हूं । इससे मुझे राम के

योग का यत्किचित् ज्ञान हो गया है । मैं मुख से राम-नाम को साधता हूँ, पर ध्य भगवान् को साधना, उसे प्राप्त करना मैं क्या जानूँ ? मुझ तो राम के प्रेम-की किंचित उपलब्धि हुई है । मैं कुबड़ा हूँ और ऊँचे अमृत फल की इच्छा ता हूँ । पर फिर भी जब मैं उस फल तक पहुंचा तब ही मरे मन की इच्छा पूर्ण । वह परम्-तत्त्व अपना ही स्वरूप है अतः अत्यन्त समीप होते हुए भी अज्ञान के ण अपने से भिन्न एवं दूर प्रतीत होता है । जीव माया-ग्रस्त है और भगवान् माया रे । इस प्रकार भगवान् जीव से दूर है पर अपने माया रहित स्वरूप के ज्ञान की स्था में यह परमतत्त्व भी दूर नहीं, समीप ही लगता है । राम का चरित अगम्य शब्दातीत है । इसकी माया अनिर्वचनीय है । यह शीत से अग्नि, सूर्य से चन्द्रमा चन्द्रमा से सूर्य कर देता है । शीत से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है । जल की बूंद ही जलनिधि में परिणत हो जाती है और वही फिर पृथ्वी के रूप में हो जाती है । एक क्षण में ही यह तत्त्व बज्र से तिनका बन जाता है और फिर ही क्षण यह पुनः कठोर वज्र में परिणत हो जाता है । वह पहाड़ से रेणु और से पहाड़ बन जाता है । अविगत की माया को कोई जान नहीं सका है ।

जिहि दुरमति डोल्यौ संसारा, परे असूझि वार नहीं पारा ।।
बिख अमृत एकै करि लीन्हां, जिनि चीन्हां सुख तिहकूं हरि दीन्हां ।।
सुख दुख जिनि चीन्हां नहीं जांनां, ग्रासे काल सोग रुति मांनां ।।
होइ पतंग दीपक मैं परई, झूठें (जूठें) स्वादि लागि जीव जरई ।।
कर गहि दीपक परहि जु कूपा, यहु अचिरज हम देखि अनूपा ।।
ग्यांनहीन ओछी मति बाधा, मुखां साध करतूति असाधा ।।
दरसन समि कछू साध न होई, गुरु समांन पुजिये सिध सोई ।।
भेष कहा जे बुधि बिसूधा, बिन परचै जग बूड़गि बूड़ा ।।
जदपि रबि कहिये सुर आही, झूठे रबि लीन्हा सुर चाही ।।
कबहूं हुतासन होइ जरावैं, कबहूँ अखंड धार बरिषावैं ।।
कबहूं सीत काल करि राखा, तिहूं प्रकार बहुत दुख देखा ।।
ताकूं सेवि मूढ़ सुख पावै, दौरै लाभ कूं मूल गवावैं ।।
अछित राज दिने दिन होई, दिवस सिराइ जनम गये खोई ।।
मृत काल किनहूं नहीं देखा, माया मोह धन अगम अलेखा ।।
झूठे झूठ रह्यौ उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई ।।
साचै नियरैं झूठै दूरी, बिष कूं कहै स[illegible]वन मूरी ।। १-२ ।।

जिसे कुबुद्धि जाग गई है, वह इस संसार में [illegible]ना ही रहा । वह ऐसे अज्ञान गया जिसका कोई [illegible]

अमृत को एक ही समझ लिया; उनमें कुछ भेद नहीं कर पाया । जिन लोगों ने वि[ष] और अमृत को अलग-अलग पहचान लिया, उनको भगवान् ने आनन्द प्रदान किया। जो ईश्वर-प्रेम के सुख तथा विषयों से दुःख में अन्तर नहीं समझ पाये, वे काल से ग्रसित रहे तथा उन्होंने शोक एवं रोग का ही वरण किया । ऐसे व्यक्ति विषयों के लिए झींगुर बनकर वासना के दीपक में पड़ते हैं । जगत् ने मिथ्या स्वादों के लिए जीव जलता है । व्यक्ति अपने हाथ में ज्ञान का दीपक लेकर उसके प्रकाश में ही जान-बूझकर विषयों के कुएँ में गिरता है, यह हमने अद्भुत आश्चर्य देखा है। ऐसे ज्ञानहीन व्यक्ति ओछी बुद्धि से आबद्ध हो जाते हैं । वे चेहरे से साधु प्रतीत होते हैं पर कर्मों से महान् असाधु हैं । अथवा मुख से परमज्ञान प्राप्त करने की सा[ध] (इच्छा) व्यक्त करते हैं; पर कार्यों में उसे परिणत नहीं करते । तत्त्व-दर्शन के [अतिरिक्त] अन्य कुछ भी प्राप्तव्य नहीं हो सकता है । जिसकी गुरु के समान पूजा होने ल[गती] है, वही वास्तव में सिद्ध है । उस भेष का क्या लाभ है; जिसमें मानव की बु[द्धि] मोहग्रस्त एवं मलीन हो जाए । तत्त्व से परिचय प्राप्त किए बिना यह जगत् भ्र[म] में डूबा हुआ है । यद्यपि यह कहा जाता है कि सूर्य देवता है; पर वह तो झूठा देवता है, परम-तत्त्व तो कुछ और ही है । उस झूठ देवता से व्यक्ति सुख चाहता है वह कभी तो आग बनकर जलाता है और कभी अखण्ड वर्षा की धार में बहा[ता] है; इस प्रकार अत्यन्त शीतकाल कर देता है । इन तीनों ही प्रकारों में बहुत दुःख है । इन विषयों तथा झूठ देवताओं की आराधना करके केवल मूर्ख ही सुख पाते हैं । वे लाभ के लिए दौड़ते हैं, पर वास्तव में इन विषयों के मोह में अपने आनन्द-स्वरूप को भी गँवा देते हैं । यह विषयों का राज्य दिन-प्रतिदिन क्षीण [हो] रहा है । दिवस बीत रहे हैं तथा जन्म व्यर्थ जा रहा है । मृत्यु की ओर किसी [का] भी ध्यान नहीं है । माया-मोह और सांसारिक ऐश्वर्य वास्तव में अगम्य एवं अनि[र्]वंचनीय है उनकी कोई सीमा नहीं है । यह मिथ्या वासनाओं वाला मिथ्या जीव झूठे संसार में ही उलझा हुआ है । जो अलक्ष्य सत्य तत्त्व है, वह तो जगत् से नहीं जाता है अर्थात् उसकी ओर तो उसका झुकाव नहीं है । जिसमें सत्य-तत्त्व [की] निष्ठा है, उससे ईश्वर एवं उसका प्रेम निकट है और जो मिथ्या वासनाओं से [युक्त] है उससे वे दूर । पर यह मोहग्रस्त जीव तो वासनाओं के विष को ही संजीवनी [समझता] रहता है ।

कह्यौ न जाइ निकटै अरु दूरी, सकल अतीत रह्या घट पूरी ॥
जहां देखौ तहां राम समांनां, तुम बिन ठौर और नहीं आंनां ॥
जदपि रह्या सकल घट पूरी, भाव बिनां अभिअंतरि दूरि ॥
लोभ पाप दोऊ जरं निरासा, झूठै झूठै झूठि लागि रही आसा ॥
जहवां ह्वै निज प्रगट बजावा, सुख संतोष तहां हम पावा ॥

नित उटि जस कीन्ह परकासा, पावक रहै जैसें काष्ट निवासा ॥
बिना जुगति कैसें मथिया जाई, काष्टै पावक रह्या समाई ॥
कष्टैं कष्ट अग्नि पर जरई, जारै दार अग्नि समि करई ॥
ज्यूं राम कहे ते रांमैं होई, दुख कलेस घालै सब खोई ॥
जन्म के कलिविष जांहि बिजाई, भरम करम का कछु न बसाई ॥
भरम करम दोऊ बरतैं लोई, इसका चरित न जांनै कोई ॥ १-४ ॥

परम-तत्त्व न समीप कहा जा सकता है और न दूर ही। वह सबसे अतीत एवं असम्पृक्त होते हुए भी घट-घट मैं व्याप्त है। मैं जहाँ कहीं भी देखता हूँ वहीं पर राम ही समाये हुए हैं। हे भगवन् तुम्हारे से व्यतिरिक्त कोई दूसरा स्थान ही नहीं है। यद्यपि यह तत्त्व सभी अन्तःकरणों में व्याप्त है, पर तब भी भाव-भक्ति के बिना यह आभ्यन्तर में विराजमान तत्त्व भी दूर ही है। क्षोभ और पाप के वशीभूत होकर व्यक्ति को जलना पड़ता है एवं निराश होना पड़ता है। वासनाओं में फँसे हुए झूठ व्यक्ति की उन झूठी वासनाओं में ही आशा बँधी रहती है। जिस अवस्था में पहुँचकर अपने स्वरूप को व्यक्त कर पाया अथवा उस अनाहत स्वरूप को ध्वनित कर पाया; वही मुझ सुख और सन्तोष की उपलब्धि हुई। परम-तत्त्व प्रतिदिन एवं प्रतिक्षण इसी प्रकार अपने आपको सम्पूर्ण विश्व में प्रकाशित करता रहता है जैसे काठ में अग्नि अव्यक्त रूप में निवास करती है। यद्यपि काठ में अग्नि व्याप्त रहती है, तब भी युक्ति के बिना काठ में से मथकर अग्नि कैसे प्रकट की जा सकती है ? वैसे ही युक्ति और साधना के बिना जगत् में व्याप्त परमतत्त्व भी व्यक्ति को प्रकट नहीं होता है। काठ को काठ से रगड़ कर अग्नि प्रकट की जाती हैं। वह प्रज्वलित होकर लकड़ी को भी अग्निमय कर लेती है। वैसे ही राम कहने से व्यक्ति राममय हो आता है। उसके सम्पूर्ण क्लेश नष्ट हो जाते हैं। जन्म के सब कल्मष राम कहने से विलीन हो जाते हैं। राममय हो जाने के बाद भ्रम तथा उसके कर्मों का व्यक्ति पर कुछ भी वश नहीं रह जाता है। लोग केवल भ्रम तथा भ्रम-जनित कर्मों से ही व्यवहार करते रहते हैं इसके स्वरूप को कोई भी नहीं समझ सकता हैं।

इन दोऊ संसार भुलावा, इहके लागें ग्यांन गंवावा ॥
इनको मरम पै सोई बिचारी, सदा आनंद लै लीन मुरारी ॥
ग्यांन द्रिष्ठि निज पेखै जोई, इनका चरित जांनै पै सोई ॥
ज्यूं रजनीं रज देखत अंधियारी, डसै भुवंगम बिन उजियारी ॥
तारे अगिनत गुनहि अपारा, तऊ कछू नहीं होत अधारा ॥
झूठ देखि जीव अधिक डराई, बिना भुवंगम डसो दुनियांई ॥
झूठै झूठ लागि रही आसा, जेठ मास जैसे कुरंग पियासा ॥
इक त्रिषांवंत दह दिसि फिर आवै, झूठै लगा नीर न पावै ॥

इक त्रिषावंत अरु जाइ जराइ, झूठी आस लागि मरि जाई॥
नीझर नीर जांनि परहरिया, करम के बांधे लालच करिया॥
कहै मोर कछू आहि न वाही, भरम करम दोऊ मति गवाई॥
भरम करम दोऊ मति परहरिया झूठे नांऊ सांच ले धरिया॥
रजनी गत भई रवि परकासा, भरम करम धूं केर बिनासा॥
रबि प्रकास तारे गुन खीनां, आचार व्यौहार सब भये मलीनां॥
विष के दाधें विष नहीं भावैं, जरत जरत सुखसागर पावै॥ १५॥

इन दोनों में ही सारा संसार भूला हुआ है। इन्हीं में फँसकर व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप को भी भूल जाता है। भ्रम तथा भ्रमजनित कर्मों के रहस्य पर जो चिन्तन करता है; वह परमतत्त्व में लीन होकर सर्वदा आनन्द का ही अनुभव करता रहता है। जो ज्ञान-दृष्टि से अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता रहता है, वही भ्र[म] एवं कर्म के रहस्य को वास्तव में समझ पाता है।

जैसे रात्रि में दृष्टि का अन्धकार रहता है और कुछ दिखाई नहीं पड़ता है। बिना प्रकाश के व्यक्ति को सर्प डस लेता है अथवा उसे डसने का भ्रम हो जाता है; वैसे यह ही जीवन है। इसमें अज्ञान का अन्धकार है और इसमें जीव को मोह-रूपी सर्प डस लेता है। असंख्य तारे हैं, उनकी शक्ति भी अपार है; पर फिर भी वे दृष्टि का आधार तो नहीं बन पाते। वैसे ही असंख्य देवता अथवा साधनाएँ भी अज्ञान का नाश नहीं कर सकती हैं। इस असत्य जगत् में भी प्राणी अत्यधिक भयभीत है। यह सारा जगत् सर्प के बिना ही दंशित है अर्थात् विषयों का सर्प वस्तुतः असत् है, मिथ्या है पर उसका दंश प्रतीत होता है। मिथ्या में पड़े हुए जीव की इन झूठ विषयों से आशा बंधी हुई है। जैसे जेठ मास में हरिण प्यास से पीड़ित रहता है और मृगतृष्णा में भटकता है, वैसे ही जीवन में जीव भटकता है। एक तो वह प्यास से पीड़ित रहता है और दूसरे, वह जल के गड्ढ की ओर भागता है अथवा दसों दिशाओं में भटकता है। वह मृग झूठी मृगतृष्णा में ही फँसा हुआ है, उसे जल कहीं भी नहीं मिलता है। एक तो वह प्यास से पीड़ित है और दूसरे सूर्य के ताप से जल रहा है। मृगतृष्णा के जल की झूठी आशा में भटकता हुआ मृग मर जाता है। यही जीव की अवस्था है। वह सुख का प्यासा है; संसार के तापों से तृस्त है और उस प्यास को बुझाने के लिए विषयों की ओर दौड़ता है। वहाँ सुख मिलता नहीं है वह सुख भी मृगतृष्णा है। इस जीव-रूपी मृग ने जान-बूझकर आत्मज्ञान अथवा ईश्वर-प्रेम के आनन्द-निर्झर को छोड़ दिया है। अपने कर्मों के वशीभूत होकर वह बाहरी विषयों के लालच में पड़ गया है। जहाँ कुछ भी नहीं है, जीवरूपी मृग ने उसी में ममता जमा ली है। इस प्रकार भ्रम एवं भ्रम-जनित कर्म दोनों ने उसका विवेक खो दिया उसने अपने रहस्य अर्थात् अपने मूल-स्वरूप की निष्ठा तथा कर्त्तव्य-बुद्धि ही का परित्याग कर दिया है। सत्य वस्तु पर झूठा नाम

आरोपित करके उसे अपने पास रखा। अर्थात् आत्मानन्द को विषय के सुख का नाम देकर उसे अपने अधिकार में रखने के लिए जीव सचेष्ट रहा। अन्त में अज्ञान की रात्रि समाप्त हुई; ज्ञान का सूर्य प्रकाशित हो गया। भ्रम और कर्म की धुन्ध का भी नाश हो गया। ज्ञानरूपी रवि के प्रकाश में बहुदेववाद एवं विभिन्न साधनारूपी तारे क्षीण हो गये। सम्पूर्ण सांसारिक आचार-व्यवहार मलीन पड़ गये। वास्तव में जो विष से जल जाता है उसको बाद में विष अच्छा नहीं लगता है। यह जीव भी विषयों के विष से दग्ध है अतः अन्त में इसे भी विषयों से अरुचि जागती ही हैं। इस विषयों में जलते-जलते अन्त में वह सुख-सागर भगवान् एवं उनके प्रेम को प्राप्त हो ही जाता है।

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति और सांगरूपक अलंकार। सभी जीव, विषयी जीव भी, अन्त में स्वतः विषयों से विरक्त होता है और परम-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है, कबीर की इसी भावना की यहाँ अभिव्यक्ति है।

अनिल झूठ दिन धावै आसा, अंध दुरगंध सहै दुख त्रासा ॥
इक त्रिषावंत दुसरैं रवि तपई, दह दिस ज्वाला चहुं दिसि जरई ॥
करि सनमुखि जब ग्यांन बिचारी, सनमुखि परिया अगनि मंझारी ॥
गछत गछत जब आगै आवा, बिव उनमांन ढिबुवा इक पावा ॥
सीतल सरीर तन रह्या समाई, तहां छाड़ि कत दाझै जाई ॥
यूं मन बारूनि भया हंमारा, दाधा दुख कलेस संसारा ॥
जरत फिरे चौरासी लेखा, सुख कर मूल किनहूं नहीं देखा ॥
जाकैं छाड़ें भये अनाथा, भूलि परे नहीं पावै पंथा ॥
अछै अभिअंतरि नियरैं दूरी, बिन चीन्हां क्यूं पाइये मूरी ॥
जा बिन हंस बहुत दुख पावा, जरत जरत गुरि रांम मिलावा ॥
मिल्या रांम रह्या सहजि समाई, खिन बिछुर्यां जीव उरझै जाई ॥
जा मिलियां तें कीजै बधाई, परमांनंद रैंनि दिन गाई ॥
सखी सहेली लीन्ह बुलाई, रति परमानंद भेटियें जाई ॥
सखी सहेली करहि अनंदू, हित करि भेटिये परमानंदू ॥
चली सखी जहुंवां निज रांमां, भये उछाह छाड़े सब कांमां ॥
जांनूं कि मोरैं सरस बसंता, मैं बलि जांऊ तोरि भगवंता ॥
भगति हेत गावै लैलीनां, ज्यूं बन नाद कोकिला कीन्हां ॥
बाजें संख सबद धुनि बेनां, तन मन चित हरि गोंबिद लीनां ॥

चल अचल पांइन पंगुरनी, मधुकरि ज्यूं लेहि अधरनीं (आधरनी) ॥
सावज सीह रहे सब मांची, चंद अरु सूर रहे रथ खांची ॥
गण गंध्रप मुनि जोवैं देवा, आरति करि करि बिनवैं सेवा ॥
बाहिग यंद्र ब्रह्मा करैं आसा, हंम क्यं चित दुर्लभ रांमदासा ॥ १-६ ॥

पवन भी व्यर्थ ही दिन भर झूठी आशाओं में भटकता रहता है। अंधड़ बना हुआ दुर्गन्ध से परिपूर्ण अनेक प्रकार के दुःख एवं त्रासों को सहता हुआ फिरता रहता है। एक तो वह प्यासा रहता है और दूसरे, सूर्य उसे अत्यधिक तप्त कर देता है। दसों दिशाओं में उसे ज्वालाओं का सामना करना पड़ता है और चारों तरफ वह जलता ही रहता है। जब अपने दुःखों पर विचार करके वह आगे बढ़ा तो सामने ही वह जलती हुई अग्नि में गिर गया। चलते-चलते जब वह आगे आया तो अपनी योग्यता एवं शक्ति के अनुरूप उसे एक छोटा गर्त अथवा अपने अनुरूप शरीर की उपाधि मिली। उसमें वायु का शरीर शीतल होकर समा गया; वह उसी में रच-पच गया। उस स्थान या शरीर को छोड़कर वह दाह से जलने के लिए अन्यत्र क्यों जाए? पर उस वायु को पुनः दग्ध होने जाना ही पड़ा। यह वायु एक शरीर की आसक्ति छोड़कर दूसरे में जाती ही है। जीव अन्य सब जीवों का प्रतिनिधित्व करते हुए कहता है कि पवन की तरह मेरा मन भी सांसारिक क्षणिक सुख की मदिरा बन गया और उसने हम सब को मदहोश कर दिया। इस प्रकार हमको पुनः दुःखों एवं सांसारिक क्लेशों में दग्ध होना पड़ा। हम चौरासी लाख योनियों में दग्ध होते हुए भटकते रहे। पर आनन्द के मूल भगवान् एवं उनके प्रेम की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया। जिस भगवान् को छोड़कर जीव अनाथ हुए थ उसको ढूँढ़ने में ही जीव विभिन्न साधनाओं में भटक गया तथा तत्त्व को प्राप्त करने का उसे मार्ग नहीं मिल सका। वह परम-तत्त्व उस जीव के आभ्यन्तर में विराजमान रहने के कारण निकट होते हुए भी दूर है। उस तत्त्व को पहचाने बिना उस आनन्द मूल को जीव कैसे प्राप्त कर सकता है? जिस परम-तत्त्व एवं प्रेम-तत्त्व के अभाव में जीव अत्यन्त दुःखी होता रहा, सांसारिक व्यथाओं में जलते-जलते जीव को सद्गुरु ने उसी राम-तत्त्व से मिला दिया। जीव राम से मिलकर उस सहज स्वरूप में तदाकार हो गया। उस परमतत्त्व से क्षण भर भी बिछुड़ने से जीव मायाजाल में फँस जाता है। उस प्रियतम के मिलने पर आनन्द बधाई की जाती है; मिलन के परमानन्द में दिन-रात गाते हुए ही बीतते हैं। जीवात्मा ने अपनी अन्य सखि-सहेलियों अर्थात् अन्य साधक आत्माओं अथवा अन्तःकरण की प्रेमानुकूल अन्य वृत्तियों को एकत्र कर लिया। हर्ष एवं उल्लास के इस वातावरण में जीवात्मा परमेश्वर से जाकर मिल गई। सारी सखियाँ आनन्द-केलि करने लगीं तथा अत्यधिक स्नेह के साथ प्रियतम भगवान् से मिली। सखियाँ वहाँ चली जहाँ उनके भगवान् राम थ। उनके मन में अत्यधिक उत्साह था, उन्होंने सम्पूर्ण सांसारिक काम का परित्याग कर दिया था। जीवात्मा कह रही है कि मुझे

ऐसे उल्लास का अनुभव हो रहा है मानो मेरे हृदय में बसन्त का विकास हो गया है। हे भगवन् मैं तुम्हारे बलिहारी हूँ। मेरा हृदय भक्ति में लवलीन होकर उसी प्रकार गा रहा है जैसे वन में कोकिला गूँज रही हो। हृदय में शंखों के शब्द तथा वीणा की ध्वनि हो रही है। जीव तन, मन और चित्त से भगवान् में तन्मय हो गया है। अब तक जो अचल थ वे भी भक्ति से द्रवित होकर चलने लगे हैं और जो पंगु थ उन्हें पैर मिल गये हैं अर्थात् अब वे भगवान् से मिलने के लिए उनकी ओर अभिमुख हैं। अथवा जो चंचल थे, वे भक्ति से स्थिर हो गये हैं। वे पैर वाले होते हुए भी ऐसे स्थिर हैं जसे मानो वे तंगु हो गये हैं। भक्तलोग भ्रमर की तरह भगवान् के अधर-रस का पान कर रहे हैं अथवा गंध ले रहे हैं। शिकार के योग्य पशु एवं शिकारी सिंह दोनों ही बैर-भाव भूलकर भक्ति में तन्मय हैं। सूर्य और चन्द्रमा भी इतने तन्मय हैं कि वे अपने रथों को खींच कर खड़े हो गये हैं, उन्होंने अपनी यात्रा ही रोक दी है। गण, गन्धर्व, मुनि जितने भी देवता हैं वे सब भगवान् की आरती में संलग्न है और उसकी सेवा में विनत हैं। वासुकी, इन्द्र, ब्रह्मा आदि सब भक्ति की इस दशा की इच्छा करते हैं और सोचते हैं कि हमें भी दुर्लभ राम की किंचित् सेवा मिले।

टिप्पणी—'पवन' सम्बन्धी पंक्तियों में 'मानवीकरण' माना जा सकता है। अप्रस्तुत विधान का अंश मानकर उसमें 'उपमा' और 'दृष्टान्त' अलंकार भी हो सकता है। 'अनिल' को चतन्य मानकर उस आवरण में जीव मात्र की अवस्था का चित्रण भी है। जीवभाव में परम तत्त्व से मिलने की आकांक्षा में 'निसर्ग का रहस्य-वाद' भी व्यंजित है।

भगति हेत रांम गुन गावैं, सुर नर मुनि दुरलभ पद पांवैं॥
पुनिम बिमल ससि मास बसंता, दरसन जोति मिले भगवंता॥
चंदन बिलनी बिरहनि धारा, यूं पूजिये प्रांनपति रांभ पियारा॥
भाव भगति पूजा अरु पाती, आतमरांम मिले बहु भांती॥
रांम रांम रांम रुचि मानैं, सदा अनंद रांम ल्यौ जांनैं॥
पाया सुख सागर कर मूला, जो सुख नहीं कहूं सन तूला॥
सुख समाधि सुख भया हमारा, मिल्या न बेगर होइ।
जिहि लाधा सो जांनिहै, रांम कबीर और न जांनैं कोइ॥ १-७॥

जीव भक्ति-भाव की प्राप्ति के लिए भगवान् राम के गुण गाते हैं और उनको सुर, नर एवं मुनि लोगों के लिए दुर्लभ पद की प्राप्ति होती है। बसन्त मास की पूर्णिमा के अवसर पर पूर्ण चन्द्रमा के शीतल प्रकाश में अर्थात् ज्ञान और प्रेम के शीतल स्निग्ध एवं उल्लासमय वातावरण में भगवान् की ज्योति के दर्शन होते है। विरहिणी जीवात्मा ने भावनाओं का चन्दन एवं विल्व धारण किया और इस प्रकार

उसने अपने प्रियतम प्राणपति भगवान् की पूजा की। भाव ही पूजा की सामग्री है तथा भक्ति ही पत्र-पुष्प हैं। इस प्रकार जीवात्मा को अनेक प्रकार से अनेक भावनाओं में आत्माराम की प्राप्ति हो गई है। अब निरन्तर 'राम' का उच्चारण करते हुए उसने अपना हृदय भगवान् में ही रमा रखा है। भगवान् राम में अपनी लौ लगाकर वह परम आनन्द का अनुभव कर रही है। जीवात्मा को आनन्द-सागर के मूलस्रोत भगवान् एवं उनके प्रेम की प्राप्ति हो गई है। उस आनन्द की समता अन्य कोई आनन्द नहीं कर पाता है। जीवात्मा कहती है कि सहज ही में मुझे समाधि के सुख की प्राप्ति हो गई है। अब मैं परमात्मा में तन्मय हो गई हूँ, उससे पृथक् नहीं हो सकती हूँ। कबीर कहते हैं कि परमात्मा से अभिन्न होने का आनन्द जिन्हें मिला है, वे ही इसे जान सकते हैं, अन्य किसी को भी इसका ज्ञान नहीं है।

अष्टपदी रमैंणी

केऊ केऊ तीरथ व्रत लपटांनां केऊ केऊ केवल रांम निज जांनां॥
अजरा अमर एक अस्थांनां, ताका मरम काहु बिरलै जांना॥
अबरन जोति सकल उजियारा, द्रिष्टि समांन दास निस्तारा॥
जे नहीं उपज्या धरनि सरीरा, ताकै पथि न सींच्या नीरा॥
जा नहीं लागे सूरजि के बांनां, सो मोहि आंनि देहु को दांनां॥
जब नहीं होते पवन नहीं पानीं, जब नहीं होती सिष्टि उपांनीं॥
जब नहीं होते प्यंड न बासा, तब नहीं होते धरनि अकासा॥
जब नहीं होते गरभ न मूला, तब नहीं होते कली न फूला॥
जब नहीं होते सबद न स्वादं, तब नहीं होते विद्या न बादं॥
जब नहीं होते गुरू न चेला, गम अगमैं पंथ अकेला॥
अविगत की गति क्या कहूँ, जसकर गाँव न नांव॥
गुन बिहूंन का पेखिये काकर धरिये नांव॥ १-१॥

कुछ लोग तीर्थ, व्रत आदि में ही अनुरक्त रहते हैं और उसी में परमसिद्धि समझते हैं। कुछ लोग केवल राम-नाम के जप को ही अपना परम कर्त्तव्य मान लेते हैं। पर अजर एवं अमर एक स्थान है; एक परम-पद अवस्था है, उसके रहस्य को कोई विरला ही समझता है। वह वर्ण-रहित ज्योति है जिसका प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ है। उस ज्योति के दृष्टि में समाते ही भक्त का कल्याण हो जाता है अथवा जो ज्योति दृष्टि रूप है और भक्त के कल्याण की हेतु है। वह उत्पन्न नहीं हुई, उसने शरीर नहीं धारण किया। उसको प्राप्त करने का मार्ग जल से सींचा हुआ नहीं है अर्थात् शीतल और सुगम नहीं है। वहाँ तक सूर्य का प्रकाश भी नहीं पहुँच पाता है। उस ज्योति को उस परम-पद को मुझे लाकर दान में कौन दे देगा। उस अवस्था में

न हवा है और न पानी ही । उस अवस्था में सृष्टि की उत्पत्ति भी नहीं हुई थीं । उस समय न पिण्ड था और न उसका निवास ही । उस समय न पृथ्वी थी न आकाश ही । उस समय न गर्भ था और न उसका मूल कारण ही । तब कली और फूल भी नहीं थे अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त की भी कल्पना नहीं थी । उस अवस्था में न शब्द होता है और न स्वाद ही । तब न ये विद्यायें हैं और न वाद-विवाद ही । उस अवस्था में गुरु और चेला भी नहीं है । उस समय इस अगम्य मार्ग पर केवल अकेले का ही गमन है अकेला ही जाता है उस पर चलाने वाले तथा उसके गन्तव्य की कोई पृथक कल्पना नहीं रहती । वह ज्ञाता और ज्ञेय के भेदों से रहित केवल ज्ञानस्वरूप है । उस अविगत का क्या स्वरूप वर्णन करूँ ? उसका न कोई गाँव है और न नाम ही, वह सम्पूर्ण गुणों से रहित है । उसे कैसे देखा जा सकता है ? उसका नाम भी क्या रखा जा सकता है ? अर्थात् वह तत्त्व स्थान, नाम, गुण आदि से रहित है । शब्द और अर्थ के द्वारा जो भी कुछ अभिधय है, उससे वह परे है ।

आदम आदि सुधि नहीं पाई, मां मां हवा कहां थै आई ॥
जब नहीं होते रांम खुदाई, साखा मूल आदि नहीं भाई ॥
जब नहीं होते तुरक न हिंदू, मा का उदर पिया का ब्यंदू ॥
जब नहीं होते गाई कसाई, सब बिसमला किनि फुरमाई ॥
भूले फिरें दीन ह्वै धावें, ता साहिब का पंथ न पावें ॥
संजोगें करि गुण धर्‌या, बिजोगें गुंण जाइ ॥
जिभ्या स्वारथि आपणें, कीजै बहुत उपाय ॥ १-२॥

आदमी को मूल तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ, मानव-जाति की माता हौवा कहाँ से आई ? एक मूलतत्त्व की वह अवस्था थी । जहाँ न राम है और न खुदा ही । भाई वहाँ पर शाखा मूल आदि की कुछ भी कल्पना नहीं है । जहाँ न मुसलमान है और न हिन्दू ही । न माँ का गर्भ है और न पिता का बिन्दु ही, वहाँ माता-पिता की कल्पना ही नहीं है । जब न गाय थी और न उसको मारने वाला कसाई ही, उस समय हलाल करने का हुक्म किसने दिया ? पर जीव इधर-उधर अज्ञान में भूला हुआ दीन होकर भटक रहा है । उसे भगवान् को प्राप्त करने का मार्ग नहीं मिल रहा है । भगवान् से भक्ति के द्वारा संयोग स्थापित करने से जीव में सद्‌गुणों का विकास होता है और उनके रहित तथा पराङ् मुख होने से वे सद्‌गुण समाप्त हो जाते हैं । पर फिर भी मानव अपनी जीभ के स्वाद के वशीभूत होकर उसकी तृप्ति के लिए अनेक उपाय करता रहता है ।

जिनि कलमां कलि मांहि पठावा, कुदरति खोजि तिन्हूं नहीं पावा ॥
करम करींम भये करतूता, बेद कुरान भये दोऊ रीता ॥
कृतम सो जु गरभ अवतरिया, कृतम सो जु नाव जिस धरिया ॥

कुतम सुंनित्य और जनेऊ, हिंदू तुरक न जानैं भेऊ॥
मन मुसले की जुगति न जांनैं, मति भूलैं द्वै दीन बखानैं॥
पांणी पवन संयोग करि, कीया है उतपाति।
सुंनि मैं सबद समाइगा, तब कासनि कहिये जाति॥ १-३॥

जिसने इस कलिकाल में 'कलमा' का उपदेश दिया और मानवों तक उसे पहुँचा दिया; वह भी भगवान् की माया नहीं समझ सका। ईश्वर की प्रेरणा से किए गए दयालुता की भावना के कर्म भी अज्ञान एवं मोह के वशीभूत होकर निंद्य कर्मों में परिणत हो जाते हैं। वेद और कुरान दोनों ही परमतत्त्व की प्राप्ति के साधन होने चाहिए। पर वे दोनों ही आचरण की दो भिन्न रीतियों एवं सम्प्रदायों के आधार बन गए। जो गर्भ में अवतरित होता है; वह कृत्रिम है। जो नाम और यज्ञ धारण करता है वही कल्पित है। सुन्नत करवाना व यज्ञोपवीत धारण करना दोनों ही बाह्याडम्बर मात्र हैं। हिन्दू और मुसलमान का भेद उस परम तत्त्व के स्तर पर नहीं है। व्यक्ति अपने मन का सुधार करने का उपाय तो जानता नहीं है। इसके बिना ही अपने आपको मुसलमान मानने का अहंकार रखता है। मति-भ्रष्ट होकर दो मजहबों की बात करता है। जल और हवा के संयोग से अर्थात् प्राण एवं बिन्दु के संयोग से भगवान् ने इस शरीर की उत्पत्ति की है। रे मानव, जब शब्द शून्य में समा जाएगा अर्थात् व्यक्ति व्यापक चैतन्य में विलीन हो जाएगा तब जाति के भेद की बात किससे कह पाएगा? उस समय जाति का भेद कहाँ रह जाएगा?

तुरकी धरंम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करैं ए बोधा॥
गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥
जाकौ दूध धाइ करि पीजै, ता माता कौं बध क्यूं कीजै॥
लहुरैं थकैं दुहि पाया खीरो, ताका अहमक भखै सरीरो॥
बेअकली अकलि न जांनहीं, भूले फिरैं ए लोइ।
दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहाँ थैं होइ॥ १-४॥

हमने इस्लाम-धर्म और उसके मानने वालों की बहुत खोजबीन की है। इसके मानने वाले लोग जाना-बूझकर अनेक अनुचित कर्म करते हैं। ये मजहब के अहंकार में मदहोश हैं और उस पर अत्यधिक अभिमान करते हैं। अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर गाय मारने का अधर्म करते हैं। पोषण करने वाली धाय के समान जिस गाय का दूध पीते हैं उसी माता का बध क्यों किया जाए? वह धर्म कैसा? छोटे बच्चे तथा थके हुए रोगी एवं वृद्ध व्यक्ति जिस गाय का दूध पीकर पोषण प्राप्त करते हैं, मूर्ख व्यक्ति उसी को मारकर उसका मांस खाता है। वे बुद्धिहीन हैं उनको ज्ञान नहीं है; पर व अपने ज्ञान के अहंकार में भूले हुए हैं। व्यक्ति विशाल-हृदय होकर करुणा

के सागर भगवान् के सच्चे स्वरूप के दर्शन जब तक नहीं कर लेता है, तब तक उसको स्वर्ग की प्राप्ति कसे सम्भव है ?

पंडित भूले पढ़ि गुनि बेदा, आप न पांवैं नाना भेदा ॥
संध्या तरपन अरु षट करमां, लागि रहे इनकै आसरमां ॥
गायत्री जुग चारि पढ़ाई, पूछौ जाइ कुमति किन पाई ॥
सब में रांम रहै ल्यौ सींचा, इन थैं और कहो को नीचा ॥
अति गुन गरब करैं अधिकाई, अधिकैं गरबि न होइ भलाई ॥
जाकौ ठाकुर गरब प्रहारी, सो क्यूं सकई गरब सहारी ॥
कुल अभिमांन बिचार तजि, खोजौ पद निरबान ॥
अंकुर बीज नसाइगा, तब मिलै बिहेदी थांन ॥ १-५ ॥

पंडित लोग वदों को पढ़ने और उन पर विचार करने में ही भ्रमित हो गए हैं। इन नाना भेदों के चक्कर में उन्हें अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकी। वे लोग साधना, तर्पण एवं छओं कर्मों के विधि-विधान में ही संलग्न रहे; उन्हीं के आश्रित रहे। ये चार युगों से अद्वैत-तत्त्व का प्रतिपादन करने वाली गायत्री पढ़ा रहे हैं। फिर इनसे जाकर पूछो तो सही, उनमें से किसी ने मुक्ति प्राप्त की है? सम्पूर्ण प्राणियों में राम ही व्याप्त हैं; फिर उनको अस्पृश्य मानकर शुद्ध जल से छींटे देना कहाँ तक उचित है ? ऐसी अस्पृश्यता मानने वालों जैसा कौन नीच हो सकता है ? ये अपने आपको बहुत अधिक गुणवान् समझकर घमण्ड करते हैं। पर अधिक घमण्ड करने से किसी का कल्याण नहीं हो सकता है। जिसका आराध्य भगवान् ही गर्व को नष्ट करने वाला है; भला वह स्वयं गर्व का सहारा कैसे ले सकता है ? अत: कबीर कहते हैं, "रे पंडित, अपने कुल के अभिमान का विचार छोड़कर निर्वाण-पद प्राप्त करने की चेष्टा कर। जब अहंकार और भेदभाव का अंकुर तथा बीज नष्ट होंगे तभी तुम्हें विदेह स्थिति की प्राप्ति होगी।

टिप्पणी—वेदादिक को भ्रमावस्था की कृति मानने तथा छओं दहों से अतीत विशुद्ध हंस रूप एवं विशुद्ध चैतन्यरूप अवस्था को प्राप्त करने का संकेत है।

षटकर्म—स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप और होम।

पाठ-भेद—और के छुए लेत है सीचा।

खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकूं होय सवाया करमो ॥
जीवहि मारि जीव प्रतिपारैं, देखत जनम आपनौं हारै ॥
पंच सुभाव जु मेटै काया, सब तजि करम भजें रांम राया ॥
खत्री सों जु कुटुंब सूं सूझै, पंच मेटि एक कूं बूझै ॥

जो आवध गुर ग्यांन लखावा, गहि करवाल धूप धरि धावा ॥
हेला करै निसांनै घाऊ, झूझ परै तहां मनमथ राऊ ॥
मनमथ मरै न जीवई, जीवण मरण न होइ ।
सुंनि सनेहीं रांम बिन, गये अपनपौ खोइ ॥ १-६ ॥

क्षत्रिय क्षात्र-धर्म अर्थात् जीव हिंसा का पालन करता है, इससे उसके कर्म बन्धन सवाये हो जाते हैं। वह जीवों को मारकर अपने प्राणों की रक्षा करता है अथवा अन्य जीवों का प्रतिपालन करता है। इससे तो वह देखत-देखत अन्य जन्म की बाजी हार जाता है। अपने शरीर का काम-क्रोधादिक पाँचों स्वभावों को छोड़कर तथा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करके वह राजाराम का भजन करे इसी में उसका कल्याण है। क्षत्रिय वही है जो अपने विकारों के कुटुम्ब से युद्ध करता है और अपनी पाँचों इन्द्रियों के विषयों की वासना मिटाकर अपने में एक परमतत्त्व का बोध जगाता हैं। वही वास्तव में क्षत्रिय है, जिसकी गुरु द्वारा दिये गये ज्ञान पर दृष्टि आमरण जमी रहती है, जो हाथ में ज्ञान की तलवार लेकर जोश के साथ आक्रमण करता है, हल्ला बोलकर ठीक निशाने पर चोट करता है और इस योद्ध में जिसके कामदेव रूपी राजा की मृत्यु हो जाती है; वही वास्तव में सच्चा क्षत्रिय है। इसके आक्रमण के बाद काम को मरना पड़ता है; वह जीवित नहीं रह सकता है। ऐसे क्षत्रिय का जन्म-मरण नहीं होता है। जो राम के विमुख रहकर अथवा भक्ति-शून्य होकर शून्य की उपासना करत हैं; व अपने वास्तविक स्वरूप को ही खो देत हैं। उन्हें अपना आत्मबोध नहीं होता।

अरु भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेष रहे लपटाई ॥
जैन बोध अरु साकत सैनां, चारिवाक चतुरंक बिहूंना ॥
जैन जीव की सुधि न जानैं, पाती तोरि देहुरै आनैं ॥
दोना मरवा चंपक फूला, तामैं जीव बसै कर तूला ॥
अरु प्रथमीं की रोम उपारैं, देखत जीव कोटि संघारैं ॥
मनमथ करम करैं असरारा, कलपत बिंद धसै तिहि द्वारा ॥
ताकी हत्या होइ अद्भूता, षट दरसन मैं जैंन बिगूता ॥
ग्यान अमर पद बाहिरा, गेड़ा ही तैं दूरि ॥
जिनि जान्यां तिनि निकटि है, राम रहा सकलि भरपूरि ॥ १-७ ॥

रे भाई, ये विभिन्न मतावलम्वी अपने-अपने षड्दर्शनों एवं शास्त्रों में भटके हुए हैं। व उन्हीं के पाखण्डों एवं वशों में लिपटे हुए हैं। जैन, बौद्ध, शाक्तों की सेना चार्वाक् आदि सब बुद्धि से शून्य हैं। अपने आपको हिंसक मानते हुए भी इन जैनों को जीवतत्त्व का ज्ञान नहीं है। इनको जीव हिंसा के ... होश ही नहीं रहता है।

वे लोग फूल-पत्ती तोड़कर अपने देवालय में लाते हैं, दोना भरकर मरुआ, चम्पक आदि फूलों को लाते हैं उनमें भी अन्य जीवों के समतुल्य ही करोड़ों जीव रहते हैं। देवालय आदि के निर्माण के अवसर पर पृथ्वी तैयार करने में घास, फूँस एवं पौधों के रूप में वे पृथ्वी के रोमों को उपाड़ते हैं। इस प्रकार देखते-देखते वे करोड़ों जीवों का संहार कर देते हैं। काम में पागल होकर ये विभिन्न मतावलम्बी (जैन भी) अनेक काम-कर्मों में अनुरक्त होते हैं। काम से प्रेरित होकर अनेक प्रकार की इच्छायें अपने मन में उठाते हुए एवं तज्जनित मानसिक क्लेशों को भोगते हुए बिन्दुपात करते हैं और आवागमन के कारण भूत द्वार में घुसे रहते हैं। इन मतावलम्बियों की अहिंसा सम्बन्धी धारणायें अत्यन्त अद्‌भुत हैं अथवा बलि के लिए इनके द्वारा की गई क्रियायें बहुत ही अद्‌भुत होती हैं। ये जैन लोग अपने षड्दर्शनों में ही ज्ञान-भ्रष्ट हो गये हैं। ये वास्तविक ज्ञान से प्राप्य अमरपद से विमुख हैं, अतः जो आत्मतत्त्व व्यक्ति का स्वरूप होने से उसके अत्यधिक निकट है; वही इन अज्ञानियों के लिए बहुत दूर है। जिन लोगों को ज्ञान और विवेक है; उनके लिए आत्मतत्त्व अत्यन्त सन्निकट है, वह उनका स्वरूप ही है। उन्हें तो राम सर्वत्र दीखता है।

आपन करता भये कुलाला, बहु बिधि सिष्टि रची दरहाला ॥
विधनां कुंभ किये द्वै थांना, प्रतिबिंब ता मांहि समांनां ॥
बहुत जतन करि बांनक बांनां, सौंज मिलाय जीव तहां ठांनां ॥
जठर अगनि दी कीन्हीं परजाली, ता मैं आप करै प्रतिपाली ॥
भींतर थैं जब बाहिर आवा, सिव करती द्वै नांव धराबा ॥
भूलै भरमि जिनि कोई, हिन्दू तुरक झूठ कुल दोई ॥
घर का सुत जे होइ अयांनां, ताके संगि क्यूं जाइ सयांनां ॥
साची बात कहै जे वासूं, सो फिरि कहै दिवांनां तासूं ॥
गोप भिन्न है एकै दूधा, कासूं कहिए बांम्हन सूदा ॥
जिनि यहु चित्र बनाइया, धो सांचा सुतधार ।
कहै कबीर जे जन भले, जे चित्रवत लेहि बिचारि ॥ १-८ ॥

स्वयं भगवान् अथवा जीव हो कर्त्ता के अहंकार से कुम्हार बन गये हैं और उन्होंने शीघ्र ही अनेक प्रकार की सृष्टि रच दी है। इस कर्त्ता ने दो स्थानों पर घड़े तैयार किय अर्थात् द्वैत से सृष्टि की और उन अन्तःकरणरूपी घड़ों में स्वयं कर्त्ता प्रतिबिम्ब बनकर समा गया। उससे बहुत यत्न करके अर्थात् कर्म, योनि आदि के अनेक साधनों को जुटाकर तथा पंच-तत्त्वों आदि को मिलाकर जीव बनाया तथा जठराग्नि प्रज्वलित कर दी पर उसमें भी कर्त्ता ने उस गर्भ का प्रतिपादन किया। महाप्रलय के बाद केवल शिव-तत्त्व रह जाता है। उसमें लोकों को प्रकाशित

करने, एवं उत्पन्न करने की इच्छा रूप अग्नि प्रज्वलित होती है। यही जठराग्नि है। इस लोक प्रकाश की इच्छा में ही मैं 'ब्रह्मा हूँ' मैं 'कर्त्ता हूँ' के अहंकार का प्रतिफलन होता है, 'मैं हूँ' के अहंकार की माया ही जीव रूप हो जाती है; अतः आप परमतत्त्व ही जीव हो जाता है। यही 'आप करै प्रतिपालन' है। यही गर्भ जब उदर से बाहर आया तब उसने अपने ही दो नाम-शिव (पुरुष) और शक्ति (नारी) रख लिए। यह जगत् 'शिव शक्त्यात्मक है। अभेद निरन्तर बना हुआ है; सबका वही मूलस्रोत है। अतः कोई इस भ्रम में न पड़े कि हिन्दू और मुसलमान उत्पत्ति की दृष्टि से कोई दो पृथक कुल हैं। अगर घर का पुत्र अबोध हो जाता है तो चतुर ज्ञानी व्यक्ति उसके साथ नहीं लगता; उसके अनुकूल नहीं करता। सृष्टिकर्त्ता के अहंकार वाला जीव अथवा ब्रह्मा उसी परमतत्त्व का पुत्र है क्योंकि वह उसी से पैदा हुआ है। पर वह माया से लिप्त है अतः अबोध है। ज्ञानी को अर्थात् विशुद्ध चैतन्य में अवस्थित जीव को अहंकार जीव के साथ नहीं लग जाना चाहिए अर्थात् माया में लिप्त नहीं होना चाहिए। पर अगर मैं यह सच्ची बात कहता हूँ अर्थात् जीव को भेद और माया से पृथक रहने की कहता हूँ तो वह मुझ पागल मानता है। ब्राह्मण और शूद्र किससे कहें, सब उसी दूध से पनपे हैं, केवल ग्वाले का ही भेद है। जिसने इस सृष्टि का चित्र बनाया है, वह सच्चा सूत्रधार है। वे व्यक्ति ही वास्तव में ज्ञानी हैं, जो इस जगत् को चित्रवत् समझते हैं।

बारहपदी रमैंणी

पहली मन मैं सुमिरौं सोई, ता सम तुलि अवर नहीं कोई॥
कोई न पूजै वांसूं प्रांनां, आदि अंति वो किनहूं न जांनां॥
रूप सरूप न आवै बोला, हरू गरू कछू जाइ न तोला॥
भूक न त्रिषा धूप नहीं छांहीं, सुख दुख रहित रहै सब मांहीं॥
अवगति अपरंपार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठांम।
बहु विचार करि देखिया, कोई न सारिख रांम॥ १-१॥

सर्वप्रथम उसी परमतत्त्व का स्मरण करो। उसके समान कोई दूसरा नहीं है। उसकी प्राप्ति की समता अन्य किसी भी वस्तु की प्राप्ति नहीं कर सकती है। उस परमतत्त्व के आदि, मध्य और अन्त का ज्ञान किसी को नहीं हुआ। उसके बारे में 'आदि, मध्य और अन्त' इन शब्दों में कुछ भी नहीं जा सकता है। उसके सम्बन्ध में कुरूप, सुन्दर आदि नहीं कहा जा सकता है। हल्का या भारी के रूप में इसको तोला भी नहीं जा सकता है। वहाँ न भूख है, न तृषा ही, न धूप है और न छाया ही। वह तत्त्व सुख-दुःख से अतीत आनन्द रूप में ही सबमें समाया हुआ है। वह अविगत अपार एवं ब्रह्म है। वह ज्ञान-स्वरूप है और सर्वव्यापी है। हमने बहुत विचार करके देखा है कि राम के समतुल्य कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। वह द्वैत-रहित अद्वैत तत्त्व है।

जो त्रिभवन पति ओ है ऐसा, तका रूप कहौ धौं कैसा ।।
सेवत जन सेवा कै तांई, बहुत भांति करि लेवि गुसांई ।।
तैसी सेवा चाहौ लाई, जा सेवा बिन रह्या न जाई ।।
सेव करंतां जो दुख भाई, सो दुख सुख बरि गिनहु सवाई ।।
सेव करंता सो सुख पावा, तिन्ह सुख दुख दोऊ बिसरावा ।।
सेवक सेव भुलानियां, पंथ कुपंथ न जान ।
सेवक सो सेवा करै, जिहि सेवा भल मांन ।। १-२ ।।

यह त्रिभुवनपति ऐसे महान हैं ! उनका वर्णन कैसे किया जा सकता है ? वह वर्णनातीत है । सेवक भक्त सेवा के लिए ही है । वह स्वामी की अनेक प्रकार से सेवा करता है । वह सेवा-धर्म धारण करना चाहिए जिसके बिना सेवक रह ही नहीं सकता है । हे भाई, सेवा-धर्म में जिस कष्ट का अनुभव होता है, उस दुःख को सुख के समकक्ष ही नहीं अपितु उससे भी सवाया समझो । सेवा-धर्म में जो आनन्द का अनुभव करता है, वह सांसारिक सुख और दुःख को भी भूल जाता है, उसे पंथ एवं कुपंथ का भी बोध नहीं रहता है । वास्तविक सेवक वही है जो सेवा कर तथा सेवा में ही अपना कल्याण समझ ।

जिहि जग की तसकी तसकेही, आपै पाप आथि है एही ।।
कोई न लखई वाका भेऊ, भेऊ होइ तौ पावै भेऊ (केऊ) ।।
बावें न दांहिनें आगें न पीछू, अरध न उरध रूप नहीं कीछ ।।
माइ न बाप आब नहीं जावा, नां वहु जण्यां न को वहि जावा ।।
वो है तैसा वोही जानै, ओही आहि आहि नहीं आंनें ।।
नैंनां बैंन अगोचरीं, श्रवनां करनी सार (पार) ।
बोलन कै सुख कारणें, कहिये सिरजनहार ।। १-३ ।।

जैसी संसार सम्बन्धी तसल्ली सांत्वना प्रदान करने वाली है, वह अपने आप ही विलीन हो जाती है । उस संसार के रहस्य को कोई भी नहीं समझता है । उसका कुछ भेद हो तो किसी को भेद ज्ञात हो । वह तो असत् रूप है । न उसमें बायें है और न दाहिने, न आगे है ओर न पीछ । न नीचे है और न ऊपर । उसका कुछ भी रूप नहीं है । न उसके माँ है न बाप ही । न यह कभी आया है और न उसे कहीं जाना है । न उसने किसी को जन्म दिया है और न किसी ने उसको जन्म दिया है । जो जैसा है, उसको वह परमतत्त्व ही जानता है । वही है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं । वह परमतत्त्व नेत्र और वाणी से अगोचर है । वह श्रवण एवं कर्म का सार है अर्थात् उसी का गुणगान श्रवणीय है और उसकी भक्ति के लिए ही सब कर्म करणीय है । अथवा श्रवणों एवं कार्यों के लिए ही वह तत्त्व पर है, अग्राह्य है । वचन की सुविधा के लिए ही उसको सृष्टिकर्ता कहा गया

है। अथवा तब भी यह सृष्टिकर्त्ता है उसके इस गुणगान के द्वारा वाणी को सुख मिलता है।

टिप्पणी—यहाँ जगत् के असत् तथा परमतत्त्व के अवाङ् मनसगोचर होने का वर्णन है। 'तत्तथा' के सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है।

'श्रवना''''''''सार' इस पंक्ति में सभंगपद श्लेष भी है।

पाठान्तर—जिहि जग की तसकी तस के ही।

सिरजनहार नांउ धूं तेरा, भौसागर तिरबे कूं भेरा ॥
जे यहु भेरा रांम न करता, तौं आपें आप आवटि जग मरता ॥
रांम गुसांई मिहर जु कीन्हा, भेरा साजि संत कौं दीन्हा ॥
दुख खंडण मही मंडणां, भगति मुकुति विश्रांम।
बिधि करि भेरा साजिया, धरया, रांम का नाम ॥ १-४ ॥

हे सृष्टिकर्त्ता आपका नाम ही भवसागर से पार होने का बेड़ा है। अगर इस बेड़े का निर्माण राम न करते तो यह जगत् अपनी वासनाओं की आग में आप स्वयं ही जलकर मर जाता। स्वामी राम ने उस पर बहुत कृपा की है कि उन्होंने नाम-रूपी बेड़ा सजाकर संत को दे दिया है। नाम दुःखों का खण्डन करने वाला है और जगत् की शोभा है। यही भक्ति, मुक्ति और परम आनन्द का हेतु है। स्वयं विधाता ने इस बेड़े को तैयार करके सजाया है और उसका नाम 'राम-नाम' रख दिया है।

जिनि यहु भेरा दिढ़ करि गहिया, गये पार तिन्हौ सुख लहिया ॥
दुमनीं ह्वै जिनि चित्त डुलावा, करि छिटके थैं थाह न पावा ॥
इक डूबे अरु रहे उरवारा, ते जगि जरे न राखणहारा ॥
राखन की कछु जुगति न कीन्हीं, राखणहार न पाया चीन्हीं ॥
जिनि चीन्ह्या ते निरमल अंगा, जे अचीह्न ते भये पतंगा ॥
रांम नांम ल्यौ लाइ करि, चित चेतन ह्वै जागि।
कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे रांम ल्यौ लागि ॥ १-५ ॥

जिन लोगों ने राम-नाम के बेड़े को बड़ी दृढ़तापूर्वक पकड़ रखा है, वे भव-सागर से पार हो गए और उन्हें भी सुख की प्राप्ति हुई है। द्विविधा में पड़कर जिन्होंने अपना चित्त डाँवाडोल कर रखा है, उनका हाथ इस बेड़े से छूट जाता है। फिर उनका इस भवसागर में कहीं भी पता नहीं लगता है। वे भी इस संसार की थाह नहीं पा सकते हैं। एक तो वे इस भवसागर में डूब जाते हैं और यहीं रह जाते हैं। दूसरे वे संसार की ज्वाला में जलते हैं और उनको कोई बचाने वाला भी नहीं होता है। उन्होंने अपने आपको बचाने का कोई उपाय भी नहीं किया। वे अपने को बचाने वाले प्रभु को पहचान नहीं पाय। जिन्होंने प्रभु को पहचान लिया है, उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया

पर जिन्होंने प्रभु को नहीं पहचाना, वे वासना के पतँग बन गए। रे जीव, तू रामनाम में अपनी लौ लगाकर चित्त में चेत कर तथा अपना आत्म-बोध जगा। कबीर कहते हैं कि जिनकी राम में लौ लगी हुई है, वे ही भगसागर में डूबने से बचते हैं।

टिप्पणी—साङ्गरूपक अलङ्कार।

अरचित अविगत है निरधारा, जांण्यां जाइ न वार न पारा॥
लोक वेद थैं अछै नियारा, छाड़ि रह्यौ सबही संसारा॥
जसकर गांउ न ठांउ न खेरा, कैसें गुन बरनूं मैं तेरा॥
नहीं तहां रूप रेख गुन बांनां, ऐसा साहिब है अकुलांनां॥
नहीं सो ज्वांन न बिरध नहीं बारा, आपैं आप आपनपौ तारा॥
कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को लावै भंग।
सेवौ तन मन लाइ करि, रांम रह्या सरबंग॥ १-६॥

परमतत्त्व किसी के द्वारा रचा नहीं गया है, वह अजन्मा एवं अविगत रूप में ही निर्धारित है अथवा वह स्वयं सबका आधार है; उसका कोई दूसरा तत्त्व आधार नहीं है। उसका वार-पार एवं आदि और अन्त नहीं जाना जा सकता है। वह तत्त्व लोक और वेद से परे है। वह सम्पूर्ण संसार को छोड़कर ऊपर उठा हुआ है। हे भगवन् तेरा न कोई गाँव है, न कोई स्थान है, और न कोई निवास की जगह है या कोई खेत है; तुम्हारा वर्णन किस प्रकार करूँ? वर्णन तो देश-काल से परिच्छिन्न का ही सम्भव है। न उस तत्त्व का कोई रूप है, न रेख है और न कोई वेष ही। यह साहिब ऐसा है कि वह किसी भी कुल का नहीं कहा जा सकता है। वह कुलों से परे है। वह तत्त्व न युवक कहा जा सकता है, न वृद्ध और न बालक ही। उस तत्त्व का अपनत्व अपने आप ही में समाहित है। अर्थात् वह स्वगतादि सभी प्रकार के भेदों से शून्य अद्वैत तत्त्व है। कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि उस तत्त्व के स्वरूप को अंशशः मत सोचो। राम सर्वव्यापी अखण्ड तत्त्व है। उसकी तन-मन लगाकर सेवा करो। अर्थात् इसी अखण्ड रूप में उसका ध्यान करो। इसी में सबका कल्याण है।

नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा, नहीं तात नहीं सो सियरा॥
पुरिष न नारि करै नहीं क्रीरा, घांम न छाम न व्यापै पीरा॥
नदी न नाव धरनि नहीं धीरा, नहीं सो कांच नहीं सो हीरा॥
कहै कबीर बिचारि करि, तासूं लावो हेत।
बरन बिबरजत ह्वै रह्या, नां सो स्यांम न सेत॥ १-७॥

वह परमतत्त्व जीव से दूर नहीं है क्योंकि वह सबका स्वरूप ही है। वह दूर नहीं है क्योंकि वह उसको सदा ही प्राप्त है। न वह उष्ण है और न ठण्डा

ही। न वह पुरुष-रूप है और न नारी रूप ही। वह इन दोनों में से किसी रूप में अथवा अन्य किसी भी रूप से क्रीड़ा नहीं करता है। न उसे घाम लगती है और न छाया ही। अन्य किसी भी प्रकार की व्यथा उसे नहीं व्यापती है। न उसके लिए नदी-नाव अपेक्षित है और न वह पृथ्वी पर ही अवस्थित है। न वह कांच है अर्थात् विषय-वासना का विषय रूप तुच्छ वस्तु है और न बहुमूल्य हीरा ही अर्थात् सद्‌वृत्ति या प्रेम रूप मूल्यवान वस्तु ही। अर्थात् उसको प्रेम-स्वरूप या मुक्ति-स्वरूप आदि कुछ कहना भी केवल भ्रम है। वह तत्त्व सम्पूर्ण प्रकार के वर्णों से विवर्जित है, ऊपर है। वह न श्याम है और न श्वेत ही। कबीर कहते हैं, 'रे जीव, तू ऐसे ही परमतत्त्व से प्रेम कर।'

नां वो बारा ब्याह बराता, पीय पितंबर स्यांम न राता॥
तीरथ ब्रत न आवै जाता, मन नहीं मोनि बचन नहीं बाता॥
नाद न विंद गरथ नहीं गाथा, पवन न पांणीं संग न साथा॥
कहै कबीर बिचारि करि, ताकै हाथि न नाहि।
सो साहिब किनि सेवियें, जाकै धूप न छांह॥ १-८॥

वह तत्त्व म बालक है, और न उसने विवाह-बारात ही किया है। न उसने कभी पीताम्बर धारण किया है और न वह श्याम या लाल है। वह न तीर्थ-व्रत में है और न कहीं आता-जाता है। वह मन ही मन में मौन रहने वाला भी महीं है और न बचनों को बाचाल ही। वह न नाद-रूप है और न बिन्दु-रूप ही। वह किसी ग्रन्थ या गाथा का विषय भी नहीं है। वह न जल-रूप है और न प्राण रूप ही। उससे इनका कुछ संग-साथ भी नहीं है। कबीर कहते हैं कि इस तत्त्व के हाथ-पैर कुछ भी नहीं है। र जीव, ऐसे साहब की सेवा क्यों नहीं करते हो जिसके लिए न कहीं धूप है और न छाया ही अर्थात् जिसके लिए सुख-दुःख कुछ भी नहीं है।

टिप्पणी—'धूप-छांह' जैसे प्रयोगों से कबीर की लाक्षणिक शैली की प्रवृत्ति स्पष्ट है।

ता साहिब कै लागो साथा, दुख सुख मेटि रह्यो अनाथा॥
नां जसरथ घरि औतरि आवा, नां लंका का राव सतावा॥
देवै कूख न औतरि आवा, ना जसवै ले गोद खिलावा॥
ना वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया॥
बांवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी बेद लेन उधरिया॥
गंडक सालिकरांम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥

दद्री बैसि ध्यांन नहीं लावा, परसरांम ह्वै खत्री न संतावा ।।
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगनाथ ले प्यंड न गाड़ा ।।
कहै कबीर बिचारि करि, ये ऊले (ऊँले बैलें) ब्योहार ।
याही थैं जे अगम है, सो बरति रह्या संसारि ।। १-६ ।।

कबीर कहते हैं कि अवतार आदि से अतीत उस परम-तत्त्व की शरण में आओ और इस प्रकार सांसारिक सुख दुःख के बन्धनों को मिटाकर वास्तव में सनाथ बन जाओ। उस तत्त्व ने राम के रूप में दशरथ के घर पर अवतार नहीं लिया। उसने लङ्का के राजा को सजा नहीं दी। वह देवकी की कोख से अवतरित नहीं हुआ। उसे यशोदा ने भी अपनी गोद में नहीं खिलाया। वह ग्वालों के संग इधर-उधर क्रीड़ा करता हुआ भी नहीं घूमा। उसने गोवर्धन भी नहीं धारण किया। वामन रूप धारण करके उसने छला भी नहीं। वाराह के रूप में उसने पृथ्वी और वेद का उद्धार भी नहीं किया। वह गंडक नदी में शालग्राम की पिण्डी भी नहीं बना। उसने वाराह अवतार भी धारण नहीं किया। वह मत्स्य और कच्छप के रूप में समुद्र के जल में भी नहीं डोलता रहा। बद्रिकाश्रम में बैठकर उसने ध्यान भी नहीं किया। परशुराम के रूप में उसने क्षत्रियों का संहार भी नहीं किया। उसने द्वारिका में अपने शरीर का परित्याग भी नहीं किया और न ही उसने पुरी में जगन्नाथ की मूर्ति स्थापित की। कबीर कहते हैं कि विचार करो, अवतारवाद के ये सब व्यवहार उल्ट पागलपन के तथा व्यर्थ हैं। क्योंकि य सम्बन्ध माया और देशकाल के परिच्छिन्न के हैं। इससे यही समझो कि वह तत्त्व अगम्य है। यही सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है तथा सम्पूर्ण जगत् को संचालित कर रहा है।

नां तिस सबद न स्वाद न सोहा, नां तिहि मात पिता नहीं मोहा ।।
नां तिहि सास ससुर नहीं सारा, नां तिहि रोज न रोवनहारा ।।
नां तिहि सूतिग पातिग जातिग, नां तिहि माइ न देव कथा पिक ।।
नां तिहि ब्रिध बधावा बाजैं, नां तिहि गीत नाद नहीं साजैं ।।
नां तिहि जाति पांति कुल लीका, नां तिहि छोति पयित्र नहीं सींचा ।।
कहै कबीर बिचारि करि, ओ है पद निरबांन ।
सति ले मन मैं राखिये, जहां न दूजो आंन ।। १-१० ।।

उस परमतत्त्व का न कोइ शब्द है, न कोई स्वाद और न गन्ध ही। उसके कोई माता-पिता भी नहीं हैं और न उसका किसी से मोह-सम्बन्ध है। न उसके सास और ससुर हैं और न शाला ही। न उसमें रुदन है और न उसके लिए कोई रोने वाला ही है। उसके लिए जन्म और मृत्यु के आशौच भी नहीं है। उसके कोई आराध्या माई भी नहीं है और न ही उसके लिए देव-कथा पीठ है। तू उसके यहाँ कोई वृद्धि

का अवसर है और किसी बधावे गाने का अर्थात् वृद्धि के लिए बधाई देने का। उसके यहाँ किसी प्रकार का गीत नाद का आयोजन भी नहीं होता है। न उसकी जाति-पाँति है और न कोई कुल की परम्परा ही। उसके लिए कोई छूआछूत और पवित्रता की बात भी नहीं है। न उसके लिए किसी पवित्र जल से छींटे लेने का प्रश्न है। कबीर कहते हैं कि विचार करके देखो। वह तो निर्वाण पद है, जो सबसे अतीत वस्तु है। अतः जीव, तुम सत्य-तत्त्व को अपने हृदय में धारण करो। वहाँ पर दूसरा कोई अन्य तत्त्व है ही नहीं। वह द्वैतरहित अद्वैत तत्त्व है।

नां सो आवै नां सो जाई, ताकै बंधु पिता नहीं माई॥
चार बिचार कछू नहीं वाकै, उनमनि लागि रहौ जे ताकै॥
को है आदि कवन का कहिये, कवन रहनिं वाका ह्वै रहिये॥
कहै कबीर बिचारि करि, जिन को खोजै दूरि।
ध्यांन धरौ मन सुधि करि, रांम रह्या भरपूरि (भरमूरि)॥ १-११॥

वह परम-तत्त्व न आता है और न जाता है। उसके न बन्धु है न पिता है और न माता ही। उसके किसी प्रकार का आचार-विचार भी नहीं है। वह तो उन्मनि अवस्था में रहकर ही सम्पूर्ण जगत् को देखता है, उसका साक्षी रहता है। आदि मूल तत्त्व कौन है? उनके सम्बन्ध में कौन क्या कहता है? किस प्रकार की रहनि से अर्थात् आचरण से जीव उस परमतत्त्व का हो सकता है? इन सब प्रश्नों पर अच्छी प्रकार विचार कर लेना चाहिए। कबीर विचार करके कहते हैं कि उस परमतत्त्व को कहीं दूर मत खोजो। विवेकपूर्वक मन में उस परमतत्त्व की सुधि करके उसकी स्मृति जगाकर सोचो। वह राम तो पूर्ण है, पर्याप्त है, पुष्कल है, वह सर्वत्र ही व्याप्त है।

नाद बिंद रंक इक खेला, आपैं गुरु आप ही चेला॥
आपैं मंत्र आपैं मंत्रेला, आपैं पूजै आप पूजेला॥
आपे गावै आह बजावै, अपनां किया आप ही पावै॥
आपै धूप दीप आरती, अपनीं आप लगावैं जाती (जोती)॥
कहै कबीर बिचारि करि, झूठा लोहीं चांम।
जो या देही रहित है, सो है रमिता रांम॥ १-१२॥

नाद और बिन्दु की यह साधना तो एक तुच्छ खेल मात्र है। सब कुछ वह तत्त्व स्वयं ही है, सहज स्वरूप-स्थिति ही वास्तविक वस्तु है। वह आप ही गुरु है और आप ही चेला है। स्वयं ही मंत्र है और स्वयं मत्र देने वाला या मंत्रित। स्वयं पूजा है और स्वयं ही पुजारी या पूजित है। वह स्वयं ही गाता है और स्वयं बजाता है। अपने किए हुए का वह स्वयं ही भोक्ता है। अर्थात् कर्त्ता और भोक्ता वह तत्त्व ही है। उसे चाहे जीव-तत्त्व कहो चाहे परमतत्त्व। वह आप ही धूप, दीप और आरती है।

तथा आप ही उसमें ज्योति-स्वरूप हैं। कबीर विचार पूर्वक कहते है कि रक्त और चर्म झूठ हैं, उनका भेद भी झूठा है। जो तत्त्व देहरहित है, वही वास्तव में राम है, वही सर्वत्र रमा हुआ है।

पाठान्तर—(१) 'आपै यंत्र/मंत्र आप बजावै' पाठ भी है। इसका अर्थ है आप ही यंत्र या वाद्य है और आप भी उसका जाप करता है या बजाता है।

(२) लगावै जाति—देव स्थान पर पूर्ण संकल्पित विशेष पूजा के जाता है।

चौपदी रमैंणी

ऊंकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि सूला ॥
हम तुम्ह मांहै एकै लोहू, एकै प्रांन जीवन है मोहू ॥
एकही बास रहै दस मासा, सूतम पातग एकै आसा ॥
एकही जननीं जन्यां संसारा, कौंन ग्यान थैं भये निनारा ॥
ग्यांन न पायौ बावरे, धरी अविद्या (अव्यद्या) मैंड ॥
सतगुर मिल्या न मुक्ति फल, तायैं खाई बैंड ॥ १-१ ॥
बालक ह्वै भग द्वारे आवा, भग भुगतन कूं पुरिष कहावा ॥
ग्यांन न सुमिर्यो निरगुण सारा, बिप थैं बिरचि न किया बिचारा ॥
भाव भगति सूं हरि न अराधा, जनम मरन की मिटा न साधा ॥
साध न मिटी जनम की, मरन तुरांना आइ ॥
मन क्रम बचन न हरि भज्या, अंकुर बीज नसाइ ॥ १-२ ॥

ऊँकार इसी सृष्टि का मूल कारण है। सम्पूर्ण राजा और प्रजा को एक ही सांसारिक व्यथा है। हममें और तुम में एक ही रक्त है, एक ही प्राण है और एक ही मोह ने सम्पूर्ण जीवन को व्याप्त कर रखा है। हम सब एक ही गर्भवास में दस महीने तक रहे हैं। जन्म और मृत्यु के अवसर पर हम सब जीवों को एक ही स्थान मिलता है। सार जगत् को एक ही माता जन्म देती है। फिर सबके भेद का और अलग-अलग होने का आधार क्या है ? बालक रूप धारण करके यह जीव योनि-द्वार से बाहर निकला तथा उसके योनि के भोग में ही अपना पुरुषत्व समझा। जीव ने कभी भी सार तत्त्व निर्गुण भगवान का स्मरण नहीं किया। उसने विषय के विरक्त होकर कभी तत्त्व का विचार ही नहीं किया। उसने भाव-भक्तिपूर्वक कभी भगवान् की आराधना नहीं की। इससे उसकी जन्म मरण की बाधायें समाप्त नहीं हुईं। रे पागल, तुम कभी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके। तुमने अपने चारों ओर अविद्या की दीवार बना ली। तुम्हें न सद्गुरु की प्राप्ति हुई और न मुक्ति मिल सकी। इसी से विषयों की खाई का अवरोध बना हुआ है। तुम्हारे जीने की आकांक्षा पूर्ण ही नहीं

हुई और मृत्यु शीघ्रता से आ ही पहुँची। तुमने मन, कर्म और वचन से भगवान् का स्मरण नहीं किया ताकि वासनाओं के अंकुर तथा कर्म के बीज नष्ट हो जाते।

तिण चरि सुरही उदिक जु पीया, द्वारै दूध बछ कूं दीया ॥
बछा चूंखत उपजी न दया, बछा बांधि बिछोही मया ॥
ताका दूध आप दुहि पीया, ग्यांन बिचार कछू नहीं कीया ॥
जे कुछ लोगनि सोई कीया, माला मंत्र बादि ही लीया ॥
पीया दूध रुध्र ह्वै आया, मुई गाइ तब दोष लगाया ॥
बाकस ले चमरां कूं दीन्हीं, तुची रंगाइ करौती कीन्हीं ॥
ले रु करौती बैठे संगा, ये देखौ पांडे के रंगा ॥
तिहि रु करौती पांणी पीया, यह कुछ पांडें अचिरज कीया ॥
अचिरज कीया लोक मैं, पीया सुहागल नीर ॥
इंद्री स्वारथि सब कीया, बंध्या भरम सरीर ॥ १-३ ॥

गाय घास-फूस खाकर और पानी पीकर द्वार पर अपने बछड़े के लिए दूध देती है। दूध पीते हुए बछड़े पर भी गाय के स्वामी को दया नहीं आती। वह बछड़े को अलग बाँध देता है और इस प्रकार माँ और पुत्र के बीच विछोह पैदा कर देता है। इस बछड़े के भाग का दूध दुहकर स्वयं पीने लगता है। इसमें वह किसी भी प्रकार सोच-विचार नहीं करता है जो सारे सामान्य लोग करते हैं उन्हीं के अनुकरण पर पाण्डजी भी वैसा ही करते हैं। वे माला-मंत्र का व्यर्थ ही जाप करते रहे हैं। वे गाय के रुधिर से बनने वाला दूध पीते रहे अथवा गाय का दूध ऐसे पी गय कि अन्त में वह सीधा रुधिर-रूप में ही आने लगा। एक प्रकार से वह गाय का रुधिर पीना ही हुआ इससे गाय शक्तिहीन होकर मर जाती है। मरने पर किसी बीमारी पर उसका दोषारोपण कर देते हैं। मरी हुई गाय को कुछ बकसीस लेकर चमार के सुपुर्द कर देते हैं। उस गाय के चमड़े को रंगाकर उनकी मसक तैयार कर लेते हैं। उस मसक-बाजे को लकर सब पंडितों के साथ बैठ जाते हैं। देखिये, पांडे के कैसे रंग हैं? उस मसक का पानी पीते हैं। पवित्रता का ढोंग करने वाल पांडे लोगों को आश्चर्य में डालने वाला व्यवहार करते हैं। वे चमड़े के पुर से निकलने वाल ताजा एवं निर्मल पानी को पी लते हैं। पर पाण्डे यह सब इन्द्रियों की विषयासक्ति से अभिभूत होकर ही करते हैं और इस प्रकार शरीर के माया-मोह में ही उलझ रहते हैं।

टिप्पणी—गौ-सेवा का दम्भ भरने वाला किस प्रकार व्यवहार में गौ-हत्या का वास्तविक दोषी है, इसकी सुन्दर व्यंजना है। पंडितों के पाखण्ड पर भी तीक्ष्ण व्यंग्य है।

एकै पवन एकही पांणी, करी रसोई न्यारी जांनी ॥
माटी सं माटी ले पोती, लागी कहौ कहां धूं छोती ॥

धरती लीपि पवित्र कीन्हीं, छोति उपाय लीक बिचि दीन्हीं ॥
याका हम सूं कहौ विचारा, क्यूं भव तिरिहौ इहि अचारा ॥
ए पांखंड जींव से भंरमां, मांनि अमांनि जीव के करमां ॥
करि आचार जु ब्रह्म संतावा, नांव बिनां संतोष न पावा ॥
सालिगरांम सिला करि पूजा, तुलसी तोड़ि भया नर दूजा ॥
ठाकुर ले पाटै पौढावा, भोग लगाइ अरु आपै खावा ॥
साच सील का चोका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै ॥
भाव भगति की सेवा मांनै, सतगुर प्रकट कहै नहीं छांनैं ॥
अनभै उपजि न मन ठहराई, परकीरति मिलि मन न समाई ॥
जब लग भाव भगति नहीं करिहौ, तब लग भवसागर क्यूं तिरिहौ ॥

भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसं सूल ।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहीं रे मूल ॥१-४॥

एक ही हवा है और एक ही जल है। उसमें तैयार हुए भोजन को अलग-अलग कैसे समझ लिया ? मिट्टी से मिट्टी के चूल्हे अथवा स्थान को पोत दिया उससे पवित्र कैसे हो गया ? उसमें (छुआछूत) कहाँ लगा हुआ था ? धरती को लीपकर पवित्र कर लिया। छुआछूत की अपवित्रता से बचने के लिए बीच में एक लकीर खींच ली। इससे क्या हुआ ? हमें इस पवित्रता और अपवित्रता के पाखण्ड का रहस्य बताओ। ऐसे भेद-बुद्धि पर आधारित आचार विचार से व्यक्ति इस भवसागर से कैसे पार हो सकेगा ? ये सारे पाखण्ड तो जीव के भ्रम से जनित हैं। एक को पवित्र मानना और दूसरे को न मानना ये सब जीवकृत कर्म हैं, व्यंजना है—कि मूल धर्म से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार के आचार विचार जीव को कष्ट देते हैं, उसे ईश्वर के भी प्रतिकूल करते हैं। इन आचारों में कुछ नहीं है, ईश्वर के नाम-स्मरण के बिना व्यक्ति को आत्मतोष नहीं मिल सकता है। तुमने पत्थर को शालग्राम मानकर पूजा है। तुमने तुलसी के पेड़ की पत्तियाँ तोड़ने में हिंसा का अनुभव नहीं किया। उस समय तुलसी के चैतन्य से अपने आपको भिन्न समझकर द्वैत में चले गये देव प्रतिमा को लेकर तुमने पट्टे पर सुलाया। उस मूर्ति को प्रसाद दिखाकर तुमने उसका स्वयं ही भक्षण कर लिया। यह तो बाह्य आचरण मात्र है। अतः, रे जीव, सत्य और शील का अपने अन्तःकरण में चौंका दे ताकि अन्तःकरण की अपवित्रता दूर हो सके। उसके बाद भाव-भक्ति पूर्वक भगवान् की सेवा कर। भगवान् केवल भाव-भक्ति की आराधना से ही प्रसन्न होते हैं। सद्गुरु इस बात को छिपाकर नहीं अपितु अत्यन्त स्पष्ट तथा प्रकट करके ही कहते हैं। जब तक अभय की स्थिति नहीं आती है जो भेद-भाव और द्वैत भावना से ऊपर उठने पर ही सम्भव है, मन स्थिर नहीं होता है, परम तत्त्व के प्रेम में समाहित नहीं हो पाता है। अतः हे जीव, जब तक

तुम भाव-भक्ति में तल्लीन नहीं होओगे तब तक भवसागर से कैसे पार हो सकते हैं भाव-भक्ति एवं श्रद्धा के बिना मानव के संशय एवं तज्जनित कष्ट दूर नहीं हो सकते हैं कबीर कहते हैं कि भगवान् की भक्ति के बिना व्यक्ति को मूलतः मुक्ति मिल ही नहीं सकती है।

टिप्पणी—इसमें विशुद्ध भाव-भक्ति और अभेद बुद्धि की प्रेरणा है। पूजा के बाह्य विधानों, भोजनादि एवं चौके चूल्हे की पवित्रता का खण्डन है। उन पर व्यंग्य हैं। बाह्याडम्बर, चौके-चूल्हे की पवित्रता का पाखण्ड एवं तज्जनित उच्च होने का अभिमान खण्डन के योग्य है। यह उस युग की दृष्टि से भी आवश्यक था। इसका एक सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक महत्त्व भी है। यह कबीर के सुधारवादी जीवन दर्शन की महत्त्वपूर्ण वस्तु है। अन्तःकरण की पवित्रता एवं भाव भक्ति ही मूल वस्तु है। बाह्याडम्बर भाव-भक्ति आदि को तिरोहित करके अहंकार को जन्म दे देते हैं। परमार्थ में होने पर अभेद भी व्यवहार भेद और मर्यादाओं पर आश्रित है। बाह्य पूजा आभ्यन्तर भक्ति की अभिव्यक्ति है। अथवा आभ्यन्तर भक्ति का साधन है। वैसे ही भोजनादि की पवित्रता साधन की एक अवस्था तक विशेष अधिकारी के लिए अपेक्षित है। भारतीय जीवन दर्शन की इस भूमिका का स्पर्श कबीर नहीं कर पाए। इसी से कबीर तुलसी के समान व्यापक भारतीय जीवन दृष्टि देने में असफल रहे। तुलसी की तरह कबीर सम्पूर्ण जीवन को सर्वांगीण आचार दृष्टि एवं जीवन दर्शन नहीं दे सके। पर इस सर्वांगीण जीवन दृष्टि के लिए पहले पाखण्डों का खण्डन आवश्यक था। यह कार्य कबीर ने सम्पन्न कर दिया। उसके लिए कबीर की सी ही तीक्ष्णता चाहिए भी थी। इस दृष्टि से कबीर का कार्य अत्यधिक प्रशंसनीय है।

परिशिष्ट

१. पारिभाषिक शब्दावली
२. शब्दकोश
३. अनुक्रमणिका (साखी भाग)
४. अनुक्रमणिका (पद भाग)

१—पारिभाषिक शब्दावली

अनहद नाद

यह शब्द 'अनाहत नाद' का अपभ्रंश रूप है। योगी जगत् से बहिर्मुख होकर अपनी अन्तर्मुखी साधना में लीन हो जाता है, उस समय उसको लौकिक शब्द, जो 'आहत' होते हैं, सुनाई नहीं पड़ते वह समष्टि में व्याप्त शब्द के व्यष्टि रूप को अपने भीतर सुनने लगता है, यह 'अनाहत नाद' होता है इसको सिद्धों और संतों की परम्परा में अनहद नाद कहा गया है। इस शब्द में सीमा के द्योतक हद शब्द के निषध का भी अन्तर्भाव होने से इसका अर्थ 'असीम' भी हो गया। आहत शब्द देश काल में परिच्छिन्न होने के कारण ससीम होता है; पर 'अनाहत' शब्द देश काल के बन्धनों से मुक्त होता है। 'अनहद नाद' या 'अनहद शब्द' यह केवल श्रोत्रन्द्रिय के विषय का ही द्योतक नहीं रहा, अपितु यह मन, बुद्धि, अन्तःकरण आदि के भी परे के तत्त्व का वाचक बन गया। परावाक् के रूप में यह शब्द ब्रह्म एवं चित् शक्ति का वाचक भी है। योगियों के अनुसार यह ब्रह्मरन्ध्र में शाश्वत होने वाला शब्द है। नाथ सम्प्रदाय में सहस्रार कमल के चन्द्र बिन्दु से स्रवित होने वाले अमृत को बीच में ही रोककर रसास्वाद करने तथा सूर्य को चन्द्र तक लाकर उनका सम्मिलन करा देने से इसका सम्बन्ध माना है। कबीर भी नाद में बिन्दु के स्थिर होने से 'अनाहद नाद' सुनने की चर्चा करते हैं—

'अबधू नादै व्यंद गगन गाज सबद अनाहत बोल'

नाद और बिंदु

उपाधियुक्त चैतन्य से उपाधियुक्त शक्ति का संयोग होने पर एक विक्षोभ पैदा होता है, वही 'नाद' रूप है वही नाद जब क्रियाशील हो जाता है तब बिन्दु नाम से अभिहित होता है। इस प्रकार परम ब्रह्म के इच्छा रूप को 'नाद' तथा क्रिया रूप को 'बिन्दु' कहते हैं। 'बीज' उस परम तत्त्व का ज्ञान रूप है। नाद और बिन्दु सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त रहता है। कभी कभी ये परम नाद और परम बिन्दु भी कहे जाते हैं।

'नाद' व्यष्टि में शिवतत्त्व है और बिन्दु शक्ति रूप। इन दोनों का मिलन ही साधना है। बिन्दु कभी कभी जीव तत्त्व तथा वीर्य रूप भी माना गया है।

सुरति और निरति

पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त 'सुरति' शब्द में कई अर्थ-छवियों का मिश्रण हो गया है। सुरति मूलतः स्मृति का अपभ्रंश रूप है। पर इसमें सु+रति (प्रेम) का का अर्थ भी अन्तर्भुक्त है। नाथ सम्प्रदाय में शब्दोन्मुख चित्त को 'सुचित' कहा गया है 'सुरति' के साथ यह अर्थ भी जुड़ गया है। इस प्रकार कबीर में शब्दोन्मुख चित्त को भी 'सुरति' कहा गया है। सुरति को संतों ने जीवात्मा का प्रतीक भी मान लिया है और उसको जीवात्मा रूप दुल्हन के रूप में भी देखा है। इसी से 'सुरति कमल' की कल्पना सहस्रार कमल से भी ऊपर की गई है।

'निरति' का अर्थ मूलतः वैराग्य है। बाह्य जगत् से वैराग्य परमतत्त्व की सुरति के लिए आवश्यक है। पर 'निरति' में 'निश्शेषेण रति का अर्थ भी सम्मिलित है। जहाँ 'रति' और 'रति' के विषय का अद्वैत है। जब शब्दोन्मुख चित्त अर्थात् 'सुरति' एवं 'शब्द' एक रूप हो जाते हैं वहाँ 'निरति' की अवस्था है। इसी से उसको निरवलम्ब एवं निराधार कहा गया है। शब्द सुरति योग का अन्तिम प्राप्तव्य है। इसी से 'सुरति समानी निरति में और निरति रही निरधार' कहा गया है 'सुरति' सींगी रूप अर्थात् 'शब्द' का माध्यम है और 'निरति', 'मुद्रा' उससे शब्द साधना से प्राप्त स्थिति एवं पूर्ण सिद्ध रूप है।

सहज

कबीर में सहज शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है। उन्होंने सहज के साथ 'सहज मुख', 'सहज साधना', 'सहज शील' आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है इससे सिद्ध है कि कबीर के दर्शन एवं साधना का यह मूल आधारभूत शब्द है। कबीर की साधना 'सहज योग' तथा उनके दर्शन को 'सहज दर्शन' कहा जा सकता है। 'सहज' को कबीर ने मूलतः स्वभावतः या स्वाभाविक अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। यह 'अविहड़ सदा अभंग तत्त्व का द्योतक है। इसमें कहीं भी कोई उलझाव, ऊबड़ खाबड़पन, रहस्यमयता या दुर्विज्ञेयता नहीं है। 'सहज' अनिर्वचनीय निर्गुण एवं समरस तत्त्व है। इसकी प्राप्ति का साधन भी सहज स्वरूप स्थिति है। इस साधना में ज्ञान और प्रेम दोनों का ही समन्वय है। चीन के 'ताओ धर्म' सहज प्रवृत्तिमूलक मार्ग का इस पर कुछ प्रभाव है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता है। पर वैसी ही एक जीवन दृष्टि सहज साधना में भारतीय मूल स्रोत से आ गयी है। 'पाँचों राखै परसती, सहज कही जैसोई' पर उपनिषद् की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। कबीर का 'सहज योग' विशुद्ध प्रवृत्ति मार्ग नहीं, वह तो प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों मार्गों का समरस रूप है।

उनमनि और उन्मत रहनि

नाथ सम्प्रदाय में 'मनोन्मनी' एवं 'अमनस्क'—ये दो शब्द प्रचलित थे। इन दोनों के अर्थ के साथ कबीर के द्वारा प्रयुक्त 'उनमनि' शब्द का सम्बन्ध है। वह अर्थ की दृष्टि से इन्हीं का विकास है। 'मनोन्मनी' पूर्ण समाधि एवं 'अमनस्क' समाधि की उस अवस्था का द्योतक है, जब मन भावाभाव अवस्था से विनिमुक्त रहता है, उसे अपने ही होने और न होने की चेतना नहीं रहती है। 'उनमनि' रहनी' भी यही समाधि की अवस्था है। इसमें मन के उर्ध्वगति होकर उस परमतत्त्व में लीन रहने का संकेत भी है। 'उनमन' शब्द का अर्थ है, उदास, उदासीन एवं 'अन्यमनस्क'। इस अर्थ में यह शब्द राजस्थान के कुछ भागों में अब भी प्रचलित है। सांसारिक विषयों से उदासीन रहने, जगत् में उदास एवं अन्यमनस्क रहने का यह भाव भी इस 'उनमनि रहनी' में है। यह साधना का एक प्रकार है। सांसारिक विषयों से उदासीन एवं अपने होने या न होने की चेतना से ऊपर उठा हुआ मन उनके अर्थात् परमतत्त्व के 'मन' में ही लगा रहता है। इससे एक तरफ तो इस शब्द से भगवान् में प्रेम का संकेत है तथा दूसरी तरफ भगवान् की इच्छानुसार ही रहने एवं उनको आत्म समर्पण कर देने का संकेत है। प्राणों के संयमित होने से मन की सुस्थिर अवस्था वाल समाधि का अर्थ तो 'उन्मनी' शब्द को नाथ सम्प्रदाय के 'मनोन्मनी' शब्द से ही मिल गया था। "मारुते मध्ये मनः स्थैर्य प्रजायते यो मनः सुस्थरीभाव सैवावस्था मनोन्मनी।" इस प्रकार 'उनमनि रहनी' में सांसारिक विषयों से उदासीनता, अपने पृथक अहं की चेतना का अभाव, समाधि, उनके (भगवान् के) मन में रहना, उनका ही मन में ध्यान करना, उनकी इच्छानुसार रहना, उन्हें ही आत्मसमर्पण करना—ये सभी अर्थ एक साथ ही अन्तर्भुक्त हो गए हैं। इसमें योग साधना, ज्ञान एवं भक्ति तीनों के अर्थों का विचित्र समन्वय है। इस जीवन पद्धति में अनासक्ति योग एवं मदर्थ कर्म के दर्शन के तत्त्व भी अत्यन्त स्पष्ट हैं। 'उनमनि रहनी' की जीवन साधना कबीर के 'सहज योग' का ही एक तत्त्व है।

अनभै—(अनुभव, निर्भय एवं अभय स्थिति)

इस शब्द का प्रयोग भी कई अर्थों में हुआ है। एक ही स्थान पर इसके दोनों या तीनों अर्थों का मेल भी है, अतः पहला अर्थ तो अनुभव है। इस अनुभव को प्राप्त करने के लिए 'निर्भय होना आवश्यक है, अतः यह अनुभव स्वयंवेद्य अभय रूप है अथवा इस अनुभव का परिणाम 'अभय' स्थिति है।

निहकर्मी—(निहकामी, निष्काम, नैष्कर्म्य, स्नेहकार्य नेहकाम, सांसारिक दृष्टि में अनुपयोगी)

यह 'निष्कर्मी' शब्द का अपभ्रंश रूप है। इसमें बाद में 'कर्म' के अपभ्रंश रूप काम के वासना एव इच्छा वाल अर्थ भी अन्तर्भुक्त हो गए हैं। अपभ्रंश में 'स्नेह' के अर्थ में 'निह' का प्रयोग होता है। इससे निहकार्मी का अर्थ हो गया 'स्नेह ही जिसका कार्य है' और 'स्नेह ही जिसका काम्य है, इच्छा ह।'

'निष्कर्मी' से 'नैष्कर्म्य' एवं निः या निष् के साथ 'काम' जोड़ देने से 'निष्काम भाव' के जीवन-दर्शन के य दोनों अर्थों की छवियाँ भी 'निष्कर्मी में आ गईं। राजस्थान में 'निहकर्मी का 'निकरमी रूप भी प्रचलित है जिसका अर्थ 'व्यर्थ', 'किसी काम की नहीं' है। इस प्रकार इस अर्थ में इस शब्द का अर्थापकर्ष भी हुआ है संतों ने विरोधाभास एवं उलटबाँसी के चमत्कार के लिए ऐसे शब्दों को उसी अपकृष्ट अर्थ में ग्रहण करते हुए, उनमें साधना एवं आध्यात्मिक दृष्टि से नई अर्थ-छवि ला दी ह। जो जगत् की दृष्टि से निकरमी है, व्यर्थ है, वही निकरमी वास्तव में 'पतिव्रता एवं 'सती' ह। इस प्रकार इस शब्द में नैष्कर्म्य, निष्कामभाव, स्नेह काम एवं संसार की दृष्टि से अनुपयोगिता—ये सभी अर्थ-छवियाँ एक साथ झंकृत हैं।

२—शब्द-कोश

अऊत = अनुत्पन्न, व्यर्थ निस्संतान
अकन = अखण्ड, अक्षत्
अकल = माया रहित
अकुलांना = कुलातीत, कुलों से ऊपर का
अंखड़िया = आँख
अंग = प्रसंग, लक्षण, उपादान
अंगीठ = अँगीठी
अंदेह = रंज, गम
अंमडना = मन लगना, रमना, कहना
अखिर = अक्षर
अचम्भा = आश्चर्य
अजरावर = अजर = अमर
अजराईल = यमदूत, शूरवीर, अमर
अघोरी = चमड़ा, पादतरी
अधफर = बीच में, मझधार
अधफर = आधे रास्ते
अनख = पश्चात्ताप करना, झुँझलाना
अनभै = अनुभव, निर्भय
अनल = ककनूस पक्षी; एक विशेष पक्षी
अनि = अन्य, भिन्न-भिन्न
अपरंपार = अपार, सीमा रहित
अपनपो = अपनत्व
अपरस = दूषित रस
अपवाद = निषेध, निंदा
अवल = प्रथम
अविहड़ = सहज, ऋजु
अमल = नशा, मूलतः अफीम का नशा
अरध = नीचे

अरय = अरत, उच्चाट
अरब = पुकारना, बुलाना
अलख = अलक्ष्य
अलपतन = अल्पत्व
अवधू = एक विशेष पंथ का साधु, अवधूत
अवलिया = औलिया
अवर = दूसरा, अन्य नीचा
अविगत = अव्यक्त
अस्थूल = स्थूल, सूक्ष्म
अस = ऐसे, अश्व, होना
असरार = दे० असराल
असराल = बेहोश, मदहोश, पागल, लगातार
असोस = अशोष्य
अहटि = हटकर
अहरणि = निहाई
अहला = व्यर्थ
आखै = कहे
आखिर = अक्षर
आघरणी = सुगन्ध, आघ्राण
आवटना = गरम होकर खौलना
आथवै = छिपे या अस्त
आदेश = उपदेश
आन = अन्य
आभ = जल
आमन = मनोनुकूल, अनुकूल मन
आरसी = आइना, शीशा
[illegible]
[illegible] = मन [illegible]ना, रमना
आयध = आयुध

इतरा = इतना
इब = अब
उंडा = गहरा
उगै = उदित होना, निकलना
उघाडिया = खोल दिया
उघाडै = नंगे
उजड़ना = बर्बार होना
उझरी बजहा = संगीत सभा की समाप्ति के सूचक संगीत का बजना
उतावला = शीघ्रता करने वाला
उदमाद = उन्माद, प्रमाद, शैतानी
उनमनी = उन्मन अवस्था
उनमाना = अनुमान किया
उपजणि = उपज, आध्यात्मिक प्रेम, अथवा आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति।
उपरहिडों = ऊपरी भाग
उपनी = उपजा, उत्पन्न किया
उपाया = उत्पन्न किया
उबरन्त = बचे, शेष रहे
उमेषा = उद्भाषित, आश्चर्य चकित
उरध = ऊपर
उस (तुष) = छिलका
उसारै = उठावै
उहार = डोली का परदा
ऊकटि = किण्वित (Fermentia)
ऊगै = ऊपर आया
ऊझड़ = उजड़ रास्ते से हटा हुआ
ऊँडा = गहरा
ऊनी = हीन, न्यून या उसकी
ऊनमि = उमड़कर या उन्नमित होकर
ऊबट = उल्टे-सीधे मार्ग
ऊभ = कम भरा हुआ, खाली
ऊखड़ = उखाड़ फेंकना
ऊभा = खड़ा
ऊमति = समुदाय, सम्प्रयाय

ऊलै = उल्टे, कष्ट पाया
ऊसर = अनुपजाऊ
एक-एक = अलग-अलग
एकमेक = एकत्र, अद्वैत
ओछा = तुच्छ, कद में छोटा
ओट = सहारा, आड़, पीछे
ओड़ = पक्ष
ओड़ि = विपत्ति
औघड़ = ऊबड़-खाबड़ घाट
औघड़ = परमहंस, आचार-विचार की मर्यादा से ऊपर
औझड़ = ऊजड़ स्थान, निर्जन, रास्ते से हटा हुआ
और = दूसरा, अन्य
औली = ढकी हुई, ओट में, छिपे हुए
औलीतो = छप्पर का दीवारों से आगे निकला हुआ भाग
औसर = अवसरानुकूल, संगीत सभा
औसेरि (उसेरि) = किसी की याद आना और तद्जनित चिंता
कंक = तीक्ष्ण, उलझन, लोहे का एक शस्त्र
कंचुली = केंचुली
कंडुवा = एक विशेष प्रकार की घास, कुटुम्ब
कंद = मिश्री
कंदूरी = शाक पकाने का पात्र
कंवड़ली = कम्बल
कछावा = काछना, पहनना
कजोड़ा = कूड़ा, तृणादि का समूह
कथनी = कहना
कथीर = रांगा
कबे = कभी
कनराई = कंदरा, दरार के साथ फटना
कनिहार = कर्णधार
कनीर = एक पोधा विशेष

किबला = कर्बला, नमाज की दिशा पश्चिम दिशा
कबीरा = कविड़ा (राजस्थानी)
कबीर = ब्रह्म, महान् कवि
करंक = अस्थि
करणी = काम
करहल = घास में लगने वाला फल
करहा = ऊँट
करारी = दृढ़ता, संयम, स्थिरता
करुआ = कड़वा
करऊबा = पतबार
करौती = चमड़े की प्याली, आरा
कल = खण्ड
कलतर = सिक्का, कलदार
कलप = पछताना, रुदन करना, रोना
कलफ = कलप, मांड़ी की कड़क
कलाल = मदिरा बेचने वाला, कल्पपाल
कलू = कलियुग
कविता = काव्य करने वाला
कवीन् = काव्य करना
कस = बबूल की छाल (मदिरा में तीखा, पन लाने के लिए डाला गया पदार्थ)
कसाइय = कषाय, लाल रंग की होना
कसाव = कह, कसा
कसौटी = कष पट्टिका, कसौटी का पत्थर
कहणी = कथनीय
काइ = क्या
काइर = कायर, डरपोक
काज = मरने के बाद की गई ज्योनार आदि
काठै = किनारे
कानि = मर्यादा, विचार, पासंग
कांचली = कंचुकी
कारी = इलाज
कात्यां = कटार
कालबूत = कच्चा, कृत्रिम, बनावटी, महराव आदि बनाने के लिए मिट्टी का तैयार किया हुआ
कालर = क्षार-प्रधान धरती
किराना = क्रयाणक
किलिकिलि = परेशानी, झंझट, किराने में मिले हुए भुस आदि
किरषि = गोफिया (खेतों में पक्षी उड़ाने की रस्सी से बनी हुई वस्तु)
किसा = कथा
कीली = कील
कींगुरी = एक प्रकार की वीणा
कुकडी = मुर्गी
कुचिल = मलीन
कुञ्जा = क्रोञ्च
कुटकी = विटपी, छोटी कुटिया
कुटवारी = कोतवाली, दुर्ग की रक्षा
कुटवाल = दुर्गपाल
कुदरत = माया, नियति
कुरलियां = व्यथा में कूंजना
कुरहै = व्यथा का अनुभव करे
कुलफ = ताला
कुलाल = कुम्हार
कुसमल = पत्र
कूक = पुकार
कूख = कोख, उदर
कूड = बुरा, निकम्मा, मूर्ख
के = कितना, कुछ
केता = कितने ही
के ही = किस प्रकार
कोट = प्रासाद, दुर्ग
कोटीधज = करोड़पति
कोली = गोद

कौरी=कपड़ा बुनने वाला
क्रितम=कृत्रिम
खंडे=काटे
खड=घास
खड=चलना
खड़ाउ=पैर में पहनने का काठ का पादत्राण
खद्ध=खाया हुआ
खये=नष्ट हुए
खर=गधा
खरिहान=खेत
खसा=बधिया किया हुआ
खांगो=झगड़ा
खाई=दुर्ग या परकोटा के चारों ओर का गहरा गड्ढा जो पानी से भरा हुआ है।
खाडू=व्यापारी
खाडी/खांडाली=कामिनी
खांणकी=वेश्या, काटने वाली
खालसैं=राज्याधीन, एकाधिकार में
खारिस=एकाधिकार, विशुद्ध
खालसा=शुद्ध, निष्कलुष, बचे हुए
खासी=प्रमुख, राज्य की वस्तु बनवा
खिल=नष्ट करना
खिलखान=सृष्टि, प्रजा, सब, खिलकात-एकान्त में
खिवै=बिजली, चमकना
खिसै=सरकना
खता खवाना (मुहावरा)=पराजित करना
खुर्द=अल्प, छोटा
खूर खोज खोना (,,)=नाम निशान मिटाना
खूँटी=समाप्त
खूँणैं=परिवेष्टित स्थान, कोना
खूँदि=दूँसकर, उछल-कूद कर
खूसरै=खूसट

खेलि=समूह
खेलिबे=दे० खेलि
खेहि=मिट्टी, धूल
खोखरी=खोखली, खाली
खोडि=खोखलापन, लांच्छन
ख्यौ=क्षय
ख्वार=व्यर्थ, अपमान
गंडा=पाँच-पाँच की गणना, गाँठ, गट्ठर
गड्=गड्ना
गह्ड्=गर्त, कब्र
गडरी=गाडर, भेड़
गरासै=ग्रसित करे, निगल ले
ग्रन्थ=द्रव्य, गाँठ में द्रव्य
गलका=मछली फँसाने का काँटा; गिजा की वस्तु
गलबल=कोलाहल, खलभल
गहर=विलम्ब
गहगह=प्रसन्न होना, प्रेम में अवगाहन करना
गह्यां=पकड़ने से
गहिला=पागल
गहेलड़ी=पागल स्त्री, आदेश ग्रस्त
गाज=गर्जन करना
गांठें=गठ्ठर, गाँठ लगाना, गाँठ लगाकर सुधारना
गार=गुरुता
गारड=विष वैद्य
गाल=गलाना
गालि=सोने आदि को तपाने का बर्तन
गिले=निगलना
गींद=गेंद, कन्दुक
गुंढ़ी=गाँठ या गुत्थी
गुदड़ी=पुरानी-धुरानी चीजों का बाजार
गुहारि=पुकार
गुदर=गुजारिश करना, निवेदन करना
गूडर=बढ़िया गुड़िया, बड़ी पतंग

गूंनि=बोरी, बारदाना
गोर=कब्र
गोरवैं=प्रवेश द्वार पर, रास्ते से ही
गोंहने=साथ
गोरा=किनारा
गोला=छोटा बाजार
ग्रवातण=गुरुत्व, गरिमा
ग्रस्टा=सर्वाधिक गुरु
ग्रिह=घर
ग्वाड़ा=चाय का बाड़ा, चौड़े में
घट/घट्ट=घिसना, समाप्त होना
घड़ण=गढ़ना
घरवात=घर का साज-सामान
घरिआर=घड़ियाल, घण्टा
घाट=घिसना, कम होना, टाकर पड़ना
घाटी=पर्वत की घाटी, संतरण का साधन, प्राप्त होने का स्थान
घांण=पिसने की वस्तु
घांणि=घानी (तेल पेरने की)
घाल=डालना
घाल्या=डाला, डालने से
घिण=घृणा
घुरडि=खुरचकर
घूष=घिसना
चंगा=अच्छा
चंदवा=वस्त्र-विशेष जो वर-वधू के विवाह आदि में सिर पर छाया जाता है।
चंधा=चुंधरा, जिसे नेत्रों से प्रकाश सहन न होने से स्पष्ट दिखाई न पड़े।
चख=नेत्र
चखा=स्वाद लिया
चरहल=चट्फल, चटनी के काम का फल

चारखानि=चार प्रकार के जीव–अण्डज, पिण्डल, उष्राज, जरायुज
चाई/चाय=इच्छा, उत्साह
चाठ=कुएँ के किनारे का पत्थर
चाहन=देखना
चिकारा=एक जाति विशेष का मृग
चिगाई=दहकाई, सुलगाई
चिगाव्:=चुकाना
चिनी=इकट्ठी हुई
चिलकाई=बच्चापन, यौवन
चीस=व्यथा
च्यंतामणि=चिंतामणि, भगवान्
चोखा=अच्छा
चोष=देखना, पैनी दृष्टि वाला
चोज=स्वाद, उल्लास, चमत्कारपूर्ण कथन
चोल=मंजीठ
छंछर=छलकना, उछलना कष्ट भोगना
छछिहारी=छाछ ले जाने वाली स्त्री
छता=रहते हुए अस्तित्व
छाक=छकना, मध्याह्न का भोजन, तृप्ति मस्ती
छान=छप्पर
छत्रधार=राजा
छाना=छिपा हुआ
छांनि=छप्पर
छिन=क्षण
छिनहर=पत्तियों का
छींको=छत से लटकाई जाने वाली वस्तु जिस पर भोजनादि रखे जाते हैं
छीलर=पल्लव, छोटा, तालाब छिलका
छुछंद=पूर्ण स्वच्छंद
छेक=छेद
छेको=बीच की दूरी
छूंछ/छोछा=खाली

छोति=छूत
जंजाल=झंझट
जदपि=यद्यपि
जगाति=चुंगी
जद=जब
जर्णा=पाचन की क्षमता, पाचन, आत्म-
सात्, प्रशंसा, जीर्ण न होना
जरणा=दे० जर्णा
जलहर=जल का स्थान
जसवै=यशोदा
जांण=ज्ञान, समझ
जाग्या=जाग्रत
जामै=जन्म ले
जाजरा=जर्जर
जातिग=जन्म सम्बन्धी
जीवत मृतक=जीता हुआ ही मरा
हुआ जीवनमुक्त
जाया=पैदा हुआ
जार्‌या=जला दिया
जु=जो, क्योंकि
जुगु=संसार
जुगुति=युक्ति..
जुवा=भिन्न-भिन्न
जूजुवा=जैसे-जैसे, अलग-अलग
जे=यदि, कि
जेठी=बड़ी
जेबड़ी=रस्सी, डोरी
जोई=जलाना (दीपक), देखना, स्त्री
जोगति=युक्ति
ज्यंद=जिंद, जीव
झंखि=झींककर, झकमारकर
झंझर=जर्जर, झीना
झंटा=झंझट
झंपेऊ=बंद करूं, ढक लूं
झबूकना=चमकना, झबझबाना
झल=ज्वाला, लौ

झाडि=पूरी तरह, सम्पूर्ण, बुहारकर
झाल=लपट
झिरहर=सुराखों वाला
झींवर=मछली पकड़ने वाला
झीणा=क्षीण
झूझै=लड़ै
झूरना=बिसूरना (किसी से लिए अथवा
किसी की याद में)
झोल=राख, जरायुज
टाँक=मोती का तोल विशेष (करीब छः
आने भर)
टांडा=वणिजारों का कारवाँ
टापा देना=रास्ता भुलाकर भटकाना
टिकुटी (टिकुरी)=तकली, बेचैन
टींडरी=रहट के पात्र
टीबा=टीला
टोकणी=एक पात्र विशेष
ठगोरी=ठगी, ठगी करने वाली
ठमूकड़ा=स्थिर, निश्चल, निर्विकार
डगा=लकड़ी, लाठी
डरराई=काँपना, डगमगाना
डसना=दंशन
डहकना=छलना
डाकि=फाँद गये
डागल=छत का ऊपरी भाग
डाँव=दाव (खेल का)
डूंघा=गहरा; नारियल का बना हुआ
पात्र-विशेष जो घड़े से पानी निकालने
के काम आता था।
डंड=लकड़ी का गठीला टुकड़ा
डूंडा=दौना
ड्यंभ=दंभ, पाखण्डपूर्ण वेश
ढुरि=ढुलककर
ढोलना=ढुलकाना, उँडेलना
ढोरी=ढरकने का चाव, लगन

ढोर = चौपाया
तकती = शव
तत = तत्त्व; परमतत्त्व
तंति = तंत्री
तनगनी = कपड़े आदि टांगने की लंबी बँधी हुई डोरी
तनी = डोरी, कपड़े सुखाने की डोरी, खिंची हुई
तड़प = ताप का अनुभव
तपति = आग
तरउवा = पदाति
तरकि = उछलकर
तरंड़वा = तिरने का साधन रूप बेड़ा
तरस = त्रास, लालायित रहना
तलप = बेचैनी
तलि = नीचे जड़ में
तलिहारी = नीचे की ओर
तष्टा = तसला, शाकादि पकाने का पात्र-विशेष
ताकू = तकुआ
ताग = धागा
ताईं = लिए, वास्ते
ताजन = चाबुक
तारी = त्राटिका, ताली
तालामेली (तालाबेली) = बेचैनी, तड़पन
तालिब = जिसे तलब लगी है, जो चाहने वाला है
तिरण = पार होना
तिसाई = प्यासी
त्रिषा = प्यास
तुंड = मुख
तुर = तुरही
तुरी = घोड़ी
तेवर = तिहरा
तै = वैसा ही, वही
तौ = तब भी
तौपरि = तब भी
थर = गधा
थरहरी = थरथर काँपी
थाकि = थकान
थांघ = थाह, गहराई
थुर = पेड़ की डाल
थोथा = खोलना, हल्का, खाली
दरगाह = दरबार
दरबानी = चौकीदारी
दरवौ = द्रवित होओ
दरवै = सामने हो जाना, मारने को दौड़ना
दरवेश = फकीर
दरीबल = अनार
दरीबा = बाजार, मद्य की दुकान
दरोग = झूठ
दवा = दावाग्नि
दवासू = दूसरा मुँह
दह = पानी का गहरा गड्ढा
दाझ = जलन
दाति = दहेज, दहेज का एक रूप, दान
दादि = प्रार्थना
दाव = खेल की बाजी
दावै = अधिकार का अहंकार या भावना
दिज = ब्राह्मण
दीठ = देखा गया
दीदार = दर्शन
दुकान = भपका (शराब का)
दुनी = संसार
दुमन = प्रतिकूल मन
दुरति = पाप
दुराचनि = क्रुद्ध होने वाली
दुरासनि = बुरा-भला करने वाली कठोर
दुहेली = कठिन

दूंवर=अहंकारी, योद्धा
देवल=मंदिर
देहुरा=देवालय
दोजग=दोजख, कलंक, नरक
दोढा=जिसका धारण करना कठिन है
दोरहा=कठिन
दोवटी=दुपट्टी, ओढ़ने का वस्त्र
दोवर=दुहरा
द्योहड़ा=दिवस
द्योहाडी/द्योहारी=प्रतिदिन
धज=ध्वजा
धनिक=धनुष
धरी=रखैल
धवलोटे=प्रातःकाल
धाहड़ी=चीख-पुकार
धीजना=विश्वास करना
धीय=लड़की
धुनही=धनुष का छोटा रूप
धूत=धुना हुआ, साफ किया हुआ
धूं=धौ, तो, कि, भला (संशय विकल्प आदेश आदि के लिए प्रयुक्त)
धूंवर=धूम
धोरा=सिचाई की बड़ी नाली
धोरे=पास में, निकट
धोला=श्वेत
धोलहर=महल, बादल
नखेद=निषेध
नटवा=नट या नाचने वाला
नवेरा=निपटारा
नसनी=नलिका, शुकों को फंसाने के लिए लगाई हुई एक प्रकार घूमने वाली नली।
नवल=नेवला
नाका=सिरा, नोंक
नाल=जड़, तंतु
नालि=निमित्त, साथ, तोप की नाल
नावरी=छोटी नौका
निगुंरावा=गुरु विहीन
निगुंसावा=स्वामी-हीन
निग्रह=रोकना, नियंत्रण
निज=वास्तविक, सच्चा
निज=आत्म स्वरूप
निदरक=साहसी, अलग न होने वाला
निनार=अलग-अलग
निपजी=उपज
निरंजन=माया रहित
निमसले=समाहित कर ले
निरच=न चूने वाला
निरभै=भय रहित, निश्चित
निरति=नृत्य, आत्मानुभूति निश्शेष रति, वैराग्य
निरबाल्या=एकाकी, अकेला
निरवाह्या=निर्वाह किया हुआ, निभाया हुआ
निवाला=ग्रास, भोजन
निवाण=नीची ढाल
निसरनी=सीढ़ी
निसहुरा=अकुशल, जिसमें शऊर न हो
निस्तरिया=निस्तार प्राप्त करना
निहोरा=आग्रह, मनावना
निस=सष्ट,
निहाल=कृतकृत्य
नीसाणी=निशान, चिन्ह
नेड़ा=निकट
नेवगी=नेग लेने वाला, नाई कर्मचारी
नोतम=अनुत्तम
नौबत=बहुत बड़ा नगाड़ा, मंगल या वैभव के सूचक वाद्यों का बजना
पखालै=धोवे
पंखी=पक्षी

ह=पक्षी
ड़ा=पुत्र, सम्बन्ध, सहारा
ल=पंगु
संयल=पंच शैल एक पर्वत विशेष, जो पंचेन्द्रियों का प्रतीक है
ला=रेशमी वस्त्र (स्त्रियों के पहनने का)
=पतला, कच्चा, शलम, लाल रंग
डा=पंचांग
=लाज
ाई=विश्वास करे
धारा=विश्वास करने वाला
मोद=प्रमोद
हि=अहंकार या प्रमाद में बहकना
सा=परिपुष्ट किया, उल्लसित किया, कहा
=आधे का आधा
ी=विवाहित स्त्री, पत्नी
डी=जल रखने का स्थान
नि=अंतिम लक्ष्य, परायण (शाक्त के लिए साधना का माध्यम स्त्री), आसक्ति, सार
े=हरी-भरी होवे
ण=जीन कसना
नि=ऊँट आदि को लाद कर तैयार करना
ता=आग, लपट
टी=लपेटी
=प्रसार
रा=संसार का प्रसार
=द्रवित होना, अनुग्रह
=मार्ग
=रुई के बदले में स्वीकार्य सूत, स्वीकार्य
पा=पहरेदार
=पक्ष

पारवे=में, रहित
पाइड=पागड़ा, रकाब
पाई=फैले हुए ताने पर कूँची करना
पाई=जिस पर ताना फैलाया जाता है
पांई=पैर
पाट=रेशम
पाडी=उपाड़ी, डाली, बनाई
पाणति=पानी की नाली को काटकर क्यारियों में पानी देने वाला
पातला=पतला
पान=मांडी का कलफ, पण्य, पत्ता
पारखी=जिसे परख है, पहचान है
पारधी=वधिक
पालि=तालाब के चारों ओर की मिट्टी की मेंड
पावरो/पावड़ी=जल संचय का स्थान
पावढो=पुर, चड़स
पास=पाश, फन्दा
पासा=खेल का पासा
पांसु=धूल, मैल, गोबर, खाद
पाहंण=पत्थर
पाहुणा=मेहमान, अतिथि, ससुराल में दामाद कहा जाता है
पिनच=प्रत्यंचा
पियाला=पीने वाला, प्याला
पीरना=पेरना
पीला पड़ना=रक्ताभाव से कमजोर होना
पुड=पुट
पुडी=पुडिया
पुन्नि=पुण्य
पुरिया=सूत की एक अँडियाँ
पुरिषा=पुरुष, पुरखे, वृद्धजन
पुहुप=पुष्प
पुमाहि=गर्व करना, प्रयुक्त होना
पूगना=पूर्ण होना, पहुँचना, समर्थ होना

पूठि=पीठ
पूर=पूरित करना; भरना
पूरइया=तकुआ
पैंकाकार=सेवक, फुटकर काम करने वाला
पैंका=छोटी रकम, पैसा
पेखड़ा=बेड़ी
पेखना=देखना, तमाशा
पैंडा=पगडंडी, मार्ग
पेलना=ढकेलना
पेसि=प्रवेश करके
पेषि=तमाशा, अभिनय देखकर
पेषे=देखे
पोट=गठरी
पोतनहारी=जल या मिट्टी का पोता लगाने वाली
पोवैं=पिरोये
प्यंड=पिंड, शरीर
प्यंडर=पीलिया, पिंगल, पीला
प्रबाल=मूँगा
प्रमोधैं=समझावैं
फटक=पत्थर की सिला
फरंफि=झट से
फलसो=दरवाजे पर लगा हुआ टहनियों और कांटों का किवाड़
फिल=नष्ट
फोकट=मुफ्त
बंका=बांका, दुर्गम
बंग=बांग
बंदगी=प्रणाम, सेवा
बंब=डंका, प्रशंसा, अहंकार
बंबई=चीटियों के बिल
बंस=बांस
बंचो=गए हुए, वंचित
बकसना=क्षमा करना

बकुला=छिलका, बक्कल
बजगार=बुराई करने वाला
बजगारी=बुराई
बजहाई=जबरदस्ती, बज्राघात
बटवा=बटुवा
बडहूली=बड़े-बड़े आकार का
बणराइ=बनराजि
बधावना=बधावे, मंगल या हर्ष सूचक गीत
बधिर=बहरा, बहरापन
बनजारा=व्यापारी
बनवारी=बनमाली
बनिज=व्यापार, व्यापार की वस्तु
बपुरा=बेचारा
बमेक=विवेक
बरत=रस्सी
बदत=समझना, परवाह करना
बदेस=विकृत
बरतिया=व्रती, काम में लिया, व्यवहार किया
बरियाँ=अवसर, बार, समय
बल=जलना
बलाह्री=बलाधिकृत
बलीता=ईंधन
बसियार=बसेरा
बहीर=सेना के साथ चलने वाले सेवक, स्त्री आदि की पीछे चलने वाली भीड़
बहोडि=वापिस
बाईक=बचन
बाकस=बकसीस
बागा=ध्वनित हुआ, व्याप्त, बजा
बागुल=एक पक्षी-विशेष जो पेड़ों के तनों से उल्टा लटका रहता है और मुख से ही टट्टी करता है।
बाछ=बांछा

झ=बन्ध्या, बन्धन; बिना
ट=रास्ता
ड़=खेत की रक्षा के लिए बनाई गई झड़बेरी की दीवार
ड़ी=बाटिका
ढ़=काटना
ढ़ी=बढ़ई
ण=स्वभाव, आदत
न=मेल, बानक, सामंजस्य
ना=वेश
बा=पिता
टना=पीसना
बी=सर्प का बिल
बल=पिता
र=दफा, देर
रुनि=मदिरा
ल=अनाज की बाल
ल्हा=प्रियतम, वल्लभ
वे=बजावे
वला=पागल
सन=बर्तन, विशेष प्रकार की थैली
सरि=दिन
सिग=वासुकि
सी=जो ताजा न हो
हणी=बैली, रथ
ही=उगाई, बोई
ह्या=फैंका
हिरा=वंचित, अभाव में
हुला=प्रवाह
षहुर=सर्प
गूचना=उलझन में पड़ना, दूषित करना, नष्ट करना
गूचनि=छींछालेदर होना
गूता=नष्ट हुआ, उलझ गया
पार=भेड़िया

बिझुका=जानवरों को डराने के लिए खेतों में खड़ी की गई नराकृति
बिड़रत=भागना, तितर-बितर होना।
बिडराना=छोड़ना, उपेक्षा करना
बिडारे=भगाये
बिडाणी=बिरानी, पराई
बिढ़ता=विष्टा
बितड़=वितरण करना, समाप्त करना
बिनांण=विवेक, ज्ञान, तर्क-वितर्क
बिनानी=विज्ञानी, तर्क-वितर्क करने वाला, नासमझ
बिव=दो
बियाही=बच्चा दिया, विवाहित
बिरदंग=मृदंग
बिरही=तरह, प्रकार, वियोगी
बिरध=वृद्धि
बिलंब=देर-देर करना, रुकना
बिलंबिया=रमा रहा
बिलम=बिलम्ब, रम जाना
बिलंब्या=लवलीन हुआ, आसक्त हुआ
बिलग=अलग होना, संलग्न होना
बिलनी=बिल्व पत्र
बिलवा=बिलाव, बिल्ली
बिलाना=बिलीन होना
बिलूंठा=चूहा, बिल में रहने वाला
बिलुंठित=लुटा हुआ
बिबरजत=रहित, परित्यक्त
बिसाहुणा=क्रय-विक्रय का कार्य, वस्तु
बिसियार=विशाल
बिसूरना=प्रेमी के लिए अनुताप
बिहड़=जंगल, झाड़-झंकाड़ वाला
बिहडै=छोड़ना, अलग करना
बिहाई=व्यतीत करना
बीडरी=हड़बड़ाकर भागना, बिखर जाना

बींद=वर, दूल्हा
बीनै=बुनै
बीर=भाई
बीसरना=भूलना
बीसवै=विश्राम करना
बीहो=कष्ट दो, डराओ
बुगचा=कपड़े रखने का एक थैला-सा
बुझी=बुझ गई, समाप्त हो गई
बुहारना=झाड़ना
बूझना=पूछना
बूटी=जड़ी-बूँटी, पौदा
बेठि=बैठकी
बेगर=भिन्न
बैठो=बिष्टी, जीविका
बेलड़ी=बेल
बैठ्या=घिरा हुआ
बेढ़ा=ढेर
बेह=छेद
बैंड=अवरोध, लकड़ी का हत्था
बैसंदर=अग्नि
बोलगन=सेवा, प्रेम
बोवे=डुबावे, बोना (अनाज)
बोरा=पागल
बोहड़ा=समतल खेत
बोहरा=उधार धन देने वाला
ब्यंदू=जानना
ब्याही=दे० बियाही
भटछार=भाड़ की राख, कूड़ा-करकट
भगवंत=भगवान्
भंगार=कूड़ा कर्कट
भरंति=भ्रान्ति
भलका=भाले का फलक, चमक
भवन=भुवन
भाइ=भाव, समझ
भांडा=पात्र

भानण=भग्न करना
भाजना=भागना
भारा=भाड
भावै=चाहे
भिद्या=चुभ गया
भी=फिर भी
भीर=सहारा, सहायतार्थ
भूँचै=लिप्त रहना
भूंचै=दग्ध होना, भोग करना
भूका=अज्ञान, आवरण
भेरा=बेडा
भेलना=एकमेक कर देना
भेला=भेदन करना, इकट्ठा
भेव=रहस्य
भोइन=ग्राम-शासक
भोयन=मदला पर लगाने का आटा
भौ=संसार
भौंजलि=भवसागर
भ्वैं=भूमि
मंछा=मछली
मंत=मंत्रणा
मंत्रेला=मंत्र देने वाला, मंत्रित
मंदला=वाद्य-विशेष
मचाई=खूब हिलाई हुई, हिलाना
मजकण=मज्जा, गिरी, गूदा
मत=ऐसा न हो
मदन=मोम, कामदेव
मधे=बीच में
मलणि=रौंधने की क्रिया
मसकीन=दीन, असहाय
मसीति=मसजिद
मष्ट=चुप
महुँ=मधु
महरू=मछुआ

ांड=सृष्टि
ांडी=रची
ाडिया=विवाह-मण्डप, साज-सज्जा
ान्यक=माणिक्य
ालिम=विद्वान्
ाल्लिया=चौबारा या ऊपर का कमरा
ाहीत=अस्लीयत
मिलकी=बिल्ली
मिसदीन=दे० मसदीन
ीना=एक जाति विशेष, धूर्त, चोर
ीनी=बिल्ली, धूर्त स्त्री
ीडंक=मेंढक
ीरां=अमीर
ुकता=मोती; प्रचुर
ुडाई=मुंडन कराना
ुद्रा=हठयोग का आसन, मुखादि की चेष्टा या भावस्थिति, चिह्न कुन्डल विशेष, वायाचार की साधिका नारी
ुरतब=शोभा, स्वरूप, शोभा के साधन
ुरिसद=गुरु, सीधा रास्ता बताने वाला
ुरीद=शिष्य
ुलकना=मुस्कराना
ुसलेना=ठग लेना
ुसला=नमाज पढ़ने वाली दरी
ुस्टि=चुप
ुहकम=सुदृढ़
ुहरकी=नेतागिरी
ूए=मरे हुए
ूका=मुट्ठी
ेखली=एक विशेष वस्त्र, करधनी
ेर=सुमेरु
ेल्हा=रखा
ैगल=हाथी
ैडियां=ऊपर का कमरा
ैण=मोम

मैंमता, मैंमाती=मदमस्त
मेवासा=स्वामित्व का अहंकारी; दुर्ग
मेवासी=दुर्गपति
रंधना=पकना, पकाने का बर्तन
रत्तड़ी=लाल हो गई
रत्ता=अनुरक्त
रब=भगवान्
रबू=सूर्य
रमइया=रमण करने वाला
रसि=रस, नशा
रहा=मार्ग
रहटा=चरखा, अरहट की चरखी
राछ=औजार
रांड=विधवा
राचिया=आसक्त हुआ
रारि=लड़ाई
राही (राई)=रानी, राधिका
रीझना=प्रसन्न, होना
रुध्र=रुधिर, खून
रूड=बिना सिर का धड़
रूंखडा=वृक्ष
रूड़ा=सुन्दर, प्रेमास्पद
रूनी=रोई
रूलना=खो जाना
रैणि=रात
रैणाइर=सागर
रोज=रुदन
रोझ=नीलगाय
रोडा=डेला, ईंट या पत्थर का टुकड़ा, रुकावट
रोस=क्रोध
रोहै=बिचरे
रोला=शोर-गुल
लगनियां=जमानती, पूंजी लगाने वाला
लबा=तुम्बा

लहुरी=छोटी
लाइ=आग
लाग=सम्बन्ध, भूतहा स्पर्श (Haunting)
लाधना=प्राप्त होना
लार=पीछे
लांवन=लावण्य
लावण=विशेष प्रकार की मिठाई, घृत
लहनि=लाक्षा, सड़ाया जाने वाला अन्न, जिससे मदिरा बनती है
लुकाना=छिपाना
लुंचित=जिसके केश नोंचे हुए हों
लुणं=काटना
लुबधी=लोभ, प्रेमासक्ति
लुहार=धातुओं को अग्नि में शुद्ध करना लोहे का काम करने वाला
लेज=रस्सी
लेर=पीछे
लोइन=नेत्र
लोई=लोग, कम्बल
लोक=लोग
लोचै=इच्छा करै
लोडे=खोजते हैं, चाहते हैं
ल्यौ=लय
वयना=वचन
वार पार=ठौर ठिकाना
विटालना=चखना, मुँह से स्पर्श करना
विनाण=दे० बिनाण
विमन=उदास
विराई=अलगाव, विरक्ति
विलम=देर, दे० बिलंब
विलाइत=विदेश
वूठ्या=बरसा
वेठिया,=लिपटा हुआ
वेलंत=काँपना, छटपटाते हुए
वैसण=बैठना
वोलगन=प्रेम, सेवा, निकटता
शफा=स्वास्थ्य
संसा=संदेह, चिन्ता
संकुडा=संकरा, सिकुडा हुआ
संघेरे=गहरे, मिले हुए, संघटित
संजोई=सजाना, संयुक्त करना
संपट=डिबिया
स=है
सकति=शक्ति
सकेल=इकट्ठा करना
सगा=स्वजन, सम्बन्धी
सगला=सब
सचुपाना=शांति प्राप्त करना
संताणी=सताने वाली
सद=ताजा
सदका=न्यौछावर, अर्पण
सनातन=शाश्वत, सहज
सनाहँ=बख्तर
सफ=नमाज पढ़ने वालों की पांत या स्थान
सफा=निर्मलता, चमक
सबूरी=संतोष
समाना=समाहित हो जाना, मर जाना
समसरि=समान, सदृश
समिता=समत्व बुद्धि
समोना=मिलाना, गर्म जल में ठंडा मिलाना
सरग=स्वर्ग, आकाश
सर्या=गमन करना, होना, चल जाना
सर अपसर=मौका-बे-मौका
सर=वाण, चिता, प्रेम, इरादा, स्रोत
सरजीव=सजीव, सप्राण
सरबतरि=सब जगह, सर्वत्र

सरबै = चुआना, बहाना
सरीकी = साझेदारी, साझेदार
सल = चिता
सलि सालि = सारणी
सल = आज्ञा
सलार = अध्यक्ष
सलैली = रपटीली, कंटकपूर्ण
सवां = समान
ससा = खरगोश
ससिहर = चन्द्रमा, चंद्रनाडी
सहज = आत्मा की आनन्दमय एवं शांत अवस्था या शक्ति
सहस = हजार
सहारे = सहे
सहिनाण = निशान, संकेत
साँई = स्वामी
साई = एडवांस सहित आर्डर, पेशगी
साखित = शाक्त, हरिविमुख, कठोर
सांठो = पूँजी
साध = इच्छा
साधना = निशान लगाना
सांभलू = सुनूँ, स्मरण करूँ, समझूँ
साक = सम्बन्ध, स्वजन होने का भाव
साखि = साक्ष्य
साटै = विनिमय, सट्टा
साटा = बदले में मिला हुआ सामान, पूँजी, बदला
साधै = साधना से, श्रद्धा से
सायर = सागर
सारा = चंगा
सारे = निकाले, बनाये
सारंग = चातक
सारी = खुँटी, गोट
सारी = मलाई, ऊपर का हिस्सा
सालै = कसकना
साल = भीतरी कमरा
साव = स्वाद
सावक = श्रावक
सावज = शिकार
सांसति = कष्ट, सुधार, शासन, दंड मन्त्रणा
सिकली = मजबूत
सिचांण = बाज
सिंघोरा = सिंदूर पात्र
सियरा = ठंडा
सिराना = थकना, समाप्त करना ठंडा करना
सिला = फसल काटने के बाद में गिरी हुई बाल
सिष: = चेला, शिष्य
सीख = विदा, उपदेश
सींचतऊ = सींचते हुए, सींचने वाले
सीझना = अग्नि में पकना
सीझती = तपस्या, सिद्धि
सींत = मुफ्त
सींध = सेंध, पकी हुई कचरी
सींधव = नमक
सुनहा = कुत्ता
सुभर = अच्छी प्रकार भरा हुआ
सुरत, सुरता, सुरति = समृति
सुरही = गाय
सुहाग = सौभाग्य (स्त्री के लिए)
सुहेला = सुगम
सूँ = से, समान, त्यों
सूचा = पवित्र
सूतग = जन्म का आशौच
सूता = सोया हुआ
सूति = स्मृति, प्रसव की अवस्था
सूधा = सीधा
सूर = आनन्द

सूरातन = शूरत्व
सूरिवा = शूरवीर
सेझे = सींचने से अलग
सेरी = गली
सैण = संकेत
सैली = मार्ग
सोध = शुद्ध करना, शोध करना, ढूँढ़ना शोध, ज्ञान
सोधी = शुद्ध करने वाला, शुद्धि, ढूँढ़ना
सोरहा = सुगम
स्याबति = पक्का, अखंड, सम्पूर्ण
स्यंभ = शिव, आत्मस्वरूप
स्यंगार = शृंगार
स्याल = सियार (शृगाल)
स्यावड़ = स्वामित्व, शुद्ध की हुई वस्तु अशौच (जन्म का)
स्यावज = जंतु
स्यू = सहित, साथ
स्वाति = शांति, आराम, ठंडक
स्वामी = चेले बनाने वाला साधु
हंडिया = मटका, घूमा
हंस = जीव
हक = सत्य
हजरी = महीन एवं कीमती
हजूरि = अभिमुखता
हटवाडा = बाजार
हट्ट = हाट
हरु = हल्का
हलूर = हिलोर
हवाल = हाल-चाल
हरिता = हरी
हाटि = बाजार, दुकान
हाडि = हड्डी
हियाली = हृदय में
हुरमति = प्रतिष्ठा
हित = क्षेम
हेत = प्रेम
हौंस = उत्साहपूर्ण इच्छा

●

३—अनुक्रमणिका

(साखी-भाग)

४—अनुक्रमणिका (पद भाग)